

॥ कोबातीर्थमंडन श्री महावीरस्वामिने नमः ॥

॥ अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ॥

॥ गणधर भगवंत श्री सुधर्मस्वामिने नमः ॥

॥ योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ॥

॥ चारित्रचूडामणि आचार्य श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ॥

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

पुनितप्रेरणा व आशीर्वाद

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा.

जैन मुद्रित ग्रंथ स्केनिंग प्रकल्प

ग्रंथांक : १



श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-३८२००७ (गुजरात)
(079) 23276252, 23276204
फेक्स : 23276249

Websiet : www.kobatirth.org

Email : Kendra@kobatirth.org

शहर शाखा

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
शहर शाखा
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
त्रण बंगला, टोलकनगर
परिवार डाइनिंग हॉल की गली में
पालडी, अहमदाबाद - ३८०००७
(079) 26582355

जैनधर्म परिचय

अहिंसा परमो धर्मः



परस्परपरोपग्रहो जीवानाम्

सम्पादन : प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

जैनधर्म परिचय

मनुष्य की सृजनात्मकता का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जिसे जैन आचार्यों एवं मनीषियों ने अपनी सृजन की साधना से समृद्ध न किया हो, चाहे वह धर्म और दर्शन का विचार का पक्ष हो या आचार का, चाहे भाषा और साहित्य के शास्त्र का पक्ष हो या प्रयोग और उसकी रचनात्मकता का, चाहे कला और विज्ञान के द्वारा की जाने वाली यथार्थ की नित नयी परीक्षा के साथ कलात्मक या वैज्ञानिक तथ्यों व वस्तुओं की प्रस्तुति का हो या उनके विश्लेषण का, चाहे गणित के सिद्धान्त व परिगणन का हो या भौतिक विज्ञान के आकलन का, चाहे मूर्तिकला का हो या चित्रकला का या उनकी बारीकियों व सपाट प्रस्तुतियों का, चाहे गृहस्थ के जीवन का हो या साधक के जीवन का, आदि-आदि। मनुष्य की सृजनात्मकता के इन सभी पक्षों को लेकर जैनों के अवदान को यहाँ इस पुस्तक में सार-संक्षेप में रखा गया है। प्रयास रहा है कि अधिकांशतः सभी पक्ष इसमें समाहित हो जाएँ।

धर्म-दर्शन के आचार व विचार सम्बन्धी विविध विषयों के साथ-साथ जैन जीवन से जुड़े कुछ विषयों यथा— संगीत, गणित, वास्तु, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, अलंकारशास्त्र, भाषाचिन्तन, भारतीय व्याकरण परम्परा को जैनों का अवदान, उनके द्वारा पोषित कोश परम्परा, आयुर्वेद की परम्परा, वैश्विक सन्दर्भ में जैनधर्म आदि इसप्रकार की सामग्री भी इस संचयन में सँजोई गयी है।

निस्सन्देह यह बृहत् कृति जैन-जैनेतर सभी पाठकों एवं स्वाध्याय-प्रेमियों को उपयोगी सिद्ध होगी।

नम्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें, जिससे अन्य वाचकगण इसका उपयोग कर सकें.

जैनधर्म परिचय

अहिंसा परमो धर्मः



परस्परोपग्रहो जीवानाम्

सम्पादन : प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

W-86754
29-11-13

Sam
8/8/13

ज्ञान गरिमा के

68 वर्ष



भारतीय
ज्ञानपीठ



ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

जैनधर्म परिचय

प्रकाशक / लेखक की अनुमति के बिना इस पुस्तक को या इसके किसी अंश को
संक्षिप्त, परिवर्धित कर प्रकाशित करना या फिल्म आदि बनाना कानूनी अपराध है।

जैनधर्म परिचय

सम्पादक

प्रो. वृषभप्रसाद जैन



भारतीय ज्ञानपीठ

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 45

ISBN 978-93-263-5058-7

जैनधर्म परिचय

सम्पादक : प्रो. वृषभप्रसाद जैन

प्रकाशक :

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड

नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐंड प्रिंटर्स, दिल्ली

पहला संस्करण : 2012

मूल्य : 400 रुपये

© भारतीय ज्ञानपीठ

JAIN DHARAMA PARICHAYA

Edited by : Vrashabh Prasad Jain

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road

New Delhi-110 003

e-mail : jnanpith@satyam.net.in, sales@jnanpith.net

website : www.jnanpith.net

First Edition : 2012

Price : Rs. 400

प्राक्कथन

जैन साहित्य के प्राचीन, दुर्लभ एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन में भारतीय ज्ञानपीठ की अग्रणी भूमिका रही है। अपने स्थापना काल (1944 ई.) से अबतक इस संस्थान को भारतीय चिन्तन, संस्कृति और धर्म-दर्शन से सम्बन्धित संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़ आदि अनेक प्राचीन भाषाओं के सैकड़ों ग्रन्थों का वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन और अनुवाद के साथ प्रकाशन का श्रेय प्राप्त है। ये ग्रन्थ धर्म, दर्शन, न्याय और सिद्धान्त के ही नहीं, पुराण, काव्य, इतिहास, स्थापत्यकला, ज्योतिष आदि विषयों से भी सम्बद्ध हैं। इस कार्य में ज्ञानपीठ को समय-समय पर भारत के धुरन्धर जैन विद्वानों का निर्देशन और सम्पादन का लाभ प्राप्त हुआ है।

पिछले कुछ समय से मेरी यह भावना रही है कि भारतीय ज्ञानपीठ से एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित हो, जिसमें वर्तमान सन्दर्भ में सामान्य जैन एवं जैनतर पाठकों को जैनधर्म सम्बन्धी अर्थात् जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, पुरातत्त्व और संस्कृति से सम्बद्ध सम्पूर्ण जानकारी एक जगह उपलब्ध हो।

यद्यपि इस तरह की कुछेक पुस्तकें पहले से ही प्रकाशित हैं, फिर भी आज के बदलते परिवेश में पाठक की नयी दृष्टि को ध्यान में रखकर उन्हीं प्राचीन आचार्यों और मनीषियों के चिन्तन को नये ढंग से प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

यही ध्यान में रखकर प्रसिद्ध विद्वान प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ से सलाह कर उनके सम्पादन में एक रूपरेखा तैयार की गयी और देश-विदेश के विषय-विशेषज्ञ विद्वानों से सम्पर्क किया गया। फलस्वरूप यह पुस्तक सामान्य जन के साथ-साथ जैनधर्म के अध्येताओं के लिए भी उपयोगी होगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

सद्गुरुओं का उपदेश हमारे जीवन को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूपी सदाचारमयी जीवनपद्धति से जीने का है। जिससे महाव्रत और

अणुव्रत रूप जैन आचारमयी जीवन आनन्द प्राप्ति का साधन बनता है। 'जियो और जीने दो' का मांगलिक सन्देश इस जीवन शैली से स्वयं प्रसरित होता है। कषायों और विषय-वासनाओं द्वारा होने वाले जीवन विकारों का शमन संयमाचरण और इन्द्रिय-निग्रह के साथ समस्त प्राणियों पर समताभाव की प्रवृत्ति से ही सम्भव है।

इसी प्रक्रिया में जीव-अजीव आदि तत्त्व-व्यवस्था, भेदज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का उपाय, इसको समझने के लिए अनेकान्त-स्याद्वाद, प्रमाण, नय, निक्षेप, द्रव्य-गुण-पर्याय, जीव के भाव, उन भावों से होने वाला बन्ध-मोक्ष, बन्धप्रक्रिया में कर्म, मुक्ति प्रक्रिया में गुणस्थान आरोहण, निमित्त-उपादान रूप कारण-कार्य विवेचना आदि धर्म-दर्शन के स्वरूप का उद्घाटन होता है।

जैनधर्म का विशिष्ट अवदान अनेकान्त-स्याद्वाद सिद्धान्त, विचारों में उदारता तथा समन्वय की प्रवृत्ति का होना है, जो कि अहिंसा का आध्यात्मिक पक्ष पुष्ट करती है। इसी सिद्धान्त से ही कार्यों व विचारों में सामंजस्य की स्थापना विश्वभर में सम्भव है।

जैनधर्म की श्रमणपरम्परा, श्रावकपरम्परा और उसमें पूजा-विधान, व्रत, नियम आदि का स्वरूप, मोक्षमार्ग, ध्यान, दशलक्षण धर्म, वारह भावनाएँ, सोलहकारण भावनाएँ, वैराग्यभावना तथा समाधिभावना सहित सल्लेखना आदि जैनाचार को सम्पुष्ट करने वाले महत्वपूर्ण घटक हैं।

जैन साहित्य परम्परा अपने आप में बहुत समृद्ध रही है। इसमें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, मराठी एवं हिन्दी के साथ-साथ अन्य भाषा साहित्य के ग्रन्थों से प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय साहित्य के भंडार की श्रीवृद्धि हुई है। भाषा साहित्य के अन्तर्गत व्याकरण, कोश, अलंकार आदि का उपयोग जैनाचार्यों ने खुले मन से किया है। गणित, भूगोल, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र, आयुर्वेद आदि विषय भी अपने अप्रतिमरूप में मनीषियों की लेखनी से प्रसूत हुए हैं।

जैनधर्म के बहुआयामीपने में कला मर्मज्ञता—पूर्तियों, चित्रों, वास्तु, प्रतीकों में दृष्टव्य है।

आधुनिक वैज्ञानिकता का समावेश जैनधर्म के प्रत्येक उपदेश और आचरण में पूर्णतः समाहित है। शोध-खोज के क्षेत्र में लोक व्यवस्था, खान-पान, आचार-विचार, मर्यादाएँ आदि जैनधर्म के उपदेशों में हमेशा से अभिव्यक्त होती आयी हैं।

ग्रन्थ की इस सम्पूर्ण सामग्री को देखकर लगता है कि जैनधर्म का परिचय

इतना विस्तृत है कि इसे इसी प्रकार के दुगुने प्रयास द्वारा भी पूर्णतः व्याख्यायित कर पाना सम्भव नहीं लगता।

अन्त में, हमारा उन सभी महानुभावों के प्रति आभार कि जिन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकार किया और पुस्तक के लिए अपेक्षित लेख यथासमय भेजकर ज्ञानपीठ को सहयोग प्रदान किया।

पुस्तक के प्रधान सम्पादक प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ का आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने इस श्रमसाध्य कार्य के लिए अपना बहुमूल्य समय दिया, विद्वान् लेखकों से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखकर कार्य को विधिवत् सम्पादित किया। भारतीय ज्ञानपीठ में कार्यरत हमारे दोनों सहयोगी बन्धु डॉ. गुलाबचन्द्र जैन एवं राकेश जैन शास्त्री को धन्यवाद कि उन्होंने इसके सम्पादन में अपना पूरा सहयोग दिया।

साहू अखिलेश जैन

प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

सम्पादकीय

भारतवर्ष में धर्म कोई बाहर से ओढ़ी जाने वाली ओढ़नी की तरह कभी भी नहीं रहा है, वहाँ तो वह रहने वाले मनुष्यों के जीवन में व उनकी हर क्रिया में भीतर तक अनुस्यूत होकर रहा है, रचा-पचा रहा है। यही कारण है कि उसने मनुष्य के जीवन के हर पहलू पर व उसकी हर क्रिया पर अपनी छाप छोड़ी है व उसे प्रभावित किया है, और इसका परिणाम यह भी रहा है कि कई बार धर्मानुयायी को अपने धर्म से प्रभावित होने वाली क्रिया को करते हुए भी पता ही नहीं चलता कि वह अपने जीवन की अमुक क्रिया अपने धर्म के विचार से प्रभावित होकर कर रहा है, पर वह वैसी क्रिया कर रहा होता है, और यह क्रिया उसके द्वारा अचानक हुई नहीं होती है, बल्कि उस क्रिया के पीछे कहीं न कहीं उसके धार्मिक विचारों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी होती है और पूरी की पूरी क्रिया उसके धर्म के साँचे के अनुसार हुई होती है; कई बार ऐसा भी होता है कि सम्यक् विचार की जानकारी न होने के कारण उसकी क्रिया का कुछ अंश उसकी आस्था के धर्म के अनुसार हुआ होता है और कुछ अंश आस्था के धर्म से विमुख होकर भी और कई बार पूरी की पूरी क्रिया धर्म से विमुख होकर भी हुई होती है।

यद्यपि जैनधर्म का परिचय कराने वाली अनेक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें से अधिकांश केवल जैनधर्म व दर्शन सम्बन्धी कुछ विचारों को सामने रखती हैं, फिर भी अभी तक कोई भी ऐसी पुस्तक प्रकाश में नहीं आयी है, जो जैनों के सर्वविध विचारों और क्रियाओं को सामने रखती हो। ऐसी पुस्तक के अब तक प्रकाशित न होने से क्षति यह हुई है कि आम जैनधर्म अनुयायी भी यह नहीं जानता कि मनुष्य के जीवन से जुड़ी विचारों और क्रियाओं की विविधताओं की इतनी समृद्ध परम्पराओं और उप-परम्पराओं का वह उत्तराधिकारी है। इस प्रकार की रचना के अब तक प्रकाशित न हो पाने के पीछे एक कारण यह भी रहा है कि एक तो इसप्रकार की सामग्री कहीं एक जगह उपलब्ध नहीं है, दूसरे इतने विषयों की विशेषज्ञता की सम्भावना भी किसी एक व्यक्ति से नहीं की जा सकती। तीसरे वह ज्ञानराशि प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश के मूल ग्रन्थों में है, और चौथे जैनधर्मानुयायियों के दैनन्दिन जीवन की विभिन्न क्रियाओं की, जिनके जानकार भी अब बड़ी मुश्किल से मिलते हैं अर्थात् विरल हैं, कोई सूची हफने कभी

बनायी नहीं। कहीं भाषा के जानकार मिलते हैं, तो विषय के नहीं और कहीं विषय के मिलते हैं, तो भाषा के नहीं। कहीं विषय और भाषा दोनों के जानकार मिल जाते हैं, पर धर्मानुसार आचरण की क्रियात्मकता के नहीं और जो क्रियात्मकता के या क्रियाओं के विशेषज्ञ हैं, उनके पास भाषात्मक अभिव्यक्ति नहीं है। अगर किसी में भाषात्मक अभिव्यक्ति मिल जाती है, तो उसमें विषय की पूर्णता नहीं है। जैनों के सर्वविध विचारों और क्रियाओं के लक्ष्य को पाना किसी भी पुस्तक के लिए आसान भी नहीं है, क्योंकि उक्त कार्य का परिचय कराने के लिए कई खंडों में प्रकाशित होने वाला विश्वकोष का मॉडल ही समुचित है, फिर भी हमने उस लक्ष्य को पाने का कुछ आंशिक प्रयास इस पुस्तक की प्रस्तुति के माध्यम से किया है। हम नहीं जानते कि हम इसमें कितने सफल हुए हैं, पर हमने कोशिश जरूर की है कि कुछ अंशों में इस लक्ष्य को कम-से-कम हम जरूर पा सकें।

जैनधर्म और उसके अनुयायियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाये रखकर भी निरन्तर अखंड भारतीयता को समृद्ध करने में अपनी भूमिका निभायी है। यदि अखंड भारतीयता की प्रस्तुति में जैनों के इस योगदान को जितने अंशों में ठीक से नहीं रखा जा पाएगा, तो भारतीयता उतने अंशों में अपने इस बहुत महत्वपूर्ण फलसफा से वंचित रह जाएगी। आप जैनों के जीवन के इतिहास और इसकी परम्पराओं को देखें, तो यह बात साफ उजागर होती है, कि मनुष्य की सृजनात्मकता का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जिसे जैन आचार्यों एवं मनीषियों ने अपनी सृजन की साधना से समृद्ध न किया हो, चाहे वह धर्म और दर्शन का विचार का पक्ष हो या आचार का, चाहे भाषा और साहित्य के शास्त्र का पक्ष हो या प्रयोग और उसकी रचनात्मकता का, चाहे कला और विज्ञान के द्वारा की जाने वाली यथार्थ की नित नयी परीक्षा के साथ कलात्मक या वैज्ञानिक तथ्यों व वस्तुओं की प्रस्तुति का हो या उनके विश्लेषण का, चाहे गणित के सिद्धान्त व परिगणन का हो या भौतिक विज्ञान के आकलन का, चाहे मूर्तिकला का हो या चित्रकला का या उनकी बारीकियों व सपाट प्रस्तुतियों का, चाहे आहार-विज्ञान का हो या पाचन-विज्ञान का, चाहे गृहस्थ के जीवन का हो या साधक के जीवन का, आदि-आदि। यद्यपि यह भी सत्य है कि मनुष्य की सृजनात्मकता के इन सभी पक्षों को लेकर जैनों के अवदान को यहाँ पूरी तरह से इस पुस्तक में नहीं रखा जा सका है, फिर भी प्रयास रहा है कि अधिकांशतः सभी पक्ष इसमें समाहित हो जाएँ इसलिए अनेक पक्षों को विशेषज्ञों के आलेखों के माध्यम से की जाने वाली प्रस्तुति के रूप में इसमें रखा है, जिनमें से अनेक पक्ष जैनधर्म की इस प्रकार की परिचयात्मक पुस्तक में पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं, और कई विषय नये विश्लेषण के साथ। ये इस प्रस्तुति में कई विषय हमसे छूट भी गए हैं, इसके पीछे भी तीन प्रमुख कारण रहे— 1. हमें उस विषय के विशेषज्ञ अपनी समय-

सीमा के भीतर नहीं मिले, 2. मिले भी तो उन्होंने समय-सीमा के भीतर हमारी अपेक्षा के अनुरूप प्रस्तुति नहीं की या हम उनसे यत्न करने पर भी न ले पाये इसके बावजूद, 3. एक खंडीय पुस्तक के कलेवर की सीमा के कारण भी हमें कई विषय छोड़ देने पड़े।

इस पुस्तक में हमने जैनधर्म और जैन जीवन से जुड़े विविध पक्षों को रखने का जो प्रयास किया है, उसमें हमारा यह भाव भी रहा है कि पन्थवाद या विवाद या असहमति के विषय इस पुस्तक में न जाने पाएँ तथा विचार भी जैनत्व की सभी धाराओं से इसमें आएँ, इसलिए इसके लेखक भी जैनों की प्रायः सभी धाराओं से लिये गए हैं, हालाँकि मैं यह भी मानता हूँ कि सभी लेखों में ऐसा हो न पाया है। चूँकि मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक लेखक स्वतन्त्र चेता है और उसके लेखन की अपनी स्वायत्तता है, इसलिए प्रत्येक लेख में दिये गए लेखक के विचार अपने हैं। इसके बावजूद, हमारी कोशिश यह रही है कि यह पुस्तक जैनों की समग्रता की प्रतीक-पुस्तक बने।

पूरी पुस्तक वैचारिकी, इतिहास एवं संस्कृति, धर्म-दर्शन, आचार, ज्ञान-विज्ञान, कला, जैनधर्म और वैश्विक सन्दर्भ, साहित्य और विभिन्न साहित्य परम्पराओं को जैनों का अवदान आदि प्रमुख उपखंडों में बँटी है, जिसमें जैन विचार, आचार, ज्ञान-विज्ञान और सृजनात्मकता आदि की समृद्ध परम्परा का परिचय कराने की कोशिश की गई है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के पीछे भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कर्ताओं के दो लक्ष्य रहे हैं— 1. जैनधर्म और जैन जीवन से जुड़े प्रायः सभी पक्ष इसमें समाहित हों; 2. यह पुस्तक जैन अजैन आम पाठक को जैनधर्म का परिचय करा सके। जो सामग्री इस पुस्तक के प्रकाशन से सामने आ रही है, उससे पहला लक्ष्य तो सीमा के साथ बहुत अंशों में पाया जा सका है। विषय-विशेषज्ञों से निरन्तर चर्चा के माध्यम से जैन धर्म-दर्शन के आचार व विचार सम्बन्धी विविध विषयों के साथ-साथ जैन जीवन से जुड़े कुछ विषयों यथा— संगीत, गणित, वास्तु, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, अलंकारशास्त्र, भाषाचिन्तन, भारतीय व्याकरण परम्परा को जैनों का अवदान, जैनों के द्वारा पोषित कोश परम्परा, आयुर्वेद की परम्परा, वैश्विक सन्दर्भ में जैनधर्म आदि इसप्रकार की सामग्री हम इस संचयन में सँजो सके हैं। पुस्तक प्रकाशन का दूसरा लक्ष्य पूरी तरह उतने अंशों में नहीं पाया जा सका है, इसके पीछे संकट यह रहा कि जो विषय-विशेषज्ञ हैं, वे विषय में इतने डूबे होते हैं कि वे आम जन की भाषा में प्रायः बात ही नहीं कर पाते, इसलिए इस पुस्तक के आगे के संस्करणों में हम उस ओर इस सामग्री की लेकर बढ़ने का प्रयास करेंगे और इसका एक सरल व संक्षिप्त संस्करण शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

जैन दर्शन व न्याय सम्बन्धी गूढ़ और जटिल विषयों, यथा- तत्त्वमीमांसा, जैन न्याय की परम्परा, प्रमाण-नय-निक्षेप, कारण-कार्य विवेचना, अनेकान्त, अनेकान्तवाद बनाम स्याद्वाद, द्रव्य-गुण-पर्याय, औपशमिक आदि भावों आदि पर भी सामग्री हम इस पुस्तक

में संक्षिप्त रूप में दे पा रहे हैं, ताकि हमारे इस ग्रन्थ के सम्माननीय पाठक प्राथमिक रूप में तो यह जान सकें कि भारतीय दर्शन और न्याय की समृद्ध परम्परा से जुड़े इन गम्भीर विषयों पर जैन दृष्टि क्या रही है?...हमने भारतीय कला के क्षेत्र में जैनों के योगदान को सम्मुख रखने को दृष्टि से प्रतीक, मूर्तिकला, चित्रकला, मन्दिर व गृह-वास्तु आदि पर भी आलेख इस संचयन में दिये हैं, पर कला के साथ-साथ जैनों के साहित्यिक अवदान को भी प्रस्तुत करने से हम नहीं भूले हैं और इस दृष्टि से हमने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, मराठी व हिन्दी आदि के साहित्य पर स्वतन्त्र निबन्ध दिये हैं। यहीं, हमने जैन भक्तिकाव्य की परम्परा की विशेषता को प्रमुखतः रेखांकित किया है और यह भी बताने को कोशिश की है कि जैन भक्ति कैसे जैनतर भक्ति से भिन्न है?...विविध विषयों को लेकर हमने जैन यात्रा साहित्य और जैन कानून पर बहुत महत्त्वपूर्ण लेख दिए हैं। इस संचयन पर मेरे काम करने से पूर्व श्री राकेश जैन शास्त्री ने भारतीय ज्ञानपीठ में रहते हुए अनेक आलेख लिख रखे थे, उनमें से कुछ को यथासम्भव परिवर्धित करते हुए इस संचयन में जोड़ा गया है।

व्यक्तिगत रूप से मैं व संस्थागत रूप में भारतीय ज्ञानपीठ कृतज्ञ है, उन सभी मनीषियों का, जिन्होंने व्यस्तता रहते हुए भी, अपने आलेख समय निकालकर इस पुस्तक के विस्तीर्ण स्वरूप की बनाने के लिए दिए हैं, क्योंकि ऐसा बहु-आयामी कार्य किसी एक व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं था। इस संचयन के लेखकों में अनेक मुझसे वरिष्ठ हैं, मेरे श्रद्धेय हैं, पर अनेक मेरे अनुजवत् भी, पर सब इस संचयन को लाने में सभी मेरे ऊपर कृपालु रहे हैं। अतः मैं एक बार फिर उन सब का मनसा-वाचा आभारी हूँ।

मैं व्यक्तिशः आभारी हूँ भारतीय ज्ञानपीठ के पदाधिकारियों का, जिन्होंने लम्बे समय से समाज में प्रतीक्षित ऐसी पुस्तक की संकल्पना गड़ी और यह काम कराने का उत्तरदायित्व मुझे सौंपा। मैं भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबन्धन्यासी साहू अखिलेश जैन की उस पवित्र भावना का भी सम्मान करता हूँ, जो उन्होंने पुस्तक की संकल्पना से सम्बन्धित पहली बैठक के दौरान व्यक्त की थी कि मैं इस पुस्तक को जैन-अजैन उन सभी के घरों में पहुँचाना चाहता हूँ, जो जैनधर्म और जैन जीवन-पद्धति की समृद्ध परम्परा के बारे में थोड़ी भी जानकारी हासिल करना चाहते हैं। मैं भारतीय ज्ञानपीठ के वर्तमान निदेशक और अपने मित्र श्री रवीन्द्र कालिया जी का भी उपकृत हूँ, जिन्होंने अपना स्वास्थ्य खराब होते हुए भी इस पुस्तक के त्वरित प्रकाशन के लिए लगातार चिन्ता की और जो जब-तब ही नहीं, लगातार मेरे ऊपर तगादे का पैना चलाते रहे। मैं भारतीय ज्ञानपीठ के मुख्य प्रकाशन अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन व जैनधर्म परिचय पुस्तक परियोजना के भारतीय ज्ञानपीठ में सहयोगी श्री राकेश जैन शास्त्री का व्यक्तिगत रूप से बहुशः आभारी हूँ, यदि इन दोनों मनीषियों का सहयोग प्रारम्भ से ही लेखक मित्रों से लगातार पत्राचार करने, उनके साथ

विषय के बारे में स्पष्टीकरण माँगने पर मुझसे चर्चा कर उन्हें सूचित करने, उनसे आयी सामग्री को समय से कम्पोज कराने, उस सामग्री में परिवर्धन, परिवर्तन व संशोधन करने, अपने लेख लिखकर देने आदि के बहाने न मिला होता, तो यह पुस्तक निश्चित रूप से आप-सब के हाथों इस रूप में न पहुँच पाती।

और अन्त में जैनधर्म की परिचयात्मक यह कृति आप-सब को इस भाव से समर्पित कि यदि जैनधर्म के विस्तीर्ण फलक की थोड़ी-सी भी सम्यक् जानकारी अपने पाठक को करा सकी, तो निश्चय ही यह इसके प्रकाशन की, इसके लेखकों के अथक श्रम की व भारतीय ज्ञानपीठ के संकल्प की सार्थकता होगी।

—वृषभ प्रसाद जैन

अनुक्रम

प्राक्कथन	: साहू अखिलेश जैन	5
सम्पादकीय	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	8
पुरोवाक् : धर्म और जैनधर्म	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	19
वैचारिकी		
काल की अवधारणा और कालचक्र	: प्रो. वृषभ प्रसाद जैन एवं राकेश जैन शास्त्री	23
इतिहास एवं संस्कृति		
जैन इतिहास	: डॉ. शशिकान्त	29
ईश्वर सम्बन्धी जैन अवधारणा	: डॉ. शीतल चन्द्र जैन	49
तीर्थंकर परम्परा, जिनागम और अनुयोग	: राकेश जैन शास्त्री	55
श्रमण जैन संस्कृति और पुरातत्त्व	: डॉ. भागचन्द्र 'भास्कर'	69
जैन यात्रा साहित्य	: प्रो. राजाराम जैन	83
जैन तीर्थ	: डॉ. गुलाबचन्द्र जैन	93
स्वतन्त्रता आन्दोलन में जैनों का योगदान	: डॉ. कपूरचन्द्र जैन	116
संविधान पर जैन धर्मावलम्बियों का प्रभाव	: डॉ. (श्रीमती) प्रभाकिरण जैन	139
कानून	: श्री अनूपचन्द जैन एडवोकेट	143
धर्म-दर्शन		
तत्त्वमीमांसा	: डॉ. सुदीप कुमार जैन	152
अनेकान्त	: प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार	175
अनेकान्त	: जैफ्री डी. लांग	185
अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद	: डॉ. जितेन्द्र बी. शाह	187
न्याय	: डॉ. धर्मचन्द जैन	197

प्रमाण, नय और निक्षेप	: डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन	214
द्रव्य-गुण-पर्याय	: डॉ. राकेश कुमार जैन	241
विशेष एवं सामान्य गुण	: राकेश जैन शास्त्री	259
औपशमिक आदि जीव के भाव	: पं. रतनलालजी बैनाडा	263
जीव और कर्म सम्बन्ध	: नीरज जैन, सतना	272
कर्म सिद्धान्त, गुणस्थान एवं लेश्या	: राकेश जैन शास्त्री	278
कारण-कार्य विवेचन	: डॉ. श्रीयांश सिंघई	295

आचार

जैन आचार मीमांसा	: डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	301
श्रावकाचार	: डॉ. श्रेयांस कुमार जैन	309
प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य	: ब्र. जयकुमार 'निशान्त'	335
पूजा परम्परा	: डॉ. आदित्य प्रचण्डिया	354
व्रत : जैनाचार के आधार	: डॉ. रमेशचन्द्र जैन	364
सोला	: डॉ. भरत कुमार बाहुवली कुमार	372
सल्लेखना	: पं. रतनचन्द भारिल्ल	377
अहिंसा : एक संक्षिप्त प्रवेशिका	: डॉ. सुलेखचन्द्र जैन	390
अध्यात्म	: पं. रतनचन्द भारिल्ल	398
पर्यूषण पर्व	: प्रो. विजय कुमार जैन	410
ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग	: राकेश जैन शास्त्री	421

ज्ञान-विज्ञान

धर्म और विज्ञान	: प्रो. नलिन के. शास्त्री	472
गणित	: डॉ. अनुपम जैन	496
भूगोल	: प्राचार्य अभय कुमार जैन	510
जैनों का भाषा-चिन्तन	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	560
व्याकरण	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	570
कोश-परम्परा एवं साहित्य	: डॉ. कमलेश जैन	582
आलंकारिक और अलंकारशास्त्र	: डॉ. कमलेश कुमार जैन	602
आयुर्वेद परम्परा	: आ. राजकुमार जैन	621
ज्योतिष : स्वरूप और विकास	: श्री आलोक जयपति	649
दिव्यध्वनि : कम्प्यूटर-विज्ञान	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	665

कला

प्रतीक दर्शन	: एलाचार्य प्रज्ञसागर मुनिराज	670
मूर्तिकला	: प्रो. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	686
संगीत	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	703
जिनमन्दिर एवं गृह-वास्तु	: सनत कुमार विनोद कुमार जैन	713
वास्तु	: डॉ. राजेन्द्र जैन	725

जैनधर्म और वैश्विक सन्दर्भ

विदेशों में जैनधर्म	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	737
अफ्रीका में जैनधर्म	: डॉ. देवेन्द्र जैन	741
यूरोप में जैनधर्म	: अजित कुमार जैन बैनाड़ी	744
सिंगापुर में जैनधर्म	: प्रीति शाह	749
अमेरिका में जैनधर्म	: डॉ. संजय जैन	754

साहित्य और साहित्य परम्पराएँ

जैन साहित्य	: प्रो. वृषभप्रसाद जैन	764
भक्ति काव्य	: प्रो. वीरसागर जैन	766
प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य-परम्परा	: प्रो. राजाराम जैन	777
संस्कृत साहित्य-परम्परा	: डॉ. दामोदर शास्त्री	787
कन्नड़ जैन साहित्य	: डॉ. एस. बी. सुजाता	808
तमिल जैन साहित्य	: सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	818
मराठी जैन साहित्य	: डॉ. (श्रीमती) कुसुम पटोरिया	828
हिन्दी जैन साहित्य	: प्रो. श्रीमती पुष्पलता जैन	840



आदि तीर्थंकर ऋषभ देव

जैनधर्म परिचय

पुरोवाक्

प्रो. वृषभप्रसाद जैन

धर्म भारतीय जीवन का अभिन्न अंग रहा है, बल्कि यूँ कहा जाए कि धर्म के बिना भारतीय जीवन अधूरा है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।... पर भारतीय धर्म 'रिलीजन' का पर्याय होकर कभी नहीं रहा है और 'इथिक्स' (नीतिशास्त्र) मात्र का हिस्सा होकर भी नहीं। हमारे यहाँ धर्म ने अन्तरंग की परिशुद्धि की बात भी की है, इसके साथ ही साथ बाह्य आचार की शुद्धि की भी बात की है। कुल मिलाकर जहाँ एक ओर धर्म शुद्धिकरण का पर्याय होकर रहा है, वहीं दूसरी ओर स्वभाव होकर भी। कुछ भारतीय चिन्तक 'यद् धार्यते तद् धर्मः' अर्थात् जो धारण किया जाता है, वह धर्म है। वहीं कुछ और चिन्तक 'येन धार्यते तद् धर्मः' जिसके द्वारा धारण किया जाता है, वह साधनभूत धर्म है। इन दोनों परिभाषाओं में धारण करने पर बल है। कुछ और चिन्तक कहते हैं — 'यद् आचर्यते, तद् धर्मः' जो आचरित किया जाता है या आचरण में लाया जाता है, वह धर्म है। भाव यह है कि हमारे आचार का नियन्त्रण धर्म है। धर्म न हो, तो आचार का नियन्त्रण न हो, और आचार का नियन्त्रण न हो, तो दुराचार या कदाचार भी धर्म होने लग जाए, जिसकी अनुमति न हमारे शास्त्र देते हैं और न पश्चिम के शास्त्र ही। पश्चिम में धर्म (Religion) 'इथिक्स' का अंग है। रिलीजन की व्याख्या करते हुए पश्चिमी विचारक रिलीजन को उस परा सत्ता के विश्वास के रूप में भी देखते हैं, जो संसार को नियन्त्रित करती है। कुछ रिचुअल्स (Rituals) भी धर्म के अंग हैं और उनके यहाँ धर्म 'रिचुअल्स' के साथ अधिकांशतः बँधा है। हमारे यहाँ धर्म वैसा नहीं है। धारण करने में भी खास बात यह है कि धारण करने वाला भी धर्म को उसकी चरम परिणति में आत्मसात करके ही रहता है।

जैन विचारक पहले पैराग्राफ में उल्लिखित धर्म के स्वरूप से सहमत नहीं होते। वे तो कहते हैं कि धर्म कोई बाहर से ओढ़ी जाने वाली वस्तु नहीं है। धर्म तो वस्तु का स्वभाव है। धर्म भीतर की वस्तु है, इसलिए धर्म निज की निज में परिणति है, क्योंकि धर्म के अनुसार पर की निज में परिणति हो नहीं सकती और निज की भी पर-रूप भी नहीं; इसलिए वह धर्म हो भी नहीं सकता। यही कारण है, कि हमारी परम्परा कहती है — 'वस्तु सहावो

धम्मो'। वस्तु का जो स्वभाव है, वही धर्म है। भाव यह है कि धर्म वस्तु के साथ बँधा है। धर्म के बिना वस्तु नहीं और वस्तु के बिना धर्म भी नहीं, और इतना ही नहीं, वस्तु के बिना संसार भी नहीं और मोक्ष भी नहीं।

इस प्रकार 'वस्तु का स्वभाव ही धर्म है' इस परिभाषा में धर्म की सम्पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और सभी प्रसिद्ध लक्षण समाहित ही जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। जैसे लौकिकता में उदय के लिए—अग्नि का स्वभाव उष्णत्व है और वही उसका धर्म है। जो व्यक्ति वह जैसी है, वैसा ही जानता है, वह ज्ञानी है, सुखी है और जो व्यक्ति अग्नि को उष्ण न मानकर अन्य-रूप या शीतल मानता है, वह अज्ञानी है और तज्जन्य उष्णता को शीतल मानकर स्पर्श कर बैठता है, वह जलकर दुःखी ही होता है।

इसी प्रकार जल का स्वभाव शीतल है और वही उसका धर्म है, मिश्री का स्वभाव मधुर है और वही उसका धर्म है, नमक का स्वभाव क्षार-गुण-युक्तता, नमकीन है और वही उसका धर्म है, मिर्च का स्वभाव तिक्तता है और वही उसका धर्म है, इत्यादि, इत्यादि। जो व्यक्ति इनको ऐसा ही है अर्थात् अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप ही जानता, मानता है, वही ज्ञानी है और जो अन्य प्रकार से जानता-मानता है, वही अज्ञानी है। संक्षेप में, ज्ञानी-अज्ञानी का यही स्वरूप है।

वस्तु स्वभाव को धर्म मानने पर तेरा-मेरा के समस्त विवाद, झगड़े-फसाद स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि वस्तु स्वभाव में किसी के लिए, किसी प्रकार का, या कोई भी पक्षपात अंशमात्र भी नहीं चलता। अग्नि गर्म है, वह सभी के लिए गर्म है, सर्वदा गर्म है, और सर्वत्र गर्म है, इत्यादि। ऐसा नहीं है कि हिन्दू के लिए अग्नि गर्म हो, तो मुसलमान के लिए ठण्डी हो या बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष के लिए भिन्न रूप से परिवर्तित हो जाए। इसी तरह ऐसा भी नहीं है कि आज गर्म है, कल ठण्डी थी या कल ठण्डी हो जाएगी। इसीप्रकार ऐसा भी नहीं है कि हिन्दुस्तान में तो अग्नि गर्म हो, पर पाकिस्तान में ठण्डी या अन्य रूप हो जाए।

हमारी परम्परा में कहीं धर्म को कर्तव्य के रूप में, तो कहीं विधि-व्यवस्था के रूप में, तो कहीं प्रथा के रूप में, कहीं धार्मिक कृत्य के रूप में, कहीं पुरुषार्थ के रूप में, कहीं अधिकार के रूप में, कहीं नीतिशास्त्र के रूप में और कहीं लोक-नियन्ता आदि के रूप में देखा गया है। परम्परा में यह भी कहा गया है कि *धियते लोकोऽनेन* अथवा *धरति लोकं वा इति धर्मः*। इन दोनों परिभाषाओं में धर्म की केन्द्रीयता की बात है। दोनों लोक-नियन्ता के रूप में धर्म को देखती हैं, पर दोनों का लोक-नियन्ता रूप धर्म एक जैसा नहीं है। '*धियते लोकोऽनेन*' में धर्म साधन है, लोक की धरणीयता का। जबकि '*धरति लोकं वा*' में धर्म धारण करने वाला कर्ता है। दोनों में विभक्ति का ही अन्तर नहीं है, बल्कि स्वरूप का अन्तर भी है—एक में करण है तो दूसरे में कर्ता; पर जैन परम्परा इन

सब रूपों में धर्म को देखती जरूर है, लेकिन जब वह परिभाषा करती है तो वह धर्म को केवल स्वभाव रूप ही मानती है और वही उसका उपादेय है एवं प्राप्य भी है।

कुल मिलाकर सम्पूर्ण समष्टि धर्ममय है; या यूँ कहें कि समष्टि के इस लोक में रहना भी धर्म से है और परलोक में जाना भी धर्म से है। वस्तुओं के बिना न इहलोक है, न परलोक। जहाँ-जहाँ वस्तुएँ हैं, वहाँ-वहाँ धर्म है और इसीलिए वस्तु-आत्मा का धर्म ही परम धर्म है।

जैन विचारक ऐसी किसी परा सत्ता में विश्वास नहीं करते, जो संसार को या ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करती है। वे तो मानते हैं कि पूरा ब्रह्माण्ड द्रव्यमय है और द्रव्य अपने स्वभाव के अनुरूप परिणमनशील हैं, और उनकी पर्यायों परिवर्तनशील हैं। उनमें होने वाला परिणमन उनका स्वभाव है। उसके लिए किसी और कर्ता की आवश्यकता नहीं है। इसलिए उनके अनुसार संसार का कोई रचयिता भी नहीं और कोई नियन्ता भी नहीं। उनके मत में प्रत्येक वस्तु सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र है। एक वस्तु दूसरे पर आश्रित नहीं और दूसरी पहले पर भी नहीं। इसलिए हर वस्तु का अपना स्वभाव उसका धर्म है। यही कारण है कि सब द्रव्यों के धर्म एक से नहीं। कोई आश्रय में सहायक बनता है, कोई गति में सहायक बनता है, कोई अपने स्वरूप में रमने में, तो कोई किसी और में; पर इन सब में खास बात यह है कि धर्म तो वस्तु का—वस्तुओं का ही होता है। यही कारण है कि वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है।

जैनों ने जहाँ धर्म को स्वभाव रूप माना, वहीं धर्म के प्रयोग-सन्दर्भों को लेकर भी धर्म की बहुविध व्याख्याएँ कीं। जहाँ 'चारित्रं खलु धम्मो' कहा, वहाँ भी यद्यपि आचार्य भगवान् चारित्र को ही धर्म कह रहे हैं, पर वह चारित्र भी ज्ञान और दर्शन के बिना नहीं होता, लेकिन यहाँ भाव यह है कि आत्म-स्वभाव में रमण-रूप जो चारित्र है, वही वस्तुतः धर्म है।

चूँकि उसमें दर्शन और ज्ञान दोनों समाहित हैं और दर्शन और ज्ञान की पीठिका में सम्यक्त्व भी जुड़ा है, इसलिए वस्तुतः वहाँ सम्यक् रत्नत्रय रूप चारित्र को ही धर्म की प्राथमिक स्थिति के रूप में देखा गया और इसीलिए सम्भवतः दूसरे आचार्यों ने 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मः' कह दिया। वहीं यह विचार भी उभरा कि इस रत्नत्रय रूप धर्म का मूलधार दर्शन है, इसलिए आचार्य ने दर्शन की प्रधानता से 'दंसणमूलो धम्मो' कह दिया, पर खास बात यह है कि किन्हीं भी परिभाषाओं में न सम्यक्त्व को छोड़ा गया है, न दर्शन को छोड़ा गया है, न ज्ञान को छोड़ा गया है और न चारित्र को ही। कुल मिलाकर प्रयोग-सन्दर्भ की दृष्टि से ये तीनों परिभाषाएँ धर्म के रत्नत्रय रूप को ही प्रख्यापित करती हैं।

हमने जैन परम्परा में यह भी पाया है कि वहाँ क्षमादि दशलक्षणों को धर्म माना गया है, पर गम्भीरता से आप क्षमा आदि धर्म के दशलक्षणों पर विचार करें, तो वे व्यावहारिक

धर्म होते हुए, निश्चयात्मक आत्मिक धर्म के ही प्रकार हैं। भाव यह है, व्यवहार धर्म प्रारम्भिक सीढ़ी हैं, चरम धर्म—आत्म-धर्म को पाने की; पर वहाँ भी ध्यान जैनाचार्यों ने इस बात पर रखा कि कहीं से भी हम आत्म-धर्म को न भूल जाएँ। ऐसे ही आप जैन परम्परा में धर्म के सम्बन्ध में प्राप्त अन्य परिभाषाओं यथा—‘अहिंसा परमो धर्मः’, ‘धम्मो दया विसुद्धो’, ‘जीवाणं रक्खणो धम्मो’ को भी ले सकते हैं। चाहे हम अहिंसा के मार्ग पर चल रहे होते हैं, चाहे हम दया कर रहे होते हैं, चाहे हम जीवों की रक्षा कर रहे होते हैं, पर इस सब में जैन विचारकों की खास बात यह रही है कि जीवों की रक्षा करते हुए भी हम पर का भला नहीं कर रहे हैं, बल्कि वास्तव में तो हम स्वयं का भला कर रहे हैं; क्योंकि जब हम इतनी सजग चर्या कर रहे होते हैं कि एक छोटी-सी भी चींटी हम से न मरे, जल की बूँद में विद्यमान अनेक जीवराशि में से एक को भी जाने-अनजाने हम से विराधना न हो जाए, तो हम सच में अपने प्रति सजग हुए होते हैं। हमारी एक-एक चर्या आत्म विशुद्धि के लिए होती है और तभी हम धर्ममार्ग पर चल रहे होते हैं। इसलिए जैनों की मान्यता में धर्म प्रयोग-धर्मा भी है और धर्म वस्तु-धर्मा भी है। हमें देखना इस बात को है कि आचार्यों ने धर्म की वह विशिष्ट परिभाषा किस दृष्टि से दी है!

इस पुस्तक में हमने केवल धर्म-दर्शन-अध्यात्म और आचार की ही बात नहीं की है, बल्कि इसमें हमने अलंकार शास्त्र, गणित, विज्ञान, कला, इतिहास, संस्कृति, आयुर्वेद, साहित्य और साहित्य परम्पराएँ एवं जैनों के वैश्विक सन्दर्भ की बात भी की है, इन सन्दर्भों/आलेखों को जब आप पढ़ेंगे, तो आपके अनुभव में यह बात स्वयं आएगी कि कलाकार की कलाकृति भी रंगों के धर्म के बिना विकसित नहीं होती। साहित्यकार की साहित्य दृष्टि भी शान्त रस की केन्द्रीयता के बिना चरम परिणति को ही प्राप्त न कर पाती है।

वात इतनी ही नहीं, संसार की कोई वस्तु या उसमें होने वाला परिणमन उस वस्तु के भीतर समाहित धर्म के बिना नहीं हो पाता, इसलिए यहाँ इस पुस्तक में हमने धर्म को वृहत्तर सन्दर्भ में देखने की कोशिश की है।

काल की अवधारणा और काल-चक्र

प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, राकेश जैन शास्त्री

प्रायः काल को लेकर हम दो पारिभाषिकों के साथ बात करते हैं। ये पारिभाषिक हैं— 'काल' और 'समय'। कुछ लोग या कुछ विचारक इन पारिभाषिकों को एक मानते हैं और दूसरे को उसका पर्यायवाची, पर वहीं जैन विचारक इन्हें एक नहीं मानते, वे इन दोनों में अन्तर देखते हैं तथा वे मानते हैं कि काल के भीतर समय की सत्ता है, काल नैरन्तर्य है और समय एक कालाणु से दूसरे कालाणु तक की यात्रा का अन्तराल। इसीलिए वे काल की अनन्त समय वाला मानते हैं। बात इतनी ही नहीं, वे काल की अवधारणा को लोकाकाश की अवधारणा से सम्यक् मानते हैं, पर यहीं खास बात यह है कि काल और समय—पारिभाषिकों की चर्चा करते हुए जैन विचारक Tense और Time के पर्यायवाची के रूप में काल और समय को नहीं देखते। काल यद्यपि द्रव्य है, फिर भी इसकी अवधारणा Abstraction पर आधारित है। जैनधर्म-विज्ञान में लोक आकाशमय माना गया है। आकाश नहीं, तो लोक नहीं और इसीलिए जैनधर्म-विज्ञान में लोकाकाश की बात की गई है तथा यह कहा गया है कि आकाश प्रदेशों का बना होता है। आकाश के प्रदेश न हों तो आकाश न हो और इस प्रकार लोकाकाश भी न हो और इसी क्रम में काल की अवधारणा की भी अवकाश न मिले। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है कि लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने कालाणु हैं और वे निष्क्रिय हैं। भाव यह है, कि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है; क्योंकि शास्त्र-वचन है—लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो रत्नों की राशि के समान अवस्थित हैं, उन्हें कालाणु जानों। ये कालाणु रूपादि गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त हैं। (कुछ पाठ में असंख्य हैं) ये कालाणु स्वयं में अखण्ड हैं और मणिनुमा रत्नों की ढेरी के समान हैं। विभिन्न रूपों में गिनी जाने वाली (पल, क्षण, पिनिट, घंटा, दिन, रात, सप्ताह, माह, वर्ष आदि) काल रूपी सत्ता की लघुतम इकाई हैं; क्योंकि मूल रूप में यह काल द्रव्य अणु रूप है। जो शाश्वत काल है, वह वर्तना रूप है और शाश्वत काल वह निश्चय काल है और जो व्यवहार काल है, उसके असंख्य नामकरण व भेद आदि हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त भूत, भविष्यत्, वर्तमान, श्वस्तनी, ह्यस्तनी आदि को भी गणना)

काल के प्रसंग को लेकर जहाँ गणना की बात है, जैनचार्य उसे व्यवहारकाल मानते

काल की अवधारणा और काल-चक्र :: 23

हैं और उसी के भीतर उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि की दृष्टि से भेद देखते हैं। वस्तुतः जो निश्चय काल है, वही मुख्य काल है और वह अनन्त समय वाला है। जैन दार्शनिकों ने एक और खास बात काल के सम्बन्ध में विचार की—उनके मत में वर्तमान काल सदैव एक समयवर्ती या एक समयवाची है, जबकि भूत और भविष्य दोनों अनन्तसमय वाचक हैं। यद्यपि ये तीनों व्यवहारकाल हैं, पर भूत और भविष्य का स्वरूप अनन्त समय वाला होते हुए भी वर्तना रूप का पर्याय होने के कारण मुख्य काल नहीं है।

काल के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अक्सर लोग कहते हैं—हमारा समय खराब है, हमारा भला ही नहीं हो रहा, हमारा बुरा समय आ गया और हम खिन्न होते हैं। इससे ऐसा लगता है, जैसे हम कुछ नहीं हैं, हमारे साथ जो कुछ भी घट रहा है, वह सब कुछ काल के उपादानात्मक स्वरूप के कारण घट रहा है। जैन विचारक इस मान्यता का पुरजोर खण्डन करते हैं। वे कहते हैं— काल हमारा उपादान भी नहीं, हमारा निमित्त भी नहीं, वह तो सहकारी कारण भर है। जिस प्रकार कीली कुम्भकार के चाक के घूमने में सहकारी कारण बनती है, ठीक वही स्थिति जैनों के अनुसार काल की है। काल हमारा भला-बुरा नहीं करता, भला-बुरा हमारे कर्मों से होता है।

यहाँ एक खास बात और है कि व्याकरण के पाणिनि आदि आचार्य कीली को अधिकरण कारक के रूप में देखते हैं और चूँकि कीली में उन्हें अधिकरणता देखनी है। इसलिए वे उसे आधार भी मान लेते हैं, जबकि जैन वैयाकरण पूज्यपाद और कातन्त्रकार आदि कीली में अधिकरणता नहीं देखते, वे उसे केवल आधार के रूप में देखते हैं। इससे खास बात ये निकलकर आती है कि जैनों का काल सहकारी कारण बनते हुए आधार के रूप में प्रस्तुत होता है —काल सहित सभी द्रव्यों के परिणमन में। और जब आधार है, तो अधिकरण भी हो सकता है, पर साक्षात् कर्ता नहीं। चूँकि सभी कारक परम्परा से कर्ता के रूप में देखे जाते हैं। इसलिए काल भी कर्ता के रूप में दिखता है, पर है नहीं। है तो वह सरकारी कारण ही। वह उपादान भी नहीं, उपादेय भी नहीं और स्वरूप विचार की दृष्टि से हेय भी नहीं।

काल-चक्र

अनादि-अनिधन स्व-निर्मित विश्व व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वाभाविक स्वरूप में है और स्वयं की परिणमन की शक्ति के अनुसार परिणमित भी होता रहता है। जीव-पुद्गलादि पदार्थ जिस प्रकार अपने चेतन व जड़ लक्षणों में विद्यमान रहते हैं व अपने-अपने लक्षणों की योग्यता के अनुसार परिणमते हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य का भी अनादि-अनन्त प्रवाह-क्रम स्वयमेव चलता रहता है। दूसरे शब्दों में, काल का प्रवाह अनन्त और अजस्र है। वह अनादिकाल से परिवर्तित होता रहा है और अनन्तकाल तक परिवर्तित होता रहेगा। कभी वह उन्नत दिखाई देता है, तो कभी

अवनत। यह उत्थान और पतन का क्रम भी अनवरत है। उत्थान के बाद पतन और पतन के पश्चात् पुनः उत्थान होता ही है और इस तरह काल की यात्रा आगे बढ़ती रहती है। काल-चक्र की यह गतिशीलता सदा अबाधित रहती है। उदाहरण के रूप में घड़ी के काँटों की गति से कालचक्र की गतिशीलता को सुगमता से समझा जा सकता है। घड़ी की सुइयाँ जब बारह अंक से आगे यात्रा करती हैं, तब पतनोन्मुख हो जाती हैं। अधोगति के साथ जब तक छह के अंक पर नहीं पहुँच जाती, तब तक उनकी यात्रा नीचे की ओर बनी रहती है। छह के अंक पर पहुँचते ही वे फिर ऊर्ध्वगामी हो जातीं और विकास की पराकाष्ठा बारह के अंक पर पहुँच जाती है। तदनन्तर पुनः पतन या अधोगति हो जाती है। काल-चक्र की उत्थान से पतन और पतन से उत्थान की गतिमयता इसी प्रकार बनी रहती है। मानव जाति का संस्कारगत विकास और ह्रास का क्रम भी घड़ी के इन काँटों की भाँति चलता रहता है।

उत्थान से पतन की ओर जाने वाले काल को 'अवसर्पिणी' काल कहते हैं, यह ह्रासोन्मुख काल है। इस काल में मनुष्यों और तिर्यचों की बुद्धि, आयु, शरीर की ऊँचाई और अनुभव आदि में क्रमशः अवसर्पण अर्थात् ह्रास होता है।

इसके विपरीत, पतन से उत्थान की ओर जाने वाला काल 'उत्सर्पिणी' काल कहलाता है। यह विकासोन्मुख काल है। इस काल में मनुष्यों और तिर्यचों की बुद्धि, आयु, शरीर की ऊँचाई, और अनुभव आदि में क्रमशः उत्सर्पण अर्थात् विकास होता है।

अवसर्पिणी काल के आरम्भ से लेकर उत्सर्पिणी की समाप्ति तक काल का एक चक्र सम्पन्न हो जाता है। यही कालचक्र है। उत्थान से पतन का तथा पतन से उत्थान का यह क्रम सतत बना रहता है। यही समय की परिवर्तनशीलता है। यह परिवर्तन तत्काल हमारे अनुभव में नहीं आता। जब परिवर्तित परिस्थिति काफी आगे बढ़ जाती है, विकसित हो जाती है, तभी हमें आभास होता है कि परिवर्तन हो गया है।

इस प्रकार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इन दो विभागों में विभक्त है। दोनों के छह-छह उपविभाग हैं। यहाँ घड़ी का उदाहरण और भी अधिक उपयुक्त है। घड़ी में बारह से छह अंक तक का विभाग छह उपभागों में विभक्त अवसर्पिणी काल का प्रतीक है और छह से बारह तक का भाग छह उपभागों में विभक्त उत्सर्पिणी काल का द्योतक है। ह्रासोन्मुख अवसर्पिणी-काल के छह विभाग निम्नानुसार हैं—

1. सुषमा-सुषमा—इस काल में तीव्रतम पुण्य के उदय के अनुसार अनुकूलताओं की उत्कृष्टता मिलती है। यह काल भोग-प्रधान है। मनुष्यों और तिर्यचों को अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता है। सारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक कल्पवृक्षों से होती है। इस काल में मनुष्यों की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और आकांक्षाएँ मर्यादित। इस काल में नर-नारी युगल रूप में जन्म लेते हैं तथा

अपने जीवन के अन्त काल में पुत्र-पुत्री रूप युगल सन्तान को जन्म देकर दिवंगत हो जाते हैं। यहाँ जन्म लेने वाले जीवों की आयु तीन पत्य, शरीर की ऊँचाई 6000 धनुष और देह स्वर्ण-वर्ण की होती है।

यहाँ के जीव अत्यन्त अल्पाहारी होते हैं, तीन दिन के अन्तराल पर बेर के बराबर अल्पाहार से ही इनकी क्षुधा-तृप्ति हो जाती है। यह काल चार कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है।

2. सुषमा—सुषमा-सुषमा काल की तरह यह काल भी भोग-प्रधान है। इस काल की सारी व्यवस्थाएँ सुषमा-सुषमा काल की तरह ही होती हैं, किन्तु सुषमा-सुषमा काल के आदि से उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु दो पत्य की रहती है, शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष की तथा ये दो दिन के अन्तराल पर बहेडा के बराबर अल्प-आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में भोगोपभोग की सामग्री उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है। यह काल तीन कोड़ा-कोड़ी सागर का कहा गया है।

3. सुषमा-दुःषमा—यह काल भी भोग-युग कहलाता है। इस काल की व्यवस्था भी पूर्व के दो कालों की तरह होती है, किन्तु यहाँ सुविधा एवं भोग की सामग्री पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर क्षीण होने लगती है। इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक पत्य की होती है, इनके शरीर की ऊँचाई भी घटकर दो हजार धनुष की रह जाती है तथा ये एक दिन के अन्तराल से आँवला के बराबर अल्प आहार ग्रहण करते हैं। यह काल धीरे-धीरे क्षीण होते हुए कर्मयुग में परिवर्तित होता जाता है। अन्त में, इस काल में कल्पवृक्षों की कमी होने से सुविधाजनक सामग्री की भी कमी होने लगती है। प्राकृतिक परिवर्तन होते हुए उस समय क्रमशः चौदह कुलकर जन्म लेते हैं। कुलकर प्राकृतिक परिवर्तन से चकित और चिन्तित मानव समूह को मार्गदर्शन देते हैं। इस काल के अन्त में मनुष्यों की आयु एक पूर्वकोटि मात्र रह जाती है तथा शरीर की ऊँचाई 500/525 धनुष तक की रह जाती है। काल पूर्ण होने पर कर्मभूमि का प्रारम्भ हो जाता है। यह काल दो कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है।

4. दुःषमा-सुषमा—इस काल से कर्मभूमि/कर्मयुग का प्रारम्भ हो जाता है। प्राकृतिक कल्पवृक्ष आदि सम्पदाएँ प्रायः लुप्त हो जाती हैं। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति/जीवन निर्वाह के लिए कृषि आदि कर्म करने पड़ते हैं। नर-नारी अब युगल रूप में जन्म नहीं लेते। चूँकि कल्पवृक्षों से अब आवश्यकता की पूर्ति होना बन्द हो गया, इसलिए मनुष्यों को प्रयास करना पड़ता है। इसी काल से विवाह आदि संस्कार प्रारम्भ हो जाते हैं और समाज व्यवस्था बनती है। यद्यपि इस काल में कर्म करने से कुछ कष्ट अवश्य होता है, फिर भी अल्प परिश्रम से ही अधिक फल की प्राप्ति होने लगती है। इस काल में प्राकृतिक आपदाएँ नहीं आतीं। इसी काल में 63 शलाकामहापुरुषों का जन्म होता है, क्रमशः चौबीस तीर्थंकर जन्म लेकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

मनुष्यों में धार्मिक बुद्धि उपजती है। धर्म की आराधना कर जीव मोक्ष भी प्राप्त करने लगते हैं। नर से नारायण बनने की साक्षात् प्रक्रिया इसी काल में पूर्ण होती है। दुःख की अधिकता व अनुकूलता की कमी होने से यह काल दुःखमा-सुषमा कहलाता है। 42 हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर का यह काल होता है। प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक पूर्व कोटि एवं शरीर की ऊँचाई 525 धनुष होती है, जो घटती हुई काल के अन्त में क्रमशः 120 वर्ष और सात हाथ की रह जाती है।

5. दुःषमा—यह पाँचवाँ काल है। सम्प्रति यही काल प्रवर्तमान है। यह काल 21,000 वर्ष मात्र का होता है। प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु 120 वर्ष तथा ऊँचाई सात हाथ की होती है। मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाता जाता है, लोभ लालच बढ़ जाता है, उपज कम होने लगती है। प्राकृतिक आपदाएँ भी होने लगती हैं। मनुष्य भोगी-विलासी होने लगता है। धर्म की हानि होने लगती है। तीर्थंकर आदि महापुरुषों का अभाव हो जाता है। विशिष्ट ऋद्धि-सम्पन्न मुनिराज भी नहीं होते हैं, फिर भी कुछ-न-कुछ धर्म तो बना ही रहता है। मुनिराज स्वरूप-स्थिरता रूप सप्तम गुणस्थान तक ही जा पाते हैं, उससे ऊपर की श्रेणी में आरोहण का पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं। इस काल के अन्त में भी मुनिराज-आर्थिका, श्रावक-श्राविका का संघ विद्यमान होगा। इस काल के अन्तिम पखवाड़े (fort night) के दिन पूर्वाह्न में धर्म का नाश होता है, मध्याह्न में राजा का नाश होता है और सूर्यास्त समय में अग्नि भी नष्ट हो जाती है। अन्तिम समय में मुनिराज वीरांगज, आर्थिका सर्वश्री, श्रावक अग्निदत्त और श्राविका पंगुश्री (चतुर्विध संघ) रहेंगे। राजा के द्वारा आहार पर शुल्क मांगे जाने पर वे मुनिराज दुषमाकाल के अन्त का सन्देश देते हैं और अन्त में वे चारों संन्यास-मरण पूर्वक कार्तिक कृष्ण अपावस्था को यह देह छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव होते हैं और अन्तिम 21वाँ कल्की राजा मरकर धर्मा नरक में पहुँचता है।

6. दुःषमा दुःषमा—यह काल भी 21,000 वर्ष का होता है। इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु और ऊँचाई क्रमशः 20 वर्ष व दो हाथ की रहती है और अन्त में घटकर 15 वर्ष और एक हाथ की रह जाती है। जाति-पाँति, धर्म-कर्म, सब-कुछ का अभाव होता जाता है। मनुष्य की प्रवृत्ति अमानुषिक हो जाती है, मनुष्य पशुओं की तरह नग्न विचरण करने लग जाते हैं। मानवीय सम्बन्ध सम्पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य कच्चे मांस, मछली और कन्दमूल आदि का आहार करने लगते हैं। मनुष्य का आचरण पाशविक हो जाता है। इसके अन्तिम 49 दिनों में सात-सात दिनों तक सात प्रकार की कुवृष्टियाँ होती हैं, जिनसे सारी पृथ्वी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। प्रलय मच जाता है। इसमें सर्वप्रथम सात दिनों तक अत्यन्त तीक्ष्ण संवर्तक वायु चलती है, जो वृक्ष व पर्वत-शिला आदि को चूर्ण कर देती है। इससे सात दिन तक भयंकर शीत पड़ती है। मनुष्य और तिर्यच व्याकुल होकर विलाप करने लगते हैं। उस समय देव और विद्याधर दयार्द्र होकर 72 युगलों के साथ कुछ अन्य मनुष्यों और तिर्यचों को

काल की अवधारणा और काल-चक्र :: 27

विजयाङ्ग पर्वत की गुफाओं में ले जाकर सुरक्षित रखते हैं।

इसके पश्चात् सात-सात दिनों तक क्रमशः 1. अत्यन्त शीतल क्षार जल, 2. विष, 3. धूम्र, 4. धूल, 5. वज्र, 6. जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य अग्निज्वाला की वृष्टि होती है।

इस वृष्टि के निमित्त से अवशिष्ट मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं तथा विष और अग्नि की वृष्टि से दग्ध पृथ्वी एक योजन नीचे तक काल के वश से चूर्ण हो जाती है।

वज्र और अग्नि की वर्षा के कारण भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खण्डों में क्षुद्र पर्वत, उपसमुद्र, वनखण्ड, छोटी-छोटी नदियाँ, ये-सब भस्म होकर सम्पूर्ण पृथ्वी समतल हो जाती है और सात दिन तक धूल और धुआँ से आकाश व्याप्त रहता है। यहाँ पर अवसर्पिणी काल का अन्त हो जाता है।

इसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है, जिसमें विलोम-क्रम (उल्टे क्रम से) उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस उत्सर्पिणी काल के छठे भाग अर्थात् उत्तम भोगभूमिरूप सुषमा-सुषमा काल के पूरे हो जाने पर कालचक्र का अन्तिम भाग पूरा हो जाता है। इस तरह एक कालचक्र समाप्त होकर आगामी कालचक्र आरम्भ हो जाता है। ऐसे अनन्त काल चक्र अब तक हो चुके हैं और भविष्य में भी अनन्त होते रहेंगे।

कालचक्र के दोनों अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी विभाग दश दश कोड़ा कोड़ी सागर के होते हैं और सम्पूर्ण कालचक्र 20 कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है।

इतिहास के प्रति जैन दृष्टि

डॉ. शशिकान्त

इतिहास

‘इतिहास’ का सामान्य अर्थ है ‘इति इह आसीत्’—अर्थात् ‘यहाँ ऐसा हुआ’। जो कुछ इस लोक में घटित होता है, उसका एक काल-क्रमानुसार विवरण सामान्य रूप से ‘इतिहास’ का बोध कराता है, परन्तु इतिहास लेखन में दृष्टि घटना-क्रम के उल्लेख मात्र पर ही नहीं होती है। उसका मन्तव्य दो प्रकार से देखा जा सकता है, एक तो यह कि पहले जो-कुछ हुआ है, उन घटनाओं से हम यह मार्गदर्शन प्राप्त करें कि अप्रिय घटनाओं को पुनरावृत्ति न हो, और दूसरे यह कि पहले जो-कुछ उत्तम और सुखद हुआ है, उससे आगे भी प्रगति करने की प्रेरणा लें। इस प्रकार के इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति भी देखी गयी है कि लेखक अपने आमनाय, पंथ या जाति की महिमा मंडित करने की दृष्टि के साथ ही दूसरे की अवमानना करने का भी प्रयत्न करता है।

जिस समय से विदेशियों का आक्रामक स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ और उन्होंने इस देश पर अपना आधिपत्य जमाने में सफलता प्राप्त की, उसके पूर्ववर्ती काल में भारत में ही विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ प्रतिस्पर्धायित थीं। वैदिक ब्राह्मणीय दार्शनिक परम्पराओं और श्रमणीय जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में अपना श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करने की होड़ भी थी। 12वीं शताब्दी से मुस्लिम इतिहासकारों ने भारत की जन-संस्कृति की अवमानना का सबल प्रयत्न किया। 18वीं शताब्दी से अँग्रेज इतिहासकारों ने एक सुनियोजित ढंग से भारतीय इतिहास और संस्कृति की अवमानना का सफल प्रयास किया। विगत शताधिक वर्षों में भारत के भी इतिहास-मनीषियों ने विदेशी प्रभाव में उसी दृष्टि से इतिहास का प्रस्तुतीकरण किया, परन्तु कुछ विद्वानों ने जहाँ अपने धार्मिक कदाग्रह के अधीन मात्र अपने अनुश्रुतिगम्य कथानकों को मान्यता दी, वहीं कुछ विद्वानों ने एक समग्र और व्यापक दृष्टि का परिचय भी दिया तथा इतिहास के पूर्व उपेक्षित स्रोतों का भी समुचित उपयोग किया। इन विद्वानों में बाबू कामता प्रसाद जैन व इतिहास-मनीषी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन का उल्लेख किया जाना प्रासंगिक होगा।

अरबी-फारसी में इतिहास को तवारीख कहा जाता है। ‘तवारीख’, ‘तारीख’ का

बहुवचन है। इसका सामान्य अर्थ है कि कालक्रमानुसार घटनाओं का विवरण दिया जाये।

अंग्रेजी में History शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका भी सामान्य अर्थ Continuous methodical record of public events है; परन्तु इसमें किसी राष्ट्र अथवा जन-समुदाय के सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास का अध्ययन भी अभिप्रेत है; किसी व्यक्ति, जन-समुदाय, जाति, राष्ट्र और धर्म व सम्प्रदाय या विचारधारा से सम्बन्धित घटनाओं का क्रमिक विवरण तथा वस्तुनिष्ठ और तुलनात्मक अध्ययन भी इससे अभिप्रेत है; और वर्तमान में 'इतिहास', 'तवारीख' और History से इसी का बोध सामान्यतः होता है।

पुराण

भारत में प्राचीन काल में इतिहास-लेखन का इस रूप में प्रचलन नहीं रहा, वरन् पुराण के रूप में घटनाओं का कथन किया जाता रहा। पुराण-लेखन का उद्देश्य आराध्य महापुरुषों की भक्ति से प्रेरित होकर इस प्रकार चित्रण करना था कि उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति में वृद्धि हो; जिसके परिणामस्वरूप पुराण, चरित और महाकाव्य के रूप में कथानकों को निबद्ध किया गया। इसे अनुश्रुतिगम्य इतिहास के रूप में मान्यता दी गयी। इसमें सर्वव्यापक दृष्टि के लिए अवकाश नहीं था, वरन् अपने आराध्य को महिमा-मण्डित करने की भावना मूलभूत थी। जैन परम्परा में पुराण और इतिहास के अन्तर को आचार्य जिनसेन ने महापुराण में इंगित करते हुए बताया है कि पुराण वह है, जिसमें महापुरुषों का वर्णन किया जाये; और इतिहास वह है, जिसमें ऐसी अनेक कथाओं का जिनमें 'यहाँ ऐसा हुआ' रचनाकार घटनाओं का निरूपण हो। 'इतिहास', 'इतिवृत्त' और 'ऐतिह्य' समानार्थक हैं।

पुराण को ब्राह्मणीय साहित्य में परिभाषित करते हुए कहा गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (विनाश), वंश, मन्वन्तर (मनुओं के बीच का युग), तथा वंशों के चरित (वंशानुगत इतिहास) का समावेश होता है। जैन पुराणों पर भी यह परिभाषा सुसंगत है। महापुराण के रचयिता जिनसेन ने आदिपुराण के प्रथम सर्ग के श्लोक 20-23 में उल्लेख किया है कि पुराण में पुरातन घटनाओं का कथन होता है (पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महम्महदाश्रयात्)। परन्तु महापुराण से तात्पर्य है कि इसमें महापुरुषों का कथन किया गया है, अथवा वह भी कि महान् व्यक्तियों द्वारा यह कथन किया गया है, अथवा यह भी कि यह महान-श्रेय को प्राप्ति का मार्ग दिखाता

है। यह भी कहा गया है कि पुराण का कथन पुरातन कवियों द्वारा किया गया था और इसमें अन्तर्निहित महानता के कारण इसे 'महा' विशेषण से संयुक्त करके 'महापुराण' कहा जाता है। प्रभाचन्द्र ने अपने टिप्पण में यह भी इंगित किया है कि इतिहास किसी एक व्यक्ति के कथानक का वर्णन करता है, जबकि पुराण में त्रिषष्टि (63) शलाका-पुरुषों की कथा का वर्णन होता है। इन 63 शलाका-पुरुषों में इस काल के 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 वासुदेव (नारायण) और 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) परिगणित होते हैं। तीन तीर्थंकर शान्ति, कुन्थु और अर चक्रवर्ती भी हैं, अतः यह संख्या 60 रह जाती है।

जैन-दृष्टि

जैन-अनुश्रुतिगम्य मान्यता का विवेचन इतिहास-मनीषी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने करते हुए बताया है कि जैनधर्म एवं संस्कृति की यह असन्दिग्ध मौलिक मान्यता है कि चराचर जगत् या विश्व अनादि और अनन्त है। जो विभिन्न एवं विविध द्रव्य विश्व के उपादान हैं, जिनसे कि वह निर्मित है, वे सब भी अनादि और अनन्त हैं। अस्तु से सत् की उत्पत्ति नहीं होती, और सत् का कभी विनाश नहीं होता। अतएव, इस विश्व की न कभी किसी ने सृष्टि की, और न कभी किसी के द्वारा उसका अन्त ही होगा।... किन्तु साथ ही, इस शाश्वत जगत् में उसके उपादान द्रव्यों में निरन्तर परिवर्तन, परिणमन, पर्याय से पर्यायान्तर होते रहते हैं, और उनका निमित्त है कालचक्र। काल का प्रवाह भी अनादि-अनन्त है। काल का सबसे छोटा अविभाज्य अंश 'समय' कहलाता है और सबसे बड़ी व्यवहार्य इकाई 'कल्पकाल'। एक कल्पकाल का परिमाण बीस कोटाकोटि 'सागर' होता है, जो स्थूलतः संख्यातीत वर्षों का होता है। प्रत्येक कल्पकाल के दो विभाग होते हैं—(एक) अवसर्पिणी और (दूसरा) उत्सर्पिणी, जो एक के अनन्तर एक आते रहते हैं। अवसर्पिणी उत्तरोत्तर ह्रास एवं अवनति का युग होता है, और उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर विकास एवं उन्नति का। इन दोनों में से प्रत्येक छः भागों में विभक्त होता है और अवसर्पिणी के प्रारम्भ से उक्त छः युगों या कालों की गणना प्रारम्भ होती है। प्रथम काल सुखमा-सुखमा, द्वितीय काल सुखमा, तृतीय काल सुखमा-दुःखमा, चतुर्थ काल दुःखमा-सुखमा, पंचम काल दुःखमा, और षष्ठ काल दुःखमा-दुःखमा हैं।

इस समय कल्पकाल का अवसर्पिणी विभाग चल रहा है। वर्तमान अवसर्पिणी की यह विशेषता है कि इसमें कतिपय अपवाद या सनातन नियम के विरुद्ध कुछ-एक अनोखी बातें भी हो जाया करती हैं। अतएव सामान्य अवसर्पिणी से भेद करने के लिए इसे हुंदावसर्पिणी कहते हैं। इसके प्रथम चार भाग व्यतीत हो चुके हैं और पाँचवाँ भाग या आरा (अरिक) चल रहा है, जिसके लगभग अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत

हो चुके हैं और साढ़े अठारह सहस्र वर्ष शेष हैं।

जैनों के परम्परागत विश्वास के अनुसार वर्तमान कल्पकाल के प्रथम तीन युगों में भोगभूमि की स्थिति थी। मनुष्य-जीवन की वह प्रकृतिपर आश्रित आदिम दशा थी। आज की संस्कृति और सभ्यता की अवधारणा के अनुसार न कोई संस्कृति थी, न सभ्यता, न कोई व्यवस्था थी और न नियम। जीवन अत्यन्त सरल, एकाकी, स्वतन्त्र एवं प्राकृतिक था। जो थोड़ी-बहुत भौतिक आवश्यकताएँ थीं, उनकी पूर्ति कल्पवृक्षों से स्वतः हो जाया करती थी। मनुष्य शान्त एवं निर्दोष था। कोई संघर्ष या द्वन्द्व नहीं था। आधुनिक भूतत्त्व एवं नृतत्त्व विज्ञान सम्मत आदिम युगीन प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय युगों की वस्तुस्थिति के साथ इस जैन मान्यता का अद्भुत सादृश्य है। जैन मान्यता के उक्त तीनों युगों में पहला युग असंख्य वर्षों का था, दूसरा उससे लगभग आधा था और तीसरा दूसरे से भी आधा था, तथापि यह तीसरा युग भी अनगिनत वर्षों का था। इस अनुमानातीत सुदीर्घ काल में मानवता प्रायः सुषुप्त पड़ी रही, अतएव उसका कोई इतिहास भी नहीं है। वह एक प्रकार से अनाप युग रहा।

तीसरे काल के अन्तिम भाग में चिर-निद्रित मनुष्य ने अँगड़ाई लेनी शुरू की। भोगभूमि का अवसान होने लगा। कालचक्र के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों को देखकर लोग शंकित और भयभीत होने लगे। उनके मन में नाना प्रश्न उठने लगे। जिज्ञासा करवट लेने लगी। अतएव उन्होंने स्वयं को कुलों (जनों, समूहों या कबीलों) में गठित करना प्रारम्भ किया। इस कार्य में बल, बुद्धि आदि में विशिष्ट जिन व्यक्तियों ने उनका नेतृत्व, मार्गदर्शन और समाधान किया वे 'कुलकर' कहलाये। आवश्यकतानुसार व्यवस्था भी वे देते थे और अनुशासन भी रखते थे, अतः वे 'मनु' भी कहलाए। उनकी सन्तति होने के कारण इस देश के निवासी 'मानव' कहलाये। उक्त तीसरे युग के अन्त के लगभग ऐसे चौदह कुलकर या मनु हुए, जिनमें से सर्वप्रथम का नाम प्रतिश्रुति था और अन्तिम का नाभिराय। इन कुलकरों ने अपने-अपने समय की परिवर्तित परिस्थितियों में अपने कुलों का संरक्षण, समाधान और मार्गदर्शन किया। सामाजिक जीवन प्रारम्भ हो रहा था, अब कर्मयुग सम्मुख था।

कुलकर युग

जैन परम्परा में 14 कुलकरों की एक सामान्य मान्यता है और ऋषभ को 15वाँ कुलकर तथा उनके पुत्र भरत को 16वाँ कुलकर भी इस अपेक्षा से माना गया है, क्योंकि ऋषभ प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने लौकिक अभ्युदय का उपाय बताने के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त किया, तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती थे, जिन्होंने मानव समाज में शासन-व्यवस्था को एक स्वरूप प्रदान कर कुलकर मर्यादा का निर्वाह किया।

चौदह कुलकरों ने क्रमशः सभ्यता की ओर मानव को प्राकृतिक सदयता के क्षीण होने के क्रम में अग्रसर किया। (1) प्रतिश्रुति ने सूर्य और चन्द्र के पहली बार देखे जाने पर भयभीत मनुजों का भय दूर किया। (2) सन्मति ने तारा-समूह के पहली बार दर्शन होने पर उसके प्रति मनुष्य के भय का निवारण किया। (3) क्षेमंकर ने पशुओं को पालतू बनाकर उपयोग में लाने के उपाय बताये। (4) क्षेमन्धर ने हिंस्र हो गये वन्य पशुओं से काष्ठ एवं पाषाण के आयुधों की सहायता से त्राण पाने का उपाय बताया। (5) सीमंकर ने ह्रास होते जा रहे कल्पवृक्षों की कमी से उद्भूत विवाद का निराकरण मानव-समूह के लिए कल्पवृक्षों की सीमा नियत करके किया और इस प्रकार सर्वप्रथम सम्पत्ति की अवधारणा मानव समाज में हुई। इन पाँच कुलकरों के समय में शनैः-शनैः अपराध-भावना में वृद्धि हुई और सम्पत्ति की अवधारणा ने अपराध-वृत्ति को सम्पुष्ट किया, तथापि अभी मानव अपराध-बोध में सहज था और “हा अर्थात् ‘खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया,’ कह देने मात्र से अपराध का शोधन हो जाता था तथा अपराधी पुनः अपराध में प्रवृत्त नहीं होता था। अभी मानव सहज प्रकृत अवस्था (Savage Stage) में था। (6) सीमन्धर ने यह देखकर कि भोजन-प्रदायी कल्पवृक्षों का अभाव बढ़ता जा रहा है, जिसके कारण मनुष्यों में आपस में कलह बढ़ती जा रही है, व्यक्तिशः कल्पवृक्षों के उपयोग की सीमा नियत की और इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की अवधारणा का सूत्रपात किया। (7) विमलवाहन ने पालतू पशुओं को वश में कर और बन्धन में रख वाहन के रूप में उपयोग में लाने का उपाय बताया। (8) चक्षुष्मान् के समय में माता-पिता युगलिया सन्तान पुत्र और पुत्री को जन्म देने के बाद जीवित रहे और उनमें अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य-भाव का उदय हुआ। (9) यशस्वान् के समय में मानव अपनी सन्तान में ममत्व का अनुभव करने लगा—सम्भवतः इसी समय में माता को प्रसव-पीड़ा की अनुभूति और सन्तान को स्तनपान कराने की इच्छा जागृत हुई। अब समूह से जाति की ओर मनुष्य अग्रसर हुआ। (10) अभिचन्द्र के समय में माता-पिता अपनी सन्तान के साथ क्रीड़ा भी करने लगे और उन्हें सन्तान-सुख का बोध होने लगा। उक्त 5 कुलकरों के समय में व्यक्तिगत सम्पत्ति और सन्तान के प्रति मोह ने अपराध-वृत्ति को प्रोत्साहित किया, परन्तु अभी भी सामाजिक अपराध की वृत्ति जागृत नहीं हो पायी थी। अपराध-बोध की सहजता कम होती गयी और अब अपराध निवारण के लिए अपराधी को ‘हा’ के साथ ‘मा’ का आदेश भी करना पड़ने लगा—“खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे मत करना”। अब मानव सहज-प्रकृत-अवस्था से असंस्कृत अवस्था (Barbaric stage) में अग्रसर हो गया था।

(11) चन्द्राध के समय में माता-पिता सन्तान का लालन-पालन करने लगे और कौटुम्बिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। (12) मरुद्देव के समय में कल्पवृक्षों अर्थात्

प्राकृतिक सम्पदा का नियमन आवश्यक हो गया। मनुष्य को भोजन के लिए दूसरे स्थान पर जाने की और उसके लिए पर्वतारोहण तथा नदी पार करने के लिए नाविक विद्या की भी आवश्यकता हुई। भोजन की खोज में चलवासिता का दौर (Nomadic Stage) प्रारम्भ हुआ। (13) प्रसेनजित् ने भ्रूण-विज्ञान की शिक्षा दी और बच्चों के जन्म पर जरायु रूपी मल को हटाने का उपदेश दिया। (14) नाभिराज ने जन्मोपरान्त बच्चों की नाभि पर लगे नाल को काटने का उपाय बताया। अब मानव-सन्तान उस रूप में आयी, जिसको हम आज जानते हैं या जिसे आज हम देख रहे हैं। शारीरिक शुचिता और सन्तान के माता से स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध हुआ। मानव कबीलों में परिभ्रमण-शील रहा। जीने के लिए संघर्ष बढ़ता गया, जिसका परिणाम स्वभावतः जनसंख्या में नर-नारी अनुपात में असंगति उत्पन्न होना था। प्रजनन-क्षमता अभी भी युगल तक ही सीमित थी, परन्तु जीवन-संघर्ष के लिए संख्या-बल की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अपराध-वृत्ति का प्रसार हुआ और अब अपराधी को कबीले के नियन्त्रण में रखने के लिए 'हा, मा, धिक्' अर्थात् "खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया, अब मत करना, और तुम्हें धिक्कार है, जो रोकने पर भी अपराध करते हो", की व्यवस्था समुपस्थित हुई। अब मानव सहज-प्रकृत-अवस्था को बहुत पीछे छोड़ चुका था तथा असंस्कृत अवस्था से सभ्य या स्वयं प्रयास से संस्कारित जीने की अवस्था (Civilised Stage) अर्थात् कर्मभूमि की ओर क्रमशः बढ़ रहा था।

प्रजा को जीने का उपाय बताने की अपेक्षा से मनु, मानवों को कुल की भाँति इकट्ठा रहने का उपदेश देने की अपेक्षा से कुलकर, अनेक वंश स्थापित करने की अपेक्षा से कुलधर और सभ्यता के युग के आदि में नियामक होने की अपेक्षा से युगादि-पुरुष की संज्ञा से ये-सभी कुलकर जाने गये। ऋषभ को प्रजापति भी कहा गया, क्योंकि वह प्रजा को जीने की राह दिखाकर और उसमें प्रकृति से संघर्ष की सामर्थ्य जुटाकर प्रजा का पालन करने में समर्थ थे।

शलाका-पुरुष-युग

शलाका पुरुष से आशय है कि मानव-सभ्यता के विकास में उन्होंने विशिष्ट योगदान किया। शलाका का सामान्य अर्थ कुंजी है, अर्थात् ये शलाका-पुरुष मानवीय सभ्यता के विकास में कुंजी-सदृश (Key person) थे। 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव के रूप में 63 शलाकापुरुषों का उल्लेख किया गया है।

तीर्थंकर शास्ता हैं। चक्रवर्ती सार्वभौम सत्ता का प्रतीक हैं। बलदेव या बलराम सत्प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। वासुदेव या नारायण सद-असद प्रवृत्ति के प्रतीक हैं और असद के ऊपर सद की विजय सूचित करते हैं। प्रतिवासुदेव या प्रतिनारायण असत् प्रवृत्ति

के प्रतीक हैं और अन्ततः वासुदेव या नारायण से पराभूत होते हैं, जो असत् के ऊपर सत् की विजय के सामने सुनते हैं।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव

नाभिराज के समय में ही भोगभूमि का अवशिष्ट प्रभाव भी समाप्त-प्रायः हो गया और उन्होंने स्वेच्छा से अपने पुत्र ऋषभ को शासन-व्यवस्था सुपुर्द कर दी, ताकि वह मानव-समुदाय को कर्मभूमि में प्रवृत्त होने का मार्ग बता सकें। कर्मभूमि, मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष करने, उसे अपने अनुकूल बनाने और उस पर विजय प्राप्त कर अपने श्रम से उससे आवश्यक भोजन, सम्पदा तथा सम्पदा-जन्य सुख-सुविधा बुद्धि एवं विवेक के आश्रय से सम्पादित करने का, विस्तीर्ण-उद्योग था। असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प रूपी षट्कर्मों में मनुष्यों को प्रवृत्त करके ऋषभ ने कर्मभूमि या मानव-सभ्यता के विकास का प्रारम्भ किया। असि के माध्यम से स्व-रक्षा के लिए सन्नद्ध होना, मसि के माध्यम से बौद्धिक विकास करना, कृषि के माध्यम से भूमि से स्वयं धान्य उपजाना, विद्या के माध्यम से ललित कलाओं का सम्पादन करना, वाणिज्य के माध्यम से आर्थिक व्यवस्था का सूत्रपात करना, और शिल्प के माध्यम से यांत्रिक-वैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रारम्भ किया जाना, अभिप्रेत था।

जनसंख्या में नर-नारी अनुपात को नियमित करने और युगलिया व्यवस्था समाप्त होने के कारण स्त्री का भी उत्पादन इकाई के रूप में उपयोग किये जाने की दृष्टि से समाज-व्यवस्था की आवश्यकता अनुभूत हुई। संघर्षरत व्यवस्था में बहुत से युगल स्वाभाविक रूप से विच्छिन्न हो गये और मात्र नारी ही रह गयी, अतः विवाह की संस्था का आविर्भाव हुआ।

ब्राह्मी को भगवान ने अक्षर-ज्ञान दिया और सुन्दरी को अंक-ज्ञान, तथा इसप्रकार लेखन-कला तथा अंक-विद्या का प्रारम्भ हुआ और इनके आश्रय से ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ।

समाज में सामंजस्य स्थापित करने और आर्थिक व्यवस्था को नियोजित करने के उद्देश्य से उन्होंने मानव-समुदाय को क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्मियों में परिगणित करने का मार्ग भी दिखलाया। मनुष्यों में बढ़ती हुई अपराध-वृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए दण्ड-विधान का सूत्रपात भी किया और व्यवस्था के उच्छेदकों के लिए बन्धन एवं वध के दण्ड का प्रावधान किया।

समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था के सूत्रों को एक आधार देने के बाद ऋषभ ने आध्यात्मिक अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त किया। गृह-त्यागी तपस्वी के रूप में उन्होंने मनुष्यों को सम्पत्ति मोह से विरत होने और अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान कर सम्पूर्ण चैतन्य स्थिति की प्राप्ति की दिशा में मार्ग-दर्शन करने के लिए

धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया तथा अन्ततः स्वयं सिद्धत्व को प्राप्त हुए और इस प्रकार वे जैन परम्परा के वर्तमान हुण्डा-अवसरिणी कालचक्र के प्रथम तीर्थंकर हुए।

ऋषभ का उल्लेख प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ऋग्वेद में है। सभी भारतीय पुराणकारों ने उनका स्मरण किया है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के त्रिविध गुणों का उनमें समावेश बताया गया है। मनु, प्रजापति, अवतार और तीर्थंकर के रूप में सभी भारतीय परम्पराओं ने उनका समादर किया है। भारत-बाह्य सामी परम्परा में 'नबी' 'नाभेय' का उसी प्रकार रूपान्तर प्रतीत होता है, जिस प्रकार 'बुद्ध' का 'बुत' और नबी के रूप में नाभेय ऋषभ मानव को मार्गदर्शन प्रदान करने वाले प्रथम शलाका-पुरुष (Key person) थे। सामी परम्परा में हजरत नूह का सामंजस्य यदि स्वयम्भू मनु से सहज है, तो हजरत इब्राहीम के प्रथम नबी के रूप में तीर्थंकर ऋषभदेव से साम्य को सांकेतिक मानना दुष्कर नहीं प्रतीत होता। प्रथम भरत चक्रवर्ती का सादृश्य शक्तिशाली नमरूद से चीन्हा जा सकता है। ये सब इस बात को इंगित करते हैं कि मानव का आदि-कालीन इतिहास विगत चार-पाँच हजार वर्षों के अनुश्रुतिगम्य ऐतिह्य से कहीं सुदूर अतीत में मानव के स्मृति-कोष में संचित रहा और मनुष्य अपने परिवेश की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप उसके विशिष्ट पात्रों का नामकरण एवं स्वरूप निर्धारण करता रहा। इस स्मृति-कोष में ऋषभदेव का मानव को कर्मभूमि में प्रवृत्त कर सभ्यता की ओर अग्रसर करने में एक शलाका-पुरुष के रूप में कार्य था। अतः किसी-न-किसी रूप में सभी परम्पराओं में उनका स्मरण किया जाता रहा।

प्रथम चक्रवर्ती भरत

जैनैतर भारतीय पौराणिक गाथाओं में स्वयम्भू मनु को मानव-सभ्यता का आदि प्रस्तोता माना गया है। इनके पुत्र प्रियव्रत और पौत्र नाभि थे। नाभि ने इस भूखण्ड को 'अजनाभ' संज्ञा प्रदान की। नाभि की पत्नी मरुदेवी से वृषभ या ऋषभ हुए और ऋषभ के एक सौ पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे, जिन्हें ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते पिता का राज-सिंहासन प्राप्त हुआ। भरत अपने पितामह नाभि से भी अधिक प्रतापी थे और अब उनके नाम से यह भूखण्ड 'भारतवर्ष' कहलाने लगा।

'भरत' का अर्थ होता है 'भरण और रक्षण करने वाला'। यह सूचित करता है कि भरत ने एक व्यवस्था का नियमन किया, जिसने तत्कालीन मानव जाति को एक व्यवस्थित संगठन प्रदान किया, ताकि प्रकृति को मानव अपने अनुकूल बना सके और अन्य प्राणि-समुदायों से अपनी रक्षा कर सके। व्यक्ति के रूप में भरत की ऐतिहासिकता सुनिश्चित करना सम्भव नहीं है, परन्तु सत्ता की सर्वोच्चता और लौकिक वैभव के प्रकर्ष की एक अवधारणा के रूप में इसे एक ऐतिहासिक तथ्य माना जा सकता है।

जैन एवं जैनैतर पौराणिक एवं अन्य कथा साहित्य में भरत के सम्बन्ध में जो उल्लेख

मिलते हैं, उनसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रतिभासित होते हैं—

1. मानव सभ्यता के आदियुग में एक ऐसा पुरुष हुआ, जिसने मानवीय संगठन को व्यवस्थित कर सत्ता का एक स्वरूप प्रतिष्ठापित किया।
2. अपनी जाति या समुदाय का भरण और रक्षण करने की अपेक्षा से उसे 'भरत' संज्ञा दी गयी।
3. सत्ता के सर्वोच्च प्रकर्ष के रूप में चक्रवर्ती की सार्वभौम सत्ता की कल्पना की गयी।
4. सत्ता अविभाज्य रहे, इसलिए ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार के सिद्धान्त की प्रस्तावना की गयी।
5. सभी प्रकार की निधियाँ चक्रवर्ती के अधीन करके उसका आर्थिक-संसाधनों पर सम्पूर्ण प्रभुत्व स्वीकार किया गया।
6. स्त्री को सम्पत्ति, भोग्या और ऐश्वर्य का प्रतीक माना गया और इसकी पुष्टि स्वरूप 96,000 रानियों की कल्पना की गयी।
7. जिस समयावधि में इन पुराण-कथाओं की रचना हुई, उस समय के भौगोलिक ज्ञान के अनुसार रचनाकारों ने छह खण्ड पृथ्वी को भारतीय प्रायद्वीप में ही परिसीमित कर दिया। आज का कथाकार इस छह खण्ड को वर्तमान में अभिज्ञात छह महाद्वीपों से समीकृत करना चाहेगा।
8. सत्ताधारी के लिए अपने अधिकार का उपभोग अनासक्त-भाव से करना अभीष्ट है, ताकि जनता में व्यवस्था की निष्पक्षता और नियम-निष्ठा के प्रति विश्वास बना रहे।
9. सत्ता निष्कण्टक होनी चाहिए, अतः सत्ता के प्रति दावेदारों (contenders) को पराभूत किया जाना अपेक्षित है और इसके लिए कि वे रास्ते से हट जाएँ तथा आगे भी संकट न पैदा करें, सभी उपाय क्षम्य एवं अनुमन्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन चक्रवर्ती भरत के व्यक्तित्व को एक वैचारिक ऐतिहासिकता प्रदान करता प्रतीत होता है। यह वैचारिक अवधारणा किसी भौगोलिक सीमा से आबद्ध नहीं थी, वरन् यह विश्वव्यापी थी और विभिन्न भू-भागों में वहाँ के स्थानिक परिवेश के सापेक्ष उसकी व्याप्ति हुई।

अन्य शलाका-पुरुष

2. तीर्थंकर अजितनाथ—इनके तीर्थ में द्वितीय चक्रवर्ती सगर हुए।
3. तीर्थंकर सम्भवनाथ
4. तीर्थंकर अभिनन्दननाथ
5. तीर्थंकर सुमतिनाथ

6. तीर्थंकर पद्मप्रभ
7. तीर्थंकर सुपाश्वर्चनाथ
8. तीर्थंकर चन्द्रप्रभ
9. तीर्थंकर पुष्पदन्त
10. तीर्थंकर शीतलनाथ
11. तीर्थंकर श्रेयांसनाथ—इनके तीर्थ में प्रथम बलदेव (बलभद्र) विजय, वासुदेव (नारायण) त्रिपृष्ठ और प्रति-वासुदेव (प्रति-नारायण) अश्वग्रीव हुए।
12. तीर्थंकर वासुपूज्य—इनके तीर्थ में द्वितीय बलदेव अचल, वासुदेव (नारायण) द्विपृष्ठ और प्रति-वासुदेव (प्रति-नारायण) तारक हुए।
13. तीर्थंकर विमलनाथ—इनके तीर्थ में तृतीय बलदेव सुधर्म, वासुदेव स्वयम्भू और प्रति-वासुदेव मेरक हुए।
14. तीर्थंकर अनन्तनाथ—इनके तीर्थ में चतुर्थ बलदेव सुप्रभ, वासुदेव नारायण पुरुषोत्तम और प्रति-वासुदेव मधुसूदन या मधुकैटभ हुए।
15. तीर्थंकर धर्मनाथ—इनके तीर्थ में तृतीय एवं चतुर्थ चक्रवर्ती मधवा और सनत्कुमार हुए। इन्हीं के तीर्थ में पंचम बलभद्र सुदर्शन, वासुदेव पुरुषसिंह और प्रति-वासुदेव मधुक्रीड़ हुए।
16. तीर्थंकर शान्तिनाथ—यह पंचम चक्रवर्ती भी थे।
17. तीर्थंकर कुन्धुनाथ—यह स्वयं छठे चक्रवर्ती थे।
18. तीर्थंकर अरनाथ—यह स्वयं सातवें चक्रवर्ती थे और इनके तीर्थ में आठवें चक्रवर्ती सुभौम भी हुए। छठे बलदेव नन्दीषेण, वासुदेव पुण्डरीक और प्रति-वासुदेव निशुम्भ भी हुए।
19. तीर्थंकर मल्लिनाथ—इनके तीर्थ में नौवें चक्रवर्ती पद्म तथा सातवें बलदेव नन्दिमित्र, वासुदेव दत्त और प्रति-वासुदेव बलि हुए।
20. तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ—इनके तीर्थ में आठवें बलदेव राम, वासुदेव लक्ष्मण और प्रति-वासुदेव रावण हुए। राम पद्ममुनि के रूप में समादृत हैं।
21. तीर्थंकर नमिनाथ—इनके तीर्थ में दसवें चक्रवर्ती हरिषेण और ग्यारहवें चक्रवर्ती जयसेन हुए।
22. तीर्थंकर नेमिनाथ—इनके तीर्थ में बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और नौवें बलदेव बलराम, वासुदेव कृष्ण और प्रति-वासुदेव जरासंध हुए।
23. तीर्थंकर पार्श्वनाथ—श्वेताम्बर परम्परानुसार इन्होंने चातुर्याम धर्म की स्थापना की, जिसका विस्तार 250 वर्ष पश्चात् हुए अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने किया।
24. तीर्थंकर महावीर—काल-चक्र के प्रवृत्त-कल्प के अवसर्पिणी काल-खण्ड

के चतुर्थ काल में जब तीन वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रह गये थे, तो कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को इस काल-खण्ड के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने निर्वाण-लाभ किया था।

बारह चक्रवर्तियों में हरिषेण और जयसेन स्वर्ग गये और सुभौम और ब्रह्मदत्त नरकगामी हुए। शेष आठ मोक्षगामी हुए, जिनमें तीन तीर्थंकर भी थे।

बलराम बलदेव के अतिरिक्त सभी बलदेव या बलभद्र मोक्षगामी थे। बलराम पूर्णसंयम पालकर ब्रह्मस्वर्ग में गये, वहाँ से चयकर आगामी भव में कृष्ण के जीव तीर्थंकर के तीर्थ में मोक्ष-गमन करेंगे। सभी वासुदेव या नारायण और प्रति-वासुदेव (प्रति-नारायण) नरकगामी थे। प्रति-वासुदेव के नामों में कुछ भिन्नता भी मिलती है, परन्तु वह विशेष विचारणीय नहीं है।

महावीर के साथ शलाका-पुरुष युग समाप्त हो जाता है।

तीर्थंकर महावीर

वर्तमान में भगवान महावीर का तीर्थ चल रहा है। श्रमण जैन परम्परा में महावीर चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर मान्य हैं।

वर्धमान महावीर का निर्वाण जैन काल-गणना का विशिष्ट पथ-चिह्न है। अनुश्रुति के अनुसार काल-चक्र के प्रवृत्त कल्प के अवसर्पिणी काल खण्ड के चतुर्थ काल में जब तीन वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रह गये थे, तो कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को इस काल-खण्ड के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने निर्वाण-लाभ किया था। परम्परा के अनुसार यह तिथि विक्रम संवत् से 470 वर्ष पहले और शक संवत् से 605 वर्ष 5 माह पूर्वगत थी, अर्थात् ईस्वी सन् से 527 वर्ष पहले यह घटना घटी थी। महावीर ने 71 वर्ष 6 माह 18 दिन की आयु पायी और तदनुसार उनका जन्म चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को ईस्वी सन् से 599 वर्ष पहले हुआ था।

भगवान महावीर के जन्म के समय उत्तर भारत में कोसल, मगध, वत्स और अवन्ति में राजतन्त्रात्मक सत्ताएँ संगठित हो रही थीं, परन्तु वज्जिसंघ के रूप में एक शक्तिशाली गणतन्त्र भी विद्यमान था। वज्जिसंघ आठ कुलों का संघ था, जिसके सभी गण सदस्य 'राजा' कहे जाते थे। इन कुलों में लिच्छवि और ज्ञातृकुलों से महावीर का सम्बन्ध था। ज्ञातृवंश और काश्यप गोत्र के क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ तथा उनकी पत्नी त्रिशलादेव प्रियकारिणी क्रमशः महावीर के पिता और माता थे। महावीर का जन्म वैशाली के निकट स्थित कुण्डग्राम (क्षत्रियकुण्ड) में हुआ था। तीस वर्ष की आयु में मार्गशीर्ष कृष्ण दशम को ईस्वी पूर्व 569 में महावीर ने गृह-त्याग किया। बारह वर्ष तक उन्होंने तप-साधन की और 42 वर्ष की आयु में वैशाख शुक्ल दशमी को ईस्वी पूर्व 557 में उन्हें केवलज्ञा

इतिहास के प्रति जैन दृष्टि :: 35

की प्राप्ति हुई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हत्-परमात्मा हो गये। दिगम्बर परम्परा के अनुसार राजगृह (पंचशैलपुर) में स्थित विपुलाचल पर्वत पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को उन्होंने अपना सर्वप्रथम उपदेश ॐकार रूप दिव्यध्वनि के रूप में देकर अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। दिव्यध्वनि को गौतम गणधर शब्द रूप में ग्रथित करके लोकभाषा में महावीर के उपदेश को प्रसारित करते थे। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान स्वयं ही लोकभाषा में अपना उपदेश देते थे। तीस वर्ष तक उन्होंने स्थान-स्थान पर विहार कर लोगों को अपने उपदेश से लाभान्वित किया।

महावीर के उपदेशों का सार अहिंसावाद, कर्मवाद, साम्यवाद और स्याद्वाद है। इन उपदेशों के द्वारा उन्होंने करुणा, पुरुषार्थ, समानता और विवेक-जन्य सहिष्णुता को मानवीय-आचरण का आधार निर्दिष्ट किया। सभी प्राणियों को आत्म-कल्याण करने का समान अवसर प्रदान करने की दृष्टि से उनकी धर्म-सभाओं को समवसरण कहा गया।

महावीर के प्रधान शिष्य ग्यारह गणधर थे, जिनमें प्रधान इन्द्रभूति गौतम थे। अन्य गणधरों के नाम अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त (आर्यव्यक्त), सुधर्मा, मण्डिक (मंडित), मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मेतार्य और प्रभास हैं। ये सभी ब्राह्मण थे और वेद-शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे, परन्तु उन्होंने महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था और वे श्रमण-परम्परा में दीक्षित हो गये थे। मे गणधर महावीर के मुनिसंघ के नेता थे। महासती चन्दना उनके आर्थिकासंघ की अध्यक्ष थीं। मगध सम्राट् श्रेणिक-बिम्बिसार उनके प्रमुख श्रावक थे और श्रेणिक की पत्नी साम्राज्ञी चेलना श्राविका-संघ की नेत्री थीं।

महावीर के चतुर्विध संघ में साधु समुदाय में मुनि और आर्थिका तथा गृहस्थ समुदाय में श्रावक और श्राविका थे। अनुश्रुति के अनुसार उनके जीवनकाल में उनके लगभग पाँच लाख भक्त अनुयायी हो गये थे, जो उनके द्वारा सुव्यवस्थित चतुर्विध संघ के सदस्य थे। उनमें सभी वर्गों एवं जातियों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे।

महावीर के निर्वाण के बाद जैन संघ का नायकत्व उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम को प्राप्त हुआ और उन्होंने महावीर के उपदेशों को शृंखलाबद्ध व्यवस्थित एवं वर्गीकृत किया, कहा जाता है। इन्हें महावीर स्वामी से 12 वर्ष बाद निर्वाण प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् महावीर के ही एक अन्य गणधर सुधर्माचार्य संघनायक हुए और निर्वाण प्राप्त होने तक 12 वर्ष उन्होंने नायकत्व किया। तत्पश्चात् महावीर निर्वाण संवत् 24 में सुधर्माचार्य के शिष्य जम्बूस्वामी जैन संघ के नायक हुए और उन्होंने 38 वर्ष तक संघ का नायकत्व किया। जम्बूस्वामी ने महावीर संवत् 62 (ईस्वी पूर्व 465) में मोक्ष-लाभ किया। महावीर की शिष्य-परम्परा में जम्बूस्वामी अन्तिम केवली थे। श्वेताम्बर परम्परा में जम्बूस्वामी को ही महावीर के उपदेशों को आगम रूप में संकलित करने

का श्रेय दिया गया है।

जम्बूस्वामी के बाद दिगम्बर परम्परा के अनुसार विष्णुकुमार, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ने क्रमशः संघ का नेतृत्व किया। ये पाँचों श्रुतकेवली थे अर्थात् उन्हें महावीर द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण श्रुत का यथावत् ज्ञान था। भद्रबाहु दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में अन्तिम श्रुतकेवली के रूप में मान्य हैं, जबकि उनसे पहले चार श्रुतकेवलियों के नाम श्वेताम्बर परम्परा में भिन्न हैं यथा—प्रभव, स्वयंभव, यशोभद्र और सम्भूत विजय। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की समाधि दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर संवत् 162 (ई.पू. 365) में तथा श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर संवत् 178 (ई.पू. 349) में मानी जाती है। भद्रबाहु के बाद महावीर द्वारा उपदेशित अंग-पूर्वों का ज्ञान धीरे-धीरे विच्छिन्न होने लगा।

भगवान् महावीर से प्रभावित तत्कालीन सत्ताधीशों में वज्जि संघ के अध्यक्ष राजा चेटक तथा उनका परिवार और मगध के नरेश श्रेणिक-बिम्बिसार तथा उनके पुत्र मन्त्रीश्वर अभय और उत्तराधिकारी कुणिक-अजातशत्रु का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है। श्रेणिक-बिम्बिसार ने अपने लगभग 50 वर्ष के सुदीर्घ राज्यकाल में मगध को एक शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित कर लिया था और मगध साम्राज्य की सुदृढ़ नींव जमा दी थी। कहा जाता है कि मगध की राजधानी राजगृह में महावीर का समवसरण 200 बार आया था और इन समवसरणों में श्रेणिक ने गौतम गणधर के माध्यम से भगवान् से एक-एक करके 60,000 प्रश्न किये थे और उन प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर ही विपुल जैन-साहित्य की रचना हुई।

उवासगदसाओ सुत्त (उपासकदशा सूत्र) में महावीर के दश सर्वश्रेष्ठ साक्षात् उपासकों एवं परम भक्तों का वर्णन प्राप्त होता है। ये सभी सदगृहस्थ थे और गृहस्थावस्था में रहते हुए ही धर्म का पालन करते थे। उनके नाम हैं—आणंद, कामदेव, चुलणीपिता, सुरादेव, चुल्लसय, कुण्डकोलिय, सद्दालपुत्र, महासतय, नंदिणीपिया और लेइयापिता। इनमें से सद्दालपुत्र जाति से शूद्र और कर्म से कुम्भकार था। अन्य सभी श्रावक श्रेष्ठि-वर्ग से थे। चार अन्य श्रेष्ठि-पुत्रों का भी उनके परम-भक्त के रूप में विशेष उल्लेख है—राजगृह के सुदर्शन सेठ, शालिभद्र, धन्ना और जम्बूकुमार। ये जम्बूकुमार ही अन्तिम केवली थे। इन भक्तों के विषय में जो कथाएँ जैन साहित्य में मिलती हैं, उनका उद्देश्य गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं को त्याग एवं संयम के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए प्रेरित करना रहा प्रतीत होता है।

श्रुतज्ञान

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में यह सामान्य मान्यता है कि महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृम्भिक ग्राम में शाल वृक्ष के नीचे ध्यान करते

हुए केवलज्ञान की उपलब्धि वैशाख शुक्ल दशमी को 12 वर्ष 6 मास व 15 दिन के अपने साधना काल के उपरान्त हुई थी। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी पहावीर का जन्म-दिवस मान्य है, जो ईस्वी सन् से 599 वर्ष पहले माना जाता है। उनको केवलज्ञान की उपलब्धि 42 वर्ष की आयु में ईस्वी सन् से 557 वर्ष पहले हुई। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भगवान् की देशना केवलज्ञान प्राप्ति के तुरन्त बाद ही प्रारम्भ हो गयी, परन्तु दिगम्बर मान्यता के अनुसार देशना का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को राजगृह में विपुलाचल पर्वत पर हुआ।

दिगम्बर आम्नाय में यह मान्यता है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदिष्ट ज्ञान को उनके प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा शब्द-रूप में ग्रथित किया गया था। गौतम स्वामी द्वारा ग्रथित ज्ञान 4 अनुयोगों में संकलित माना जाता है। प्रथमानुयोग में महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित पुराण और चरित आते हैं। करणानुयोग में लोक-अलोक और काल से सम्बन्धित विवेचन है। चरणानुयोग में श्रावकों और साधुओं के चारित्र सम्बन्धी निर्देश हैं। द्रव्यानुयोग में तत्त्वदर्शन का विवेचन है, जो जैनधर्म के आध्यात्मिक पक्ष को प्रस्तुत करता है।

भगवान् द्वारा जो उपदेश दिये गये थे, वे 12 अंगों में विभक्त थे और इसीलिए उनके द्वारा दिये गये उपदेशों को द्वादशांग श्रुत कहा जाता है। सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत का ज्ञान गणधर इन्द्रभूति गौतम को था और दिगम्बर आम्नाय की मान्यता है कि उन्होंने ही इस श्रुतज्ञान को 12 अंगों या विभागों में ग्रथित किया।

श्वेताम्बर आम्नाय में मान्यता कुछ भिन्न है। इस मान्यता के अनुसार जम्बूस्वामी ने गणधर सुधर्मा से प्राप्त ज्ञान को संकलित किया। महावीर के बाद उनके प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम संघ-नायक रहे। गौतम के पश्चात् सुधर्मा संघ-नायक हुए। सुधर्मा भगवान् के 11 गणधरों में से एक थे। इनके कार्यकाल के विषय में दोनों आम्नायों में मतभेद है। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार गौतम का नायकत्व काल 12 वर्ष था और तत्पश्चात् सुधर्मा का नायकत्व काल भी 12 वर्ष का था, परन्तु श्वेताम्बर-आम्नाय में गौतम का कार्यकाल तो 12 वर्ष ही है, सुधर्मा का कार्यकाल मात्र 8 वर्ष है। तथापि तीसरे संघ-नायक के रूप में जम्बूस्वामी की मान्यता दोनों आम्नायों में है। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार उनका कार्यकाल 38 वर्ष का था और श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार 42 वर्ष का। दोनों आम्नायों में यह मान्यता भी है कि पहावीर के बाद तीन केवली हुए और वे गौतम, सुधर्मा और जम्बू थे।

यह उल्लेखनीय है कि महावीर के सभी गणधर (मुख्य शिष्य) वेदज्ञ ब्राह्मण थे, परन्तु जम्बूस्वामी चम्पा के एक श्रेष्ठी के पुत्र थे अर्थात् वैश्य वर्ण के थे, और यद्यपि वह महावीर के प्रभाव से उनके शिष्य हो गये थे, परन्तु उनकी गणना गणधरों में नहीं थी। दोनों ही आम्नायों के अनुसार सुधर्मा के बाद जम्बूस्वामी संघ-नायक हुए।

दोनों ही आम्नायों के अनुसार जम्बूस्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था और महावीर के निर्वाण के 62 वर्ष बाद ईस्वी पूर्व 465 में मोक्ष प्राप्त हुआ। श्वेताम्बर आम्नाय में महावीर की द्वादशांग-वाणी को संकलित करने का श्रेय जम्बूस्वामी को दिया गया है। जम्बूस्वामि ने महावीर के उपदेशों का प्रत्यक्ष-बोध के आधार पर संकलन नहीं किया, वरन् उन्होंने कहा है कि “गुरु सुधर्मा स्वामी से गौतम के प्रश्नों का महावीर द्वारा दिया गया उत्तर, जैसा सुना।”

श्वेताम्बर आम्नाय में महावीर द्वारा उपदिष्ट 12 अंगों में से प्रथम 11 अंग संरक्षित बताये जाते हैं, जिनका उपलब्ध रूप महावीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष बाद, अर्थात् 453 या 466 ई. के लगभग, वल्लभी में देवर्दिगाणि क्षमाश्रमण द्वारा संकलित किया गया। दिगम्बर आम्नाय इन 11 अंगों को मान्यता नहीं देती और इन्हें लुप्त मानती है, तथा केवल 12वें अंग के दृष्टि-प्रवाद-खण्ड को ही संरक्षित मानती है। श्वेताम्बर आम्नाय 12वें अंग को लुप्त मानती है।

दोनों आम्नायों के अनुसार द्वादश अंगों के नाम प्रायः समान हैं, परन्तु उनकी पद-संख्या, श्लोक-संख्या और अक्षर-संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। इन अंगों के नाम निम्नलिखित हैं—

1. आचारो (आचारांग)—इसमें श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार सम्बन्धी निर्देश हैं।
2. सुयगडो (सूत्रकृतांग)—इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों का निरूपण है और महावीर के समय प्रचलित 363 पाखण्ड मतों पर विचार किया गया है।
3. ठाणं (स्थानांग)—इसमें स्व-समय, पर-समय, स्व-पर उभय समय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक आदि पर विचार किया गया है।
4. समवाओ (सपवायांग)—इसमें द्रव्य की अपेक्षा से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि के क्षेत्र, काल तथा भाव की दृष्टि से विवरण दिये गए हैं।
5. वियाहपण्णत्ती (वियाह-पण्णत्ति, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, विपाक-प्रज्ञप्ति, विक्खा-पण्णत्ति)—यह प्रश्नोत्तर शैली में है। इसमें गौतम द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर भगवान् देते हैं। प्रश्न विविध विषयक हैं। इसका दूसरा नाम भगवतीसूत्र (भगवई) भी है।
6. नायधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)—इसमें उदाहरण रूप से धर्म-कथाएँ दी गयी हैं।
7. उवसग्दसाओ (उपासकदशा)—इसमें दस उपासक गृहस्थों के सदाचार पूर्ण जीवन का वर्णन किया गया है।
8. अन्तगडदसाओ (अन्तकृतदशा)—इसमें विभिन्न श्रेणी के साधकों का वर्णन है।

- प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दस-दस अन्तकृत केवलियों का वर्णन है, जिन्होंने भयंकर उपसर्गों को सहकर अन्ततः मुक्ति प्राप्त की।
9. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपात्तिकदशा)—इसमें ऐसे महापुरुषों का चरित दिया गया है, जिन्होंने चोर तपश्चरण और विशुद्ध संयम की साधना के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त कर अनुत्तरविमानों में देवत्व प्राप्त किया।
 10. पण्हावागरणाइं (प्रश्न-व्याकरण)—इसमें युक्ति और नयों द्वारा आक्षेप और विक्षेपरूप प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।
 11. विवागसुयं (विपाक सूत्र),—इसमें उदाहरण के माध्यम से कर्म-सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। पुण्य-पाप के विपाक का विचार इस अंग की विशेषता है।
 12. दिदिठवाओ (दृष्टिवाद)—इसमें संसार के समस्त दर्शनों और नयों का निरूपण किया गया है। 363 मतों का निरूपणपूर्वक खण्डन दृष्टिवाद अंग का विस्तार है।

वाचना

भद्रबाहु के बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नाय की आचार्य परम्पराओं में पूर्ण भेद हो जाता है। दिगम्बर आम्नाय में महावीर के बाद 683 वर्ष में 33 संघ-नायक आचार्य हुए, परन्तु उनमें इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा, जम्बू और भद्रबाहु को छोड़कर श्वेताम्बर परम्परा में मान्य किसी संघ-नायक का नाम नहीं है। श्वेताम्बर आम्नाय में महावीर निर्वाण संवत् 609 तक 19 आचार्यों का नाम है, जो सभी इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा, जम्बू और भद्रबाहु को छोड़कर दिगम्बर आम्नाय की सूची से भिन्न हैं। भद्रबाहु के बाद श्वेताम्बर परम्परा में स्थूलिभद्र (स्थूलिभद्र) का उल्लेख है और वहीं से श्वेताम्बर आम्नाय की भिन्नता प्रारम्भ होती है। स्थूलिभद्र का आचार्यत्व का काल महावीर निर्वाण संवत् 170 से 215 (ईस्वी पूर्व 357-312) रहा; वह अन्तिम चतुर्दश-पूर्वी थे और भद्रबाहु के शिष्य रहे थे।

श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार स्थूलिभद्र की शिष्य परम्परा में वज्रसेन के समय महावीर संवत् 606 या 609 (79 या 82 ईस्वी सन्) में जैन संघ अन्तिम रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की समाप्ति के बाद महावीर निर्वाण संवत् 160 (367 ई.पू.) में पाटलिपुत्र में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें श्रुत का वाचन किया गया। इसमें भद्रबाहु तथा अन्य कोई दिगम्बर आचार्य भी सम्मिलित नहीं हुए। अतः यह प्रथम वाचना निष्फल रही। पुनः उसी परम्परा में महावीर निर्वाण संवत् 827-840 (300-313 ई.) में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में एक वाचना सम्मेलन हुआ और वल्लभी में भी नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ;

परन्तु दोनों में मतभेद होने के कारण अन्तिम निर्णय नहीं हो सका। अन्ततः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में महावीर संवत् 980 या 993 (453 या 466 ई.) में वल्लभी में वाचना की गयी और श्वेताम्बर आगम को अन्तिम रूप दिया गया, जैसाकि अब उपलब्ध माना जाता है।

दिगम्बर आमनाय में ऐसी किसी परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता है, जब महावीर के बाद उनके उपदेशों के संकलन के लिए कोई सम्मेलन किया गया हो।

खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से यह विदित होता है कि महावीर निर्वाण संवत् 355 अर्थात् ईस्वी पूर्व 172 में एक सम्मेलन द्वादश-अंगों के वाचन के लिए उड़ीसा प्रदेश के भुवनेश्वर जिले में स्थित कुमारी पर्वत (उदयगिरि) पर किया गया था। यदि संयोगवश इस अभिलेख की जानकारी न होती, तो यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना उपेक्षित ही नहीं, वरन् विस्मृत भी रह जाती। इस वाचना का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला प्रतीत होता, क्योंकि कदाचित् उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर विभेद के पोषक आचार्य उस सम्मेलन में उपस्थित रहे होंगे। अभिलेख में किसी भी आचार्य का नाम नहीं दिया गया है। यद्यपि सभी दिशाओं से श्रमणों को उसमें आमन्त्रित किया गया था (सुकत-समण-सुविहितानं च सवदिसानं जनिनं-तपसि-इसिनं-संघयनं)।

मथुरा में कंकाली टीला से प्राप्त पुस्तक-धारिणी सरस्वती की लेखांकित मूर्ति प्राप्त हुई है। इस मूर्ति पर वर्ष 54 का लेख है। वर्ष 54 को 78 ईस्वी के शक् संवत् से समीकृत किया जाता है और इसका समय 132 ईस्वी माना जाता है। सरस्वती की यह मूर्ति गोदुहिका आसन में है। श्वेताम्बर परम्परा में यह मान्यता है कि भगवान महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति इसी आसन में हुई थी। यह मूर्ति यह इंगित करती है कि उस समय तक श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता प्रचलित हो गयी थी। सरस्वती के हाथ में पुस्तक से यह इंगित होता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ में ही जैनों में ग्रन्थों के लिपिकरण की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। इससे यह भी सूचित होता है कि द्वादशांग श्रुत की वाचना हेतु जो सम्मेलन ई.पू. 172 में खारवेल ने आयोजित किया था, उसके बाद भी वाचना के लिए सम्मेलन आयोजित होते रहे और सम्भवतः मथुरा में भी आर्य स्कन्दिल के पहले कोई वाचना-सम्मेलन हुआ, जिसकी ध्वनि इस मूर्ति में प्रतीत होती है।

विकास-क्रम

किसी भी जीवन्त-व्यवस्था में देश और काल की अपेक्षा से उत्पन्न परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये परिवर्तन विकासक्रम को सूचित करते हैं, परन्तु कट्टर रूढ़िवादिता की दृष्टि से इनको व्यवस्था में विकार भी माना जाता है। जैनधर्म की वर्तमान व्यवस्था का मूल भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित

इतिहास के प्रति जैन दृष्टि :: 45

एवं प्रतिष्ठापित स्वरूप हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट श्रुतज्ञान इसकी पृष्ठभूमि और आधार हैं। उस ज्ञान को संरक्षित करने के बहुविधि प्रयास किये जाते रहे।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् 62 वर्ष में 3 संघ-नायक क्रमशः इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और जम्बू हुए, जिनके सम्बन्ध में कोई मतान्तर नहीं है, परन्तु जम्बूस्वामी के पश्चात् मतान्तर प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि भद्रबाहु 8वें संघ-नायक के रूप में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य हैं, जम्बू के बाद दिगम्बर-परम्परा में नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित और गोवर्धन को मान्यता दी गयी है, परन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में उनके स्थान पर प्रभव, स्वयंभव, यशोभद्र और सम्भूतविजय को मान्यता दी गयी है। इससे यह संकेत मिलता है कि जम्बूस्वामी के बाद ही मतभेद प्रारम्भ हो गये थे, तथापि भद्रबाहु को दोनों ही पक्षों ने संघ-नायक स्वीकार कर लिया था।

श्वेताम्बर परम्परा में भद्रबाहु के बाद स्थूलिभद्र का उल्लेख है। स्थूलिभद्र का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में नहीं है। यह तथ्य इस बात को प्रतिभासित करता है कि भद्रबाहु के बाद स्पष्ट रूप से संघ का नायकत्व बाँट गया था। भद्रबाहु के समय में मगध में 12 वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। इस दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु जो आचार से बँधे थे, मगध से दक्षिण की ओर चले गये। कुछ साधु दुर्भिक्ष के क्षेत्र में रहे और उन्होंने परिस्थितियों के अनुसार अपने आचार को समायोजित कर लिया। ये जैन साधु मूल दिगम्बर साधु चर्या से अलग हो गये और दुर्भिक्ष के बाद पश्चिम दिशा में उज्जैन और मथुरा की ओर चले गये। मगध में दुर्भिक्ष की समाप्ति पर महावीर निर्वाण संवत् 160 (ई.पू. 367) में पाटलिपुत्र में श्रुत के संरक्षण के लिए एक सम्मेलन किया गया, जिसमें भद्रबाहु सम्मिलित नहीं हुए तथा अन्य कोई दिगम्बर साधु भी सम्मिलित नहीं हुए, और यह सम्मेलन निष्फल रहा। यह घटना इस बात को सूचित करती है कि जैन साधु-संघ में अब स्पष्ट मतभेद हो गया था, परन्तु संघ-भेद को स्पष्ट स्वीकृति नहीं मिली थी। श्वेताम्बर-परम्परा में 19वें पट्टधर वज्रसेन के समय में महावीर निर्वाण संवत् 603 (76 ईस्वी) में दिगम्बर-श्वेताम्बर संघ-भेद को अन्ततः मान्यता दी गयी। संघ-भेद के लिए महावीर नि.सं. 606 (79 ईस्वी) और म.नि.सं. 609 (82 ईस्वी) का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु 603, 606 और 609 यह तीनों ही संवत् वज्रसेन के नायकत्व-काल में ही पड़ते हैं। अतः संघ-भेद को ईस्वी सन् 76 से माना जा सकता है। दिगम्बर-आम्नाय के मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम का प्रणयन महावीर निर्वाण संवत् 602 (75 ईस्वी) में माना जाता है। यह घटना भी इस तथ्य को सूचित करती प्रतीत होती है कि प्रथम शती ईस्वी के चतुर्थ चरण में महावीर द्वारा स्थापित जैन-श्रमण-संघ में दिगम्बर और श्वेताम्बर साधुओं के रूप में संघ-भेद स्पष्ट हो गया था।

मान्यता यही है कि भगवान् महावीर द्वारा जो संघ व्यवस्था की गयी थी, उसमें साधु निर्ग्रन्थ दिगम्बर थे। ईस्वी पूर्व तीसरी से पहली और ईस्वी सन् की प्रारम्भिक

शताब्दियों में पश्चिमोत्तर से यवन, पहलव, शक, कुषाण, हूण आदि आक्रमणकारी हमारे देश में आये और पश्चिम भारत के प्रदेशों पर उन्होंने अपना आधिपत्य कर लिया। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए उन प्रदेशों में साधुचर्या में कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गये होंगे। उन्हीं को दृष्टिगत रखते हुए धीरे-धीरे श्वेत वस्त्रधारी अर्थात् श्वेताम्बर साधुचर्या का प्रारम्भ हुआ। मथुरा से पहली-दूसरी शताब्दी ईस्वी के जो पुरावशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें दिगम्बरत्व को ढाँपने के लिए हाथ से एक वस्त्र-पट्ट लटका हुआ प्रदर्शित है। इस प्रकार के चित्रांकन को अर्धफालक की संज्ञा दी गयी है। शक संवत् 54 (132 ईस्वी) की सरस्वती की मूर्ति पर भी अर्धफालक साधु का चित्रांकन है। इस प्रकार का चित्रांकन भी वस्त्रधारी श्वेताम्बर साधुओं की उपस्थिति का संकेत करता प्रतीत होता है।

जैनधर्म में आस्था बनाये रखने और जैनधर्म के अनुयायियों को एक-साथ बाँधे रखने की दृष्टि से प्रभावक आचार्यों द्वारा समय-समय पर बहुत-सी व्यवस्थाएँ की गयीं, जिनको सैद्धान्तिक दृष्टि से मान्य नहीं किया जा सकता। जिन देवी-देवताओं के प्रति अथवा अन्य अमानवीय शक्तियों के प्रति लोक-मानस में सामान्य रूप से आस्था थी, उन सभी को शनैः-शनैः जैन देव-समूह में भी सम्मिलित कर लिया गया। मनोरथ पूर्ति के लिए जो विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड प्रचलित थे, उन्हें भी जैन-आराधना-पद्धति में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति को भक्ति और आराधना के लिए जो सम्बल चाहिए, वे जैनधर्म में भी उपलब्ध करा दिए गये, ताकि अपने आस-पास के परिदृश्य से आकर्षित होकर वह जैनधर्म से विमुख न हो जाएँ। इस परिप्रेक्ष्य में आराध्य अर्हन्त तीर्थंकर के अतिरिक्त शासन-देवता के रूप में तथा मनोकामना पूर्ण करने वाले देवी-देवताओं के रूप में जैनों के देव-समूह में भी बहुत से देवी-देवता सम्मिलित कर लिए गये, परन्तु इन देवी-देवताओं को तीर्थंकर से निम्न स्तरीय द्वितीय स्थान पर रखा गया। यह लोक-संस्कृति से सम्मिश्रण का प्रतीक है।

मध्य काल में 13वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक मुस्लिम शासन-काल रहा। इस काल में सभी भारतीय धर्मों को संरक्षण की विशेष आवश्यकता अनुभूत हुई। मन्दिर और मूर्तियों का ध्वंस किया जाने लगा। साधुओं के वेश और आचार की सुरक्षा कठिन हो गयी। उन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बर सम्प्रदाय में भट्टारक संस्था का प्रारम्भ हुआ। भट्टारक प्रकट रूप में वस्त्रधारी होते थे और उनका कुछ आचार दिगम्बर मुनि के समान होता था। विभिन्न स्थानों पर भट्टारकों की गद्दी स्थापित हुई, जहाँ वे जैनधर्म के अनुयायियों का धर्म मार्ग में मार्गदर्शन करते थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इसी प्रकार यतियों की गद्दियाँ स्थापित हुईं।

इस्लाम की मन्दिर-मूर्ति भंजक मानसिकता से सभी भारतीय त्रस्त थे। इस परिस्थिति में अपने धर्म के संरक्षण के लिए जैनधर्म के अनुयायियों में भी कुछ सुधारात्मक प्रयास

किए गये। दिगम्बर-सम्प्रदाय में तारण पंथ अथवा समैया-सम्प्रदाय की संस्थापना तारण स्वामी (1448-1515 ई.) ने की थी। इस सम्प्रदाय द्वारा मन्दिरों और मूर्तियों के स्थान पर शास्त्र की पूजा का विधान किया गया। इस का व्यापक प्रभाव मध्य प्रदेश में रहा।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी गुजरात में लौकाशाह (1420-1476 ई.) ने लौकागच्छ की स्थापना की, जो आगे चलकर स्थानकवासी सम्प्रदाय के रूप में प्रचलित हुआ। स्थानकवासी साधु मुख-पट्टी का उपयोग करते हैं और मन्दिरों एवं मूर्तियों का विरोध करते हैं। आगे चलकर इन्हीं में से भिक्खुगणी ने तेरापंथ की स्थापना की। 20वीं शताब्दी में तेरापंथ के विशेष प्रभावक आचार्य तुलसी थे।

20वीं शती में ही दिगम्बर सम्प्रदाय में श्री कानजी स्वामी ने कानजी शुद्धपन्थ की स्थापना की। इसका विशेष आग्रह शुद्ध अध्यात्मवाद पर रहा।

19वीं-20वीं शती में ब्रिटिश शासन-काल में जैन समाज में भी जागृति की आवश्यकता अनुभूत हुई। जैनधर्म, साहित्य और कला के प्रति अभिरुचि जाग्रत करने के प्रयत्न किए गये और उसके लिए शोध-संस्थाओं और साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था की गयी। समाज में प्रचलित रूढ़ियों के परिमार्जन के लिए भी सुधारवादी प्रयत्न किए गये। सम्प्रदाय और पंथ-भेद को भुलाकर सभी जैन धर्मानुयायियों को एक मंच पर लाने के प्रयास भी किए गये। इस दृष्टि से (All India Jain Young Men's Association) (भारत जैन महामण्डल) का गठन भी 1912-13 में किया गया। ये प्रयत्न भी हुए कि जैन धर्मानुयायी विभिन्न क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति उल्लेखनीय रूप में प्रतिष्ठापित कर सकें।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राजनीतिक परिदृश्य के सापेक्ष जैन धर्मानुयायियों के लिए एक सर्वमान्य मंच का गठन किये जाने की आवश्यकता भी अनुभव की गयी। इस सम्बन्ध में कुछ प्रयत्न किये भी जाते रहे हैं, परन्तु व्यक्तिगत अहं के कारण इसका कोई सकारात्मक परिणाम सम्प्रति प्रकट नहीं हुआ है। वर्तमान परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि पंथवाद के मतभेदों से ऊपर उठकर संगठन का प्रयत्न किया जाये और तीर्थ आदि से सम्बन्धित विवादों को समझौते और समन्वय की भावना से निपटा लिया जाए। आचार आदि में भी वर्तमान परिस्थितियों के सापेक्ष आवश्यक परिमार्जन किया जाना अपेक्षित है। ताकि भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित जैनधर्म के प्रति जैनैतर समुदाय में आदर, विनय और श्रद्धा का भाव बना ही रहे, बल्कि निरन्तर समृद्ध होता चले।

ईश्वर सम्बन्धी जैन अवधारणा

डॉ. शीतलचन्द जैन

‘दर्शन’ शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ देखना, विचारना और श्रद्धा करना है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दर्शन का महत्त्व है। वस्तुतः जिन विचारों द्वारा धर्म का समर्थन एवं सम्पोषण किया जाता है, उन विचारों को दर्शन कहा जाता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने दुःख-निवृत्ति को मोक्ष कहा है। यही बन्धन एवं मोक्ष भारतीय दर्शनों का मुख्य प्रश्न रहा है। अतः उनके स्वरूप एवं दुःख-निवृत्ति के उपायों के विश्लेषण में मतभेद है। कोई ईश्वर की सेवा से मोक्ष मानता है, तो कोई ईश्वर के द्वारा और कोई आत्मा के साक्षात्कार से मोक्ष मानता है, कोई इस संसार का सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानता है, तो कोई सृष्टि को अनादि मानता है।

भारतीय दर्शन में ईश्वरवाद का बहुत विस्तृत व्याख्यान मिलता है, सम्भवतः ईश्वरवाद के बिना किसी भी भारतीय दर्शन की कल्पना मुश्किल है। जो दर्शन ईश्वर को जगत्सृष्टिकर्ता के रूप में मानते हैं, वे भी ईश्वर के अन्य गुणों को अपने-अपने पूज्य देवों में मानते हैं। इस प्रकार एक सार्वभौम गुणातिशयशाली दिव्यपुरुष की कल्पना प्रायः सभी दर्शनों में मिलती है।

भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक के भेद से दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त—इन छह दर्शनों की आस्तिक तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक—इन तीन दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है, परन्तु भारतीय दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक इन दो श्रेणियों में विभक्त करने वाला कोई सर्व-मान्य सिद्धान्त नहीं है। अतः भारतीय दर्शनों का विभाग वैदिक और अवैदिक दर्शनों के रूप में करना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। वेद को प्रमाण मानने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त— ये छह वैदिक-दर्शन हैं तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन— ये तीन अवैदिक-दर्शन हैं।

भारतीय संस्कृति में ईश्वर की अवधारणा इस प्रकार से घर कर गयी कि जनसाधारण सामान्यतया सब-कुछ कार्य ईश्वर की कृपा से मानने लगा, इतना तक कि स्वर्ग-नरक में भेजने वाला ईश्वर हो गया। उक्त प्रकार की अवधारणा कहाँ तक उचित है और जैनदर्शन ईश्वरवादी है या अनीश्वरवादी? यदि ईश्वरवादी है तो उसकी अवधारणा क्या है?

ईश्वर सम्बन्धी जैन अवधारणा :: 49

—यह इस आलेख का प्रमुख विचारणीय विषय है। ईश्वर के विषय में जैनेतर दार्शनिकों के विचार इस प्रकार प्राप्त हैं।—

मीमांसादर्शन—

मीमांसा शब्द का अर्थ किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ-विवेचन। मीमांसा के दो भेद हैं —कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। यज्ञों की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्म-मीमांसा का विषय है। जीव, जगत् और ईश्वर के स्वरूप तथा सम्बन्ध का निरूपण करना ज्ञान-मीमांसा का विषय है। कर्म-मीमांसा को पूर्व-मीमांसा तथा ज्ञान-मीमांसा को उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं, किन्तु वर्तमान में कर्म-मीमांसा के लिए केवल मीमांसा शब्द का प्रयोग किया जाता है और ज्ञान-मीमांसा का 'वेदान्त' शब्द से अभिप्राय से लिया जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसा-दर्शन के सूत्रकार है। मीमांसा-दर्शन में कुमारिलभट्ट का युग स्वर्ण युग के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार मीमांसा-दर्शन में भाट्ट और प्राभाकर— ये पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हुए हैं।

मीमांसादर्शन में ईश्वर और सर्वज्ञ दोनों को नहीं माना गया है, क्योंकि किसी भी पुरुष में ज्ञान और वीतरागता का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। मीमांसक वेद की अपौरुषेय मानते हैं। वेद मुख्य रूप से अतीन्द्रियपदार्थ धर्म का प्रतिपादक है तथा अतीन्द्रियदर्शी कोई पुरुष सम्भव नहीं होने के कारण धर्म में वेद ही प्रमाण है।

वेदान्तदर्शन—

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त प्रसिद्ध हुआ। उपनिषदों की रचना वेदों के बाद हुई, इसलिए उपनिषदों की वेदान्त भी कहते हैं। वेदान्तदर्शन के अनुसार इस संसार में एक-मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है तथा यहाँ जो नानात्मकता दृष्टिगोचर होती है, वह-सब मायिक है।

वेदान्तदर्शन के तीनों प्रस्थान— (1) उपनिषद्, (2) ब्रह्मसूत्र, (3) श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर एवं उसके सृष्टिकर्तृत्व आदि का समर्थन दृढ़ता से प्राप्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों की ब्रह्मैक्यवाद की धारणा ही ईश्वरवाद के रूप में विकसित हुई है। सरस्वती रहस्योपनिषद्² एवं श्वेताश्वतरोपनिषद्³ में स्पष्टरूप से सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। जो जगत् का कर्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोगि, स्वयम्भू, अद्वितीय, नित्य-परमात्मा आदि के रूप में स्वीकार्य है।

ब्रह्मसूत्र के प्रमुख भाष्यकार शंकराचार्य, भास्कराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि। इन्होंने अपने-अपने दृष्टि भेदों के अनुरूप ही सही ईश्वर की उपपत्ति जरूर की है। आचार्य शंकर ने कहा है कि सभी वेदान्तों में ईश्वर से ही सृष्टि की

उपपत्ति होती है।^१ वे सिद्धान्ततः केवलाद्वैतवादी हैं, तथापि ईश्वर को सृष्टि का कर्ता एवं कर्म-फल प्रदाता बताने में अपनी दृढ़ता व्यक्त करते हैं।^२

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन—

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन करना है। न्याय का अर्थ है— विभिन्न प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने के कारण इस दर्शन को न्यायदर्शन कहते हैं। न्यायदर्शन के मानने वाले नैयायिक कहलाते हैं। 'विशेष' नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिकदर्शन प्रसिद्ध हुआ। कुछ बातों की छोड़कर अन्य अनेक बातों में न्याय और वैशेषिक दर्शनों में समानता पायी जाती है। इन दोनों दर्शनों का सम्मिलित नाम यौग है।

न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में ईश्वर नित्य, भुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और इस जगत् का निमित्तकारण है। ईश्वर के अतिरिक्त इस दर्शन में अन्य योगियों की आत्माओं में भी सर्वज्ञत्व को स्वीकार किया गया है^३, पर वह ज्ञान अनित्य है। ईश्वर का ज्ञान नित्य और अपरोक्षात्मक है।^४ अपवर्ग की प्राप्ति ईश्वर के बिना सम्भव नहीं है और अपवर्ग में आत्मा के सभी आगन्तुक गुण हमेशा के लिए विनष्ट हो जाते हैं।^५ ईश्वर का अस्तित्व इस दर्शन में शब्द और अनुमान प्रमाण का आश्रय लेकर सिद्ध किया गया है।

सांख्य तथा योग दर्शन—

तत्त्वों की संख्या के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य-दर्शन हुआ, किन्तु संख्या शब्द का दूसरा अर्थ है— विवेकज्ञान। प्राचीन सांख्यों ने ईश्वर को नहीं माना है, परन्तु कालान्तर में ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार कर ली गई। सांख्य के निरीश्वरसांख्य और सेश्वरसांख्य — ऐसे दो भेद हो गये। सेश्वरसांख्य को ही योगदर्शन के नाम से कहा जाता है। सांख्यों का मत है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम — इन तीन गुणों का अन्वय पाया जाता है, इसलिए सब पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश को नहीं मानते हैं, परन्तु आविर्भाव और तिरोभाव को मानते हैं। सांख्यों के अनुसार प्रकृति केवल कर्त्री है और पुरुष केवल भोक्ता है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति में क्षोभ पैदा होता है और महदादि क्रम से प्रकृति से इस जगत् की सृष्टि होती है, इसमें ईश्वर (पुरुष विशेष) की कोई आवश्यकता नहीं है। सृष्टि स्वाभाविक प्रक्रिया से होती है, जैसे वत्सविवृद्धि के लिए दूध की प्रवृत्ति स्वतः होती है।^६ सांख्यदर्शन को ईश्वरवादी दर्शन के रूप में मानने की सर्वप्रमुख भूमिका आचार्य विज्ञानभिक्षु की है। इन्होंने सांख्यप्रवचनभाष्य में सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिलमुनि को ईश्वर का अवतार^{१०}

तथा ईश्वर को मोक्ष-प्रदाता बताया है।¹¹

योगदर्शन सांख्यदर्शन का अनुगामी-दर्शन माना जाता है। इस दर्शन ने क्लेशादि से अपरामृष्ट पुरुषविशेष को ईश्वर माना है। योगदर्शन का यह ईश्वर सब प्रकार के बन्धनों से सर्वथा अछूता है। इसको ऐश्वर्यसम्पन्न एवं नित्य माना है। सामान्य पुरुष अकर्ता है, परन्तु ईश्वर अकर्ता नहीं है। इस तरह योगदर्शन सांख्यानुगामी होकर भी पुरुषविशेष के रूप में ईश्वर को स्वीकार करता है।

चार्वाकदर्शन—

वैदिककाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपश्चरण पर विशेष बल दिया जाता था। मनुष्यों को ऐहिक बातों की अपेक्षा पारलौकिक बातों की चिन्ता विशेष रूप से रहती थी। इन बातों की प्रतिक्रिया स्वरूप चार्वाक दर्शन का उदय हुआ। इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम लौकायतिक है। साधारण लोगों की तरह आचरण करने के कारण चार्वाक दर्शन के अनुयायी का नाम लौकायतिक प्रचलित हुआ। चारु (सुन्दर) वाक् (बात) को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बात की कहने के कारण चार्वाक नाम पड़ा। चार्वाक दर्शन का कोई एक व्यवस्थित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर छिट-पुट-रूप में कुछ सूत्र कारिकाएँ उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि चातुर्भौतिक देह तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के समुदाय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियातीत आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं है। जब आत्मा का ही अस्तित्व नहीं हो, तो ईश्वर की कल्पना तो व्यर्थ ही है। वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में कहा गया है 'आत्मावान् राजा' अर्थात् लौकिक राजा के अतिरिक्त अन्य किसी भी इन्द्रियातीत ईश्वर या परमेश्वर का अस्तित्व नहीं है। षड्दर्शनसमुच्चय में कहा गया है लोकायत (चार्वाक) मत में न कोई देव है, न मोक्ष है, धर्म-अधर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है।

बौद्धदर्शन—

बौद्धधर्म दर्शन के संस्थापक तथागत बुद्ध थे। उन्होंने आत्मा को क्षणिक माना है, अतः ईश्वर की उपपत्ति नहीं होती है। स्पष्टतया बौद्ध अनीश्वरवादी ही है। बौद्धदर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं, जिनके अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त हैं। इनके नाम हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। बौद्धदर्शन में अनात्मवाद, क्षणभंगवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, अन्यापोहवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, आदि सिद्धान्त प्रमुख हैं।

जैनदर्शन—

जैनतर दार्शनिकों के ईश्वरविषयक मतों का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि वस्तुतः देखा जाय तो चार्वाक मत की छोड़कर शेष सभी दार्शनिक ऐश्वर्यवाचक 'ईश्वर' को

मानते हैं। कोई इस शब्द का प्रयोग करें या न करें पर प्रायः सभी ने अपने उपास्य के रूप में, अपनी सैद्धान्तिक मान्यता के रूप में इसे स्वीकार किया है।

जैन शब्द 'जिन' शब्द से बना है। जो व्यक्ति ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और राग-द्वेषादि भावकर्मों को जीत लेता है, वह 'जिन' कहलाता है। ऐसे 'जिन' के द्वारा उपदिष्ट धर्म तथा दर्शन को जैनधर्म और जैनदर्शन कहते हैं। जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा कर्मों का नाश करके परमात्मा अथवा ईश्वर बन सकता है, किन्तु जैनदर्शनाभिमत ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं होता और न तो कभी अवतार लेता है और न कभी संसार में मोक्ष से लौटकर आता है। जो चार घातिया कर्मों को नष्ट कर लेता है वह अर्हन्त कहलाता है और अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाला सिद्ध कहलाता है। इसी सिद्ध दशा को जैनों ने ईश्वर भी कहा है।

वस्तुतः जैनदर्शन में ईश्वर को स्वीकार तो किया है, परन्तु जगत् के कर्ता-धर्ता के रूप में नहीं, जैसा अन्य जैनेतर दार्शनिक स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन सृष्टि या जगत् को अनादि-निधन मानता है। कर्मों का फल देने के लिए भी उसे किसी माध्यम (ईश्वर आदि) की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर तो प्रत्येक आत्मा ईशत्व प्राप्त करने की शक्ति रखता है, और उसे प्राप्त कर मुक्त हो सकता है। यह मुक्ति ही जैनदर्शन में मोक्ष है। मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाला आप्त होता है और वह आप्त चार घातिया कर्मों को नष्ट करके ईश्वर कहलाता है। वह ईश्वर वीतरागी, पूर्णज्ञानी-सर्वज्ञ, राग-द्वेष तथा अज्ञान से रहित और आगम का उपदेष्टा होता है। जैन परम्परा में आप्तता के लिए सर्वज्ञ होना अनिवार्य माना गया है और धर्मज्ञता को सर्वज्ञता के ही अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में ईश्वर/भगवान् को अनादि नहीं माना अपितु सादि माना है। भगवान् जन्मते नहीं, बनते हैं। भगवान्/ईश्वर एक नहीं अपितु अनन्त हैं।

वर्तमान में भगवान् तीर्थंकर महावीर का शासन है। जो तीर्थंकर होते हैं, वे नियम से भगवान्/ईश्वर होते ही हैं, परन्तु जो भगवान्/ईश्वर हैं, वे तीर्थंकर नियम से बनते ही हों,— यह जरूरी नहीं है; क्योंकि तीर्थंकर अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रत्येक काल में 24-24 ही होते हैं, जबकि भगवान्/ईश्वर उस प्रत्येक काल में अनन्त हो जाते हैं, अर्थात् तीर्थंकर हुए बिना भी भगवान्/ईश्वर बना जा सकता है। जो भी आत्मा धर्म का आश्रय लेकर धर्मज्ञ है, वही सर्वज्ञ है, और जो सर्वज्ञ है वही भगवान्/ईश्वर/तीर्थंकर है। जैनदर्शन को सर्वज्ञता, आत्मज्ञता से फलित है अर्थात् आत्मज्ञ को ही सर्वज्ञ कहा है, जो सर्वज्ञ है, वही ईश्वर है।

जैन मनीषियों ने गुणों के आधार पर अपने उपास्य को स्वीकार करने को बात कही है। जैनों का ईश्वर मानवता का चरमोत्कर्ष है। मानव के ऊपर ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनदार्शनिक कहते हैं कि समीचीन पुरुषार्थ करने पर प्रत्येक आत्मा परमात्मा/ईश्वर/भगवान् बन सकती है। अब तक अनन्त आत्माएँ परमात्मा/भगवान्/ईश्वर बन चुकी हैं, बन भी रही हैं और बनती रहेंगी। इस प्रकार जैनदर्शन में किसी-एक ईश्वर की

कल्पना स्वीकार नहीं है और न ही यह स्वीकृत किया जा सकता है कि कोई भी ईश्वर किसी भी पदार्थ में अपनी इच्छा से कुछ भी करने के लिए समर्थ होता है। जैनदर्शन के अनुसार ईश्वर की इच्छा होना ही असम्भव है, क्योंकि ईश्वर तो वीतराग और सर्वज्ञ होता है, जो सारी वस्तुओं को जानकर भी उनके प्रति वीतराग भाव से निराकुल होकर अपने अनन्तगुण स्वरूप ऐश्वर्य में निमग्न रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदार्शनिकों के ईश्वर के विषय में जो अवधारणा है, वह अनादिकाल से आज तक एक-सी ही बनी हुई है। जो ईश्वर के विषय में कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा, वही बात बाद वाले आचार्यों ने भी कही है। परस्पर में किसी भी प्रकार विरोध नहीं है, परन्तु अन्य मतावलम्बियों के दार्शनिकों में पूर्वापर- विरोध देखने को प्राप्त होता है। अतः अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है और यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर नहीं मानता है, परन्तु ईश्वर अवश्य स्वीकार करता है।

सन्दर्भ—

1. न्यायकुमुदचन्द्र परिशीलन, प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर पृ. 8-13
2. सरस्वती रहस्योपनिषद् श्लो. 16-17
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 312-11, 4/12-15
4. शाङ्करभाष्य (ब्रह्मसूत्र) 3/2/41
5. तदेव 2/1/34; 2/3/41-42
6. न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य, सं. द्वारिकादास शास्त्री, चौ. सं. सी. 1770 4,1,20, 21
7. वैशेषिकसूत्र, 9,1,11-13
8. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, सं. रामेश्वर शास्त्री, चौ.सं.सी. वाराणसी 1925 4,1,21
9. सा. का. 57
10. सा. प्र. भा. मंगलाचरण 2
11. दीयतां मोक्षदो हरिः, 1 वही 61

तीर्थंकर परम्परा, जिनागम और अनुयोग

राकेश जैन शास्त्री

णमोकार महामन्त्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

अर्थ—लोक में सब अर्हन्तों को नमस्कार हो, सब सिद्धों को नमस्कार हो, सब आचार्यों को नमस्कार हो, सब उपाध्यायों को नमस्कार हो और सब साधुओं को नमस्कार हो।

यह नमस्कार मन्त्र पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने वाला महामन्त्र है। अर्हन्तादि पाँचों परम पद अनादि से पूज्यता लिए हुए हैं, इसलिए जैन परम्परा में यह अनादि महामन्त्र भी कहलाता है। यद्यपि णमोकार मन्त्र के ये जो पद हैं, वे 'षट्खण्डागम' नामक महान ग्रन्थ के मंगलाचरण के रूप में निबद्ध हैं, तथापि वर्तमान युग में प्रचलित मन्त्र आचार्य पुष्पदन्त पुनिराज द्वारा रचित होने से निबद्ध मंगल है। अनादि से पूज्य परमपद पाँच ही हैं और वे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ही हैं, अतः इन को नमस्कार करने वाला मन्त्र अनादि से ही प्रसिद्धि को प्राप्त है।

महापन्त्र की महानता यही है कि इसमें किसी प्रकार की कोई भी कामना नहीं रखी गयी है। किसी व्यक्ति-विशेष को भी नमस्कार नहीं किया गया है। वीतराग दशा को प्राप्त जो भी महापुरुष हैं, वे सभी इस मन्त्र में नमस्कृत हैं। किसी पन्थ-सम्प्रदाय, मत-मतान्तर के अनुयायियों से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, अतएव यह विश्वमन्त्र के रूप में भी प्रसिद्ध है।

इस णमोकार महामन्त्र की महिमा सूचक छन्द भी अति-प्रसिद्ध है

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होदि मंगलं।।

अर्थात् यह पंच नमस्कार मन्त्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में पहला मंगल है।

तीर्थंकर परम्परा, जिनागम और अनुयोग :: 55

अर्हन्तादि पंच परम पद हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है—

अर्हन्त—जिन्होंने गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निज स्वभाव साधन द्वारा, चार घाति कर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टय (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य) रूप अवस्था पायी है, वे अर्हन्त हैं।

जिनांगम में अर्हन्त के 46 गुणों (विशेषताओं) का वर्णन है, उनमें से कुछ विशेषण तो शरीरादि से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ आत्मा से। 46 गुणों में से 10 तो जन्म के अतिशय हैं, जो शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। 10 केवलज्ञान के अतिशय हैं, वे बाह्य पुण्य-सामग्री से सम्बन्धित हैं तथा 14 देवकृत अतिशय हैं जो स्पष्ट ही देवों के द्वारा किए हुए हैं। ये सब गुण तीर्थंकर अर्हन्तों के ही होते हैं, सब अर्हन्तों के नहीं। आठ प्रतिहार्य भी बाह्य-विभूति हैं; किन्तु अनन्त-चतुष्टय आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं, अतः वे प्रत्येक अर्हन्त के होते हैं। अतः निश्चय से वे ही अर्हन्त के गुण हैं।

सिद्ध—जो गृहस्थ अवस्था का त्यागकर, मुनिधर्म की साधना द्वारा चार घाति कर्मों का नाश होने पर अनन्त चतुष्टय प्रकट करके, कुछ समय बाद अघाति कर्मों के नाश होने पर, समस्त अन्य द्रव्यों का सम्बन्ध छूट जाने पर, पूर्ण मुक्त हो गये हैं। लोक के अग्रभाग में किञ्चित् न्यून पुरुषाकार में विराजमान हो गये हैं। जिनके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से समस्त आत्मिक गुण प्रकट हो गये हैं, वे सिद्ध हैं। उनके 8 गुण कहे गये हैं—

समकित दर्शन ज्ञान अगुरुलघु अवगाहना।

सूक्ष्म वीरजवान निराबाध गुण सिद्ध के॥

(1) क्षायिक सम्यक्त्व, (2) अनन्त दर्शन, (3) अनन्तज्ञान, (4) अगुरुलघुत्व, (5) अवगाहनत्व, (6) सूक्ष्मत्व, (7) अनन्तवीर्य और (8) अव्याबाध।

आचार्य, उपाध्याय और साधु का सामान्य स्वरूप

आचार्य, उपाध्याय और साधु सामान्यतः साधु रूप में ही पूज्य हैं। जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अंतरंग में शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आप रूप अनुभव करते हैं, अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं, जिनके कदाचित् मन्दराग के उदय में शुभ-उपयोग भी होता है, परन्तु उसे भी हेय मानते हैं, तीव्र कषाय का अभाव होने से अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही नहीं रहता है—ऐसे मुनिराज ही सच्चे साधु हैं।

आचार्य—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके मुनिसंघ के नायक हुए हैं, तथा जो मुख्य रूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न रहते हैं, पर कभी-कभी रागांश के उदय से करुणा बुद्धि हो,

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सब्बसाहूणं

तो धर्म के लोभी अन्य जीवों को धर्मोपदेश देते हैं, दीक्षा लेने वाले को योग्य जान दीक्षा देते हैं, अपने दोष प्रकट करने वाले को प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करते हैं— ऐसा आचरण करने और कराने वाले आचार्य कहलाते हैं।

आचार्य के 36 गुण विशेष हैं—

12 तप — अनशन, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशैयासन, काय क्लेश रूप 6 बहिरंग तप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान रूप 6 अंतरंग तप।

6 आवश्यक — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, और कायोत्सर्ग।

5 आचार — दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य।

10 धर्म — उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

3 गुप्ति — मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

उपाध्याय — जो बहुत जैन शास्त्रों के ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं तथा जिनकी समस्त शास्त्रों के सार आत्मस्वरूप में एकाग्रता है, अधिकतर तो उसमें लीन रहते हैं, कभी-कभी रागांश-कषयांश के उदय से यदि उपयोग वहाँ स्थिर न रहे, तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं—वे उपाध्याय हैं। ये मुख्यतः द्वादशांग के पाठी होते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी के 25 गुण विशेष कहे जाते हैं—

11 अंग — आचारांगज्ञान, सूत्रकृतांगज्ञान, स्थानांगज्ञान, समवायांगज्ञान, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगज्ञान, ज्ञातृ धर्मकथांगज्ञान, उपासकाध्ययनांगज्ञान, अन्तःकृद्दशांगज्ञान, अनुत्तरोपपादिकदशांगज्ञान, प्रश्नव्याकरणांगज्ञान, विपाकसूत्रांगज्ञान।

14 पूर्व ज्ञान — उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणनामधेयपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व, लोकबिन्दुसारपूर्व।

साधु—आचार्य, उपाध्याय को छोड़कर अन्य समस्त जो भुनिधर्म के धारक हैं और आत्मस्वभाव को साधते हैं, बाह्य 28 मूलगुणों को अखण्डित पालते हैं, समस्त आरम्भ और अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं। सदा ज्ञान-ध्यान में लवलीन रहते हैं, सांसारिक प्रपंचों से सदा दूर रहते हैं, उन्हें साधु परमेष्ठी कहते हैं।

साधु परमेष्ठी के ये 28 मूलगुण प्रसिद्ध हैं—

5 महाव्रत — अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत।

5 समिति — ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति।

5 इन्द्रियविजय — स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और कर्णेन्द्रियविजय।

तीर्थंकर परम्परा, जिनागम और अनुयोग :: 57

6 आवश्यक समता, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग।

7 शेषगुण — अस्नान, भूमिशयन, वस्त्रत्याग, केशलुंचन, दिन में एक बार अल्प भोजन ग्रहण, अदन्त धोवन और खड़े-खड़े आहार लेना।

अर्हन्तादि उक्त पाँचों परमेष्ठियों का यही स्वरूप सर्वदा, सर्वत्र के लिए है। लक्षण तो स्थायी होते हैं, चाहे काल परिवर्तित हो या क्षेत्र की भिन्नता हो। विश्व में आत्मारामना से उत्पन्न सुख प्राप्त करने वाले जीव सदैव इन्हीं लक्षणों सहित होते हैं।

उक्त परमेष्ठी ही मंगल, उत्तम एवं शरणभूत हैं।

मंगल अर्थात् जो मोह-राग-द्वेष रूपी पापों को गलावे और सच्चा सुख उत्पन्न करे, वह ही मंगल है।

उत्तम अर्थात् जो लोक में सबसे महान हों, वे ही उत्तम हैं।

और शरण अर्थात् सहारा। तात्पर्य यह है कि हमें इन्हीं की शरण में जाना चाहिए।

इन मंगल, उत्तम, शरण का प्रसिद्ध पाठ निम्न है—

चत्तारि मंगलं, अरहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहन्ते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अर्थात् लोक में चार मंगल हैं—अर्हन्त भगवान मंगल हैं, सिद्धभगवान मंगल हैं, साधु महाराज मंगल हैं और केवली भगवान द्वारा बताया गया वीतराग धर्म मंगल है।

लोक में चार उत्तम हैं। अर्हन्त भगवान उत्तम हैं, सिद्ध भगवान उत्तम हैं, साधु महाराज उत्तम हैं और केवली भगवान द्वारा बताया गया वीतराग धर्म उत्तम है।

मैं चारों की शरण में जाता हूँ। अर्हन्त भगवान की शरण में जाता हूँ, सिद्ध भगवान की शरण में जाता हूँ, साधु महाराज की शरण में जाता हूँ और केवली भगवान द्वारा बताए गये वीतरागी धर्म की शरण में जाता हूँ।

उक्त पंचपरमेष्ठी की पूज्यता और अर्हन्त, सिद्ध, साधु व धर्म की मंगलमयता, उत्तमता और शरणभूतपना एक ही बात है।

यद्यपि मंगल, उत्तम व शरण में आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी का नाम नहीं है मात्र साधु महाराज का उल्लेख है तथा इन के अतिरिक्त केवली प्रणीत धर्म का नाम विशेष रूप से समाहित किया गया है, तथापि आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी भी मुनिराज (साधु) ही हैं, अतएव वे तो पूज्यता में सम्मिलित हैं ही।

निर्विकल्प दशा में सभी मंगलोत्तमशरण रूप हैं। समाधि अंगीकार करने के लिए आचार्य, उपाध्याय पद से मुक्त होकर सामान्य साधुपने मात्र से ही सफलता होती है।

कैवल्यप्राप्ति के लिए तो अत्यन्त निर्विकल्प, निर्भार होकर आत्म-तन्मयता ही आवश्यक होती है। अतएव आचार्य व उपाध्याय का उल्लेख मंगल, उत्तम, शरण में पृथक् रूप से नहीं किया गया है।

पंचपरमेष्ठियों में सर्वप्रथम अर्हन्त पद के माध्यम से दो प्रकार के केवलियों का उल्लेख है, जिसे 'सामान्य केवली' और 'तीर्थंकर केवली' रूप में जाना जाता है। दोनों में कुछ अन्तर है। सामान्य केवली मात्र भगवान रूप में तथा तीर्थंकर केवली तीर्थंकर भगवान के रूप में पूजित होते हैं।

सामान्य केवलीपना किन्हीं भी आत्माश्रित निर्विकल्प मुनिराज को प्रकट हो जाता है, किन्तु तीर्थंकर केवलीपना तो विशेष पुण्योदय के साथ रहते हुए आत्माश्रित निर्विकल्पता में ही होता है।

तीर्थंकर का स्वरूप कुछ विशेषताओं से सम्पन्न होता है।

जो धर्म-तीर्थ (मुक्ति का मार्ग) का उपदेश देते हैं, समवसरण आदि विभूति से युक्त होते हैं और जिनको तीर्थंकर नामकर्म नाम का महापुण्य का उदय होता है, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। ये चौबीस होते हैं।

प्रत्येक अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल में चौबीस चौबीस की संख्या में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में अलग-अलग तीर्थंकर होते हैं। अनादि से अबतक ऐसी अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी हैं। इस प्रकार अनादि परम्परा में अनन्त तीर्थंकर भगवान हुए हैं और अनन्त ही तीर्थंकर हो चुके हैं। भगवान होने पर पुनर्जन्म का नाश हो जाता है। सर्व कर्म-कलंकों से छूटने पर पुनः इस कलंकमयी संसार अवस्था में कोई वापस नहीं आता है।

वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थकाल में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, जिनके नाम ये हैं—

1. ऋषभदेव (आदिनाथ)	2. अजितनाथ	3. सम्भवनाथ
4. अभिनन्दन नाथ	5. सुमतिनाथ	6. पद्मप्रभ
7. सुपार्श्वनाथ	8. चन्द्रपभ	9. पुष्पदन्त (सुविधिनाथ)
10. शीतलनाथ	11. श्रेयांसनाथ	12. वासुपूज्य
13. विमलनाथ	14. अनन्तनाथ	15. धर्मनाथ
16. शान्तिनाथ	17. कुशुनाथ	18. अरनाथ
19. मल्लिनाथ	20. मुनिसुब्रतनाथ	21. नमिनाथ
22. नेमिनाथ	23. पार्श्वनाथ	24. महावीर

(वीर, अतिवीर, सन्मति एवं वर्द्धमान)।

उक्त सभी तीर्थंकर महापुरुष पंच कल्याणक पूजित होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन पुराणग्रन्थों में मिलता है, वहाँ से दृष्टव्य है। संक्षेप में प्रमुख-प्रमुख परिचय इस प्रकार है—

जैनागम में प्रत्येक तीर्थंकर के जीवनकाल में पाँच प्रसिद्ध घटनाओं व घटनास्थलों

तीर्थंकर परम्परा, जिनागम और अनुयोग :: 59

का उल्लेख मिलता है। उन्हें पंचकल्याणक के नाम से कहा जाता है, क्योंकि ये अवसर जगत के लिए अत्यन्त कल्याणमयी व मंगलकारी होते हैं। जो जीवों के कल्याण में निमित्त होते हैं वे ही कल्याणक कहे जाते हैं।

वे पाँच अवसर हैं—गर्भावतरण, जन्म-धारण, दीक्षा, केवलज्ञान-प्राप्ति एवं मोक्ष-सम्प्राप्ति।

1. गर्भ कल्याणक—तीर्थंकर प्रभु के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से लेकर जन्म समय पर्यन्त 15 माह तक उनके जन्म स्थान में कुबेर द्वारा इन्द्र आज्ञा से प्रतिदिन तीन बार 3.5 करोड़ दिव्य रत्नों की वर्षा होती रहती है। दिक्कुमारी देवियाँ माता की परिचर्या व गर्भशोधन करती हैं। गर्भ वाले दिन से पूर्व रात्रि में माता को 16 उत्तम स्वप्न दिखायी देते हैं, जिन पर तीर्थंकर प्रभु के अवतरण का निश्चय कर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। यद्यपि गर्भ में आना जीव के लिए कलंक स्वरूप गिना जाता है, फिर भी अन्तिम गर्भ होने से कल्याणकों में गिना जाता है। उन सोलह स्वप्नों के नाम व फल इस प्रकार हैं—1. हाथी के देखने से उत्तम पुत्र होगा, 2. उत्तम बैल के देखने से संपन्न लोक में ज्येष्ठ, 3. सिंह के देखने से अनन्त बल से युक्त, 4. मालाओं के देखने से समीचीन धर्म का प्रवर्तक, 5. लक्ष्मी के देखने से सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों द्वारा अभिषेक को प्राप्त, 6. पूर्ण चन्द्रमा को देखने से लोगों को आनन्द देने वाला, 7. सूर्य को देखने से दैदीप्यमान प्रभा का धारक, 8. दो कलश (युगल) देखने से अनेक निधि को प्राप्त, 9. मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा, 10. सरोवर को देखने से अनेक लक्ष्णों से शोभित, 11. समुद्र के देखने से केवली, 12. सिंहासन देखने से जगद्गुरु होकर साम्राज्य प्राप्त करेगा, 13. देवों का विमान देखने से स्वर्ग से अवतीर्ण, 14. नागेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञान से युक्त, 15. चमकते रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान और 16. निर्धूम अग्नि देखने से कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाला तीर्थंकर अवतरित होने वाले हैं। यह निर्णय होता है। श्वेताम्बर परम्परा में 16 स्वप्नों के स्थान पर 14 स्वप्नों का उल्लेख है।

2. जन्मकल्याणक—गर्भावतरण का 9 माह का काल पूरा होने पर सर्वोत्तम मुहूर्त में बाल तीर्थंकर का जन्म होने पर देवभवनों व स्वर्गों आदि में स्वयं घण्टे (अनहद नाद) बजने लगते हैं और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं, जिससे उन्हें तीर्थंकर के जन्म का निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव जन्मोत्सव मनाने को बड़ी धूमधाम से पृथ्वी पर आते हैं। अहमिन्द्र जन अपने-अपने स्थान पर ही सात पग आगे जाकर बाल-तीर्थंकर को परोक्ष रूप से नमस्कार करते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ तीर्थंकर प्रभु का जातकर्म करती हैं। कुबेर नगर की अद्भुत शोभा करता है। इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी (शचि) प्रसूतिगृह में जाती है। माता को माया-निद्रा से सुलाकर उनके पास एक मायामयी तीर्थंकर-बालवत् पुतला लिटा देती है और बालक तीर्थंकर को लाकर अपलक

अतृप्त नयनों से देखते हुए इन्द्र की गोद में दे देती है, जो उनका सौन्दर्य देखते हुए 1000 नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। ऐरावत हाथी पर बालप्रभु को लेकर इन्द्र सुमेरुपर्वत की ओर चलता है। वहाँ पहुँचकर पाण्डुकशिला पर बाल-प्रभु का क्षीरसागर से देवों द्वारा लाए गये जल के 1008 कलशों द्वारा जन्माभिषेक करता है। तदनन्तर बालक को वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर नगर में देवों सहित महान उत्सव के साथ प्रवेश करता है। बालक के अँगूठे में अमृत क्षेपण करके ताण्डव नृत्य आदि अनेक मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रकट कर अपनी भक्ति समर्पित करते हुए देवलोक को लौट जाता है। दिक्कुमारी देवियाँ भी अपने-अपने स्थान को चली जाती हैं।

3. तपकल्याणक—कुछ काल तक राज्य विभूति का भोग कर लेने के पश्चात् किसी एक दिन कोई वैराग्यजनक कारण पाकर कुमार या राजा तीर्थंकर को वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय ब्रह्म स्वर्ग से बाल ब्रह्मचारी एक भवावतारी लौकान्तिक देव भी आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना करते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकी में प्रभु विराजमान होते हैं। इस पालकी को पहले तो विद्याधर व भूमि-गोचरी मनुष्य कन्धों पर लेकर कुछ दूर पृथ्वी पर चलते हैं, फिर देव लोग लेकर आकाश मार्ग से वन-जंगल में पहुँचते हैं। तपोवन में पहुँचकर प्रभु समस्त वस्त्रालंकार त्यागकर राग-द्वेष से मुक्त होते हुए केशों का पंचमुष्टि से लुंचन कर देते हैं और 'नमः सिद्धेभ्यः' उच्चारण करते हुए नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण कर स्वयं दीक्षित होते हैं, अन्य भी अनेक राजा उनके साथ स्वयं दीक्षित हो जाते हैं। इन्द्र उन लुंचित केशों को एक मणिमय पिटारे में रख कर क्षीरसागर में क्षेपण करता है। दीक्षास्थान तीर्थस्थान बन जाता है। तीर्थंकर मुनिराज बेला, तेला आदि उपवास-नियम-पूर्वक आहारचर्या के लिए नगर में जाते हैं और यथाविधि, एकवार, खड़े-खड़े, अल्पमात्रा में, प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं। दातार के घर पंचाशचर्य प्रकट होते हैं। यह तो बहिरंग सबको दिखाई देने वाला दृश्य है। वे तो स्वयं निरन्तर आत्मोन्मुखता रूप पुरुषार्थ द्वारा आत्मोत्थ, स्थायी, अतीन्द्रियसुख का रस-पान करते रहते हैं।

4. ज्ञानकल्याणक—यथाक्रम आत्मध्यान की निरन्तरता रूप महापुरुषार्थ द्वारा मोक्ष की श्रेणियाँ चढ़ते हुए क्षपक श्रेणी आरूढ़ हो प्रचुर स्वसंवेदन के बल से मोह का नाश करते हुए चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर प्रभु केवलज्ञानी भगवान बन जाते हैं। अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्तचतुष्टय की स्वाधीन, स्थायी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं, तब पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि शब्द, अशोकवृक्ष, चँवर, भामण्डल, छत्रत्रय, स्वर्णसिंहासन, और दिव्य-ध्वनि रूप आठ प्रातिहार्य सुसज्जित होते हैं। वर्तमान शरीर परिवर्तित होकर परमौदारिक हो जाता है। अब प्रभु अर्हन्त अवस्था में 46 गुणों सहित विराजते हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर दिव्य समवसरण रचता है, जिसकी विचित्र रचना से जगत चकित होता है। 12 सभाओं में यथास्थान मुनिराज,

आर्यिका, श्रावक-श्राविका, देव-देवियाँ, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि सभी बैठकर परस्पर के विरुद्ध भाव से रहित होकर भगवान के दिव्य उपदेशामृत का पान कर सम्यक्त्व से जीवन सफल करते हैं।

भगवान का विहार बहुत ही धूमधाम से होता है। याचकों को किमिच्छिक दान पुण्यशालियों द्वारा दिया जाता है। भगवान के श्रीचरणों के नीचे देवलोग सहस्र दल स्वर्ण कमलों की रचना करते हैं। भगवान इनको भी स्पर्श न करके ऊपर आकाश में ही चलते हैं। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। बाजे-नगाड़े बजते हैं। समस्त पृथ्वी ईति-भीति रहित ही जाती है। इन्द्र राजाओं के साथ आगे-आगे जय-जयकार करते चलते हैं। मार्ग में सुन्दरक्रीडा स्थान बनाए जाते हैं। मार्ग शृंगार, कलश, दर्पण, चँवर, ध्वजा, वीजना, छत्र और सुप्रतिष्ठ — अष्ट भंगल द्रव्यों से शोभित रहता है। भामण्डल, छत्र, चँवर स्वतः साथ-साथ चलते हैं। ऋषिगण पीछे-पीछे चलते हैं। इन्द्र प्रतिहार बनता है। अनेक निधियाँ साथ-साथ चलती हैं। विरोधी जीव भी परस्पर का वैर-विरोध भूल जाते हैं, अन्धे-बहरों को भी दिखने-सुनने लग जाता है। समवसरण में मुख्यतः गणधर मुनिराज की उपस्थिति में भव्य जीवों के महाभाग्य से प्रभु की भव-ताप हारी ॐकारमयी दिव्य-ध्वनि सर्वांग से खिरती है, जिसमें वस्तु तत्त्व का समग्र गुण-पर्यायमयी उत्पाद-व्यय-श्रौव्य युक्त परिचय कराया जाता है।

5. निर्वाणकल्याणक—देह वियोग का अन्तिम समय आने पर भगवान योग-निरोध द्वारा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक परम शुक्ल ध्यान में निश्चलता कर शेष चार अघातिया कर्मों का भी क्षय कर देते हैं और निर्वाण धाम को प्राप्त होते हैं। देवगण निर्वाण कल्याणक की पूजा करते हैं और देह कपूर की भाँति उड़ जाता है, इन्द्र उस स्थान पर भगवान के लक्षणों से युक्त सिद्ध क्षेत्र का निर्माण करता है। प्रभु शाश्वत रूप से सिद्धधाम के वासी होकर निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाते हैं।

जिनागम और अनुयोग

वीतरागी सर्वज्ञता को प्राप्त जिनेन्द्र भगवान ही जिन हैं, और उन जिनेन्द्र भगवान के निर्मल ज्ञान में जैसा वस्तु का स्वरूप जानने में आया, वैसा ही उन्होंने इन्द्रों व गणधर मुनिराजों की उपस्थिति में जगत् के समक्ष दिव्यध्वनि द्वारा बताया, वही जिनवाणी है। गणधर देव ने उसे अपने महान ज्ञान से द्वादशांग जिनागम के रूप में गूँथा। अनन्तर, श्रुत केवली मुनिराजों की परम्परा के भी अभाव होने पर श्रुतज्ञान की अल्पता में द्वादशांग जिनागम को आचार्यों ने सरल-सरस पद्धति में बाँटा, जिसे अनुयोग कहा गया। उसमें कहा गया है—

इस भव तरु का मूल इक जानहु मिथ्याभाव।

ताकौ करि निर्मूल अब करिये मोक्ष उपाव॥

इस संसार रूपी वृक्ष की जड़ एक मिथ्यात्व ही है, उसको जड़ मूल से नष्ट करके ही मोक्ष का उपाय किया जा सकता है। मिथ्यात्व बैरी का तो अंश भी बुरा है। इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य ही है।

यद्यपि जिनवाणी में तो मिथ्यात्व के अभाव का ही उपदेश है, तो भी जब तक जीव जिनवाणी के अभ्यास की या उसके अर्थ को समझने की पद्धति यथार्थ नहीं जानता, वह इसके मर्म को तो समझ नहीं पाता, उल्टा अपनी ही कल्पना से अन्यथा समझता रहता है, अतः मिथ्यात्व पुष्ट होता रहता है, छूट नहीं पाता है।

प्रत्येक काम करने का और प्रत्येक बात समझने का अपना एक तरीका होता है। जब तक हम उस तरीके को न समझ लें, तब तक कोई भी काम अच्छी तरह से न तो कर ही सकते हैं और न कोई बात सही रूप में समझ ही सकते हैं।

जिनवाणी में निश्चय-व्यवहार रूप वर्णन है। निश्चय-व्यवहार का सही स्वरूप न समझ पाने के कारण सामान्यजन उसके मर्म को नहीं समझ पाते हैं। इसी समस्या का समाधान निकालने के लिए जिनवाणी को चार अनुयोगों की पद्धति में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पद्धति अलग-अलग है। जब तक हम उस पद्धति को समझेंगे नहीं, तब तक जिनवाणी को पढ़ने पर भी उसके मर्म को नहीं जान पायेंगे।

संक्षेप में, निश्चय, व्यवहार नयों का स्वरूप इस प्रकार है—

यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि “एक द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना निश्चय नय है और उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप वर्णन करना व्यवहार नय है।”

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिला कर निरूपण करता है। निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।

जैसे—जिनवाणी में व्यवहार से नर-नारक आदि पर्याय को जीव कहा सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। नर-नारकादि पर्याय तो जीव पुद्गल के संयोग रूप है, वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसको ही जीव मानना चाहिए। जीव के संयोग से शरीरादि को भी उपचार से जीव कहा, सो कथन मात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव नहीं होते।

ऐसे ही अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किए, सो आत्मा को भेद रूप ही नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि भेद तो समझाने के लिए किए हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है, उसी को जीव-वस्तु मानना चाहिए। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे, सो कथन मात्र ही है, परमार्थ से भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं।

तीर्थंकर परम्परा, जिनागम और अनुयोग :: 63

इसी प्रकार परद्रव्य का निमित्त अर्थात् पर की ओर का लक्ष्य छुड़ाने के लिए व्रत, शील, संयमादि रूप व्यवहार को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मानना चाहिए; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो, तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाए; परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के अधीन तो है नहीं, जो आत्मा उन परद्रव्यों का ग्रहण-त्याग कर सके।

आत्मा वास्तव में परद्रव्यों के ग्रहण त्याग की कल्पना ही करता है। यदि इन कल्पनाओं को छोड़े अर्थात् अपनी ज्ञानादि गुण युक्त सत्ता को अपनी समझे, तो इन कल्पनाओं का उद्भव ही न हो। इस प्रकार आत्मा अपने स्वभाव भाव के आश्रय से इन रागादि विभावों का त्यागकर वीतरागी होता है। निश्चय से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। इसीलिए कहा जाता है कि जब तक हम यह न पहचान पाएँ कि जिनवाणी में जो कथन है, उसमें कौन तो सत्यार्थ है और कौन समझाने के लिए व्यवहार से कहा गया है?... तब तक हम सबको एक-सा सत्यार्थ मानकर भ्रम रूप रहते हैं।

उक्त कथन पर सीधे ही प्रश्न उपस्थित होता है कि तो फिर जिनवाणी में व्यवहार का कथन किया ही क्यों गया है?

समाधान इस प्रकार है कि व्यवहार के बिना परमार्थ को समझाया ही नहीं जा सकता, अतः असत्यार्थ होने पर भी जिनवाणी में व्यवहार का कथन आता है।

निश्चयनय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभाव से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है। इसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें तो वे समझ नहीं पायेंगे। अतः उन्हें समझाने के लिए व्यवहार से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारकादि रूप जीव के विशेष किए तथा मनुष्यजीव, नारकीजीव आदि रूप से जीव की पहिचान कराई। इसी प्रकार अभेदवस्तु में भेद उत्पन्न करके समझाया। जैसे—जीव के ज्ञानादि गुण-पर्याय रूप भेद करके स्पष्ट किया; जाने सो जीव, देखे सो जीव। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणादु गाहेऊं।

तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ४ ॥

समयसार

अर्थात् जिस प्रकार म्लेच्छ भाषा के बिना म्लेच्छों को समझाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार व्यवहार के बिना व्यवहारी जनों को निश्चय का ज्ञान नहीं कराया जा सकता है।

इसलिए हमारा कर्तव्य है जहाँ निश्चय नय की मुख्यता से कथन हो उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना और जहाँ व्यवहारनय की मुख्यता से कथन हो उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्त आदि की अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना।

व्यवहार नय मात्र पर को उपदेश देने में हो कार्यकारी नहीं है। जब तक निश्चयनय

से प्ररूपित वस्तु को स्वयं न पहिचाने, तब तक व्यवहार मार्ग से वस्तु का निश्चय करना चाहिए। अतः निचली दशा में अपने को व्यवहारनय कार्यकारी है, परन्तु व्यवहार को उपचार मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे, तब तो कार्यकारी है, किन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'इस प्रकार ही है' ऐसा श्रद्धान करे, तो उल्टा अकार्यकारी हो जाए।

समयसार ग्रन्थ को आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र देव लिखते हैं—“एवं म्लेच्छस्थानीयत्वात् जगतः व्यवहार नयः अपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थ प्रतिपादकत्वात् उपन्यसनीयः। अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्यः इति वचनात् व्यवहारनयः न अनुसर्तव्यः।।” गाथा 8 टीका।।

अर्थात् इस प्रकार म्लेच्छ के स्थानीय जगत को व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषा स्थानीय होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक होने से कथन करने योग्य है। अतः ब्राह्मणों को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए, इस वचन से व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

निष्कर्ष के रूप में कहें तो व्यवहार द्वारा प्रतिपादित निश्चय स्वरूप अनुसरण करने योग्य हैं, व्यवहार नहीं।

इसी प्रकार चारों अनुयोगों के कथन को ठीक प्रकार से न समझने के कारण वस्तु के सत्यस्वरूप को नहीं समझ पाते हैं। अतः चारों अनुयोगों के व्याख्यान का विधान अच्छी तरह समझना चाहिए।

चार अनुयोग

जिनधर्म का उपदेश वर्तमान में मुख्य रूप से चार अनुयोगों के द्वारा किया गया है। वीतरागता के पोषण के लिए कथन करने की विधि को अनुयोग कहते हैं। वे अनुयोग चार हैं—1. प्रथमानुयोग, 2. करणानुयोग, 3. चरणानुयोग, 4. द्वयानुयोग।

1. प्रथमानुयोग—जिनशास्त्रों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुषों के चरित्र द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन किया जाता है और अन्ततः वीतरागता को हितकर बताया जाता है, उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते हैं। जैसे आदि पुराण, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि।

2. करणानुयोग—जिन शास्त्रों में अत्यन्त सूक्ष्म, केवलज्ञानगम्य गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप जीव के भावों का तथा कर्मों और तीन लोकों का भूगोल सम्बन्धी वर्णन होता है, वे करणानुयोग के ग्रन्थ कहलाते हैं। इसमें गणित की मुख्यता रहती है; क्योंकि गणना और नाप का वर्णन होता है। जैसे— गोम्मतसार जीवकाण्ड, गोम्मतसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, त्रिलोकसार ग्रन्थ आदि।

3. चरणानुयोग—जिन शास्त्रों में गृहस्थ और मुनिराजों के आचरण सम्बन्धी नियमों का वर्णन होता है। इस अनुयोग में जैसे भी यह जीव पाप छोड़कर धर्म में लगे रागादि

से बचे और वीतरागता में वृद्धि करे, वैसे ही अनेक युक्तियों से कथन किया जाता है। इसमें सुभाषित, नीति शास्त्रों की पद्धति मुख्य है। इन ग्रन्थों में स्थूल बुद्धिगोचर कथन पाया जाता है। जैसे— मूलाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि।

4. द्रव्यानुयोग—जिनशास्त्रों में षड् द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ आदि का तथा स्व-पर भेदविज्ञान आदि का वर्णन पाया जाता है, वे द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं। इनमें चरणानुयोग के समान बुद्धिगोचर कथन होता है; पर चरणानुयोग में बाह्यक्रिया की मुख्यता रहती है और द्रव्यानुयोग में आत्मस्वभाव व परिणामों की मुख्यता रहती है। द्रव्यानुयोग में न्याय शास्त्र की पद्धति मुख्य है, क्योंकि इसमें तत्त्वनिर्णय करने की मुख्यता है और निर्णय युक्ति व न्याय के बिना सम्भव नहीं होता। जैसे—पंचास्तिकाय संग्रह, समयसार, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, न्याय दीपिका, परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, परमात्मप्रकाश इत्यादि।

1. प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान—प्रथमानुयोग में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महापुरुषों की प्रवृत्ति आदि बताकर जीवों को धर्म में लगाया जाता है। प्रथमानुयोग में मूल कथाएँ तो जैसी की तैसी ही होती हैं, पर उनमें प्रसंग प्राप्त व्याख्यान कुछ ज्यों-का-त्यों और कुछ ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। जैसे तीर्थकरों के कल्याणकों में इन्द्र आए, यह तो सत्य है, पर इन्द्र ने जैसी स्तुति की थी, वे शब्द हूबहू वैसे ही नहीं थे, अन्य थे। इसी प्रकार परस्पर किन्हीं के वार्तालाप हुआ था, सो उनके अक्षर तो अन्य निकले थे, ग्रन्थकर्ता ने अन्य कहे, पर प्रयोजन एक ही पोषते हैं।

तथा कहीं-कहीं प्रसंगरूप कथाएँ भी ग्रन्थकर्ता अपने विचारानुसार लिखते हैं। जैसे—धर्मपरीक्षा में मूर्खों की कथाएँ लिखीं, सो वही कथा मनोवेग ने कहीं थी, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु मूर्खपने को पोषण करने वाली कही थीं।

तथा प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे—विष्णुकुमार जी ने धर्मानुराग से मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया। मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था, परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमार जी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़ कर नीची प्रवृत्ति अंगीकार करना योग्य नहीं है।

पुत्रादिक की प्राप्ति के लिए अथवा रोग, कष्टादिक को दूर करने के लिए स्तुति, पूजादि कार्य करना निकांक्षित अंग का अभाव होने से एवं निदान नामक आर्तध्यान होने से पापबन्ध का कारण है, किन्तु मोहित होकर बहुत पापबन्ध का कारण कुदेवादिक का सेवन तो नहीं किया, अतः उसकी प्रशंसा कर दी है। ऐसा छल कर औरों को लौकिक कार्यों के लिए धर्मसाधन करना युक्त नहीं है।

2. करणानुयोग के व्याख्यान का विधान—करणानुयोग में केवलज्ञानगम्य वस्तु का

व्याख्यान है, केवलज्ञान में तो सर्व लोकालोक ज्ञात हुआ है, परन्तु इसमें जीव को कार्यकारी, छद्मस्थ के ज्ञान में आ सके ऐसा निरूपण होता है। जैसे जीव के भावों की अपेक्षा गुणस्थान कहे हैं, सो भाव तो अनन्त हैं, उन्हें तो वाणी से कहा नहीं जा सकता। अतः बहुत भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं।

चरणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना। जैसे छुड़ाने के अभिप्राय से हिंसादिक के उपाय को कुपतिज्ञान कहा। वास्तव में तो मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान कुज्ञान हैं और सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सुज्ञान हैं।

3. चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान—चरणानुयोग में जिस प्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो, वैसा उपदेश दिया जाता है। इसमें व्यवहारनय की मुख्यता से कथन किया जाता है। निश्चय धर्म में तो कुछ ग्रहण-त्याग का विकल्प ही नहीं। अतः इसमें दो प्रकार से उपदेश देते हैं। एक तो मात्र व्यवहार का और एक निश्चय-सहित व्यवहार का। व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रिया की प्रधानता होती है, पर निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है।

जिन जीवों को निश्चय का ज्ञान नहीं है तथा उपदेश देने पर भी होता दिखाई नहीं देता, उन्हें तो अकेले व्यवहार का उपदेश देते हैं, तथा जिन जीवों को निश्चय सहित व्यवहार का ज्ञान हो, अथवा उपदेश देने पर सम्भव हो, उन्हें निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं तथा चरणानुयोग में कहीं-कहीं कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप छुड़ाते हैं। जैसे पाप का फल नरकादि दुःख दिखाकर भय कषाय उत्पन्न करके तथा पुण्य का फल स्वर्गादिक में सुख दिखाकर लोभ कषाय उत्पन्न करके धर्मकार्यों में लगाते हैं। इसी प्रकार शरीरादिक को अशुचि दिखाकर जुगुप्सा कषाय कराते हैं और पुत्रादिक को धनादिक का ग्राहक बताकर द्वेष कराता-सा दिखाते हैं। पूजा, दान, नाम-स्मरणादिक का फल पुत्र-धनादि की प्राप्ति का लोभ बताकर धर्मकार्यों में लगाते हैं। इस प्रकार चरणानुयोग में व्याख्यान होता है। अतः उसका प्रयोजन जानकर यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए।

4. द्रव्यानुयोग के व्याख्यान का विधान—द्रव्यानुयोग में जीवों को जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान, श्रद्धान जिस प्रकार हो, उस प्रकार विशेष युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादिक से वर्णन करते हैं, क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है। जैसे स्व-पर भेदविज्ञान हो, वैसे जीव-अजीव का; एवं जैसे वीतरागभाव हो, वैसे आस्रवादिक का वर्णन करते हैं, आत्मानुभव की महिमा गाते हैं एवं व्यवहार कार्य का निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते, और बाह्य क्रियाकाण्ड में ही मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभव आदि में लगाने को व्रत, शील, संयमादि का हीनपना भी प्रकट करते हैं। शुभोपयोग का निषेध अशुभोपयोग में लगाने के लिए नहीं करते हैं, किन्तु

शुद्धोपयोग में लगाने के लिए करते हैं।

इस प्रकार चारों अनुयोगों की कथन पद्धति अलग-अलग है, पर सब का प्रयोजन एक मात्र वीतरागता का पोषण है। कहीं तो बहुत रागादि छुड़ाकर अल्प रागादि कराने का प्रयोजन पोषण किया है। कहीं सर्व रागादि छुड़ाने का पोषण किया है, किन्तु रागादि बढ़ाने का कहीं भी प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में, जिस प्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिसप्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और जिस प्रकार से रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है। अतः प्रत्येक अनुयोग की पद्धति का यथार्थ ज्ञान कर जिनवाणी के रहस्य को समझने का यत्न करना चाहिए।

जिनवाणी में कहीं भी परस्पर विरोधी कथन होते नहीं हैं। हमें अनुयोगों की कथन पद्धति एवं निश्चय-व्यवहार का सही ज्ञान नहीं होने से विरोध भासित होता है। यदि हमें शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति का ज्ञान हो जाए, तो विरोध प्रतीत नहीं होगा। अतः सदा आगम अभ्यास का प्रयास रखना चाहिए। मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगमज्ञान कहा है। अतः हमें यथार्थ बुद्धि से आगम का अभ्यास करना चाहिए।

श्रमण जैन संस्कृति और पुरातत्त्व

प्रो. भागचन्द जैन 'भास्कर'

जैन संस्कृति का स्वतन्त्र स्वरूप

श्रमण जैन संस्कृति विशुद्ध मानववाद पर टिकी भारतीय संस्कृति का कदाचित् प्राचीनतम स्वतन्त्र धर्म की बाहिका है, जिसने अहिंसा और अपरिग्रह का अनुपम सन्देश देकर समस्त प्राणि जगत को राहत की साँस दी है। समानता, आत्मपुरुषार्थ, सर्वोदय, कर्मवाद, आत्म-स्वातन्त्र्य आदि जैसे मानवीय सिद्धान्तों की प्रस्थापना कर उसने जातिवाद और वर्गभेद की अभेद्य दीवारों को ध्वस्त कर समाज में एक अभूतपूर्व चेतना दी है। साध्य-साधन की पवित्रता में अटूट आस्था पैदा कर उसने राष्ट्रीय एकात्मकता और अखंडता को जन्म दिया है और प्राणिमात्र की शक्ति को प्रतिष्ठित किया है। इतना ही नहीं, मानवतावादी विचारधारा को साहित्य, कला और स्थापत्य में अंकित कर उसने विश्वबन्धुत्व, सौहार्द, संयम, सद्भाव और पारस्परिक सहयोग का अगर पाठ दिया है और अहिंसक जीवन पद्धति में नये सूत्र सँजोए हैं।

श्रमण जैन संस्कृति श्रम, समता, शम और स्वकीय परिश्रम का प्रतीक है। इसमें साधक फैलने या विस्तार करने/होने की आकांक्षा नहीं करता, बल्कि वह तो आत्म-साधना कर स्वयं में संकुचित होता जाता है, सिकुड़ता जाता है सांसारिकता से और स्वयं से बसे आत्मा के ही परम विशुद्ध रूप परमात्मा का ध्यान करता है। यहाँ अवतारवाद नहीं, उत्तरवाद है, परम समता, आप्तता और वीतरागता की प्रतिष्ठा है, जाति-वर्ग-लिंग-भेद-विहीन सामाजिकता है, संकल्प और संघर्ष है, निवृत्ति-प्रधान जीवन है, प्रार्थना नहीं, ध्यान की महत्ता है। इसीलिए इसे आर्यधर्म कहा गया है। यह श्रमण जैनधर्म और संस्कृति बिल्कुल स्वतन्त्र संस्कृति है, वैदिक या बौद्ध संस्कृति का अंग नहीं है। अतः सर्वप्रथम आर्य-समस्या पर विचार कर लेना अत्यावश्यक लगता है।

आर्य समस्या और जैन संस्कृति

विदेशी विद्वानों ने इस तथ्य की सदा उपेक्षा की कि आर्य भारत से ईरान गये,

श्रमण जैन संस्कृति और पुरातत्त्व :: 69

जिसका उल्लेख अवेस्ता में मिलता है (Vendidad. Fargard 1:1)। ये आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश में रहते थे, जो पश्चिम में सिन्धु और पूर्व में सरस्वती (धग्गर) के बीच पड़ता है। इसे वे भक्तिशात् देवनिर्मित प्रदेश कहते थे। उत्तरकाल में यह आर्य संस्कृति हड़प्पन संस्कृति के नाम से विख्यात हुई, जो हक प्रदेश (सरस्वती नदी का पाकिस्तानवर्ती निम्न वेसिन भाग) में फैली, और- फिर वहाँ से राजस्थान की ओर बढ़ी। यह सरस्वती नदी बाद में सिन्धु नदी में मिल गयी और अन्य नदियाँ (चिन्नव, रवि, झेलम, सतलज और व्यास) गंगा में समाहित हो गयीं। सरस्वती वेसिन में हुए उत्खनन से इस तथ्य का पता चलता है कि हककाल (लगभग 5000 ई.पू.) की अपेक्षा उत्तर हड़प्पन काल में सिन्धु घाटी में आर्यों का निवास रहा होगा, जहाँ विकसित संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। उत्तर हड़प्पन संस्कृति के प्रमाण हड़प्पा की खुदाई में उपलब्ध होते हैं। मोहेनजोदड़ो में भी यह आर्य संस्कृति फैली हुई थी। यह आर्य संस्कृति मूल रूप से भारतीय संस्कृति थी, जैन और वैदिक दोनों संस्कृतियाँ पल्लवित होती रही हों। इन्हीं प्रदेशों में जैन संस्कृति से सम्बद्ध दिगम्बर मुद्रा में कायोत्सर्गिक भव्य जैन मूर्ति उपलब्ध हुई हैं बहुत सम्भव है कि इस समय में जो कदाचित् तीर्थंकर ऋषभदेव की रही हों। दास, दस्यु, पणि आदि जातियों का यहाँ निवास था। आर्येतर जातियों के रूप में ऋग्वेद में उल्लिखित ये जातियाँ वस्तुतः ऋषभदेव की अनुयायिनी थीं।

आद्य परम्परा और पृष्ठभूमि

इतिहास एक लिखित दस्तावेज है और परम्परा अलिखित कहानी वाला तथ्य, जो पीढ़ी से जुड़ा रहता है। लिखित इतिहास का प्रारम्भ लगभग छठी शताब्दी ई.पू. से हुआ, पर अलिखित परम्परा का एक लम्बा इतिहास है, जो श्रुति-परम्परा से चला आया है। जब कोई परम्परा लिपिबद्ध होने लगती है, तो उसके आधार का संकेत कर दिया जाता है। पुरानी कथाओं और अनुश्रुतियों के आधार पर जैसे वेद और पुराण ग्रन्थ लिखे गये। उसी तरह चौदह पूर्वों के आधार पर जैन परम्परा का निर्माण हुआ है। इन परम्पराओं की पुष्टि इतिहास करे यह आवश्यक नहीं, पर इतिहास की संरचना में परम्परा को भुलाया नहीं जा सकता। साम्प्रदायिकता की पुट भले ही इतिहास और परम्परा को धूमिल कर देती है, पर विवेक और तथ्य के प्रकाश में वह धूमिलता नष्ट हो जाती है। परम्परा के साथ धर्म और संस्कृति के तत्त्व भी जुड़े रहते हैं और उनके बीच हुए संघर्षों का प्रारूप भी उनमें छिपा रहता है। ऐसी स्थिति में बड़ी सावधानी के साथ निष्पक्षता-पूर्वक परम्परा को इतिहास का अंग बनाया जा सकता है। इसकी परिधि में जैन जीवन को केन्द्र में रखते हुए धर्म, दर्शन और कला तीनों समाहित हो जाते हैं। इन सभी तत्त्वों को मिलाकर हम उसे 'संस्कृति' कह सकते हैं।

जैनधर्म का यथार्थ इतिहास और संस्कृति बौद्धधर्म के उदय के पूर्व से प्रारम्भ होती

है। इसी समय उत्तर भारत में सामाजिक परिवर्तन भी हुआ, जिसे उत्तर वैदिक काल कहा जाता है। वैदिक काल का इतिहास शुद्ध इतिहास नहीं कहा जा सकता। उसके लिए पुरातात्विक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होते। साधारणतः इतिहासकार चरागाहयुगीन जीवन (Nomadic or pastoral life) को पन्द्रह से दसवीं शताब्दी ई.पू. में रखते हैं। संस्कृत भी प्राकृत मिश्रित लौकिक भाषा से साहित्यिक भाषा के रूप में इसी समय स्थापित हुई। कृषि का विकास भी इसी काल में अधिक हुआ। लेखन-कला, लौहकला और नागरीकरण के विस्तार के लिए भी यही समय इतिहास में स्मरणीय है। वेद ब्राह्मणिक, आरण्यक, उपनिषद् साहित्य भी इसी समय अस्तित्व में आये। ब्राह्मणिक दर्शन का विकास उपनिषदिक दर्शन में हुआ। यह समूचा दर्शन पश्चिम भारत में फलता-फूलता रहा। उसकी दृष्टि में पूर्व भारतीय प्रदेश अशुद्ध माना जाता था। सामाजिक और आर्थिक पक्ष भी वैदिक काल में अविकसित था। उसी का प्रतिबिम्बन वैदिक साहित्य और दर्शन में भी हुआ जहाँ पौरोहित्य, हिंसक यज्ञ और कठोर जातिवाद दिखाई देता है।... पर इसी समानान्तर श्रम को महत्व देने वाली मानवतावादी दर्शन और चिन्तन को प्रधान मानने वाली श्रमण संस्कृति पल्लवित होती रही।

इन परम्पराओं में प्राप्त ऋषभदेव तथा उनके श्रमण दर्शन से सम्बद्ध उल्लेखों को भी हम कैसे नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं? ऐसी स्थिति में उन उल्लेखों को किसी कालखण्ड में नियोजित करना भी सरल नहीं है। परिणामतः तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व का इतिहास परम्परागत इतिहास है और परम्परा भी इतिहास का एक अंग बनकर हमारे सामने खड़ी हुई है। संभव है, वर्तमान इतिहास को परिभाषा उस परम्पराको कभी स्वीकार कर ले। इसलिए इतिहास और परम्परा एवं पुरातत्त्व को हमें एक-साथ लेकर चलना होगा और अपनी सीमा और विवेक के दर्पण में उन्हें देखना होगा। इस देखने में मतभेद होना स्वाभाविक है। दृष्टिभेद होना स्वाभाविक है। दृष्टिभेद और विचारभेद वस्तुतः विकास की ही प्रक्रिया है। अतः हम इन तीनों पर विचार करते हुए ही आगे बढ़ेंगे। इस कालखण्ड का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है और उसे समय की सीमा में बाँधना भी अन्धकार में लाठी चलाने जैसा ही होगा। तब साक्ष्याधारित अनुभव ही एक सक्षम प्रमाण कहा जा सकता है, जो साहित्यिक स्रोतों पर आधारित है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति परम्परा का सम्मिश्रित रूप

श्रमण जैन परम्परा ने ब्राह्मण परम्परा में प्रचलित हिंसक यज्ञ और जातिवाद के विरोध में नहीं, बल्कि मानवतावाद के पोषण में अहिंसा, अपरिग्रह और कर्मवाद सिद्धान्त को प्रस्थापित किया और पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों की मीमांसा अपने नये सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की। ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओं के सिद्धान्तों का प्रचलन

पक्ष और विपक्ष के रूप में प्रारम्भ से ही रहा है और इन दोनों सिद्धान्तों के आधार पर यथा-समय सम्प्रदायों और दर्शनों की भी स्थापना होती रही है और इन सभी सम्प्रदायों में अन्तर सम्बन्ध भी बनते-विगड़ते रहे हैं। ब्राह्मण-सम्प्रदाय के सामने श्रमण-सम्प्रदाय और उसकी प्रवज्या, भिक्षा या आहार पद्धति, गण-कुल-संघ-व्यवस्था, विचार-दर्शन समाज-दर्शन आदि तात्त्विक बिन्दुओं पर जब हम विचार करते हैं, तो स्पष्ट रूप में हमारे सामने दो विचारधाराएँ दिखायी पड़ती हैं ब्राह्मण-विचारधारा और श्रमण-विचारधारा। ये दोनों विचारधाराएँ पृथक्-पृथक् होने के बावजूद परस्पर परिपूरक हैं और एक ही व्यक्ति-संस्कृति से जुड़ी हुई लगती हैं। इसीलिए उनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप दोनों परम्पराएँ अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार तरतमता के रूप से सम्बद्ध हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव ने निवृत्ति को मूल में रखकर प्रवृत्ति पर विचार किया और ब्राह्मणिक महर्षियों ने प्रवृत्ति को मूल मानकर निवृत्ति को गौण कर दिया। प्रवृत्ति-निवृत्ति की हीनाधिकता में ही भक्ति-तत्त्व का विकास हुआ है। एक समय ऐसा भी आया, जब दोनों परम्पराएँ मिश्रित-सी दिखाई देने लगीं। अतः उन्हें एक-दूसरे का विरोधी कहने की अपेक्षा पूरक कहना अधिक-युक्ति-संगत लगता है।

इस सन्दर्भ में जैनधर्म की ऐतिहासिक परम्परा पर यदि हम विचार करें तो यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनतीर्थ परम्परा का प्रारम्भ उत्तर भारत में गंगा नदी की घाटी में हुआ। अयोध्या इसका केन्द्रस्थल रहा और छठी शती ई. पू. वह मगध और वैशाली क्षेत्र में पहुँचा और वहीं से वह एक ओर पश्चिम की ओर बढ़ा और दूसरी ओर बढ़ता हुआ श्रीलंका तक पहुँचा। सभी तीर्थंकरों की जन्मभूमि और कर्मभूमि होने का गौरव भारत के मध्य क्षेत्र को मिला है, विशेष रूप से मध्य-गंगा मैदान और बिहार को। यहाँ के जनपदों का इतिहास भले ही छठी शताब्दी ई.पू. से प्रारम्भ होता है, पर पुरातात्विक प्रमाणों से यहाँ मानव का अस्तित्व लगभग दस हजार वर्ष ई.पू. मिलता है। यह समय वस्तुतः और-भी पीछे जाना चाहिए। इसलिए पौराणिक परम्परा को एकदम झुठलाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि उसे अर्ध-ऐतिहासिक कहा जाता है।

क्या सिन्धु-हड़प्पा संस्कृति जैन संस्कृति थी?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अतीत के मूल्यांकन का कार्य हाथ में लिया जिसका प्रारम्भ कौसाम्बी से होता है। उन्होंने ऐतिहासिक कालों को उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों के अनुसार विभाजित करने की आवश्यकता पर बल दिया। मार्क्सवादी का लक्ष्य है इतिहास से विवेक अर्जित करना और वर्तमान को बदलना, न कि वर्तमान की जरूरत से इतिहास को बदलना। यह उनका भाववादी इतिहास था। इसमें उन्होंने वर्ण-जाति व्यवस्था की बात कहकर क्षत्रिय प्रधान आर्य-

आक्रमण की बात कही, हड़प्पा सभ्यता को आर्येतर सिद्ध करने का प्रयत्न किया। आर्यों को आक्रमक बताया। आक्रमण के मिथक को स्वीकार कर और ऋग्वैदिक समाज को बर्बर सिद्ध किया।

इसके साथ ही आचार-निष्ठ-ज्ञान का भी उतना ही महत्त्व है। उसके बिना समाज पंगु बना रहता है। जैनधर्म की आचार-संहिता, नैतिक चेतना, सामुदायिक चेतना, शिष्टाचार इतना अधिक समृद्ध रहा है कि व्यापारिक गतिविधियाँ, सांस्कृतिक चेतना, शिक्षा-तन्त्र सदैव विकसित होता रहा और लगभग 12वीं शताब्दी तक चतुर्मुखी समृद्धि के सोपानों पर चढ़ता रहा।

आर्य-आक्रमण का मिथक

भाषागत समानता के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्यजनों का सम्बन्ध भारत से लेकर यूरोप के मध्य तक के क्षेत्र में कहीं भी रहा हो सकता है, आर्य शब्द भले ही प्रारम्भिक अवस्था में जाति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ हो, पर उत्तरकाल में वह एक समुदाय के रूप में अवश्य जाना जाता रहा है और फिर उसने एक आक्रमणकारी कबीला का रूप ग्रहण कर लिया और पराजित समुदाय को 'दास' के रूप में गिने लगा। उनकी भाषा कदाचित् संस्कृत थी, जिसे आर्य भाषा कहा जाने लगा। आर्य का अर्थ मूलतः सम्मानास्पद था। बाद में पाणिनि के अनुसार उसका प्रयोग वैश्य वर्ग के लिए होने लगा (26.2)। कृषि-संपदा, पशु-पालन एवं वाणिज्य पर वैश्यों का ही अधिकार था। इसलिए उन्हें श्रेष्ठी या महाजन भी कहा जाता रहा है। आर्थिक आधार पर उन्हें समाज का मुख्य अंग कहा जाता था। यह वैश्य वर्ग वणिज वर्ग निश्चित रूप से जैन वर्ग रहा होना चाहिए। वह वर्ग व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ा था, अहिंसक था, आक्रमणकारी नहीं था। कथा साहित्य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। कि प्रारम्भिक चरण में पणि जैसी जातियाँ कबीले के रूप में रहकर वणिक्वृत्ति में आपदमग्न थीं, मध्यकाल में वही जातियाँ स्थिर होकर व्यापार करने लगती हैं।

हड़प्पा सभ्यता का सम्पर्क व्यापारिक कारणों से बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, सोवियत मध्य एशिया, सुमेरिया, मेसोपोटामिया, बेबीलोनिया और अक्काट आदि से भी रहा है। यही कारण है कि संस्कृत-प्राकृत भाषाओं का प्रसार वहाँ हुआ है। विदेशी विद्वानों ने इसी को विपरीत रूप में दिखाकर आक्रमक मिथक तैयार किया है और वहाँ आर्यों को भारत के विभिन्न मार्गों से पहुँचाया है। एशिया माइनर में कुछ हिस्सी मुहरों पर ककुदमान वृषभ की आकृति अंकित मिलती है। हड़प्पा सभ्यता का यह प्रसार क्षेत्र कहा जा सकता है। इसका समय लगभग 2500 ई.पू. होना चाहिए।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि हड़प्पा सभ्यता के निर्माण में तमिल या द्रविड़

संस्कृति का भी हाथ रहा है। तीर्थंकर ऋषभदेव के एक पुत्र का नाम भी द्रविड़ था। विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सिन्धु हड़प्पा सभ्यता की लिपि से प्रभावित रही है। दैनिक भास्कर के 26 जून 2010 अंक में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार विश्व शास्त्रीय तमिल सम्मेलन, चेन्नई में भारतीय प्राचीन सभ्यता के जाने माने प्रसिद्ध विद्वान अश्वे पारपोला ने सम्मेलन में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो सभ्यताओं में पुराने तमिल शब्दों के सम्भावित उपयोग के विश्लेषण पर आधारित विस्तृत दस्तावेज प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि सिन्धु लिपि की मूलभूत आदि-भाषा द्रविड़ थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त मुहरों में मिले कुछ चित्रात्मक अंकन तमिल भाषा के मुरुका और मिन जैसे पुराने शब्दों से मिलती है। इससे सिन्धु लिपि की मूलभाषा की तह तक जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। तमिल भाषा के आद्य ग्रन्थों में जैन ग्रन्थ अधिक हैं। कन्नड़ साहित्य की भी यही स्थिति है।

हड़प्पा सभ्यता का पतन हो जाने के कारण यहाँ की प्रजा का जीवन आपदा के रूप में सामान्य हो गया। चरागाह संस्कृति या ग्रामीण संस्कृति का चित्रण ऋग्वेद में इसी अवस्थाय का चित्रण कहा जा सकता है। प्राकृतिक विपदाओं के कारण हड़प्पा की विकसित नगरीय सभ्यता छिन्न-भिन्न हो गई। श्रमण और वैदिक दोनों समाजों की स्थिति समान थी। इस विपन्न अवस्था में ऋषियों ने साधना की, त्याग-तपस्या की और हड़प्पा सभ्यता का आधार लेकर ऋग्वेद की रचना की। उसमें तात्कालिक भावनाओं और विचारों का उद्भावन हुआ, जिसमें जैन श्रमण और वैदिक विचारधाराओं का संकलन हुआ है।

इस समय तक आर्यावर्त की कल्पना आ चुकी थी, सौराष्ट्र और कुरुक्षेत्र आर्यवर्ज्य क्षेत्र माना जाने लगा था, जहाँ जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था। वही स्थिति पूर्व में बिहार की भी हो गई थी। इसे हम हड़प्पा के पतन के बाद की स्थिति कह सकते हैं।

हड़प्पा की सभ्यता और वस्तुतः जैनों सभ्यता व संस्कृति थी। हड़प्पा में प्राप्त 13 प्रस्तर मूर्तियों में से दो मूर्तियों की कला-सम्बन्धी मान्यता ने क्रान्ति ला दी है। ये मूर्तियाँ लगभग 4 इंच की हैं। कबन्ध, शिर, हाथ, पैर-बिहीन ग्रीवा और कन्धों के स्थान पर पृथक् बने हुए शिर और बाहु धारण करने के रन्ध्र बने हुए हैं। इस कायोत्सर्गी दिगम्बर मूर्ति में सजीवता, आत्मशक्ति की तेजस्विता देखते ही बनती है। दूसरी मूर्ति बाह्य स्पन्दन को प्रकाशित करती है। इसका समय लगभग 2000 ई. पू. है। इसे जैन तीर्थंकर की मूर्ति कहने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए। इसकी तुलना में मोहनजोदड़ो में प्राप्त ई. पू. तीसरी शताब्दी की उस उत्कीर्ण मुहर (सील नं. 620/1928-1929) का अध्ययन किया जा सकता है, जिस पर गेंडा, भैंस, सिंह आदि मूर्तियों के समक्ष ध्यानस्थ बैठे तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा की व्यक्त करती है। इसमें चक्रवर्ती भरत नत-मस्तक है, पीछे ऋषभ (बैल) का चिह्न

है। त्रिशूल रत्नत्रय का प्रतीक है, कल्पवृक्ष और मृदु लता भी उत्कीर्ण है।

टी. एन रामचन्द्रन का विचार है कि ये उद्धरण और हड़प्पा की कायोत्सर्गी दिगम्बर मूर्ति जैन तीर्थंकर से सम्बद्ध है। उसे वे कायोत्सर्ग मुद्रा में देखते हैं, जो समस्त भौतिक चेतना के आन्तरिक व्युत्सर्ग का प्रतीक है (सील नं. 620/1928-9, हड़प्पा ऐंड जैनियम)। उनकी दृष्टि में तीर्थंकर की काल-गणना में भी इससे कोई बाधा नहीं आती। उन्होंने ऋषभदेव का काल ई. पू. की तृतीय सहस्राब्दी का अन्तिम चरण रखा है, पर हम इससे सहमत नहीं हैं। हमने ऋषभदेव तीर्थंकर का समय पुरातत्त्व की दृष्टि से लगभग तीस हजार वर्ष ई. पू. निश्चित किया है। हमारा यह लेख प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार में प्रकाशित हो चुका है। मोहनजोदड़ो हड़प्पा सभ्यता का प्रसार शताधिक पुरास्थलों में देखा गया है।

सिन्धु-हड़प्पा सभ्यता के मूल निवासी कौन थे, यह एक विवादास्पद प्रश्न है, पर यह निश्चित है कि यह सभ्यता प्राग्वैदिक या उसके समकालीन है। पी. आर. देशमुख ने अपने ग्रन्थ 'इंडस सिविलायजेशन ऐंड हिन्दू कल्चर (पृ. 364-67)' में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह सभ्यता तत्कालीन विद्याधर वा द्रविड़ जाति से सम्बद्ध रही हो। यह जाति ऋषभदेव को पूज्य मानती थी तथा उन्हें दिगम्बर योगीश्वर के रूप में स्वीकार करती थी। रामप्रसाद चन्दन और इरवाथम महादेवन् का भी यही विचार है। ऋग्वेद में ऋषभदेव से सम्बद्ध अनेक उद्धरण मिलते ही हैं। लोहानीपुर की भी अधकटे हस्त और मस्तक-विहीन कायोत्सर्गी दिगम्बर मूर्ति हड़प्पा से प्राप्त मूर्ति की अनुकृति ही लगती है। इसमें कुछ विकासात्मक चिह्न अवश्य दिखाई देते हैं, पर ध्वज और दिव्यता में कोई अन्तर नहीं है। इसमें रत्न अवश्य नहीं हैं।

स्थापत्य-मन्दिर कला

स्थापत्य कला की चरम परिणति मन्दिरों के निर्माण में होती है। इस क्षेत्र में तीन शैलियों का उपयोग किया गया है—नागर, वेसर और द्रविड़ (नागर शैली में गर्भगृह चतुष्कोणी रहते हैं और उनके ऊपर झुकी रेखाओं से संयुक्त इसके समान शिखर रहता है। इसे शुकनासा शिखर भी कहा जाता है, क्योंकि उसका आकार तोते की चोंच के समान गोलाकार और नुकीला होता है। इनका प्रचलन दक्षिण में तो कम रहा पर पंजाब, हिमालय, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बंगाल आदि प्रदेशों में अधिक हुआ। इसमें गोलाकार शिखर पर कलश लगा हुआ रहता है।

वेसर शैली में शिखर की आकृति वर्तुलाकार होती है और वह ऊपर उठकर चपटी रह जाती है। मध्य भारत में इसका प्रयोग अधिक हुआ है।

द्रविड़ शैली में मन्दिर स्तम्भ की आकृति ग्रहण करता है और ऊपर सिकुड़ता

जाता है। अन्त में वह स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। दक्षिण में इसका प्रयोग अधिक हुआ है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि द्रविड़ शैली में विमान-शिखर का ऊपरी भाग पिरामिड की तरह ऊँचा होता ख़ता जाता है। उसमें शिखर अनेक मंजिलों के होते हैं, जिन्हें स्तूपिका कहा जाता है। इसका वर्गाकार गर्भगृह विशाल चौकोर अहाते में बनाया जाता था, जिसकी छत पदक्षिणा-पथ को ढक लेती है। गुम्बदी भाग अर्ध-गोलाकार होता है, मण्डप में बड़ा गलियास और ऊँचे स्तम्भ रहते हैं। बाद में मन्दिरों को गोपुरम् से भी जोड़ दिया गया।

(अ) नागर शैली की लगभग छह शैलियाँ क्षेत्रीय आधार पर विकसित हुई—

(1) उड़ीसा शैली— यह शैली भुवनेश्वर सम्भाग में विकसित हुई सातवीं शदी के बाद। इसमें गर्भगृह अर्धगोलाकार रहता है। गर्भगृह के सामने सभा भवन अर्थात् जगमोहन है। साधारणतः इस शैली के मन्दिरों में स्तम्भ नहीं होते। भीतरी भाग में प्रस्तर साधारण कोटि के रहते हैं, पर बाहरी भाग में मूर्तियाँ अलंकृत रहती हैं। गोपुर सहित लम्बे प्राकार होते हैं और शिखर भाग ऊपर क्रमशः छोटा होता जाता है। इसका समय लगभग आठवीं-नवीं शती है। कोणार्क मन्दिर भी इसी शैली में निर्मित हुआ है। इस शैली में बने मन्दिरों की बाहरी दीवारों पर शृंगारिक अंकन है, जो तन्त्र-मन्त्र परम्परा से प्रभावित माना जा सकता है। इसे हम बाह्य जगत् की अपवित्रता का प्रतीक कह सकते हैं।

(2) खजुराहो शैली — चंदेल शासकों ने इस शैली की प्रस्थापना की। इसमें परकोटा नहीं रहता। ठोस प्रस्तर का सीढ़ीदार चबूतरा रहता है। मन्दिरों के सारे भाग एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। ऊँचाई लगभग सौ फीट से अधिक नहीं रहती। मन्दिर के तीन भाग रहते हैं—मण्डप, अर्धमण्डप और गर्भगृह। इसमें गलियारा, प्रदक्षिणापथ और महामण्डप भी होते हैं। बाह्य भाग अलंकृत और अस्तील चित्रों से अंकित है। गर्भगृह की मीनार चारों ओर शिखरनुमा रहती हैं, जिसे अरुश्रृंग कहा जाता है। निचले भाग में अंग-शिखर रहता है, जो खजुराहो शैली की विशेषता है। शिखर आमलक, स्तूपिका और कलश रहते हैं। शैली अलंकृत है। मिथुन चित्रों का बाहुल्य रहता है। इस शैली में शिखर ऊँचा हो गया और पंचायतन शैली अधिक लोकप्रिय हो गई।

(3) राजस्थानी और मध्यदेशीय शैली — छठीं शती से गुप्त शैली का यहाँ विकास हुआ, जिसे गुर्जर-प्रतिहारों में दसवीं शती तक विकसित किया। पर्वतों को खोदकर और प्रस्तरों को जोड़कर इस शैली के मन्दिर बनाये गये। ओसिया और कुभारिया के जैन मन्दिर इसी शैली के बनाये गये हैं। इन मन्दिरों का बाहरी भाग साधारण है, पर भीतरी भाग अलंकृत है।

(4) गुजरात-काठियावाड़ शैली — इस काल के मन्दिरों के तीन भाग होते हैं—पीठ, मंडोकार और शिखर। इसे सोलंकी शैली भी कहा जाता है। इसमें स्तम्भ के

नीचे का भाग मोटा और ऊपरी भाग पतला होता है। बाहर की अपेक्षा भीतर अलंकरण और प्रकाश की व्यवस्था कम रहती है।

(5) ग्वालियर-मथुरा शैली— ग्वालियर दुर्ग के भीतर अनेक मन्दिर हैं। उनमें सास-बहु और तेली का मन्दिर विशेष उल्लेख नहीं है। उसमें कोई वर्गाकार योजना नहीं है। बाहरी आकार आयताकार है।

(6) नागर-द्रविड़ मिश्रित शैली— नागर शैली का विस्तार दक्षिण में भी हुआ है। उसका एक रूप देखा जा सकता है कृष्ण-तुंग मुद्रा घाटी में, जहाँ द्रविड़ शैली के साथ ऐहोल के मन्दिर, पट्टादकल और आलमपुर की स्थापत्यकला नागर शैली में सम्पन्न हुई है। यहाँ की मिश्रित शैली को चालुक्य शैली भी कहा जाता है।

(ब) द्रविड़ शैली— द्रविड़ शैली स्थापत्य शैली के अनेक भाग किये जा सकते हैं— (1) पल्लवकालीन (600-900 ई.), चोलकालीन (900-1500 ई.), पाण्ड्यकालीन (1150-1350 ई.), विजयनगर पद्धति (1340-1560 ई.) और मथुरा की नायक कालीन पद्धति (1600-1700 ई.)। पल्लवकाल में चट्टानों को खोदकर इमारतें बनाई गई हैं। उन्हें रथ कहा जाता है। मण्डपों के स्तम्भ अलंकृत होते हैं। उनमें सिंहों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। पल्लव मन्दिरों में विमान और गोपुरम् छोटे आकार के थे, द्वारपाल मनुष्य के आकार के थे और मन्दिर समतल भूमि पर अवस्थित थे। चोल शैली में विमान और गोपुरम् बृहदाकार में थे। द्वारपालों की आकृतियाँ भयावह थीं और मन्दिर चबूतरे पर बने हुए थे।

वेसरमा चालुक्य शैली को आगे चलकर होयसल शैली कहा गया। इसका प्रचार दक्षिण भारत के पश्चिमी प्रदेशों में अधिक हुआ और विकास 10वीं से 13वीं शती तक हुआ। मैसूर और श्रवण बेलगोला में चोल शैली का ही उपयोग हुआ है। इस शैली में मुख्य कक्ष परकोटे से घिरा रहता है। पुरकोटे में कोठरियाँ बनी हुई हैं, जिनमें स्तम्भ सहित मन्दिर बने हैं। होयसल शैली में गर्भगृह एक नहीं, अनेक रहते हैं। मन्दिर का चबूतरा भी आयताकार न होकर पर्याप्त लम्बा चौड़ा है और चारों ओर की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसके शिखर और स्तम्भ भी विशिष्टता लिये हुए हैं।

स्थापत्य कला में चैत्य और स्तूप के बाद मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिससे मूर्ति और मन्दिर-शिल्प का विकास हुआ। इनमें विविध शैलियों का प्रयोग करते हुए भी उसमें शृंगारिकता और अश्लीलता का स्पर्श भी नहीं हो पाया। वीतरागता की पृष्ठभूमि में निर्जन स्थानों और पर्वतों का उपयोग हुआ। बाद में नगरों के बीच में उपासना-केन्द्र बनने लगे। मन्दिरों के निर्माण में अधिष्ठान, सोपान, मण्डपवर, शिखर, वेदिका, गर्भगृह, वास्तुमण्डप आदि का उपयोग किया जाता था। ये मन्दिर नागर, वेसर और द्रविड़ शैली में बनते थे। नागर शैली में प्रादेशिक शैलियों का मिश्रण अधिक हुआ, जिनमें गर्भगृह-चतुष्कोणी रहता था। शिखर शुकनासा या गोलाकार का था। वेसर शैली

में शिखर की आकृति वर्तुलाकार हो गई और द्रविड़ शैली में विमान शिखर का ऊपरी भाग पिरामिड की तरह ऊँचा होता चला गया।

प्राचीनतम जैन मन्दिर लोहानीपुर (पटना) में रहा है। इसके बाद सातवीं शती के ओसिया समूह के जैन मन्दिरों का उल्लेख किया जा सकता है। पश्चिम भारत में चालुक्य शैली के मन्दिर अधिक लोकप्रिय हुए, जिनके गर्भगृह, गूढमण्डप और मुखमण्डप एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। उत्तरकाल में वे अलंकृत होने लगे। आवू का विमलवसहरी मन्दिर ऐसा ही मन्दिर है। चित्तौड़गढ़ का कीर्तिस्तम्भ मध्यकालीन जैन स्थापत्य का एक सुन्दर नमूना है। जैसलमेर के दुर्गमन्दिर, बीकानेर, जयपुर, नागदा, कोटा, आगरा आदि स्थानों के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। यहाँ चतुर्मुखी और सर्वतोभद्रशैली का प्रयोग किया गया है। रणकपुर मन्दिर इस शैली का विशेष उदाहरण है।

मध्यमहाभारत का कुण्डलपुर, देवगढ़ और ग्यारसपुर के मन्दिर समूह की अलंकृत शैली दर्शनीय है। खजुराहो और घण्टाई मन्दिर भी अलंकृत शैली के मन्दिर हैं। मालवा का ऊन मन्दिर परमार शैली का उदाहरण है। ग्वालियर, सोनागिरि, रेशन्दीगिरि, द्रोणगिरि, चंदेरी, माण्डू, नरवर, बीना बारहा आदि स्थानों में भी इस काल की स्थापत्यकला के दर्शन होते हैं।

उत्तर भारत की जैनकला पर 12वीं शती के आसपास मुस्लिम आक्रमण बहुत हुए। फलतः बहुत से जैन मन्दिर या तो नष्ट कर दिये गये या परिवर्तित कर दिये गये। अजमेर की मस्जिद, अढ़ाई दिन का झोपड़ा, आमेर के तीन शिव मन्दिर, सांगानेर का सिंघोजी का मन्दिर, दिल्ली का कुम्बतुल इस्लाम मस्जिद आदि स्थान मूलतः जैन मन्दिर हैं। वैदिक सम्प्रदाय ने भी जैन मन्दिरों का खूब विनाश किया और उन्हें अपने मन्दिरों में परिवर्तित कर लिया। ऐसे लगभग तीन हजार जैन मन्दिर हैं, जो वैदिकों या मुसलिम समाज के अधिकार में हैं। अयोध्या की विवादग्रस्त मस्जिद भी मूलतः जैन मन्दिर रही है।

चौदहवीं शती के नये मन्दिरों का निर्माण रुक-सा गया। जो बने भी उनमें मुगल शैली का प्रभाव अधिक रहा। इस प्रभाव को हम दौतैदार तोरणों, अरब शैली के अलंकरणों और शाहजहाँ के स्तम्भों में देख सकते हैं।

दक्षिण-क्षेत्र-वर्ती श्रीलंका में बौद्धधर्म पहुँचने के पूर्व वहाँ जैनधर्म का अस्तित्व था, ऐसा महावंश आदि पालि ग्रन्थों से ही पता चलता है। अतः लगता है कि महावीर के पूर्व दक्षिण में जैनधर्म काफी लोकप्रिय रहा होगा। भले ही पुरातत्त्व अभी इसे सिद्ध नहीं कर पा रहा ही, परन्तु परम्परा की भी पूरी तरह से झुठलाया नहीं जा सकता।

आरम्भिक कालीन जैन मन्दिर दक्षिण भारत में प्राप्त नहीं होते। वहाँ सातवीं शती से निर्माण हुआ है शैलोत्कीर्ण मन्दिरों का। सर्वाधिक प्राचीन जैन गुफा मन्दिर तिरुनेलवोली जिले में मल्लैयडिकुरिच्च स्थान पर है, जिसे बाद में शिव मन्दिर में परिवर्तित कर

दिया गया। इस प्रकार का परिवर्तन मदुरै और अनैमलै आदि जैन केन्द्रों का भी हुआ है। मण्डप शैली में बपना सित्तन्नवासल का गुफा मन्दिर भी उल्लेखनीय है। प्रस्तर मन्दिरों में ऐहोल का मेगुटी मन्दिर भी जिनकांची का चन्द्रप्रभा मन्दिर, तोंडई, मन्दिर, श्रवणबेलगोल का चन्द्रगुप्त वसदि मन्दिर, कम्बदहल्ली का वसदि मन्दिर भी विशेष रूप से स्मरणीय हैं, जिनमें नागर, वेसर और द्रविड़ शैली की अलंकरण की प्रचलित पद्धतियों का भरपूर उपयोग हुआ है। पल्लव, राष्ट्रकूट और चालुक्य शैलियों से यहाँ की प्रस्तर-कला प्रभावित है।

दक्षिणापथ में राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद जैनधर्म की लोकप्रियता में कमी नहीं आई। कल्याणी के चालुक्य काल में लवकुंडी, श्रवणबेलगोल, लक्ष्मणेश्वर, पट्टकल, चारण्डीमठ आदि स्थान जैनकला के केन्द्र बने। कहा जाता है, अतियब्बे ने 1500 जैन मन्दिर बनवाये। उत्तरकालीन चालुक्य, होयसल, यादव और काकतीय राजवंशों के शासकों ने स्थापत्य की उत्तरी और दक्षिणी शैलियों को समन्वित किया। गर्भगृह और शिखर में दक्षिण शैली तथा शेष भागों में उत्तरी शैली को नियोजित किया। विजयनगर में अवश्य दक्षिणी शैली को ही अपनाया गया है। होयसल शैली में विमान शैली और रेख नागर प्रासाद शैली का सम्मिश्रण हुआ है। श्रवणबेलगोल के अन्य जैन मन्दिर, हासन जिले का अग्रलिखित मन्दिर, तुमकुर जिले के नितूर की शांतीश्वर वसदि, मैसूर जिले के नितूर की शांतीश्वर वसदि, मैसूर जिले के होलहोल्लू की पार्श्वनाथ वसदि, बैंगलोर जिले के शांतिमते की वर्धमान वसदि आदि जैन मन्दिर गंग-शैली के उदाहरण हैं। देवगिरि के यादवों के शासनकाल में निर्मित मनमाड के समीवर्ती अंजनेरी गुफा मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं।

आन्ध्र प्रदेश में अनेक जैन कला केन्द्र बने, जैसे पोट्टला-चेरुब (पाटनचेरु), वर्धमानपुर (वड्डमनी) प्रगतुर, रायदुर्गम, चिप्पगिरि, हनुमकोण्डा, पेड्डतुम्बम, पुडुर, अडौनी, नयनकली, कम्बदुर, अमरपुरम् कोल्लिपाक, मुनुगोडु, पेनुगोडा, नेमिम, भोगपुरम् आदि। इन स्थानों पर प्राप्त स्थापत्य कला से अनेक शैलियों का पता चलता है। सोपान मार्ग और तलपीठ सहित निर्माण की कदम्ब नागर शैली और शिखर चतुष्कोणी पर कल्याणी चालुक्यों की शुकनासा शैली विशेष उल्लेखनीय है।

तमिलनाडु स्मारकों में तिरुपरुत्ति कुण्डरम उल्लेखनीय है, जहाँ के जैन मन्दिरों में पल्लवकाल से विजयनगर काल तक की स्थापत्य शैलियाँ उत्कीर्ण हुई हैं। चन्द्रप्रभ मन्दिर, वर्धमान मन्दिर तिरुमलै (उत्तर अर्काट जिला) के मन्दिरों की निर्माण कला में भी विकास की रूपरेखा जगी हुई है।

दक्षिणापथ में भी मुस्लिम आक्रमणों ने जैन स्थापत्य कला को भारी नुकसान पहुँचाया। हजारों मन्दिर वीर शैवों और मुसलमानों ने नष्ट-भ्रष्ट किये, फिर-भी वह कला समूचे रूप में नष्ट नहीं की जा सकी। विजयनगर शासकों, सामंतों और राजदरबारियों

ने अनेक जैन मन्दिरों का उदारतापूर्वक निर्माण कराया। हम्पी (विजयनगर) के जैन मन्दिरों में गणितीय मन्दिर उल्लेखनीय है, जिसमें प्राचीन शैली के चतुष्कोणिक स्तंभ हैं। श्रवणबेलगोल, मूडबिद्री, भटकल, कार्कल, बेणूर आदि के कतिपय जैन मन्दिरों में इस काल में स्थापत्य कला का सुन्दर संयोजन हुआ है।

महाराष्ट्र में हेमाडपन्थी शैली का प्रचलन अधिक हुआ। यह शैली मूलतः उत्तर भारतीय शिखर शैली का परिष्कृत रूप है। इस शैली के जैन गुफा मन्दिर नासिक जिले की विगलवाडी और चंदोर नामक स्थानों पर मिलते हैं। ये गुफाएँ चतुष्कोणीय स्तंभों पर आधारित हैं। महाराष्ट्र में ही वाशिम के समीप शिरपुर में स्थित अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ मन्दिर भी उल्लेखनीय है, जो 13वीं शती का बना हुआ है। इसकी विन्यास-रेखा तारककार है और पत्रावली-युक्त पट्टियों का अलंकरण है।

चित्रकला

चित्रकला के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी यह चित्रकला भित्तिचित्रों, ताड़पत्रों और काँद पर देखी जा सकती है। नायाधम्म कहाओ में चित्रकार श्रेणी और चित्रशाला का उल्लेख है। उत्तरकाल में रविपेणाचार्य ने शुष्क और द्रव कोटि के चित्रों का उल्लेख किया। चित्रकर्म के रेखांकन, बेलबूटा, लकड़ी और हाथदांत की चित्रकारी सम्मिलित है।

भित्ति चित्रों में प्राचीनतम भित्तिचित्र सितन्नवासल के जैन गुफामन्दिर में विद्यमान हैं, जिसमें सुन्दर जलाशय का चित्र पल्लववंशी महेन्द्रवर्मन प्रथम ने बनवाया। ऐलोरा की इन्द्रसभा और कैलाशनाथ मन्दिर के विविध चित्र, तिरुमलै, श्रवणबेलगोल, तिरुपरुत्ति, कुण्डरम के जैन मन्दिरों में बने समवसरण, दिव्यध्वनि, षड्लेश्या, स्वप्न, विद्याधर, गोम्पटेश्वर, भट्टारक स्वागत, नेमि राजुल आदि के मनोहारी दृश्य अंकित हैं। यह परम्परा 11वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रही।

इसके बाद ताड़पत्रीय शैली का प्रारम्भ हुआ। ताड़पत्रों पर लिखित प्राचीनतम पाण्डुलिपि षड्खण्डागम की मिलती है, जो सं. 1113 की है और मूडबिद्री में सुरक्षित है। इसमें सुपार्श्वनाथ की यक्षिणी काली, महावीर, भक्त दम्पतियुगल, श्रुतदेवी अंबिका, पूजा दृश्य, हाथी आदि का अंकन होयसल शैली में हुआ है, इसमें रेखा शैली तथा सीमित रंग योजना की अपनाया गया है। त्रिलोकसार में संदृष्टियों को चित्रोपम शैली में अंकित किया गया है।

संघवी पाडा ग्रन्थभण्डार पाटन की निशीथ चूर्णि, नगीनदास भण्डार की ज्ञातार्धम सूत्र प्रति, जैन ग्रन्थ भण्डार छाणी की ओघ निर्युक्ति, जैन सिद्धान्त भवन आरा को तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसार की ताड़पत्रीय प्रतियाँ भी उल्लेखनीय हैं। पिण्ड-निर्युक्ति पर बने हाथी, कमलदल, हंस और ज्ञातासूत्र पर बना सरस्वती का मनमोहक

चित्र भी दर्शनीय है।

कागज पर चित्रित प्राचीनतम पाण्डुलिपि कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथानक, यशोधरचित्र, शान्तिनाथ चरित, आदिपुराण, तत्त्वार्थसूत्र, भक्तामर, महापुराण, सुगन्ध दशमी कथा आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं, जिनमें विभिन्न शैलियों का उपयोग किया गया है। इनमें सोने व चांदी की स्याहियों का उपयोग मिलता है। जिसे समृद्ध शैली कहा गया है। कुछ प्रतियों में पश्चिमी चित्रण शैली का भी प्रयोग हुआ। गुजरात, राजस्थान और कर्नाटक में इन शैलियों का प्रयोग अधिक मिलता है।

ताड़पत्रों और कागजों पर लिखी प्रतियों को दो काष्ठ की पट्टियों से सुरक्षित रखा जाता है। इन पट्टियों पर भी चित्रकला के नमूने मिलते हैं। जैसलमेर के भण्डार में ओघनियुक्ति की पट्टियों पर विद्यादेवियों की मूर्तियों का अंकन, महावीर का आसन, भक्त-दम्पति का चित्रण, पशु-पक्षियों आदि का चित्रण अजन्ता-एलोरा की परम्परा को लिये हुए है। वादिदेव और कुमुदचंद्र के बीच हुए शास्त्रार्थ को भी यहाँ एक प्रति में दर्शाया गया है।

पट्टियों को भी परम्परा का उल्लेख आदि पुराण, हरिवंश पुराण आदि ग्रन्थों से मिलती हैं। *चिन्तामणि नामक पट्टिचित्र पर धरणेन्द्र-पद्मावती आदि के चित्र* तथा एक संगीत पट्टिचित्र पर पार्श्वनाथ, समवसरण आदि के चित्र अंकित हैं। रंगावाले और धूर्त चित्रों का भी उल्लेख हुआ है। विधान काल में माडन इसी शैली में बनाये जाते हैं।

काष्ठ शिल्प

काष्ठ शिल्प के लिए गुजरात और राजस्थान का नाम अधिक है। वहाँ के उष्ण वातावरण के कारण इस कला को विशेष प्रश्रय मिला। काष्ठ शिल्प का निर्माण 17वीं से 19वीं शती के बीच हुआ। इसका उपयोग आवास-गृह के अलंकरण तथा मूर्ति और मन्दिर के निर्माण में देखा जाता है। कारंजा मन्दिर इसका उदाहरण है। इस शैली में स्तम्भों, महलों, गवाक्षों, द्वारों, छतों, तोरणों, भित्तियों आदि पर काष्ठ-कला का प्रदर्शन किया गया। कलाकारों में अष्टमंगल, पत्र-पुष्प अहमदाबाद का शान्तिनाथ देरासर (1390 ई.) तथा पाटन का लल्लूभाई दन्ती का भवन देरासर उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि महावीर के जीवनकाल में उनकी चन्दनकाष्ठ प्रतिमा बनाई गई थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

अभिलेखीय व मुद्राशास्त्रीय शिल्प—

अभिलेखों तथा मुद्राओं पर भी चित्रांकन हुआ है। कंकाली टीला से प्राप्त आयागपट्ट (प्रथम शती) पर महिला-युगल का अंकन हुआ है। इसी तरह 132 ई. की सरस्वती मूर्ति भी वहाँ उपलब्ध होती है, जिसे प्राचीनतम जैन सरस्वती की मूर्ति के रूप में पहचाना गया है। अभिलेखों में गुप्तकाल का रामगुप्त अभिलेख, उदयगिरि, मथुरा, पधोसा,

देवगढ़, आबू, ऐहोल, श्रवणबेलगोल, अहार, खजुराहो, जूनागढ़ रणकपुर, दानवुलपड़, कुरिक्कल, धर्मवरम्, हम्पी, अर्काट, गोदापुरम्, कार्कल, ऐल्लोरा, मूडबिद्री आदि सैकड़ों स्थान हैं, जहाँ जैन अभिलेख उपलब्ध हुए हैं।

मुद्रा के क्षेत्र में पांडव शासकों द्वारा प्रचलित सिक्कों का विशेष योगदान रहा है। उनकी चतुष्कोणीय कांस्य मुद्राओं पर अंकित सूर्य, चन्द्र, कलश, छत्र, मत्स्य, अष्टमंगल, द्रव्य आदि का सुन्दर अंकन हुआ है।

इस प्रकार कला और स्थापत्य के क्षेत्र में जैनधर्म ने प्रारंभ से ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके दर्शन और साहित्य ने भी कला के हर क्षेत्र को विकसित किया है। प्रादेशिक संस्कृतियों के तत्त्वों के साथ लोककथाओं और सांस्कृतिक घटनाओं का अंकन जिस सुन्दरता के साथ जैन कला में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः श्रमण जैन संस्कृति और पुरातत्त्व को समूची जैन परम्परा की आधार भूमि के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके विकासात्मक सोपानों पर आरूढ़ होकर ही हम जैन दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति और पुरातत्त्व पर सही ढंग से विचार कर सकेंगे। इससे विविध संस्कृतियों के पारस्परिक आदान-प्रदान पर भी व्यवस्थित ढंग से सोच सकेंगे। इसके साथ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच उभरे मतभेदों की स्थिति भी स्पष्ट हो सकेगी।

जैन यात्रा-साहित्य

प्रो. राजाराम जैन

यात्रा साहित्य इतिहास एवं संस्कृति की अमूल्य विरासत है। प्राचीन जैन-साहित्य में 'पर्यटन' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। उसके स्थान पर यात्रा, विहार, हिण्ड या हिण्डन तथा भ्रमण जैसे शब्द-प्रयोग मिलते हैं। इनमें से हिण्ड या हिण्डन शब्द का अर्थ है—रुई के वायु-प्रेरित फाहे के समान निरुद्देश्य ही इधर-उधर भटकना। "वसुदेव-हिण्डी" (संघदास-धर्मदास गणि कृत, चौथी सदी ईस्वी के आसपास) इसका अच्छा उदाहरण है। 'विहार' शब्द का प्रयोग तपस्वी-मुनिवरों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन के लिए सुनिश्चित है। 'भ्रमण' शब्द-प्रयोग प्रायः सामान्यजनों के इतस्ततः सामान्य गमनागमन के लिए प्रयुक्त मिलता है। पर्यटन-शब्द, जहाँ तक मुझे जानकारी है, अधिक प्राचीन नहीं है और उसका प्रयोग, विरसता अथवा एकरसता के वातावरण के परिवर्तनार्थ, किंचित्कालीन मनोरंजन-हेतु किया जाता है। इसे 'पिकनिक' भी कहा जाता है।

यात्रा-शब्द-प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है, जो कि किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के प्रसंग में प्रस्थान करने के लिए प्रयुक्त किया गया प्राप्त होता है। इस दृष्टि से जैनाचार्य-लेखकों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी में प्रासंगिक रूप से अनेक रोचक-यात्राओं के वर्णन प्रस्तुत किए हैं। एतद्विषयक कुछ स्वतन्त्र-रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

वस्तुतः मूल-ग्रन्थों के अध्ययन और व्याख्यानादि सुनने से सैद्धान्तिक-ज्ञान तो प्राप्त होता है, किन्तु उसमें समग्रता आती है—मनोनुकूल विविध-विषयक केन्द्रों की अनुभव-जनक यात्रा करके संवेदनशील व्यक्ति विभिन्न विशिष्ट केन्द्रों में जाकर वहाँ के वस्तुगत तथ्यों का साक्षात्कार कर यथार्थता का अनुभव करता है, जिससे उसमें अन्तर्निहित प्रतिभा-शक्ति को नई ऊर्जा मिलती है और कल्पना-शक्ति स्फुर्यमान होती है। इस प्रकार पूर्वार्जित सैद्धान्तिक ज्ञान और यात्राओं से अर्जित व्यावहारिक या प्रायोगिक ज्ञान के समन्वय से संस्कृति, इतिहास एवं साहित्य के अनेक प्रच्छन्न-पक्षों के उद्घाटन में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रकार की यात्रा को ही सफल माना जाता है।

सामाजिक-जीवन में यात्राओं का विशेष महत्त्व होता है। विविध विशिष्ट स्थलों या प्रदेशों में जाकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अभीप्सित जानकारी, यात्राओं के बिना

सम्भव नहीं, क्योंकि उसी से वहाँ के आचार-विचार, रहन-सहन, भोजन-पान, वस्त्राभूषण-प्रकार, उनकी दैनिक-चर्या आदि का ज्ञान प्राप्त कर स्वयं के सामाजिक जीवन के वैशिष्ट्य का अनुभव किया जा सकता है।

देश-विदेश में राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सम्बन्ध बढ़ाने की दृष्टि से भी यात्राएँ आवश्यक मानी गई हैं। प्राचीन भारतीय, यूनानी एवं चीनी साहित्य में उपलब्ध यात्रा-वृत्तान्त हमारे समाज एवं राष्ट्र के तत्कालीन इतिहास की आलोचित करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इस प्रसंग में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि प्राच्य भारतीय इतिहास से वीर पराक्रमी-मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (प्रथम) का नाम विस्मृत अथवा लुप्त हो गया था, जब कि उसकी आदर्श प्रशासनिक व्यवस्था से प्रभावित होकर यूनानी शासक ने उसका अध्ययन करने हेतु मेगास्थनीज को अपने राजदूत के रूप में पाटलिपुत्र भेजा था। मेगास्थनीज ने अपने यात्रा-वृत्तान्त-“इण्डिका” में उसी भारतीय शासक “सैण्ड्रोकोट्रोस” की पर्याप्त प्रशंसा की थी। अध्ययन करने पर बाद में विदित हुआ कि उक्त चन्द्रगुप्त ही यूनानी-भाषा में “सैण्ड्रोकोट्रोस” लिखा गया था। इस उल्लेख ने प्राच्य भारतीय इतिहास के लेखन में बड़ी सहायता प्रदान की।

जैन-वाङ्मय में उपलब्ध यात्रा-वृत्तान्तों की अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है —

1. दिग्विजय-यात्रा, 2. युद्ध-यात्रा, 3. व्यापार-यात्रा, 4. ज्ञान-यात्रा (शास्त्रार्थ-यात्रा), 5. धर्म-यात्रा, 6. मनोरंजन-यात्रा एवं 7. तीर्थ-यात्रा।

1. दिग्विजय-यात्रा— यह यात्रा सामान्य कोटि के राजा-पद से चक्रवर्ती-सम्राट् का पद प्राप्त करने के लिए की जाती थी। इसमें पृथिवी के छहों खण्डों पर विजय प्राप्त करने के लिए दृढ़-संकल्पी राजा अपने बल, वीर्य, पुरुषार्थ एवं पराक्रम का अनुमान कर अपनी चतुरंगिणी-सेना को लेकर विजय प्राप्त करने हेतु निकलता था और यदि वह उसमें सफल हो जाता था, तो वह चक्रवर्ती-सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित होता था। इस पद के प्राप्त होते ही बत्तीस हजार राजा उसके सेवक के रूप में आज्ञा का पालन करते थे। जैन-वाङ्मय में ऐसे चक्रवर्ती-सम्राटों में चक्रवर्ती-भरत (ऋषभपुत्र) तथा चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल के नाम प्रमुख हैं।

चक्रवर्ती भरत के विशेष प्रभाव तथा अपूर्व समृद्धि का विस्तृत वर्णन आदिपुराण (जिनसेन द्वितीय, नौवीं सदी ईस्वी) में दृष्टव्य है। चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल (ई. पू. दूसरी सदी) के प्रभाव तथा समृद्धि-वर्णन के लिए हाथीगुम्फा-शिलालेख (भुवनेश्वर, उड़ीसा) का अध्ययन आवश्यक है।

2. युद्ध-यात्रा— युद्ध-यात्रा वस्तुतः दिग्विजय जैसी यात्रा ही है, किन्तु उसमें अन्तर यही है कि दिग्विजय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है एवं चारों दिशाओं के राजा-महाराजाओं के साथ लगातार किये गए सफल युद्धों से सम्बन्ध रखता है। जबकि युद्ध-

यात्रा का लक्ष्य किसी एक प्रदेश-विशेष अथवा राज्य-विशेष से ही होता था। विश्व-इतिहास में ऐसी अनेक युद्ध-यात्राओं के वर्णन मिलते हैं, जिनमें सिकन्दर की विश्व-विजय यात्रा, सम्राट् अशोक की कलिंग-युद्ध यात्रा, सम्राट् खारवेल की मगध एवं सोमान्तवर्ती उत्तर तथा दक्षिण भारत की युद्धयात्राएँ, गंग, राष्ट्रकूट एवं चालुक्य राजाओं की युद्ध-यात्राएँ विस्तार-पूर्वक वर्णित हैं। इनके विशेष-अध्ययन के लिए सम्राट् अशोक के शिलालेख तथा स्तम्भ-लेख, हाथीगुम्फा-शिलालेख, श्रवणवेलगोल के शिलालेख तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा लिखित कुमारपाल-चरित का पारायण आवश्यक है।

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के जैन-साहित्य में अनेक पौराणिक राजाओं की युद्ध-यात्राओं के रोचक वर्णन उपलब्ध हैं।

3. व्यापार-यात्रा— किसी भी देश की समृद्धि का ज्ञान उसकी व्यापारिक-यात्राओं तथा आयात-निर्यात (*Import and Export*) की जाने वाली क्रय-विक्रय सम्बन्धी सामग्रियों से होता है। प्राचीन एवं मध्यकालीन प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश-भाषात्मक जैन-साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया, पश्चिम-एशिया के द्वीप-नगरों और सम्भवतः योरोपीय देशों में जैन-सार्थवाह समुद्री मार्गों से जाकर क्रय-विक्रय के कार्यों के साथ-साथ श्रमण-संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया करते थे। उत्तराध्ययन-सूत्र की सुखबोधा-टीका में वर्णित सार्थवाह-अचल की पारस-कुल (*Persian Gulf Countries*) की व्यापारिक-यात्रा, भारतीय आर्थिक जीवन का श्रेष्ठ उदाहरण है, जिसके माध्यम से कर (*Tax*) चोरी की चर्चा तथा उसमें पकड़े जाने पर कठोर दण्ड की चर्चा भी की गई है।

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में उपलब्ध महासार्थवाह श्रीपाल, भविष्यदत्त एवं बन्धुदत्त, जिनेन्द्रदत्त तथा साहू नट्टल द्वारा समुद्री-मार्ग से विदेश की व्यापारिक यात्राओं के वर्णन उपलब्ध हैं। इस माध्यम से कवियों ने समुद्री-विशाल पोतों, उनके निर्माण तथा उत्तुंग-दीप-स्तम्भ, यात्रा-प्रसंगों में समुद्री-डाकुओं के आतंकों तथा उनसे सुरक्षा हेतु कड़े प्रबन्ध, भोजन-सामग्री-व्यवस्था, चिकित्सा-सामग्री, मनोरंजन के साधन, प्रशिक्षित कुशल पोत-संचालक आदि की भी रोचक चर्चाएँ की हैं।

इस साहित्य में व्यापारिक सामग्रियों के नामों के उल्लेख तो नहीं मिलते, लेकिन समकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि उस समय काली-मिर्च, लौंग तथा सुपारी का उत्पादन भारत में प्रचुर मात्रा में होता था। उक्त सार्थवाह विदेशों में विक्रयार्थ इन सामग्रियों की ले जाते होंगे और वहाँ से बदले में सोना, हीरा, मोती, माणिक्य आदि ले आते होंगे। काली-मिर्च एवं लौंग तो पारसकुल एवं अन्य द्वीपान्तरों में इतनी लोकप्रिय हो गई थी कि वहाँ के लोगों ने कालीमिर्च का नाम अपनी बोली में “यवनप्रिया” तथा लौंग का नाम “कृष्णकली” ही रख लिया था।

यह घटना इतिहास-प्रसिद्ध है कि रोम (*इटली*) में काली-मिर्च की लोकप्रियता

इतनी अधिक बढ़ गई थी कि वहाँ से उसके आयात के परिवर्तन में स्वर्ण के निर्यात से रोम का कोष जब रिक्त होने लगा, तो कि-समय वहाँ के शासक को विवश होकर उसके आयात-निर्यात पर रोक लगानी पड़ी थी।

दिल्ली (वर्तमान दिल्ली) का महासार्थवाह नटूल (13वीं सदी) इतना बड़ा व्यापारी था कि देश-विदेश में उसकी 46 गदियाँ (*Chambers of Commerce, Trade and Industries*) थीं। इसकी रोचक चर्चा हरियाणा के महाकवि विबुध श्रीधर (13वीं सदी) ने अपने वड्डमाण-चरिउ एवं पासणाहचरिउ (प्रो. डॉ. राजाराम जैन द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित) की प्रशस्तियों में की है।

4. ज्ञान-यात्रा अथवा शास्त्रार्थ-यात्रा— एतद्विषयक साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं है, फिर-भी जो कुछ मिलता है, वह है अत्यन्त रोचक। उसमें वेद-वेदांगों के महापनीषी किन्तु अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण अहंकारी स्वभाव वाले इन्द्रभूति गौतम की यात्रा प्रमुख है। जब वे इन्द्र द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाए थे, तब वे शास्त्रार्थ करने अथवा ज्ञानार्जन करने की भावना से अपने गृहनगर गोवरग्राम (नालन्दा, बिहार) से शिष्य-मण्डली के साथ केवलज्ञान के धारी वर्धमान-महावीर के समवसरण में आ रहे थे। समवसरण के मुख्य द्वार पर मानस्तम्भ के सम्मुख पहुँचते ही उनका अहंकारी-स्वभाव स्वयमेव विगलित हो गया था। तत्पश्चात् विनम्र-भाव से वे समवसरण में पहुँचे और अन्ततः महावीर के पट्टशिष्य बनकर उनके प्रवचनों की सर्वप्रथम द्वादशांग-वाणी के रूप में ग्रथित किया और गौतम-गणधर के नाम से श्रमण-संस्कृति के आद्य-आराधक-गुरु के रूप में विख्यात हुए।

श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में उपलब्ध पाषाणोत्कीर्ण “मल्लिवेण-प्रशस्ति” के अनुसार आचार्य समन्तभद्र (दूसरी सदी) अद्भुत शास्त्रार्थ-प्रेमी थे। ज्ञानोन्मत्त-पण्डितों को डंका पीटकर शास्त्रार्थ के लिए चुनौतियाँ देते हुए यात्राएँ करना उनका स्वभाव बन गया था। काँची (दक्षिण-भारत) से चलकर अनेक नगरों का भ्रमण करते-करते जब वे वाराणसी पहुँचे, तो वहाँ के राजा शिवकोटि ने जब उनका परिचय पूछा, तब समन्तभद्र ने अपने उत्तर में स्वयं कहा था कि “मैं काँची से लाम्बुश, पुण्ड्रोड एवं दशपुर होता हुआ यहाँ वाराणसी आया हूँ। हे राजन्, मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ। यहाँ जिस किसी की भी शक्ति हो, मुझसे शास्त्रार्थ करने हेतु मेरे सम्मुख आ जाय।” यथा—

कांच्यां नगनाटकोऽहं मलमलिनतनुलम्बुशी पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रेण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिब्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी,
राजन्, यस्यास्ति शक्तिः सः वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

आचार्य समन्तभद्र एक अत्यन्त निर्भीक, शास्त्र-पारंगत, तर्कशास्त्री, शास्त्रार्थी थे।

उन्होंने उक्त स्थलों के अतिरिक्त और-भी कहाँ-कहाँ की यात्राएँ कर शास्त्रार्थों में विजय का डंका पीटा था, उसकी चर्चा उन्होंने स्वयं ही अपनी एक रचना में इस प्रकार की है—

पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटम्,
वादार्थी विचराम्यहमनरपतेः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

अर्थात् हे राजन्, मैंने पहले पाटलिपुत्र नगर के मध्य में शास्त्रार्थ की भेरी बजायी थी । पुनः मालव, सिन्धु, ठक्क-विषय, कांचीपुर और विदिशा में । तत्पश्चात् महान् विद्याविदों के नगर करहाटक-नगर आया । इस प्रकार हे राजन्, मैं शास्त्रार्थ-हेतु सिंह के समान यत्र-तत्र विचरण करता रहता हूँ ।”

आचार्य समन्तभद्र ने अपने आत्म-विश्वास से परिपूर्ण बहुआयामी पाण्डित्य के गौरव का परिचय अपनी एक अन्य रचना में इस प्रकार दिया है—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहम्,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम् ।
राजन्नस्यां जलाधिवलयामेखलायामिलायाहम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

अर्थात् हे राजन्, मैं एक आचार्य-कवि हूँ, शास्त्रार्थियों में श्रेष्ठ तथा पण्डित, ज्योतिषी, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक हूँ। अधिक क्या कहूँ? इस सम्पूर्ण पृथिवी पर आज्ञासिद्ध और सिद्ध-सारस्वत हूँ मैं ।

आत्म-परिचय का ऐसा रोचक उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता ।

विप्र कुलोत्पन्न आचार्य सिद्धसेन-दिवाकर जैन-न्याय-तर्कशास्त्रियों में अग्रगण्य दार्शनिक के रूप में विख्यात हैं। प्रारम्भ से ही उनका संस्कृत-भाषा पर असाधारण अधिकार था और स्वभावतः थे वे अत्यन्त गर्वीले, साथ ही शास्त्रार्थ के अत्यन्त शौकीन । शास्त्रार्थ कर वे पण्डितों को पराजित करने हेतु सदैव दूर्वादल एवं डण्डा लेकर यात्राएँ करते रहते थे और पराजित-पण्डित के मुँह में दूर्वादल खिलाकर ही आगे बढ़ते थे। उनकी इन विजय-यात्राओं ने पण्डितों की भयग्रस्त कर दिया था ।

एक बार उन्हें जानकारी मिली कि वृद्धवादी-क्षमाश्रमण जैन-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। अतः वे यात्रा करते-करते जब उनके नगर में जा पहुँचे, तभी उन्हें पता लगा कि वे वहाँ से विहार कर चुके हैं। सिद्धसेन ने सोचा कि वे उनके पाण्डित्य से डरकर ही वहाँ से भाग गये हैं। अतः उनका पीछा किया और चलते-चलते एक गहन-वन में उनसे सामना हो गया और वहीं पर उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए चुनौती भी-दे डाली ।

वृद्धवादी-क्षमाश्रमण ने उन्हें समझाया कि किसी नगर में चलकर एक सुबुद्ध मध्यस्थ के सम्मुख ही शास्त्रार्थ होना चाहिए, किन्तु सिद्धसेन को इतना धैर्य कहाँ ? संयोग से वहाँ एक ग्वाला गायें चराता हुआ चला आ रहा था। अतः सिद्धसेन ने उसे ही मध्यस्थ बनाने की इच्छा व्यक्त की। वृद्धवादी ने उसे स्वीकार कर लिया और उसी की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया।

सिद्धसेन ने पूर्व-पक्ष के रूप में अपनी अलंकृत दुरूह-संस्कृत में प्रश्न किये, किन्तु वह ग्वाला उन प्रश्नों को बिलकुल भी न समझ सका; किन्तु वृद्धवादि क्षमाश्रमण ने उनके प्रश्नों के उत्तर लोकप्रिय जन-भाषा में इस प्रकार दिए—

ण वि मारियइ ण वि मिच्छा बोलियइ,
 ण वि चोरियइ परदारहँ ण वि जोइयइ।
 दुगु-दुगु संगु णिवारयइ।

वृद्धवादि का यह उत्तर सुन-समझकर वह ग्वाला अत्यन्त प्रमुदित हो उठा और अपना निर्णय सुनाते हुए उन्हें (वृद्धवादि को) शास्त्रार्थ-विजेता घोषित कर दिया।

सिद्धसेन ने वृद्धवादि को तत्काल ही अपना गुरु स्वीकार कर लिया। वृद्धवादि ने भी सिद्धसेन के मस्तक की रेखाएँ देखकर उनके स्वर्णिम भविष्य की परख करके दीक्षा दे दी और उन्हें जैन-दर्शन का अध्ययन कराया। इस प्रकार वे जैन-दर्शन के प्रकाण्ड तर्कशास्त्री, एवं दार्शनिक-विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनका 'न्यायावतार' ग्रन्थ इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

5. धर्म-यात्रा— धर्म-यात्रा का मूल उद्देश्य होता है धर्म की सुरक्षा-हेतु किसी अशान्त-स्थान से शान्त एवं सुरक्षित स्थान पर जाना। ईसा-पूर्व चतुर्थ-सदी में जब मगध एवं उत्तर-भारत में द्वादश-वर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा था, तब आचार्य भद्रबाहु ने अपने बारह सहस्र मुनिसंघ की सुरक्षा-हेतु मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त (प्रथम) के साथ दक्षिण-भारत की यात्रा की थी। यह तथ्य श्रवणवेलगोला में उपलब्ध शिलालेखों में वर्णित है।

वाद में इस परिभाषा में कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। इस धर्म-यात्रा में राजनीति का कुछ मिश्रण मिलता है और तब धर्म-यात्रा का उद्देश्य हो जाता है जनता के हृदयों पर विजय प्राप्त करने हेतु यात्राएँ कर उस पर धर्मानुकूल शासन करना। इस प्रकार की धर्म-यात्रा वस्तुतः शासन की एक नवीन मौलिक चातुर्यपूर्ण राजनैतिक प्रणाली थी, जिसे मगधाधिपति मौर्य-सम्राट अशोक ने प्रारम्भ किया था। यद्यपि अशोक भी सामन्तवादी राजतन्त्र-परम्परा का शासक था, किन्तु उसके हृदय में पीडित मानवता के प्रति गहरी सहानुभूति तथा सेवा-भावना का संस्पर्श था। अपनी करुणा एवं संवेदनशील भावना के कारण वह "प्रियदर्शी" "देवानांप्रिय" जैसे श्रेष्ठ विशेषणों से युक्त होकर प्राच्य भारतीय इतिहास में एक आदर्श सम्राट के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

दसवीं सदी का भी यात्रा-सम्बन्धी एक ऐतिहासिक उदाहरण मिलता है, जिसमें उल्लेख है गंगवंशी राजा राचमल्ल (दसवीं सदी) के सेनापति चामुण्डराय अपनी माता काललदेवी तथा धर्मपत्नी आदित्यादेवी की मनोकामना को पूर्ण करने हेतु भ. बाहुबली के दर्शनार्थ पोदनपुर (वर्तमान में पेशावर, पाकिस्तान) की धर्मयात्रा की तैयारी करते हैं। भले ही, बाद में उनकी वह यात्रा एक विशेष सार्थक कारण से स्थगित हो गई थी।

6. मनोरंजन-यात्राएँ— ये वे यात्राएँ हैं, जो विशिष्ट-पर्वों या अवसरों पर कुछ सीमित दिवसों के लिए की जाती थीं। इस प्रकार की यात्रा को पर्यटन-यात्रा भी कहा जा सकता है। अंग्रेजी में इसे पिकनिक भी कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन होता है। जैन-साहित्य में उपलब्ध वन-विहार, जल-विहार, उद्यान-विहार आदि को इसी श्रेणी की यात्राओं में सम्मिलित किया जा सकता है।

7. तीर्थ-यात्रा-साहित्य— भारतीय एकता एवं अखण्डता के प्रतीक माने जाने वाले प्राचीन जैन-तीर्थों का स्मरण करते हुए आद्य जैनाचार्य कुन्दकुन्द (ई. पू. 108-12 = 96 वर्ष) ने परम्परा-प्राप्त 24 जैन-तीर्थों तथा समीपस्थ पर्वतों एवं नदियों का अपने निर्वाणकाण्ड (प्राकृत) के माध्यम से श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

जिसकी प्रथम एवं अन्तिम गाथा है—

अद्वावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्ज-जिण्णाहो।

उज्जंते नेमि-जिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो।।1।।

सेसाणं तु रिसीणं णिव्वाणं जम्मि-जम्मि ठाणम्मि।

ते हं वंदे सव्वे दुक्खक्खय-कारणट्ठाए।।2।।

जिनका पद्यानुवाद निम्न प्रकार किया गया है:-

अष्टापद आदीश्वर स्वामि, वासुपूज्य चम्पापुर नामि।

नेमिनाथ स्वामी गिरनार, पावापुरि स्वामी महावीर।।

तीन लोक के तीरथ जहाँ नित प्रति वन्दन कीजै तहाँ।

मन-वच-काय सहित सिर नाय, वन्दन करहिं भविक गुण गाय।।

तात्पर्य यह कि अष्टापद (कैलाश-पर्वत) एवं गिरनार-पर्वत को छोड़कर अवशिष्ट 22 तीर्थकरों को निर्वाण-भूमि बिहार-झारखण्ड में होने के कारण उसका कण-कण जैनधर्मानुयायियों के लिए पवित्र तीर्थ-भूमि की मान्यता युगों-युगों से चली आ रही है। यहाँ तक कि तीर्थकरों तथा साधक तपस्वियों के इस प्रदेश में विहार होते रहने के कारण उस प्रदेश का नाम भी “बिहार” के नाम से नामित हो गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

तीर्थ-यात्रा को आत्म-जागृति, तत्त्वज्ञान की विशुद्धि और इतिहास एवं संस्कृति की जानकारी का प्रमुख साधन माना गया है, जैसा कि पं. आशाधर (13वीं सदी) ने कहा है :

स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये। (सागार. 2/84)

मध्यकाल, विशेषतया 13वीं सदी से परवर्ती-कालों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, कन्नड़, राजस्थानी एवं हिन्दी में प्रचुर-मात्रा में जैन-तीर्थ-यात्रा-साहित्य का प्रणयन किया गया, जिसमें से कुछ रचनाओं में सामूहिक रूप में तीर्थ-यात्राओं का वर्णन है और कुछ में एकल-विशेष तीर्थ-यात्रा का वर्णन। इन पंक्तियों के लेखक के पास ऐसी कुछ प्रकाशित एवं अप्रकाशित लगभग 50 रचनाओं की सूची है। स्थानाभाव के कारण जिनका विवरण प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं। इनके अतिरिक्त उत्तर-मध्यकालीन एक अप्रकाशित पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि भी मेरे पास सुरक्षित है, जिसमें 44 जैन-तीर्थों की यात्रा के व्यक्तिगत अनुभव तथा वहाँ सुरक्षित कलापूर्ण हीरे-माणिक्य आदि की बहुमूल्य जैन-मूर्तियों का विवरणात्मक वर्णन किया गया है।

सम्मेद-शिखर-तीर्थ-सम्बन्धी यात्रा-वृत्तान्त भी कुछ आचार्य-लेखकों ने लिखे हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि 19वीं सदी के अन्तिम चरण तक इन्जन वाले वेग-गामी यान-वाहनों का प्रचलन नहीं था। अतः तीर्थयात्री या-तो पद-यात्रा करते थे अथवा भक्त-जनों के समूह के साथ बैलगाड़ियों में तीर्थयात्राएँ किया करते थे।

महाकवि बनारसीदास (वि. सं. 1698) ने अपने "अर्धकथानक" नाम के आत्मचरित-ग्रन्थ में शाहजादा सलीम के कृपापात्र तथा एक जगतसेठ के वंशज जौहरी हीराचन्द मुकीम को अपने जैन-संघ के साथ सम्मेदशिखर की यात्रा की रोचक चर्चा की है। यह यात्रा प्रयाग से चली थी। वह यात्री-संघ लगभग सात माह के बाद घर लौट सका था। मार्ग में उन्हें किन-किन कठिनाइयों तथा बीमारियों का सामना करना पड़ा था, उनका भी रोमांचक वर्णन इसमें किया गया है। (दे. अर्धकथा. 224-230)

एतद्विषयक एक अन्य अप्रकाशित पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है—“श्री सम्मेद-शिखर की यात्रा का समाचार” जिसके अनुसार मैनपुरी (उत्तरप्रदेश) से नगरसेठ साहू धनसिंह के नेतृत्व में 250 बैलगाड़ियों के साथ एक हजार यात्रियों ने वि. सं. 1867 कार्तिक वदी पंचमी, बुधवार को प्रस्थान किया था और सम्मेदशिखर के दर्शनादि करके माघ-सुदी 15 को मधुवन से लौटी थी। इस यात्रा में भी लगभग 7 माह का समय अवश्य लग गया होगा। (यह पाण्डुलिपि अद्यावधि अप्रकाशित है, जो जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) में सुरक्षित है)।

तीर्थ-यात्रा सम्बन्धी एक अन्य पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है—“जैनबिंदी-मूलबिंदी-जात्रा” (भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति कृत), जिसमें भ. सुरेन्द्रकीर्ति ने जिज्ञासा एवं तीर्थभक्ति-पूर्वक सोनागिर से लेकर मथुरा तक 44 तीर्थों की यात्रा-वन्दना कर उनके विषय में उन्हें

जो-जो भी जानकारीयों मिली थीं, उनकी सुन्दर चर्चा की है। ऐसे तीर्थों में उन्होंने सोनागिर, पपौरा, द्रोणगिरि, रेशंदीगिरि, कुण्डलपुर, सिद्धवरकूट, रामटेक, मेढगिरि, कारंजा, अन्तरिक्ष-पार्श्वनाथ, नेमिगिरि, बेगमगंज (हैद्राबाद) के जैन मन्दिर, चन्द्रघाट, कुलपाक, विलगुरुनगर (श्रवणवेलगोला) के गोम्मटस्वामी, ऐनापुरनगर, हरीवेट, तलघाटी, धर्मस्थल, मूलबिंदी, कारकल, वरंगा, समुद्रतीरमन्दिर, हुम्मच, कलिकुण्ड-पार्श्वनाथ, पुनी (पूना) मांगीतुंगी, तरंजा (तारंगा), गिरनार, नगरतार, केशरिया-ऋषभदेव, चूलगिरि, कुन्थलगिरि, झालरियापाटन (झालरापाटन), उज्जैन, ग्वालियर, जयपुर, सांगानेर, आमेर, धा (?), राजगढ़, दिल्ली, हतनापुर (हस्तिनापुर) एवं मथुरा के नामोल्लेख कर उनका विवरण प्रस्तुत किया है।

उक्त भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने अपनी तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में जिन-जिन तीर्थों में वे गये थे, उनमें से अधिकांश की पारस्परिक दूरियाँ, किस-किस मन्दिर में किस-किस वर्ण की कितनी-कितनी मूर्तियाँ हैं तथा वहाँ के पर्वतीय-विवरण एवं मन्दिरों तक पहुँचने के लिए बनी हुई सीढ़ियों की संख्या भी बतलाई है।

उसी पाण्डुलिपि में जैनबिंदी-मूडबिंदी की रत्नमयी मूर्तियों का विवरण, धर्मस्थल की समृद्धि एवं वहाँ के राजा हेगड़े का सादर उल्लेख आदि और वरंगा, हुँमचा, कारकल आदि की कला-समृद्धि, अतिशयता और सौन्दर्य की चर्चा भी की है। इस प्रकार आँखों देखा विवरण प्रामाणिक एवं इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऐसा यात्रा-विवरण अन्यत्र दुर्लभ है। यह पाण्डुलिपि अद्यावधि अप्रकाशित है। उसकी प्रतिलिपि इन पंक्तियों के लेखक के पास सुरक्षित है।

जैन तीर्थ-यात्रा-प्रसंगों में वैसे-तो और-भी लिखा जा सकता है, किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ सम्भव नहीं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्राच्यकालीन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र-पाटलिपुत्र (—सेठ सुदर्शन की शूली-स्थली तथा मोक्ष-प्राप्ति-स्थली-कमलदह-(कमलहद)-गुलजारबाग, आचार्य समन्तभद्र की शास्त्रार्थ-स्थली, श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु की साधना-स्थली, मगधाधिपति सम्राट चन्द्रगुप्त-मौर्य की राजधानी और महामति चाणक्य का निवास-स्थल, मेगास्थनीज, फाहियान, ह्वेनत्सांग, इत्सिंग तथा इतिहासकार Murrecy आदि द्वारा मुक्त-कण्ठ से प्रशंसित पाटलिपुत्र नगर-तीर्थ, निर्ग्रन्थों एवं आजोविकों की साधना-हेतु सम्राट अशोक द्वारा निर्मापित गोरथगिरि की (वर्तमानकालीन गया की समीपवर्ती बराबरकी पहाड़ी पर स्थित) गुफाएँ—

तीर्थकर-महावीर की जन्मभूमि तथा विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली की जन्मदात्री वैशाली—

पूर्व से पश्चिम एवं पश्चिम से पूर्व की ओर विहार करने वाले शलाका-महापुरुषों एवं जैनचार्यों के गमनागमन-मार्ग तथा विश्राम-स्थली-आरामनगर (अर्थात् बगीचों का नगर-वर्तमानकालीन आरा-नगर) —

अपनी आध्यात्मिक एवं भौतिक-समृद्धि के लिए सुप्रसिद्ध और बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की मोक्ष-प्राप्ति-नगरी चम्पापुरी एवं मन्दारगिरि (भागलपुर)---

इसी प्रकार सुपाश्वनाथ एवं पार्श्वनाथ की जन्म-स्थली-वाराणसी; श्रेयांसनाथ की जन्मस्थली श्रृंगपुरी (वर्तमानकालीन सारनाथ); तथा चन्द्रप्रभ-स्वामी की जन्म-स्थली चन्द्रपुरी (वाराणसी) जैसे जैन-तीर्थों की यात्रा किये बिना जैन भक्तों की तीर्थ-यात्रा अधूरी ही मानी जाती है।

इसी प्रकार हरियाणा-निवासी महाकवि विबुध श्रीधर (13वीं सदी) की दिल्ली-यात्रा, जहाँ उन्होंने (महासार्थवाह—) नटुल-साहू द्वारा निर्मापित गगनचुम्बी शिखरों वाले विशाल नाभेय-मन्दिर (आदिनाथ-मन्दिर) के दर्शन कर वहीं पर बैठकर उसने अपने अपभ्रंश-भाषात्मक “पासणाहचरित” नाम का विस्तृत-ग्रन्थ लिखा था (भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित)। बाद में दुर्भाग्य से कुतुबुद्दीन-ऐबक ने उसी नाभेय-मन्दिर तथा मानस्तम्भ और अन्य कुछ मन्दिरों को ध्वस्त कर उनकी सामग्रियों से कुतुब-मीनार तथा कुतुबुल-इस्लाम नाम की मस्जिद का निर्माण करा दिया था।

प्रस्तुत निबन्ध का विषय अद्यावधि उपेक्षित ही बना रहा। भारतीय ज्ञानपीठ ने सम्भवतः प्रथम बार उसे रेखांकित करने के लिए मुझे प्रेरित किया। उसके लिए मैं आभारी हूँ।

प्रारम्भ में एतद्विषयक सूत्र खोजने में मुझे उसी प्रकार कठिनाई हुई, जिस प्रकार समुद्री-तट की बालू में बिखरे हुए सर्प-बीजों के खोजने में कठिनाई होती है, किन्तु मुझे लगता है कि मेरा यह परिश्रम सार्थक रहा। उक्त वर्ण्य-विषय के सूत्र निस्सन्देह ही जैन-वाङ्मय में प्रचुर-मात्रा में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं और उन्हें एक-बद्ध कर उनके विश्लेषणात्मक प्रस्तुतीकरण से एक सरस-रोचक ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है।

जैनतीर्थ

डॉ. गुलाबचन्द्र जैन

भारत के प्रत्येक धर्म में तीर्थों की मान्यता है। ये तीर्थ पवित्रता, आत्म-शान्ति और कल्याण के धाम माने जाते हैं। श्रद्धा-भाव से इनकी यात्रा करने से पुण्य का संचय तो होता ही है, परम्परा से ये मोक्ष-प्राप्ति के साधन भी हैं।

जैन-शास्त्रों में तीर्थ का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। आचार्य जिनसेन कृत 'आदिपुराण' में उल्लेख है— जो अपार संसार से पार कराये, वह तीर्थ है : 'संसारब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते' और ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान का चरित्र है अर्थात् जिनेन्द्र की कथा का आख्यान तीर्थ है। 'युक्त्यनुशासन' में आचार्य समन्तभद्र तीर्थ को मात्र तीर्थ न मानकर उसे 'सर्वोदय तीर्थ' कहते हैं। उनके अनुसार, सभी प्रकार की आपदाओं (आधि-व्याधियों) का अन्त करने वाला तथा सबके लिए कल्याणकारी होने से यह सर्वोदय तीर्थ कहलाता है— 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।' किन्हीं आचार्यों ने इसे 'क्षेत्रमंगल' भी कहा है।

तीर्थों की संरचना

सामान्यतः जिन स्थानों पर तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, महाभिनिष्क्रमण (दीक्षा), केवलज्ञान और निर्वाणकल्याणक में से कोई एक या अनेक कल्याणक हुए हों, या— फिर किसी वीतरागी तपस्वी मुनिराज को केवलज्ञान या निर्वाण प्राप्त हुआ हो, वह स्थान उन-उन महर्षियों के संसर्ग से पावन और पूज्य बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो भूमिखंड तीर्थकर, महापुरुष या मुनिराज के पावन संसर्ग में आया, विचरण काल में वे जहाँ रहे या धर्मोपदेश दिया, वह स्थान पूज्य बन गया—तीर्थ बन गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि तीर्थकरों और वीतरागी महर्षियों ने आत्म-संयम, ध्यान और तपश्चरण से अपने जन्म-जरा-मरण से मुक्ति की साधना की, साथ ही अनादिकाल से सांसारिक दुःखों को भोगते आ रहे, अज्ञानी या मिथ्या मार्ग पर चले आ रहे प्राणियों को सम्यक् मार्ग बतलाया, वे महापुरुष संसार के प्राणियों के अकारण बन्धु या उपकारक बन गये। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने और स्थान विशेष पर घटित पुण्यकारी घटनाओं को

निरन्तर स्मृति में बनाये रखने के लिए उस भूमि पर जो संरचना होती है, वह 'तीर्थ' कहलाने लगता है।

तीर्थों के प्रकार

दिगम्बर समाज में प्रमुखता से तीन प्रकार के तीर्थ प्रचलित हैं— सिद्धक्षेत्र (या निर्वाण-स्थल), कल्याणक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र। सिद्धक्षेत्र उसे कहते हैं, जहाँ से किसी तीर्थंकर या किन्हीं वीतरागी तपस्वी मुनिराज का निर्वाण हुआ हो। ऐसा कहा जाता है कि चरम एवं परम पुरुषार्थ के प्रतीक होने से निर्वाणकाल में ऐसे स्थान पर सौधर्म इन्द्र तथा अन्य देवगण भक्ति-भाव से पूजा को आते हैं और उस भूमि विशेष को चिह्नित कर देते हैं, फिर उसी स्थान पर भक्तजन श्रद्धापूर्वक उनके चरण-चिह्न स्थापित कर देते हैं। ऐसे स्थान धीरे-धीरे श्रद्धा के केन्द्र बन जाते हैं।

सिद्धक्षेत्र : तीर्थंकरों के निर्वाणक्षेत्र कुल पाँच हैं : कैलास पर्वत (अष्टपद), चम्पापुर, ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार), सम्मेदशिखर और पावापुर। कैलास से आदितीर्थंकर ऋषभदेव, चम्पापुर से बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य, ऊर्जयन्तगिरि से बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, पावापुर से अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने मुक्ति प्राप्त की तथा शेष बीस तीर्थंकरों और वीतरागी तपस्वियों ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त कर उस भूमि और वहाँ के सम्पूर्ण परिसर को पावन किया।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी निर्वाणभूमियाँ हैं, जहाँ से मात्र वीतरागी मुनि या मुनिराजों ने तपश्चरण कर निर्वाण लाभ किया। 'निर्वाण-भक्ति' में ऐसे अनेक उल्लेख हैं। उदाहरण के लिए कैलास पर्वत से भरत, बाहुबलि, भगीरथ आदि अनेकानेक महापुरुषों ने तपश्चरण कर मुक्ति पाई। गिरनार से भगवान नेमिनाथ के अतिरिक्त प्रद्युम्नकुमार, अनिरुद्धकुमार आदि मुनिराजों ने निर्वाण-लाभ किया। उक्त पाँच निर्वाण भूमियों के अलावा और भी ऐसे कई क्षेत्र हैं, जहाँ से मुनिराजों ने मुक्ति प्राप्त की। पटना के कमलदह नामक स्थान से मुनि सुदर्शन कुमार ने, राजगृही से तीर्थंकर महावीर के गणधर, जम्बूकुमार, जीवन्धर आदि मुनिराज, गुणावा से गौतम स्वामी मोक्षधाम गये। महाराष्ट्र में गजपन्था को बलदेव आदि की, शत्रुंजय को तीन पांडवों (युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन) की तथा पौंगीतुंगी को रामचन्द्र, हनुमान, सुग्रीव आदि मुनिराजों की निर्वाणस्थली कहा गया है। उड़ीसा के उदयगिरि-खंडगिरि, मध्य प्रदेश के सोनागिरि, द्रोणगिरि, चूलगिरि (बड़वानी), पावागिरि, सिद्धवरकूट तथा गुजरात के तारंगा, पालीताणा, पावागढ़ भी सिद्धक्षेत्र माने जाते हैं। इस प्रकार सिद्धक्षेत्रों की कुल संख्या छब्बीस मानी गयी है।

कल्याणक्षेत्र : ये वे क्षेत्र हैं जहाँ किसी तीर्थंकर का गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान में से कोई एक या एकाधिक कल्याणक हुए हों। हस्तिनापुर, शौरीपुर, अहिच्छत्र, वाराणसी, काकन्दी आदि ऐसे ही तीर्थ स्थान हैं। भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ,

अभिनन्दन, सुमति और अनन्तनाथ के गर्भ एवं जन्मकल्याणक अयोध्या में हुए। ऋषभदेव को छोड़कर उक्त चारों तीर्थंकरों के दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक अयोध्या के निकट ही सहेतुक वन में मनाये गये। इसी प्रकार भगवान् सम्भवनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान श्रावस्ती में; पद्मप्रभ के गर्भ-जन्म-कल्याणक कौशाम्बी में, पार्श्व और सुपाश्वर्चनाथ के गर्भ, जन्म एवं दीक्षा तथा सुपाश्वर्चनाथ का केवलज्ञान कल्याणक वाराणसी में हुए। हस्तिनापुर, चन्द्रपुरी, काकन्दी, भदिदलपुर, चम्पापुरी, सिंहपुरी, कम्पिला, रतनपुरी, मिथिलापुरी, अहिच्छत्र, शौरीपुर, राजगृही आदि भी कल्याणकक्षेत्र हैं। भगवान् महावीर के गर्भ-जन्म-दीक्षा-कल्याणक वैशाली के कुंडग्राम में तथा केवलज्ञान कल्याणक जृम्भिकग्राम में हुए। इसी प्रकार तीर्थंकर विमलनाथ के गर्भ, जन्म, तप व ज्ञान रूप चार कल्याणक कम्पिला नगरी में हुए।

अतिशयक्षेत्र : ये ऐसे स्थान हैं, जहाँ किसी टीले, खेत या ज़मीन से घटनात्मक रूप से किसी मूर्तिविशेष या मूर्तियों के प्राप्त होने पर या फिर मूर्ति के निर्माण में चमत्कारिक घटना घटने से उनकी स्थापना के लिए कालान्तर में वेदी या मन्दिर का निर्माण कर दिया गया हो, और फिर कालान्तर में वह जनसाधारण के आकर्षण का केन्द्र बन गया हो या फिर जिस मूर्ति-विशेष के दर्शन से कुछ चामत्कारिक घटनाओं के घटने से ऐसे स्थलों को अतिशय क्षेत्र माना गया। जनसाधारण द्वारा ऐसे स्थानों को आत्मिक शान्ति के साथ-साथ ऐहिक कामना की पूर्ति की मान्यता मिल जाती है। उत्तर प्रदेश में देवगढ़, मथुरा, श्रावस्ती, अहिच्छत्र, प्रयाग, पफोसा, कम्पिल, राजस्थान में श्री महावीरजी, तिजारा, चौदखेड़ी, पद्मपुरा आदि का विशेष महत्त्व है। महाराष्ट्र एवं दक्षिण के प्रायः सभी क्षेत्रों की गणना ऐसे ही तीर्थों में की जाती है। तपस्वी एवं ऋद्धिधारी मुनियों की तपोभूमियों में यदा-कदा ऐसे चमत्कार देखने को मिलते रहे हैं। सम्पूर्ण भारत में उक्त क्षेत्रों की स्थापना सातवीं-आठवीं ईसवी से प्राचीन नहीं है। वर्तमान में इनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है, लगभग तीन सौ। समय के साथ यह संख्या बढ़ती ही जा रही है। ये क्षेत्र देश के प्रायः हर भाग में फैले हुए हैं।

कलाक्षेत्र : देश के कुछेक भागों में ऐसे भी क्षेत्र हैं, जो सिद्धक्षेत्र या कल्याणकक्षेत्र अथवा अतिशयक्षेत्र न होते हुए भी जैन कला, पुरातत्त्व एवं इतिहास की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्हें हम तीर्थक्षेत्र जैसा ही वैशिष्ट्य देते हैं। ये कलाक्षेत्र जैनों की बड़ी धरोहर हैं। इनके द्वारा हम जैनधर्म के अनुयायी शासकों का इतिहास, उनके वैभव से तो परिचित होते ही हैं, जैनधर्म के विकास और तत्कालीन समाज में उसकी प्रतिष्ठा का भी हम भली-भाँति ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। विस्तारभय से यहाँ हम उनकी संक्षिप्त नामावली ही दे पा रहे हैं। देवगढ़, ग्वालियर का क़िला, खजुराहो, खंडगिरि-उदयगिरि, अजयगढ़, ग्यारसपुर, कारीतलाई, पतियानदाई, उदयपुर, बिजौलिया, चित्तौड़गढ़ का कीर्तिस्तम्भ, चौदवड़ के गुफा मन्दिर, धाराशिव की गुफाएँ, ऐलोरा की गुफाएँ, गोम्पटेश्वर

बाहुबलि, मूडबिद्री, हलेबिड, वेणूर, कार्कल, वादामी की गुफाएँ, सित्तनवासल की गुफाएँ, तिरुपत्तिकुंजरम, करन्दई, तिरुमलै आदि अनेक स्थानों की गणना कलाक्षेत्रों के रूप में की जा सकती है।

इनमें भी गोम्पटेश्वर बाहुबलि, हलेबिड, वादामी की गुफाएँ, सित्तनवासल की गुफाओं के भित्तिचित्र, खजुराहो, ग्वालियर का किला आदि ऐसे कला-स्थान हैं, जिनकी जानकारी के बिना भारतीय कला-पुरातत्त्व का अध्ययन अधूरा ही कहा जाएगा। देश-विदेश के पर्यटकों, कला-मर्मज्ञों, पुरातत्त्व-वेत्ताओं एवं इतिहासकारों के लिए ये महान आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं। इन्हें देखकर ऐसा लगता है, जैसे इनके निर्माण में कोई दैवीय प्रभाव भी साक्षात् या परोक्ष में रहा है। इन स्थानों में जैन तीर्थंकर मूर्तियाँ, भित्तिचित्र, मन्दिर, शासनदेवी-देवताओं की मूर्तियाँ, गुफा मन्दिर, जैन प्रतीक और शिलालेख तथा ताड़पत्रीय पांडुलिपियाँ विशेष दर्शनीय होने के साथ-साथ अध्ययन की महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

तीर्थ-यात्रा : कब और कैसे

यों तो कभी भी तीर्थ-यात्रा की जा सकती है, पुण्य का संचय तो होता ही है, फिर भी अनुकूल समय, अनुकूल वातावरण में तीर्थ-यात्रा का आनन्द कुछ और ही है।

तीर्थ पर जाकर भगवान से सांसारिकता को बढ़ाने वाली किसी भी वस्तु की कामना नहीं करना चाहिए। निष्काम भक्ति ही श्रेष्ठ भक्ति कहलाती है। 'विषापहार' में कितना अच्छा लिखा है, देखिए :

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्
वरं न याचे त्वमुपेक्षिकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥ 38 ॥

अर्थात् : हे देव ! स्तुति कर चुकने पर आपसे कोई वरदान नहीं पाँगता। आखिर माँगूँ भी तो क्या माँगूँ ! आप तो वीतराग हैं, फिर माँगूँ भी तो किसलिए ? भला कोई छाया तले बैठने के लिए पेड़ से छाया पाँगता है ? भगवान की शरण पाकर याचना करना ही व्यर्थ है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, तीर्थ-यात्रा का मुख्य ध्येय आत्मशान्ति या आत्मशुद्धि है, अतः इसके लिए पहली शर्त है— यात्रा के समय जितना भी सम्भव हो सके, सांसारिकता से स्वयं को निर्वृत्त रखे। ऐसा इसलिए कि घर-गृहस्थी में रहकर व्यक्ति को जीवन-यापन की अनेक चिन्ताएँ लगी रहती हैं, अनेक प्रकार की आकुलताएँ घेरे रहती हैं। आत्मशान्ति के लिए उसे अवकाश निकालना कठिन हो जाता है। ऐसे में वह किसी

नये परिवेश में जाना चाहता है— किसी अविनाशी सम्पदा की चाह में। सन्देह नहीं कि तीर्थंकरों, वीतरागी मुनियों या महापुरुषों की तपोभूमि पर पहुँचते ही, वहाँ के परम पावन परिवेश का स्पर्श पाते ही, उसका मन उल्लसित हो उठता है। तीर्थ-भूमि की रज ही इतनी पवित्र होती है कि उसके स्पर्श से ही उसके परिणाम बदलने लगते हैं और उसके लिए आत्मशान्ति का मार्ग स्वतः सरल बन जाता है।

तीर्थ-यात्रा का ध्येय ही जब आत्मशुद्धि है, तो इसकी पहली शर्त है कि यथासम्भव पर से निर्वृत्ति और आत्मा की प्रवृत्ति। तीर्थ पर जाकर तीर्थंकरों और वीतरागी मुनियों, महापुरुषों के जीवन व उनकी साधना का बारम्बार स्मरण कर अपने जीवन को निश्छल भाव से उस दिशा में मोड़ना हमारा पहला कर्तव्य होना चाहिए। सांसारिकता में ग्रस्त कुछ लोग ऐसा मान बैठे हैं कि समय निकालकर तीर्थ की एकाधिक वन्दना या अनेक परिक्रमाएँ करने से, पूजा-पाठ या अधिक दान या चढ़ावा देने आदि अनेक क्रियाओं से उद्दिष्ट लाभ पाया जा सकता है, पुण्य जुटाया जा सकता है। आत्मशुद्धि हुई कि नहीं, इससे विशेष सरोकार नहीं रहता, तो समझ लीजिए कि उसने तीर्थ-यात्रा का महत्त्व नहीं समझा और न ही कुछ पाया। कहा भी गया है :

तीर्थ चाले दोई जन, चित चंचल मन चोर।

एकहु पाप न उतरया, दस मन लाये और ॥

तीर्थ-भूमियों की वन्दना का माहात्म्य ही यह है कि तन-मन की शुचिता को अपनाया जाए, अपनी प्रवृत्ति को संसार की चिन्ताओं से दूर रखकर वीतरागी महापुरुषों के जीवन का श्रद्धा के साथ चिन्तन करते हुए आत्म-कल्याण की ओर अपने चित्त की अवस्था बनाए।

सिद्धक्षेत्र (निर्वाणक्षेत्र)

अष्टापद (कैलास)

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव अष्टापद से मुक्त हुए थे। अष्टापद को कैलास पर्वत एवं धवलगिरि भी कहा जाता है। 'हरिवंशपुराण' में आचार्य जिनसेन ने तीर्थंकर ऋषभदेव की निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

तस्मिन्नद्रौ जिनेन्द्रः स्फटिकमणिशिलाजालरम्ये निषण्णो

योगानां सन्निरोधं सह दशभिरथो योगिनां यैः सहस्रैः।

कृत्वा कृत्वान्तमन्ते चतुरपरमहाकर्मभेदस्य शर्म-

स्थानं स्थानं स सैद्धं समगमदमलस्रग्धराध्यर्च्यमानः ॥ 12.81 ॥

अर्थात्, 'स्फटिकमणि की शिलाओं से रमणीय उस कैलास पर्वत पर आरूढ़ होकर

भगवान ने एक हजार राजाओं के साथ योग-निरोध किया और अन्त में चार अघातिया कर्मों का अन्त कर निर्मल पालाओं के धारक देवों से पूजित हो, अनन्तसुख के स्थानभूत मोक्षपद को प्राप्त किया। न केवल ऋषभदेव, बलिक मुनिराज भरत, बाहुबलि, वृषभसेन गणधर आदि भी इसी पर्वत से मुक्त हुए। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के पितामह त्रिदशंजय ने भी मुनिदीक्षा धारण कर तपश्चरण करते हुए मुक्ति पायी। इनके अतिरिक्त राजा भगीरथ, नागकुमार, हरिषेण चक्रवर्ती के पुत्र हरिवाहन आदि अनेक महापुरुषों ने भी कैलासगिरि में दीक्षा ली और वहाँ से निर्वाण प्राप्त किया।

‘हरिषेण कथाकोष’ में ऐसा भी उल्लेख है कि भरत चक्रवर्ती ने कैलास के रम्य शिखर पर पंक्तिबद्ध 72 जिनालयों में अनेक वर्ण की रत्न-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। बाद में उन मन्दिरों के चारों ओर राजा सगर के पुत्रों ने पिता की आज्ञानुसार गंगा नदी से परिखा बनवायी थी। ‘पद्मपुराण’ (सर्ग 9) में इस प्रसंग में लंकाधिपति दशानन की एक घटना का बहुत रोचक वर्णन है। लंकानरेश का विमान कैलास शिखर के ऊपर से जाते हुए एक स्थल पर एकाएक रुक गया। कारण पूछने पर उनके अमात्य ने बताया कि इस पर्वत पर एक महातपस्वी प्रतिमायोग धारण किये हुए विराजमान हैं। ऐसे समय यह विमान इस मार्ग से उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। फिर क्या था, विमान से उतरकर लंकानरेश उनके दर्शन को पहुँचा। पास आते ही उन्हें देखकर वह पहचान गया कि यह तो मेरा महाशत्रु बाली है। उसके साथ अपने घोर संघर्ष का स्मरण कर क्रोधावेश में बोला, ‘हे दुर्बुद्धि! तू बड़ा तप कर रहा है कि अभिमान में आकर मेरा विमान रोक लिया। मैं तेरे इस अहंकार को अभी नष्ट किये दे रहा हूँ।’ कहकर, विद्याबल से अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर कैलास को उखाड़ने के लिए ज्यों ही उद्यत हुआ, कि तभी मुनिराज बाली ने अवधिज्ञान से दशानन के इस दुष्ट अभिप्राय को जान लिया। पर्वत के विचलित होने से भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित मन्दिर नष्ट हो जाएँगे— ऐसा सोचकर उन्होंने ज्यों ही अपने पैर के अँगूठे से पर्वत को दबाया तो दशानन दबकर बुरी तरह रिरियाने लगा और विनयपूर्वक मुनिराज की स्तुति कर क्षमायाचना करने लगा। कहा जाता है, लंकाधिपति दशानन का तभी से ‘रावण’ नाम पड़ गया। कालान्तर में महामुनि बाली ने घोर तपश्चरण करते हुए इसी पर्वत से मोक्षपद प्राप्त किया।

कैलास या अष्टापद कहने पर हिमालय में भागीरथी, अलकनन्दा और गंगा के तटवर्ती ऋषिकेश, बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि क्षेत्रों का परिसर भी आ जाता है। कैलास जाने के लिए पूर्वोत्तर टनकपुर स्टेशन से बस द्वारा पिथौरागढ़ (जिला अलमोड़ा) पहुँचकर, वहाँ से पैदल यात्रा द्वारा लीपू दर्रा पार करके जाया जा सकता है। जौहर मार्ग या फिर नीती घाटी मार्ग से भी वहाँ पहुँचा जा सकता है।

चम्पापुर (बिहार प्रदेश)

यह अत्यन्त प्राचीन क्षेत्र है। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की यह निर्वाणभूमि है। आचार्य यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ति' में उल्लेख है कि भगवान वासुपूज्य फाल्गुन कृष्ण पंचमी के दिन अपराह्न काल में अश्विनी नक्षत्र में यहाँ से सिद्धभूमि को प्राप्त हुए। उनके साथ 601 मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया :

फग्गुणबहुले पंचमिअवरण्हे अस्सिणीसु चंपाए।

रूपाहियछसयजुदो सिद्धिगदो वासुपुज्जिणो ॥

वासुपूज्य की निर्वाणस्थली के रूप में मन्दारगिरि का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि अंगदेश की राजधानी चम्पा का क्षेत्र काफी विस्तृत था। सम्भवतः मन्दारगिरि तत्कालीन चम्पा का बाह्य उद्यान रहा होगा। चम्पापुर भारत की प्राचीन ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नगरियों में से एक है। 'हरिषेण कथाकोष' में ऐसे अनेक राजाओं एवं उनके जीवन की घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका सम्बन्ध चम्पा नगरी से रहा है। इनमें राजा दन्तिवाहन (महावीरकाल में), हरिषेण चक्रवर्ती, धर्मघोष श्रेष्ठी, राजा करकंडु प्रमुख हैं। भगवान महावीर, गणधर सुधर्मा स्वामी यहाँ पधारे थे। चम्पा पर अधिकार कर अजातशत्रु ने इसे खूब समृद्ध किया।

यह क्षेत्र भागलपुर शहर से लगभग पाँच किलोमीटर दूर है। यहाँ एक प्राचीन दिगम्बर मन्दिर है। इसके पूर्व और दक्षिण में स्तूपनुमा और मीनारनुमा लगभग पचास फुट ऊँचे प्राचीन मन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर में भगवान वासुपूज्य की साढ़े तीन फुट ऊँची मूंगा वर्ण की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, और भी अनेक वेदियों में पाषाण एवं धातु की मूर्तियाँ विराजमान हैं। क्षेत्र पर और भी कई मन्दिर हैं।

गिरनार

गिरनार गुजरात में सुप्रसिद्ध निर्वाणक्षेत्र है। यहाँ बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ ने दीक्षा लेकर यहाँ तपश्चरण किया। छप्पन दिन पश्चात् ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। पश्चात् यहीं से आषाढकृष्ण अष्टमी के दिन सिद्ध अवस्था प्राप्त की। उनके समय में इसी पर्वत से 536 अन्य मुनिराज भी मोक्ष गये। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र से समय-समय पर करोड़ों मुनिराजों ने मुक्ति पायी। 'प्राकृत निर्वाणकांड' में उल्लेख है—

णेमिसामी पज्जुण्णो संबुक्मारो तहेव अणिरुद्धो।

बाहत्तर कोडीओ उज्जंते सत्तसया वंदे ॥

अर्थात् भगवान नेमि के अतिरिक्त प्रद्युम्नकुमार, शम्बुकुमार, अनिरुद्धकुमार आदि बहत्तर करोड़ सात सौ मुनियों ने यहाँ से तपश्चरण करते हुए निर्वाणलाभ किया।

इस क्षेत्र पर पाँच टोंकें हैं। इन पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। प्रथम टोंक के पास से सहस्राग्रवन को एक रास्ता जाता है, जो नेमि प्रभु का दीक्षा-प्राप्ति और केवलज्ञान-प्राप्ति का स्थान है।

इस पर्वत पर दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन तथा हिन्दू सभी दर्शनार्थ जाते हैं। यहाँ कुछेक ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। तलहटी के नीचे जैन धर्मशाला और जैन मन्दिर है। मन्दिर की मुख्य वेदी पर भगवान नेमिनाथ की कृष्ण वर्ण की भव्य मूर्ति पद्मासन में प्रतिष्ठित है। यहाँ कुल मिलाकर नौ वेदियाँ हैं।

सम्मोदशिखर (झारखंड)

तीर्थंकर ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर को छोड़कर अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक शेष बीस तीर्थंकरों की पावन निर्वाणभूमि होने के कारण इसे तीर्थराज की संज्ञा दी गयी है। इसके अलावा अनेकानेक मुनिराजों ने इस पर्वत पर तपस्या कर मुक्ति पायी। प्राकृत 'निर्वाणकांड' में सम्मोदशिखर से बीस तीर्थंकरों की निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

बीसं तु जिणवरिदा अमरासुर-वंदिदा धुदकिलेसा ।

सम्मोदे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ 2 ॥

'तिलोयपण्णत्ति' में बीस तीर्थंकरों का मुक्ति-प्राप्ति का विस्तार से वर्णन तो है ही, उसमें प्रत्येक तीर्थंकरों की मुक्ति-प्राप्ति की तिथि, नक्षत्र और उनके साथ मुक्त होने वाले वीतरागी मुनियों की संख्या भी दी है। दिगम्बर परम्परा में इस प्रकार की मान्यता है कि तीर्थंकर भगवान जिस-जिस स्थान से मुक्त हुए, उस-उस स्थानविशेष पर सौधर्म इन्द्र ने आकर चिह्नस्वरूप स्वस्तिक बना दिया। पश्चात्, श्रावकों ने उन-उन स्थानों पर चरण-चिह्न स्थापित कर दिये।

वर्तमान में तीर्थराज सम्मोदशिखर का एक स्थापित नाम है— पार्श्वनाथ हिल। यह झारखंड के हजारीबाग जिले में स्थित है। यहाँ पहुँचने के लिए गया-दिल्ली मार्ग पर पार्श्वनाथ स्टेशन पर उतरना होता है। स्टेशन से लगभग एक फ्लाँग की दूरी पर 'ईसरी' गाँव में दो दिगम्बर धर्मशालाएँ— तेरापन्थी और बीसपन्थी— बनी हुई हैं। फाटक के भीतर ही शिखरबन्द एक भव्य मन्दिर है। यहीं पर राष्ट्रसन्त क्षु. गणेशप्रसाद वर्णों की समाधि है।

ईसरी से लगभग 22 कि.मी. की दूरी पर पर्वत की तलहटी में 'मधुवन' है। यहाँ तेरापन्थी और बीसपन्थी कोठी नाम से दो विशाल धर्मशालाएँ तथा एक श्वेताम्बर धर्मशाला है।

सम्मोदशिखर की यात्रा के लिए ऊपर जाने के दो मार्ग हैं— एक तो नीमिया घाट से पर्वत की दक्षिण दिशा से है, जहाँ से सबसे पहले पार्श्वनाथ टोंक (इसे कूट भी कहते 100 :: जैनधर्म परिचय

हैं) पड़ती है। दूसरा मार्ग मधुवन की ओर से है। यात्रियों के लिए यही मार्ग सुविधाजनक है। कुल यात्रा अठारह मील की है। स्नान करके प्रातः तीन-चार बजे से यह यात्रा प्रारम्भ होती है तथा शाम तक यात्री लौट आते हैं।

पर्वत पर ऊपर पहुँचने पर सर्वप्रथम गौतम स्वामी की टोंक मिलती है। यहाँ से बायें मुड़कर पूर्व दिशा की ओर पन्द्रह टोंकों की वन्दना करनी होती है। चन्द्रप्रभ की टोंक अपेक्षाकृत दूर और ऊँचाई पर है। पूर्व दिशा की टोंकों की यात्रा के बाद बीच में जलमन्दिर होते हुए पुनः पश्चिम की टोंकों की वन्दना करते हुए पार्श्वनाथ टोंक पहुँचते हैं। यह अन्तिम टोंक है। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ का भव्य मन्दिर है।

तीर्थराज की वन्दना से साधक को बहुत पुण्यार्जन होता है। कहावत है— 'भावसहित बन्दै जो कोई ताहि नरक-पशुगति नहिं होई।'

प्रसंगतः राजगृही का संक्षिप्त उल्लेख कर देना उचित लगता है। राजगृही प्राचीनकाल से जैन नगरी रही है। इस नगर के प्राचीन नाम पंचशैलपुर, गिरिब्रज और कुशाग्रपुर भी मिलते हैं। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की जन्मनगरी होने का गौरव इसे प्राप्त है। यह ऋषभदेव और वासुपूज्य के अतिरिक्त शेष इक्कीस तीर्थंकरों की समवसरणभूमि भी रही है। भगवान महावीर के समय में इस नगरी का बड़ा महत्त्व था। इस नगरी में पाँच शैल (पर्वत) हैं। क्रम से पाँचों नाम हैं— ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, वलाहक पर्वत और पाण्डुक। इन पाँचों पर्वतों का नाम जैन साहित्य एवं पुराणग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। राजगृह बौद्धों का भी प्रमुख केन्द्र रहा है।

पावापुरी (बिहार)

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की निर्वाणस्थली है पावापुरी। 'तिलोयपण्णत्ति' में लिखा है कि भगवान महावीर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रत्युषकाल में स्वाति नक्षत्र के रहते हुए अकेले सिद्ध हुए :

कत्तियकिण्हे चोदसिपच्चूसे सादिणामणक्खत्ते।

पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥

प्राकृत 'निर्वाणभक्ति' की पहली गाथा है :

पावाए निव्वुदो महावीरो।

अर्थात् पावापुरी में महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ।

जिस स्थान पर महावीर का निर्वाण हुआ था, वहाँ अब एक विशाल सरोवर के बीच संगमरमर का एक भव्य मन्दिर निर्मित है। इसे जलमन्दिर कहते हैं। इस मन्दिर तक जाने के लिए एक प्रवेशद्वार है, जहाँ से लाल पाषाण का 600 फुट लम्बा पुल बना हुआ है। मन्दिर के सामने संगमरमर का एक विशाल चबूतरा है।

जलमन्दिर के सामने एक समवसरण मन्दिर है, जिसमें भगवान के चरण विराजमान हैं। वर्तमान में वहीं श्वेताम्बरों का भी समवसरण मन्दिर है। जलमन्दिर के कुछ ही दूरी पर पावापुरी सिद्धक्षेत्र दिगम्बर कार्यालय है। यहीं पर सात दिगम्बर जैन मन्दिरों का सपूह है। इनमें बड़े मन्दिर में भगवान महावीर की मूलनायक साढ़े तीन फुट श्वेत वर्ण की प्रतिमा वि. सं. 1950 में प्रतिष्ठित की गयी।

पावापुरी में भगवान महावीर के निर्वाण उत्सव पर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी से कार्तिक शुक्ल एकम् तक एक विशाल मेला लगता है।

मथुरा

हस्तिनापुर की तरह मथुरा भी प्राचीन काल से भारत का महान जैन तीर्थक्षेत्र रहा है। यह शूरसेन जनपद की राजधानी थी। हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार, मथुरा की गणना सप्तमहापुरियों में की जाती है। नारायण श्रीकृष्ण की जन्मभूमि एवं लीलाभूमि होने के कारण प्रतिवर्ष यहाँ देश-विदेश के लाखों यात्री आते हैं। यहाँ नगर के समीप ही चौरासी मथुरा सिद्धक्षेत्र है। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद अन्तिम केवली जम्बूस्वामी कई बार मथुरा पधारे और धर्मोपदेश दिया। अन्त में यहाँ के जम्बूवन में उनका निर्वाण हुआ, जिससे यह स्थान सिद्धक्षेत्र के नाम से ख्यात हुआ। कुछ समय पश्चात् विद्युच्चर मुनिराज के प्रभव आदि पाँच सौ मुनियों के साथ यहाँ के वन में पधारे और घोर तपस्या की। इसप्रकार प्रचलित मान्यतानुसार यह स्थान जम्बूस्वामी के निर्वाण और मुनिराजों के उपसर्ग एवं तपश्चरण की कथा के कारण सर्वविश्रुत है।

पुराण-साहित्य में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में और उन्हीं के वंश में उत्पन्न सत्यवादी राजा वसु की कथा प्रचलित है। एक बार झूठ के समर्थन में उसे नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ीं। कंस की राजधानी के कारागृह में कृष्ण के जन्म की कथा भी सर्वविख्यात है। महाभारतकालीन हस्तिनापुर से मथुरा और यहाँ के यादव वंश का बहुत सम्पर्क रहा।

मथुरा के समीप ही कंकाली टीले के उत्खनन से शक-कुषाण काल (लगभग ई.पू. प्रथम शती से दूसरी शती तक) की हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मों की मूर्तियाँ, मन्दिर और विपुल पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है। यहाँ जैन पुरातत्त्व की जो सामग्री मिली है, उसमें अनेक स्तूप, मूर्तियाँ, सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ, शिलालेख, आयागपट्ट, धर्मचक्र, तोरणस्तम्भ, वेदिकाएँ एवं अन्य बहुमूल्य कलाकृतियाँ हैं। अभिलेखों और प्राचीन साहित्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व से ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक यह जैनो का केन्द्र रहा है।

मथुरा में एक अन्य केन्द्र सप्तर्षि-टीला है। मथुरा के पास ही शौरपुर प्राचीन जैनक्षेत्र है, जहाँ तीर्थंकर नेमिनाथ के गर्भ और जन्मकल्याणक हुए। इनके अतिरिक्त यहाँ पर कई

अन्य वीतरागी मुनियों को केवलज्ञान और निर्वाण-प्राप्ति हुई। एक अन्य क्षेत्र वटेश्वर है। यहीं पर संवत् 1838 में निर्मित एक विशाल मन्दिर में महोबा से लाई गयी तीर्थंकर अजितनाथ की कृष्ण पाषाण की एक भव्य सातिशय पद्मासन मूर्ति विराजमान है।

कल्याणक क्षेत्र

अयोध्या

अयोध्या पूर्वी उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में अवस्थित प्राचीन नगरी है। 'आदिपुराण' में उल्लेख है कि यह संसार की आदि नगरी थी। इस नगरी की महिमा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'जिस नगरी की रचना करने वाले स्वर्ग के देव हों, अधिकारी सूत्रधार इन्द्र हों, उसकी सुन्दरता का भला क्या कहना!'

जैन मान्यता में इसे शाश्वत नगरी कहा गया है। प्रारम्भ से ही यह जैनधर्म की केन्द्र रही है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के गर्भ और जन्म कल्याणक तो यहाँ हुए ही हैं, दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ, चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथ, पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ तथा चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ—इन चारों तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक, इस प्रकार अठारह कल्याणक मनाने का सौभाग्य इस नगरी को प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि इसे तीर्थराज भी कहा गया है।

ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में यहीं से कर्मयुग का आरम्भ किया और छह कर्मों (असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य) का ज्ञान समाज को दिया। उनकी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी ने पिता से प्रेरणा पाकर क्रमशः लिपि और अंक विद्या का आविष्कार किया। समाज व्यवस्था के लिए वर्ण व्यवस्था रची। राजनीतिक व्यवस्था के लिए पुर, ग्राम, नगर, जनपद आदि की व्यवस्था की। और फिर अन्त में पुत्रों को राजपाट सौंपकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिदीक्षा धारण कर धर्ममार्ग को प्रशस्त करने का कार्य किया। कर्मयुग के आरम्भ में किया गया यह कार्य एक बड़ा साहसिक एवं विवेकपूर्ण कदम था।

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत ने सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना कर यहीं से सम्पूर्ण शासन किया। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के कारण इस नगरी को विशेष गौरव मिला है।

अयोध्या को लेकर कितनी ही पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाएँ व किंवदन्तियाँ जुड़ी हुई हैं।

अयोध्या में नगर के भीतर दो जैन मन्दिर और पाँच टोंकें हैं। भगवान आदिनाथ की टोंक उनकी जन्मभूमि पर है। 'हनुमानगढ़ी' नाम से प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिर यहीं पर है। वर्तमान में इसमें हनुमान की माता अंजना की मूर्ति विराजमान है।

प्रयाग

भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा धारण करने से पूर्व अपने पुत्रों को जिन विभिन्न नगरों के राज्य सौंपे, उनमें कोशलदेश का नगर पुरिमताल वृषभसेन नामक पुत्र को दिया था। पश्चात् वैराग्य हो जाने पर उन्होंने इस नगर के पास ही सिद्धार्थवन में एक वटवृक्ष के नीचे दीक्षा धारण की थी। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया था। इसी समय अनेक-अनेक राजाओं ने भी उनके साथ दीक्षा ग्रहण की। उसी समय से सिद्धार्थवन का नया नाम प्रयाग पड़ गया। इस सम्बन्ध में 'हरिवंशपुराण' (9.96) में आचार्य जिनसेन लिखते हैं :

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन् ।

प्रदेशःस प्रयागाख्यो यतः पूजार्थयोगतः ॥

अर्थात् तुम लोगों की रक्षा के लिए राज करने में कुशल भरत को नियुक्त किया है। तुम उनकी सेवा करो। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थानविशेष पूजा के कारण प्रयाग कहा जाने लगा। और जिस वटवृक्ष के नीचे उन्हें अक्षयज्ञान (केवलज्ञान) हुआ, वह अक्षयवट नाम से विख्यात है :

वट प्रयागतल जैनयोग धर्मो सदभासह ।

प्रकट्यो तीर्थप्रसिद्ध पूरनभवि मया अक्षय ॥ ('सर्वतीर्थवन्दना')

वर्तमान में प्रयाग म्यूजियम, इलाहाबाद में जैन पुरातत्त्व की कलाकृतियों का बहुत बड़ा संग्रह है। ये कलाकृतियाँ कौशाम्बी, पथोसा, गया आदि अनेक स्थानों से यहाँ लाकर रखी गयी हैं। इनमें चन्द्रप्रभ, सर्वतोभद्रिका, आदिनाथ, शान्तिनाथ और अम्बिका की मूर्तियाँ कलाकृति की दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण हैं।

प्रयाग प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ भी है। अब यह इलाहाबाद शहर का एक हिस्सा बन गया है। त्रिवेणी (गंगा-यमुना-सरस्वती) के संगम पर हर बारह वर्ष के अन्तराल पर विश्वप्रसिद्ध कुम्भ का मेला लगता है।

हस्तिनापुर

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में स्थित हस्तिनापुर की गणना प्राचीन नगरों में की जाती है। यह कुरुवंश की राजधानी तो थी ही, सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवें तीर्थंकर कुन्धुनाथ और अठारहवें तीर्थंकर अरहनाथ की जन्मभूमि भी है। यहाँ इनके गर्भ, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक भी हुए हैं। इस प्रकार यह तीन-तीन तीर्थंकरों की कल्याणकभूमि होने के कारण बहुत प्राचीनकाल से तीर्थक्षेत्र के रूप में मान्य रहा है। भगवान आदिनाथ का धर्मविहार भी यहाँ हुआ। भगवान आदिनाथ (ऋषभदेव) के लिए

राजा श्रेयांस द्वारा दिये गये आहार-दान की प्रसिद्ध घटना से इस नगरी को जो मान्यता मिली है, वह अप्रतिम है। यह पुण्यदिवस वैशाख शुक्ल तृतीया था, जिसे अक्षय तृतीया के नाम से जाना जाता है। मध्यकाल में कई राजनीतिक और प्राकृतिक कारणों से यह नगर शताब्दियों तक उपेक्षित रहा। यहाँ के प्राचीन मन्दिर और निषधिकाएँ नष्ट हो गयीं। सं. 1858 (सन् 1801) में दिल्ली के मुगलकालीन शाही खजांची राजा हरमुखराय ने एक भव्य जिन मन्दिर का यहाँ निर्माण कराया। आज यहाँ लगभग 5 कि.मी. की परिधि में उपर्युक्त तीनों तीर्थकरों के चरण-चिह्नों सहित नसियाँ हैं। वर्तमान में बाहुबली मन्दिर, चौबीस तीर्थकरों की टोंकें, जलमन्दिर, पांडुकशिला, समवसरण की रचना, कैलास पर्वत की रचना आदि दर्शनीय हैं। इस बड़े मन्दिर से कुछ ही दूरी पर जम्बूद्वीप की भव्य रचना की गयी है। सन् 1974 में गणिनी आर्यिका ज्ञानमतीजी की प्रेरणा से शास्त्रीय आधार पर 21 मीटर ऊँचे सुमेरु पर्वत की भव्य आकृति बनाई गयी है। इसी परिसर में कमलमन्दिर, त्रिमूर्तिमन्दिर, ध्यानमन्दिर और कलामन्दिर की निर्मिति दर्शनीय है। अभी-अभी एक अन्य उत्तुंग त्रिमूर्ति की प्रतिष्ठा इसी खुले परिसर में की गयी है। नगर के पास में यहीं भव्य श्वेताम्बर मन्दिर भी दर्शनीय है।

काशी

कल्याणकक्षेत्र काशी (वाराणसी) हिन्दू की प्राचीन तीर्थस्थली की तरह जैनों के प्रसिद्ध तीर्थों में से एक है। क्षेत्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि सातवें तीर्थकर भगवान सुपार्श्वनाथ के समय से ही हो गयी थी। यहाँ उनके गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक हुए। महाराज सुप्रतिष्ठ उस समय काशी के नरेश थे। तेईसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ की भी यह जन्मस्थली है। 'तिलोयपण्णत्ति' (4.458) में उनके जन्म के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख है :

हयसेण वम्मिलाहिं जादो हि वाराणसीए पासजिणो।

पूसस्स बहुल एक्कारसिए रिक्खे विसाहाए ॥

अर्थात् भगवान पार्श्वनाथ वाराणसी नगरी में पिता अश्वसेन और माता वम्मिला (वामा) से पौष कृष्ण एकादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान पार्श्वनाथ के गर्भ और दीक्षाकल्याणक भी यहीं हुए।

कहा जाता है कि किशोर पार्श्वनाथ जब सोलह वर्ष के थे, एक दिन क्रीड़ा के लिए नगर से बाहर निकले। वहाँ निकट ही वन में उन्होंने एक वृद्ध तापस को पंचाग्नि तप करते हुए देखा। वह कोई और नहीं, महिपाल नगर के राजा पार्श्वकुमार का नाना था। अपनी रानी के वियोग में वह तापसी बन गया था। उस समय वाराणसी वानप्रस्थ तपस्वियों का गढ़ था। पार्श्वकुमार तापस को नमस्कार किये बिना ही पास जाकर खड़े हो

गये। तापस को उनका यह व्यवहार अपमानजनक लगा। वह मन ही मन क्रोधित हुआ। तभी उसने बुझती हुई आग सुलगाने के लिए एक बड़ा-सा लकड़ उठाया और ज्यों ही उसे कुल्हाड़ी से काटने को हुआ कि पार्श्वकुमार ने अवधिज्ञान से जान लिया कि इस लकड़ में नाग-नागिन हैं। उन्होंने तापस को लकड़ चीरने के लिए मना किया तो तापस आग-बबूला हो उठा और लकड़ काट डाला, जिससे सर्प-सर्पिणी के टुकड़े हो गये। कुमार ने उन्हें मन्त्र सुनाया, जिससे सर्पयुगल मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती (यक्ष-यक्षिणी) हुए। कालान्तर में कषाययुक्त परिणामों से मरकर तापस भी असुर जाति का देव हुआ।

तीस वर्ष की अवस्था में पार्श्वकुमार को जाति-स्मरण हो जाने से वैराग्य हो गया और वाराणसी नगरी के बाहर ही अश्ववन में दीक्षा धारण कर ली।

भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्मस्थान वर्तमान भदौनीघाट है, जबकि भेलुपुरा में भगवान पार्श्वनाथ की जन्मस्थली है। आजकल उसी परिसर में दो दिगम्बर जैन मन्दिर हैं।

वाराणसी प्राचीन भारत की सात नगरियों में से एक है। यह स्थली काशी विश्वनाथ के कारण से सारे संसार में प्रसिद्ध है। इस नगरी का सम्बन्ध सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की विख्यात पौराणिक घटना से तो है ही, यह कवीर-तुलसी जैसे अनेक कवियों की रचनाभूमि रही है। यह नगरी हजारों वर्षों से विद्या केन्द्र रही है। यहाँ भारतीय वाङ्मय—दर्शन और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का प्राचीन केन्द्र है।

अहिच्छत्र

यह अतिशयक्षेत्र है। उत्तर प्रदेश के बरेली जिलान्तर्गत आँवला तहसील में यह स्थित है। प्राचीन काल में इस नगरी का नाम संख्यावती था। यह वही स्थान है, जहाँ तपस्यारत मुनिराज पार्श्वनाथ पर पूर्वजन्म के वैरी असुर कमठ ने घोर उपसर्ग किया और तभी धरणेन्द्र-पद्मावती यक्ष-यक्षिणी ने मुनिराज के ऊपर सहस्रफण फैलाकर उपसर्ग का निवारण किया। तब से इस नगरी का नाम अहिच्छत्र पड़ गया (तओ परं तीसे नगरीए अहिच्छत्र ति नाम संजायं— 'विविधतीर्थकल्प')। चैत्र कृष्ण चतुर्थी का वह दिन, यहाँ भगवान का ज्ञानकल्याणक हुआ। भगवान पार्श्वनाथ अपनी मुनिराज अवस्था में इस उपसर्ग से निर्लिप्त हो तपस्यारत रहे, उन्हें तभी केवलज्ञान हो गया। इन्द्रों और देवों ने आकर सोल्लास उनके ज्ञानकल्याणक की पूजा की।

अहिच्छत्र भारत की अति प्राचीन नगरी है। परवर्ती काल में यह उत्तर पंचाल की राजधानी बनी। महाभारत काल में द्रोण यहाँ के शासक थे।

वर्तमान में यहाँ क्षेत्र पर एक शिखरबन्द मन्दिर है। एक वेदी पर हरित पन्ना की भगवान पार्श्वनाथ की अतिशय चमत्कारी मूर्ति विराजमान है। यह 'तिखालवाले बाबा' नाम से जानी जाती है। कहा जाता है कि किन्हीं अदृश्य हाथों ने रातों-रात कुछ क्षणों में

ही एक दीवार खड़ी कर के उक्त मूर्ति के लिए तिखाल (वेदी) बना दिया। तब से उसे सातिशय प्रतिमा कहा जाता है। भक्तजन यहाँ आकर तिखालवाले बाबा का दर्शन कर अपनी मनोकामनाएँ पूरी करते हैं।

अहिच्छत्र के चारों ओर परिसर में आज भी कई भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। इनमें दो टीले उल्लेखनीय हैं। नाम हैं— ऐंचुली और ऐंचुआ। ऐंचुआ टीले पर एक विशाल उच्च चौकी पर भूरे बलुई पाषाण का सात फुट ऊँचा स्तम्भ है। लगता है, यह मानस्तम्भ रहा होगा, जिसके ऊपर का कुछ हिस्सा टूटकर गिर गया है। टीले के इस पाषाण-स्तम्भ को 'भीम की लाट' भी कहा जाने लगा है। किंवदन्ती यह भी है कि प्राचीन काल में यहाँ कोई सहस्रकूट चैत्यालय रहा होगा। कारण कि यहाँ खुदाई में अनेक जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

मन्दिर के बाहर उत्तर की ओर आचार्य पात्रकेसरी के चरण-चिह्न निर्मित हैं।

वैशाली

वैशाली (कुंडग्राम) भगवान महावीर की जन्मस्थली है। आजकल यह स्थान वषाढ़ गाँव के नाम से जाना जाता है। वैशाली कुंडपुर की इस भूमि को चारों ओर से सीमाचिह्न लगाकर कमलपुष्प के एक विशाल शिला-पट्ट पर महावीर स्मारक का निर्माण कराया गया है, जिस पर प्राकृत और हिन्दी में प्रशस्ति अंकित है। भगवान महावीर के जन्मस्थली का संकेत करने वाली यह प्रशस्ति है। वर्तमान में वैशाली में महावीर की जन्मस्थली पर एक भव्य मन्दिर के निर्माण की योजना है। बिहार-झारखंड प्रदेश के अन्य तीर्थ मिथिलापुरी, चम्पापुरी, मन्दारगिरि, राजगृही, गुणावा, पाटलिपुत्र, भद्रिकापुरी, उदयगिरि, खंडगिरि आदि अनेक प्रसिद्ध जैन तीर्थ-स्थल हैं।

अतिशय क्षेत्र

अतिशय क्षेत्र के मापले में मध्यप्रदेश पुरातत्त्व की दृष्टि से भी समृद्ध है। प्रायः सभी क्षेत्रों में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक प्राप्त होनेवाली सामग्री— मन्दिर, मूर्तियाँ, अभिलेख, स्तम्भ आदि सम्मिलित हैं। क्षेत्रों की सूची लम्बी है। कुछ-एक के नाम हैं— बजरंगगढ़, धूबौन, चन्देरी, सिहौनिया, पनागर, पटनागंज, अहार, पपौरा, कुंडलपुर, मक्सी, बीनाबारहा, मड़ियाजी।

बजरंगगढ़ क्षेत्र गुना से सात कि.मी. दक्षिण में है। यहाँ का विशेष अतिशय तीर्थकर शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ की कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित भव्य मूर्तियाँ हैं। ये सन् 1236 की हैं। अद्भुत है इन मूर्तियों का कला-कौशल और शिल्पविधान। इस त्रिमूर्ति में भूलनायक शान्तिनाथ की साढ़े चौदह फुट ऊँची तथा दायें-बायें कुंथुनाथ और

अरहनाथ की लगभग ग्यारह फुट ऊँची मूर्तियाँ हैं। जैन-जैनेतर यहाँ मन में कामनाएँ लेकर आते हैं।

गुना जिले के अन्तर्गत ही पहाड़ों के बीच-बीच धूबौन अतिशयक्षेत्र का विस्तार है। यहाँ मन्दिरों की संख्या पच्चीस है। अधिकांश मूर्तियाँ पन्द्रह-सोलह फुट अवगाहना वाली हैं। मन्दिर क्र.15 में भगवान आदिनाथ की मूर्ति पच्चीस फुट की है। मूर्ति के अतिशयसम्पन्न होने से इस मन्दिर की प्रसिद्धि भी सर्वाधिक है।

चन्देरी की पद्मासन चौबीसी का अपना महत्त्व है। चौबीस तीर्थंकरों की अत्यन्त कलापूर्ण ये मूर्तियाँ पुराणों में वर्णित तीर्थंकरों के वर्ण की हैं। चन्देरी का प्राचीन नाम 'चेदि' राष्ट्र से सम्बन्धित है। कर्मभूमि के प्रारम्भ में इन्द्र द्वारा जिन 52 जनपदों की रचना की गई थी, चेदि उनमें से एक है। एक समय जैन संस्कृति का यह केन्द्र रहा है। यहाँ से लगभग तीन कि.मी. दूर खन्दारगिरि है, जहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ और गुफाएँ चट्टानों में उकेरी गई हैं।

टीकमगढ़ के निकट एक मैदान में परकोटे के भीतर अवस्थित पपौरा अतिशयक्षेत्र है। यहाँ शताधिक मन्दिर हैं। गर्भगृह और वेदियों के कारण यह संख्या अधिक बन गयी है। इनका निर्माणकाल अलग-अलग है— बारहवीं से बीसवीं शती तक का। इस क्षेत्र के अतिशयों को लेकर अनेक किंवदन्तियाँ हैं। टीकमगढ़ से लगभग बीस कि.मी. अहार क्षेत्र है। इस स्थान का पुराना नाम मदनेशसागर भी मिलता है। यहाँ मन्दिरों की कुल संख्या तेरह है— ऊपर पहाड़ पर छह और मैदान में सात। क्षेत्र से लगभग दो कि.मी. दूर पहाड़ों के बीच एक विशाल गुफा 'सिद्धों की गुफा' है।

सागर जिले के अन्तर्गत रहली के पास अतिशयक्षेत्र 'बीना वारहा' के मुख्य मन्दिर में भूगर्भ से प्राप्त पन्द्रह फुट अवगाहना वाली भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति है। इस क्षेत्र का अभी-अभी बहुत विकास हो चुका है। पास ही पटनागंज अतिशयक्षेत्र है, यहाँ की विशेष प्रसिद्धि भगवान पार्श्वनाथ की कृष्णवर्णी सहस्रफणावली की चार फुट चार इंच की चमत्कारी मूर्ति के कारण है।

दमोह जिले में अवस्थित कुंडलपुर अतिशयक्षेत्र प्राचीन और प्रसिद्ध है। यह कुंडलाकार पर्वतमाला से घिरा हुआ है। सम्भवतः इस क्षेत्र का नाम इसी कारण कुंडलपुर पड़ा होगा। पहाड़ के नीचे क्षेत्र पर एक सरोवर भी है। पर्वत पर और नीचे तलहटी में कुल साठ मन्दिर हैं। पहाड़ पर मुख्य मन्दिर 'बड़े बाबा' का मन्दिर कहलाता है। आम जनता में मान्यता है कि इस मन्दिर की साढ़े बारह फुट उत्तुंग यह चमत्कारी मूर्ति भगवान महावीर की है, लेकिन मूर्ति के कन्धे पर लटकते जटाजूट एवं वेदी के अग्रभाग में ऋषभदेव की यक्ष-यक्षिणी उत्कीर्ण होने के कारण पुरातत्वविदों ने इसे तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति कहा है। अभी हाल प्राचीन मन्दिर के निकट ही एक विशाल मन्दिर का निर्माण कर उसमें बड़े समारोह के साथ बड़े बाबा की मूर्ति की स्थापना की जा चुकी है।

वर्तमान में इस क्षेत्र का बहुत विस्तार हो चुका है।

जबलपुर-दमोह मार्ग पर ही कैमूर पर्वत की तलहटी में हिरन नदी के तट पर अवस्थित अतिशयक्षेत्र कोनीजी क्षेत्र की प्रसिद्धि बढ़ गई है। यहाँ के गर्भ मन्दिर की प्रसिद्धि दैवीय चमत्कारों से अधिक रही है। विघ्नहर पार्श्वनाथ मन्दिर में लोग मनौती मनाने आते हैं। कुल नौ मन्दिर हैं। जिनमें सहस्रकूट जिनालय और नन्दीश्वर जिनालय का अपना महत्व है।

एक अन्य अतिशयक्षेत्र उदयगिरि विदिशा से छह कि.मी. पर अवस्थित है। यहाँ की बलुआ पाषाण और परतदार चट्टानों को काटकर गुफाएँ निर्मित हैं, जिनकी संख्या बीस है। गुफा क्र. 1 और 20 जैनों से सम्बन्धित हैं। यहाँ एक दीवार में गुप्तसंवत् 106 का अभिलेख अंकित है। इसकी पहली पंक्ति 'नमः सिद्धेभ्यः...' से प्रारम्भ हुई है।

मध्यप्रदेश के ही एक प्राचीन जनपद 'मालव-अवन्ती' में मक्सी पार्श्वनाथ, वदनावर, गन्धर्भपुरी, चूलगिरि, पावागिरि, सिद्धवरकूट, वनैडिया आदि क्षेत्रों की गणना की जाती है। यहाँ इनका नामोल्लेख कर देना ही काफी होगा।

राजस्थान में कोई सिद्धक्षेत्र नहीं है, न ही कल्याणकक्षेत्र। जो कुछ हैं वे या तो अतिशयक्षेत्र हैं (जिनकी संख्या लगभग बीस है) या फिर कलाक्षेत्र के प्रसिद्ध नमूने हैं। ऋषभदेव केसरिया, नागफणी पार्श्वनाथ, बिजौलिया, केशोराय पाटन, पंचपुरा, श्रीमहावीरजी, चमत्कारजी, चाँदखेड़ी, झालरापाटन, तिजारा आदि अतिशयक्षेत्र माने गये हैं।

श्रीमहावीरजी

दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र, श्रीमहावीरजी राजस्थान के सवाईमाधोपुर जिले में दिल्ली-मुम्बई हाइवे पर रेलवे स्टेशन से छह कि.मी. की दूरी पर अवस्थित है। तीर्थ के एकदम निकट गम्भीर नदी बहती है। यहाँ भगवान महावीर की अतिशय सम्पन्न जिस मूर्ति की ख्याति है, वह भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। किंवदन्ति है कि एक ग्वाले की गाय जंगल से चरकर जब घर लौटती तो उसके थन दूध से खाली हो जाते। एक दिन उस ग्वाले ने उस रहस्य को जानना चाहा। पता चला कि गाय एक टीले पर खड़ी है। उसके थनों से दूध स्वतः झर रहा है। ग्वाले को यह घटना एक पहेली की तरह लगी। उसने उस स्थान की खुदाई की तो इस मनोहारी मूर्ति के दर्शन हुए। बस फिर क्या था, जैन समाज के प्रमुख लोगों की वहाँ भीड़ लग गयी। पश्चात् समारोहपूर्वक मूर्ति को लाकर मन्दिर में विराजमान कर दिया गया। लोग अतिशयों से आकर्षित होकर दर्शनार्थ आने लगे और धीरे धीरे यह स्थान विशाल तीर्थ बन गया। आज राजस्थान का यह सबसे प्रसिद्ध तीर्थ है।

भगवान महावीर की इस मूर्ति का शिल्पांकन गुप्तकाल के बाद का है। यह ठोस

ग्रेनाइट की न होकर रवादार बलुये पाषाण की है। यहाँ यात्रा पर आनेवाले नर-नारियों में अत्यन्त उमंग और अद्भुत स्फुरणा देखी जाती है। अब तो यहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो चुका है, जिसके चारों ओर धर्मशालाएँ हैं। विशाल मानस्तम्भ है। मूल नायक के अलावा मन्दिर में दायें-बायें अनेक देवियाँ हैं। इसी मन्दिर के नीचे के परिसर में क्षेत्र का कार्यालय है और सरस्वती भवन है।

आज इस क्षेत्र का बहुत विस्तार हो चुका है। क्षेत्र पर कई सेवाभावी संस्थाएँ हैं। एक महिला महाविद्यालय भी है।

नदी के उस पार पूर्वी किनारे पर शान्तिवीर नगर है। यहाँ एक विशाल मन्दिर है जिसमें 28 फुट ऊँची शान्तिनाथ की विशाल मूर्ति के अतिरिक्त चौबीस तीर्थंकरों और उनके शासनदेवताओं की मूर्तियाँ विराजमान हैं। एक गुरुकुल भी है।

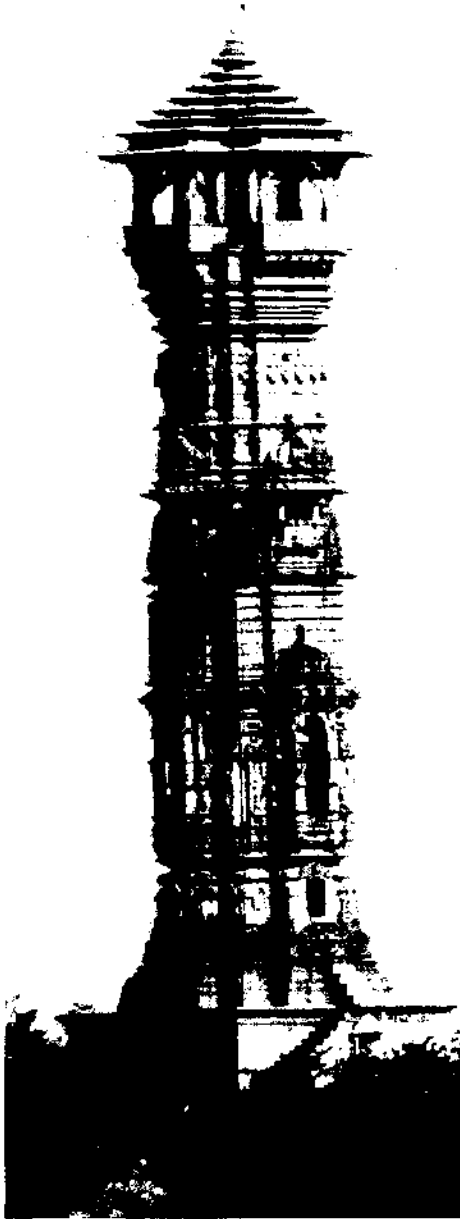
महावीर जयन्ती के अवसर पर इस अतिशयक्षेत्र पर प्रतिवर्ष एक सप्ताह तक विशाल मेले का आयोजन होता है। दीपावली के अवसर हजारों की संख्या में जैन यात्रियों के साथ-साथ मीणा, गूजर, जाटव आदि भी बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं।

तिजारा

अतिशयक्षेत्र के स्थापनाकाल से पूर्व इस स्थान को 'देहरा' (देवालय) कहा जाता रहा है। अनुश्रुति है कि पहले यहाँ जैन मन्दिरों के खंडहरों का एक बड़ा सा टीला था। सन् 1956 में इस टीले की खुदाई में चन्द्रप्रभ की एक मनोहारी मूर्ति प्रकट हुई, जिसे सर्वप्रथम एक काष्ठ सिंहासन पर विराजमान कर दिया गया। पन्द्रहवीं शती में निर्मित इस मूर्ति के सामने अखंड ज्योति जलाई गयी, जो आज भी प्रज्वलित है।

सच तो यह है कि राजस्थान में चौहान, परमार, सिसोदिया आदि अनेक राजपूत राजवंशों ने राज किया है। इनमें कोई जैन नरेश नहीं था, किन्तु उदयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, भरतपुर आदि राज्यों में अमात्य, प्रधान सेनापति एवं कोषाध्यक्ष पदों पर प्रायः जैन नियुक्त किये जाते थे। इसका कारण शायद जैनों की चारित्रिक दृढ़ता और ईमानदारी रही है। जैन आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहे हैं। राज्य को आवश्यकता पड़ने पर धन जुटा सकते थे। महाराणा प्रताप ने सेनापति भामाशाह की पूँजी से सेना जुटाकर अपनी मातृभूमि को दुश्मनों से मुक्त कराया था।

महाराष्ट्र में भी अनेक अतिशयक्षेत्र हैं। साथ ही गजपन्था, माँगीतुंगी और कुन्थलगिरि निर्वाणक्षेत्र भी हैं, जहाँ से अनेक वीतरागी मुनिराजों ने तपश्चरण कर मुक्ति प्राप्त की। गुजरात प्रदेश के तीर्थस्थल हैं— तारंगा, सोनगढ़, शत्रुंजय, घोघा, पावागढ़, विघ्नहर पार्श्वनाथ, अंकलेश्वर, अमीक्षरो पार्श्वनाथ मुख्य हैं।



चिनोड (गजस्थान) स्थित कीर्तिस्तम्भ

चाँदखेड़ी

यह झालावाड़ जिले के खानपुर कस्बे से लगभग तीन फर्लांग की दूरी पर रूपली नदी के तट पर अवस्थित है। यहाँ पर भगवान आदिनाथ की बहुत ही कलापूर्ण मूर्ति विराजमान है। यह मूर्ति अनेक चमत्कारों एवं अतिशयों से सम्पन्न है। मुख पर शान्ति और करुणा की निर्मल भावप्रवणता है। सच ही, मूर्ति के दर्शन से भक्तजन को अपार शान्ति मिलती है।

पद्मपुरा

यह क्षेत्र जयपुर से 34 कि.मी. दूर दक्षिण में स्थित है। यहाँ भी खुदाई में श्वेत पाषाण भगवान पद्मप्रभ की एक पद्मासन मूर्ति प्राप्त हुई थी। आज यहाँ एक विशाल मन्दिर है। यह मन्दिर इतना भव्य है कि पूरे राजस्थान में इसकी ख्याति है।

केशोराय पाटन

अतिशयक्षेत्र केशोराय पाटन बूँदी जिले से 43 कि.मी. चम्बल नदी के उत्तर तट पर अवस्थित है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही इस स्थान की तीर्थ के रूप में प्रसिद्धि रही है। यहाँ मुनिसुव्रतनाथ की चमत्कारी मूर्ति विराजमान है। कहा जाता है कि मोहम्मद गोरी राजस्थान विजय के सिलसिले में यहाँ भी पहुँचा था। उसके सैनिकों ने मूर्ति तोड़ने का प्रयास किया, लेकिन असफल रहे।

चित्तौड़ का किला (जैन कीर्तिस्तम्भ)

स्थानीय जनता इस स्तम्भ को 'कीर्तम' कहती है। 75 फुट ऊँचे इस स्तम्भ का व्यास 31 फुट है। ऊपर जाकर यह 15 फुट रह गया है। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार यह प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ को वि. सं. 952 में अर्पित किया गया था। निश्चय ही शिल्प का यह अनुपम उदाहरण है। इसके चारों कोनों पर आदिनाथ की खड्गगासन में पाँच फुट अवगाहना वाली दिगम्बर मूर्तियाँ हैं। जयस्तम्भ की अपेक्षा यह प्राचीन है।

ऋषभदेव (केसरियाजी)

राजस्थान के उदयपुर जिले में यह तीर्थ अतिशयक्षेत्र के रूप में विख्यात है। यहाँ ऋषभदेव की साढ़े तीन फुट अवगाहना वाली पद्मासन में काले पाषाण की भव्य मूर्ति विराजमान है। इस मूर्ति के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। भक्तजन यहाँ आकर भगवान के चरणों में केशर चढ़ाते हैं और मनौती मनाते हैं। यहाँ मन्दिर के

आसपास कई शिलालेख उत्कीर्ण हैं।

माउंट आबू

आबू पर्वत (दिलवाड़ा, राजस्थान) पर विश्वविख्यात अनेक जैन मन्दिर हैं। सभी के सभी शिल्पकला के अद्भुत नमूने हैं। ये सब सफेद संगमरमर से बने हुए हैं। इनके स्तम्भों, तोरणों और छतों की सूक्ष्म कला दर्शनीय है। इन अद्भुत कला के निर्माता राजमन्त्री विमलशाह (बारहवीं शती) और वास्तुकार तेजपाल रहे हैं। एक दिगम्बर मन्दिर को छोड़कर बाकी सभी श्वेताम्बर मन्दिरों का समूह है।

सोनगढ़

सोनगढ़ गुजरात प्रदेश के भावनगर ज़िले में स्थित है। वैसे यह कोई तीर्थस्थान नहीं है, लेकिन सन्त कानजीस्वामी के कारण इसका महत्त्व किसी भी तीर्थ से कम नहीं है। वर्तमान में यहाँ सीमन्धरस्वामी दिगम्बर जैन मन्दिर, मानस्तम्भ, समवसरण मन्दिर, परमागम मन्दिर, नन्दीश्वर मन्दिर, कुन्दकुन्द प्रवचनमंडप, स्वाध्याय मन्दिर आदि अनेक आयतनों का निर्माण हो चुका है।

गुजरात की तरह महाराष्ट्र में भी कुछेक निर्माणभूमियों के अतिरिक्त अनेक गुहा मन्दिर हैं। गजपन्था निर्वाणभूमि है। यहाँ से सात बलभद्र और आठ कोटि मुनि यादव मुक्त हुए। पुरातत्त्व की दृष्टि से इसका सर्वाधिक महत्त्व है। एक अन्य निर्वाणस्थली है— माँगीतुंगी। यहाँ से राम, हनुमान, सुग्रीव आदि निन्यानवे कोटि मुनिराजों को तपस्या करके मुक्ति पायी। दरअसल माँगी और तुंगी एक ही पर्वत के दो शिखर हैं, जो एक-दूसरे से मिले हुए हैं। कहा जाता है कि निकट प्राचीन काल में यह एक बहुत बड़ा नगर था जो 'मूलहेड़' नाम से जाना जाता था।

माँगी शिखर पर एक गुहा है, जिसमें मूलनायक महावीर की तीन फुट अवगाहना वाली श्वेत पद्मासन मूर्ति विराजमान है। तुंगी शिखर पर भी एक गुफा है जहाँ रामचन्द्र, नील, गवाक्ष आदि की वीतरागी मुनिअवस्था की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। तलहटी में भी तीन जैन मन्दिर हैं।

चाँदवड़ का गुहा मन्दिर

यह चन्द्रनाथ दिगम्बर जैन गुफा के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें अनेक जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। कलिकुंड पार्श्वनाथ— यह महाराष्ट्र के साँगली जिले में अवस्थित है। इसका प्राचीन नाम कौडिन्यपुर है। प्राचीन काल में यह करहाटक शासन के अन्तर्गत था। मान्यता है कि करहाटक एक समय शास्त्र विद्या और शस्त्र विद्या का विश्वविद्यालय था। कुम्भोज बाहुबली— यह कोल्हापुर जिले में है। महामुनि बाहुबली के नाम से पूरे क्षेत्र में इसकी

प्रसिद्धि है। यहाँ बाहुबली स्वामी की अटूठाइस फुट ऊँची श्वेत मकराना पाषाण की भव्य खडगासन मूर्ति है। यहाँ एक प्रसिद्ध जैन गुरुकुल मन्दिर है जिसमें बड़े विद्वान और आस्थावान त्यागी रहे हैं। इस महाविद्यालय ने अनेक परम्परागत विद्वान जैन समाज को दिए हैं। कुन्थलगिरि— यह सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से कुलभूषण और देशभूषण मुनिराजों ने निर्वाण प्राप्त किया। कुलभूषण और देशभूषण नाम से एक मन्दिर भी है। दोनों मुनिराजों के वहाँ चरणचिह्न हैं। आचार्य शान्तिसागर महाराज का समाधिमरण इसी क्षेत्र पर हुआ था। धाराशिव की गुफाएँ— धाराशिव की गुफाएँ 'लयण' कहलाती हैं। ये उस्मानाबाद शहर के निकट हैं। इन गुफा-मन्दिरों का इतिहास बहुत प्राचीन है। 'हरिषेण कथाकोश' में इन गुफाओं का विस्तार से वर्णन है।

एलोरा के गुफा-मन्दिर

औरंगाबाद से पश्चिम के तीस किलोमीटर दूर पर अवस्थित जगत-विख्यात गुहा मन्दिर हैं। इनकी संख्या चौतीस है। तीस से चौतीस नम्बर की गुफाएँ जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। शेष का सम्बन्ध बौद्धधर्म से है। एलोरा अपने शिल्प-वैभव और स्थापत्य कला की दृष्टि से अद्वितीय है। यहाँ पार्श्वनाथ और बाहुबली की मूर्तियों की कला का वैविध्य दिखाई देता है। शासन देवी-देवताओं में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, सिद्धार्थिका तथा गोमेद, मातंग और धरणेन्द्र की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

कलाक्षेत्र में कर्नाटक के तीर्थों के सन्दर्भ में अपनी दृष्टि को कहीं अधिक विस्तार देना होगा। दरअसल यहाँ श्रद्धा और भक्ति, कला और स्थापत्य के माध्यम से साकार की है। गोमटेश्वर बाहुबली के प्रति भक्ति को कला-मर्मज्ञों ने पर्वत-खंड में जो मनमोहक रूप दिया है, वह अपने आप में अद्वितीय है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द, सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र, वीरमार्तण्ड चामुंडराय, महिमामयी काललदेवी, कूशर्माडिनी, महादेवी शान्तला इन सबके आख्यानों ने यहाँ के मन्दिरों, शिलालेखों, मानस्तम्भों और भित्तिचित्रों में अपना इतिहास प्रतिष्ठापित किया है। इन मूर्तियों और मन्दिरों के पीछे जो कई-कई विचित्र घटनाएँ हुई हैं, उससे ये कलाक्षेत्र मात्र कला के क्षेत्र न रह कर अतिशयक्षेत्र बन गये हैं। कर्नाटक के ये स्थान, जिन्हें तीर्थ-वन्दना में शामिल किया जाता है, उनमें— श्रवणबेलगोल, वेल्लूर, धर्मस्थल, वेणूर, मूडबिद्रि, कारकल, बारांग, कुन्दकुन्दवेट्ट (कुन्दाद्रिगिरि), हुमचा सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

श्रवणबेलगोल

सम्पूर्ण भारत में सबसे अधिक विख्यात परम पावन जैन तीर्थ है। कला-इतिहास और अतिशय-सम्पन्नता के कारण इसकी महिमा अन्य तीर्थों की तुलना में कहीं अधिक

है। यह कर्नाटक के हासन जिले में बैंगलोर से एक सौ चालीस कि.मी. दूर स्थित है। प्राचीन समय में यह जैन साधुओं (श्रमणों) की तपोभूमि रही है। ऐसा कहा जाता है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने दिगम्बर अवस्था धारण कर यहाँ एक पहाड़ी पर तपस्या की थी। यहाँ भद्रबाहु के चरण-चिह्न स्थापित हैं। साथ ही सम्राट चन्द्रगुप्त की स्मृति में एक जिन-मन्दिर (चन्द्रगुप्त वसदि) और चित्रावली भी है। इस पहाड़ का नाम ही चन्द्रगिरि पड़ गया है। यहाँ इस पहाड़ पर और इस नगर के आसपास इतिहास के साक्षी लगभग पाँच सौ शिलालेख हैं। इसी पर्वत पर और भी कई प्राचीन बसदियाँ हैं, जिनमें शान्तिनाथ बसदि, शासन बसदि, चन्द्रप्रभ बसदि, सवतिगन्धवारण बसदि और चामुंडराय बसदि प्रमुख हैं। पर्वत के उत्तर द्वार से नीचे उतरने पर जिननाथपुर के मन्दिर के दर्शन होते हैं। यह होयसल चित्रकारी का अद्भुत नमूना है।

दूसरा पर्वत विन्ध्यगिरि है। इन दोनों के बीच कल्याणी सरोवर है। विन्ध्यगिरि, जहाँ पर बाहुबली की उत्तुंग मूर्ति है, पर जाने के लिए पाँच सौ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। बाहुबली के अतिरिक्त इस पर्वत पर ब्रह्मदेव मन्दिर, चेन्नण बसदि, ओदेगल बसदि आदि अनेक मन्दिर हैं। ऊपर पहुँचने पर एक समतल घेरे में गोम्पटेश्वर बाहुबली की मनोज्ञ मूर्ति है। पास ही द्वार पर गुल्लिकाअज्जी की मूर्ति है। लोकश्रुति है कि बाहुबली मूर्ति की प्रतिष्ठा के अवसर पर मूर्ति निर्माता चामुंडराय ने हर्षित होकर जब अभिषेक किया तो दुग्ध की धारा सत्तावन फुट उत्तुंग इस मूर्ति की कमर के नीचे नहीं जा रही थी। कारण था, चामुंडराय का अपनी इस निर्मिति पर उत्पन्न अहं भाव। गुल्लिकाअज्जी ने उनका अहंकार दूर कर विनय-पाठ पढ़ाया था। यह अज्जी और कोई नहीं, क्षेत्र की देवी कूशमांडिनी ही थी, जो गरीब वृद्धा भक्तिन बनकर आई थी और अभिषेक सम्पन्न किया था।

क्षेत्र पर गाँव में कई दर्शनीय बसदियाँ हैं। इनमें भंडारी बसदि नाम से सबसे बड़ा मन्दिर है। इसके अतिरिक्त अक्कन बसदि, मंगावि बसदि, सिद्धान्त बसदि आदि अनेक जिनालय हैं। यहीं भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी का निवास-स्थान जैन मठ है।

1981 में बाहुबली सहस्राब्दी महामस्तिकाभिषेक से अब तक इस क्षेत्र का बहुत विकास हुआ है। अनेक धर्मशालाएँ और विश्रामगृह के अतिरिक्त क्षेत्र की ओर से संचालित प्राकृत विद्या संस्थान एवं इंजीनियरिंग कॉलेज भी हैं।

तमिलनाडु में भी अद्भुत पुरावैभव के दर्शन होते हैं। वहाँ सारे प्रदेश में जिनमन्दिर, मूर्तियाँ, शिलालेख, गुहामन्दिर और उनमें उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ, चट्टानों में उत्कीर्ण मूर्तियाँ, अष्टधातु मूर्तियाँ, चूने की विशाल तीर्थंकर मूर्तियाँ, सरस्वती मूर्तियाँ, कलापूर्ण मानस्तम्भ, विशाल गोपुर, रथ तथा दीपमालिकाएँ— सभी कुछ वहाँ के धार्मिक और सांस्कृतिक वैभव को दर्शाते हैं। पिछले दिनों यहाँ के अनेक जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ है।

यहाँ के प्रमुख क्षेत्र— कांचीपुरम (कांजीवरम), चित्तंबूर (सित्तामूर), जिनपुरम, पोन्नूर तिरुमलई, स्तवनिधि, आरपक्कम, करन्दै, जिनकांची, सालुक्कई, वेलकुम, उपवेलूर,

थिरुप्परुथिकुण्डम हैं।

करन्दै

इस क्षेत्र की प्रसिद्धि 'मुनिगिरि' या 'अकलंकदेव बस्ती' के नाम से भी है। अकलंकदेव स्वामी का समाधिस्थल भी यहीं पर है। कहा जाता है कि अकलंकदेव के साथ शास्त्रार्थ में बौद्धों की पराजय यहीं पर हुई थी। यहाँ एक परकोटे के भीतर छहः मन्दिर हैं। इस क्षेत्र पर अठारह शिलालेख भी मिलते हैं। एक जैन तीर्थ है पोन्नूर तिरुमलई। यह आचार्य कुन्दकुन्द की तपोस्थली 'नीलगिरि' के नाम से जानी जाती है। कुन्दकुन्द स्वामी के चरणचिह्न भी बने हुए हैं। पास ही एक सुन्दर गुफा है। आरपक्कम में तीर्थंकर आदिनाथ का हजार वर्ष पुराना मन्दिर है, जो तमिलनाडु के कुलदेवता के रूप में जाना जाता है। दीप-मालिका, धातु की बड़ी-बड़ी प्रतिमाएँ, अष्टप्रातिहार्य और पंचमेरु दर्शनीय हैं। यहाँ पास में एक स्थान है वेन्कुड्रम। यहाँ काले और सफेद पाषाण की लगभग दो हजार वर्ष पुरानी मूर्तियाँ हैं। वेलुक्कम में आदिनाथ का एक विशाल मन्दिर है। यहाँ पर स्थित स्वर्णरथ के कारण इस क्षेत्र की प्रसिद्धि है। इस अद्भुत रथ के निर्माण में चार सौ किलो ताँबा और डेढ़ किलो सोना लगा है।

तमिलनाडु का सबसे अधिक ख्यात तीर्थस्थल है, तो वह है मेलसित्तामूर। यह जैन काँचीमठ के नाम से भी जाना जाता है। परकोटे के भीतर 68 खम्बों वाला एक विशाल मन्दिर है। जिसमें सभी तीर्थंकरों के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणी तथा अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। चूने की एक सफेद रंग की मूर्ति विशेष दर्शनीय है।

एक क्षेत्र अरहंतगिरि नवीन तीर्थ के रूप में विकसित हो रहा है। पार्श्वनाथ मन्दिर के अलावा यहाँ पंचदेवियों—ज्वालामालिनी, कुष्मांडिनी, पद्मावती, वराहदेवी और चक्रेश्वरी का मन्दिर अपनी विशेषता लिये हुए है।

तीर्थ क्षेत्रों पर जीर्णोद्धार, नव-निर्माण, विकास और विस्तार दिन-प्रतिदिन हो रहे हैं। जैन समाज इस कार्य में तन-मन-धन से सहयोग कर रही है। दरअसल इस पुनीत कार्य में प्रेरणास्रोत हैं हमारे मुनिराज। वे विहार करते हुए जिस क्षेत्र पर पहुँचते हैं वहाँ बहुत कुछ नव-निर्माण हो जाता है। नये-नये भव्य मन्दिर, विशाल धर्मशालाएँ, सभा-भवन जगह-जगह बन चुके हैं, बनते जा रहे हैं। बीसवीं शती में ये निर्माण बहुत बड़ी मात्रा में बहुत तेजी से हुए हैं।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में जैनों का योगदान

डॉ. कपूरचन्द्र जैन

श्री-समृद्धि सम्पन्न हमारे भारत देश पर अनेक वर्षों तक वैदेशिकों ने शासन किया। 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', 'उसे जो छीनना चाहे, उसका पूरी शक्ति लगाकर प्रतिरोध करना ही राष्ट्रीयता है' जैसी भावनाओं से प्रेरित होकर भारतीय जन-समूह स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ता रहा। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का सुगठित प्रारम्भ 1857 ई. की जनक्रान्ति से माना जाता है। 1857 से 1947 ई. के मध्य के 90 वर्षों में न जाने कितने शहीदों ने अपनी शहादत देकर आजादी के वृक्ष को सींचा, न जाने कितने क्रान्तिकारियों ने अपने रक्त से क्रान्तिज्वाला को प्रज्वलित रखा और न जाने कितने स्वातन्त्र्य-प्रेमियों ने जेलों की सीखच्चों में बन्द रहकर दारुण यातनाएँ सह्यीं। ऐसे व्यक्तियों के अवदान को भी कम करके नहीं आँका जाना चाहिए जिन्होंने जेल से बाहर रहकर भी स्वतन्त्रता के वृक्ष की जड़ों को मजबूती प्रदान की।

आजादी के आन्दोलन में भाग लेने वाले प्रत्येक देशप्रेमी की अपनी अलग कहानी है, अलग गाथा है। पुरानी स्मृतियाँ हैं, दुःखद अनुभव हैं। परिवार की बर्बादी है और शरीर पर आजादी की इबारतें हैं। किन्हीं के चेहरे पर, किन्हीं की पीठ पर, किन्हीं के पेट पर तो किन्हीं के पैरों पर इन इबारतों के निशान हैं। कोई परिवार से छूटा तो कोई शिक्षा से। कितने ही देशप्रेमी कितने ही दिन भूखे पेट रहे, जेल में कंकर-पत्थर मिली रोटियाँ खायीं वह भी अशुद्ध। किसी ने खायी तो बीमार पड़ गया, कोई बिना खाये ही दो-दो दिन भूखा रहा। किसी ने प्रतिवाद किया तो कोड़े खाये, किसी को गुनहखाने में डाल दिया गया।

आजादी के आन्दोलन में न जाति-पाँति का भेद था न छोटे बड़े का। न गरीब-अमीर की भावना थी न ऊँच-नीच का भाव था। सभी का एक ही लक्ष्य था—'हमें देश को आजाद कराना है, हमें आजादी चाहिए, मर जायेंगे, मिट जायेंगे पर आजादी लेकर ही रहेंगे।' फाँसी के फन्दे और गोलियों की बौछार उन्हें भयभीत नहीं कर सकी, जेल की दीवारों उन्हें रोक नहीं सकी, जंजीरें बाँध नहीं सकी, डंडे कुचल नहीं सके और परिवार की बर्बादी उन्हें अपने गन्तव्य से विचलित नहीं कर सकी।

स्वतन्त्रता संग्राम में जैनधर्मावलम्बियों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। अनेक

जैन शहीदों ने अपना बलिदान देकर आजादी के मार्ग को प्रशस्त किया तो अनेकों ने जेल की दारुण यातनाएँ सहों। अनेक माताओं की गोदें सूनी हो गयीं तो अनेक बहनों के माथे का सिन्दूर पुँछ गया। ऐसे लोगों का भी बहुत योगदान रहा जिन्होंने बाहर से आन्दोलन को सशक्त बनाया, जेल गये व्यक्तियों के परिवारों के भरण-पोषण की व्यवस्था की।

भारत के संविधान निर्माण और आजाद हिन्द फौज में भी जैनों ने महती भूमिका निभायी थी। जैन पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। कुछ पत्रों ने अपने आजादी सम्बन्धी विशेषांक निकाले तो कुछ ने स्वदेशी भावना सम्बन्धी विज्ञापन भी प्रकाशित किये थे। अनेक पत्रों में प्रकाशित लेखों के कारण उनकी जमानतें जल्द हो गयी थीं। स्वदेशी का प्रचार करने के लिए जैन बन्धुओं ने अपने मन्दिरों में स्वदेशी, हाथ से कती धोती/साड़ी पहनकर ही पूजा-अर्चना करने का प्रचार किया था और मन्दिरों में धोती/साड़ी की व्यवस्था भी की थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा शहीदों/सेनानियों पर बहुत कुछ लिखा गया। स्वतन्त्रता संग्राम में विभिन्न जातियों के योगदान पर पृथक्-पृथक् पुस्तकें भी लिखी गयीं, परन्तु सम्पूर्ण भारतवर्ष के जैन समाज के योगदान पर कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी। जैन समाज में इतिहास-लेखन के प्रति उदासीनता ही रही है। जैन आचार्यों, सम्राटों, सेनानायकों, कोषाध्यक्षों, मन्त्रियों, साहित्यकारों और कवियों तक का प्रामाणिक इतिहास हमारे पास नहीं है।

जैन समाज के इतने वृहद् योगदान की एक लेख में समाहित करना सागर को गागर में भरने जैसा है। फिर भी जैसा सम्भव है प्रयास कर रहे हैं। इस आलेख में प्रदेशवार कुछ महत्वपूर्ण सेनानियों के योगदान की चर्चा कर सकेंगे।

महात्मा गाँधी जब विलायत जाने लगे और उनकी माता ने मांसाहार, मदिरापान आदि के भय से भेजने से इनकार कर दिया तब एक जैन साधु वेचरजी स्वामी ने गाँधी जी को मदिरापान आदि न करने की प्रतिज्ञा दिलायी थी। इसी प्रकार गाँधी जी के जीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाले जो तीन पुरुष थे, उनमें रायचन्द्र भाई प्रमुख थे। धार्मिक, शंकाओं का समाधान गाँधी जी रायचन्द्र भाई से ही प्राप्त करते थे।

स्वतन्त्रता संग्राम में शहादत प्राप्त करने वाले प्रमुख जैन

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में 1857 का समर निर्णायक था। इस समर में विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने व विदेशी शासकों को देश से खदेड़ने के लिए छावनियाँ नष्ट की गयीं। जेलखाने तोड़े गये, सैकड़ों छोटे-बड़े खूनी संघर्ष हुए, भयंकर रक्तपात हुआ, अनगिनत सैनिकों का संहार हुआ, अनेक माताओं की गोदें सूनी हो गयीं, अवलाओं

का सिन्दूर पुँछ गया। हिन्दू, मुस्लिम, जैन, सिख आदि सभी जातियों व सभी धर्मों के देशभक्तों ने इस समर में अपना योगदान दिया था। अँग्रेजी सरकार को जिस व्यक्ति के सन्दर्भ में थोड़ा-सा भी यह ज्ञात हुआ कि इसका सम्बन्ध विद्रोह से है, उसे सरेआम फाँसी पर लटका दिया गया। अनेक देशभक्तों को सरेआम कोड़े लगाए गये, तो अनेक के परिवार नष्ट कर दिए गये, सम्पत्तियाँ लूट ली गयीं, पर ये देशभक्त झुके नहीं।

1857 की क्रांति में हाँसी (हरियाणा) के लाला हुकुम चन्द जैन एवं उनके भतीजे फकीर चन्द जैन तथा ग्वालियर (म.प्र.) के सिन्धिया परिवार के खजाने 'गंगाजली' के खजांची श्री अमरचन्द बाँठिया ने अपना बलिदान देकर आजादी का मार्ग प्रशस्त किया था।

अमर शहीद अमरचन्द बाँठिया के पूर्वज राजस्थान से आकर ग्वालियर (म.प्र.) में बस गये थे। सिन्धिया नरेश के खजाने (गंगाजली) में अटूट धन था जिसका प्रबन्ध बाँठिया जी की देखरेख में होता था। राष्ट्रीय अभिलेखागार, नयी दिल्ली एवं राजकीय अभिलेखागार, भोपाल में उपलब्ध दस्तावेजों के अनुसार 1857 में क्रान्तिकारी सेना की स्थिति राशन पानी के अभाव में बड़ी दयनीय थी। महारानी लक्ष्मीबाई की सेना को महीनों से वेतन नहीं मिला था। 5 जून, 1858 को अमरचन्द ने देशभक्ति से प्रेरित हो ग्वालियर का खजाना खोल दिया जिससे क्रान्तिकारी नेताओं ने अपनी सेनाओं को वेतन आदि वितरित किया।

इसी बीच अँग्रेजों ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया, एक दिखावटी कार्यवाही के बाद 22 जून, 1858 को राजद्रोह के अपराध में लश्कर (ग्वालियर) के भीड़ भरे सराफा बाजार में विग्रेडियर नेपियर द्वारा नीम के पेड़ से लटकाकर बाँठिया जी को फाँसी दे दी गयी। कठोर चेतावनी के रूप में उनका शव तीन दिन तक लटकाये रखा गया। फाँसी स्थल पर बाँठिया जी का स्टेच्यू स्थापित किया गया है।

अमर शहीद लाला हुकुमचन्द का जन्म 1816 में हाँसी (हिसार-हरियाणा) में प्रसिद्ध कानूनगो परिवार में हुआ। गणित और फारसी में उनकी विशेष रुचि थी। मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर से उनके बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में हुकुमचन्द जी की देशप्रेम की भावना अँगड़ाई लेने लगी। उन्होंने अपने मित्र मिर्जा मुनीर बेग के साथ गुप्त रूप से एक पत्र फारसी भाषा में मुगल सम्राट् को लिखा जिसमें युद्ध-सामग्री की माँग की गयी थी। यह सामग्री नहीं आ सकी। इसी बीच अँग्रेजों ने दिल्ली पर अधिकार कर मुगल सम्राट् को बन्दी बना लिया। 15 नवम्बर, 1857 को सम्राट् की व्यक्तिगत फाइलों की जाँच के दौरान यह पत्र अँग्रेजों के हाथ लग गया। पत्र के आधार पर एक दिखावटी अदालती कार्यवाही के बाद हुकुमचन्द जैन और मिर्जा मुनीर बेग को 19 जनवरी, 1858 को हुकुमचन्द जैन के मकान के

सामने फाँसी दे दी गयी। वहाँ खड़े हुकुमचन्द जैन के भतीजे फकीरचन्द को जबरदस्ती पकड़ कर फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया। धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाते हुए हुकुमचन्द के शव को भंगियों द्वारा दफनाया गया और बेग के शव को जला दिया गया। हुकुमचन्द जैन की स्मृति में हाँसी की नगर पालिका ने फाँसी स्थल पर 'अमर शहीद हुकुमचन्द पार्क' बनवाया है। जिसमें उनकी आदमकद मूर्ति लगी है।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में 1915-16, 1930-32 के आन्दोलन अति महत्वपूर्ण रहे हैं। 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन निर्णायक सिद्ध हुआ था। इन आन्दोलनों में जैन समाज के अनेक स्वतन्त्रता सैनिकों ने भाग लिया था तथा कुछ ने अपना बलिदान देकर आजादी का दीप प्रज्वलित किया था। 1915 में सोलापुर (महाराष्ट्र) के हुतात्मा मोतीचन्द शाह को आरा के महन्त की हत्या के आरोप में फाँसी पर लटका दिया गया था। फाँसी से पूर्व मोतीचन्द शाह ने खून से एक पत्र अपने मित्रों के नाम लिखा था।

हुतात्मा मोतीचन्द्र शाह का जन्म 1890 ई. में सोलापुर (महाराष्ट्र) जिले के करंकब ग्राम में सेठ पदमसी शाह के घर हुआ। सुप्रसिद्ध जैन सन्त आचार्य समन्तभद्र जी महाराज अपनी बाल्यावस्था में देवचन्द के रूप में मोतीचन्द के साथी थे। मोतीचन्द देवचन्द आदि ने जयपुर में क्रान्तिकारी अर्जुनलाल सेठी के विद्यालय में क्रान्ति का पाठ पढ़ा। उस समय क्रान्तिकारी दल का कार्य अर्थाभाव से ठप्प होता जा रहा था। अतः मोतीचन्द एवं उनके कुछ साथी युवकों ने निमेज के महन्त का धन हस्तगत करने हेतु डाका डाला। धन तो नहीं मिला किन्तु महन्त की मृत्यु हो गयी। इस अपराध में मोतीचन्द को फाँसी की सजा सुनाई गयी। Who's who of Indian Martyrs Vol.1 page 234 के अनुसार मार्च 1915 में उन्हें फाँसी दे दी गयी। फाँसी के पूर्व मोतीचन्द का वजन देश के लिए शहादत प्राप्त करने की प्रसन्नता में कुछ पौंड बढ़ गया था। उन्होंने जिनदर्शन व सामायिक कर फाँसी के फँदे को गले लगाया था।

1942 के आन्दोलन में मंडला (म.प्र.) के शहीद उदयचन्द जैन 19 वर्ष की अल्पवय में ही पुलिस की गोली लगने से 16 अगस्त, 1942 को वीरगति को प्राप्त हो गये। इसी प्रकार गढ़ाकोटा, जिला—सागर (म.प्र.) के शहीद साबूलाल वैसाखिया भी पुलिस की गोली लगने से 22 अगस्त को वीरगति को प्राप्त हुए। अहमदाबाद की कुमारी जयावती संघवी 5 अप्रैल, 1943 को आँसू गैस के प्रभाव से तथा अहमदाबाद के ही शहीद नाथालाल उर्फ नत्थालाल शाह 9 नवम्बर, 1943 को जेल में ही शहीद हो गये। इसी आन्दोलन में हातकणंगले जिला—सांगली (महाराष्ट्र) के शहीद अण्णा पत्रावले जेल से भागते हुए पुलिस की गोली से शहीद हो गये। सांगली के हाईस्कूल में उनका स्टेचू लगाया गया है। 1942 में ही इन्दौर के मगन लाल ओसवाल, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के भूपाल अण्णाप्पा अण्णास्कुरे; जबलपुर (म.प्र.) के मुलायम चन्द जैन,

दमोह (म.प्र.) के चौधरी भैयालाल, उज्जैन (म.प्र.) के चौथमल भंडारी, महाराष्ट्र के भूपाल पंडित, भारमल तथा हरिश्चन्द्र दगडोबा जैन शहीद हो गये थे। 1930 में सिलोंड़ी (जबलपुर) म.प्र. के कंधीलाल मंटूरूलाल जैन जंगल सत्याग्रह में शहीद हो गये थे। इन शहीदों के प्रति जैन समाज ही नहीं पूरा राष्ट्र नतमस्तक है।

स्वतन्त्रता संग्राम में जेल यात्रा करने वाली प्रमुख जैन महिलाएँ

स्त्री और पुरुष सृष्टि रूपी रथ के दो पहिये हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। विश्व के अधिकांश देशों में पुरुष प्रधान समाज रहा है। इसके अनेक कारणों में एक कारण प्राकृतिक भी है। नारी स्वभाव से कोमल और भावना प्रधान रही है, फिर भी समय आने पर वह राष्ट्र, परिवार, समाज के लिए अपना सब कुछ अर्पण करने में पीछे नहीं रही है।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में नारियों ने भी अपना जौहर दिखाया और अपने बलिदानों से इस देश की आजादी का मार्ग प्रशस्त किया। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का सुगठित आरम्भ 1857 की क्रान्ति से माना जाता है। इस आन्दोलन का नेतृत्व एक महिला रानी लक्ष्मीबाई ने किया था। अँग्रेजों के विरुद्ध उनकी लड़ाई इतनी सशक्त थी कि सम्भवतः पहली बार अँग्रेज चौंक गये थे। रानी लक्ष्मीबाई की गाथा जन-जन में व्याप्त है। बच्चे-बच्चे यह गाते मिल जायेंगे—‘खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।’

बेगम हजरत महल, बेगम जीनत महल, अवन्तिका बाई लोधी, एनी बेसेंट, कस्तूरबा गाँधी, सरला देवी साराभाई, मृदुलाबेन साराभाई, सुभद्रा कुमारी चौहान, राजकुमारी अमृत कौर, कमला देवी चट्टोपाध्याय, भगिनी निवेदिता, शोभा रानी डे, मातंगिनी हाजरा, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, लक्ष्मी स्वामीनाथन आदि वे महिलाएँ हैं, जिन्होंने संघर्ष का बिगुल बजाया, अनेक कष्ट सहे पर झुकी नहीं, ऐसी ही महिलाओं के योगदान से आज हम स्वतन्त्रता के वातावरण में साँस ले रहे हैं। इन्हीं महिलाओं के बलिदान और संघर्षों पर हमारी स्वतन्त्रता का भव्य प्रासाद खड़ा है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की चर्चा में महिलाओं के योगदान को प्रायः विस्मृत कर दिया जाता है। यह सही है कि सीधे संघर्ष में उतरने वाली महिलाओं की संख्या कम है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि यदि महिलाओं का योगदान न होता तो सम्भवतः आजादी की यह लड़ाई हम नहीं जीत पाते। पुरुष के जेल जाने पर या अन्य प्रकार से ऐसे आन्दोलनों में सक्रिय रहने पर महिलाओं को भीषण संकट के दौर से गुजरना पड़ता है। एक तरफ परिवार और बच्चों की चिन्ता तो दूसरी तरफ पति की, फिर भी

वे पति के कार्यों में सहयोग देती हैं, यही उनका सबसे बड़ा योगदान है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जैन महिलाएँ भी पीछे नहीं रहीं थीं। अहमदाबाद की कु. जयावती संघवी 1942 के आन्दोलन में शहीद हो गयीं थीं। 1930 की दांडी यात्रा में महिलाओं का नेतृत्व सरला देवी साराभाई ने किया था। अनेक महिलाएँ अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी जेल जाने से नहीं डरीं। अनेक ने परिवार को संभाल कर तथा दूसरे परिवारों की सहायता कर आन्दोलन को सशक्त बनाया था। सुन्दरदेवी जैसी महिलाओं ने कविताओं के माध्यम से जन-जागृति पैदा की थी। अनेक महिलाओं ने अपने आभूषण उतार कर सहाय्यार्थ दे दिये थे। एक प्रवासी भारतीय डॉ. प्राणजीवन मेहता की पुत्री रमा बहिन और पुत्रवधू लीलावती बहिन आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गयी थीं। महाराष्ट्र की रणरागिणी राजमती पाटिल गोवा से रेल के साधारण डिब्बे में हथियार रखकर लाती थीं और अपने क्रान्तिकारी साथियों को देती थीं। यहाँ कुछ प्रमुख महिलाओं का नामोल्लेख किया जा रहा है।

आगरा की श्रीमती अंगूरी देवी क्रान्तिकारी महिला के रूप में विख्यात थीं, ललितपुर की श्रीमती कमला देवी अपने पति क्रान्तिकारी पं. परमेश्वरी दास जी के साथ ही साबरमती जेल में बन्द रही थीं। सूरत की श्रीमती जयावेन दांडी यात्रा में साथ गयीं थीं। इनके अतिरिक्त श्रीमती कमला जैन (अलवर), कमला सोहनराज जैन (कानपुर), श्रीमती केशर (ललितपुर), काँचन मुन्नालाल शाह (गुजरात), श्रीमती गंगादेवी (मुरादाबाद), श्रीमती गंगाबाई (कानपुर), श्रीमती गोविन्द देवी पटुआ (कलकत्ता), श्रीमती चमेलीबाई जैन (दिल्ली), श्रीमती ताराबाई कासलीवाल (उज्जैन), श्रीमती धनवती रांका (नागपुर), श्रीमती नन्हीबाई (जबलपुर), श्रीमती प्रभादेवी शाह (महाराष्ट्र), श्रीमती प्रेमकुमारी विशारद (कोटा), श्रीमती पुष्पादेवी कोटेचा (सूरत), श्रीमती फूल कुँवर चौरडिया (नीमच), श्रीमती बयाबाई रामचन्द्र जैन (बर्धा), श्रीमती माणिक गौरी, श्रीमती राजूताई पाटिल (सांगली), श्रीमती लक्ष्मीदेवी (सहारनपुर), श्रीमती विद्यावती देवडिया (नागपुर), श्रीमती शीलवती जैन (बिजनौर), श्रीमती सज्जन देवी महनोत (उज्जैन), श्रीमती सरदार कुँवरबाई लूडिया (अजमेर), श्रीमती सरस्वती देवी रांका (नागपुर) आर्यिका सरवतीबाई, पंडिता सुप्रतिबेन शहा आदि महिलाएँ जेल यात्री रही हैं।

एक और महिला के उल्लेख के बिना यह लेख पूरा नहीं होगा। श्रीमती लेखबती जैन (सहारनपुर-उ.प्र.) सारे हिन्दुस्तान में निर्वाचित पहली महिला सदस्या थीं, जो 1933 में पंजाब प्रान्तीय काँग्रेस की सदस्या चुनी गयी थीं, वे जैन जाति की सरोजनी नायडू कही जाती थीं।

स्वतन्त्रता संग्राम में जेल यात्रा करने वाले

उत्तर प्रदेश एवं उत्तरांचल के प्रमुख जैन : उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल राजनैतिक चेतना सम्पन्न राज्य रहे हैं। उत्तर प्रदेश के ही पहाड़ी हिस्से को कर अलग उत्तरांचल राज्य बनाया गया है। जनसंख्या की दृष्टि से उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा राज्य रहा है, इसलिए केन्द्रीय राजनीति में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल के ललितपुर, झाँसी, मेरठ, बड़ौत, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, बिजनौर, देहरादून, कानपुर, फिरोजाबाद, आगरा आदि शहरों में बहुतायत से जैन समुदाय के लोग निवास करते हैं। पश्चिमी उ.प्र. के जैन उद्योग और व्यापार में अग्रणी हैं। बुन्देलखंड तथा मथुरा में जैन संस्कृति के प्राचीनतम अवशेष मिले हैं। जैन सांस्कृतिक दृष्टि से बुन्देलखंड का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल के अनेक जैन महानुभावों ने आन्दोलन में भाग लिया था और जेल यात्राएँ की थीं। आगरा के सेठ अचल सिंह पं. जवाहरलाल नेहरू के विश्वासपात्र व्यक्तियों में थे। मेरठ के श्री अजित प्रसाद जैन भारतीय संविधान सभा के सदस्य रहे थे। आगरा की श्रीमती अंगूरी देवी क्रान्तिकारी महिला के रूप में विख्यात थीं। ललितपुर के लगभग पच्चीस जैन जेल यात्री रहे हैं। अनेक महिलाएँ भी यहाँ से जेल गयीं। पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री ने स्वतन्त्रता आन्दोलन की सहभागिता के साथ जैन आगम ग्रन्थों का अनुवाद कर जैन संस्कृति को भी महनीय योगदान दिया है। बिजनौर के बाबू रतनलाल ने जेल में ही 'आत्म रहस्य' नामक पुस्तक लिखी थी।

मड़ावरा के सुप्रसिद्ध सन्त तथा 'जैन जगत के गाँधी' नाम से विख्यात क्षुल्लक गणेश प्रसाद 'वर्णी' ने आजाद हिन्द फौज की सहायता अपनी दो चादरों में से एक चादर दान में दे दी थी, जो बाद में नीलाम करने पर उस सस्ते जमाने में भी तीन हजार रु. में बिकी थी। यहाँ के अनेक कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से आन्दोलन में प्राण फूँके थे, इनमें ललितपुर के श्री हुकुमचन्द बुखारिया 'तन्मय' एवं बड़ौत के श्री शान्ति स्वरूप 'कुसुम' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 1942 के आन्दोलन में वाराणसी के श्री स्यादवाद महाविद्यालय के सभी छात्र क्रान्तिकारी हो गये थे। कानपुर के वैद्य कन्हैया लाल का पूरा परिवार ही जेल यात्री रहा है। सहारनपुर के भाई हंसकुमार के सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने लिखा है—

“17-18 साल की उम्र और पिढ़ी-सा शरीर। 1930 में रुड़की छावनी में फौजों को भड़काने के अपराध में उन्हें 4 साल की सख्त कैद की सजा सुनाई गयी तो जिले भर में सन्नाटा छा गया, पर वे हँसते हुए अपनी बैरक में लौटे और उस रात में इतना बढ़िया नाचे कि कैदी साथियों को वह आज भी याद है।...”

राजस्थान एवं गुजरात के प्रमुख जैन : राजस्थान और गुजरात राजनीतिक चेतना की दृष्टि से अग्रणी राज्य रहे हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का जन्म गुजरात में हुआ। गुजरात से ही अनेक बार क्रान्ति की चिंगारियाँ उठीं। गुजरात का अहमदाबाद तो राजनीति का गढ़ रहा ही है, अन्य बड़े शहर भी भारतीय राजनीति के केन्द्र बिन्दु रहे हैं। 'लौहपुरुष' के नाम से विख्यात सरदार वल्लभ भाई पटेल ने किसानों का आन्दोलन गुजरात के वारडोली से प्रारम्भ किया था। गुजरात में ही वल्लभ भाई पटेल को सरदार की उपाधि से विभूषित किया गया था। 1930 में महात्मा गाँधी ने सुप्रसिद्ध दांडी यात्रा यहीं से प्रारम्भ कर अंग्रेजी हुकूमत को हिला दिया था। राजस्थान में 'मारवाड़ लोक परिषद्' जैसी अनेक संस्थाओं ने जन-जागृति कर नवयुवकों को आन्दोलन के लिए प्रेरित किया था।

राजस्थान और गुजरात दोनों ही राज्यों में जैन समाज के लोग अत्यधिक मात्रा में निवास करते हैं। राजस्थान के जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि शहरों में बहुतायत से जैन समाज के लोग रहते हैं। सामाजिक और अर्थिक योगदान के साथ राजनीति में भी इन प्रदेशों के जैनों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जयपुर के पंडित अर्जुनलाल सेठी जैसे क्रान्तिकारियों के योगदान को कैसे विस्मृत किया जा सकता है, जिन्होंने क्रान्तिकारियों को तैयार करने के लिए जयपुर में जैन विद्यालय की स्थापना की थी। सेठी जो जैनधर्म के इतने कट्टर अनुयायी थे कि वैलूर जेल में बन्द होने पर जिनमूर्ति का दर्शन न कर पाने के कारण वे छप्पन दिन तक निराहार रहे थे। जयपुर के ही श्री छोटेलाल जैन के निधन पर महात्मा गाँधी ने सम्पादकीय लिखा था। सूरत के श्री छोटालाल घेलाभाई गाँधी 'छोटा गाँधी' के नाम से विख्यात थे, दांडी यात्रा के समय महात्मा गाँधी इन्हीं के निवास पर रुके थे। गुजरात की सरला देवी साराभाई ने दांडी यात्रा के समय महिलाओं का नेतृत्व किया था।

राजस्थान और गुजरात दोनों राज्यों के अनेक जैन बन्धुओं ने आजादी के आन्दोलन में जेल यात्रा कर तथा अन्य प्रकार से सहयोग देकर आजादी का मार्ग प्रशस्त किया था।

मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, कर्नाटक एवं आन्ध्र प्रदेश के प्रमुख जैन : राजनीतिक चेतना की दृष्टि से मध्य प्रदेश अग्रणी राज्य रहा है इसका पुराना नाम मध्य भारत या मध्य प्रान्त भी था। तब इसमें महाराष्ट्र का कुछ हिस्सा, जिसमें नागपुर प्रमुख है, था। विन्ध्य प्रदेश में वर्तमान मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के कुछ जिले थे। वर्तमान बुन्देलखंड में अब भी मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के जिले सम्मिलित हैं। वर्तमान छत्तीसगढ़ भी मध्य प्रदेश के कुछ हिस्से को अलग कर अलग राज्य बनाया गया है। महाराष्ट्र, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश की सीमाएँ मिली हुई हैं। इन सभी प्रदेशों के

स्वतन्त्रता-प्रेमियों ने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में प्रचुरता से भाग लिया था।

1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन बम्बई से ही प्रारम्भ हुआ था। 1930 में दांडी यात्रा के समय मध्य प्रदेश में जंगल सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ था क्योंकि अनेक लोग दांडी यात्रा में नहीं जा सके थे। इसी प्रकार झंडा सत्याग्रह, जागीर प्रथा विरोध, महुआ आन्दोलन आदि आन्दोलन भी इस प्रदेश में चले थे। मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में जैन सम्प्रदाय के लोग बहुतायत से निवास करते हैं, इनमें जबलपुर, सागर, दमोह, ग्वालियर, टीकमगढ़, छतरपुर, विदिशा, खंडवा, इन्दौर, रीवा, दतिया आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 1939 में जबलपुर (त्रिपुरी) में कांग्रेस का 52वाँ अधिवेशन हुआ। आस-पास के क्षेत्रों से हजारों की संख्या में उत्साही और देशभक्त नवयुवकों ने इसमें भाग लिया था। इस अधिवेशन में अनेक जैन बन्धुओं ने भाग लिया था और स्वयंसेवक का कार्य किया था।

1857 में ग्वालियर के सिंधिया परिवार के खजाने 'गंगाजली' के खजांची श्री अमरचन्द बांठिया ने महारानी लक्ष्मीबाई को प्रभूत धन दिया था। कुछ दिन बाद ही उन्हें 22 जून 1858 को सराफा बाजार के नीम के पेड़ पर फाँसी पर लटका दिया था। एक गम्भीर चेतावनी के रूप में उनका शव तीन दिन तक लटका रहा था। मंडला के उदयचन्द जैन, गढ़ाकोटा के साबूलाल बैसाखिया ने 1942 के आन्दोलन में शहादत देकर आजादी का मार्ग प्रशस्त किया था। सागर जिले से लगभग 100 जैन व्यक्ति जेल गये थे। इसी प्रकार जबलपुर के जैन जेलयात्रियों की संख्या भी अर्द्धशतक से ऊपर है, इस सन्दर्भ में जैन सन्देश लिखता है—'मध्यप्रान्त की जैन समाज सदा ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भाग लेती रही है। उसने राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को जन-मन-धन सभी से पूरा प्रोत्साहन दिया है और स्वयं भी सक्रिय भाग लिया है। अकेले इसी प्रान्त से इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक समाज के 500 से अधिक जैन सन् 42 के आन्दोलन में जेल गये और जो जेल नहीं गये, उन्होंने भी इस आन्दोलन को बाहर रह कर ही पूरा सहयोग दिया। इस सहयोग के फलस्वरूप कितनों को सरकार की नजरों में चढ़ना पड़ा और आर्थिक हानि सहनी पड़ी, यह आँकड़ों में बताना असम्भव है। इस आन्दोलन की तरह पिछले आन्दोलनों में भी जैनों का शानदार भाग रहा है। कांग्रेस के अधिकारी अच्छी तरह जानते हैं कि त्रिपुरी कांग्रेस में सेवा और धन दोनों ही रूप से जैनों का सबसे अधिक भाग रहा। इस प्रान्त में एक विशेषता यह भी रही है कि जैन केवल पिछली पंक्ति में ही नहीं रहे, बल्कि उन्होंने प्रान्त की राजनीति पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाला है। अनेकों मंडल, शहर, जिला कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारी जैन हैं। सेठ पूनमचन्दजी रांका तो वर्षों से प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति एवं प्रान्तपति हैं। वीर युवक उदयचन्द और साबूलाल के बलिदानों से तो इस प्रान्त

का मस्तक बहुत ही ऊँचा ही गया है। कुल मिलाकर इस प्रान्त ने राष्ट्रीय यज्ञ में जो आहुतियाँ दी हैं, वे स्वतन्त्र भारत के इतिहास में आदर के साथ स्मरण की जाएँगी।'

महाराष्ट्र के वर्धा, परभणी, औरंगाबाद, सांगली, सोलापुर तथा कर्नाटक के बेलगाम, मूलबिंद्रे, हासन, आन्ध्र प्रदेश के हैदराबाद आदि में पर्याप्त मात्रा में जैन बन्धु निवास करते हैं। इनके उपनामों के कारण इनको जैन रूप में पहचानने में कठिनाई सामने आयी। यहाँ के जैनों ने प्राणपण से राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया था। अमर शहीद मोतीचन्द शाह को 1915 में आरा के महन्त की हत्या के आरोप में फाँसी पर लटका दिया गया था। इसी प्रकार अमर शहीद अण्णापत्रावले, भूपाल अण्णस्करे, वीर सातप्पा टोपण्णावर आदि ने अपना बलिदान दिया था। रणरागिणी राजमती पाटिल क्रान्तिकारी महिला थीं, वे गोवा से चोरी-छिपे हथियार लाकर क्रान्तिकारी साथियों को देती थीं। दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा के प्रमुख जैन : दिल्ली भारतवर्ष की राजधानी होने से भारतीय राजनीति का केन्द्र-बिन्दु रही है। इसका पुराना नाम इन्द्रप्रस्थ था। इसी प्रकार पंजाब का पुराना नाम पंचनद था। वर्तमान पाकिस्तान में पंजाब का कुछ हिस्सा आता है, जिसमें गुजरावाला, स्यालकोट आदि नगर प्रसिद्ध हैं। हरियाणा पहले पंजाब में ही था, पुनर्गठन के बाद इसे अलग प्रदेश बनाया गया। इसी प्रकार हिमाचल भी पुनर्गठन के बाद अलग प्रदेश बना।

बिहार, बंगाल और उड़ीसा भी भारतीय राजनीति के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। जैन इतिहास की दृष्टि से बिहार और उड़ीसा में राजनीतिक संघर्ष चलता रहा है। मगध का सम्राट् जब उड़ीसा से 'कलिंग जिन' की मूर्ति उठाकर ले आया था, तब सम्राट् खारवेल मगध पर चढ़ाई कर उस 'कलिंग जिन' की मूर्ति को वापिस उड़ीसा ले गया था। खंडगिरि-उदयगिरि के प्रसिद्ध शिलालेख में इस घटना का उल्लेख खारवेल ने किया है। बंगाल में प्रवासी जैनों का बाहुल्य है, ये प्रायः राजस्थान से उद्योग-व्यापार के सिलसिले में यहाँ आये और यहीं बस गये।

दिल्ली में पर्याप्त मात्रा में जैन समुदाय के लोग निवास करते हैं। यहाँ उद्योग के साथ राजकीय सेवा में रत अनेक महानुभाव भी रहते हैं। चौदनी चौक के आस-पास का स्थान, जिसमें दरियागंज, दरीबाकलाँ आदि आते हैं, जैन-बहुल क्षेत्र हैं। सुप्रसिद्ध लाल मन्दिर यहाँ लालकिले के सामने बना है। दिल्ली में उ.प्र., हरियाणा, राजस्थान आदि से आये प्रवासी जैनों की भी अच्छी संख्या है। दिल्ली के जैन स्वतन्त्रता सेनानियों में कुछ ऐसे हैं जो दिल्ली के मूल निवासी हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने किसी अन्य प्रदेश में स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया, बाद में दिल्ली आकर बस गये। दिल्ली के जेल यात्रियों पर श्री फूलचन्द जैन ने एक वृहद् ग्रन्थ लिखा है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार जैन भी जेल यात्री रहे हैं। क्रान्तिकारी विमल प्रसाद जैन

‘दिल्ली षडयन्त्र केस’ के प्रमुख अभियुक्त रहे थे।

पंजाब, हरियाणा और हिमाचल में जैन जेल यात्रियों की संख्या नगण्य है। ‘हिमाचल प्रदेश के स्वतन्त्रता सेनानी’ पुस्तक के दो भाग देखने पर केवल एक जैन स्वतन्त्रता सेनानी मिला। 1933 में पंजाब प्रान्तीय कौंसिल का चुनाव जीतने वाली श्रीमती लेखवती जैन पूरे भारत में चुनाव जीतने वाली पहली महिला सदस्या थीं। श्री विजय सिंह नाहर बंगाल के उपमुख्यमन्त्री रहे थे।

पराधीन भारत के प्रायः प्रत्येक नागरिक की यह भावना थी कि— अँग्रेज यहाँ से जाएँ जिससे हम स्वतन्त्रता की आवाहवा में साँस ले सकें, यहाँ के निवासियों के अपने नियम हों, अपने कानून हों, उन्हें अभिव्यक्ति की, अपनी बात कहने की स्वतन्त्रता हो। यह शाश्वत सिद्धान्त है कि—‘पराधीनता की स्थिति में कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।’

‘स्वतन्त्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है’ यह भावना प्रायः प्रत्येक भारतीय के हृदय में घर कर चुकी थी। आजादी के लिए छोटी-बड़ी लड़ाइयाँ होती रहीं। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का संगठित आरम्भ 1857 की क्रांति से माना जाता है। इस आन्दोलन में सभी जाति और सम्प्रदाय के लोगों ने बिना किसी भेद-भाव के भाग लिया और अपनी शक्ति अनुसार योगदान दिया। कितने ही लोग शहीद हो गये। अनेकों ने जेल की दारुण यातनाएँ सही पर वे झुके नहीं। एक बार केसरिया बाना पहना तो वस हमेशा के लिए पहन लिया। उन्होंने आजादी प्राप्त कर ही दम लिया।

स्वतन्त्रता के इस आन्दोलन में वृद्धों, युवकों, बच्चों, महिलाओं सभी ने भाग लिया था। जैन समाज के लोग भी इसमें पीछे नहीं रहे। आन्दोलन के समय अनेक जैनों ने जेल की दारुण यातनाएँ सही, जो किसी कारणवश जेल नहीं जा सके, उनके योगदान को भी कम करके नहीं आँका जाना चाहिए।

जैन समाज प्रायः सभी प्रदेशों/प्रान्तों में धनिक समाज रहा है अतः इस समाज के लोगों ने आन्दोलन में भरपूर आर्थिक सहयोग दिया। अनेक लोग ऐसे हैं, जिन्हें पुलिस ने गिरफ्तार तो कर लिया किन्तु उम्र कम होने के कारण थाने में ही छोड़ दिया, अनेक लोग ऐसे भी हैं जो भूमिगत रहकर कार्य करते रहे, पुलिस लाख कोशिशों के बाद भी उन्हें गिरफ्तार नहीं कर सकी।

जब कोई व्यक्ति जेल चला जाता है तो उसके परिवार की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो जाना स्वाभाविक है। कमाने वाला न हो तो घर कैसे चले? इधर आमदनी बन्द उधर तरह-तरह के खर्चें। आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के कारण जैन समाज के लोगों ने जेल जाने वाले व्यक्तियों के परिवारों की चुपचाप भरपूर आर्थिक सहायता की थी।

अनेक लोगों ने ऐसे परिवारों को राशन-पानी पहुँचाया था। अहमदाबाद के श्री अम्बालाल साराभाई ने ब्रिटिश सरकार से मिले 'केसरे हिन्द' सम्मान को लौटाकर तहलका मचा दिया था।

आजाद हिन्द फौज और जैन

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में नेता जी सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द फौज का महनीय योगदान है किन्तु उनके योगदान का सही मूल्यांकन नहीं हो सका है। आचार्य दीपंकर ने ठीक ही लिखा है—'जिस महान् स्वतन्त्रता सेनानी और हुतात्मा का भारत के शासक वर्गों ने अभी तक सही-सही मूल्यांकन नहीं किया है, वह हैं नेता जी सुभाषचन्द्र बोस। उनका अत्यधिक गतिशील व्यक्तित्व, मातृभूमि के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, समाज को उद्देलित करने की असाधारण क्षमता और अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को स्वाधीनता संघर्ष में झोंक डालने का दीवानापन ऐसे अद्भुत गुण थे जिन्होंने करोड़ों भारतीयों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था और अपना उपासक बना लिया था।'

नेता जी सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द फौज को जैन समाज के लोगों ने भरपूर सहयोग दिया था। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन से ब्रिटिश हुकूमत डर गयी थी और उसे लगने लगा था कि हमें भारत छोड़ना पड़ेगा, किन्तु फिर भी किसी तरह वह लड़खड़ाते पैर जमाने की कोशिश कर रही थी। इधर आजाद हिन्द फौज की क्रान्तिकारी गतिविधियों से भी वह पूरी तरह घबरा गयी। इन सबकी परिणति 1947 में देश की आजादी के रूप में हुई।

1942 के आन्दोलन के समय भारत में क्रान्तिकारियों को जिस तरह की क्रूर सजाएँ दी जा रही थीं, उन्हें देखते हुए कई क्रान्तिकारी जापान, चीन, मलाया, बर्मा आदि देशों की ओर चले गये थे, और वहीं से अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन कर रहे थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रास बिहारी बोस ने जापान में शरण ली थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जब जापान ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तब टोकियो में एक सम्मेलन में रास बिहारी बोस की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गयी और निर्णय लिया गया कि बर्मा, मलाया, थाईलैंड आदि देशों में भी भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाया जाये।

जापानी फौजें जब मलाया की ओर बढ़ीं और सिंगापुर में अंग्रेज हार गये तब विजेता जापानी मेजर फूजीवारा ने भारतीय फौजों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि— 'जापान भारत के विरुद्ध नहीं है, अतः भारतीय सैनिक हमारे युद्ध बन्दी नहीं।' तब कैप्टन मोहन सिंह और ज्ञानी प्रीतम सिंह भारतीय फौजों के कमांडर बना दिए गये और उन्होंने जापान की सहायता से भारत को आजाद कराने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

तभी मलाया में रहने वाले भारतीयों ने भी 'इंडिया इंडिपेंडेंस लीग' नामक संस्था की स्थापना की। इसी लीग के नियन्त्रण में 'आजाद हिन्द सेना' संगठित करने का निर्णय लिया गया। कैप्टन मोहन सिंह इसके कमांडर बनाये गये और बीस हजार सैनिक इसमें शामिल हो गये। इसी समय सुभाषचन्द्र बोस गुप्त रीति से भारत से टोकियो पहुँचे। रास बिहारी बोस ने सिंगपुर में घोषणा कर दी कि—'अब आगे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व सुभाषचन्द्र बोस करेंगे।'।

26 जून, 1943 को सुभाषचन्द्र बोस ने टोकियो रेडियो से प्रवासी भारतीयों के नाम अपना पहला भाषण प्रसारित किया। बीस हजार भारतीय सैनिकों की शानदार परेड में उन्हें सलामी दी गयी। इस समारोह में जापानी प्रधानमन्त्री भी उपस्थित हुए थे। सुभाषचन्द्र बोस ने 'आजाद हिन्द फौज' के नाम की प्रसिद्ध अपील प्रकाशित की, जिसके अन्त में उन्होंने कहा था—“तुम मुझे खून दो—मैं तुम्हें आजादी दूँगा।” इसी के बाद सभी ने सुभाषचन्द्र बोस को 'नेताजी' उपनाम से पुकारना प्रारम्भ कर दिया था। जो लीग सेना में नहीं थे, उन्होंने धन से व अन्य प्रकार से फौज की सहायता करना प्रारम्भ कर दिया। आजाद हिन्द फौज में जैनियों ने भी बड़-चढ़कर सहयोग दिया था। धन-धान्य की अपरिमित सहायता इस समाज ने की थी। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के निजी चिकित्सक रहे कर्नल डॉ. राजमल कासलीवाल अपनी अंग्रेज सेना की कर्नली छोड़कर आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गये थे।

'Whos who in the world' में उल्लिखित एवं देश में चिकित्सा के उत्कृष्ट पुरस्कार 'बी.सी. राय अवार्ड' से सम्मानित डॉ. राजमल कासलीवाल, पुत्र-श्री मुंशी प्यारेलाल कासलीवाल का जन्म 20 नवम्बर, 1906 को जयपुर (राजस्थान) में हुआ। 1929 में लखनऊ विश्वविद्यालय से एम.बी.बी.एस. पास करने के बाद आप उच्च शिक्षार्थ इंग्लैंड चले गये जहाँ से 1931 में डी.टी.एम. एंड एच. तथा 1932 में लन्दन से एम.आर.सी.सी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। 1935 में 'इंडियन मेडीकल सर्विसेज' के अन्तर्गत आप भारतीय सेना में सम्मिलित हुए, जहाँ लेफ्टिनेंट कर्नल तक के विभिन्न पदों पर कार्य किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में आपको मलाया भेजा गया, जहाँ नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से आपकी भेंट हुई। नेताजी की देशभक्ति से इनमें देशभक्ति की भावना हिलोरें लेने लगीं। इधर नेताजी भी उनकी सेवाओं से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी 'आजाद हिन्द फौज' में सम्मिलित होने का आग्रह किया। कासलीवाल जी तत्काल 'आजाद हिन्द फौज' में सम्मिलित हो गये, जहाँ 1945 तक आप निदेशक 'चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवा' के पद पर रहे। आप नेताजी के निजी चिकित्सक भी थे।

कासलीवाल जी के सन्दर्भ में 'जैन सन्देश' राष्ट्रीय अंक (जनवरी, 1947) लिखता है—'आप डॉक्टरी की सर्वोच्च डिग्री पास करने के बाद सरकार द्वारा फौज को डॉक्टरी सहायता देने के लिए विशेष पद पर भेजे गये थे। किन्तु स्वतन्त्रता का दीवाना कब तक इस प्रकार गुलाम फौजों की चिकित्सा करता रह सकता था। आजाद हिन्द फौज के निर्माण होते ही आप सरकारी नौकरी छोड़कर उसमें जा मिले और नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के साथ उनके एक विश्वस्त सहयोगी के रूप में भारत की मुक्ति के लिए अनवरत प्रयत्न करते रहे। आप आजाद हिन्द फौज सरकार के मन्त्रिमंडल के एक सदस्य, डायरेक्टर ऑफ मेडीकल्स तथा नेताजी के पर्सनल डॉक्टर की हैसियत से सम्मानपूर्ण और दायित्वपूर्ण पदों पर रहे।' दिल्ली के लाल किले में अन्यो के साथ इन पर भी मुकदमा चला था।

आजादी के बाद कासलीवाल जी अगर मेडीकल कॉलेज के प्राचार्य, जयपुर मेडीकल कॉलेज के संस्थापक प्राचार्य, अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सा विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष, अ. भा. कांग्रेस कमेटी के सदस्य आदि अनेक पदों पर रहे। चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें तथा अनेक लेख देश-विदेश की पत्रिकाओं में आपके प्रकाशित हुए हैं। अनेक देशों की यात्रा भी इन्होंने की थी। प्रसिद्ध तीर्थ श्री महावीर जी के ये वर्षों तक अध्यक्ष/मन्त्री रहे।

विदेशों में रहने वाले अनेक प्रवासी भारतीय जो आजाद हिन्द फौज में शामिल नहीं हो सके थे, उन्होंने धनादि देकर आजाद हिन्द फौज की सहायता की थी। ऐसे व्यक्तियों में बर्मा में व्यापार के लिए गये एक प्रख्यात जैन उद्योगपति श्री चतुर्भुज सुन्दर जी दोशी के युवा छोटे भाई श्री मणिलाल दोशी का नाम अग्रगण्य है। मणिलाल जी नेता के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर आजाद हिन्द फौज में शामिल हो गये। वे फौज में एक दायित्वपूर्ण विभाग के मन्त्री रहे। जब बर्मा जापान के अधिकार से निकलकर पुनः अँग्रेजों के अधिकार में आया तो बर्मा सरकार ने इन्हें गिरफ्तार करके रंगून जेल में डाल दिया। आजाद हिन्द फौज के तमाम कैदी रिहा हो जाने के बाद भी बर्मा की अडियल सरकार ने दोशी जी को रिहा नहीं किया, फलतः श्री शरच्चन्द्र बोस के नेतृत्व में एक जोरदार आन्दोलन हुआ और भारत से उनकी पैरवी करने के लिए प्रसिद्ध वकील श्री के. एम. मुंशी और मि. के. एफ. नरीमन गये। अन्त में बर्मा सरकार ने दोशी जी को रिहा किया।

9 जुलाई, 1943 को नेताजी ने एक विशाल जनसभा में महिलाओं को भी आजादी की लड़ाई में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया, फलतः 'रानी झाँसी रेजीमेंट' की स्थापना हुई। अक्टूबर, 1943 में सिंगापुर में महिला कैम्प लगा, फिर मलाया व बर्मा के अन्य भागों में भी कैम्प लगे। इनमें महिलाओं को चिकित्सा, नर्सिंग, ड्रिल, नक्शे

देखना, युद्ध तकनीक, शस्त्र-संचालन आदि सेना के सभी क्षेत्रों का प्रशिक्षण दिया जाता था। आजाद हिन्द फौज की अस्थायी सरकार के नौ विभागों में नारी कल्याण भी एक विभाग रखा गया था। वह विभाग लेफ्टिनेंट कर्नल व रानी झाँसी रेजीमेंट की कमांडेंट लक्ष्मी स्वामीनाथन् (श्रीमती लक्ष्मी सहगल) को दिया गया था। तत्कालीन लोकप्रिय और प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. प्राणजीवन मेहता को पुत्री रमा बहन और पुत्रवधु श्रीमती लीलावती बहन आजाद हिन्द फौज की 'रानी झाँसी रेजीमेंट' में सम्मिलित हो गयी थीं। 'जैन सन्देश', राष्ट्रीय अंक (23 जनवरी, 1947) ने श्रीमती लीलावती बहन और रमा बहन की कहानी उन्हीं के शब्दों में प्रकाशित की थी, जिसे हम यथावत् साभार यहाँ दे रहे हैं—

श्रीमती लीलावती बहन—जब ब्रिटिशों ने रंगून छोड़ दिया और जापानियों ने रंगून पर अधिकार जमा लिया तब कुछ समय के लिए अन्धाधुन्धी मच गयी थी। कई मास तक भारतीय स्त्रियाँ घर से बाहर नहीं निकल सकी थीं। हमने अपने मकान पर एक बोर्ड लगा दिया था जिस पर लिखा था कि—“इस घर में महात्मा गाँधी, पं. जवाहर लाल नेहरू तथा अन्य भारतीय नेता आकर उतरे थे। इस घर में नेशनलिस्ट भारतीय रहते हैं।” इसे पढ़कर जापानी सोल्जर हमें कभी किसी भी तरह से हैरान नहीं करते थे।

श्री सुभाष बाबू ने मलाया और बर्मा में 'आजाद हिन्द फौज' और 'झाँसी की रानी रेजीमेंट' स्थापित करने के लिए भाषण दिये, तब हमारा सारा परिवार उनके भारतीय स्वातन्त्र्य संघ में सम्मिलित हो गया। 21 अक्टूबर, 1943 को बर्मा और मलाया में 'झाँसी की रानी रेजीमेंट' स्थापित करने का कार्य पूरा हुआ। रंगून में 10 बालकों को लेकर मेरे हाथ से कैम्प का उद्घाटन हुआ था। जब रात-दिन बम वर्षा होती थी तब भी आवश्यकता होने पर हम खुले मैदान में हथियारों के साथ सुसज्जित होकर खड़ी रहती थीं। हम घायलों की सेवा-सुश्रुषा करने और अस्पताल ले जाने का काम करती थीं। मेरा मुख्य काम सबेरे 11 बजे से शाम 5 बजे तक घर-घर जाकर स्त्रियों, लड़कियों और पुरुषों को आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित होने के लिए समझाना था।

रमा बहन—“हमारा कैम्प मिलिट्री कैम्प था। उसमें हमें प्रत्येक प्रकार का शस्त्र-संचालन और अनुशासन-पालन सिखाया जाता था। झाँसी की रानी रेजीमेंट में दो विभाग थे। एक युद्ध विभाग और दूसरा नर्सिंग विभाग। युद्ध विभाग में हमें मिलिट्री ड्रिल, रायफल के प्रेक्टिस, पिस्तौल चलाना, टोमीगन चलाना तथा मशीनगन चलाना सिखाया जाता था। मोर्चे पर आक्रमण करना और आत्मरक्षा करना भी सिखाया जाता था। नर्सिंग विभाग में उक्त शिक्षा प्राप्त बालकों को रखा जाता था।

हमें घायलों की दवा-दारू और सेवा-सुश्रुषा करना सिखाया जाता था। हमें घंटों खड़े रहकर घायलों की सेवा करनी होती थी। प्रायः सभी बहिनें कैम्प में रहकर काम

करने की अपेक्षा युद्ध क्षेत्र में जाकर लड़ने को अधिक आतुर रहती थीं। वे सब प्रसन्न थीं, इस आशा को लेकर कि उनके द्वारा भारत स्वतन्त्र होगा।”

आजाद हिन्द फौज को अपनी एक चादर देने वाले क्षु. गणेशप्रसाद ‘वर्णी’

जैन जगत के गौंधी नाम से विख्यात तथा अनेक विद्यालयों की स्थापना करने वाले क्षु. गणेशप्रसाद ‘वर्णी’ ने अपनी एक चादर आजाद हिन्द फौज को दान दे दी थी। आजाद हिन्द फौज के जाँबाज सैनिकों को बन्दी बनाया जा चुका था। उन पर लाल किले में राजद्रोह का मुकदमा चल रहा था। देश भर में असाधारण उत्तेजना, गुस्से और जोश की एक लहर दौड़ गयी थी, परिणामस्वरूप अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। मुकदमे के लिए काफी धन की आवश्यकता थी, अतः जगह-जगह धन एकत्रित करने के लिए सभाएँ हो रही थीं।

मध्य प्रदेश (तत्कालीन विन्ध्य प्रदेश) की संस्कारधानी जबलपुर में प्रसिद्ध साहित्यकार एवं राजनीतिज्ञ पं. द्वारका प्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में ‘आजाद हिन्द फौज’ की सहाय्यतार्थ एक सभा का आयोजन किया गया। इसी सभा में चादरधारी एक साधक भी बैठा था। सभी अपना क्रम आने पर बोलते जा रहे थे और कुछ राशि देते जा रहे थे। अन्त में इस साधक की भी बारी आयी। मात्र दो चादर परिग्रह रखने वाला देता भी तो क्या? पर देश की आजादी की उत्कट लालसा उसे लगी थी, साधक ने अपना भाषण पूर्ण किया और कहा—मेरे पास देने को कुछ द्रव्य तो है नहीं, केवल दो चादरें हैं, इनमें से एक चादर मुकदमे की पैरवी के लिए देता हूँ और मन से परमात्मा का स्मरण करते हुए विश्वास करता हूँ कि सैनिक अवश्य हो कारागार से मुक्त होंगे। इस सन्दर्भ में जैन सन्देश लिखता है कि—घटना नवम्बर सन् 45 की है। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। इस कड़ी ठंड में एक आम जैन सभा जबलपुर नगर में हो रही थी। सभापति थे मध्य प्रान्तीय सरकार के गृहसदस्य पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र। विशाल जन समूह उपस्थित था। इस सभा में कई विद्वानों के भाषणों के पश्चात् एक प्रस्ताव आजाद हिन्द फौजियों की रक्षार्थ आया। इस प्रस्ताव को सुनते ही, संसार से विरागी और परिग्रह त्यागी वर्णी जी का हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने उठकर लोगों से ‘आजाद हिन्द फौजियों’ की रक्षा के लिए सहायता देने का अनुरोध करते हुए कहा, “भईया! मेरे पास सिर्फ दो चादर हैं। उनमें से मैं एक चादर देता हूँ। यह जितने में बिके सो बेच लो। मैं तो उन आजाद हिन्द फौजियों की रक्षा के लिए अपना हृदय और यह चादर, दोनों अर्पण करता हूँ।”

वर्णी जी के त्याग और आजाद हिन्द फौजियों के प्रति सहानुभूति की प्रतीक इस चादर ने प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर, जो उस सभा में उपस्थित था, एक अनोखा प्रभाव

डाला। उसी प्रभाव ने एक रायबहादुर सा. का हृदय पलट दिया। उन रायबहादुर सा. ने वह चादर 3001 रु. में लेकर फिर वर्णी जी को प्रदान कर दी। यह असर वर्णी जी की राष्ट्रीयता एवं शुभ प्रेरणा का उज्ज्वल प्रतीक है जिसने न केवल साधारण व्यक्तियों का बल्कि सरकार-परस्त समझे जाने वाले रायबहादुरों तक का हृदय ऐसे व्यक्तियों की मदद करने को प्रेरित किया जिन्होंने इस ब्रिटिश हुकूमत का नाश करने की कसम खाई थी; जिनका एकमात्र ध्येय था—‘आजादी, अमन, तरक्की’ और जो कि ब्रिटिश-फौजों से हथियार लेकर लड़े थे। वास्तव में, यह वर्णी जी ही जैसे त्यागी व्यक्ति का प्रभाव था जिसने उन्हें ‘सरकार के दुश्मनों’ की सहायता करने की प्रेरणा दी। यह एक घटना है जो कि इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों से लिखी रहेगी एवं बतलाएगी कि ‘जैनधर्म राष्ट्रीयता सिखाता है और जैन धर्म राष्ट्रीय धर्म है। यदि जैन धर्म राष्ट्रीय धर्म न होता तो जैन-धर्म का मूल सिद्धान्त अहिंसा आज राष्ट्रीय-आन्दोलन का आधार न होता। यदि जैन धर्म देश-सेवा और देश-सेवकों की सेवा करना न सिखाता तो क्या जरूरत थी कि वर्णी जी सरीखे पहुँचे हुए त्यागी उन व्यक्तियों की सहायता करते जिन्होंने हिंसा द्वारा ब्रिटिश सरकार का विनाश करने की ठानी थी?

निश्चय ही उपर्युक्त घटना का उपस्थित जनता पर भी यह प्रभाव पड़ा और सबने अनुभव किया कि जैनों के त्यागी भी धार्मिक दायित्व की तरह अपने राष्ट्रीय दायित्व के प्रति उदासीन नहीं हैं। उनके ‘सत्त्वेषु मैत्री’ के सिद्धान्त में राष्ट्रीय उत्थान और जनकल्याण भी गर्भित है। उनमें समाज और धर्म के ही नहीं, राष्ट्र के नेता बनने की भी क्षमता है। यही बात पं. द्वारका प्रसाद जी मिश्र ने जो कि उस दिन उस सभा के सभापति थे, अपने भाषण में कही थी—‘वर्णी जी ने आज आजाद हिन्द फौजियों के प्रति जो सहानुभूति दिखाई है, वह कम से कम जबलपुर नगर के इतिहास में अभूतपूर्व है। जबलपुर में किसी भी त्यागी ने ऐसा अपूर्व त्याग और राष्ट्रीयता दिखलाई हो, ऐसा मैं नहीं जानता। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वर्णी जी भले ही आज तक जैन समाज के नेता रहे हों, लेकिन आज वे सबके नेता हैं।’ इसी अवसर पर राष्ट्रीय-कवि नरसिंह दास जी ने कहा था—‘आज मुझे आनन्द आ रहा है जैसे कि मैं कांग्रेस मंच से बोल रहा हूँ। मैं उन वर्णी जी को नमन करता हूँ कि जिन्होंने अपने त्याग-कार्य से एक राय बहादुर का हृदय बदल दिया।’

‘वर्णी जी’ का जन्म 1874 ई. में हसेरा (वर्तमान-तलितपुर जिला) उ.प्र. में एक वैष्णव परिवार में हुआ। घर के पास स्थित जैन मन्दिर के चबूतरे पर पढ़ी जाने वाली जैन रामायण (पद्मपुराण) को सुनकर वे वैष्णव से जैन बने और गहन अध्ययन की लालसा में बनारस, जयपुर, कलकत्ता, सागर आदि दशाधिक स्थानों पर अध्ययन किया।

बनारस में मात्र एक रुपये के दान से उन्होंने 1905 में स्याद्धाद महाविद्यालय की स्थापना की, जिसके वे संस्थापक और प्रथम विद्यार्थी थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजाद हिन्द फौज में भी जैन समाज के लोगों ने महनीय योगदान दिया था, यहाँ तक कि महिलाएँ भी अग्रणी रही थीं। क्षु. गणेश प्रसाद 'वर्णो' जैसे सन्तों ने भी इस कार्य में योगदान दिया था। यह अत्यन्त गौरव का विषय है।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में जैन पत्रकारिता का योगदान

आधुनिक युग में पत्रकारिता का विशिष्ट महत्त्व है। पत्रकारिता के तेजी से होते विकास के कारण आज विश्व एक परिवार सा लगता है। भारत में पत्रकारिता की औपचारिक शुरुआत हुए लगभग दो शताब्दियाँ हो गयी हैं। पत्रकारिता की इस विकास-यात्रा में धार्मिक तथा सामाजिक पत्रकारिता की विशेष भूमिका रही है। इस पत्रकारिता का लक्ष्य मुख्य रूप से अपने धर्म व दर्शन का सार्वजनिक प्रचार-प्रसार करते हुए सांस्कृतिक चेतना जागृत करना रहा है। धार्मिक, सामाजिक पत्रकारिता ने व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा से दूर रहते हुए सदा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चेतना के विकास के साथ-साथ जन-कल्याण और विश्व-वन्धुत्व की भावना का प्रचार-प्रसार किया है। इस क्षेत्र में जैन पत्रकारिता की अपनी विशिष्ट पहचान और भूमिका है।

कोई भी संस्कृति/धर्म/दर्शन राजनैतिक पराधीनता की अवस्था में फल-फूल नहीं सकता, इसीलिए जैन समाज ने कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लिया और देश की आजादी का मार्ग प्रशस्त किया। जैन पत्र-पत्रिकाएँ भी इस दिशा में पीछे नहीं रहीं। परतन्त्रता के जमाने में भी जैन पत्र-पत्रिकाएँ निर्भय होकर स्वतन्त्रता का समर्थन करती रहीं। विश्वशान्ति, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय भावना के जागरण में जैन पत्रिकाएँ सदैव अपना दायित्व निभाती रहीं। स्वदेशी की भावना को प्रचारित करने के लिए तो उसने विज्ञापन तक प्रकाशित किये।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण, सर्वत्र प्रकाशित होती रहीं और लगभग 8-10 भाषाओं में इनका प्रकाशन होता आ रहा है। मणिपुर में हिन्दी पत्रकारिता का श्रीगणेश द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान युद्ध की खबरों के लिए एक जैन पुजारी ने किया था। हिन्दी के प्रथम वैयाकरण और जीवट पत्रकार आचार्य किशोरी दास वाजपेयी का स्वातन्त्र्य समर में भाग लेने के कारण जो गोपनीय सम्मान हुआ था वह एक जैन, श्री उग्रसेन जैन के घर पर हुआ था।

1900 ई. से अनवरत प्रकाशित होने वाला 'जैन मित्र' यद्यपि धार्मिक पत्र है, किन्तु उसमें राष्ट्रीय महत्त्व के समाचार न सिर्फ सुखियों में प्रकाशित हुए हैं, अपितु उन पर निर्भीक टिप्पणियाँ भी लिखी गयी हैं। इसके सम्पादक रहे पं. परमेश्वरीदास राष्ट्रीय आन्दोलन में अनेक बार जेल यात्रा कर चुके थे। पत्र के 10 जनवरी, 1927 के अंक में प्रकाशित राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

‘मेरी जान रहे सर न रहे, सामान रहे या साज रहे।
फकत हिन्द मेरा आजाद रहे, माता के सर पर ताज रहे॥
ये किसान मेरे खुशहाल रहें, पूरी होबे फसल सुख काज रहे।
मेरे भाई वतन पे निसार रहे, मेरी माँ बहनों की लाज रहे॥
मेरी गाय रहे मेरे बैल रहें, घर-घर में भरा सब नाज रहे।
गारे (खद्दर) का कफन हो मुझपे पड़ा, वन्दे मातरम् आबाद रहे॥’

इसी पत्र के 6 जनवरी, 1907 के अंक में विविध समाचार के अन्तर्गत सूत्र में कांग्रेस के अधिवेशन का वर्णन विस्तार से छपा था। स्वदेशी की भावना के प्रचार में तो पत्र ने अपनी विशिष्ट भूमिका निभाई थी। अधिकांश अंकों में एतद्विषयक सामग्री प्रकाशित होती थी। 15 नवम्बर, 1923 के अंक में प्रकाशित स्वदेशी का विज्ञापन द्रष्टव्य है—

‘अगर आप सच्चे अहिंसा व्रत के पालक हैं
अगर आप सच्चे स्वदेश भक्त हैं तो
विनोद मिल्स उज्जैन का
शुद्ध—जिसमें जानवरों की चरबी नहीं लगाई जाती
स्वदेशी—जो देशी कारीगर, रुई व देश के धन से बना है,
कपड़ा पहनिये और धन व धर्म बचाईये।
पता—विनोद मिल्स, उज्जैन।’

एक अन्य विज्ञापन भी देखें—

‘भारतीय कारीगरी की मदद करो—
जहाँ में गर वतन की लाज रखनी हो तो लाजिम है।
स्वदेशी वस्त्र पर हर एक बशर सौजां से सौदा हो॥’

‘जैन मित्र’ के नियमित प्रकाशन के सन्दर्भ में तीर्थंकर (अगस्त-सितम्बर, 1977,

पृष्ठ-160) लिखता है—‘लड़ाई के जमाने में अनेक पत्रों ने प्रेस की अव्यवस्था से अपना प्रकाशन बन्द किया, कितनों ही ने कागज के अभाव में गहरी नींद ले ली, पर ‘मित्र’ बराबर प्रकट होता रहा। कापड़िया जी सूर्योदय की तरह नियमित पत्रकारिता में विश्वास रखते हैं।’

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा का मुख पत्र ‘जैन गजट’ 1895 में प्रारम्भ हुआ था, पत्र ने अपने सम्पादकीयों में स्वदेशी का खूब प्रचार किया। 16 मार्च, 1905 के अंक में लिखा गया है कि—‘हमें अपने देश में इतने कारखाने लगाना चाहिए जिससे विदेशों से माल मँगाने की आवश्यकता ही न पड़े।’ इस पत्र ने 1947 के विविध अंकों में पाकिस्तान के जैन मन्दिरों के विनाश की जानकारी पाठकों को दी थी।

देवबन्द (उ.प्र.) से प्रकाशित होने वाले ‘जैन प्रदीप’ (उर्दू) का उदय तो मानों विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने के लिए ही हुआ था। इसके सम्पादक श्री ज्योति प्रसाद जैन राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत थे, उन्होंने पत्र के अप्रैल, 1930 तथा मई-जून, 1930 के अंकों में ‘भगवान महावीर और महात्मा गाँधी’ शीर्षक लेख उर्दू में लिखा। लेख का सारांश था कि—“जैसे महावीर ने यज्ञों से मुक्ति दिलाई वैसे ही गाँधी जी विदेशी शासकों से मुक्ति दिलायें।” इस पर पत्र की जमानत जब्त होने की नौबत आयी। कलक्टर ने बहुतेरा समझाया कि—‘आप मेरे पिता के मित्र हैं, आप इतना लिखकर दे दो कि मेरे लिखने का भाव वह नहीं जो सरकार ने समझा है, बाकी मैं देख लूँगा।’ पर ज्योतिप्रसाद जी ने कहा—‘मैं झूठ कैसे लिख दूँ, मेरा भाव वही है जो सरकार ने समझा है।’ अन्त में लेख और जमानत जब्त हो गयी और पत्र का प्रकाशन भी बन्द हो गया।

कुछ जैन पत्रों ने तो अंक ही नहीं अपने विशेषांक भी स्वाधीनता पर निकाले, इनमें ‘जैन प्रकाश’ का नाम अग्रगण्य है। पत्र ने 25 नवम्बर, 1930 को अपना ‘राष्ट्रीय अंक’ निकाला। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का वह संघर्ष काल था। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में उस समय असहयोग आन्दोलन चल रहा था, ऐसे में राष्ट्रीय अंक निकालना कितने साहस का काम था। इसके सौ पृष्ठों की सामग्री में गुजराती और हिन्दी में स्वतन्त्रता पर ही पूरे लेख/कविताएँ लिखी गयी हैं।

इसी तरह भा. दि. जैन संघ, मथुरा, (उ.प्र.) के मुख पत्र ‘जैन सन्देश’ ने भी 23 जनवरी, 1947 को अपना राष्ट्रीय अंक निकाला। अनेक महत्त्वपूर्ण लेखों के साथ ही अनेक जैन शहीदों/जेल यात्रियों का परिचय इसमें हैं, कविताएँ नव-जागृति लाने वाली हैं। प्रथम पृष्ठ पर ‘स्वाधीनता की प्रतिज्ञा’ नाम से स्वतन्त्रता के जन्मसिद्ध अधिकार का समर्थन किया गया है। राष्ट्रीयता की तर्ज पर एक सुन्दर गीत भी इसमें दिया गया है। पत्र ने अपने 16 मई, 1946 के अंक में राष्ट्रीयता के विषय में लिखा था—‘जैन

समाज ने दूसरे समाजों की तरह अलग-अलग अपने राजनीतिक दावे नहीं रखे, विशेषाधिकार माँगकर कभी देश की प्रगति में बाधा नहीं पहुँचाई और धर्म-संस्कृति आदि की स्वतन्त्रता होते हुए भी कभी अपने लिए किसी स्थान या स्वतन्त्र राष्ट्र की कल्पना नहीं की।

जोधपुर से प्रकाशित होने वाले 'ओसवाल' के अंक में प्रकाशित राष्ट्रीय गौरव से युक्त एक पद्य द्रष्टव्य है—

‘बढ़ो-बढ़ो पीछे मत हटना, भारत का कल्याण करो।
जन्मी जन्म भूमि चरणों में, जीवन का बलिदान करो॥’

इसी तरह 'तरुण ओसवाल' में प्रकाशित निम्न पंक्तियाँ भी कितनी उत्प्रेरक हैं—

‘तरुण नींद को छोड़ पहन लो, सत्याग्रह का सैनिक वेष।
मोहपाश को तोड़ देश-हित, सह लो सब संकट अरु क्लेश॥
सुभाष जवाहर सम भारत के, युवक वीर बनते जाओ।
योद्धा हम स्वतन्त्रता के, ध्येय मन्त्र जपते जाओ॥’

'अनेकान्त' (सम्प्रति, दिल्ली से प्रकाशित) ने अपने अनेक अंकों में राष्ट्रीयता का समर्थन किया था। गाँधी जी के जेल जाने पर पत्र के वर्ष 1, किरण 6-7 में लिखा गया है—

‘महामना निष्पाप, राष्ट्रहित जग के प्यारे, हिंसा से अतिदूर, सौम्य बहुपूज्य हमारे।
गाँधी से नररत्न जेल में ठेल दिए हैं, क्या आशा वे धरे नहीं जो जेल गये हैं॥’

'वीर' (सम्प्रति, नई दिल्ली से प्रकाशित) जैन समाज में सुधारवादी पत्र के नाम से प्रसिद्ध था। उसे जैन समाज के राजा राममोहन राय कहे जाने वाले ब्र. शीतलप्रसाद जी जैसे समाज-सुधारकों का सहयोग मिला। कुरीतियों के उन्मूलन में पत्र अपनी उपमा आप था। इसके साथ यह राष्ट्रीय अखबार भी था। डॉ. जयकुमार 'जलज' ने ठीक ही लिखा है—' 'वीर' पाठशालावादी और परीक्षाफलछापू अखबार नहीं था। वह जैन होते हुए भी एक व्यापक और उदार राष्ट्रीय अखबार था। उसके सम्पादक खुद स्वतन्त्रता आन्दोलन में सपत्नीक जेल जा चुके थे। वे गाँधीवादी थे।...उनका पत्र उनके राष्ट्रीय विचारों का वाहक बन गया था। आजादी, देशभक्ति, गाँधी, नेहरू, सुभाष पर तथा ढिल्लन, सहगल, शाहनवाज की गिरफ्तारी के विरोध जैसे विषयों पर रचनाएँ छपती थीं। राष्ट्रीय समाचारों, निर्णयों और घटनाओं को प्रमुखता से प्रकाशित किया जाता था।’

‘दिगम्बर जैन’ (मासिक) भी राष्ट्रीय समाचारों को विस्तार से छापता था। अनेक बार इस पत्र ने स्वाधीनता से सम्बन्धित विज्ञापन तक छापे थे। पत्र के श्रावण, वि.सं. 1978 (1921 ई.) में समाचार छपा कि पिठोरिया (सागर) में हरिश्चन्द्र जैन को स्वराज्य कार्य में योग देने के लिए छह माह की सजा हुई है। इसी तरह पौष, वि. सं. 1988 (1931 ई.) के अंक में ‘जेल जा चुके हैं’ शीर्षक से समाचार छपा है कि—‘सरकारी वर्तमान आर्डीनंस के कारण अनेक जैन भाई भी जेल जा चुके हैं, उसमें से कुछ नाम यह हैं—छोटालाल घेला भाई गाँधी, अंकलेश्वर, शान्तिलाल हरजीवनदास सोलीसिटर आमोद...।’ पत्र के वीर सं. 2444 (1917 ई.) के अंक 1-2, 6, 8-9 तथा 2445 (1918 ई.) अंक 1, 3, 13 तथा 2446 (1919 ई.) अंक 1 में अर्जुन लाल सेठो की निरपराध गिरफ्तारी और उन्हें छोड़े जाने की माँग के समाचार विस्तार से छपे हैं। 1918 ई० के अंक 1 में महात्मा भगवानदीन की गिरफ्तारी का समाचार छपा है। वीर सं. 2450 (1923 ई.) के अंक 1-2 में श्री हजारी लाल जैन, सागर की प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित लम्बी कविता का अन्तिम छन्द पठनीय है।

‘त्यागो स्वदेश सुख हेतु सभी विदेशी।

धारो निजात्म बल हेतु अभी स्वदेशी॥

देगी स्वराज्य हमको नियमेन खादी।

सम्पूर्ण मात्र जग के...आदी॥१॥’

इसी अंक के पृष्ठ 56 पर प्रकाशित छैकोडी लाल जैन, गोटीटोरिया की ‘विदेशी वस्त्रों की विदा’ कविता भी देशप्रेम से ओत-प्रोत है। कविता की प्रथम दो पंक्तियाँ हैं—

‘टलो यहाँ से विदेशी वस्त्रो, न अब तुम्हारी है चाह हमको।

तुम्हीं से भारत हुआ है गारत, किया है तुमने तबाह हमको॥’

जैन समाज की विशिष्ट महिला पत्रिका ‘जैन महिलादर्श’ (सम्प्रति, लखनऊ से प्रकाशित) 1924 से निरन्तर प्रकाशित होती आ रही है। अगस्त, 1946 के अंक का विषय था ‘स्त्रियाँ राजनैतिक क्रान्ति में भाग लें या नहीं?’ इस विषय पर अनेक महिलाओं के लेख इस पत्रिका में छपे थे। और भी अनेक अंकों में सामग्री छपी गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सभी आन्दोलनों, 1857 का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम, 1930-32 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन, 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन में सभी प्रदेशों के जैन समाज के लोगों ने भाग लिया। अपनी धर्मनिष्ठा और ईमानदारी से उन्होंने अपना अलग ही स्थान बनाया है। मध्यभारत के मुख्यमन्त्री

रहे श्री मिश्रीलाल गंगवाल ने राजकीय अतिथि को अपने प्रदेश में मांसाहार करने से मना कर दिया था, उन्होंने अपनी वसीयत में लिखा था—मेरे पास एक रुपया भी बेईमानी का नहीं है। आज के राजनीतिज्ञों को उनसे प्रेरणा लेना चाहिए। प्रस्तुत आलेख का समापन हम भारतीय संविधान की निम्न पंक्तियों से करना चाहेंगे—

भारत का संविधान

अनुच्छेद 51-ए

भारतीय नागरिकों के मूल कर्तव्य

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करें और उसका संवर्धन करें तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखें।

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखें और हिंसा से दूर रहें।

संविधान पर जैन धर्मावलम्बियों का प्रभाव

डॉ. (श्रीमती) प्रभाकिरण जैन

22 नवम्बर, सन् 1949 दिन मंगलवार—संविधान निर्मात्री सभा के सदस्यों में से एक श्री अजित प्रसाद जैन ने सभाध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर को सम्बोधित करते हुए कहा कि जीवन में यह केवल एक बार होता है, जब कोई देश स्वयं का संविधान बनाता है। हम सभी जिन्होंने संविधान का प्रारूप तैयार करने में हिस्सा लिया है, स्वयं को इस सर्वाधिक अहम् कारण से गौरवान्वित अनुभव करते हैं। भारत के इतिहास में महान् साम्राज्यों एवं महान् सम्राटों का समय बारम्बार आया, किन्तु जनता द्वारा जनता के लिए संविधान कभी नहीं बना। श्री जैन का यह वक्तव्य संविधान निर्माण में लगभग तीन सौ सदस्यों से निर्मित संविधान निर्मात्री सभा की अहम्- भूमिका एवं सक्रिय-भागीदारी को सुनिश्चित करता है।

भारतीयों द्वारा भारत का संविधान बनाये जाने की माँग सर्वप्रथम राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने सन् 1922 में की थी। अनेक परिवर्तनों एवं कोशिशों के पश्चात् अन्ततः 9 सितम्बर, सन् 1946 को संविधान-निर्मात्री-सभा को रचना हुई। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इसके अध्यक्ष चुने गए तथा डॉ. भीमराव अम्बेडकर प्रारूप-समिति के अध्यक्ष चुने गए। यह सभा 3 वर्ष तक कार्यरत रही। इसके सदस्यों में राजनैतिक दलों के नेता, उद्योगपति, शिक्षाविद्, कानूनविद्, लेखक, पत्रकार एवं देशी राज्यों तथा प्रदेशों के प्रतिनिधि शामिल थे।

जैन धर्मावलम्बी सदैव से सम्मानित पदों को विविध सम्मानित क्षेत्रों में सुशोभित करते रहे हैं, इसीलिए यह ज्ञात होने पर कि संविधान निर्माण में भी जैन-धर्मावलम्बियों ने निर्मात्री-सभा के सदस्य रूप में भरपूर योगदान दिया है, किंचित् भी आश्चर्य नहीं, हाँ, एक कमी अवश्य खलती रही कि संविधान निर्माण में वास्तव में कितने जैन मतावलम्बी रहे, यह संख्या सुनिश्चित नहीं हो सकी; क्योंकि अपने नाम के आगे “जैन” लिखना शायद सदैव से परम्परा में नहीं रहा है। यही कारण है कि राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में कब, कितने जैन मतावलम्बियों ने योगदान दिया है, इसका वास्तविक आकलन कभी नहीं हो सका है। लोकसभा की वेबसाइट पर संविधान-निर्मात्री-सभा के सदस्यों में ‘जैन’ शब्द के आधार पर श्री अजित प्रसाद जैन एवं श्री कुसुमकान्त जैन का

नाम आता है, किन्तु प्राच्य श्रमण भारती (मुजफ्फरनगर उ.प्र.) से प्रकाशित पुस्तक 'भारत संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ', लेखक—श्री कपूरचन्द जैन के अध्ययन से तीन और सदस्यों का नाम प्रकाशित होते हैं, वे हैं श्री रतनलाल मालवीय, श्री बलवन्तसिंह मेहता एवं श्री भवानी अर्जुन खीमजी।

पाँच जैन धर्मानुयायी सभासदों में एक श्री रतनलाल मालवीय, सागर (म. प्र.) के मूल निवासी थे। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में उन्होंने बड़-चढ़ कर भाग लिया। देश की बहु-आयामी सेवाओं में निरन्तर लीन श्री मालवीय छत्तीसगढ़ एवं वरार राज्य के प्रतिनिधि के रूप में संविधान-सभा में सदस्य बनाये गए। लोकसभा वेबसाइट पर संविधान-निर्मात्री-सभा की डिक्टेट के अन्तर्गत वाल्यूम ग्यारह से आपकी भागीदारी का सम्पूर्ण लेखा-जोखा प्राप्त होता है। इन्होंने छत्तीसगढ़ प्रदेश के अन्य राज्यों के साथ 1947 में भारत में विलय होने की चर्चा के साथ सभाध्यक्ष के समक्ष धारा 371 की पुरजोर वकालत की। इस धारा के तहत प्रगति एवं विकास से परे पिछड़े राज्यों को केन्द्र सरकार द्वारा आगामी दस वर्षों तक सहयोग एवं सम्बल दिये जाने का प्रावधान था। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि केन्द्र सरकार विलय हुए राज्यों पर निगरानी अवश्य रखे। यदि किसी कारणवश धारा 371 का पालन ना किया जा सके, तो राष्ट्रपति स्वयं भारत में विलीन हुए राज्यों के क्रिया-कलापों पर दृष्टि रखे। उन्होंने छत्तीसगढ़ में उस समय की जनसंख्या के पचास प्रतिशत आदिवासियों के बारे में भी जानकारी दी एवं इनके कल्याण हेतु राष्ट्रपति की जिम्मेदारी बनती है, इस तथ्य को प्रकाशित किया।

श्री मालवीय ने पिछड़े हुए राज्यों की प्रगति के लिए केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में इन राज्यों के उचित प्रतिनिधित्व को पुरजोर वकालत की एवं छत्तीसगढ़ प्रदेश के लिए केन्द्र में एक मन्त्री अवश्य हो, यह माँग उठाई।

तत्कालीन विन्ध्य प्रदेश के बारे में उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण-पक्ष प्रस्तुत किया कि क्षेत्रफल एवं जनसंख्या दोनों की दृष्टि से विन्ध्य प्रदेश इतना छोटा है कि अकेले राज्य के रूप में प्रगति नहीं कर सकता, अतः उसका विलय होना आवश्यक है। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि विन्ध्य प्रदेश का विलय दो राज्यों में न करके एवं ऐसे अन्य जितने छोटे-छोटे राज्य हैं, उन-सब का विलय उत्तर प्रदेश में किया जाना चाहिए तथा अन्य राज्यों को छत्तीसगढ़ में मिला देना चाहिए।

मेरठ (उ. प्र.) में जनमे तथा सहारनपुर (उ. प्र.) में वकालत से जुड़े रहे श्री अजित प्रसाद जैन ने संविधान-निर्माण में महती भूमिका निभायी। प्रतीत होता है कि उनके समान विविध विषयों को अत्यन्त कुशलता एवं बेबाकी से शायद ही किसी अन्य सदस्य ने प्रकाशित किया होगा। तत्कालीन यूनाइटेड प्रोविंसेस (United Provinces) वर्तमान में उत्तरप्रदेश एवं उत्तराखण्ड राज्य के प्रतिनिधि के रूप में सन् 1946 से अपनी सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की। वाल्यूम 1 से वाल्यूम 11 (ग्यारह) तक अनेक मुद्दों पर उनका

उल्लेख मिलता है।

शैक्षिक संस्थानों, चिकित्सालयों एवं डिस्पेंसरियों को नैतिक, मानसिक एवं शारीरिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते हुए उन्होंने सुझाव दिया कि इस प्रकार का कोई भी संस्थान, जिसे सरकारी सहायता मिलती हो अथवा सरकार द्वारा निर्मित हों, वे धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं लिंग से परे प्रत्येक के लिए समान रूप से उपलब्ध होने चाहिए।

देश में आपातकाल की घोषणा के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हुए उन्होंने आपातकाल की घोषणा का अधिकार न्यायपालिका को देने का सुझाव दिया; क्योंकि उनका विचार था, अवसर पड़ने पर कार्यपालिका कठोरता से पेश आ सकती है। सामान्य चर्चा के दौरान मई, 1947 को उन्होंने सन् 1937 में बने भारत सरकार के उस नियम का उल्लेख किया, जिसके तहत कोई भी चल या अचल सम्पत्ति जन-हित में सरकार द्वारा तब तक अधिगृहीत नहीं की जा सकती, जब तक कानून द्वारा उसका मुआवजा न दिया जाए। श्री जैन ने कहा कि देश में जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन करने हेतु सतत प्रयास किए जा रहे हैं। मुआवजा कितना हो— यह एक अहम-सवाल है तथा यह भी जरूरी नहीं कि राज्य सरकार आर्थिक रूप से मुआवजा देने में सक्षम हो, ऐसे में जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन हेतु वर्तमान नियम में बदलाव की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि संविधान में मूलाधिकारों का प्रावधान कमजोर एवं असहाय वर्ग के संरक्षण हेतु रखा गया है, वर्तमान भूमि अधिग्रहण सम्बन्धी कानून इसके ठीक विपरीत एक संभ्रान्त वर्ग को संरक्षण देता है तथा एक विशाल वर्ग के सामाजिक न्याय के अधिकार को छीनता है।

उन्होंने मत स्थानान्तरण (Transfer of Vote) का विरोध किया तथा इस प्रणाली को विभाजन की मानसिकता का परिपोषक एवं धर्म-जाति के आधार पर दूषित वातावरण का जनक बताते हुए इसके पक्ष में प्रस्तुत संशोधन का विरोध किया। 15 नवम्बर, 1949 को उन्होंने संसद द्वारा ऐसा कानून बनाये जाने के सन्दर्भ में चर्चा की, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को तीन माह से अधिक कैद में रखे जाने का निर्णय लिया जाना निश्चित हो सके।

राजस्थान प्रदेश के प्रतिनिधि के रूप में श्री बलवन्त सिंह मेहता ने 23 नवम्बर, 1949 को सभा में अपना प्रथम वक्तव्य देते हुए कहा कि सत्यरूप में हमारे द्वारा बनाया गया संवैधानिक प्रारूप अत्यधिक विशाल है। यह एक लोकतन्त्रात्मक संविधान है। * * संविधान सतत प्रवाहशील है एवं समयानुसार संशोधनों के लिए प्रवृत्त है * * हमारे राष्ट्रपिता ने हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता दिलायी है * * किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता हमें अभी प्राप्त करनी है। * * * हमारे संविधान द्वारा छुआछूत (untouchability) के कलंक को समाप्त किया गया है। इसी सन्दर्भ को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने राजस्थान में हरिजन एवं पिछड़े हुए तबके के लोगों की बहुसंख्या से सभा को अवगत कराते हुए राजस्थान के लिए एक जन-कल्याण-मन्त्री की माँग की।

श्री मेहता ने राजस्थानी भाषा को संवैधानिक सम्मान न दिये जाने पर रोष व्यक्त किया

संविधान पर जैन धर्मावलम्बियों का प्रभाव :: 141

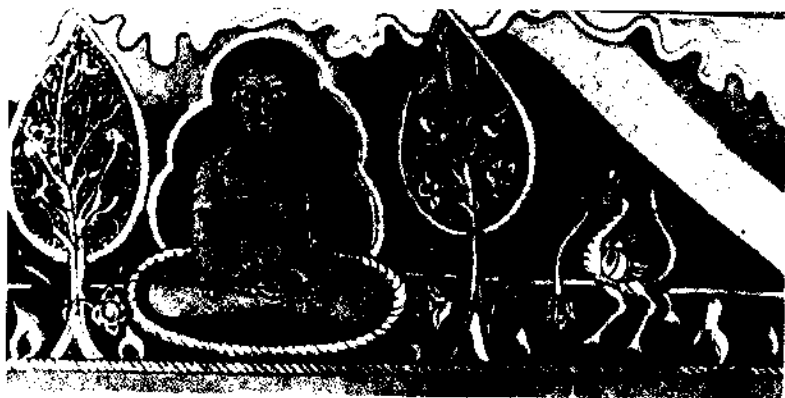
एवं भविष्य में राजस्थानी को संविधान में क्षेत्रीय भाषा के रूप में स्थान दिये जाने पर बल दिया। राजस्थान के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रिय क्षेत्र 'सिरोही' के विभाजन पर उन्होंने खेद जताया एवं बम्बई में उसको विलीन करने को भारी भूल करार देते हुए सिरोही को वापस राजस्थान में मिलाने की माँग रखी।

उन्होंने यह भी कहा कि हमने एक बेहतर एवं अच्छा संविधान बनाने का सम्पूर्ण प्रयास किया है और अब हमारा यह कर्तव्य है कि अपने क्षेत्रों एवं आंचलिक तथा ग्रामीण हिस्सों में जाकर जन-साधारण को संविधान की उपयोगिता एवं क्षमता से परिचित करवाएँ।

9 अगस्त, 1997 को स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती पर संविधान-निर्मात्री-सभा के अन्य सदस्यों के साथ सम्मानित होने वाले श्री कुसुमकान्त जैन झाबुआ एवं रतलाम आदि रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में सभा के सदस्य रहे। कच्छ प्रान्त की ओर से श्री भवानी या भवन जी अर्जुन खीमजी व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में सभा के सदस्य रहे थे।

संविधान-निर्मात्री-सभा के सदस्य रूप में जैनधर्मानुयायियों ने जनप्रतिनिधि होकर अपनी अमूल्य छाप छोड़ी है। कालान्तर में संविधान सभा के अन्तिम दिन 24 जनवरी, 1950 को सभी सदस्यों ने प्रारूप पर हस्ताक्षर किए। संविधान की तीन प्रतियाँ 2 अंग्रेजी तथा एक हिन्दी में बनायी गई थीं। संविधान के प्रथम पृष्ठ पर मोहनजोदड़ो में प्राप्त उस सील की दर्शाया गया है, जिस पर बैल अंकित है। पृष्ठ 63 पर भगवान महावीर का चित्र अंकित है और उसके नीचे सम्मानपूर्वक लिखा है---“भारत को ‘अहिंसा परमोधर्मः’ की संस्कृति प्रदान करने वाला जैनधर्म देश में आध्यात्मिक जागरण का एक और प्रवाह है, जिसने जीवन में आचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया। महावीर की अहिंसा के अमोघ अस्त्र को महात्मा गाँधी ने अपनाया और शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को दासता से मुक्त कराया।”

उपरोक्त प्रशस्ति इस तथ्य को प्रकाशित करती है कि जैनधर्म के सिद्धान्तों का भारत की स्वतन्त्रता से लेकर संविधान निर्माण तक अमूल्य योगदान रहा है। जैन प्रतिनिधियों ने कहीं भी जन-हित, देश-हित एवं राष्ट्र-हित से परे अपना कोई वक्तव्य, सुझाव या सन्देश-निर्मात्री-सभा के सदस्य के रूप में नहीं दिया। यही कारण रहा कि उनके द्वारा दिये गए सुझावों की संविधान सभा में स्वीकारा गया एवं उन पर अमल भी किया गया। अछूतोद्धार, शैक्षिक एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की सबके लिए समान रूप से उपलब्धि, राज्यों के विलय सम्बन्धी मुद्दों पर सहमति इत्यादि कितनी ही संवैधानिक उपलब्धियाँ इन्हीं प्रतिनिधियों की देन रही हैं। संविधान-निर्माण में जैनधर्मानुयायियों का होना एवं उनकी सक्रिय भूमिका सदैव प्रकाशित रहेगी, इसमें दो राय नहीं।



Vardhamana Mahavir, the 24th Tirthankara in a meditative posture, another illustration from the Calligraphed edition of the Constitution of India. Jainism is another stream of spiritual renaissance which seeks to refine and sublimate man's conduct and emphasises Ahimsa, non-violence, as the means to achieve it. This became a potent weapon in the hands of Mahatma Gandhi in his political struggle against the British Empire.

भारत को 'अहिंसा परमोधर्मः' की संस्कृति प्रदान करने वाला जैनधर्म देश में आध्यात्मिक जागरण का एक और प्रवाह है जिसने जीवन में आचार को सर्वाधिक महत्व दिया। महावीर की अहिंसा के अमोघ अस्त्र को महात्मा गाँधी ने अपनाया और भारत को शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से मुक्त कराया।

*भारतीय संविधान की सुनिश्चित प्रति में अंकित
२५वें तीर्थंकर वरुद्धमान महावीर की तप में लीन मुद्रा का एक चित्र*

कानून

श्री अनूपचन्द्र जैन

कानून अपने-आप में एक महत्वपूर्ण शब्द है। जब संसार में केवल एक ही व्यक्ति हो, तो उसके लिए किसी कानून की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन जब एक से अधिक व्यक्ति हों, तब उन-सब के बीच रहने, खाने पीने, व्यवहार करने के लिए कुछ नियम आवश्यक हो जाते हैं। जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ता है और मनुष्यों का तथा अन्य जीवों का समावेश होता जाता है, तब कुछ कानूनों की आवश्यकता पड़ती है। किसी राज्य के लिए कानून-व्यवस्था एक महत्वपूर्ण प्रश्न होता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति बी. आर. कृष्ण अय्यर ने 1980 में दिए गये एक निर्णय में कहा था कि कानून शब्द का अर्थ ऐसे सिद्धान्त और कमाण्ड स्थापित करना है, जिससे समाज के अन्दर क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए— को स्पष्ट रूप से निर्देशित किया जाता है, और उनका क्रियान्वयन करने के लिए भी एक पद्धति होनी चाहिए। इसलिए विश्व के देशों में लगभग 200 वर्ष पूर्व कानूनों का निर्माण किया गया, जो कोडीफिकेशन के रूप में सामने आया। जहाँ तक जैन कानून का प्रश्न है, यह हमारे शास्त्रों में वर्णित नीति-गत ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जैन कानून को लिखित रूप में किसी पुस्तिका का स्वरूप नहीं दिया जा सका। वैसे तो कानूनों को प्राचीन-शास्त्र-स्मरण और संस्मरण, नीतिगत व्यवहार परम्पराएँ, रीति-रिवाज सब मिलकर प्रभावित करते हैं, किन्तु विभिन्न कानूनों में कमोवेश उन्हें समाहित करते हुए विभिन्न धाराओं, नियमों, उप-नियमों में बनाया जाता है। चूँकि जैन कानून नाम से कोई पुस्तक प्रभावी रूप से बन ही नहीं पायी, इसलिए अनेक अवसरों पर प्रोवी कौंसिल जैसे सर्वोच्च न्यायिक अदालतों में उन्हें कहना पड़ा कि जैनधर्म के बारे में यदि कोई लिखित कानून होता, तो बहुत अच्छा होता।

जब सन् 1921 में डॉ. गौड़ का हिन्दू कोड प्रकाशित हुआ और उन्होंने उसमें जैनियों को धर्म-विमुख-हिन्दू जैसे शब्दों से सम्बोधित किया। तब जैन समाज ने उसका विरोध किया और जैन लॉ कमेटी के नाम से अँग्रेजी भाषाविद् वकीलों, शास्त्रज्ञ पंडितों और अनुभवी विद्वानों की एक समिति स्थापित हुई, जिसने प्रारम्भ में बहुत अच्छा काम

किया, परन्तु अन्ततः अनेक कारण, जैसे— सुदूर देशों की यात्रा के कारण इस कमेटी का सपना पूरा नहीं हो सका। कुछ ऐसी स्थितियाँ बनी थीं, जिनके कारण जैनियों को विवश होना पड़ा था कि वे अपने कानून के बारे में सोचें। जिनमें 1867 में कलकत्ता हाई कोर्ट ने जैन लोगों पर हिन्दू लॉ इसलिये लागू कर दिया क्योंकि जैनों का कोई अलग कानून ही नहीं है।

जैन कानून के सम्बन्ध में प्रेरक एवं सराहनीय कार्य स्व. बैरिस्टर चम्पतराय जी ने आज से लगभग 90 वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया और लन्दन में उन्होंने वर्ष 1925 में 'जैन कानून' नामक पुस्तक तैयार की तथा उसकी भूमिका 26.6.1926 को अँग्रेजी में लिखी गयी। इस प्रकार जैन लॉ की आधारभूत इस समय केवल निम्नलिखित पुस्तकें हैं—

1. भद्रबाहु संहिता—जो श्री भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवली के समय का (जिन्हें लगभग 2300 वर्ष हुए) न होकर बहुत काल-पश्चात् का संग्रह किया हुआ ग्रन्थ जान पड़ता है, जिस पर भी यह कई शताब्दियों पुराना है। इसकी रचना और प्रकाश सम्भवतः विक्रम संवत् 1657-1665 अथवा 1601-1609 ई. के अन्तर में होना प्रतीत होता है। यह पुस्तक उपासकाध्ययन के ऊपर निर्भर की गयी है। इसके रचयिता का नाम विदित नहीं है।

2. अर्हन्तीति— यह श्वेताम्बरीय ग्रन्थ है, इसके सम्पादक का नाम और समय इसमें नहीं दिया गया है, किन्तु यह कुछ अधिक-कालीन ज्ञात नहीं होता है। परन्तु इसके अन्तिम श्लोक में सम्पादक ने स्वयं यह माना है कि जैसा सुना है, वैसा लिपिबद्ध किया।

3. वर्धमान-नीति—इसका सम्पादन श्री अमितगति आचार्य ने लगभग संवत् 1068 वि. या 1011 ई. में किया है। ये राजा भोज के समय में हुए थे। इसके और भद्रबाहु संहिता के कुछ श्लोक सर्वथा एक ही हैं। जैसे 30-34 जो भद्रबाहु संहिता में क्र. संख्या 55-56 पर उल्लिखित हैं।

इससे विदित होता है कि दोनों पुस्तकों के रचने में किसी प्राचीन ग्रन्थ की सहायता ली गई है। इससे इस बात का भी पता चलता है कि भद्रबाहु-संहिता यद्यपि वह लगभग 325 वर्ष की लिखी है, तो भी वह एक अधिक प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर लिखी गयी है, जो सम्भवतः ईस्वी सन् के कई शताब्दि पूर्व के सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु स्वामी भद्रबाहु के समय में लिखी गयी होगी, जैसा इसके नाम से विदित होता है, क्योंकि इतने बड़े ग्रन्थ में वर्धमान नीति जैसे छोटी-सी पुस्तक की प्रतिलिपि किया जाना समुचित प्रतीत नहीं होता है।

4. इन्द्रनन्दी-जिन-संहिता— इसके रचयिता वसुनन्दि इन्द्रनन्दि स्वामी हैं। यह पुस्तक भी उपासकाध्ययन अंग पर निर्भर है। विदित रहे कि उपासकाध्ययन अंग का लोप हो गया है और अब केवल इसके कुछ उपांग अवशेष हैं।

5. त्रिवर्णाचार— संवत् 1667 वि. के मुताबिक 1611 ई. की बनी हुई पुस्तक है।

इसके रचयिता भट्टारक सोमसेन स्वामी हैं, जो मूलसंघ की शाखा पुष्कर गच्छ के पट्टाधीश थे। इनका ठीक स्थान विदित नहीं है।

6. श्री आदिपुराण— यह ग्रन्थ भगवत्जिनसेनाचार्यकृत है, जो ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी में हुए हैं, वर्तमान काल में इतने ग्रन्थों का पता चला है, जिनमें नीति का मुख्यतः वर्णन है। परन्तु इनमें से किसी में भी सम्पूर्ण कानून का वर्णन नहीं मिलता है, तो भी यदि जो-कुछ अंग उपासकाध्ययन का लोप होने से बच रहा है, वह सब कानून की कुछ आवश्यक्रीय बातों के लिए यथेष्ट हो सकता है। चाहे उसका भाव समझने में प्रथम कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़े।

जब अँग्रेज आये, तो जैनियों ने अपने शास्त्रों को छिपाया व सरकारी न्यायालयों में पेश करने का विरोध किया। एक सीमा तक उनका यह कृत्य उचित था, क्योंकि न्यायालयों में किसी धर्म के भी शास्त्रों का कोई मुख्य सम्मान नहीं होता। कभी-कभी न्यायाधीश और अन्य कर्मचारी प्रायः शास्त्रों के पृष्ठों के पलटने में मुँह का थूक लगाते हैं, जिससे प्रत्येक धार्मिक के हृदय को दुःख होता है; परन्तु इस दुःख का उपाय यह नहीं है कि शास्त्र पेश न किये जावें; क्योंकि प्रत्येक कार्य समय के परिवर्तनों का विचार करते हुए अर्थात् जैन सिद्धान्त की भाषा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से होना चाहिए।

जैन कानून के अन्तर्गत बैरिस्टर श्री चम्पतराय जी ने वर्ष 1925 में मुख्यतः निम्नलिखित विषयों को शामिल किया था :

1. दत्तक विधि और पुत्र विभाग
2. विवाह
3. सम्पत्ति
4. उत्तराधिकार
5. स्त्री-धन
6. भरण-पोषण
7. संरक्षण
8. रिवाज

प्रमुखतया: जैन लोगों में यह विशेष-विषय हैं जिन पर प्राचीन शास्त्रों में नीतिगत उल्लेख मिलते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जैनों को अपने लिए पृथक् से कानून की क्या आवश्यकता है? तब एक ही उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है कि स्वतन्त्रता से पूर्व की न्यायिक व्यवस्था में अनेक ऐसे लेख मिलते हैं, जहाँ ब्रिटिश न्यायाधीशों ने जैनों के किसी कानून के न होने का उल्लेख किया है और यह कहा है कि जैनों के लिए कानून अलग से होना चाहिए। इसका महत्त्व इस बात से भी लगाया जा सकता है कि हिन्दू लॉ में महिला का स्थान पुत्र के अधीन माना गया है अर्थात् पिता की

मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पुत्रों को प्राप्त होती है, किन्तु जैन कानून के अन्तर्गत पुत्र को माँ के अधीन माना गया है तथा माँ के अधिकार पहले माने गये हैं। इसका परिणाम यह है कि यदि सम्पत्ति माँ को प्राप्त होती है, तो पुत्र उसके साथ दुर्व्यवहार नहीं कर सकेंगे और माँ को पुत्र के ऊपर बेसहारा रहकर नहीं जीना पड़ेगा। ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जो जैन कानून के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। उपर्युक्त लिखे हुए विषयों में अब हम एक-एक की चर्चा करते हैं—

1. दत्तक एवं पुत्र विभाग— जैन कानून में केवल दो प्रकार के पुत्र ही माने गये हैं जिसमें पुत्र उसे माना गया, जो अपनी विवाहिता स्त्री से पैदा हुआ हो। दत्तक उसे माना गया, जिसे दत्तक विधि के अनुसार प्राप्त किया गया हो। यदि अपना पुत्र जीवित न हो, तो पुरुष अपने निमित्त गोद ले सकता है और यदि अपना पुत्र दुराचरण के कारण निकालकर उससे पुत्रत्व का रिश्ता समाप्त कर दिया हो, तो भी गोद लिया जा सकता है। इसी प्रकार यदि पति की मृत्यु हो गयी हो, तो विधवा स्त्री भी गोद ले सकती है। जैन कानून में प्रथम पुत्र को गोद नहीं देना चाहिए? ऐसे उल्लेख मिलते हैं। गोद लेने की विधि में कहा गया है कि प्रातःकाल दत्तक लेने वाला पिता मन्दिर में जाकर भगवान की पूजा करे तथा परिवारीजन एवं समाज के लोगों को एकत्रित कर उनके समक्ष पुत्र जन्म का उत्सव मनाये और रिवाज के अनुसार पुत्र को माता-पिता गोद लेने वाले अगर स्त्री-पुरुष दोनों हैं, तो उनकी गोद में बच्चे को दें और उसके उपरान्त आतिथ्य आदि की व्यवस्था की जावे, तब गोद सम्पन्न मानी जाती है। दत्तक लेने का परिणाम यह होता है कि दत्तक पुत्र भी अपनी पत्नी से पैदा पुत्र के समकक्ष ही माना जाता है और उसे भी वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जो एक पुत्र को प्राप्त होते हैं। पिता की मृत्यु के बाद पगड़ी बाँधने का उत्तरदायित्व पुत्र को प्राप्त होता है, चाहे वह दत्तक पुत्र ही क्यों न हो।

2. विवाह— जैन कानून के अन्तर्गत ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिए, जो वर के गोत्र की न हो, परन्तु उसकी जाति की हो, आरोग्य, विद्यावती, शीलवती और उत्तम गुणों से सम्पन्न हो, रूपवती हो। वर से डील-डौल में न्यून हो, परन्तु यह आवश्यक नियम नहीं है। बुआ की लड़की, मामा की लड़की और साली के साथ विवाह करने का दोष नहीं माना गया है, किन्तु मौसी की लड़की, सासु की बहिन, गुरु की पुत्री से विवाह करना अनुचित माना गया है। यदि विवाह के पूर्व कन्या का स्वर्गवास हो जाये, तो खर्चा काटकर वह-सब वापिस कर देना चाहिए, जो उसके माता-पिता से प्राप्त हुआ था। विवाह को ब्राह्म-विवाह, दैव-विवाह, आर्ष-विवाह, प्राज्ञापत्य-विवाह, —ये चार धर्मविवाह कहलाते हैं और आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाह आदि चार अधर्मविवाह कहलाते हैं।

बुद्धिमान वर को अपने घर पर बुलाकर बहुमूल्य आभूषणों आदि सहित कन्या देना ब्राह्म-विवाह है। श्री जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने वालें सहधर्मी प्रतिष्ठाचार्य को पूजा

की समाप्ति पर पूजा कराने वाला अपनी कन्या दे दे, तो वह दैव विवाह है। यही दोनों उत्तम प्रकार के विवाह माने गये हैं, क्योंकि इनमें वर से शादी के बदले में कुछ लिया नहीं जाता। कन्या के वस्त्र या कोई ऐसी ही मामूली दामों की वस्तु वर से लेकर धर्मानुकूल विवाह कर देना आर्ष विवाह है।

विवाह की विधि में सप्तपदी का भी उल्लेख गया है। विवाह सम्पन्न होने के उपरान्त तीर्थ-क्षेत्र की यात्रा करने का भी उल्लेख किया गया है। ये सारी क्रियाएँ संस्कृति और संस्कार को संरक्षित रखने के उद्देश्य से बतायी गयी हैं।

3. सम्पत्ति— जैन लों के अनुसार सम्पत्ति के स्थावर और जंगम दो भेद हैं। जो पदार्थ अपनी जगह पर स्थिर है और हलचल नहीं कर सकता, वह स्थावर है, जैसे गृह, बाग इत्यादि, और जो पदार्थ एक-स्थान से दूसरे स्थान में सुगमतापूर्वक आ जा सकता है, वह जंगम है। दोनों प्रकार की सम्पत्ति विभाजित हो सकती है, परन्तु ऐसी सलाह दी गई है कि स्थावर द्रव्य अविभाजित रखे जाएँ, क्योंकि इसके कारण प्रतिष्ठा और स्वामित्व बने रहते हैं।

दाय भाग की अपेक्षा सप्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध दी प्रकार की सम्पत्ति मानी गई है। पहले प्रकार की सम्पत्ति वह है, जो स्वामी के मरण पश्चात् उसके वेटे, पोतों को सन्तान की सीधी रेखा में पहुँचती है। दूसरी वह है, जो सीधी रेखा में न पहुँचें, वरन् चाचा, ताऊ इत्यादि कुटुम्ब-सम्बन्धियों से मिले।

निम्न प्रकार की सम्पत्ति विभाजन योग्य नहीं है—

1. जिसे पिता ने अपने निजी मुख्य गुणों या पराक्रम द्वारा प्राप्त किया हो, जैसे राज्य।
2. पैतृक सम्पत्ति की सहायता बिना जो द्रव्य किसी ने विद्या आदि गुणों द्वारा उपार्जन किया हो, जैसे विद्या-ज्ञान द्वारा आय।
3. जो सम्पत्ति किसी ने अपने मित्रों अथवा अपनी स्त्री के बन्धुजनों से प्राप्त की हो।
4. जो खानों में गड़ी हुई उपलब्ध हो जावें अर्थात् दफीना आदि।
5. जो युद्ध अथवा सेवा-कार्य से प्राप्त हुई हो।
6. जो साधारण आभूषणादिक पिता ने अपनी जीवनावस्था में अपने पुत्रों व उनकी स्त्रियों को स्वयं दे दिया हो।
7. स्त्री-धन।

8. पिता के समय डूबी हुई सम्पत्ति, जिसको किसी भाई ने अविभाजित सम्पत्ति की सहायता बिना प्राप्त की हो, परन्तु स्थावर-सम्पत्ति की दशा में वह पुरुष जो उसे प्राप्त करे, केवल अपने सामान्य भाग से चतुर्थ अंश अधिक पाएगा।

जैन कानून के मुताबिक सम्पत्ति को विभाजन-योग्य भी माना गया है और पारिवारिक सुख व शान्ति के लिए विभाजन को औचित्यपूर्ण कहा गया है। पति की मृत्यु के पश्चात्

सम्पत्ति को बाँट जाने का उल्लेख है। उत्तराधिकार में कुछ अयोग्यताएँ भी बतायी गयी हैं :

1. पैदायशी नपुंसकता या ऐसे रोग का रोगी जो चिकित्सा करने से निरोग नहीं हो सकता।
2. जो सब प्रकार से सदाचार का विरोधी हो।
3. उन्मत्त, लँगड़ा, अन्धा, रजोल (क्षुद्र-नीच), कुब्जा।
4. जातिच्युत, अपाहिज, माता-पिता का घोर विरोधी, मृत्युनिकट, गूँगा, बहरा, अति-क्रोधी, अंगहीन।

ऐसे व्यक्ति केवल गुजारे के अधिकारी हैं, भाग के नहीं। परन्तु यदि उनका रोग शान्त हो, गया है, तो वह अपने भाग के अधिकारी हो जाएँगे। नहीं तो उनका भाग उनकी पत्नियों या पुत्रों को यदि वे योग्य हो, पहुँचेगा या पुत्री के पुत्र को मिलेगा। दायभाग की अयोग्यता का यह भाव नहीं है कि मनुष्य अपनी निजी सम्पत्ति से भी वंचित कर दिया जाए।

साधु का भाग— यदि कोई पुरुष विभाजित होने से पूर्व साधु होकर चला गया हो, तो स्त्री धन को छोड़कर, सम्पत्ति के भाग उसी प्रकार लगाने चाहिए जैसे उसकी उपस्थिति में होते और उसका भाग उसकी पत्नी को दे देना चाहिए। यदि उसके एक पुत्र ही है, तो वह स्वभावतः अपने पिता के स्थान को ग्रहण करेगा। यदि कोई व्यक्ति अविवाहित मर जाए अथवा साधु हो जाए, तो उसका भाग उसके भाई-भतीजों को यथा-योग्य मिलेगा।

माता के अधिकार— यदि पिता की मृत्यु पश्चात् बाँट हो, तो माता को पुत्र के समान भाग मिलता है। वास्तव में उल्लेख तो यह है कि उसे पुत्रों से कुछ अधिक मिलना चाहिए, जिससे वह परिवार और कुटुम्ब की स्थिति को बनाये रखे। इस प्रकार यदि पुत्र और एक विधवा जीवित है, तो मृतक की सम्पत्ति के 5 समान भाग किये जाएँगे, जिनमें से एक माता को और शेष चार में से एक-एक प्रत्येक भाई को मिलेगा। माता को कितना अधिक दिया जाये इसकी सीमा नियत नहीं है। परन्तु अर्हन्तीति में इस प्रकार का उल्लेख है कि पिता के मरण के पश्चात् यदि बाँट हो, तो प्रत्येक भाई अपने-अपने भाग में से आधा-आधा माता को देवे।

इस प्रकार यदि चार भाई हैं, तो प्रत्येक भाई चार आना हिस्सा पाएगा और माता का भाग चार आने के अर्द्धभाग का चौगुना होगा अर्थात् $2 \times 4 = 8$ आना होगा। पिता की जीवनावस्था में माता को एक भाग बाँट में मिलना चाहिए। पुत्रोत्पत्ति होने से माता एक भाग की अधिकारिणी हो जाती है। माता का वह भाग उसके मरण पश्चात् सब-भाई परस्पर समानता से बाँट लें।

बहिर्नों का अधिकार— विभाजित होने के पश्चात् जो सम्पत्ति पिता ने छोड़ी है,

उसमें भाई और कुँवारी बहिन को समान भाग पाने का अधिकार है। यदि दो भाई और एक बहिन है, तो सम्पत्ति तीन समान भागों में बँटेगी। बड़ा भाई छोटी बहिन का, छोटे भाई की भाँति पालन करे; और उचित दान देकर उसका विवाह करे। यदि ऐसी सम्पत्ति बचे। जो बाँटने योग्य न हो, तो उसे बड़ा भाई ले लेवे। यह अनुमान होता है कि बहिन का भाग केवल विवाह एवं गुजारे निमित्त रखा गया है, अन्यथा भाई की उपस्थिति में बहिन का कोई अधिकार नहीं हो सकता। यदि विभक्त होने के पश्चात् कोई भाई पर जाय, तो उसकी सम्पत्ति की उसके भाई और बहिन समान बाँट लें। ऐसा उसी दशा में होगा, जब मृतक ने कोई विधवा या पुत्र न छोड़ा हो। यहाँ भी बहिन का अर्थ कुँवारी बहिन का है, जिसके विवाह और गुजारे का भार पैतृक सम्पत्ति पर पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका यह दायित्व सप्रतिबन्ध दाय-भाग की दशा में मान्य नहीं हो सकता अर्थात् उस सम्पत्ति से लागू नहीं हो सकता, जो चाचा-ताऊ से मिली हो।

विधवा भावज का अधिकार— विधवा भावज अपने पति के भाग को पाती है और उसको अपने पति के जीवित भाईयों से अपना भाग पृथक् कर लेने का अधिकार है। यदि वह कोई पुत्र गोद लेना चाहे, तो ले सकती है, परन्तु ऐसे भाई की विधवा का, जो पहले ही अलग हो चुका हो, विभाग के समय कोई अधिकार नहीं है। यदि कोई भाई साधु होकर अथवा संन्यास लेकर चला गया है, तो उसका भाग विभाग के समय उसकी स्त्री पाएगी।

इस प्रकार जैन कानून में बँटवारा होने के बाद भी पुनः एक होने का उल्लेख किया गया है। यदि अन्य वर्णों की स्त्रियाँ हैं, तो उनसे सम्पन्न सन्तान के भागों का भी उल्लेख किया गया है। बँटवारा की जो विधि बतायी गयी है, उसके अनुसार कुछ प्रतिष्ठित मनुष्यों के समक्ष अविभाजित सम्पत्ति का मूल्यांकन कर लेना चाहिए और फिर उसके विभाग किये जाने चाहिए, ताकि मूल्यांकन की दृष्टि से सभी को उतना अंश मिल सके, जिसके वे अधिकारी हैं।

5. उत्तराधिकारी— जैन कानून के अनुसार उत्तराधिकार का क्रम निम्न प्रकार है :

1. विधवा, 2. पुत्र, 3. भ्राता, 4. भतीजा, 5. सप्त पीढ़ियों में सबसे निकट सपिण्ड, 6. पुत्री, 7. पुत्री का पुत्र, 8. निकटवर्ती बन्धु, 9. निकटवर्ती गोत्रज (14 पीढ़ियों तक का), 10. ज्ञात्या, 11. राजा।

राजा का कर्तव्य— यदि किसी मनुष्य का उत्तराधिकारी ज्ञात न हो तो राजा को तीन वर्ष पर्यन्त उसकी सम्पत्ति सुरक्षित रखनी चाहिए, और यदि इस बीच में कोई व्यक्ति उसको आकर न माँगे, तो उसे स्वयं ले लेना चाहिए, किन्तु उस द्रव्य को धार्मिक कार्यों में खर्च कर देना चाहिए। इन्द्रनन्दि जिन संहिता में यह नियम ब्राह्मणीय सम्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लिखित है, क्योंकि ब्राह्मण की सम्पत्ति राजा ग्रहण नहीं कर सकता है; परन्तु वर्धमान नीति में यह नियम सर्व वर्णों की सम्पत्ति के सम्बन्ध में है कि राजा को

ऐसा धन धर्म-कार्यों में लगा देना उचित है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण की सम्पत्ति को उसकी विधवा या अन्य दामादों के अभाव में कोई ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकेगा।

6. स्त्री-धन— जैन कानून में निम्न प्रकार के पाँच स्त्रीधन बताये गये हैं :

(क) अथ्यग्नि— जो कुछ अग्नि और ब्राह्मणों की साक्षी में लड़की को दिया जाता है, अर्थात् वह आभूषण इत्यादि जो पुत्री को उसकी माता-पिता विवाह के समय देते हैं।

(ख) अध्याह्वनिक — (लाया हुआ) जो द्रव्य वधु अपने पिता के घर से अपने पिता और भाईयों के सम्मुख लावे।

(ग) प्रीति-दान— जो सम्पत्ति श्वसुर और सासु वधु को विवाह के समय देते हैं।

(घ) औदयिक (सौदयिक)— जो सम्पत्ति विवाह के पश्चात् माता-पिता या पति से मिले।

(ङ) अन्वाधेय — जो वस्तुएँ विवाह के समय अपनी या पति के कुटुम्ब की स्त्रियों ने दी हो। संक्षेपतः वधू को जो-कुछ विवाह के समय मिलता है, वह- सब उसका स्त्री-धन है।

(च) भरण पोषण— जैन कानून के अनुसार निम्न मनुष्य भरण-पोषण पाने के अधिकारी हैं :

1. जीवित तथा मृतक बालक, अर्थात् जीवित बालक और मृतक पुत्रों की सन्तान तथा विधवाएँ, यदि कोई हो;

2. वह मनुष्य जो भागाधिकार पाने के अयोग्य हो;

3. सबसे बड़े पुत्र के सम्पत्ति पाने की अवस्था में अन्य परिवार;

4. अविवाहित पुत्रियाँ और बहिनें;

5. विभाग होने के पश्चात् उत्पन्न हुए भाई, जबकि पिता की सम्पत्ति पर्याप्त न हो, परन्तु ऐसी दशा में केवल विवाह करा देने तक का भार बड़े भाईयों पर होता है। विवाह में स्वभावतः कुमार-अवस्था का विद्याध्ययन और भरण-पोषण भी शामिल समझना चाहिए;

6. विधवा बहुएँ उस अवस्था में जब वह सदाचारिणी और शीलवती हों;

7. ऐसी विधवा माता, जिसको व्यभिचार के कारण दायभाग नहीं मिला हो;

8. तीनों उच्च वर्णों के पुरुषों से जो शूद्र स्त्री के पुत्र हों;

9. माता और पिता जब वह दायभाग के अयोग्य हो।

10. दासीपुत्र।

7. संरक्षकता— जैन कानून में जो पुत्र और पुत्रियाँ वय प्राप्त नहीं हैं अर्थात् बालिग नहीं होते हैं, तो उनकी संरक्षकता के लिए निम्नलिखित अधिकारी मनुष्य क्रमानुसार बताए गये हैं :

1. पिता, 2. पितामह, 3. भाई, 4. चाचा, 5. पिता का गोत्रज, 6. धर्मगुरु, 7. नाना,

8. मामा ।

8. रिवाज— रिवाज कई प्रकार के होते हैं। साधारण व विशेष अर्थात् जातीय कौटुम्बिक और स्थानीय किन्तु जैन कानून के अनुसार रिवाज प्राचीन, निश्चित, व्यावहारिक और उचित होने चाहिए, सदाचार के प्रतिकूल सरकारी कानून के विरोध और सामाजिक नीति के विरोधी रिवाज उचित नहीं माने गये हैं।

9. उपसंहार— यह प्रश्न उठ सकता है कि पृथक से जैन कानून बनाने की क्या आवश्यकता है ?... अभी हाल में ही सिक्ख विवाह कानून देखने में आया था और हमें हमारे शास्त्रों में जो रीति-नीति दी गयी है, उसके अनुसार अपने कानून का निर्माण करना चाहिए। स्व. बैरिस्टर चम्पतराय जैन ने वर्ष 1925 में ब्रिटिश हुकूमत की इच्छा को देखते हुये शास्त्रों का अध्ययन किया और उसके आधार पर जैन कानून की रचना की। हमारे शास्त्रों में जो कानून दिये गये हैं, उनमें कुछ ऐसे विशेष प्रसंग हैं, जो अन्य कानूनों में नहीं मिलते हैं, जैसे महिला को स्वयं परिपूर्ण उत्तराधिकार प्राप्त करना, इसके अतिरिक्त यदि पुत्र-धर्म, विरोधी आचरण करता ही या दुराचरण करता हों तो उसे परिवार से निकालकर उसका पुत्रत्व समाप्त कर अयोग्य घोषित कर देने का प्रावधान है। इसी प्रकार यदि दत्तक पुत्र भी दुराचरण का दोषी पाया जाये तो उसे भी निकाला जा सकता है। बैरिस्टर श्री चम्पतराय जी ने 1925 में यह आकांक्षा व्यक्त की थी कि जैन लोगों में जो कानून के ज्ञाता हैं, अंग्रेजी भाषा के ज्ञाता हों, एक समिति बनाकर योग्य विद्वानों और पंडितों के बीच में उन शास्त्रों का मन्थन करना चाहिए, जिनमें यह नीति दी गयी है और फिर उसके आधार पर अपना एक पूर्व जैन कानून जिसमें विभिन्न धाराएँ, उप-धाराएँ इन सभी विषयों से सम्बन्धित हैं, समाविष्ट करते हुए तैयार करना चाहिए; किन्तु 90 वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी अब तक इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं हो सका है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई राष्ट्रीय संस्था इस मामले में पहल करे, ताकि यह कार्य सफल हो सके।

तत्त्व-मीमांसा

प्रो. सुदीप कुमार जैन

जैन-दर्शन में तत्त्वों का चिन्तन अनूठा है। इसमें यद्यपि सात तत्त्व माने गये हैं, फिर भी वे सातों तत्त्व दो मूल तत्त्वों की कोटि में देखे गये हैं—1. जीव 2. अजीव जिन्हें हम 'चेतन' और 'अचेतन' के रूप में भी कह सकते हैं। इन्हीं दो मूलतत्त्वों का विस्तार विभिन्न दृष्टियों से 'पाँच अस्तिकाय', 'छह द्रव्य', 'सात तत्त्व' एवं 'नव पदार्थ' के रूप में विवेचित हुआ है। अतः इन्हें हमें इनकी मूलदृष्टियों के साथ स्वतन्त्र लक्षणपूर्वक समझना होगा।

पाँच अस्तिकाय

'अस्तिकाय' शब्द जैनदर्शन का अत्यन्त मौलिक शब्द है, जो अन्य किसी भी दर्शन में नहीं पाया जाता है। जब कि अन्य 'द्रव्य', 'तत्त्व', 'पदार्थ' आदि पदों का प्रयोग अन्य दर्शनों में भी प्राप्त होता है; भले ही सर्वत्र लक्षणदृष्टि से भेद है। अस्तु, इस समस्त पद में दो पदों का योग है, 'अस्ति' और 'काय'। इनमें 'अस्ति' विद्यमानार्थक 'अस्' धातु का वर्तमानकाल प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है। जबकि 'काय' शब्द सामान्यतः 'देह' या 'शरीर' वाची होते हुए भी यहाँ 'बहुप्रदेशी'—इस विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'अस्तिकाय' पद का अर्थ हुआ 'बहुप्रदेशीसत्ता'।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अस्तिकाय' के वर्गीकरण के माध्यम से जैनदर्शन में वस्तुतत्त्व का आकार या क्षेत्र की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि सामान्यतः प्रत्येक वस्तु का विवेचन चार मुख्य दृष्टियों से दार्शनिक जगत में किया जाता है—1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव। इनमें से क्षेत्र की दृष्टि से जैनदर्शन में जो वस्तुतत्त्व का विवेचन है, उसे 'अस्तिकाय' संज्ञा दी गयी है। इस दृष्टि से मौलिकता एवं वरीयता देने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पंचतिकायसारसंग्रहो' ('पञ्चास्तिकाय-सार-संग्रह') नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। जैसा उक्त ग्रन्थ के नामकरण में ही सूचित है कि जैनदर्शन में अस्तिकायों की संख्या पाँच मानी गयी है— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। जैनदर्शन

सम्मत षट्द्रव्यों में मात्र कालद्रव्य को ही 'अस्तिकाय' नहीं माना गया है, क्योंकि वह एक-प्रदेशी है, बहु-प्रदेशी नहीं है। इनका विवेचन निम्नानुसार है—

1. जीवास्तिकाय— जीवद्रव्य को जैनदर्शन में प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा 'बहु-प्रदेशी' माना गया है। अतः इसकी 'अस्तिकाय' संज्ञा अन्वर्थक है। जीव के प्रदेशों की संख्या 'असंख्यात' मानी गयी है। चूँकि जीव के प्रदेशों में 'संकोच-विस्तार' नामक शक्ति है, जिसके बल से वह चींटी-जैसे छोटे शरीर के आकार से लेकर बड़े से बड़े शरीर के आकार में स्वयं को व्यवस्थित कर लेता है। यहाँ तक कि 'समुद्रघात' की स्थिति में कभी-कभी यह लोकाकाश के बराबर भी फैल जाता है; अतः लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के अनुपात में जीव असंख्यात-प्रदेशो माना गया है।

संसार-अवस्था में जीव को 'स्वदेहपरिमाण' अर्थात् जिस शरीर में रहे, उसी के आकार वाला माना गया है तथा 'मुक्त अवस्था' या 'सिद्धअवस्था' में उसे चरमशरीर से किञ्चिदन्यून आकार वाला माना गया है। अभिप्राय यह है कि जिस अन्तिम शरीर से मुक्त होकर जीव सिद्ध-अवस्था प्राप्त करता है, उसी अन्तिम शरीर से कुछ-कम आकार में वह सिद्ध-दशा में विद्यमान रहता है। वह अन्तिम-शरीर छोटे या बड़े जिस भी आकार का हो, उसी के अनुपात में वह जीव सिद्ध-अवस्था में रहता है। 'अन्तिम शरीर से कुछ-कम आकार वाला' कहने से यह अभिप्राय है कि शरीर के नख, केश, भौंहें, पलकों के बाल, रोम व चर्म की ऊपरी सतह आदि क्षेत्रों में आत्मा व्याप्त नहीं होता है, अतः इतने आकार से न्यून होने के कारण सिद्ध-अवस्था में जीव का आकार 'अन्तिम शरीर से कुछ-कम' कहा गया है।

चूँकि सिद्ध होने की सामर्थ्य जैनदर्शन में चारों गतियों के जीवों में से मात्र मनुष्य को मानी गयी है, अतः सिद्धों का आकार मनुष्य के शरीर के अनुरूप ही होता है तथा मनुष्यों के शरीर के आकार भी कालक्रम से छोटे-बड़े होते हैं; अतः सिद्धों के आकार भी जैनदर्शन में अन्तिम शरीर के परिमाण के अनुरूप छोटे या बड़े माने गये हैं। आकार भले ही छोटे या बड़े हों, परन्तु प्रदेशों की संख्या सभी के समान रूप से असंख्यात ही मानी गयी है। संकोच-विस्तार-शक्ति के कारण ही वे छोटे या बड़े शरीर के आकार में व्यवस्थित रहते हैं, न-कि प्रदेशों की संख्या कम या ज्यादा होने के कारण। अतः अस्तिकायत्व की दृष्टि से सभी जीव समान रूप से असंख्यात-प्रदेशी होने से बहु-प्रदेशो हैं। अतः सभी जीव 'अस्तिकाय' के नाम से जाने जाने के योग्य हैं।

2. पुद्गल-अस्तिकाय— पुद्गलद्रव्य का शुद्ध स्वरूप तो 'परमाणु' है, जो पूर्णतः अविभाज्य है और 'प्रदेश' का माप भी है" अतः वह एक-प्रदेशी है, और इसी कारण अपनी परिशुद्ध-अवस्था में पुद्गलद्रव्य अस्तिकाय नहीं है, किन्तु पुद्गल-परमाणु अपनी परिशुद्ध-अवस्था में रहता नहीं है, वह अनेक पुद्गल-परमाणुओं की संयुक्त-अवस्था

में ही रहता है, जिसे 'स्कन्ध' कहा गया है। ये स्कन्ध छोटे-बड़े विभिन्न आकारों के होते हैं। चूँकि सभी स्कन्ध 'बहु-प्रदेशी' ही होते हैं; अतः स्कन्ध-अवस्था में ही पुद्गल-द्रव्य को 'अस्तिकाय' माना गया है।

चूँकि पुद्गल-द्रव्य संख्या-अपेक्षा अनन्तानन्त माने गये हैं, अतः स्कन्धों के आकार के अनुपात में कोई स्कन्ध संख्यातप्रदेशी है, कोई असंख्यातप्रदेशी है और कोई महास्कन्ध अनन्तप्रदेशी भी माना गया है।^१

इस प्रकार शुद्ध-अवस्था में पुद्गलपरमाणु एक-प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है; किन्तु संयोगी-अवस्था में स्कन्ध रूप में बहु-प्रदेशी होने से उसे उपचार से अस्तिकाय माना गया है।

3. धर्मास्तिकाय— चूँकि धर्मद्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, अतः बहु-प्रदेशी होने के कारण वह स्वरूपतः ही अस्तिकाय है।

4. अधर्मास्तिकाय— अधर्म द्रव्य भी धर्मद्रव्य की ही भाँति लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात-प्रदेशी होने से उसी के समान 'अस्तिकाय' संज्ञा को चरितार्थ करता है।

5. आकाश-अस्तिकाय— आकाश द्रव्य स्वरूपतः अखण्ड व अनन्त-प्रदेशी है, कहा भी है—“आकाशस्यानन्ताः”—(तत्त्वार्थसूत्र 5/9), फिर-भी जितने आकाश-क्षेत्र में जीव-पुद्गलादि द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोकाकाश संज्ञा दी गयी है, और अवशिष्ट आकाश द्रव्य को अलोकाकाश कहा गया है। अतः वस्तुतः भिन्न नहीं होने से आकाशद्रव्य 'बहु-प्रदेशी' भी है, और 'अस्तिकाय' संज्ञा का अधिकारी भी है। यदि भेद दृष्टि को भी प्रधान करें, तो 'लोकाकाश' एवं 'अलोकाकाश'—दोनों ही बहु-प्रदेशी हैं, अतः दोनों ही 'अस्तिकाय' हैं।

चूँकि कालद्रव्य का स्वरूप ही आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित होने रूप माना गया है। अतः प्रत्येक कालाणु एक-प्रदेशी है, इसलिए वह 'अस्तिकाय' संज्ञा की अर्हता धारण नहीं करता है तथा पुद्गल परमाणुओं की भाँति कालाणु परस्पर संघटित भी नहीं होते हैं, अतः उनकी 'स्कन्ध'—जैसी अवस्था सम्भव नहीं है। इसीलिए कभी भी कालद्रव्य को 'अस्तिकाय' उपचार से भी नहीं कहा जा सकता है।

षड्द्रव्य-मीमांसा

भारतीय दर्शनों में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग सर्वत्र मिलता है; किन्तु उसके लक्षण सर्वत्र समान नहीं हैं। जैन-परम्परा में बड़ी विशेषता यह है कि उसकी दो प्रमुख धाराओं—'दिग्गम्बर' एवं 'श्वेताम्बर' में अन्य कई बिन्दुओं पर परस्पर मत-वैविध्य मिलता है; किन्तु 'द्रव्य' के स्वरूप के विषय में उन दोनों धाराओं के स्वर सर्वत्र

समान हैं।

जैनदर्शन में 'द्रव्य' का लक्षण 'सत्' माना गया है—

“सद्द्रव्य-लक्षणम्”—(तत्त्वार्थसूत्र, 5/29)

और इस 'सत्' या सत्ता को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा गया है।

“उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्”—(तत्त्वार्थसूत्र 5/30)

आगे इसी लक्षण को वे प्रकारान्तर से लिखते हुए कहते हैं—

“गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्”—(तत्त्वार्थसूत्र, 5/38)

अर्थात् 'द्रव्य' गुणों एवं पर्यायों से युक्त होता है।

चूँकि उत्पाद (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश)—ये दोनों ही पर्याय के धर्म हैं, जबकि गुण और द्रव्य 'ध्रौव्य' (अपरिणामी), अविनाशी, त्रिकाल अबाधित रहते हैं) हैं, अतः इन दोनों लक्षणों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

वर्तमान जैन परम्परा में शासननायक भगवान महावीर स्वामी के बाद आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम 'द्रव्यमीमांसा' की समर्थ प्रस्तुति की है।^१ उनके प्ररूपण इतने विशद एवं परिपूर्ण हैं कि आचार्य उमास्वामी के द्वारा कथित उपर्युक्त दोनों सूत्र आचार्य कुन्दकुन्द कथित द्रव्य-लक्षण का संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तरण ही प्रतीत होते हैं। अन्य आचार्यों एवं मनीषियों ने भी इसी को आधार बनाकर अपनी विवेचना प्रस्तुत की है, अतः उपर्युक्त लक्षण को ही आधार बनाकर यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

'द्रव्य' समष्टि-वाचक सत्ता है, जबकि 'गुण' और 'पर्याय' व्यष्टि-वाचक सत्ताएँ हैं। 'गुण' भेदरूप से व्यष्टिवाचक है और 'पर्याय' परिवर्तन या क्षण-भंगुरता की अपेक्षा व्यष्टि-वाचक है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक द्रव्य अनन्त-गुणों और उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों का पिण्ड है। द्रव्य का तिर्यक् सामान्य पक्ष 'गुण' है और ऊर्ध्वता-सामान्य पक्ष पर्यायें हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो स्वभाव, शक्ति, सामर्थ्य रूप वस्तु-पक्ष का प्रतिनिधित्व गुण करते हैं और परिवर्तन-काल-रूप वस्तु-पक्ष की प्रतिनिधि पर्यायें हैं।

द्रव्य छह माने गये हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, और काल। इनका लक्षणात्मक स्वरूप निम्न-प्रकार है।

1. जीव द्रव्य—इसका लक्षण ज्ञानदर्शनात्मक 'उपयोग' माना गया है—“उपयोगो लक्षणम्”—(तत्त्वार्थसूत्र 2/8) उपयोग के भी मूलतः ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग ये दो भेद माने गये हैं, और ज्ञानोपयोग के मतिज्ञान आदि आठ भेद एवं दर्शनोपयोग

के चक्षुदर्शन आदि चार भेद होते हैं—

“स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदाः।” — (तत्त्वार्थसूत्र 2/9)

2. पुद्गल द्रव्य—जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण पाये जाते हैं, वह ‘पुद्गल’ है—“स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः” (तत्त्वार्थसूत्र, 5/23)। पुद्गलों में शब्द, बन्ध आदि विशेषताएँ भी पायी जाती हैं—

“शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च।” (तत्त्वार्थसूत्र 5/24) अर्थात् शब्द, बन्ध (बंधना), सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद (टूटना), तम (अन्धकार), छाया, आतप (यथा सूर्य प्रकाश) और उद्योत (यथा चाँदनी) भी पुद्गलों में ही पायी जाने वाली विशेषताएँ हैं।

पुद्गल शब्द में ‘पुद्’ का अर्थ है—पूर्ण होना, मिलना या जुड़ना तथा ‘गल’ का अर्थ है—गलना, हटना या टूटना। पुद्गल-परमाणु-स्कन्ध-अवस्था में निरन्तर मिलते और अलग होते रहते हैं। टूटने और जुड़ने की इस क्रिया को आधुनिक विज्ञान की भाषा में ‘फ्यूजन’ और ‘फिसन’ कह सकते हैं। छह द्रव्यों में ऐसी संश्लेषण (जुड़ना) एवं विश्लेषण (अलग होना) की सामर्थ्य मात्र पुद्गल द्रव्य में ही जैनदर्शन में मानी गयी है। अतः इसकी ‘पूरण-गलन-स्वभावत्वाद् पुद्गलः’ व्युत्पत्ति अन्वर्थक है। स्थूल दृष्टि से कहें, तो जगत् में जो-कुछ भी हमें छूने, चखने, सूँघने और देखने में आता है, वह सभी पुद्गल ही है।

3. धर्मद्रव्य— स्वयं गतिशील होने वाले जीवों और पुद्गलों को जो गमन क्रिया में सहायक होता है, वह धर्म द्रव्य है। यह एक ‘उदासीन-निमित्त’ रूप होता है, ‘प्रेरक-निमित्त’ रूप नहीं। जैसे कि मछली की गमन-क्रिया में जल उदासीन-निमित्त होता है।

4. अधर्मद्रव्य— स्वयं गतिपूर्वक रुकने वाले जीवों और पुद्गलों को जो ठहरने में सहायक होता है, वह अधर्मद्रव्य है। यह भी उसी प्रकार उदासीन निमित्त है, जैसे पथिक को ठहरने में छाया उदासीन-निमित्त होती है।

5. आकाश द्रव्य— आकाश का लक्षण जैनदर्शन में ‘अवकाश’ प्रदान करना या ‘अवगाहना’ देना है—“आकाशस्यावगाहः” — (तत्त्वार्थसूत्र 5/18)। द्रव्यसंग्रह में कहा है—

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आगासं।” (1/19)

अर्थात् जो जीवादि पाँच द्रव्यों को रहने के लिए जगह देता है, वह आकाश द्रव्य है।

6. कालद्रव्य— जो सभी द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन में निमित्त होता है, वह कालद्रव्य है। आचार्य उमास्वामी ने वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये पाँच

कार्य कालद्रव्य के बताये हैं।

“वर्तना—परिणाम—क्रिया—परत्वापरत्वे च कालस्य”—(तत्त्वार्थसूत्र 5/22)

इनमें से कालद्रव्य का निश्चयपरक लक्षण ‘वर्तना’ है और व्यवहार काल के लक्षण परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि हैं।

इन छह द्रव्यों के भेद-प्रभेदों की संक्षिप्त मीमांसा इस प्रकार है—

1. जीवद्रव्य— जीवद्रव्य के मुख्यतः दो भेद माने गये हैं—

संसारी और मुक्त।

“संसारिणो मुक्ताश्च”—(तत्त्वार्थसूत्र-2/10)

इनमें से ‘संसारी’ जीवों के ‘त्रस’ और ‘स्थावर’—ये दो मूल भेद माने गये हैं—

“संसारिणस्त्रसस्थावराः”—(तत्त्वार्थसूत्र 2/12)

इनमें संसारी से अभिप्राय उन जीवों से है, जो कर्मोदय के वशीभूत होकर चार गति चौरासी लाख योनियों में ‘संसरण’ अर्थात् परिभ्रमण (जन्म-मरण) कर रहे हैं। ये संसारी जीव जब मात्र एकेन्द्रिय (स्पर्शनिन्द्रिय या शरीर मात्र) होते हैं, तब वे स्थावर संज्ञा के पात्र होते हैं। ऐसे जीवों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति-सम्बन्धी जीव आते हैं तथा दो इन्द्रिय (स्पर्शन व रसना) से लेकर पञ्चेन्द्रिय (स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षुः व श्रोत्र) वाले जीवों को ‘त्रस’ कहा गया है। इन त्रस जीवों के भी ‘मन-सहित’ (समनस्क या संज्ञी) एवं ‘मन-रहित’ (अमनस्क या असंज्ञी) ये दो भेद कहे गये हैं। ये भेद मात्र पंचेन्द्रिय वाले त्रसों पर ही लागू होते हैं, क्योंकि ‘मन’ का सद्भाव उन्हीं में सम्भव है। शेष एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में मन का सद्भाव ही सम्भव नहीं है, अतः वे अमनस्क ही होते हैं।

इनके अतिरिक्त संसारी जीवों में एक वर्गीकरण निगोदिया जीवों का भी है, जो सामान्यतः वनस्पतिकाय के अन्तर्गत आते हैं। ये जीव एक श्वास-प्रमाण-काल में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं,—ऐसी स्थिति को निगोद कहा गया है। जो जीव अनादिकाल से आज तक कभी ऐसी स्थिति से बाहर नहीं आ पाये हैं, उन्हें नित्यनिगोद के जीव कहा गया तथा जो कभी इस चक्र से बाहर आकर कर्मोदयवश पुनः निगोद-अवस्था में लौट आये हैं, वे इतर-निगोद के जीव हैं।

इनके साथ-साथ संसारी जीव के जैनदर्शन में दो वर्गीकरण और आते हैं—‘पर्याप्त’ और ‘अपर्याप्त’। शरीर पर्याप्ति जिनके पूर्ण हो गयी है, वे ‘पर्याप्त जीव’ हैं, और ‘शरीर-पर्याप्ति’ पूर्ण हुए बिना ही जिनकी आयु पूर्ण हो जाने से मरण हो जाता है, वे ‘अपर्याप्त जीव’ हैं।

मुक्त जीवों से अभिप्राय उन जीवों से है, जो उपर्युक्त संसार-परिभ्रमण से आत्म-

साधना के बल से मुक्त हो गये हैं। इनके भी दो भेद हैं— अर्हन्त और सिद्ध। भारतीय दर्शनों में प्रयुक्त शब्दावली के समानान्तर इन्हें 'जीवन्मुक्त' और 'विदेह मुक्त' भी कह सकते हैं। यह मात्र स्थूल शब्द-साम्य है, लक्षण-साम्य नहीं है। जैन दर्शन में 'अरिहन्त' वे जीव हैं, जो उत्कृष्टतम-आत्मसाधना के बल से चार घातिया कर्मों का विनाश कर चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण के चक्र से तो मुक्त हो गये हैं, किन्तु शरीर में विद्यमान हैं, अतः इन्हें 'जीवन्मुक्त' कहा जा सकता है; तथा 'सिद्ध' जीव वे हैं, जो अन्तिम शरीर के बन्धन एवं शेष अघातिया कर्मों के बन्धन से भी मुक्त होकर अशरीरी स्वाभाविक आत्म-स्वरूप में अनन्तकाल तक के लिए विराजमान हो गये हैं तथा पूर्ण आत्मिक गुण जिनके प्रकट हैं और जो अनन्त-आनन्द-मय स्थिति में हैं।

2. पुद्गलद्रव्य— पुद्गल द्रव्य के दो भेद माने गये हैं—1. परमाणु, 2. स्कन्ध। परमाणु पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई है। यह अविभाज्य होता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह परमाणु इन्द्रियों से अगोचर एवं प्रयोगों से अतीत है तथा 'स्कन्ध' अनेक पुद्गल परमाणुओं की संयुक्तावस्था है, जो दो, तीन, संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त परमाणुओं वाला भी होता है। स्कन्धों के मुख्यतः छह भेद किये गये हैं— 1. स्थूल-स्थूल स्कन्ध, 2. स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध, 3. स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध, 4. सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध, 5. सूक्ष्म स्कन्ध, 6. सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध।

इनका परिचय निम्नानुसार है—

1. स्थूल-स्थूल स्कन्ध— जो पुद्गल स्कन्ध टूटने पर आपस में जुड़ नहीं पाते और जिन्हें आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है, वे स्थूल-स्थूल स्कन्ध हैं; यथा—पत्थर, लकड़ी, धातु आदि ठोस पदार्थ।
2. स्थूल स्कन्ध— वे स्कन्ध जो छिन्न-भिन्न करने पर भी स्वयं जुड़ जाते हैं, वे स्थूल-स्कन्ध हैं। यथा— दूध, पानी, घी, तेल आदि तरल पदार्थ।
3. स्थूल-सूक्ष्म-स्कन्ध— जो नेत्रों द्वारा देखा तो जा सके, किन्तु पकड़ में न आ सके, उसे स्थूल सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं। जैसे—छाया, प्रकाश आदि।
4. सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध— जो आँखों से तो नहीं दिखते हैं, किन्तु शेष इन्द्रियों से प्रतीत/अनुभव-गम्य होते हैं, उन्हें सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध कहते हैं। जैसे— हवा, गन्ध, रस, आदि।
5. सूक्ष्म-स्कन्ध— जो किसी भी इन्द्रिय से गोचर नहीं हो, उन्हें सूक्ष्म-स्कन्ध कहते हैं। जैसे—कार्माण स्कन्ध।
6. सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध— अत्यन्त सूक्ष्म द्व्यणुक स्कन्ध को सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं। यह स्कन्धों की अन्तिम इकाई है, इससे छोटा कोई स्कन्ध

नहीं होता।

पुद्गलों के वर्गीकरण का एक अन्य प्रकार 'वर्गणा' कहा जाता है। सजातीय पुद्गल परमाणुओं के समूह को वर्गणा कहा गया है। जैनदर्शन में 23 प्रकार की 'वर्गणा' बताई गयी हैं, किन्तु उनके प्रमुखतः व्यवहृत होने वाले प्रकार आठ निम्न हैं—

1. औदारिक-शरीर-वर्गणा— स्थूल औदारिक शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल समूह को 'औदारिक-शरीर-वर्गणा' कहा गया है।
2. वैक्रियक-शरीर-वर्गणा— वैक्रियक शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल समूह को वैक्रियक-शरीर-वर्गणा कहा गया है।
3. आहारक-शरीर-वर्गणा— आहारक शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल समूह को 'आहारक-शरीर-वर्गणा' कहा गया है।
4. श्वासोच्छ्वास-वर्गणा— श्वास और निःश्वास के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों को 'श्वासोच्छ्वास-वर्गणा' कहा गया है।
इन चारों को सामान्यतः 'आहार-वर्गणा' के अन्तर्गत बताया जाता है।
5. तैजस-वर्गणा— तैजस् शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों को 'तैजस् शरीर-वर्गणा' कहा गया है।
6. भाषा-वर्गणा— भाषा के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों को भाषा-वर्गणा कहा गया है।
7. मनोवर्गणा— द्रव्यमन के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों को मनोवर्गणा कहा गया है।
8. कार्माण वर्गणा— कर्म शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों को कार्माण-वर्गणा कहा गया है।

3. एवं 4. धर्म और अधर्म द्रव्य— इनके कोई भेद नहीं है। ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त एक और अखण्ड हैं।

5. आकाश द्रव्य— तात्त्विक रूप से इसका भी कोई भेद नहीं है। जीवादि अन्य पाँच द्रव्यों का अवस्थान जितने आकाश क्षेत्र में होता है, उसे 'लोकाकाश' और अवशिष्ट शुद्ध आकाश द्रव्य को अलोकाकाश कहने रूप यह भेद उपचार-कथन है।

6. काल द्रव्य— काल द्रव्य के भी वस्तु-गत रूप में कोई भेद नहीं है; किन्तु जो 'वर्तना-लक्षण' है। उसे निश्चय काल द्रव्य तथा जो 'परिणाम-आदि लक्षण' वाला है उसे व्यवहार-काल-द्रव्य,— ऐसा भेद-कथन काल-द्रव्य के विषय में पाया जाता है। व्यवहार काल-द्रव्य समय, सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, सप्ताह, वर्ष, युग आदि रूप माना गया है। समय व्यवहार-काल की सूक्ष्मतम इकाई है। जैनदर्शनानुसार एक पुद्गल परमाणु के आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसे समय कहा गया है। भूतकाल, वर्तमान, भविष्यकाल—जैसे भेद भी व्यवहारकाल में ही परिगणित होते हैं।

संख्या की अपेक्षा द्रव्यों का परिचय— संख्या की अपेक्षा जैनदर्शन में जीवद्रव्य 'अनन्त', पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश द्रव्य एक-एक एवं काल द्रव्य लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार द्रव्यों का परिचय

जैनदर्शन में मान्य द्रव्यों को आधुनिक विज्ञान भी अपने शब्दों में स्वीकार करता है, यथा—

1. जीवद्रव्य को विज्ञान सीधे रूप में तो स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि उसके यन्त्रों के परीक्षण में यह पकड़ में नहीं आता है, फिर-भी इसके कुछ लक्षणों यथा-संवेदन-शक्ति (Feeling Power), संकोच-विस्तार-शक्ति (Contraction and Expansion Power) को वैज्ञानिकों ने स्वीकृति प्रदान की है।

2. पुद्गल द्रव्य को विज्ञान ने (Matter) के रूप में तथा इसके स्कन्धों को एवं परमाणुओं को Atoms आदि के रूप में स्वीकार किया है। चूँकि पुद्गल द्रव्य प्रायशः भौतिक तत्त्व है, अतः इसके अधिकांश रूप वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा ग्रहण किये जा सके हैं। अतः पुद्गल के इन रूपों को विज्ञान मान्यता देता है।

3. धर्मद्रव्य को विज्ञान (Medium of Motion) के रूप में स्वीकार करता है। कहीं कहीं इसे ईथर (Ether) से भी संज्ञित किया है।

4. अधर्म द्रव्य को विज्ञान Medium of Rest की संज्ञा से अभिहित करता है।

5. आकाश द्रव्य को विज्ञान Space के रूप में स्वीकार करता है।

6. काल द्रव्य को विज्ञान Time के रूप में स्वीकार करता है।

गुण

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः— (तत्त्वार्थसूत्र, 5/41) अर्थात् जो द्रव्य के आश्रित हों और गुणान्तरो के प्रभाव से रहित हों, उन्हें गुण कहते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं— सामान्य गुण और विशेष गुण।

सामान्य गुण—जो समस्त द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। सामान्य गुण के छह भेद हैं—

1. अस्तित्व 2. वस्तुत्व 3. द्रव्यत्व 4. प्रमेयत्व 5. प्रदेशत्व 6. अगुरुलघुत्व।

1. अस्तित्व गुण— द्रव्य का वह गुण जिसके कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।

2. वस्तुत्व गुण— द्रव्य का वह गुण जिसके कारण वह कोई न कोई अर्थक्रिया करता रहे, उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं।

3. द्रव्यत्व गुण—द्रव्य का वह गुण जो परिवर्तनशील पर्यायों का आधार है उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं।

4. प्रमेयत्व गुण— द्रव्य का वह गुण जिससे वह जाना जाता है, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

5. प्रदेशत्व गुण— द्रव्य का वह गुण जिसके निमित्त से द्रव्य का कोई न कोई आकार बना रहता है, उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं।

6. अगुरुलघुत्व गुण— द्रव्य का वह गुण जिसके कारण वह अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है, इस शक्ति के निमित्त से द्रव्य की द्रव्यता कायम रहती है। अर्थात्—

(क) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं परिणमता

(ख) एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं परिणमता

(ग) एक द्रव्य के अनेक या अनन्त गुण बिखरकर जुदे-जुदे नहीं होते।

उपर्युक्त छहों गुण विश्व के प्रत्येक पदार्थ में पाये जाते हैं। लोक में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जिसमें इन छह गुणों में से किसी एक की भी कमी हो। सभी द्रव्यों में समान रूप से पाये जाने के कारण इन्हें सामान्य गुण कहते हैं।

विशेष गुण—जो गुण सभी द्रव्यों में न पाये जाए, वे विशेष गुण हैं। विशेष गुण प्रत्येक द्रव्य का अपना होता है, विशेष गुण अनेक हैं, उनमें सोलह प्रमुख हैं। वे हैं— ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गति-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, अवगाहन-हेतुत्व, वर्तना-हेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, और अमूर्तत्व।'

इनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये छह जीव के विशेष गुण हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्तत्व ये छह पुद्गल के विशेष गुण हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के अचेतनत्व और अमूर्तत्व के साथ क्रमशः गति-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, अवगाहन-हेतुत्व और वर्तना-हेतुत्व इस प्रकार तीन-तीन विशेष गुण हैं।

पर्याय

आचार्यों ने 'सहवर्तिनः गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः' कहकर द्रव्य में गुणों व पर्यायों की स्थिति स्पष्ट कर दी है।

तदनुसार गुण युगपद्द्रव्य में विद्यमान होते हैं, जबकि ये पर्यायें क्रमशः अपने-अपने समय पर उदित होती हैं। यह परिवर्तन प्रतिसमय चलता रहता है। प्रत्येक गुण की प्रतिसमय भिन्न-भिन्न पर्यायें होती रहती हैं। और उनमें परस्पर कोई बाधा नहीं आती। यथा- जीव के ज्ञान गुण की पर्याय जिस समय मतिज्ञान रूप हो रही है, उसी समय दर्शन गुण की पर्याय चक्षुदर्शन रूप हो रही है। प्रतिसमयवर्ती यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म है कि वस्तुतः इसके प्रतिसमय के परिवर्तन को केवलज्ञान ही जान सकता है। सामान्य संसारी जीवों के पास तो मति-श्रुतज्ञान का ही क्षयोपशम होने से वे प्रतिसमयवर्ती परिवर्तन को लक्षित नहीं कर पाते हैं; वे तो कई समय बाद के स्थूल परिवर्तन को ही समझ पाते हैं। जैसे कि हरा आम चार दिन में पककर पीला हुआ, तो हमें उसके

प्रतिसमय के परिवर्तन का ज्ञान नहीं हो पाता है, बल्कि चार दिनों में हुए परिवर्तन को हम जान पाये हैं। किन्तु वह आम तो प्रति समय कुछ न कुछ बदला है तब जाकर वह चार दिन में हरे से पीला दिखाई दिया है। एकदम से तो हरे से पीला नहीं हो गया।

पर्याय के वर्गीकरण जैनदर्शन में कई प्रकार से बताये गये हैं; यथा—

1. द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय

2. अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय

इनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

1. द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय— अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्यपर्याय कहलाती है।⁹ यह समान जातीय और असमान जातीय के भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। जब 3-4 परमाणु रूप पुद्गल मिलकर स्कन्ध बनते हैं तो यह पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली समान जातीय द्रव्य पर्यायें हैं। तथा भवान्तर को प्राप्त हुए जीव के शरीरादि नोक्कर्म रूप पुद्गल के साथ मनुष्य या देव आदि रूप जो पर्याय होती है, वह चेतन और अचेतन के मेल रूप होने के कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है।¹⁰

इसी प्रकार जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वयरूप एकत्व का ज्ञान होता है, वे गुण-पर्यायें कही जाती हैं।¹⁰ जैसे कि आम के वर्ण गुण की हरे व पीले वर्ण रूप पर्यायें, जीव के ज्ञान गुण की मति-श्रुतज्ञान रूप पर्यायें।

गुण पर्याय के दो भेद हैं— स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। उदाहरण स्वरूप द्रव्य-भाव कर्म रहित जीव के ज्ञानादि गुणों की केवलज्ञानादि रूप पर्यायें स्वभाव पर्यायें हैं तथा परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य में स्थित स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि रूप पर्यायें भी स्वभाव पर्यायें हैं और जीव की मतिज्ञानादि रूप कर्मोदय प्रेरित पर्यायें एवं पुद्गल की स्कन्ध रूप पर्यायें विभाव पर्यायें हैं।¹¹

2. अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय— जो षड्गुण हानि-वृद्धि रूप सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, वे अर्थ-पर्यायें हैं।¹² ये ज्ञानगोचर तो हैं, किन्तु शब्दों से इनका प्ररूपण नहीं किया जा सकता है। इन्हें मात्र वर्तमानकाल से उपलब्धित एवं ऋजुसूत्रनय का विषय माना गया है तथा प्रदेशत्व गुण के कार्य को 'व्यंजन-पर्याय' कहते हैं। यथा—मिट्टी की पिण्ड स्थास, कोश, कुशूल, और घट आदि पर्यायें व्यंजन-पर्यायें हैं।¹³

सप्त-तत्त्व-मीमांसा—

जैसे 'क्षेत्र' या 'प्रदेश' की प्रधानता से पंच अस्तिकायों का निरूपण जैनदर्शन में प्राप्त है, और 'द्रव्य' पक्ष की प्रधानता से षड्द्रव्यों की मीमांसा जैनदर्शन में की गयी है। उसी प्रकार 'भावपक्ष' की प्रधानता से 'सप्ततत्त्वों का विवेचन' मिलता है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि पंचास्तिकायों का प्ररूपण एवं षड्द्रव्यों का निरूपण जिस

प्रकार मात्र जानने-योग्य विषय है, ज्ञेय-तत्त्व-रूप है, उसी प्रकार सप्ततत्त्व मीमांसा मात्र ज्ञेय-रूप नहीं है। इसमें हेय-ज्ञेय-उपादेय तीनों रूपों का विवेचन किया गया है। दूसरे शब्दों में कहें, तो जीवों को अपने हित की दृष्टि से कौन-सी वस्तु मात्र जानने योग्य है, कौन-सी अपनाने-योग्य है, और कौन-सी त्यागने-योग्य है—इसी को तत्त्वमीमांसा में बताया गया है। सीधे शब्दों में कहें तो आत्मा के हित-अहित की दृष्टि की प्रधानता से जैन दर्शन में तत्त्व-विवेचन किया गया है।

इस तथ्य को जैनदर्शन में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

“प्रदेशप्रचयात्कायः द्रवणाद् द्रव्यनामकीः।

परिच्छेद्यत्वतस्तेऽर्थाः तत्त्वं वस्तुस्वरूपतः॥”¹⁴

अर्थात् प्रदेश प्रचय की दृष्टि से काय या अस्तिकाय, द्रवण की दृष्टि से ‘द्रव्य’, प्रमाण ज्ञान से जानने योग्य होने से ‘अर्थ’ या ‘पदार्थ’ तथा वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से ‘तत्त्व’ संज्ञा दी गयी है।

अतएव मोक्षमार्ग के प्रथम सोपान ‘सम्यग्दर्शन’ “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्”¹⁵ कहकर मात्र तत्त्व या तत्त्वार्थ पक्ष को ही सम्यग्दर्शन के विषय में विवेचित किया गया है।

प्रथमतः ‘तत्त्व’ का लक्षण या परिभाषा को जानना प्रकरण-प्राप्त है। व्युत्पत्तिजन्य दृष्टि से ‘तस्य भावस्तत्त्वम्’¹⁶ कहा गया है अर्थात् जिस वस्तु का जो भाव है, वही उसका ‘तत्त्व’ है। आचार्य अकलंकदेव वस्तु के असाधारण रूप स्व-तत्त्व को ‘तत्त्व’ संज्ञा देते हैं।¹⁷

परिभाषा की दृष्टि से जीवादि पदार्थों का याथात्म्य ही ‘तत्त्व’; है—

“चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः।

तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते॥”¹⁸

चूँकि तत्त्व शब्द मात्र भाववाची माना गया है तथा बिना पदार्थ के किसी भाव की सत्ता नहीं है। अतः कोई मात्र भावों को ही तत्त्व न मान ले, इसलिए ‘तत्त्व’ की जैनदर्शन में ‘तत्त्वार्थ’ संज्ञा भी दी गयी।

“तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थः। अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणं तत्त्वार्थः॥”¹⁹

अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसी रूप से निश्चित करना या जानना वह तत्त्वार्थ कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे उष्णता अग्नि में ही होती है। अग्नि के बिना नहीं पायी जाती है, इसी प्रकार जैनाभिमत तत्त्वविवेचन ‘अर्थ’ के बिना स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु उसको पूर्णतः उपेक्षित नहीं किया गया है— इसी आशय के साथ ‘तत्त्व’ को ‘तत्त्वार्थ’ भी कहा गया है।

‘तत्त्व’ या ‘तत्त्वार्थ’ की संख्या जैनदर्शन में सात मानी गयी है—

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्।”²⁰

अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व या तत्त्वार्थ हैं।

इनका सामान्य परिचय निम्नानुसार है—

1. जीव तत्त्व—ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग लक्षण वाला ‘जीव’ है। चूँकि ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग को ही ‘चेतना’ संज्ञा भी दी गयी है। अतः चेतना लक्षण वाला जीव है।—ऐसा भी कहा गया है। यद्यपि लक्षण की दृष्टि से तो सभी जीव-द्रव्य इसमें आ जाते हैं; किन्तु तत्त्वविवेचन में प्रयोजन की मुख्यता है; अतः जो जाननेवाला है, वही ‘जीवतत्त्व’ के रूप में यहाँ गृहीत होगा। ‘राम’ संज्ञक व्यक्ति यदि अपने उपयोग-लक्षण स्वरूप को जान रहा है, तो उसमें जीव-तत्त्व मात्र वही है। अन्य उपयोग लक्षण ‘जीव’ ‘जीवद्रव्य’ के अन्तर्गत आएँगे, जीवतत्त्व तो मात्र स्व-तत्त्व ही होगा।

2. अजीव तत्त्व—चेतना लक्षण रहित पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-पाँचों द्रव्य ‘अजीव तत्त्व’ हैं। ज्ञाता, जीव के लिए ‘चैतन्य स्वभाव’ इनमें नहीं है, अतः ये ‘अजीव’ हैं। जीव और अजीव के अतिरिक्त शेष पाँच ‘तत्त्वों’ या ‘तत्त्वार्थों’ का वर्गीकरण ‘द्रव्य’ और ‘भाव’—इन विशेष उपलक्षणों से किया गया है, जिसमें आत्मिक भाव की प्रधानता है, उसे ‘भाव’ उपलक्षण दिया गया है; तथा पौद्गलिक द्रव्यकर्म की प्रधानता से जो विवेचन है, उसे ‘द्रव्य’ उपलक्षण दिया गया है। यहाँ ‘द्रव्य’ का अर्थ षड्द्रव्य-मीमांसा में विवक्षित द्रव्य से नहीं है।

3. आस्रवतत्त्व—कर्मों के आगमन के द्वार को ‘आस्रव’ कहा गया है। जीव के जिन भावों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन राग-द्वेष-मोह आदि रूप विकारी भावों को ‘भावास्रव’ कहा गया है; तथा ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों के आगमन को ‘द्रव्यास्रव’ कहा गया है।

4. बन्ध-तत्त्व—कर्मों का आत्मिक प्रदेशों से संश्लिष्ट होना बन्ध है। जीव के जिन भावों के कारण ज्ञानावरणादि कर्म आत्मिक प्रदेशों से संश्लिष्ट होकर बँधते हैं, उन भावों को ‘भावबन्ध’ कहते हैं; और आत्मिक प्रदेशों से संश्लिष्ट होने वाली पुद्गल-कर्म वर्गणाओं के संश्लेषण (बन्धन) को ‘द्रव्य-बन्ध’ कहा गया है।

5. संवर-तत्त्व—कर्मों के आगमन द्वार यानि ‘आस्रव’ का निरोध हो जाना, रुक जाना ही संवर-तत्त्व है। जीव के जिन आत्मिक भावों के कारण ज्ञानावरणादिक कर्मों का आगमन रुकता है, वे भाव ‘भाव-संवर’ कहे गये हैं तथा ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं का आगमन निरुद्ध होना ‘द्रव्य-संवर’ है।

6. निर्जरा-तत्त्व—पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होना, आत्मिक प्रदेशों से उनका विश्लेषण होना ही ‘निर्जरा तत्त्व’ है। जीव के जिन तप आदि भावों के बल से पूर्वबद्ध

ज्ञानावरणादिक कर्म निर्जीण होते हैं, उन भावों को भाव-निर्जरा तथा पौद्गलिक ज्ञानावरणादिक कर्मवर्णाओं का निर्जीण होना या आत्मप्रदेशों से विश्लेषित हो जाना (छूट जाना-अलग हो जाना) द्रव्य-निर्जरा है।

‘निर्जरा तत्त्व’ का अन्य दृष्टियों से भी वर्गीकरण जैन ग्रन्थों में मिलता है। यथा— ‘सविपाक निर्जरा’ और ‘अविपाक निर्जरा’।

आत्मप्रदेशों से बँधे हुए जो पुद्गल-कर्म उदय में आकर जीव को अपनी प्रकृति के अनुरूप शुभ या अशुभ फल देकर निर्जीण होते हैं, उन्हें ‘सविपाक’ या ‘विपाकज’ निर्जरा कहते हैं तथा जिन कर्मों का उदय-काल आ गया है या अभी नहीं आया है, ऐसे कर्मों को तप आदि प्रयोगों द्वारा बिना उनका फल पाये जब जीव निर्जरित कर देता है, तो उसको ‘अविपाक’ निर्जरा कहते हैं।

इनके बारे में जैनदर्शन में कुछ तुलनात्मक वैशिष्ट्य²¹ भी बतलाये गये हैं।

सविपाक निर्जरा	अविपाक निर्जरा
1. केवल उदयागत कर्मों की ही होती है।	1. उदयागत एवं अनुदयागत-दोनों प्रकार के कर्मों की होती है।
2. चारों गतियों के जीवों को होती है।	2. केवल सम्यग्दृष्टि व्रतधारी संयमी मनुष्यों को ही होती है।
3. अकुशल जीवों के होने के कारण इसके फलस्वरूप उन जीवों को नवीन कर्म-बन्ध अवश्य होता है। अतः इसे ‘अकुशलानुबन्धा’ कहा गया है।	3. इच्छानिरोधपूर्वक न होने के कारण या तो इस निर्जरावाले मिथ्यादृष्टि जीव को मात्र प्रशस्त (शुभ प्रकृतियों का बन्ध) होता है। अतः इसे ‘शुभानुबन्धा’ कहा गया है और सम्यग्दृष्टि जीवों को इच्छानिरोधपूर्वक होने से यह नवीन बन्ध का निमित्त नहीं होती है; अतः इसे ‘निरनुबन्धा’ कहा गया है।
4. मोक्ष प्राप्ति की कारण नहीं है।	4. मोक्ष प्राप्ति की कारण है।

इनके अतिरिक्त ‘अकाम निर्जरा’ नाम से एक प्ररूपण ‘निर्जरातत्त्व’ का जैनदर्शन में प्राप्त होता है। इसके अनुसार मजबूरी या परतन्त्रता के कारण न चाहते हुए भी भूख-प्यास सहने, ब्रह्मचर्य पालने, मल-मूत्र त्याग न कर पाने का कष्ट सहने आदि इन्द्रिय विषयों की निवृत्ति को धैर्यपूर्वक सह जाना ‘अकाम निर्जरा’ है।²² इसके परिणामस्वरूप भवनवासी व्यन्तर एवं ज्योतिषदेवों की आयु का बन्ध होना बताया गया है।

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै। (छहढाला)

7. मोक्ष तत्त्व— “बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः। (तत्त्वार्थसूत्र 10/2)

अर्थात् नवीन कर्म बन्ध के कारणों मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का अभाव हो जाना तथा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने से सम्पूर्ण कर्मों से रहित आत्मा की अवस्था विशेष का नाम मोक्ष है।

इसके भी ‘द्रव्य-मोक्ष’ एवं ‘भाव-मोक्ष’ ये दो भेद बताये गये हैं। कर्मों के निर्मूलन में समर्थ शुद्धात्मोपलब्धिरूप जीव का परिणाम ‘भाव-मोक्ष’ है तथा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना ‘द्रव्य-मोक्ष’ है।¹³

मोक्ष-प्राप्त जीव अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य (बल) से सम्पन्न होकर पूर्ण स्वाधीन हो जाता है।¹⁷

मोक्ष-प्राप्त जीव को मुक्त कहा गया है। उक्त मोक्षलक्षण के अनुसार तो सर्व-कर्म-बन्धन विमुक्त सिद्ध जीव ही वास्तव में मुक्त कहे जाते हैं, किन्तु चार घाति कर्मों से रहित एवं संसारचक्र से मुक्त अनन्तदर्शनादि चतुष्टय से सहित भावमोक्षवान् अर्हन्त परमात्मा को भी जीवन्मुक्त कहा गया है—

भावमोक्षः केवलज्ञानोत्पत्तिः जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थः।

(पंचास्तिकायसार संग्रह, तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा-150)

जैसा-कि जीव द्रव्य निरूपण में ‘जीवन्मुक्त’ एवं विदेहमुक्त—इन दो वर्गीकरणों में मुक्त जीवों को बताया गया है, तदनुसार जीवन्मुक्त जीवों के चरम शरीर एवं चार अघातिया कर्म विद्यमान रहते हैं और वे इसी मध्यलोक में आयु-कर्म पूर्ण होने तक रहते हैं, किन्तु विदेहमुक्त जीव उक्त चार अघातिया कर्मों के बन्धन से भी रहित होकर शरीर को भी छोड़कर अशरीरी सिद्ध भगवान् के रूप में लोकाग्र के शिखर पर स्थित ‘सिद्ध शिला’ पर अनन्तकाल तक अपने स्वाभाविक गुणों एवं अनन्त दर्शनादि में मान रहकर अव्याबाध रूप से (किसी को बाधा पहुँचाये बिना, किसी से बाधित हुए बिना) स्थित रहते हैं। इस ‘सिद्धशिला’ के बारे में कहा गया है कि यह ‘ईषत्प्राग्भार’ नामक पृथ्वी के ऊपर स्थित है तथा इसका विस्तार एक योजन से भी कुछ-कम होता है।¹⁵

इस प्रकार संक्षेप में सप्ततत्त्वों का परिचय दिया। इन तत्त्वों के विषय में ‘धर्मों’ और ‘धर्म’ के रूप में वर्गीकरण आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“जीवाजीवौ हि धर्मिणौ, तद्धर्मस्त्वास्ववादय इति धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तम्।” (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 2-1-4-48) अर्थात् सात प्रकार के तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो तो ‘धर्मों’ रूप तत्त्व हैं तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच उन जीव और अजीव धर्मों तत्त्वों के ‘धर्म’ रूप तत्त्व हैं।

इन सातों तत्त्वों का प्रयोजन की दृष्टि से एक अन्य वर्गीकरण भी जैनदर्शन में

प्राप्त होता है—हेय, ज्ञेय और उपादेय रूप में। इनमें से अजीव तत्त्व ज्ञेय अर्थात् मात्र जानने योग्य है, उनमें न तो कोई छोड़ने योग्य (हेय) है और न ही ग्रहण करने या अपनाने योग्य (उपादेय) है। अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आने वाले पुद्गल आदि पाँचों द्रव्यों को 'ये जीव अर्थात् मैं नहीं हूँ—ऐसा जानना ही मोक्षमार्ग एवं आत्महित में कार्यकारी है। 'आस्रव' और 'बन्ध' तत्त्व आत्मा के लिए दुःख के कारण और स्वयं दुःख-स्वरूप होने के कारण 'हेय' अर्थात् छोड़ने-योग्य तत्त्व हैं। इनकी हेयता का बोध कराने के लिए ही इनकी चर्चा यहाँ की गयी है, जिससे कि जीव इनको दुःखदायी मानकर छोड़ दे। उपादेय तत्त्वों में 'जीव-तत्त्व' अनुभव करने व आत्मलाभ करने की दृष्टि से आश्रय योग्य 'परम-उपादेय' है, क्योंकि आत्मा अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। 'संवर' और 'निर्जरा' तत्त्व मोक्षमार्ग रूप होने से प्रकट करने की अपेक्षा एकदेश-उपादेय हैं; क्योंकि संवर और निर्जरा की स्थिति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, तथा संवर और निर्जरा में ही स्थित बने रहेंगे तो भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। जब कि मोक्ष की प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अतः प्रकट करने की अपेक्षा 'मोक्ष-तत्त्व' पूर्ण उपादेय है।

यहाँ पर यह जिज्ञासा सम्भव है कि मोक्ष-प्राप्ति में साधक संवर-निर्जरा एवं जीव तत्त्वों का ही विवेचन यहाँ किया जाना चाहिए था; ज्ञेय रूप अजीव, हेयरूप आस्रव-बन्ध तत्त्वों का प्रतिपादन क्यों किया? इनके विवेचन से मोक्षार्थी जीव को क्या लाभ है? इसका सरल उत्तर जैनदर्शन में इस प्रकार दिया गया है—

“हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति।”

(द्रव्यसंग्रह टीका गाथा 14)

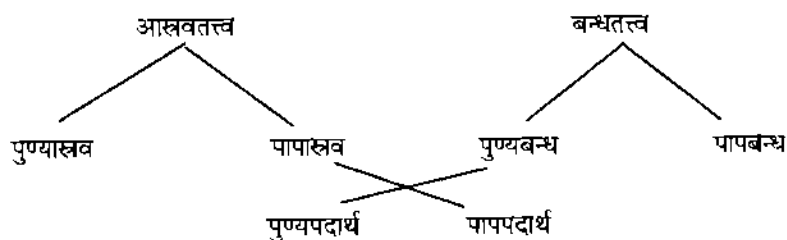
अर्थात् हेय तत्त्वों की भलीभाँति पहिचान हो जाने पर ही जीव उन्हें छोड़कर उपादेय तत्त्वों को अंगीकार करता है।

पं. जयचन्दजी छावड़ा ने इन सातों तत्त्वों के बारे में किस क्रम से, कैसे भावना करनी चाहिए। इसका सुन्दर निरूपण 'भावपाहुड़' ग्रन्थ की गाथा 114 की टीका में किया है। तदनुसार सर्वप्रथम जीवतत्त्व का स्वरूप जानकर 'यह जीव तत्त्व मैं हूँ'—ऐसी आत्मभावना करनी चाहिए; फिर अजीव तत्त्वों की पहिचान कर 'ये मैं नहीं हूँ'—ऐसा निर्णय करना चाहिए। तीसरे 'आस्रव' से ही जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है—ऐसा विचार कर आस्रवभावों को नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार बन्ध तत्त्व के कारण ही मुझमें राग-द्वेष आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। अतः उनके सर्वथा त्याग की भावना करनी चाहिए। पाँचवें संवर-तत्त्व को 'ये मेरा अपना भाव है और इसी से मेरा संसार-परिभ्रमण मिटेगा'—ऐसी भावना करना चाहिए। इसी आत्म भाव से कर्मों

की निर्जरा होती है और इन कर्मों का पूर्ण अभाव होने पर मोक्षरूप परिपूर्ण आत्मलाभ होता है, अतः निर्जरा और मोक्ष तत्त्व की भावना करनी चाहिए। इन सभी में मूलतः आत्मतत्त्व की भावना ही प्रधान है।²⁶

नव पदार्थ मीमांसा

नव पदार्थ मीमांसा पूर्वोक्त सप्त तत्त्व मीमांसा से कोई बड़ा तात्त्विक अन्तर नहीं रखती है। पूर्वोक्त सप्त-तत्त्व में ही 'पुण्य' और 'पाप' की स्वतन्त्र मीमांसा करने से नव पदार्थ बन जाते हैं। ज्ञातव्य है कि 'आस्रव' और 'बन्ध' तत्त्वों का ही वर्गीकरण 'पुण्य' और 'पाप' के रूप में जैनदर्शन में निम्नानुसार किया गया है।



इसी दृष्टि से 'तत्त्वार्थ सूत्र' में पुण्य-पाप का आस्रव-बन्ध तत्त्वों में अन्तर्भाव मानकर अलग से विवेचन नहीं किया गया है। आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि सर्वार्थसिद्धि टीका में स्पष्ट लिखते हैं—

“इह पुण्यपापग्रहणं कर्तव्यं 'नव पदार्थ' इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम् आस्रवबन्धे चान्तर्भावात्।”— (सर्वार्थसिद्धि, 1/4)

फिर भी कुन्दकुन्द आदि महान् आचार्यों ने पुण्य-पाप की अलग से मीमांसा की और सप्त तत्त्वों की जगह नव पदार्थों को अपना प्रतिपाद्य बनाया। इसका प्रमुख कारण यही रहा कि सामान्यतः लोग अशुभ कर्मरूप पाप परिणामों व पापकार्यों को तो 'बुरा' बताकर छोड़ने की प्रेरणा देते हैं; किन्तु शुभ कर्म रूप पुण्य परिणामों एवं पुण्यकार्यों को 'अच्छा' बताकर उन्हें अपनाने को कहते हैं। जब कि जैनदर्शन में इन दोनों का अन्तर्भाव 'आस्रव' और 'बन्ध' तत्त्वों में किया गया है, जो-कि हेय तत्त्व हैं; सर्वथा छोड़ने योग्य हैं, कोई भी अपनाने योग्य नहीं हैं। जैनदर्शन की इसी दृष्टि को प्रधानता प्रदान करने के लिए ही सप्त तत्त्व-विवेचन से पृथक् नवपदार्थ-विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

सम्पूर्ण जैन परम्परा 'पुण्यभाव' को 'पापभाव' के समान ही मोक्षमार्ग में बाधक बताकर इन्हें समानरूप से त्यागने का निर्देश देती है। कुछ निदर्शन यहाँ प्रस्तुत है—

(क) आचार्य कुन्दकुन्द— बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, दोनों जैसे पुरुष को बाँधती ही हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप दोनों ही कर्म जीव को बाँधते हैं।^{१७} अतः जो जीव इन पुण्य और पाप में अन्तर करता है। (अर्थात् पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा बताता है; दोनों को समान रूप से हेय नहीं मानता है) वह मोह से व्याप्त होकर घोर संसार में परिभ्रमण करता रहता है।^{१८} वे स्पष्ट करते हैं कि जो जीव परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे ही जीव अज्ञानता में संसार परिभ्रमण के हेतु पुण्य को चाहते हैं; क्योंकि कि वे मोक्ष के कारण को नहीं जानते हैं।^{१९}

(ख) आचार्य योगीन्द्र देव— जो बन्ध के कारण 'विभाव परिणाम' एवं मोक्ष के कारण 'स्वभाव परिणाम' के भेद को नहीं जानता है, वही पुण्य और पाप दोनों से मोह करता है। कोई विरला ज्ञानी ही पुण्य को भी पाप के समान हेय जानता है।^{२०}

(ग) आचार्य देवसेन— निश्चय से दोनों ही संसार के कारण हैं, अतः पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है।^{२१}

(घ) आचार्य अमृतचन्द्रसूरि— जैसे एक शूद्रा के दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ पलकर मदिरा आदि को छूने से भी बचता है, और दूसरा जो शूद्रा के यहाँ पलता है, वह मदिरा से स्नान करने में भी बुराई नहीं मानता। ऐसा भेद दिखने पर भी दोनों वास्तव में एक ही शूद्रा के उदर से उत्पन्न होने के कारण साक्षात् शूद्र ही हैं। इसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों ही हेयरूप आस्रव-बन्ध तत्त्वों के भेद हैं, उनमें किसी को अच्छा या किसी को बुरा मानना अज्ञान है।^{२२}

(ङ) आचार्य अमितगति— अविनाशी, निराकुल सुख को न देखने वाले मन्दबुद्धि लोग ही पुण्य और पाप में अन्तर मानते हैं।^{२३}

(च) आचार्य ब्रह्मदेवसूरि— सम्यग्दृष्टि जीव के लिए पुण्य और पाप दोनों ही हेय हैं।^{२४}

(छ) पंडितप्रवर टोडरमल— पुण्य-पाप दोनों ही आकुलता के कारण होने से बुरे हैं, क्योंकि जहाँ आकुलता है, वहीं दुख है। अतः पुण्य-पाप को भला-बुरा जानना अज्ञान है।^{२५}

यद्यपि पुण्य और पाप दोनों पूर्णतः समान नहीं है और संसारावस्था में दोनों के साथ समान व्यवहार सर्वदा सम्भव भी नहीं है, क्योंकि 'तीर्थंकर प्रकृति' भी पुण्य प्रकृति ही है, और उसके उदय से होने वाले समवसरण, धर्मोपदेश, ऊँकारमयी दिव्यध्वनि आदि प्रशस्तकार्य सीधे-सीधे 'हेय' नहीं कहे जा सकते हैं, फिर-भी नवपदार्थ विवेचन के पीछे यही अवधारणा है कि पुण्य और पाप-दोनों 'आस्रव' और 'बन्ध' तत्त्व के विशेष (भेद) जानकर मोक्षमार्गी जीव दोनों को समान रूप से हेय माने तभी वह संवर-निर्जरा रूप मोक्षमार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, अन्यथा वह पाप के दुष्परिणामों से

भले ही भयभीत हो, किन्तु पुण्य का आकर्षण उसे कभी भी मोक्षमार्गी नहीं बनने देगा। तीर्थंकर भी अपना हित-साधन तभी कर पाते हैं, जब वे पुण्यभावों व पुण्य के उदय दोनों से अलिप्त रहकर आत्म-स्वरूप में मग्न रहते हैं। प्रमाण-स्वरूप समवसरण-रूपी सर्वाधिक वैभव सम्पन्न पुण्यशाली धर्मसभा में वे कभी देह से भी उसे स्पर्श नहीं करते हैं, अपितु उससे चार-अंगुल-प्रमाण ऊपर रहकर अलिप्तता एवं निस्पृहता को प्रमाणित करते हैं।

चूँकि सप्ततत्त्व एवं नवपदार्थ विवेचन का मूल लक्ष्य मोक्ष-मार्ग पर जीव को अग्रसर करना है, अतएव पुण्य-पाप का हेयत्व ही यहाँ विवक्षित एवं ग्राह्य है। इन दोनों की भेददृष्टि तथा किसी एक को सापेक्ष हेयता-उपादेयता यहाँ न तो विवक्षित है और न ही ग्राह्य है।

यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि प्रत्येक दर्शन का प्रवर्तन किसी न किसी विशिष्ट लक्ष्य को लेकर उसके साधन-हेतु होता है। सामान्यतः व्यक्ति दुःख के विनाश एवं सुख की प्राप्ति के लक्ष्य से दर्शन की शरण में आता है। अतः प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन का लक्ष्य 'मोक्ष' रहा है तथा उसकी प्राप्ति के उपाय के प्रतिपादन में उसकी दार्शनिकता चरितार्थ हुई है। अतएव जैनदर्शन भी मोक्ष के लक्ष्य को लेकर चला है और उसकी तत्त्व-मीमांसा इसी लक्ष्य के साधन के रूप में प्रतिफलित हुई है और इसी का एक अन्यतम प्रमाण है, पुण्य-पाप के हेयत्व प्रतिपादनार्थ प्रस्तुत नवपदार्थ-विवेचन। यदि पुण्य-पाप की हेयता नहीं बतानी होती, तो नवपदार्थ-विवेचन का प्रकल्प ही नहीं होता, मात्र सप्त तत्त्व मीमांसा में ही बात पूरी हो जाती।

अस्तु, जैनाभिमत तत्त्व-मीमांसा के चारों वर्गीकरणों—पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व एवं नवपदार्थ के विवेचन के उपरान्त यह विषय भी तुलनात्मक रूप से समीक्षणीय है कि जैन दर्शन अपनी तत्त्व-मीमांसा में जो-जो बातें प्रतिपादित करता है; अन्य भारतीय दर्शनों में भी क्या वे इसी रूप में हैं, या नामतः, लक्षणतः या फलतः भिन्न हैं। भिन्नता व समानता की इस तुलना में मात्र शाब्दिक ऐक्य या भेद नहीं देखा जाना है, अपितु लक्ष्य एवं भाव-गत-ऐक्य एवं भेद भी निर्णीत करना आवश्यक है। अतः इसी दृष्टि से भारतीय दर्शनों की तत्त्वमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में जैनाभिमत तत्त्वमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत है—

जहाँ तक 'अस्तिकाय' की अवधारणा है, यह जैनदर्शन की नितान्त मौलिक अवधारणा है। इस दृष्टि से वस्तु-तत्त्व को अलग संज्ञा किसी भी अन्य दर्शन में प्राप्त नहीं होती और न ही ऐसा वर्गीकरण अन्यत्र कहीं मिलता है। अतः भारतीय दर्शन को यह जैनदर्शन की मौलिक देन है।

इसी प्रकार सप्त-तत्त्व एवं नवपदार्थ का वर्गीकरण विशुद्ध दार्शनिक वर्गीकरण है,

जिसका लक्ष्य जीव को मोक्षमार्गी बनाना रहा है। अतः वस्तु तत्त्व को इन संज्ञाओं और इस प्रकार के वर्गीकरणों में अन्य किसी दर्शन ने विवेचित नहीं किया। इतना विशेष है कि मोक्षतत्त्व या मोक्ष पदार्थ तथा उसके साधन के विषय में अन्य भारतीय दर्शनों में भी विवेचन प्राप्त होता है, इनमें प्रायः सभी दर्शन किसी न किसी रूप में मोक्ष को स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन समस्त कर्मों से मुक्ति को मोक्ष मानता है, तो बौद्धदर्शन तृष्णा के क्षयरूप अभावात्मक पक्ष को मोक्ष मानता है। भौतिकवादी चार्वाकदर्शन चूँकि आत्मा को ही नहीं मानता,—तो मोक्ष किसको होगा, फिर-भी उसने मृत्यु को ही मोक्ष की संज्ञा दी है। सांख्य दर्शन में आत्मा के कैवल्य भाव को मुक्ति माना गया है। योग दर्शन भी ऐसा ही मानता है। न्यायदर्शन 21 प्रकार के दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष कहता है, जबकि वैशेषिकदर्शन आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उच्छेद हो जाने को मोक्ष मानता है। मीमांसादर्शन में स्वर्ग को ही मोक्ष माना गया है और इसका स्वरूप वे धर्म-अधर्म का नाश होने पर शरीर का नाश होना मोक्ष मानते हैं। जबकि वेदान्त-दर्शन में आप्तभावमोक्ष। भगवान के सान्निध्य में रहना। सत्-चिद् आनन्दावस्था को मोक्ष माना गया है।

इस मोक्ष के साधन के रूप में जहाँ जैनदर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय की एकता को मानता है। वहीं बौद्धदर्शन सम्यग्दृष्टि आदि अष्टांगिक मार्ग को मोक्ष का साधन मानता है। चार्वाक तात्त्विक रूप में मोक्ष को ही नहीं मानता, अतः मोक्ष के साधन भी नहीं मानता। सांख्य-दर्शन व्यक्ताव्यक्त विवेक ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता है, जबकि इसका सहयोगी योगदर्शन ज्ञान की पराकाष्ठा रूप वैराग्य ऋतम्भरा प्रज्ञा असम्प्रज्ञात समाधि को मोक्ष का साधन मानता है। न्यायदर्शन में 16 प्रकार के पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति मानी गयी है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्यादि 6 पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बताई गयी है। मीमांसा दर्शन में वेदविहित कर्म को मोक्ष का मुख्य-साधन माना गया है और आत्मज्ञान को उसका सहकारी माना गया है जबकि वेदान्त दर्शन में श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि को मोक्ष का साधन माना गया है।

इनके अतिरिक्त जैनदर्शन प्रातिपादित तत्त्वमीमांसा या पदार्थमीमांसा का अन्यत्र कहीं तुलना-योग्य विवेचन प्राप्त नहीं होता है। अतः 'पंचास्तिकाय', 'सप्ततत्त्व' एवं 'नवपदार्थ' के विवेचन को हम जैनदर्शन की मौलिक अवधारणा एवं दार्शनिक विवेचना कह सकते हैं। इनका इस रूप में इन दृष्टियों से प्रयोग एवं नामकरण अन्य किसी भी दर्शन में उपलब्ध नहीं होने से तुलनात्मक विवेचन सम्भव नहीं है।

अन्ततः मात्र 'द्रव्यमीमांसा' ही ऐसी विवेचना बचती है, जिसका हम जैनदर्शन

एवं अन्यदर्शनों में नाम, संख्या, लक्षण, परिभाषा एवं प्रयोग-व्यवहार की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। अतः जैनाभिमत द्रव्यमीमांसा का अन्य भारतीय दर्शनों में विवेचित द्रव्यमीमांसा के साथ तुलनात्मक अध्ययन संक्षेपतः यहाँ प्रस्तुत है—

भेद या प्रकार की दृष्टि से जैनदर्शन द्रव्यों के छह भेद मानता है, जबकि बौद्ध दर्शन 75 भेद तक मानता है। मीमांसा दर्शन में ये भेद 6 हैं, जबकि सांख्य दर्शन में 25 प्रकार के पदार्थ माने गये हैं। वैशेषिक दर्शन 7 पदार्थ मानता है, तो वेदान्त दर्शन या-तो अद्वैत-ब्रह्म मानता है या ब्रह्म के साथ लोक की भी सत्ता मानता है। चार्वाक दर्शन में 4 प्रकार के महाभूत माने गये हैं।

द्रव्यों की संख्या की दृष्टि से जीवों को जैन अनन्त मानते हैं, सांख्य अनेक मानते हैं और वेदान्ती एक अद्वितीय सत्ता मानते हैं, जबकि बौद्ध और चार्वाक जीव या आत्मा की सत्ता ही नहीं मानते। पुद्गल द्रव्य को जैन अनन्तानन्त मानते हैं, जबकि इस वर्गीकरण के रूप में अन्य किसी दर्शन में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य जैनदर्शन में एक-एक माने गये हैं, परन्तु अन्य किसी दर्शन में इनकी कोई सत्ता ही नहीं है। आकाश द्रव्य को जैन दर्शन में अखण्ड रूप में एक और उपचारतः लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो माना गया है। जबकि अन्य किसी दर्शन में जैन परिभाषा के अनुसार आकाश-द्रव्य का स्वरूप प्राप्त नहीं होता। कुछ दर्शन शब्द-गुण वाले द्रव्य को आकाश कहते हैं, जबकि जैनदर्शन शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्याय कहता है। कालद्रव्य को जैनदर्शन लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात मानता है, किन्तु ऐसे कालद्रव्य की अन्य किसी दर्शन में विवेचना प्राप्त नहीं होती है।

लक्षण की दृष्टि से जैनदर्शन जीव का लक्षण चेतना या उपयोग मानता है। सांख्य भी चेतना या साक्षीभाव को जीव का लक्षण मानता है। जबकि बौद्ध और चार्वाक अनात्मवादी होने से इस विषय में मौन हैं। पुद्गल द्रव्य के लक्षण में जैनदर्शन जहाँ प्रत्येक पुद्गल द्रव्य को स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाला मानता है, वहीं वैशेषिक इन्हीं स्पर्शादि गुणों को अलग-अलग पुद्गलों में मानता है। उदासीन गति हेतुत्व और उदासीन स्थिति हेतुत्व धर्म और अधर्म द्रव्यों के लक्षणों को मात्र जैनदर्शन में ही स्थान प्राप्त है, अन्य किसी दर्शन में इस विषय में चर्चा तक नहीं है। इसी प्रकार अवगाहन-हेतु लक्षण वाले आकाश द्रव्य और वर्तना हेतु लक्षण वाले काल द्रव्य की भी अन्य दर्शनों में कहीं कोई उल्लेखनीय चर्चा नहीं मिलती।

प्रदेशसंख्या की दृष्टि से अस्तिकाय विवेचन में जो विवरण छहों द्रव्यों के बारे में दिया गया है। वह भी अन्य किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं है।

द्रव्यों के वर्गीकरण की दृष्टि से जैनदर्शन में जीव द्रव्य के संसारी और मुक्त ये दो मूलभेद माने गये हैं, जबकि संसारी जीवों से त्रस और स्थावर ये दो भेद बताकर

पृथ्वी आदि पाँच एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर और दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों को त्रस नाम दिया गया है। जबकि अन्य किसी दर्शन में ऐसा वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता। पुद्गल द्रव्य के भी अणु और स्कन्ध,—ये दो मूल भेद जैनदर्शन ने माने हैं। वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन में इस प्रकार का विवेचन नहीं है। अन्य द्रव्यों के बारे में जो भेद की चर्चा ऊपर हो चुकी है, वही अन्तिम है, अन्य कोई नवीन वर्गीकरण नहीं मिलता है।

सन्दर्भ

1. मूल शरीर को पूर्णतः छोड़े बिना जीव के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहा गया है।
2. आकाश के जितने क्षेत्र को अविभागी पुद्गल परमाणु घेरता है, उसे 'प्रदेश' कहते हैं।
3. संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्। (तत्त्वार्थसूत्र, 5/10)
4. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्। (तत्त्वार्थसूत्र, 5/8)
5. द्रष्टव्य पंचास्तिकाय-सार-संग्रह, गाथा 7-15, प्रवचनसार, ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार।
6. द्रव्यपरिवट्टरूढो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्टो॥ (द्रव्यसंग्रह, 1/21)
7. आलाप पद्धति, पृष्ठ 140, आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति 978, न्याय विनिश्चय विवरण, पृष्ठ 428, परीक्षामुख सूत्र 4/8
8. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा 92
9. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 16, पृष्ठ 35
10. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 16, पृष्ठ 36
11. नयचक्र-वृत्ति 22, 24
12. नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा 168
13. न्यायदीपिका 3/77
14. गोम्मतसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका 561, आर्या 1
15. तत्त्वार्थसूत्र 1/7
16. सर्वार्थसिद्धि टीका 1/2
17. तत्त्वार्थराजवार्तिक 2-1-6
18. तत्त्वानुशासन 111
19. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1-2-6
20. तत्त्वार्थसूत्र 1/4
21. द्रष्टव्य—सर्वार्थसिद्धि टीका 9/7, भगवती आराधना गाथा 1849, बारस अणुवेक्खा गाथा 67 इत्यादि।
22. द्रष्टव्य—सर्वार्थसिद्धि टीका, 6/20, तत्त्वार्थराजवार्तिक 6-12-7 एवं गोम्मतसार कर्मकाण्ड जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा 548
23. द्रष्टव्य—भगवती आराधना गाथा 38 की टीका एवं पंचास्तिकाय-संग्रह की तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा 108

24. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1-4-27, एवं पंचास्तिकाय गाथा 28
25. द्रष्टव्य—भगवती आराधना गाथा 2133, तिलोयपण्णत्ती, 8/652-658, एवं तिलोयपण्णत्ती 9/3-4
26. विशेषद्रष्टव्य—सर्वार्थसिद्धि टीका 1/4 तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/4/3 तथा पंचास्तिकायसार संग्रह गाथा 128-130 की तात्पर्यवृत्ति टीका, द्रव्यसंग्रह चूल्का 28/82
27. समयसार, पुण्यपापाधिकार गाथा 146
28. प्रवचनसार, गाथा 77
29. समयसार गाथा 154
30. परमात्मप्रकाश 2/53 एवं योगसार, दोहा 71
31. तत्त्वसार, पद्य-4
32. समयसार कलश 101
33. योगसार प्राभृत 4/39
34. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 38
35. मोक्षमार्ग प्रकाशक 4/121

अनेकान्त

प्रो. मुनि महेन्द्र कमर

अनेकान्तवाद जैन अध्यात्म की संरचना का मूलभूत तत्त्व है। यह विरोधाभासों के एकीकरण को सत्य का वास्तविक परिमाण मानता है। इसप्रकार अनेकान्तवाद विरोधाभासी सत्य के रहस्यों को उजागर करने का साधन है।

- एक ही वस्तु एक ही समय में एक है और अनेक भी है। एकता व अनेकता एक में ही समाहित है।
- समानता और विभिन्नता में कोई विरोधाभास नहीं है क्योंकि यह पूर्ण लक्षण नहीं है। यह आंशिक और सीमित है।
- अनेकान्तवाद सत्य की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का सिद्धान्त है। अन्य दार्शनिक सत्य के एक पक्ष का पोषण करने के लिए उसके दूसरे पक्ष से दूर निकल जाते हैं। जबकि अनेकान्तवाद सत्य के दोनों पक्षों का समान पोषण करता है।
- कोई भी वस्तु पूर्णरूप से न तो सार्वभौमिक है न ही आन्तरिक, न स्थायी है और न अस्थायी बल्कि उसमें दोनों ही लक्षण विद्यमान होते हैं।
- तर्क से यह सिद्ध नहीं होता कि वस्तु का अस्तित्व है या नहीं। अनुभव से ही निश्चित होता है कि वस्तु है या नहीं। जैसे गुड़ मीठा होता है। तर्क केवल उसी चीज को क्रमबद्ध व युक्तिसंगत करता है जिसे अनुभव प्रदान करता है।
- गुण और पर्याय न तो पूर्णरूप से पदार्थ हो सकते हैं और न इनसे भिन्न हो सकते हैं। बिना किसी एक पहलू के दूसरे का अस्तित्व नहीं हो सकता है।
- उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये सत्य के तीन लक्षण हैं। ये परिवर्तन की वास्तविकता के स्वाभाविक लक्षण हैं। जब सत्य का तार्किक विश्लेषण किया जाता है तो यही तीन तत्त्व सामने आते हैं। बौद्ध इसे अस्वीकार करके शून्यवादी हो जाते हैं और वेदान्ती इसे स्वीकार करके ब्रह्मवादी हो जाते हैं। विरोधाभास सत्यता के त्रिविध स्वरूप में नहीं, बल्कि इनकी सोच में है। जैन तीनों को एक साथ देखते हैं, जबकि अन्य इन्हें अलग-अलग करके देखते हैं।
- उदाहरणार्थ, एक ही दवा एक साथ दवा भी है और जहर भी। किन्तु अज्ञानी

इन दोनों बातों को एक साथ स्वीकार नहीं करता। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण वाले व्यक्ति इस बात को जानते हुए भी उस दवा का सदुपयोग करते हैं।

- किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय उसके स्वभाव और उसकी अवस्था विशेष पर निर्भर करता है। जैसे घड़ा स्वभाव को अपेक्षा मिट्टी है और अवस्था को अपेक्षा घड़ा।
- परिवर्तन या रूपान्तरण उन सभी वस्तुओं का मूलभूत लक्षण है, जो सत्य हैं।
- स्थायी समानता को पृष्ठभूमि के बिना परिवर्तन की नहीं समझ सकते। जैसे—
(1) मेरा गाँव पहले से बहुत बदल गया है। (समय वही है)
(2) मेरा गाँव इस शहर से बहुत बदला हुआ है। (स्थान वही है)
- अनुभव के लिए समानता और क्रमागत परिवर्तन आवश्यक होते हैं। अनेकान्तवाद भिन्न-भिन्न पहलुओं की एक करके देखता है।
- परिवर्तित अवस्थाओं की शृंखला सम्बद्ध आकार का रूप होता है। प्रक्रिया की प्रारम्भिक और बाद वाली अवस्थाएँ समानता में होने वाले परिवर्तन हैं, क्योंकि उनसे एक प्रक्रिया का निर्माण होता है। इस प्रकार अवस्थाओं का अनुक्रम एक इकाई के रूप में जोड़ दिया जाता है, जिसे हम लक्षणों की स्थायी समानता में परिवर्तन कहते हैं।
- जैन सत्य की गतिशील प्रकृति पर विश्वास कहते हैं। वेदान्त परिवर्तन को आभासी मानकर इन तीनों लक्षणों को नजरअन्दाज कर देते हैं।
- Real का होना सीधा-सादा नहीं है। Continuence और Variation समान सत्य हैं।
- एकता और विभिन्नता पूर्ण तारतम्य के साथ होती है।
- सत्य की परिवर्तन की पर्याय में देखा जाए तो यह अस्तित्व में आता है और जाता है।
- विरोधाभास आभासी है, क्योंकि इससे सन्तोषजनक अनुभव और विचार पैदा होता है।
- पदार्थ और पर्याय समानरूप से समान और भिन्न माने जा सकते हैं। इसमें पूर्ण स्वीकार या पूर्ण अस्वीकार जैसी कोई बात ही नहीं है। जैसे मिट्टी और घड़ा।
- बौद्ध समानता को जैनों की तरह नहीं मानते। वेदान्त भिन्नता को नहीं मानता, जबकि अनेकान्त दोनों की सत्यता को स्वीकार करता है व दोनों को सत्य का अनुभव द्वारा प्रमाणित गुण मानता है।
- 'है' या 'नहीं है', एक ही शब्द द्वारा एक ही समय में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए इसे अवाच्य भी कहा गया है।

- अनुभवगम्य ज्ञान सत्य पर आधारित होता है। ज्ञानेन्द्रियजन्य चेतना और धारणा को मिलाने से सत्यता का पूर्ण ज्ञान हो सकता है।
- जैन न तो धारणा का विरोध करते हैं और न ज्ञानेन्द्रियजन्य चेतना का। यानि कि विशेष और सार्वभौमिक एक दूसरे में समाहित हैं। इस प्रकार सत्य वाचिक सम्प्रेषण और निर्णय के लिए बराबर का उत्तरदायी है।
- पदार्थ, गुण और पर्याय के आपसी सम्बन्धों की सत्यता अध्यात्म का जटिल विषय है। जैनियों का मुख्य विषय पदार्थ और गुण के आपसी सम्बन्ध मुख्य धारणा है। यह सम्बन्ध ही है जो संसार में क्रमबद्धता और संयोग लाता है।
- पूर्वी और पाश्चात्य दार्शनिक इस सम्बन्ध को नकारते हैं। जैनियों के अनुसार अनुभव को नकारने से सन्देह उत्पन्न होता है। यदि हम अपने अनुभवों के प्रमाण पर विश्वास करें तो सम्बन्धों की वैधता को नकारने की कोई सम्भावना नहीं बनती है।
- अनेकान्तवादी विचारधारा के अनुसार सत्य अनन्त बहुतायत और धारणाओं की समानता है।
- सत्य एक ही वस्तु की एकता व अनेकता में निहित है और इसमें निहित सत्य न केवल पूर्ण समानता में है और न पूर्ण भिन्नता में। वरन् इन दोनों से भिन्न है।
- बहुत से पहलू और पर्यायों का एक हो जाना ही सत्य है, या जब एकता व विभिन्नता एक हो जाते हैं तब सत्य सामने आता है। इसीलिए पदार्थ और उसके गुण तथा पर्यायों के बीच सम्बन्धों का अध्ययन जैनियों की मूल विचारधारा है।
- आधुनिक भौतिकी को यह मूल अनुभूति है कि कोई भी सिद्धान्त कभी भी सत्य के सभी पहलुओं की व्याख्या नहीं करता और इसीलिए यह कभी वास्तविक स्थिति की पूर्ण विवेचना नहीं करता, क्योंकि यह प्रायोगिक तथ्यों के एकीकरण पर निर्भर है।
- भौतिकविदों की तरह जैन दार्शनिक भी मानते हैं कि भौतिक विश्व मूलरूप से अन्तःसम्बन्धित, अन्योन्याश्रित और अभिन्न है। अर्थात् यह पूर्णतया अन्तःसम्बन्धित व्यवस्था है। इसके पूर्णतः अन्तःसम्बन्धित होने के कारण किसी super human observer द्वारा एक all-embracing (सबको समाहित करने वाले) अनुभव द्वारा समझा जा सकता है।
- वास्तव में हमारे अनुभव अपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे अलग-अलग होते हैं। इसलिए हमारे तथ्य कुछ घटनाओं के कुछ आँकड़ों को जोड़ने के प्रयास होते हैं, जो कभी-कभी पूर्ण मुक्त संरचना तक नहीं ले जा पाते हैं। ये विरोधाभासी भी हो सकते हैं।

- जबकि सत्य का पूर्ण परिचय वह नहीं है, जिसमें सारा का सारा सत्य होता है और सत्य के अलावा कुछ भी नहीं होता है, जो बिना किसी विरोधाभास वाले पूर्ण अनुभव पर आधारित होता है।
- और अन्त में सभी भाषाएँ चाहे वह हिन्दी हो या गणित केवल अनुभव के बारे में चर्चा कर सकती हैं और अनुभव का वर्णन स्वयं अनुभव नहीं हो सकता।
- वैज्ञानिक खोज और अनुभव की प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि दोनों के साथ यह समस्या समान रूप से सामने आती है।

भौतिकी में एकता और अनेकता

भौतिक सत्यता के बारे में हमारी ठोस सोच सत्य की एकता व अनेकता की समस्या खड़ी कर देती है। ऐसा लगता है कि हमारे अपूर्ण और अलग-अलग अनुभव अनन्त टुकड़े और मौलिक अंश प्रकट कर देते हैं। किन्तु आधुनिक भौतिकी (जैसे क्वांटम सिद्धान्त) बताती है कि हम जिसको पूर्ण स्वतन्त्र अस्तित्व वाले बहुत सूक्ष्म इकाइयों में नहीं तोड़ सकते, पदार्थ के अति सूक्ष्म कण वास्तव में कण नहीं होते। यह केवल आदर्शिकरण है। ये प्रायोगिक दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु इनका कोई मौलिक महत्त्व नहीं होता—

- क्वांटम सिद्धान्त के जनक नील बोर भी कहते हैं—

Isolated material particles are abstractions (पदार्थ के पृथक् कण अमूर्त होते हैं)

- यद्यपि क्वांटम सिद्धान्त की भी विरोधी परिकल्पनाएँ हैं फिर भी वे वस्तुओं और घटनाओं के अन्तःसम्बन्धित होने को स्वीकार करती हैं।

जैनदर्शन में एकता और अनेकता

जैन अनेकान्तवाद जिस प्रकार पूर्ण अनेकता को एक ही सत्य के दो पहलू मानता है, उसी प्रकार वह न तो स्वतन्त्र मूल कण को सत्य मानता है और न ही केवल सम्पूर्ण विश्व को सत्य मानता है। बल्कि वह इन्हें एक ही सत्य के दो पहलू मानता है।

दार्शनिक जगत में यह विचारधारा है कि संसार की रचना ईश्वर द्वारा हुई है। जैनदर्शन में इस मत का पर्याप्त खंडन हुआ है। जैनदर्शन का दृढ़ विश्वास है कि विश्व का अस्तित्व सनातन है, अपने आप बना है, किसी ने बनाया नहीं है। 'विश्व की आयु क्या है?' इस गूढ़ प्रश्न का यही उत्तर है। सृष्टि की रचना सम्बन्धी अन्य मत भ्रामक हैं।

जैनदर्शन अनेकान्तवाद की वकालत करता है और एकान्तवादी दृष्टिकोण का खंडन

करता है। विश्व की नित्य-सह-अनित्य प्रकृति को समझने के लिए जैनदर्शन में वर्णित कारणत्व के सिद्धान्त को समझना होगा। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक परिणाम के दो कारण होते हैं—

1. उपादान कारण, 2. निमित्त कारण

स्वतः परिणाम के रूप में परिणत हो जाने वाला कारण उपादान कारण है और जो परिणाम उत्पन्न करने में साधन के रूप में कार्य करता है वह निमित्त कारण कहलाता है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिपल रूपान्तरित हो रहा है। इस प्रक्रिया में पूर्ववर्ती और अनुवर्ती में एक क्रम बना रहता है। प्रारम्भिक पर्याय या अवस्था भौतिक कारण है और बाद वाली अवस्था या पर्याय परिणाम है। इस प्रकार कारण और परिणाम एक ही अवस्था के दो रूप हैं। पुनश्च, रूपान्तरण के भी दो पहलू होते हैं—सृजन और विनाश। जब परिणाम उत्पन्न होता है तो भौतिक कारण समाप्त हो जाता है। तथ्य यह है कि भौतिक कारण ही अपना रूप त्यागकर परिणाम का रूप धारण कर लेता है। इसलिए यहाँ कारण और परिणाम की समानता का सिद्धान्त लागू होता है। इस प्रकार 'सत्' से 'सत्' उत्पन्न होता है 'असत्' नहीं।

रूपान्तरण दो प्रकार का होता है—

1. वह रूपान्तरण जो समय और प्रकृति के द्वारा होता है, स्वतः या प्राकृतिक रूपान्तरण कहलाता है। इसके लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता नहीं होती है।

2. किसी बाह्य अभिकरण द्वारा होने वाले रूपान्तरण को बाह्य रूपान्तरण कहते हैं। यह प्राकृतिक या स्वतः नहीं होता है।

चूँकि विश्व पदार्थों का संकलन मात्र है। इसलिए इसकी नित्यता व अनित्यता को इसके संरचक पदार्थों की नित्यता व अनित्यता के माध्यम से समझा जा सकता है। ये छह पदार्थ कैसे, कब व किसके द्वारा बने, यह जानने के लिए सभी पदार्थों के अस्तित्व की अनादि मानना होगा। अर्थात् जो सृष्टि की उत्पत्ति पर विश्वास करते हैं, उसके लिए तो यह प्रश्न हमेशा रहेगा, किन्तु इसे अनादि मानने वालों के लिए यह प्रश्न उचित नहीं है।

विश्व के छह पदार्थों में होने वाले रूपान्तरण विश्व के सनातन होने को सिद्ध करते हैं। इन छह पदार्थों में से चार—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल में केवल स्वतः रूपान्तरण होता है। इन्हीं रूपान्तरणों के कारण उनका अस्तित्व अनन्त समय के लिए होता है।

विश्व की समस्त लीलाएँ केवल दो ही पदार्थों—पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय के रूपान्तरण के कारण होती हैं। आत्माएँ दो प्रकार की होती हैं— 1. मुक्त और 2. संसारी। मुक्त आत्माओं में केवल स्वतः या प्राकृतिक रूपान्तरण होता है। संसारी आत्माओं में प्राकृतिक व निमित्त रूपान्तरण होता है, क्योंकि आत्माएँ कर्म पुद्गलों से बँधी हुई

होती हैं। कर्म के प्रवाह के दृष्टिकोण से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होता है।

कर्म के प्रभाव के कारण प्रत्येक संसारी आत्मा को विभिन्न रूपान्तरणों से गुजरना होता है। विश्व में जो विभिन्न प्रकार के रूपान्तरण दिखायी देते हैं, वे सभी इन्हीं संसारी आत्माओं के रूपान्तरणों के कारण होते हैं।

यह सम्पूर्ण दृष्टिगोचर विश्व पुद्गलास्तिकाय जो कि आधुनिक पदार्थ का पर्याय है, से बना है। शेष पाँच पदार्थों में होने वाले परिवर्तन से ही विश्व में होने वाले परिवर्तनों का बोध होता है।

परमाणु (पदार्थ का अदृश्य अंश) से लेकर सभी आकाशीय पिण्ड जैसे सूर्य, चन्द्र, उपग्रह आदि अब persistence through mode के सिद्धान्त के अनुसार ये सभी पदार्थ के पर्याय हैं। सभी भौतिक पिण्डों का अन्तिम कारण परमाणु है। वे एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करते रहते हैं और भौतिक संसार को बनाते-बिगाड़ते रहते हैं। संसार की सभी भौतिक सत्ताएँ पुद्गल के विभिन्न रूपान्तरणों के कारण बनती-बिगाड़ती रहती हैं। ये रूपान्तरण दो प्रकार के होते हैं—1. स्वतः और 2. निमित्त। आत्मा और पुद्गल के अनेक प्रकार के परिवर्तन और संयोग से बहुरूपता आती है। इन सभी रूपान्तरणों के बावजूद अन्तिम पदार्थ अस्तित्व में आता है। परमाणु और जीव सनातन रहते हैं।

परमाणु और स्कन्ध के इसी सिद्धान्त के आधार पर सांसारिक संरचनाओं की प्रत्यक्ष सनातनता की समस्या को हल किया जा सकता है। सांसारिक संरचनाएँ भी पुद्गल से बनी हुई हैं। प्रश्न यह है कि ये स्थायी रूप से कैसे बनी रहती हैं? इसे पुद्गल के रूपान्तरणों के आधार पर समझा जा सकता है। स्कन्धों का विश्लेषण और नवीनता प्रकृति के नियमानुसार होती है। उसी प्रकार परमाणुओं का स्वाभाविक रूपान्तरण होता है। इन सभी रूपान्तरणों से सांसारिक संरचनाओं के निहित पुद्गलों के नये-नये पर्याय बनते हैं, किन्तु रूपभेद के बावजूद भी इन संरचनाओं का अस्तित्व बना रहता है। उनसे प्रतिक्षण बड़ी संख्या में परमाणु उनसे मिलते रहते हैं। काफी समयान्तराल बाद ऐसा होता है कि एक समय में सांसारिक संरचनाओं में रहने वाले परमाणु उनसे पृथक् हो जाता है, साथ ही उनमें नये परमाणु शामिल हो जाते हैं। इसप्रकार यद्यपि संरचना के पर्याय में परिवर्तन होता है फिर भी संरचना अपने आप में स्थायी रूप से अस्तित्व में रहती है।

प्रकृति की उपर्युक्त घटनाओं को भवन के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। भवन के स्वामी और उसके उत्तराधिकारी भवन के क्षतिग्रस्त भागों को बदलते रहते हैं। भविष्य में एक दिन ऐसा भी आता है जब भवन के मूल अंशों (भागों) के स्थान पर नये अंश स्थापित कर दिए जाते हैं, किन्तु लोगों के लिए यह वही भवन होता है जो सौ साल पहले था। यह भी सत्य है, कि वंश परम्परा का अन्त है और

मानव शक्ति सीमित है। यदि ऐसा न होता तो वह भवन भौतिक जगत की स्थायी सत्ता बन जाता। उसी प्रकार भौतिक सत्ताओं में परमाणु प्रकृति के नियमानुसार जुड़ते और अलग होते रहते हैं। पदार्थ की संरचनाएँ स्थायी रहती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त रूपान्तरणों के बाद भी विश्व सनातन रहता है।

अनेकान्त के आलोक में आणविक भौतिकी और जैन दृष्टि

आणविक भौतिकी और जैन दर्शन के बीच समानता एवं प्रतिकूल विचारों के एकीकरण का सिद्धान्त है। दर्शन में एक और अनेक की समस्या तथा अविनश्वरता और परिवर्तनशीलता की समस्या उतनी ही प्राचीन है जितनी कि दर्शन। आधुनिक विज्ञान में हाल ही में हुए उपआणविक आविष्कारों ने ऐसी धारणाओं को जो आज तक एक दूसरे के विपरीत और परस्पर विरोधी-सी लगती थीं, एकीकृत कर दिया है।

प्राचीन जैन दार्शनिक परस्पर विरोधी धारणाओं की सापेक्षिकता और ध्रुवीय सम्बन्धों से परिचित थे। प्रतिकूलता अमूर्त अवधारणा है जो विचार के क्षेत्र में आती है और इस प्रकार सापेक्ष है।

यह ज्ञान कि जो है वही परिवर्तित हो सकता है, ही अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का मूल है। इसी प्रकार बड़ा और छोटा, भारी और हल्का, ठंडा और गर्म, ठोस और कोमल एक दूसरे के ध्रुवीय विपरीत हैं। अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के द्वारा ही आणविक एवं उपआणविक स्तर पर भौतिक पदार्थ के द्वैत और विरोधाभासी पक्ष को ठीक से समझा जा सकता है।

मध्यकाल में कई जैन विद्वान हुए हैं जो पूर्णतया साहित्य और अध्यात्म में रुचि रखते थे। हालाँकि उन्होंने गणित, तर्कशास्त्र और शायद खगोल विज्ञान में योगदान दिया था, पर वैज्ञानिक ज्ञान में उनका योग नगण्य था। इसी बीच आधुनिक वैज्ञानिकी पश्चिम में पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से स्थापित हो चुकी थी और चेतना के अस्तित्व को नकारते हुए भौतिक उपयोग में लायी जाने लगी थी। इस तरह पश्चिम के आधुनिक विज्ञान और पूर्व के पारम्परिक ज्ञान के बीच तुलना का आधार ही हटा दिया गया था। आश्चर्य है कि विख्यात भौतिक शास्त्री (उदाहरणतया डेविड बोह्र और जैफ्री च्यू) इस बात को जान गये हैं कि ब्रह्मांड के आवश्यक तत्त्व चेतन को भविष्य के भौतिक तथ्यों के सिद्धान्त में सम्मिलित करना पड़ेगा।

एक प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री, वर्नर हीजेनबर्ग लिखते हैं— “शायद यह सच है कि मानवीय विचार के इतिहास में सबसे अधिक सफल विकास अक्सर वहाँ होता है जहाँ दो भिन्न विचार पद्धतियाँ मिलती हैं और उनकी जड़ें सभ्यता के भिन्न कालों में, भिन्न परिवेशों में या भिन्न धार्मिक परम्पराओं में होती हैं। अतः यदि वे मिलती

हैं अर्थात् वे एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि वास्तविक अन्योन्यक्रिया सम्भव है तो हम आशा कर सकते हैं कि रोचक एवं लाभकारी परिवर्धन होंगे।”

आदर्शवाद और यथार्थ

अणु के बारे में जैन दृष्टिकोण को ठीक से समझने के लिए जैन धर्म के यथार्थ के सम्बन्ध में अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। अतः हम संक्षेप में अनेकान्तवादी यथार्थ के बारे में विचार करेंगे।

जैनधर्म ने शायद एक अद्वितीय ज्ञानपीमांसा पर आधारित अलौकिक विचार पद्धति विकसित की है जो अनुभववादी और अनुभवातीत अनुभव को मानवीय ज्ञान के क्षेत्र में रखती है। उसके अनुसार यथार्थ स्वअस्तित्ववादी, स्वसंगत और स्वसमाहित है। यह अपने अस्तित्व के लिए किसी बाह्य पदार्थ पर निर्भर नहीं करता। दूसरे, जैनधर्म सभी प्रकार की निरपेक्षता से स्वतन्त्र है। यह अनुभव की सामान्य ज्ञानमूलक परिभाषा को अमूर्त तर्क के सामने हेय नहीं मानता! तार्किक दृष्टिकोण का अनुभववादी दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का न केवल अन्य दर्शनों से अपितु विज्ञान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जैनदर्शन दुर्भाग्यवश पश्चिमी विद्वानों को आधुनिक वैज्ञानिक विचारों के सन्दर्भ में इस धर्म को परिभाषित करने के लिए आकृष्ट नहीं कर पाया। बौद्धधर्म और अन्य भारतीय दर्शन ऐसा कर पाये हैं।

कई शाताब्दियों से पश्चिम में दार्शनिक धारणा कभी स्थायी नहीं रही, वह आदर्शवाद एवं यथार्थवाद के बीच झूलती रही है। प्रतीत होता है कि इन दोनों में अन्तर असमाधानपूर्ण रहा है क्योंकि ये हर व्यक्ति की प्रवृत्ति और झुकाव के कारण बँधी हुई है। परिणामस्वरूप एक प्रकार का अटल प्रतिरोध उत्पन्न हो गया है। कान्ट और होगेल आदि की परम्परा में शिक्षित दार्शनिक जिन्होंने भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया है, भारतीय आदर्शवादी पद्धति की ओर अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं।

अनेकान्त का स्वरूप

अनेक और अन्त इन दो शब्दों से मिलकर बना हुआ अनेकान्त शब्द जैनदर्शन की विशिष्ट पहिचान है।

अनेके अन्ताः धर्माः यस्यासौ अनेकान्तः।

जैन तत्त्व मीमांसा, पृ. 354

अर्थात् जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। इस विश्व में विद्यमान जीवादि पदार्थ हैं वे सभी अनेकान्त स्वरूप हैं। जो कोई पदार्थ अस्ति रूप है, वह प्रत्येक त्रैकालिक होने के साथ-साथ अर्थ क्रियाकारी (अपना प्रयोजनभूत कार्य करे ऐसा) भी है। और वह पदार्थ अर्थक्रियाकारी तभी सम्भव है, जब उसे अनेकान्तात्मक स्वीकार किया जाए।

अनेकान्त रूप सिद्धान्त का प्रयोजन मात्र इतना ही नहीं, बहुत विशद रूप से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वस्तु जैसे तत् (वही) स्वरूप है, एक स्वरूप है, नित्य स्वरूप है, अस्ति स्वरूप है, वैसे ही वही वस्तु अतत् स्वरूप, अनेक स्वरूप, अनित्य स्वरूप और नास्ति स्वरूप भी है।

आचार्य अमृतचन्द्र देव ने 'आत्मख्याति' टीका परिशिष्ट में कहा है—

जो तत् है, वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुपने को प्रकट करने वाली, तथा परस्पर दो विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना ही अनेकान्त कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु में मात्र एक धर्म नहीं होता, उसमें अनन्त धर्म होते हैं, अनन्त धर्म से युक्त वस्तु ही अनेकान्तात्मक कहलाती है।

किसी भी वस्तु, घटना, परिस्थिति या जीवन का मात्र एक ही पक्ष नहीं होता है वरन् अनेक पक्ष (पहलू) होते हैं, उन अनेक पक्षों का निषेध करते हुए यदि एक ही पक्ष से वस्तु, घटना, परिस्थिति या जीवन को देखें, स्वीकार करें तो एकान्त ही जाता है।

जब तक समग्र दृष्टि से वस्तुओं का निरीक्षण नहीं होता, तब तक उन वस्तुओं, घटनाओं आदि से भलीभाँति परिचित नहीं हो सकते।

वस्तु से भलीभाँति परिचित होने के लिए वस्तु के सर्वांगीण स्वरूप अर्थात् समस्त पहलुओं से वस्तु को समझना होगा। वही वैशिष्ट्य अनेकान्त रूप विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है।

धर्माधना कर के मोक्ष रूप फल प्राप्ति के लिए तो अनेकान्त को समझना जरूरी है ही। अरे! लौकिक कार्य साधने के लिए भी पग-पग पर अनेकान्त को स्वीकार करना पड़ता है। और लोक में हम अनेकान्तात्मक व्यवस्था से बहुत अच्छी तरह परिचित भी हैं। सर्वत्र प्रयोग भी करते रहते हैं। उदाहरण के लिए—एक व्यक्ति भाई भी है, पिता भी है, पुत्र भी है, पति भी है, दामाद, साला, भानजा, भतीजा आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत लक्षणों वाला भी है। प्रश्न स्वाभाविक है कि एक ही व्यक्ति पिता भी हो और पुत्र भी हो, यह कैसे सम्भव है?

अपेक्षा का प्रयोग इस सम्बन्ध में व्याकुलता रहित कर देता है। वही एक व्यक्ति अपने भाई की अपेक्षा भाई है। पुत्र की अपेक्षा पिता है, माता-पिता की अपेक्षा पुत्र है, पत्नी की अपेक्षा पति है, सास-श्वसुर की अपेक्षा दामाद, बहनोई की अपेक्षा साला, मामा की अपेक्षा भानजा एवं ऐसे ही अनेक लक्षणों वाला है। अपेक्षा लगा देने पर कोई विवाद नहीं होता।

यदि पुत्र अपने दादाजी से कहे कि आपने मेरे पापा को बेटा कैसे कहा तो विसंवाद होता है, एकान्त होता है। वहाँ लोक के समझदार पुरुष कहते हैं कि जिसको मैं अपना बेटा कहता हूँ उस में से तेरा पापा पना बिलकुल नष्ट नहीं हुआ है, और अन्य लक्षण भी मौजूद हैं। संशय के लिए विषय नहीं रहता। वह सब अनैकान्तिक व्यवस्था की यथार्थ समझ का फल है।

बहु आयामी पदार्थ को जानने के लिए हमें अपनी दृष्टि भी बहु आयामी बनानी होगी। विश्व शान्ति के लिए यह व्यवस्था अमोघ मन्त्र है। सभी पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व में सुरक्षित रहें और अन्य का प्रवेश किसी में भी न हो ऐसी विश्व को अद्भुत व्यवस्थित व्यवस्था है। किसी भी अन्य की दखलन्दाजी किसी भी वस्तु में चलती तो है नहीं, मात्र अज्ञान से चलाने की कोशिश होती है, यही कल्पना है, दुःख है, संसार है। सभी वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता आदि की स्वीकृति अनेकान्त व्यवस्था की समझ से ही सम्भव है। तब दुःख, कल्पनाएँ, संसार का स्वयमेव नाश हो जाए।

प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को निर्देशित करते हुए जैनदर्शन में स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक वस्तु जैसे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से अस्ति स्वरूप है, वैसे ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से अस्ति स्वरूप नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य में अन्य द्रव्य (स्वजातीय या विजातीयों) का अत्यन्ताभाव है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाए तो न तो प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध होता है और न ही प्रत्येक जीव को बन्ध-मोक्ष व्यवस्था ही बन सकती है।

स्वरूप से सत् तथा पररूप से असत् इत्यादि रूप अनेकान्त की प्रतिष्ठा ही भेदविज्ञान मूलक है। और भेदविज्ञान जैनदर्शन का प्राण है। उदाहरण के लिए जब यह कहा जाता है कि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, तब उसका अर्थ यह भी होता है कि रत्नत्रय को छोड़कर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इसे और भी खुलासा समझें तो यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि जीव अनन्तधर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु मोक्षमार्गता तो रत्नत्रय परिणत आत्मा में ही सम्भव है, अन्य अनन्त धर्मों से परिणत आत्मा में नहीं।

इस प्रकार अनेकान्त को अनेक दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है।

अनेकान्त

जैफ्री डी. लॉग

भारत की धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराएँ विश्व भर में विविधता के विषय में अपनी सूक्ष्मदर्शिता तथा मूल्यांकन के लिए सर्वविदित हैं। श्री रामकृष्ण के शब्दों में “यतो मत, ततो पथ।” ऋग्वेद में कहा गया है—“एकं सत् बहुधा विप्रा वदन्ति”। भगवद्गीता (4:11) में लिखा है—“प्राणी जिस भी रूप में मेरी शरण में आते हैं, मैं उनका उसी रूप में स्वागत करता हूँ। सभी मार्ग मुझ तक पहुँचते हैं।”

सभी भारतीय परम्पराओं में से जैन परम्परा ने सत्य एवं विविधता के विषय पर विधिवत् विचार किया जान पड़ता है। अनेकान्तवाद, जिसका अनुवाद हम बहु-आयामी शिक्षा या बहु-पक्षीय जटिल यथार्थ के रूप में करते हैं, अहिंसा के साथ-साथ जैन-मार्ग का केन्द्रीय सिद्धान्त है। इस अर्थ में हम अहिंसा को विचार, शब्द एवं कर्म में अहिंसा तथा भौतिक पदार्थों और स्थितियों के लोभ या मोह की अनुपस्थिति— अपरिग्रह के रूप में देख सकते हैं।

हम अनेकान्तवाद का स्रोत ऐतिहासिक रूप से भगवान महावीर के उपदेशों में खोज सकते हैं। जिस प्रकार इतिहास के सभी युगों में विद्वान अत्यन्त गहन एवं कठिन प्रश्न— “क्या ब्रह्माण्ड अनादि और अनन्त है या इसका कोई आदि है?” से जूझते रहे हैं, उसी प्रकार महावीर ने भी इस प्रश्न का सामना किया। “क्या हमारा अस्तित्व शारीरिक मृत्यु के बाद भी रहता है या यह मृत्यु के समय समाप्त हो जाता है?” इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में जैन ग्रन्थों में महावीर को किसी एक मत का हठधर्मी से पक्ष न लेते हुए दोनों मतों का प्रतिपादन करते दिखाया गया है। एक अर्थ में वे कहते हैं कि ब्रह्माण्ड अनादि है, क्योंकि यह सदा से अस्तित्व में रहा है। दूसरे रूप में ब्रह्माण्ड का आदि है, क्योंकि यह कई कल्पों से गुजरता है, जिनके निश्चित आदि और अन्त हैं। एक अर्थ में शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी हमारा अस्तित्व रहता है, क्योंकि आत्मा अपनी यात्रा पर गतिशील रहती है। एक अन्य अर्थ में हमारा अस्तित्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि हम उसी रूप में नहीं रहते।

बाद की शताब्दियों में महावीर के पद-चिह्नों पर चलते हुए जैन दार्शनिक इस प्रकार के प्रश्नों के विषय में उनके दृष्टिकोण की निर्मिति करते हुए अनेकान्तवाद की शिक्षा का

विकास करते हैं। दार्शनिक रूप में अनेकान्तवाद जैन परम्परा में आत्मा की प्रकृति-विषयक शिक्षा में निहित है।

सांख्य, योग एवं वेदान्त परम्पराएँ आत्मा के चिर-स्थायी तथा अपरिवर्तनशील चरित्र पर बल देते हैं। बुद्ध की परम्पराएँ चेतना के निरन्तर परिवर्तनशील स्वरूप पर बल देती हैं। जैनधर्म कहता है कि दोनों वास्तविक हैं और इन्हें निरस्त नहीं किया जा सकता। आत्मा के आन्तरिक स्वरूप और इसकी निरन्तर परिवर्तनशील कर्मावस्थाओं की अनन्तता को नकारा नहीं जा सकता। आत्मा को सभी प्राणियों का स्वरूप मानते हुए जैन दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि सभी वस्तुओं के अनेक पक्ष हैं, जिन्हें सभी दृष्टिकोणों से समान वैधता दी जा सकती है।

एक अर्थ में मैं वही व्यक्ति हूँ, जो कुछ क्षण पहले था। यह भी कह सकता हूँ कि मेरे शरीर की आत्मा वही है, जो अनेक रूपों में सदैव थी। यह समान रूप से सत्य है कि मैं वही व्यक्ति नहीं हूँ, जो कुछ क्षण पहले था। मेरे चेतन का अंश परिवर्तित हो गया है। मुझे वस्तुओं के विषय में ऐसे अनुभव हुए हैं, जो पहले कभी नहीं हुए हैं। अतः आत्मा की गम्भीर प्रकृति के प्रश्न पर कई परम्पराओं के उपदेश बिना अन्तर्विरोध के भय के सत्य हो सकते हैं, क्योंकि उनका दावा एक जटिल अस्तित्व के विभिन्न पक्षों पर केन्द्रित है।

अनेकान्तवाद के सिद्धान्त में विश्व में व्याप्त विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी धार्मिक परम्पराओं के शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक सम्मान के दर्शन का आधार बनने की सम्भावना है। यदि सभी मतों के केन्द्र में सत्य एवं वास्तविक अन्तर्दृष्टि की खोज सम्भव है, तो हम इन परम्पराओं के सिद्धान्तों का अधिक सही मूल्यांकन कर सकते हैं। यदि हम विभिन्न मतों और जीवन पद्धतियों के अनुयायियों के बीच परस्पर सामंजस्य चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि जब तक कोई परम्परा यह विश्वास करती है कि वही सत्य-धर्म है, तब तक वह अन्य परम्पराओं को क्षीण करती हुई स्वयं को उनके स्थान पर अवस्थित करना चाहती है। यह केवल कष्ट को जन्म देती है— चाहे वह हमारे दृष्टिकोण पर आक्रमण के रूप में भावनात्मक हो या अपने से भिन्न लोगों का विनाश करने का प्रयास हो। अनेकान्तवाद एक बेहतर विश्व, जिसमें हम अन्य दर्शनों और धर्मों की बुद्धिमत्ता एवं सुन्दरता का आदर करते हों, बनाने के लिए एक आवश्यक उपादान है।

अनेकान्तवाद बनाम स्याद्वाद

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

अनेकान्तवाद का प्रारम्भिक स्वरूप कैसा रहा होगा यह कहना अत्यन्त कठिन है तथापि आगमग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर कुछ चिन्तन अवश्य किया जा सकता है। प्राचीन आगम सूत्रकृतांगसूत्र में साधु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि—

भिक्षू विभज्जवायं च वागरेज्जा ॥1.4.22 ॥

अर्थात् साधु को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। विभज्यवाद का अर्थ हमें टीका ग्रन्थों से प्राप्त होता है और इसी शब्द का प्रयोग बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थों में भी हुआ है। अतः इसका अर्थ समझने में वे ग्रन्थ भी सहायक हो सकते हैं। सर्वप्रथम हम आगमग्रन्थों के समकालीन त्रिपिटक ग्रन्थों में प्राप्त विभज्यवाद की चर्चा करेंगे। दीघनिकाय एवं अंगुत्तर निकाय में विभज्यवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। मज्झिमनिकाय (सुत्त. 99) में शुभ माणवक के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि हे माणवक! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं हूँ। माणवक का प्रश्न था कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होते हैं। इस विषय में आपकी क्या राय है ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि —गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाणमार्ग का आराधक नहीं है और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं है। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं। भगवान् बुद्ध ने गृहस्थ या त्यागी की आराधकता एवं अनाराधकता में अपेक्षा या कारण को लेकर दोनों में आराधकता और अनाराधकता को सम्भव बताया है अर्थात् प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है न कि एकांशी 'हाँ' या 'ना' में। इसी के आधार पर वे स्वयं को विभज्यवादी घोषित करते हैं और कहते हैं कि मैं एकांशवादी नहीं हूँ। इस प्रकार अपने को विभज्यवादी कहते हैं, तथापि वे सर्वदा विभज्यवादी नहीं थे। जहाँ हो सकते थे वहीं विभज्यवाद का अवलम्बन लेते थे। जैन व्याख्याकारों ने विभज्यवाद की विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। हमें चार व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) भजनीयवाद अर्थात् किसी विषय में शंका होने पर भजनीयवाद द्वारा यूँ कहना

अनेकान्तवाद बनाम स्याद्वाद :: 187

चाहिए कि मैं तो ऐसे मानता हूँ, परन्तु इस विषय पर अन्यत्र भी पूँछ लेना। (2) स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सापेक्षवाद, (3) पृथक् अर्थनिर्णयवाद, (4) सम्यक् प्रकार से अर्थों का नय, निक्षेप आदि से विभाग विश्लेषण करके पृथक् करके कहें। जैसे द्रव्यार्थिक नय से नित्यवाद को और पर्यायार्थिक नय से अनित्यवाद को। इन अर्थों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जैनशास्त्रकारों के मत से विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद या नयवाद या अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्व के विवेचन का वाद है। अपेक्षाभेद से स्यात् शब्दांकित प्रयोग भी प्राप्त होता है। अतः आगमकाल में विभज्यवाद या अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कह सकते हैं।

भगवान् बुद्ध की तरह भगवान् महावीर ने भी प्रश्नों के उत्तर में विभज्यवाद का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। ऐसे कुछ प्रश्नोत्तर नीचे दिए जा रहे हैं—

गौतम — यदि कोई ऐसा कहे कि — मैं सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ, तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है ?

भगवान् महावीर— स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौतम— उसका क्या कारण है ?

भगवान् महावीर — जिसको यह भान नहीं कि ये जीव हैं और ये अजीव हैं, ये त्रस हैं और ये स्थावर हैं, उसका वैसा प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है, किन्तु जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव हैं, वे त्रस हैं और ये स्थावर हैं, उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, वह सत्यवादी है। (भगवती. 21.7, उ.2, सू-290 ॥)

जयन्ती— भंते सोना अच्छा है या जागना ?

भगवान् महावीर — जयन्ती ! कुछ जीवों का सोना अच्छा और कुछ जीवों का जागना अच्छा लगता है।

जयन्ती— उसका क्या कारण ?

भगवान् महावीर— जो जीव अधर्मी हैं, वे सोते रहें, वही अच्छा है, क्योंकि जब वे सोते होंगे, तब अनेक जीवों को पीड़ा नहीं देंगे, किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, उनका तो जागना ही अच्छा है, क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं।

जयन्ती— भंते ! बलवान् होना अच्छा है या दुर्बल होना ?

भगवान् महावीर— जयन्ती ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है और कुछ का दुर्बल होना अच्छा है।

जयन्ती— इसका क्या कारण ?

भगवान् महावीर— जो जीव अधार्मिक होते हैं, उनका दुर्बल होना अच्छा है, क्योंकि वे बलवान् हों, तो अनेक जीवों को दुःख देंगे; किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, उनका सबल होना अच्छा है, क्योंकि उनके सबल होने से अधिक जीवों को सुख पहुँचाएँगे।

ऐसे कई संवाद हमें भगवती सूत्र एवं अन्य आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इस तरह विभज्यवाद का मूलाधार विभाग करके उत्तर देना है। तथापि भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के विभज्यवाद में एक बड़ा अन्तर दिखायी देता है, वह है भगवान बुद्ध जब दो विरोधी धर्मों को घटाते हैं, तब वे दो विरोधी धर्म एक काल में किसी एक व्यक्ति के नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हैं, किन्तु भगवान महावीर ने विरोधी धर्मों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाए हैं। इसी कारण से विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। अनेकान्तवाद विभज्यवाद का विकसित रूप है।

अनेकान्तवाद— भगवान महावीर के समय भिन्न-भिन्न अनेक वाद प्रचलित थे, अनेक दृष्टियाँ विद्यमान थीं। सभी अपने-अपने पक्ष को स्थापित करने में लगे हुए थे। जीव, जगत और ईश्वर के विषय में प्रश्न उठते थे। उनके नित्यत्व और अनित्यत्व के विषय में विवाद होते थे। जीव और शरीर के भेदाभेद को लेकर विवाद चलता था, इन सभी के उत्तरों के प्रति भगवान बुद्ध का दृष्टिकोण निषेधात्मक था, वे ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कहते थे। इससे विपरीत भगवान महावीर स्वामी ने उन विरोधी वादों का समन्वय करके उनके स्वीकार में अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। स्याद्वाद के भंगों की रचना में संजय बेलट्टीपुत्र के विक्षेपवाद से मदद ली गई हो, ऐसा दार्शनिकों का मानना है।

दीर्घनिकाय (पृ. 22) में संजय बेलट्टीपुत्र के मत का उल्लेख प्राप्त होता है। वे किसी भी तत्त्व के विषय में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करते थे। वहाँ कहा गया है कि यदि आप पूछें— क्या परलोक है?... और— यदि मैं जानूँ कि परलोक है, तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं सकता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि यही नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी। परलोक न है और न नहीं है। इसी प्रकार देवता, कर्म, मुक्तपुरुष आदि विषयों की समीक्षा की गई है। इन विषयों में संजय अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, न अस्ति- न नास्ति इन चार कोटियों का निषेध करते हैं। इस प्रकार संजय किसी मत का प्रतिपादन नहीं करते हैं। इसी को बलदेव उपाध्याय ने अनेकान्तवाद होने की सम्भावना जतायी है, किन्तु अनेकान्तवाद इससे सर्वथा भिन्न है, किन्तु स्याद्वाद के भंगों का आधार के विषय में अधिक संशोधन आवश्यक है।

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वहइ।

तस्स भुवणैकगुरुणो नमो अणैगंतवायस्स ॥ (सन्मतितर्क. 3.69 टीका)

जिसके बिना लोक व्यवहार का निर्वाह करना भी सम्भव नहीं है, ऐसे भुवन के एकमात्र गुरु-तुल्य अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

अनेकान्तवाद की स्तुति करते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क ग्रन्थ की टीका में प्रस्तुत गाथा उद्धृत की गई है। संसार के सभी व्यवहार में कहीं न कहीं अनेकान्तवाद का आश्रय अवश्य ही लेना पड़ता है। अनेकान्तवाद के बिना संसार का

अनेकान्तवाद बनाम स्याद्वाद :: 189

सामान्य व्यवहार भी सम्भव नहीं है। अनेकान्तवाद सर्वत्र व्यापक है, इतना ही नहीं अपितु अनेकान्तवाद को गुरु को उपमा दी गई है। गुरु जिस तरह से अज्ञान का नाशक एवं ज्ञान-रूपी दीपक होता है, उसी प्रकार अनेकान्तवाद तत्त्वज्ञ के अज्ञान का नाशक एवं सम्यग्ज्ञान स्वरूपी दीपक का प्रकाश है। इसके विपरीत जो एकान्तवादी बनकर तत्त्व की खोज करने निकलता है, वह कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होता है। अतः यहाँ अनेकान्तवाद को नमस्कार किया गया है।

अनेकान्तवाद को व्याख्यादि करने से पूर्व हमें भारतीय दार्शनिक परम्परा का किंचित् स्वरूप जानना आवश्यक है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्राचीन काल से ही सत् के स्वरूप को लेकर विभिन्न विचारधाराएँ प्रचलित रही हैं। सत् क्या है और उसका स्वरूप क्या है, —यह चिन्तन का विषय रहा है। “किसी ने सत् को नित्य माना है, तो किसी ने सत् को अनित्य माना है। किसी ने सत् को न नित्य और न अनित्य माना है, किसी ने तो यहाँ तक कह दिया कि सत् के स्वरूप का कथन करना सम्भव नहीं है। तब किसी ने कहा कि सत् नित्य और अनित्य दोनों स्वरूप है। जिन्होंने सत् को नित्य माना वे शाश्वतवादी कहलाए और जिन्होंने सत् को अनित्य माना, वे उच्छेदवादी कहलाए। यह परस्पर विपरीत विचारधारा है। इसीलिए हमारे प्राचीनकाल के ऋषियों ने कहा है कि —एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। अर्थात् एक ही सत् को विद्वान् भिन्न-भिन्न रूप से देखते हैं और उसके स्वरूप का कथन करते हैं। सत् का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा, —यह एक बहुत ही बड़ा प्रश्न रहा है। सत् के स्वरूप के विषय में बहुत ही बड़ा रहस्य रहा ही है, किन्तु जब उसमें आग्रह जुड़ता है, तब यह प्रश्न और— भी जटिल बन जाता है। कोई यह कहने लगे कि सत् तो मात्र नित्य ही है, अनित्य सम्भव ही नहीं है और कोई यह करने लगे कि सत् अनित्य ही है, नित्य होना सम्भव ही नहीं। तब अनेक दार्शनिक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि—

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव।

परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥

अन्ययोग व्यवच्छेदिका-26

नित्य एकान्तवाद में जो दोष आते हैं, वे ही दोष अनित्य एकान्तवाद में समान रूप से आते हैं। जब शत्रु एक-दूसरे का विध्वंस करने में लगे रहते हैं, तब जिनशासन (अनेकान्तवादी शासन) विजयी होता है।

नित्यवादी सत् को नित्य सिद्ध करने में लगे हैं और अनित्यवाद का खंडन करते हैं। अनित्यवादी-क्षणिकवादी सत् को क्षणिक सिद्ध करने में लगे हैं और नित्यवाद का खंडन करने में लगे हैं। दोनों ही वादी परस्पर एक-दूसरे के पक्ष का खंडन करने में ही व्यस्त रहते हैं, किन्तु पदार्थ न तो सर्वथा सत् है, या न तो सर्वथा असत् है। पदार्थ सत् भी है और असत् भी है, अर्थात् वस्तु अनेकान्तात्मक है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य प्रति-क्षण उत्तर

पर्यायों के होने से उत्पन्न (उत्पाद) और पूर्व पर्यायों के नाश होने से नष्ट (व्यय) होकर भी स्थिर रहता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। वाचक उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में सत् की व्याख्या करते हुए कहा है कि —

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ॥५-३०॥

अर्थात् - जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है, वही सत् है। पदार्थ का अपनी जाति को न छोड़कर नयी पर्याय के होने को उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड से घट निर्मित होता है, तब पूर्व पर्याय का नाश होता है, नयी पर्याय का उत्पाद होता है। तथापि मृद् द्रव्य (मिट्टी) का अपना स्वभाव न छोड़ना ही ध्रौव्य है। यहाँ पिण्ड आकार के नष्ट होने पर और घट पर्याय उत्पन्न होने पर भी मिट्टी कायम रहती है। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों धर्म एक-साथ पाये जाते हैं।

यहाँ एक बात विशेष ध्यानाकर्षक यह है कि प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद एवं व्यय साथ-साथ होते हुए भी उसमें कुछ अंश ऐसा होता है, जो सर्वथा एक-रूप ही रहता है, अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है। द्रव्य की अपेक्षा से कोई वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। कारण कि द्रव्य भिन्न-भिन्न पर्यायों के उत्पन्न और नाश होने पर भी एक-सा दिखायी देता है। यह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्ध है। कहा भी है कि —

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।

सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजाति-व्यवस्थानात् ॥ — (स्याद्वाद मंजरी, पृ. १९८)।

अर्थात् प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। फिर भी उनमें सर्वथा भिन्न-पना नहीं होता। पदार्थों में आकृति और जाति से ही नित्यत्व और अनित्यत्व होता है।

अर्थात् पूर्वपर्याय का नाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद ये दोनों एक ही पदार्थ में घटित होता है। ये तीनों का स्वभाव भिन्न है, तथापि वे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यदि सर्वथा भिन्न माना जाय, तो उसे वस्तु का स्वभाव नहीं माना जाएगा और उसे सर्वथा अभिन्न मानने पर तो पदार्थ एक रूप हो जाने से पदार्थ तीन रूप कैसे हो सकते हैं?

इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि ये तीनों में कथंचित् भेद होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में कथंचित् भेद है। साथ ही साथ यह भी माना गया है कि ये तीनों भिन्न होते हुए भी निरपेक्ष नहीं हैं। तीनों सापेक्ष हैं। उत्पाद के बिना व्यय और ध्रौव्य, व्यय के बिना उत्पाद और ध्रौव्य एवं ध्रौव्य के बिना उत्पाद-व्यय नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-रूप वस्तु का लक्षण स्वीकार करना चाहिए। कहा भी है कि —

घट- मौलि-सुवर्णाधी नाशोत्पादस्थितिव्ययम्।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यति न पयोऽति दधिव्रतः।

अणोरसन्नतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ — (आप्तमीमांसा, ५९-६०)।

अनेकान्तवाद बनाम स्याद्वाद :: १९१

अर्थात् घड़े, मुकुट और सोने के चाहने वाले पुरुष घड़े के नाश, मुकुट के उत्पाद, और सोने की स्थिति में क्रम से शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य-भाव रखते हैं तथा मैं दूध ही पीऊँगा, इस प्रकार का व्रत रखनेवाला पुरुष केवल दूध ही पीता है, दही नहीं खाता है, मैं आज दही ही खाऊँगा, इस प्रकार का नियम लेने वाला पुरुष केवल दही ही खाता है, दूध नहीं पीता है और गोरस का व्रत लेने वाला पुरुष दूध और दही नहीं खाता। अतः प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है। इस प्रकार अनेक दृष्टान्तों से वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता सिद्ध की गई है।

वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता

जीव और अजीव दोनों वस्तुएँ अनन्तधर्मात्मक होती हैं। ये त्रिकाल-विषयक होने से धर्म अनन्त हैं। पदार्थ में सहभावी धर्मों की गुणरूप माना गया है और क्रमभावी धर्मों की पर्यायरूप माना गया है। वस्तु का स्वरूप ही सहभावी धर्म एवं कुभावी धर्मों का सह-अस्तित्व है। ये दोनों धर्म अनन्त हैं, अतः वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। जो अनन्तधर्मात्मक नहीं हैं, वे सत् नहीं हैं। वे सभी पदार्थ आकाश कुसुम की तरह असत् ही हैं।

यहाँ हम जीव की विवक्षा करें, तो जीव में ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आठ मध्यप्रदेशों की आत्मा के सहभावी धर्म हैं। सहभावी धर्मों को गुण भी कहते हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा से साकारोपयोग एवं निराकारोपयोग जीव का लक्षण है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जीव से कभी अलग नहीं होते हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शन के भेद से दर्शनोपयोग चार, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुत और कु-अवधि-ज्ञान के भेद से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है। निश्चय-नय से शुद्ध अखंड केवलज्ञान ही जीव का लक्षण है। इस प्रकार निश्चय-नय एवं व्यवहार-नय की दृष्टि से जीव में अनन्तधर्मात्मकता सिद्ध होती है। इसी प्रकार अजीव पदार्थ घट में कच्चापन, पक्कापन, मोटापन, चौड़ापन, कम्बुग्रीवापन, जल-धारण, जल-आहरण, ज्ञेयपन, नयापन, पुरानापन आदि अनन्तधर्म रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न नयों की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ में अनन्तधर्म विद्यमान हैं।

स्याद्वाद : एकभाषा पद्धति

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, किन्तु अनन्तधर्मों का कथन करने वाली कोई भाषा नहीं है। भाषा की यह मर्यादा है। भाषा के द्वारा हम किसी एक अंश का ही कथन कर सकते हैं। वह एकांश सत्य तभी हो सकता है, जब वह अन्य अंशों के अस्तित्व को स्वीकार करें, अन्यथा वह भाषा भी असत्य हो जाती है। अतः अपना दृष्टिकोण बताते हुए भी अन्य दृष्टिकोणों के अस्तित्व की स्वीकृति भी आवश्यक है। इस प्रकार की निर्देश पद्धति को जैनदर्शन में स्याद्वाद कहा है। इस अर्थ में अनेकान्तवाद की कथन-शैली को स्याद्वाद कह

सकते हैं। यहाँ जो स्यात् शब्द का प्रयोग हुआ है उसका विशिष्ट कार्य है। 'स्याद्वाद मंजरी' में आचार्य मल्लिषेण सूरि ने कहा है कि —

स्याद् इति अव्ययं अनेकान्त-द्योतकम् ॥ — पृ. 15

स्याद् शब्द अव्यय स्वरूप है, वह न क्रियापद है और न ही अन्य। इस अव्यय का अर्थ अनेकान्त होता है, अर्थात् स्यात् का अर्थ सम्भावना या शायद नहीं होता है। स्याद् शब्द का अर्थ है निश्चित दृष्टिकोण। अनेकान्तवाद को द्योतित करने के लिए स्याद्वाद का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् जब हम किसी वस्तु को नित्य बदल रहे हों, तब उसमें ऐसा कोई शब्द जोड़ना चाहिए, जिससे उस वस्तु में रहे हुए अनित्य धर्म का अभाव सूचित न होने पाए। उसके लिए पूर्वोक्त स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्यात् शब्द का अर्थ होता है अमुक अपेक्षा से, इसका पर्यावरण शब्द कथंचित् है। स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करने से वस्तु में रहे हुए नित्यत्व आदि शेष धर्मों का निषेध नहीं होता है।

स्व-पर चतुष्टय

अनन्तधर्मात्मक वस्तु में दो परस्पर विरोधी धर्मों के अस्तित्व का स्वीकार जैनदार्शनिकों की विशिष्टता है। एक ही पदार्थ एक ही समय में शीतल भी है और उसी समय में उष्ण भी है, इस संभावन को जैनदार्शनिकों ने नकारा नहीं है। उन्होंने अपेक्षा भेद से दोनों विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व स्वीकारा ही नहीं, अपितु सिद्ध भी किया है। एक पदार्थ अपने से अधिक शीतल पदार्थ की अपेक्षा से उष्ण है और अपने से अधिक उष्ण पदार्थ की अपेक्षा से शीतल भी है। इसी प्रकार सत् और असत् का अस्तित्व भी स्वीकारा है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विचार करने पर घट आदि सब पदार्थ स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् हैं और दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से असत् हैं। यथा—पटना में शीतकाल में उत्पन्न मिट्टी का काला घड़ा द्रव्य से मिट्टी का है—मृत्तिका रूप है, किन्तु जलादि रूप नहीं है। क्षेत्र से पटना में बना हुआ है, दूसरे क्षेत्र का नहीं है। काल की अपेक्षा से शीत-काल में बना हुआ है, परन्तु दूसरी ऋतु का नहीं है। भाव की अपेक्षा से श्याम वर्ण का है, अनन्य वर्ण का नहीं है, अर्थात् स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव से द्रव्य सत् है और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव को अपेक्षा से असत् है।

वस्तु मात्र में सामान्य धर्म और विशेष धर्म भी रहे हुए हैं। भिन्न-भिन्न घटों में घट-घट इस प्रकार की एकाकार बुद्धि उत्पन्न होती है। यह सूचित करती है कि सभी घटों में सामान्य धर्म, एकरूपता है। परन्तु अनेक घटों में अपना घट अथवा अमुक घट की पहचान होती है। इससे सभी घट एक-दूसरे से विशेषतया, भिन्नता, पृथक्ता वाले भी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सभी पदार्थ सामान्य-विशेष रूपवाले समझे जा सकते हैं। पदार्थ का यह

सामान्य-विशेष स्वरूप परस्पर सापेक्ष है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को सामान्य-विशेष उभयरूप मानना अनेकान्त-दर्शन है। इस प्रकार अनेकान्तवाद के आधार पर अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनेक धर्मों का समन्वय किया जा सकता है।

स्याद्वाद शब्द का अर्थ

स्याद्वाद में दो शब्दों का संयुक्तीकरण है, स्यात् और वाद। स्यात् का अर्थ पूर्व में कहा गया है, उस प्रकार अपेक्षा या दृष्टिकोण और वाद का अर्थ सिद्धान्त होता है। दोनों शब्दों का समुदित अर्थ होगा — सापेक्ष सिद्धान्त अर्थात् वह सिद्धान्त जो अपेक्षा को लेकर चलता है और भिन्न-भिन्न विचारों का एकीकरण करता है। अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद, स्याद्वाद इन-सब का एक ही अर्थ है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य है और वह अन्तर केवल इतना ही है कि अनेकान्त एक व्यापक विचार-पद्धति है और स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्त करने की निर्दोष भाषा-पद्धति है। स्याद्वाद की परिभाषा इन शब्दों में की गई है कि अपने अथवा दूसरे के विचारों, मन्तव्यों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखना ही स्याद्वाद है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि —

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।

अन्तेन जयति जैनी-नीतिर्मन्थान-नेत्रमिव गोपी ॥

— पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय

अर्थात् — जिस प्रकार ग्वालिन मन्थन करने की रस्सी के दो छोरों में से कभी एक को और कभी दूसरे को खींचती है, उसी प्रकार अनेकान्त पद्धति भी कभी वस्तु के एक धर्म को मुख्यता देती है और कभी दूसरे धर्म को। इस प्रकार आचार्य श्री ने अत्यन्त कवित्वमयी भाषा में स्याद्वाद की परिभाषा की है। अष्टसहस्री में इसी को दार्शनिक शैली में प्रस्तुत किया है यथा—

प्रत्यक्षादि प्रमाणाविरुद्धानेकात्मक वस्तु-प्रतिपादकः श्रुत स्कन्धात्मकः स्याद्वादः ॥

— अष्टसहस्री

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध अनेकान्तात्मक वस्तु की प्रतिपादित करने वाली भाषा—श्रुत की स्याद्वाद कहा जाता है। वस्तु के वास्तविक एवं व्यावहारिक स्वरूप को समझने के लिए स्याद्वाद परम-आवश्यक है।

सप्तभंगी—

स्याद्वाद का संरक्षण सप्तभंगी से होता है। सप्तभंगी अर्थात् वचन के सात प्रकारों का एक समुदाय। किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सतत सात

प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जा सकता है। वे सात वचन इस प्रकार हैं —

1. है,
2. नहीं,
3. है और नहीं,
4. कहा नहीं जा सकता,
5. है, किन्तु कहा नहीं जा सकता,
6. नहीं है, किन्तु कहा नहीं जा सकता,
7. है और नहीं, किन्तु कहा नहीं जा सकता।

इसको दार्शनिक परिभाषा में इस प्रकार कहा गया है-

1. स्यात् अस्ति एव
2. स्यात् नास्ति एव
3. स्यात् अस्ति-नास्ति एव
4. स्यात् अवक्तव्य एव
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य एव
6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य एव
7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य एव

इस प्रकार एक ही वस्तु में विरोध-रहित विधि और प्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं। किसी भी पदार्थ एवं वस्तु के विषय में सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं। इसका कारण जिज्ञासा है। जिज्ञासा भी सात प्रकार की ही होती है। जिज्ञासा का कारण संशय माना गया है और संशय का कारण वस्तु के सात प्रकार के धर्म माने गए हैं। वस्तु के स्वरूप की समझने के लिए सप्तभंगी अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ घट का दृष्टान्त लेकर के सप्तभंगी समझने की कोशिश करेंगे तो इस प्रकार का स्वरूप बनेगा—

1. घट द्रव्य अपेक्षा में नित्य है
2. घट पर्याय अपेक्षा से अनित्य है।
3. घट क्रम-विवक्षा से नित्य भी है और अनित्य भी है।
4. घट अवक्तव्य है, अर्थात् युगपद्-विवक्षा से अवक्तव्य भी है।
5. घट द्रव्य अपेक्षा से नित्य होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।
6. पर्याय-अपेक्षा से घट अनित्य होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।
7. द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से घट क्रमशः नित्य और अनित्य होने के साथ-साथ युगपद् विवक्षा से अवक्तव्य है।

इस तरह सप्तभंगी का प्रयोग करने से समस्त वस्तु स्वरूप का परिचय होता है—पारस्परिक कलह को दूर करता है। इससे साम्प्रदायिक मोह भी नष्ट होता है। स्याद्वाद को समझने के लिए सप्तभंगी आवश्यक है। स्याद्वाद को समझने के लिए सप्तभंगी

आवश्यक है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की समझने के लिए सप्तनय और चार निक्षेप का ज्ञान भी आवश्यक है।

अनेकान्तवाद जैनधर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। जिस प्रकार अहिंसा का सूक्ष्म चिन्तन जैन साहित्य में प्राप्त होता है। उसी प्रकार अनेकान्तवाद का गम्भीर चिन्तन अनेक आचार्यों ने किया है और विपुल साहित्य का सृजन किया है। वास्तव में देखा जाय तो अनेकान्तवाद का आधार सत्य है और सत्य की खोज सभी आत्मार्थियों के लिए आवश्यक है। अनेकान्तवाद के द्वारा हमें सत्य की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए जैनदर्शन में अनेकान्तवाद/स्याद्वाद का विशेष विवरण प्राप्त होता है।

न्याय

डॉ. धर्मचन्द जैन

सम्यक्त्वया जानने योग्य पदार्थ को 'प्रमेय', जानने के साधन को 'प्रमाण', जानने वाले को 'प्रमाता' तथा प्रमेय के ज्ञान को 'प्रमा' अथवा 'प्रमिति' कहा जाता है। प्रमाणों के द्वारा प्रमेय पदार्थ की परीक्षा करने को 'न्याय' कहते हैं। प्रमाणों से प्रमेय अर्थ को जाना भी जाता है तथा ज्ञात अर्थ को सम्यक्त्वया जाना है या नहीं,—इसकी परीक्षा भी की जाती है। भारतीय चिन्तन-परम्परा में प्रमाणों का विचार प्रायः सभी भारतीय दर्शन करते हैं, किन्तु 'न्याय' का विकास मुख्यतया अप्राकृतिक तीन परम्पराओं में हुआ है— (1) महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन, (2) बौद्धदर्शन, तथा (3) जैनदर्शन। गौतम (पंचम शती ई. पूर्व) प्रणीत न्यायदर्शन का विकास वात्स्यायन (400 ई.), उद्योतकर (छठी शती), चाचस्पतिमिश्र (841 ई.), जयन्तभट्ट (850-910 ई.), भासर्वज्ञ (930 ई.) आदि नैयायिकों ने किया, जिसकी अन्तिम परिणति गंगेश (12वीं शती) से प्रारम्भ नव्यन्याय के रूप में हुई, जिसका प्रभाव पन्द्रहवीं शती के पश्चात् रचित जैनन्याय की कृतियों पर भी दृष्टिगोचर होता है। बौद्धन्याय का प्रारम्भ दिङ्नाग (470-530 ई.) से हुआ जो धर्मकीर्ति (620-690 ई.), धर्मोत्तर (700 ई.), प्रज्ञाकरगुप्त (8वीं शती), शान्तरक्षित (8वीं शती), कमलशील (8वीं शती) आदि दार्शनिकों की कृतियों में विकसित होता रहा।

जैनन्याय का मूल हमें आगम-साहित्य में दृग्गोचर होता है। 'अनुयोगद्वार सूत्र' में प्रमाण का विस्तृत निरूपण, 'भगवती सूत्र' एवं 'स्थानांग सूत्र' में प्रमाण-भेदों का उल्लेख इसका निदर्शन है। वैसे जैनदर्शन में सम्यक्-ज्ञान को प्रमाण कहा है, अतः पंचविध ज्ञान का वर्णन करने वाले 'नन्दीसूत्र', 'षट्खण्डागम' आदि ग्रन्थ भी प्रमाण-विद्या अथवा न्याय-विद्या से सम्बद्ध कहे जा सकते हैं, किन्तु न्याय के व्यवस्थित विकास में सिद्धसेन (पाँचवीं शती) विरचित 'न्यायावतार' प्रथम कृति के रूप में उपलब्ध होती है, जिसमें मात्र 32 श्लोकों में प्रमाण-व्यवस्था किंवा जैन न्याय का संक्षिप्त निरूपण हुआ है। सिद्धसेन के पश्चात् भट्ट अकलंक (720-780 ई.) जैन न्याय के व्यवस्थापक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने लघुयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय,

प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थवार्तिक एवं अष्टशती की रचना की। इनके पूर्व सुमति (7वीं शती), पात्रस्वामी (7वीं शती) आदि दार्शनिकों के ग्रन्थ चर्चित रहे, किन्तु वे अभी अनुपलब्ध हैं। चौथी-पाँचवीं शती में एक महान् जैन नैयायिक मल्लवादी क्षमाश्रमण हुए जिन्होंने 'द्वादशारनयचक्र' में तत्कालीन अन्य दार्शनिक मान्यताओं का 12 अध्यायों में खण्डन करते समय बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के प्रमाण-चिन्तन का भी खण्डन किया है, किन्तु उन्होंने जैनदर्शन की ओर से प्रमाण-व्यवस्था प्रस्तुत नहीं की। सिद्धसेन, समन्तभद्र (पाँचवीं शती), हरिभद्र सूरि (700-770 ई.) आदि की अधिकतर रचनाएँ मुख्यतः अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठापक रहीं।

भट्ट अकलंक के अनन्तर विद्यानन्दि (775-840 ई.) की आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा एवं सत्यशासन-परीक्षा को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनकी अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीकाओं में भी प्रमाण-विषयक चर्चा सम्प्राप्त होती है। सिद्धर्षिगणि (9वीं शती) की न्यायावतारविवृत्ति, अनन्तवीर्य (950-990 ई.) की सिद्धिविनिश्चय टीका, माणिक्यनन्दी (993-1053 ई.) के परीक्षामुख, वादिराज (1025 ई.) के न्यायविनिश्चयविवरण एवं प्रमाणनिर्णय, अभयदेवसूरि (10वीं शती) कृत तत्त्वबोधविधायिनी टीका (सम्मतिर्कटीका), प्रभाचन्द्र (980-1065 ई.) विरचित न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड, वादिदेवसूरि (1086-1169 ई.) विरचित प्रमाणनयतत्त्वालोक एवं उस पर टीकाग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकर, हेमचन्द्र (1088-1173 ई.) कृत प्रमाणमोमांसा आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जिनेश्वरसूरि (10वीं-11वीं शती) के प्रमालक्ष्य, चन्द्रसेनसूरि (11वीं-12वीं शती) रचित उत्पादादिसिद्धि, अनन्तवीर्य (11वीं-12वीं शती) विरचित टीकाग्रन्थ प्रमेयरत्नमाला, विमलदास रचित सप्तभंगी तरंगिणी, यशोविजय (17वीं शती) कृत जैनतर्कभाषा आदि ग्रन्थों को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, जिसमें प्रमाणों के द्वारा प्रमेय पदार्थ की परीक्षा की गयी है। इनके पश्चात् भी जैन न्यायविषयक ग्रन्थों का लेखन चलता रहा।

जैन न्याय अत्यन्त समृद्ध है। जैनदर्शनानुसारी प्रमाणविषयक ग्रन्थों का समावेश तो जैनन्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों में होता ही है, किन्तु जैनेतर प्रमेय-पदार्थों के खण्डन तथा जैन दर्शन में मान्य तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी प्रमाणों का उपयोग होने से तत्सम्बद्ध ग्रन्थ भी जैन न्याय के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इसप्रकार जैनन्याय का फलक विस्तृत है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में प्रायः प्रमेय पदार्थ को जानने का करण प्रमाण को अंगीकार किया गया है। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः', 'मानाधीना मेयसिद्धिः', 'प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः' वाक्य इसी की पुष्टि करते हैं, किन्तु जैन दर्शन में प्रमाण के साथ

नय को भी प्रमेय के अधिगम में साधन अंगीकार किया गया है, - 'प्रमाणनयैरधिगमः' प्रमाण एवं नय दोनों प्रमेय को जानने में सहायक हैं, तथा इन दोनों के द्वारा अर्थ की परीक्षा की जा सकती है। इसलिए जैनन्याय में प्रमाण एवं नय दोनों न्याय के विवेच्य विषय हैं, किन्तु प्रस्तुत अध्याय की सीमा होने के कारण इसमें प्रमाण-विषयक निरूपण को ही प्रधानता दी जा रही है।

प्रमाण-लक्षण

साधारणतः प्रमेय पदार्थ को जानने का साधकतम कारण या करण प्रमाण है। प्रमाण से प्रमेय या ज्ञेय पदार्थ को सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रायः स्व एवं पर पदार्थ का निश्चयात्मक अथवा व्यवसायात्मक-ज्ञान प्रमाण कहलाता है। यह सम्यग्ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, अविसंवादक-ज्ञान, स्वार्थव्यवसायात्मक-ज्ञान, स्वपर-व्यवसायि ज्ञान आदि के रूप में भी परिभाषित किया गया है। 'प्रमाण' शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'माङ् माने' धातु से 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। साधारण 'प्रमीयतेऽनेन इति' निरुक्ति के अनुसार जिससे प्रमेय पदार्थ का ज्ञान किया जाय, उसे प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण प्रमेयज्ञान के लिए साधकतम कारण किं वा करण है। इसीलिए प्रमाण को परिभाषित करने वाले दार्शनिक 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' शब्दावली का भी प्रयोग करते हैं। प्रमा एवं प्रमिति प्रमेयज्ञान के ही पर्यायार्थक-शब्द हैं। प्रमाण को प्रमेयज्ञान का करण मानकर ही न्यायदर्शन में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष, सांख्यदर्शन में इन्द्रियवृत्ति और मीमांसादर्शन में ज्ञातृव्यापार को प्रमाण कहा गया है। जैनमत में प्रमाण ज्ञानात्मक होता है, इसलिए जैनदार्शनिक इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानने का खण्डन करते हैं। जैनदार्शनिकों के अनुसार प्रमाण हमें हेय पदार्थ को छोड़ने, उपादेय पदार्थ को ग्रहण करने एवं उपेक्षणीय पदार्थ की उपेक्षा करने का ज्ञान कराता है, इसलिए वह ज्ञानात्मक ही हो सकता है, अचेतनात्मक इन्द्रियादि नहीं।^१

बौद्धदर्शन भी प्रमाण को ज्ञानात्मक मानता है, किन्तु वह निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण अंगीकार करता है, जो जैनदर्शन को अभीष्ट नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक नहीं। निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होने से प्रमाण नहीं हो सकता। जैनदर्शन में निर्विकल्पक तो ज्ञान की पूर्वावस्था के रूप में 'दर्शन' को स्वीकार किया गया है, जो भी चेतन आत्मा का ही एक गुण है एवं उसे निर्विकल्पक होने के कारण प्रमाणकोटि से बाहर रखा गया है। जैनदार्शनिक ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रमाण अंगीकार करते हैं, जो संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ही।^२

प्रमाण एवं ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक मानना जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है।^३ जैन

दार्शनिक कहते हैं कि जो ज्ञान स्वयं को नहीं जानता, उसमें बाह्य-पदार्थ को जानने का भी सामर्थ्य नहीं हो सकता। वही ज्ञान बाह्य-अर्थ का प्रकाशक होता है, जो स्व-प्रकाशक भी हो। स्व का अर्थ यहाँ ज्ञान अथवा ज्ञान-लक्षण जीव है और इनसे भिन्न जितने पदार्थ हैं, वे पर हैं। प्रमाण इन दोनों का व्यवसायात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान कराता है।

ग्यारहवीं शती के प्रमुख श्वेताम्बर जैनदार्शनिक वादिदेवसूरि ने इसे 'स्व-पर-व्यवसायि-ज्ञानं प्रमाणम्' (प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.2) सूत्र से परिभाषित कर 'स्व' एवं 'पर' पदार्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। व्यवसायात्मक का अर्थ यहाँ निश्चयात्मक है। प्रमाण का यही लक्षण वादिदेवसूरि के पूर्व दार्शनिकों में भी प्रतिष्ठित रहा है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि अकलंक, माणिक्यनन्दी आदि कुछ दिगम्बर जैन दार्शनिकों ने बौद्ध एवं मीमांसा दर्शनों के प्रमाण-लक्षणों से प्रभावित होकर स्व एवं अपूर्व या अनधिगत पदार्थ के व्यवसायात्मक-ज्ञान को प्रमाण कहा है^६, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त अपूर्व या अनधिगत विशेषण को श्वेताम्बर जैन दार्शनिकों ने अनावश्यक समझकर नहीं अपनाया है, क्योंकि जैनमत में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञात-अर्थ का ज्ञान कराने वाले ज्ञान भी प्रमाण माने गये हैं। दिगम्बर दार्शनिक विद्यानन्दि ने भी अपूर्व या अनधिगत विशेषण को व्यर्थ बतलाकर स्व एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है^७ अकलंक ने भी लघीयस्त्रय में अनधिगत या अपूर्व पद का प्रयोग किये बिना आत्मा एवं अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण का मुख्य लक्षण निरूपित किया है।^८ एक ही प्रमेय पदार्थ का निरन्तर ज्ञान कराने वाला धारावाहिक ज्ञान भी जैन दर्शन में अप्रमाण नहीं है। वह भी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराने के कारण प्रमाण है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गृहीष्यमाण के समान गृहीतग्राही-ज्ञान भी प्रमाण होता है।^९

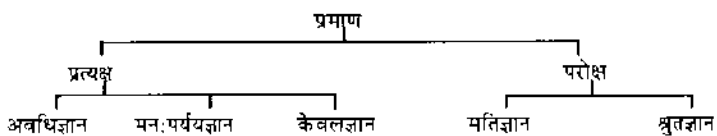
भट्ट अकलंक ने बौद्धप्रभाव से प्रमाण को अविश्ववादक-ज्ञान भी कहा है, किन्तु वे प्रमाण की अविश्ववादकता को निश्चयात्मकता में ही पर्यवसित करते हैं।^{१०}

प्रश्न यह होता है कि जैनदर्शन में जब प्रमाण को ज्ञान-रूप में निरूपित किया गया है, तो ज्ञान एवं प्रमाण में कोई अन्तर है या नहीं? ...जैन दार्शनिक इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ज्ञान संशयात्मक एवं विपर्ययात्मक भी हो सकता है, किन्तु प्रमाण संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होता है। संशय से आशय सन्देहात्मक ज्ञान से है। विपर्यय विपरीत या भ्रान्त ज्ञान को कहते हैं तथा अनध्यवसाय अवग्रह से पूर्व का आलोचन मात्र अनिश्चयात्मक ज्ञान है। संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान भी कहा है। इस अर्थ में सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। यहाँ सम्यग्ज्ञान से आशय आगम में वर्णित उस ज्ञान से नहीं है—जो चतुर्थ, गुणस्थानवर्ती या उसके पश्चात्तुर्वती-जीव को सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। तार्किक युग में जैन दार्शनिकों ने सम्यग्दर्शन को आधार नहीं बनाकर व्यावहारिक दृष्टि से संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को प्रमाण कहा है।

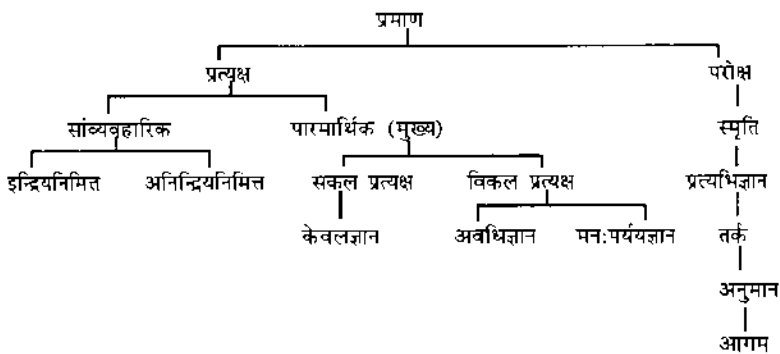
प्रमाण-भेद

प्रमाण के दो प्रकार हैं— प्रत्यक्ष, एवं 2. परोक्ष। इन दो भेदों का सर्वप्रथम उल्लेख उमास्वामी के तत्त्वार्थ-सूत्र में हुआ है। इससे पूर्व 'अनुयोगद्वारसूत्र' एवं 'भगवतीसूत्र' में प्रमाण के चार भेद प्रतिपादित हैं— 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान, एवं 4. आगम। यह प्रमाण-विभाजन 'न्याय-सूत्र' एवं 'चरक संहिता' से प्रभावित है। 'नन्दी-सूत्र' में ज्ञान के दो भेद हैं— प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। ज्ञान के ये दो भेद ही जैन नैयायिकों ने प्रमाण के भेद के रूप में प्रतिष्ठित किये हैं। प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद हैं— सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक (मुख्य)। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—इन्द्रिय निमित्त एवं अनिन्द्रिय निमित्त। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं— स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। सिद्धसेन ने न्यायावतार में परोक्ष-प्रमाण के अनुमान एवं आगम— ये दो भेद ही निरूपित किए हैं। वादिशज ने न्यायविनिश्चय-विवरण में इसका अनुसरण किया है, किन्तु वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को अनुमान-प्रमाण के गौणभेदों में स्थान देते हैं। संक्षेप में प्रमुख प्रमाण-भेदों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त प्रमाण-भेद



उत्तरकालीन विभाजन (भट्ट अकलंक एवं उनके पश्चात्)



नोट:- सकल एवं विकल-प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग वादिदेवसूत्रि ने किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

विशद या स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञान को जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।¹⁰ यह प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा विशेष प्रकाशक होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमेय-अर्थ का ज्ञान करते समय अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, जबकि स्मृति, अनुमान आदि परोक्ष-प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण के आश्रित होते हैं। प्रत्यक्ष की एक अन्य विशेषता और है, वह है प्रमेय का इदन्तया (यह पुस्तक है आदि) प्रतिभास होना।¹¹ इदन्तया प्रतिभास एक प्रकार से पदार्थ का साक्षात् ज्ञान है।

आगमसरणि के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी टीकाओं में इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। तदनुसार आगम-वर्णित पाँच ज्ञानों में से अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष की कोटि में आते हैं, मति एवं श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान की श्रेणी में समाविष्ट होते हैं।¹² प्रमाण-मीमांसीय रचनाओं के युग में जैन दार्शनिकों ने न्याय, मीमांसा, बौद्ध आदि दर्शनों के साथ प्रमाण-चर्चा में भाग लेने के लिए इन्द्रियज्ञान को भी प्रत्यक्ष की कोटि में लेना आवश्यक समझा। अतः जिनभद्र एवं अकलंक ने सम्भवतः 'नन्दीसूत्र' में उल्लिखित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भेदों के आधार पर इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया¹³ और उन्हें प्रत्यक्ष-प्रमाण की कोटि में प्रतिष्ठित कर दिया। पारमार्थिक-प्रत्यक्ष के भेदों का आगम से कोई विरोध नहीं है। अब पहले सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के दोनों भेदों पर विचार किया जा रहा है।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष— श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों के निमित्त से होने वाले बाह्य पदार्थों के स्पष्ट ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष जब संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित एवं निश्चयात्मक होता है, तभी प्रमाण कहा जाता है, अन्यथा वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन,—ये चार इन्द्रियाँ पदार्थ को प्राप्त कर अर्थात् पदार्थ का संयोग प्राप्त कर पदार्थ का ज्ञान कराती हैं। इसलिए ये चारों प्राप्यकारी हैं, किन्तु चक्षु इन्द्रिय एवं मन पदार्थ से स्पष्ट हुए बिना पदार्थ से दूर रहकर उसका ज्ञान कराने में समर्थ हैं, अतः ये दोनों अप्राप्यकारी हैं।

2. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष—मन को जैनदर्शन में अनिन्द्रिय कहते हैं। अतः मन के द्वारा होने वाले बाह्य घट, पट आदि या भीतरी सुख-दुःख आदि पदार्थों के स्पष्ट एवं निश्चयात्मक ज्ञान को अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहा जाता है। न्यायदर्शन में जहाँ मन आत्मा से संयुक्त होता है एवं इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होती हैं, तभी बाह्यार्थ का ज्ञान होता है, वहाँ जैनदर्शन में आत्मा को मात्र मन के द्वारा भी बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाला माना गया है।

हेमचन्द्रसूरि ने स्पष्ट कहा है—*सर्वार्थग्रहणं मनः* (प्रमाणमीमांसा, 1.1.24)। यह प्रत्यक्ष 'मनःपर्यय ज्ञान' रूप प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान सीधा आत्मा के द्वारा होता है, उसमें मन करण नहीं बनता, जबकि अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष मन के माध्यम से होता है। इसमें इन्द्रियाँ सहयोगी नहीं होती हैं।

इन्द्रिय एवं मन के माध्यम से होने वाले सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की चार अवस्थाएँ हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा। अवग्रह भी दो प्रकार है—व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह। पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर व्यंजनावग्रह होता है। अर्थावग्रह में पदार्थ का ग्रहण होता है कि यह कुछ है। चक्षु-इन्द्रिय एवं मन-पदार्थ से दूर रहकर, असम्बद्ध रहकर अथवा अप्राप्यकारी होकर पदार्थ को जानते हैं, अतः उनमें व्यंजनावग्रह नहीं होता, मात्र अर्थावग्रह होता है। शेष इन्द्रियों के प्रत्यक्ष में दोनों प्रकार के अवग्रह होते हैं। अवगृहीत अर्थ के विषय में विशेष जानने की चेष्टा ईहा है। ईहा-ज्ञान संशयपूर्वक होते हुए भी संशय-रूप नहीं होता, क्योंकि यह संशय की भाँति दो पलड़ों में नहीं झूलता। एक ओर झुका रहता है, यथा—ये शब्द पुरुष के होने चाहिए—यह ईहा-ज्ञान है। ईहित पदार्थ का निर्णय अवाय है। ये शब्द पुरुष के ही हैं—इसप्रकार का निश्चयात्मक-ज्ञान अवाय है। अवायरूप में निर्णीत ज्ञान के संस्कार को धारणा कहते हैं। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष में अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का निश्चित क्रम है, किन्तु ये इतनी शीघ्रता से होते हैं कि प्रमाता को इनके क्रम का भान ही नहीं रहता। जानने की इस प्रक्रिया का प्रतिपादन शिक्षण-विधि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब जानने की प्रक्रिया अवग्रह से ईहा, अवाय एवं धारणा तक पहुँचती है, तो छात्र को पढ़ा हुआ अच्छी तरह स्थिर हो जाता है। जैनदर्शन की इस ज्ञान-विधि का शिक्षा-मनोविज्ञान में विवेचन अपेक्षित है।

पारमार्थिक-प्रत्यक्ष

पारमार्थिक-प्रत्यक्ष ही जैनदर्शन में मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह सीधे आत्मा के द्वारा होता है। यह मात्र आत्मसापेक्ष एवं निश्चयात्मक-प्रत्यक्ष-ज्ञान है। इसमें किसी इन्द्रिय, मन आदि की सहायता नहीं रहती। यह पूर्णतः एवं आंशिक रूप से हो सकता है। जब पूर्णतः सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, तो उसे सर्व-प्रत्यक्ष या सकल-प्रत्यक्ष तथा आंशिक रूप से पदार्थों एवं उनकी पर्यायों के प्रत्यक्ष को देश-प्रत्यक्ष या विकल-प्रत्यक्ष के नाम से जाना जाता है। सर्व प्रत्यक्ष का एक ही भेद है—केवलज्ञान और विकल प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान।

1. केवलज्ञान—जिस ज्ञान में विश्व के समस्त चराचर पदार्थों एवं उनको त्रैकालिक समस्त पर्यायों का हस्तामलकवत् स्पष्ट एवं निश्चयात्मक बोध होता है, वह केवलज्ञान

है। जैनदर्शन में केवलज्ञान ही सर्वाधिक प्रमुख प्रत्यक्ष है। यह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह एवं अन्तराय कर्मों का क्षय होने पर प्रकट होता है। समस्त पदार्थों एवं उनकी पर्यायों को जानने के कारण केवलज्ञान-प्राप्त जीव को सर्वज्ञ कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है कि केवली भगवान् सब पदार्थों को व्यवहार-नय से जानते-देखते हैं तथा निश्चयनय से केवल आत्मा को जानते-देखते हैं।¹⁴

2. मनःपर्यय ज्ञान— मनःपर्ययज्ञान-रूप-प्रत्यक्ष-ज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमादि रूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को जानता है। मनःपर्यय ज्ञान तब प्रकट होता है, जब संयम-विशुद्धि से मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। यह ऋजुमति एवं विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। इनमें ऋजुमति से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्ध एवं अप्रतिपाती होता है। जो ज्ञान केवलज्ञान होने तक बना रहता है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं।

3. अवधिज्ञान— यह अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है तथा इसके द्वारा रूपी-पदार्थों एवं उनकी पर्यायों का ज्ञान होता है। यह भी इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना सीधा आत्मा से होता है, किन्तु मात्र रूपी पदार्थों का ज्ञान कराने के कारण यह सीमित अर्थात् अवधिज्ञान है। यह नारकी एवं देवों में जन्म से प्राप्त होता है, अतः भवप्रत्यय कहलाता है तथा मनुष्य एवं तिर्यच में पुरुषार्थ से प्रकट होता है, अतः गुण-प्रत्यय कहा जाता है। इसप्रकार अवधिज्ञान भवप्रत्यय एवं गुणप्रत्यय के रूप में दो प्रकार का है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के उपर्युक्त समस्त भेद आगम में प्रतिपादित ज्ञान के पाँच भेदों से सामंजस्य रखते हैं। सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं, वे मतिज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं, क्योंकि मन एवं इन्द्रियों के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान ही है। अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष तो आगम से ज्यों के त्यों गृहीत हैं।

परोक्ष-प्रमाण

यह प्रमाण अविशद या अस्पष्ट होता है। प्रत्यक्ष की भाँति इसमें विशदता नहीं रहती, किन्तु यह भी स्व एवं पर पदार्थों का निश्चयात्मक-ज्ञान कराता है, इसलिए प्रमाण की कोटि में आता है। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इनमें आगम-प्रमाण श्रुतज्ञान रूप है तथा शेष चारों प्रमाण मतिज्ञान के ही अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी/उमास्वाति ने मतिज्ञान के पर्याय शब्दों में स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध की गणना की है।¹⁵ भट्ट अकलंक ने आठवीं शती में इनका आश्रय लेकर क्रमशः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं

अनुमान प्रमाण को प्रतिष्ठित किया है। इनमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की प्रमाण रूप में प्रतिष्ठा का श्रेय अकलंक को जाता है, जिसे उत्तरवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सभी जैन दार्शनिकों ने अपनाया है। यह उल्लेखनीय है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की प्रतिष्ठा करना जैन दार्शनिकों का प्रमाण रूप में भारतीय न्याय को महत्त्वपूर्ण अवदान है।

1. स्मृति-प्रमाण

धारणा या संस्कार से उद्भूत एवं तत् (वह) आकार वाला ज्ञान स्मृति-प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत पूर्व ज्ञान को विषय बनाता है। तदनुसार 'वह मन्दिर', 'वह व्यक्ति' आदि के रूप में पूर्व ज्ञात विषय को 'वह' आकार में ग्रहण करने वाला ज्ञान स्मृति प्रमाण कहा जाता है। सभी स्मृतियाँ प्रमाण नहीं होती हैं, किन्तु जो स्मृति पूर्व अनुभूत विषय का यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान कराती हैं, वही स्मृति प्रमाण कही जाती हैं। स्मृति का प्रामाण्य हमारे लेन-देन के व्यवहार एवं भाषा के प्रयोग से भी पुष्ट होता है। बिना स्मृति के कोई व्यक्ति किसी कार्य के लिए निश्चित समय पर एवं निश्चित प्रयोजन से प्रवृत्त नहीं हो सकता है। वस्तुतः स्मृति हमें हेय, उपादेय एवं उपेक्षणीय का भी बोध कराती रहती है, इसलिए स्मृति को प्रमाण मानना सर्वथा व्यवहार्य है। स्मृति को प्रमाण मानकर जैन दार्शनिकों ने जैन प्रमाण-मीमांसा को सांव्यवहारिकता या लोकोपयोगिता की ओर बढ़ाया है।

2. प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण

यह स्मृति एवं प्रत्यक्ष का संकलनात्मक ज्ञान होता है। व्यवहार में इसे हम 'पहचानना' शब्द से जानते हैं। पूर्व अनुभव की स्मृति एवं वर्तमान में प्रत्यक्ष,—ये दोनों मिलकर ही प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप बनते हैं। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है। मुख्य रूप से इसके चार प्रकार प्रतिपादित हैं— एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैलक्षण्य (वैसादृश्य) प्रत्यभिज्ञान और प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञान। एकत्व प्रत्यभिज्ञान में पूर्व ज्ञात अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर 'यह वही है'। इस प्रकार एकता का ज्ञान होता है, जैसे-पूर्व दृष्ट देवदत्त का पुनः प्रत्यक्ष होने पर 'यह वही देवदत्त है'। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में पूर्वदृष्ट के सदृश अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर 'यह उसके सदृश है' इस प्रकार सादृश्य ज्ञान होता है। यथा— पूर्वदृष्ट गाय के पश्चात् तत्सदृश गवय का प्रत्यक्ष होने पर 'यह (गवय) गाय के सदृश है' रूप में सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान होता है। वैलक्षण्य या वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान पूर्व-दृष्ट से वर्तमान में प्रत्यक्ष हो रहे पदार्थ की असमानता (विसदृशता) बतलाता है; उदाहरणार्थ

पहले गाय का प्रत्यक्ष किया था, उसकी स्मृति अभी कार्यशील है और वर्तमान में उससे भिन्न भैंस का प्रत्यक्ष हो रहा है, तो 'यह (भैंस) गाय से विलक्षण (भिन्न) है' रूप में वैयाकरण प्रत्यभिज्ञान है। पूर्व-दृष्ट पदार्थ से वर्तमान में प्रत्यक्ष हो रहे पदार्थ की दूरी या निकटता का ज्ञान प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञान से होता है, यथा—'यह उससे दूर है' आदि। प्रत्यभिज्ञान के इन समस्त भेदों में प्रमाण का सामान्य लक्षण घटित होता है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान के ये सभी भेद प्रमाण हैं।

न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में प्रतिपादित 'उपमान प्रमाण' का अन्तर्भाव जैन दार्शनिकों ने सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में किया है। 'प्रत्यभिज्ञा' अथवा 'प्रत्यभिज्ञान' शब्द का प्रयोग कश्मीर शैवदर्शन में भी हुआ है, किन्तु वहाँ इस शब्द का प्रयोग आत्म-साक्षात्कार या आत्मप्रत्यभिज्ञान के अर्थ में हुआ है।

3. तर्क-प्रमाण

अनुमान-प्रमाण में हेतु एवं साध्य की व्याप्ति का बड़ा महत्त्व है। जैन दार्शनिकों ने तर्क को उस व्याप्ति का ग्राहक ज्ञान मानकर उसे भी प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। जब किसी साध्य का हेतु के द्वारा अनुमान किया जाता है, तो हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति होना अनिवार्य होता है। यदि हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति (अविनाभाव नियम) नहीं है, तो हेतु से साध्य-अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। जैसे पर्वत में स्थित 'अग्नि' साध्य है और 'धूम' उसका हेतु है। धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि अवश्य होती है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता। धूम और अग्नि की व्याप्ति को जानने के लिए न्याय-दार्शनिकों ने अलौकिक सन्निकर्ष का प्रतिपादन किया है, किन्तु जैन दार्शनिक उस व्याप्ति का ज्ञान तर्क-प्रमाण के द्वारा कर लेते हैं। जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है,—इस व्याप्ति का ग्रहण तर्क-प्रमाण से शक्य है।

आचार्य विद्यानन्दि ने प्रतिपादित किया है कि जितना भी कोई धूम है, वह-सब अग्नि से उत्पन्न होता है और अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार सकल देश एवं काल की व्याप्ति से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का जो ऊहापोहात्मक ज्ञान होता है, वह तर्क है¹⁶ तर्क का ही दूसरा नाम ऊह भी है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से उत्पन्न व्याप्ति-ज्ञान को तर्क कहा है।¹⁷ उपलम्भ का अर्थ है साध्य के होने पर साधन का होना तथा अनुपलम्भ का अर्थ है साध्य के नहीं होने पर साधन का नहीं होना। तर्क-प्रमाण के द्वारा साध्य एवं साधन की त्रैकालिक व्याप्ति का ज्ञान होता है, जो तर्क को प्रमाण माने बिना सम्भव नहीं है। तर्क एक प्रकार का निश्चयात्मक एवं परस्पर विरोधी ज्ञान है, इसलिए वह प्रमाण

है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को प्रमाण रूप में प्रतिपादित कर जैन दार्शनिकों ने प्रमाण-जगत् को महान् योगदान किया है, क्योंकि प्रमाण का प्रयोजन हेयोपादेय अर्थ का ज्ञान कराना है, ताकि प्रमाता हेय वस्तु का त्याग एवं उपादेय का उपादान कर सके। स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान इस कार्य में सपर्य हैं, अतः ये दोनों प्रमाण रूप लोक-व्यवहार के लिए उपयोगी हैं। तर्क को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने व्याप्ति के ग्राहक तत्त्व की समस्या का स्थायी समाधान खोज लिया है। फलतः तर्क-प्रमाण के बिना जैन दार्शनिक अनुमान-प्रमाण की प्रवृत्ति स्वीकार नहीं करते हैं। वैसे जैनदर्शन में स्मृति-प्रमाण का फल प्रत्यभिज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान का फल तर्कप्रमाण है और तर्क-प्रमाण का फल अनुमान-प्रमाण है। स्मृति-प्रमाण धारणा (सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद) का फल है।

4. अनुमान-प्रमाण

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त भारतीय दर्शन अनुमान-प्रमाण को अंगीकर करते हैं। अनुमान-प्रमाण का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। हमारी अनेक दैनिक गतिविधियाँ अनुमान-प्रमाण से संचालित हैं। जैन दार्शनिकों ने अनुमान-प्रमाण को परोक्ष-प्रमाण माना है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष के सदृश विशदात्मक या स्पष्ट नहीं होता और इसमें हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान किया जाता है। हेतु या साधन के द्वारा साध्य के ज्ञान को ही जैनदर्शन में अनुमान-प्रमाण कहा गया है; जैसे—धूम हेतु के द्वारा पर्वत में स्थित अग्नि साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। एवं 'कृतकत्व' हेतु के द्वारा शब्द में 'अनित्यता' साध्य को सिद्ध करना अनुमान है।

अनुमान के दो भेद प्रसिद्ध हैं—स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। यद्यपि 'अनुयोगद्वार सूत्र' में अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् एवं दृष्टसाधर्म्यवत् नामक तीन भेद प्रतिपादित हैं, किन्तु जैन प्रमाण-मीमांसा में स्वार्थ एवं परार्थ भेद प्रतिष्ठित होने के पश्चात् इन तीन भेदों को महत्त्व नहीं मिला। स्वयं प्रमाता के लिए हेतु से साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान है तथा जब प्रमाता स्वार्थानुमान होने के पश्चात् किसी अन्य को हेतु आदि का कथन ही करके साध्य का ज्ञान कराता है, तो उसे परार्थानुमान कहा जाता है।

स्वार्थानुमान में हेतु एवं साध्य दो महत्वपूर्ण घटक हैं। तीसरा घटक इनका पारस्परिक अविनाभाव सम्बन्ध अथवा व्याप्ति सम्बन्ध है, जिसके कारण हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान होता है। अब प्रश्न होता है कि हेतु का जैन दर्शन में क्या स्वरूप है? ...जैन दार्शनिकों ने अपनी प्रमाण-मीमांसा के द्वारा भारतीय दर्शन को जो महत्वपूर्ण योगदान किया है, उसमें हेतु-लक्षण का विशिष्ट स्थान है। वे हेतु का एक ही लक्षण प्रतिपादित करते हैं

और वह है उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव।¹⁸ अविनाभाव का अर्थ है—उसके बिना इसका न रहना। साध्य के बिना हेतु नहीं रहता, यही उसका लक्षण है। हेतु के बिना साध्य तो रह सकता है। धूम के बिना अग्नि रह सकती है, किन्तु अग्नि के बिना धूम नहीं रह सकता अर्थात् धूम तभी होता है, जब अग्नि हो। हेतु तभी होता है, जब साध्य हो। साध्य के न होने या अभाव होने पर हेतु का भी अभाव रहता है। हेतु का लक्षण यही है कि उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। अविनाभाव के अर्थ में अन्यथानुपपन्न एवं अन्यथानुपपत्ति शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इसलिए कुछ दार्शनिक हेतु का लक्षण प्रतिपादित करते हुए हेतु की साध्य के साथ निश्चित अन्यथानुपपत्ति बतलाते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि पात्रस्वामी, भट्ट अकलंक, विद्यानन्दि आदि सभी जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित हेतु के त्रिलक्षण (पक्षधर्मत्व सपक्षत्व एवं विपक्षासत्त्व) का तथा न्यायदार्शनिकों द्वारा मान्य हेतु के पंचलक्षण (उपयुक्त तीन+असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधितविषयत्व) का निरसन कर साध्याविनाभविता स्वरूप एक हेतु-लक्षण को प्रतिपादित किया है। पात्रस्वामी त्रिलक्षणकदर्शन ग्रन्थ में कहते हैं—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

साध्य किसे कहा जाय? ...साधारण रूप से हम जिसे सिद्ध करना चाहते हैं, उसे साध्य कहते हैं, किन्तु प्रमाण-चिन्तक जैन दार्शनिक उसकी तीन विशेषताओं का उल्लेख करते हैं—1. वह असिद्ध या अज्ञात होना चाहिए, ज्ञात हो जाने या सिद्ध हो जाने पर उसे साध्य नहीं कहा जा सकता; 2. प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वह बाधित नहीं होना चाहिए, जैसे अग्नि में शीतलता सिद्ध करना प्रत्यक्ष से बाधित है, अतः वह साध्य नहीं हो सकता; 3. प्रमाता का उसे सिद्ध करना अभीष्ट होना चाहिए— इन तीन विशेषताओं से युक्त साध्य को ही हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है।

तीसरा जो महत्वपूर्ण घटक है, वह है साध्य एवं हेतु में व्याप्ति-सम्बन्ध। न्यायदार्शनिक हेतु एवं साध्य के साहचर्य नियम को अथवा हेतु एवं साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।¹⁹ जैन दार्शनिकों ने अविनाभाव नियम को व्याप्ति कहा है। जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है,—यह व्याप्ति का एक रूप है तथा जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम नहीं होता, यह व्याप्ति का दूसरा रूप है। इन दोनों को अविनाभावनियम रूप व्याप्ति से फलित किया जाता है। जैन दर्शन के हेतु-लक्षण में भी इस अविनाभाव को स्वीकार किया गया है, क्योंकि हेतु के लक्षण में उसकी साध्य के साथ व्याप्ति को स्थापित करना आवश्यक है। व्याप्ति को जैन दार्शनिकों ने अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। जिस पक्ष (साध्यदेश) में हेतु से साध्य को सिद्ध किया जाय और हेतु की उस साध्य से व्याप्ति उस पक्ष (साध्य-

स्थल) में ही घटित हो, उसके बाहर नहीं, तो उसे अन्तर्व्याप्ति कहा जाता है। जैसे वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह सत् है, इस हेतु के साथ जो व्याप्ति बनती है, वह समस्त वस्तुओं रूपी पक्ष में विद्यमान रहती है, उससे बाहर नहीं जाती, अतः अन्तर्व्याप्ति कहलाती है। जो व्याप्ति पक्ष (साध्य-स्थल) से बाहर भी घटित होती है, उसे बहिर्व्याप्ति पक्ष (साध्यदेश) के बाहर रसोईघर आदि में भी होने से बहिर्व्याप्ति है।

परार्थानुमान में दूसरों को साध्य का ज्ञान कराया जाता है। दूसरों को साध्य का ज्ञान कराने के लिए केवल हेतु का कथन पर्याप्त नहीं होता। हेतु के अतिरिक्त पक्ष-वचन भी आवश्यक होता है। न्याय दर्शन में परार्थानुमान के लिए पाँच अवयवों का कथन आवश्यक माना है। वे पाँच अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैन दर्शन में पक्ष एवं हेतु,—ये दो अवयव अधिक मान्य रहे हैं। इसलिए परार्थानुमान का लक्षण देते समय वादिदेवसूरि ने पक्ष एवं हेतु के कथन को परार्थानुमान कहा है। परार्थानुमान यद्यपि वचनात्मक (कथनात्मक) होता है, तथापि अनुमान की प्रतिपत्ति का निमित्त होने से इसे उपचार से परार्थानुमान कह दिया गया है। परार्थानुमान के दो अवयव स्वीकार करने में जैन दार्शनिक एकान्तवादी नहीं हैं। उनके मत में प्रतिपाद्य पुरुष की योग्यता के अनुसार अवयवों की संख्या निर्धारित हो सकती है। अत्यधिक व्युत्पन्न पुरुष को साध्य का ज्ञान कराने के लिए मात्र 'हेतु' कथन भी पर्याप्त है और मन्दमति पुरुषों को ज्ञान कराने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु आदि न्यायदर्शन में प्रतिपादित पाँचों अवयव आवश्यक हैं। जैनाचार्य भद्रबाहु की 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में दश अवयवों का भी उल्लेख हुआ है,²⁰ किन्तु उन्हें उत्तरवर्ती जैन नैयायिकों ने नहीं अपनाया है।

जैन दार्शनिकों ने अनुमान-प्रमाण को व्यापक बनाने के लिए हेतु के अनेक भेद प्रतिपादित किए हैं। माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख' में हेतु के 22 भेदों एवं वादिदेवसूरि के 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में 25 भेदों का वर्णन है। मुख्य रूप से जो हेतु हैं, उनमें स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का नाम लिया जा सकता है। स्वभाव हेतु स्वभाव रूप होता है, यथा—समस्त वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, क्योंकि उनमें अनेक गुण-धर्म हैं। यहाँ पर अनेक गुणधर्मों की उपस्थिति रूप हेतु वस्तु में अनेकान्तात्मकता साध्य को सिद्ध करने के लिए स्वभाव हेतु है। कार्य हेतु में हेतु कार्य रूप होता है एवं साध्य कारण रूप, यथा—पर्वत में वहि है, क्योंकि धूम उपलब्ध है। यहाँ धूम वहि का कार्य है। कार्य से कारण का अनुमान लगभग प्रत्येक भारतीय दर्शन में स्वीकृत है, कारण हेतु में कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, जैसे—बरसने वाले बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान, दूध में चीनी मिलने से मिठास का अनुमान, आदि।

पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर हेतुओं का स्थापन जैन दार्शनिकों की नई सृज्ञ है। पूर्वचर एवं उत्तरचर हेतुओं में जैन दार्शनिकों ने साध्य के साथ क्रमभावी अविनाभाव

स्वीकार किया है। सहचर हेतु में वे सहभावी अविनाभाव का प्रतिपादन करते हैं। जैनदार्शनिकों का मन्तव्य है कि दो वस्तुओं या घटनाओं का जब कोई निश्चित क्रम हो, तो उनमें पूर्वभावी वस्तु या घटना के द्वारा पश्चाद्भावी वस्तु या घटना का अनुमान पूर्वचर हेतु से तथा पश्चात्भावी वस्तु या घटना के द्वारा पूर्वभावी का अनुमान उत्तरचर हेतु से सम्पन्न होता है। यथा—पूर्वभावी कृत्तिका नक्षत्र के उदय से जब पश्चात्भावी शकट नक्षत्र के उदय का अनुमान किया जाता है, तो कृत्तिका नक्षत्र पूर्वचर हेतु है, क्योंकि वह शकट (रोहिणी) नक्षत्र के ठीक पहले उदित होता है। यहाँ शकट (रोहिणी) नक्षत्र को देखकर यदि कृत्तिका नक्षत्र के एक मुहूर्त पूर्व उदय हो चुकने का अनुमान किया जाय, तो शकट नक्षत्र उत्तरचर हेतु होगा, क्योंकि वह कृत्तिका का पश्चात्भावी है। सहचर हेतु में साथ-साथ रहने वाले दो तत्त्वों में से एक के द्वारा दूसरे का अनुमान किया जाता है, यथा—आम्र फल को खाते समय रस का अनुभव कर उसमें रूप का अनुमान। रस और रूप साथ-साथ रहते हैं, जहाँ रस है, वहाँ रूप अवश्य होगा। अतः रस, रूप के अनुमान में सहचर हेतु है।

5. आगम-प्रमाण

आगम-प्रमाण को अन्य दर्शनों में शब्द-प्रमाण के नाम से भी जाना जाता है, किन्तु जैन दर्शन में 'आगम' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है। आप्त पुरुष के वचनों अथवा उनसे होने वाले प्रमेय अर्थ के ज्ञान को जैन दार्शनिक आगम-प्रमाण कहते हैं। आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं कि जो पुरुष अभिधेय वस्तु को यथावस्थित (जो जैसी है, उसे वैसे हो) रूप से जानता है तथा जैसा जानता है, उसे वैसा कहता है—वह आप्त है। आप्त पुरुष लौकिक भी हो सकता है और लोकोत्तर भी। माता-पिता, गुरुजन, सन्त आदि लौकिक आप्त पुरुष हैं तथा तीर्थंकर, अर्हन्त आदि लोकोत्तर आप्त हैं। आप्त पुरुष के वचनों से वस्तु का यथार्थ ज्ञान या सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उनके वचनों को उपचार से प्रमाण माना गया है। जैनागम प्रमाण हैं, क्योंकि वे अर्हन्त प्रभु (आप्त) की वाणी हैं।

आगम-प्रमाण श्रुतज्ञान हैं। मतिज्ञान के आधार पर तो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान-प्रमाण का प्रतिपादन हुआ है, किन्तु श्रुतज्ञान के आधार पर मात्र आगम-प्रमाण का निरूपण हुआ है।

प्रमेय

'प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्' अर्थात् जो जानने योग्य है अथवा सिद्ध करने योग्य है, वह प्रमेय है। 'प्र + माङ् + यत्' पूर्वक प्रमेय शब्द निष्पन्न हुआ है जो ज्ञेय का अर्थ भी

देता है, किन्तु खास बात यह है कि प्रमेय ज्ञेय होकर भी हेय एवं उपादेय हो सकता है।

संसार की प्रत्येक वस्तु प्रमेय है, और वे वस्तुएँ संख्या में अनन्त हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त-गुण धर्म हैं, जिनके कारण जैन दार्शनिकों ने समस्त प्रमेयों को अनेकान्तात्मक कहा है। वह अनेकान्तात्मक प्रमेय सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक आदि अनेक रूपों में जाना जाता है। जैन दर्शन में प्रत्येक वस्तु द्रव्य एवं पर्याय से युक्त मानी गयी है। द्रव्य सदा बना रहता है एवं उसकी पर्याय निरन्तर बदलती रहती है। पर्याय का उत्पाद एवं व्यय होता रहता है, द्रव्य ध्रुव रहता है। इस तरह वस्तु को जैन दर्शन उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त भी कहता है। द्रव्य के नित्य बने रहने एवं पर्याय के बदलते रहने के कारण वस्तु को नित्यानित्यात्मक भी स्वीकार किया गया है। जैन दार्शनिक वस्तु की सदृशता एवं भिन्नता के आधार पर उसे सामान्य-विशेषात्मक भी प्रतिपादित करते हैं। एक वस्तु के जो धर्म अन्य वस्तुओं से अथवा उसी वस्तु की पूर्व एवं उत्तर पर्याय से सादृश्य रखते हैं, वे सामान्य तथा जो धर्म अन्य वस्तुओं से अथवा उस वस्तु की अन्य पर्यायों से भिन्नता बतलाते हैं, वे विशेष कहे गये हैं। प्रत्येक वस्तु में सामान्य एवं विशेष धर्म विद्यमान रहते हैं। वैशेषिक दर्शन में प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई सामान्य विशेष से रहित नहीं होता एवं कोई विशेष सामान्य से रहित नहीं होता।

प्रमाण-फल

जैन दार्शनिक प्रमाण के फल को दो प्रकार का निरूपित करते हैं—1. साक्षात् फल एवं 2. परम्परा फल। प्रत्यक्ष, स्मृति आदि निवृत्ति है। परम्परा-फल दो प्रकार का है। केवलज्ञान का परम्परा-फल उपेक्षा बुद्धि तथा अन्य समस्त प्रमाणों का परम्परा-फल हान (त्यागना) उपादान (ग्रहण करना) एवं उपेक्षाबुद्धि है।

किसी प्रमेय का ज्ञान होने का अर्थ है—उस प्रमेय के सम्बन्ध में अज्ञान की निवृत्ति। प्रमाण एवं फल दोनों ज्ञानात्मक होने के कारण कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न माने गये हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्व-पर-व्यवसायी प्रमाण से अभिन्न प्रतीत होता है, तथापि प्रमाण साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति साध्य है। इन दोनों में साध्य-साधन की प्रतीति होने से ये दोनों कथंचित् भिन्न हैं। हान, उपादान एवं उपेक्षाबुद्धि रूप परम्परा-फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न प्रतीत होता हुआ भी एक ही प्रमाता द्वारा दोनों का अनुभव होने से वे दोनों कथंचित् अभिन्न भी हैं। यदि प्रमाण एवं फल कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न न हों, तो प्रमाण एवं फल की व्यवस्था नहीं बन सकती।

प्रमाण का प्रामाण्य

अब प्रश्न यह होता है कि प्रमाण की प्रमाणता का ज्ञान कैसे हो कि यह प्रमाण वस्तुतः प्रमाण है। जैन दार्शनिकों ने, इसके लिए प्रतिपादित किया है कि प्रमाण की प्रमाणता (प्रामाण्य) का ज्ञान अभ्यास-दशा में स्वतः होता है तथा अनभ्यास-दशा में परतः होता है। जबकि प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है। इन्द्रियादि में दोष होने के कारण प्रमाण में जो अप्रामाण्य आता है, वह परतः उत्पन्न कहा जाता है। अप्रामाण्य-उत्पन्न अप्रामाण्य न हो, तो संशयादि के अभाव में प्रामाण्य ही रहता है। प्रामाण्य को जानने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता न हो, तो उसे स्वतः-प्रामाण्य कहा जाता है। अभ्यास-दशा में प्रमेय का दोष रहित ज्ञान ही उसका स्वतः प्रामाण्य है। जब प्रमाण के प्रामाण्य को जानने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है, तो उसे परतः-प्रामाण्य कहा जाता है। अनभ्यास-दशा में या संशयादि की स्थिति में परतः प्रामाण्य होता है। यथा—अनुमान से जाने गये प्रमेय-ज्ञान का प्रत्यक्ष से प्रामाण्य जानना परतः-प्रामाण्य है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जैन प्रमाण-मीमांसा का तार्किक जगत् में पूर्ण व्यवस्थापन भले ही विलम्ब से हुआ हो, तथापि उसका भारतीय दर्शन में विशिष्ट महत्त्व है। ज्ञान को प्रमाण-रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने जहाँ आगम-सरणि को सुरक्षित रखा है, वहाँ उन्होंने प्रमाण को लौकिक जगत् के लिए उपादेय भी बनाया है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि को प्रमाण-रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को महान् योगदान किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रमाण-लक्षण, हेतु-लक्षण एवं पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओं का स्थापन भी भारतीय न्याय को महत्त्वपूर्ण अवदान है।

सन्दर्भ

1. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। —वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र 1.1.1
2. (1) हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। —परीक्षामुख, 1.2
(2) अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम्, अतो ज्ञानमेवेदम्। —वादिदेवसूत्रि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.3
3. प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्। —प्रभाचन्द्र, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-1, भाणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, 1938, पृ. 48.10 एवं हेमचन्द्रकृत प्रमाणमीमांसा 1.1.1
4. (1) स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। —समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, 63
(2) प्रमाणं स्वपराभासि-ज्ञानं बाधविवर्जितम्। —सिद्धसेन, न्यायावतार, 1
5. (1) प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। —अष्टशती, अष्टसहस्री, सोलापुर,

1915, पृ. 175

(2) स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् । —परीक्षामुख, 1.1

6. तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता ।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् । —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.10.77
7. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते । —लघीयस्त्रय, 60
8. ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् । —प्रमाणमीमांसा, 1.1.4
9. अविसंवादकत्वं च निर्णयायत्तम् । तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् । —लघीयस्त्रयवृत्ति, 60
10. विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम् । —विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1977, पृ. 37
11. प्रमाणात्तरानपेक्षेदन्तथा प्रतिभासो वा वैशद्यम् । —प्रमाणमीमांसा, 1.1.14
12. आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् । —तत्त्वार्थसूत्र, 1.11,12
13. (1) इन्द्रियमणोभवं जं ते संवहारपञ्चकखं । —विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 95
(2) तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् । —लघीयस्त्रयवृत्ति, 4
14. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं ।
केवत्तणणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं । —नियमसार, 158
15. मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । —तत्त्वार्थसूत्र, 1.13
16. द्रष्टव्य, प्रमाणपरीक्षा, वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1977, पृ. 44-45
17. उपलब्धानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः । —परीक्षामुख, 3.7
18. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः । —परीक्षामुख, 3.11
19. (1) यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः । —केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण
(2) स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः । —तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण
20. दश अवयवों के नाम दो प्रकार से उल्लिखित हैं । प्रथम प्रकार में—1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञाविशुद्धि, 3. हेतु, 4. हेतुविशुद्धि, 5. दृष्टान्त, 6. दृष्टान्तविशुद्धि, 7. उपसंहार, 8. उपसंहारविशुद्धि, 9. निगमन एवं, 10. निगमनविशुद्धि का उल्लेख है ।
द्वितीय प्रकार में—1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञाविभक्ति, 3. हेतु, 4. हेतुविभक्ति, 5. विपक्ष, 6. विपक्षप्रतिषेध, 7. दृष्टान्त, 8. आशंका, 9. आशंकाप्रतिषेध एवं 10. निगमन का निरूपण है ।
वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' में भी दश अवयवों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास की गणना की गयी है । —द्रष्टव्य, न्यायभाष्य 1.1.32

प्रमाण, नय और निक्षेप

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन

प्रमाण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शनों में विभिन्न दर्शन-पद्धतियों एवं उनकी विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित चिन्तन का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं होता। विशेष रूप से जैनदर्शन में प्रमाणमीमांसा का जैसा विशद, प्रौढ़ एवं गम्भीर विवेचन प्रमाण-प्रस्थापक आचार्यों ने किया है, वैसा मूल्यांकन भारतीय दर्शन के इतिहास-लेखकों ने नहीं किया है। अन्तरदार्शनिक पद्धतियों के साथ जैनदर्शन के ऐतिहासिक क्रम की तत्वाभिव्यक्ति, तलस्पर्शी, वस्तुपाती दृष्टि जिस रूप में स्थापित होना चाहिए, उस रूप में नहीं हो पायी। यद्यपि जैनविद्या के गवेषक, समीक्षक एवं इतिहास-लेखक मनीषियों ने प्रमाण-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत सम्बन्धित विषयों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला है, परन्तु वह भारतीय दर्शनों के ऐतिहासिक सन्दर्भ में मूल्यांकन हेतु अपर्याप्त है। आवश्यकता इस बात की है कि मूल ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययनपूर्वक जैनेतर एवं पाश्चात्य दर्शनों के साथ जैन प्रमाण-सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए भारतीय दर्शनों के इतिहास में मूल्यांकन हेतु ठोस कार्य-योजना तैयार की जानी चाहिए।

दार्शनिक-युग की प्रमाण-व्यवस्था से पूर्व प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की दृष्टि के मूल में जड़ और चेतन की स्वतन्त्र वास्तविकता है। इनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दिए गये मन्तव्यों में जब अन्तर किया गया, तब उसके प्रामाणिक स्वरूप को सिद्ध करने के लिए सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने कसौटी के रूप में अपने-अपने मानक निर्धारित किये। उस मानक का प्रारम्भिक रूप विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, सम्यक्-मिथ्या, अलौकिक-लौकिक, परा-अपरा विद्या आदि कुछ भी रहा हो, दार्शनिक युग में वह मानक प्रमाण-अप्रमाण के रूप में सभी सम्प्रदायों में मान्य हुआ, परन्तु उसके अन्तरंग स्वरूप में एकरूपता स्थापित नहीं हो सकी। प्रमाण शब्द प्रमिति-ज्ञान और उसके साधन के लिए प्रयुक्त हुआ। 'प्रमाण' शब्द-प्रयोग से पूर्व प्रमाण के द्वारा किया जानेवाला कार्य, किन शब्दों के प्रयोग द्वारा किस रूप में किया जाता रहा, ज्ञान और ज्ञान के साधनों का विकास कब हुआ, इसके आदि प्रवर्तक कौन हैं...? आदि

प्रश्नों का तर्क-संगत उत्तर देना कठिन है। यद्यपि विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में इनके अलग अलग साम्प्रदायिक समाधान हैं, परन्तु प्रतीत होता है कि मानव ने जब स्वयं एवं अन्य बाह्य जगत् के सम्बन्ध में अपनी विवेक-बुद्धि का प्रयोग किया होगा, तभी से ज्ञान और ज्ञान के साधनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा। ज्ञात हो कि दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर ऐतिहासिक निर्णय पर पहुँचने में सबसे बड़ी बाधा अपने सम्प्रदाय के प्रति अन्ध-श्रद्धा है। जब वे युक्ति-तर्क के बल पर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते, तब वे उसे अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक की वाणी कहकर या आगम-शास्त्र आदि का उल्लेख बताकर उसकी यथार्थता सिद्ध करते हैं। ...परन्तु भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह अन्ध-श्रद्धा को स्थान नहीं देता। जैनाचार्यों ने स्पष्ट घोषणा की है कि जिनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हों, वही आप्त हैं और उनके ही वचन प्रामाणिक हो सकते हैं। ऐसे आप्त के वचन जिन शास्त्रों, आगमों में निबद्ध हों, उनसे विवादित विषय की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। जैनाचार्यों ने यह भी लिखा है कि आगम से अहेतुगम्य तत्त्वों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है तथा हेतुगम्य तत्त्वों की प्रामाणिकता युक्ति और तर्क बल से सिद्ध होती है।

प्रमाण का स्वरूप

जैनदर्शन में प्रमाण के विकसित स्वरूप के पूर्व समग्र-चिन्तन की परम्परा तीर्थंकरों की देशना से जुड़ी है, जिसका सर्वप्रथम उपलब्ध रूप द्वादशांग-आगमों में देखा जा सकता था, दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में विभाजित परम्पराओं द्वारा क्रमशः ग्यारह अंगों का उच्छेद एवं आविर्भाव मानने के कारण, मूलभूत सिद्धान्तों में प्रायः समानता होने पर भी प्रमाण, प्रमाण-भेद, नय आदि दार्शनिक तत्त्वों की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में प्रमाण, प्रमाण-भेद, नय आदि की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है, परन्तु दिगम्बर परम्परा में उमास्वामी से पूर्व प्रमाण का वैसा विवेचन नहीं पाया जाता है। प्रमाण, नय आदि के दार्शनिक शैली में विवेचन से पूर्व इनके विकास का प्रमुख आधार ज्ञान का विवेचन आत्मा की क्रमिक-विशुद्धता को केन्द्र-बिन्दु बनाकर आगमिक शैली में किया जाता रहा है। आत्मा का ज्ञान जितने अंशों में आत्म-सापेक्ष एवं जितने अंशों में इन्द्रिय-सापेक्ष होकर प्रकट होता है, उसी के आधार पर उतने अंशों में उसकी क्रमिक-प्रामाणिकता का निर्णय किया जाता रहा। प्रमाण के भेद निर्धारण करने में भी यही सैद्धान्तिक मान्यता आधार बनी। दार्शनिक युग से पूर्व दिगम्बर आगमिक परम्परा में प्रमाण का कार्य ज्ञान के द्वारा सिद्ध किया जाता था। दोनों में अन्तर इतना था कि आगमिक परम्परा में ज्ञान की मीमांसा मोक्षमार्ग की केन्द्र-बिन्दु मानकर होती रही। जबकि प्रमाण-मीमांसा का क्षेत्र मोक्षमार्ग

के साथ सम्पूर्ण बाह्य जगत् तक विस्तृत हो गया। इस युग में आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में हेय, उपादेय और ज्ञेय दृष्टि से विवेचन किया गया। उन्होंने हेय और उपादेय के विवेचन के लिए निश्चय और व्यवहार नयों का आश्रय लिया तथा ज्ञेय-दृष्टि से विवेचन के लिए द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लिया। विक्रम की पाँचवीं शती में संकलित श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में ज्ञान के स्वतन्त्र विवेचन के साथ प्रमाण की भी स्वतन्त्र चर्चा की गयी।

पं. दलसुख मालवणिया और पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने जैनदर्शन के साहित्यिक विकास को चार युगों में विभक्त किया है—1. आगम युग— विक्रम की पाँचवीं शती तक; 2. अनेकान्त-व्यवस्था युग—विक्रम की आठवीं शती तक; 3. प्रमाण-व्यवस्था युग—विक्रम की सत्रहवीं शती तक; और 4. नवीन न्याय युग— आधुनिक समय पर्यन्त। डॉ. दरवारी लाल कोठिया ने ई. 200 से ई. 650 तक आदिकाल अथवा समन्तभद्र-काल, ई. 650 से 1050 तक मध्यकाल अथवा अकलंक-काल एवं ई. 1050 से ई. 1700 तक अन्त्यकाल अथवा प्रभाचन्द्र-काल के रूप में जैन-न्याय के विकास का काल माना है। ये काल विभाजन प्रमाण की व्यवस्थित-स्थिति के सम्बन्ध में ठीक हैं; परन्तु प्रमाण-व्यवस्था के सूत्रपात के रूप में नहीं, क्योंकि ई. प्रथम के लगभग जब जैनेतर दर्शनों में संस्कृत भाषा में दर्शन के ग्रन्थों का प्रणयन हो रहा था, उस समय तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी ने पहली बार आगमिक युग की ज्ञान-चर्चा को प्रमाण-चर्चा के साथ संयुक्त कर प्रमाण के भेदादि का स्पष्ट प्रतिपादन किया, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य हुआ।

वैदिक परम्परा के आद्य उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमा' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। सायण ने 'प्रमा' शब्द की व्याख्या में यज्ञवेदी की इयत्ता-परिमाण के लिए प्रमाण तथा इयत्ता परिज्ञान के लिए प्रमिति शब्द का प्रयोग किया है। शतपथ ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् में 'वाकोवाक्य' विद्या का उल्लेख है, जो बाद में तर्कविद्या के रूप में अभिहित हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में 'युक्ति' शब्द का प्रयोग है। चरकसंहिता में 'प्रमाण' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। वेदों के परवर्ती उपनिषद्-साहित्य में आत्म-निरूपण के समय जिन तार्किक-शब्दावलियों एवं वाक्यों का आश्रय लिया गया है, वे उत्तरवर्ती वैदिक दर्शनों के प्रमाण-मीमांसा के आधार स्तम्भ बने। उदाहरण के लिए वैशेषिक सूत्र में यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान के लिए प्रयुक्त विद्या एवं अविद्या, पद उपनिषद् साहित्य में प्रयुक्त पराविद्या और अपराविद्या के विकसित रूप हैं। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि में आत्म-विद्या के रूप में प्रतिष्ठित आन्वीक्षिकी विद्या को हेतु-शास्त्र, हेतु-विद्या, तर्क-विद्या, वाद-विद्या आदि नाम दिये गये। कौटिल्य ने भी आन्वीक्षिकी विद्या को सभी विद्याओं में उत्तम कहा है। वात्स्यायन

ने इस विद्या को न्याय-विद्या कहा है। प्रमाणों द्वारा वस्तुओं की परीक्षा करना न्याय है। इस तरह वैदिक दर्शनों के लिए गौतम, कणाद आदि से पूर्व उस परम्परा के मनीषियों ने प्रमाण की मूलभूत सिद्धान्तों की सर्जना के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान किया। कतिपय विद्वानों की दृष्टि में 'न्यायसूत्र' के कर्ता महर्षि गौतम प्रमाण-शास्त्र के आदि प्रवर्तक माने गये हैं, परन्तु इनका समय अनिर्णीत है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि इनका काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवी शताब्दी के मध्य कभी होना चाहिए। बौद्ध परम्परा में बुद्ध परिनिर्वाण के पश्चात् लिखे गए त्रिपिटक एवं मिलिन्दपण्हो आदि ग्रन्थों के विविध संवादों में प्रमाण के सूत्र उपलब्ध होते हैं।

प्रमाण-व्यवस्था युग : प्रमाण लक्षण का विकास

प्रायः समस्त भारतीय दर्शनों के परम लक्ष्य मोक्ष के उपायों में प्रमाणों की आवश्यकता होती है। सभी ने अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार प्रमाण का विवेचन किया है। कभी कभी एक ही परम्परा के विवेचन में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। सामान्यरूप से भारतीय प्रमाण-शास्त्र में प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—प्रथम ज्ञान को प्रमाण मानने वाली दृष्टि एवं द्वितीय इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानने वाली दृष्टि। जैन और बौद्ध परम्परा में ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दोनों में अन्तर इतना है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं और बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को। दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनों की है, जिसमें प्रायः इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है अर्थात् इन परम्पराओं में ज्ञान के कारणों को प्रमाण माना गया है और ज्ञान को उसका फल। जैनदर्शन में ज्ञान को प्रमाण मानने का कारण यह है कि जो जानने की प्रमारूप क्रिया है, वह चेतन होने से उसमें साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही हो सकता है।

प्र+मान शब्दों के योग से निष्पन्न प्रमाण शब्द में प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर इसकी 'प्रमिष्योति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्' व्युत्पत्ति की जाती है। तात्पर्य यह कि प्रमाण शब्द भाव, कर्तृ और करण तीनों साधनों में निष्पन्न होता है। भाव की विवक्षा में प्रमा, कर्तृ की विवक्षा में शक्ति की प्रमुखता से प्रमातृत्व तथा करण की विवक्षा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की भेद-विवक्षा होती है। सामान्य रूप से 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान ही, उसका नाम प्रमाण है।

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान पद के साथ सम्यक् तत्त्व, स्वपरावभासक, अनधिगतार्थ, व्यवसायात्मक, बाधविवर्जित, अविस्मृति, अपूर्व आदि विशेषण संयुक्त कर विभिन्न कालों में प्रमाण की संस्कारित और विकसित परिभाषाएँ दी हैं। ईसा की प्रथम शती

में हुए गृद्धपिच्छ उमास्वामी ने सूत्रयुग में प्रमाण और नय को तत्त्वार्थाधिगम के लिए आवश्यक बताकर ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाणों में वर्गीकरण करके भी प्रमाण की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। इनके बाद द्वितीय शती में हुए आचार्य समन्तभद्र ने अनेकान्त की स्थापना के लिए प्रमाण के सुस्पष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसके आगमिक भेद, विषय, फल और प्रमाणाभास आदि प्रमाण से सम्बन्धित सभी विषयों का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया, जो उत्तरवर्ती सभी प्रमाण-शास्त्रियों के लिए आधारभूमि बना। आचार्य समन्तभद्र के सामने जहाँ पूर्वाचार्यों से प्राप्त मन्तव्यों का संरक्षण करना था, वहीं दूसरी ओर प्रमाण-शास्त्र के रूप में विकसित हो रही अन्य दार्शनिक परम्पराओं के साथ उनका सामंजस्य भी स्थापित करना था। इस दोहरे दायित्व का समन्तभद्र ने अत्यन्त कुशलता के साथ निर्वाह किया है। उन्होंने प्रमाण को स्पष्ट परिभाषित करते हुए लिखा है कि युगपत् सर्व के अवभासन-रूप तत्त्व-ज्ञान प्रमाण है। स्याद्वाद-नय-संस्कृत क्रमभावि-ज्ञान भी प्रमाण है। 'स्वयम्भूस्तोत्रम्' में उन्होंने स्व-परावभासी ज्ञान को प्रमाण मानकर अन्यत्र इसी ग्रन्थ में 'विधि-विषय प्रतिषेधरूपः प्रमाणम्' अर्थात् वस्तु के विधि और प्रतिषेध दोनों रूपों को ग्रहण करने वाला प्रमाण बताया है। अपने 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तुति-ग्रन्थ में उन्होंने उमास्वामी की तरह प्रमाण को वस्तुतत्त्व को सम्यक् रूप से स्पष्ट करने वाला बताया है। प्रमाण के लक्षण में उन्होंने आगमिक परम्परा का निर्वाह करते हुए ज्ञान की पूर्ण प्रमाणता सर्वभासकत्व में सिद्ध की है, जो अक्रमभावि-केवलज्ञानरूप होने से प्रमाण है। जो पदार्थों को एक-साथ नहीं जानते, बल्कि क्रम से जानते हैं वे मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान भी स्याद्वाद नय से संस्कारित होने के कारण क्रमभावि-तत्त्व-ज्ञान के रूप में प्रमाण हैं।

जैनप्रमाणशास्त्र के इतिहास में समन्तभद्र ने प्रमाण के लक्षण की ऐसी सुदृढ़ नींव रखी, जिस पर उत्तरवर्ती आचार्यों ने नवीन शब्दावलियों का प्रयोगकर प्रमाण के भव्य प्रासाद निर्मित किये; परन्तु मूलस्वरूप में किसी भी आचार्य को विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। समन्तभद्र के बाद हुए आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार ग्रन्थ में प्रमाण स्वपरावभासि-ज्ञानं बाधविवर्जितम् लिखकर प्रमाण को स्व-परावभासि होने के साथ बाधविवर्जित होना भी आवश्यक बताया है। अकलंक ने समन्तभद्रोक्त प्रमाण लक्षण का समर्थन करते हुए 'स्व' पद के स्थान पर आत्मा, पर पद के स्थान पर अर्थ तथा अवभासक के स्थान पर व्यवसायात्मक पदों का प्रयोग करके उन्होंने आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। अन्यत्र उन्होंने अनधिगत अर्थ-विषयक अविश्वसनीय ज्ञान को भी प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। अर्थ के विशेषण अनधिगत को उन्होंने अनिश्चित, अनिर्णीत आदि पदों द्वारा भी दर्शाया है। माणिक्यनन्दि आचार्य ने इस लक्षण

में अपूर्व पद का समावेश कर स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायी ज्ञान को प्रमाण माना है। आप्तमीमांसाभाष्य/अष्टशती पर अष्टसहस्री महाभाष्य लिखने वाले आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत और अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। इस विषय में उनका मन्तव्य है कि ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से प्रमाण ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रमाणपरीक्षा-ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बताकर उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है। विद्यानन्द के परवर्ती आचार्यों की परम्परा में हेमचन्द्र, धर्मभूषण आदि आचार्यों ने भी सम्यग्ज्ञान या सम्यक्-अर्थ-निर्णय को ही प्रमाण स्वीकृत किया है।

प्रमाण-भेद की ऐतिहासिक परम्परा

दिगम्बर आगमिक साहित्य में कुन्दकुन्द तक पंचज्ञानों की विस्तृत चर्चा पायी जाती है तथा उनके प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद भी पाये जाते हैं, परन्तु उनका प्रमाणों में वर्गीकरण नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द के बाद सूत्रकार उमास्वामी ने प्रमाण का निर्वचन करने के साथ ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में वर्गीकरण भी किया। उन्होंने मति और श्रुत को परोक्ष प्रमाण तथा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा। यह विभाजन आगमिक परम्परा से हटकर प्रतीत होता है, परन्तु समीक्षक विद्वानों की दृष्टि में यह विभाजन उनके द्वारा अन्य दर्शनों के प्रमाण-निरूपण के साथ मेल बैठाने और आगमिक समन्वय के लिए ज्ञान-कारणों की सापेक्षता और निरपेक्षता पर आधारित था। मति, स्मृति, संज्ञा-प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता-तर्क और अभिनिबोध-अनुमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत प्रमाणान्तर मानकर एवं उन्हें परोक्ष प्रमाण कहकर प्रमाण-भेद व्यवस्था के लिए उन्होंने उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों का मार्ग प्रशस्त किया। समन्तभद्र के ग्रन्थों में पंचज्ञानों में केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। तत्त्वार्थसूत्रकार की तरह उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाण का वर्गीकरण भी नहीं किया। उनका वर्गीकरण आगमिक परम्परा के अनुसार विषयाधिगम के क्रम और अक्रम पर आधारित था। इसप्रकार समन्तभद्र की दृष्टि में प्रमाण का प्रथम भेद युगपत्सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान-केवलज्ञान और दूसरा प्रमाण भेद स्याद्वाद नय से संस्कृत क्रमभावी ज्ञान है। ध्यातव्य है कि समन्तभद्र ने केवलज्ञान को साक्षात् और स्याद्वाद को असाक्षात् कहा। इसके वृत्तिकार आचार्य वसुनन्दि का मत है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दो प्रमाण हैं। उन्होंने साक्षात् का अर्थ प्रत्यक्ष और असाक्षात् का अर्थ अप्रत्यक्ष किया है। अकलंक द्वारा भी समन्तभद्रोक्त प्रमाण-भेद की व्याख्या में प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों की ओर संकेत किया गया जान पड़ता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों के अन्तर्गत मति आदि ज्ञानों के विभाजन विषयक तत्त्वार्थसूत्रकार की अवधारणा के अनुकरण की स्पष्टोक्ति

समन्तभद्र की व्याख्या के प्रसंग में अकलंक की दृष्टि भी अनुत्तरित प्रतीत होती है। समन्तभद्र ने केवलज्ञान की पूर्ण-प्रत्यक्षता को ध्यान में रखकर लौकिक-दृष्टि से प्रत्यक्ष-प्रमाण की सीमा बाह्य-अर्थ तक विस्तृत कर दी। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ अनुमेय होने से किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे—अग्नि आदि। यहाँ समन्तभद्र द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यक्ष' पद स्पष्ट रूप से अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष-प्रमाण के साथ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-प्रमाण की ओर भी संकेत करता है। स्वयम्भूस्तोत्रम् में आए 'दृष्ट' और 'प्रत्यक्ष' पद प्रत्यक्ष-प्रमाण माने जाने की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। विकसित प्रमाण युग में पाया जाने वाला अनुमान का सम्पूर्ण विवेचन क्रमभावी ज्ञान परोक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत, समन्तभद्र के ग्रन्थों में पाया जाता है।

समन्तभद्र के बाद आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद माने हैं। अन्यत्र उन्होंने स्वार्थ और परार्थ भेद भी किये हैं। अकलंक ने समन्तभद्र और सिद्धसेन के पद-चिह्नों पर चलते हुए उनके चिन्तन को प्रमुख आधार मानकर युगानुरूप प्रमाण भेद-व्यवस्था की स्थापना की। प्रत्यक्ष प्रमाण के मुख्य और सांख्यवहारिक ये दो भेद किये। मुख्य प्रत्यक्ष को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा एक-स्थान पर प्रत्यक्ष के प्रादेशिक-प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष के रूप में तीन भेद किये हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि की तरह प्रत्यक्ष के देश-प्रत्यक्ष और सर्व-प्रत्यक्ष भेद किये गए हैं। अकलंक द्वारा स्वीकृत अंशतः अविशद और अस्पष्ट होने की स्थिति में परोक्ष-प्रमाण के निम्नलिखित भेद-स्मरण/स्मृति, प्रत्यभिज्ञान/संज्ञा, तर्क/चिन्ता, अनुमान/अभिनिबोध और आगम/श्रुत परवर्ती प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने स्वीकृत किये हैं, जिनमें दर्शनान्तरों में मान्य द्वायाधिक प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। श्वेताम्बर मान्य आगमों में ज्ञानों की चर्चा के साथ प्रमाण-भेदों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। पं. सुखलाल संघवी ने अनुमान किया है कि श्वेताम्बर आगमों में प्रमाण-भेदों की चर्चा बाद में प्रविष्ट हुई होगी।

प्रमाण का विषय एवं फल

प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्यविशेषात्मक एवं उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, जिसकी उपलब्धि एकान्त से नहीं हो सकती, क्योंकि अर्थ अनेकान्तात्मक है। इस विषय में प्रारम्भ से अद्यावधि कोई वैमत्य नहीं है। सभी ज्ञानों-प्रमाणों का फल अज्ञान का नाश है, यह विचार व्यक्त करते हुए समन्तभद्र ने युगपत्-सर्वावभासक-ज्ञान-प्रमाण का फल उपेक्षा एवं क्रमभावी-ज्ञान-प्रमाण का फल उपेक्षा के साथ हेय और उपादेय बुद्धि की माना है। अकलंक और विद्यानन्दि ने साक्षात् और परम्परा फल के रूप में प्रमाण के दो फल मानकर उन्हें कथंचित् प्रमाण से अभिन्न और भिन्न माना है तथा

समन्तभद्र का समर्थन किया है। विद्यानन्दि ने अज्ञाननिवृत्तिरूप स्वार्थ-व्यवसिति को प्रमाण-फल की व्याख्या में संयुक्त कर विशिष्ट बौद्धिकता का परिचय दिया है।

जैन-प्रमाण-शास्त्र को समृद्ध और विकसित स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्यों का उनके कृतित्व सहित कालक्रम से विस्तृत विवरण देना इस आलेख में सम्भव नहीं है। संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि, वसुनन्दि, माणिक्यनन्दि, वादीभसिंह, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, अभयचन्द्रसूरि, मल्लिषेण एवं यशोविजय-18वीं शती आदि आचार्यों ने जैन-प्रमाण शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रमाणाभास

जैनदर्शन में ज्ञान को प्रमाण माना गया है। अतः प्रमाण और प्रमाणाभास भी ज्ञान के ही होंगे। प्रमाण के रहने पर ही प्रमाणाभास का अस्तित्व है। प्रमाण नहीं बनेगा, तब प्रमाणाभास भी कैसे बन सकता है? ... इस दृष्टि से प्रमेय मानने की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। बाह्य अर्थ को प्रमेय मानने की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों होता है। जैसे—आकाश में केशमशकादि का ज्ञान होता है, वह प्रमाण भी है और प्रमाणाभास भी है। जितने अंश में वह संवादक है, उतने अंश में प्रमाण है और जितने अंश में विसंवादक है, उतने अंश में अप्रमाण है। वस्तुतः जो प्रमाण न होकर प्रमाण-जैसा प्रतिभासित होता है, उसे प्रमाणाभास कहते हैं। प्रमाण का यह आभास उसके स्वरूप, संख्या, विषय और फल के सम्बन्ध में ही सकता है, जिसका आचार्यों ने प्रमाण का स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास के रूप में उल्लेख किया है।

आगमिक युग में प्रमाणाभासों का ज्ञान मिथ्याज्ञानों के माध्यम से होता रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा मति, श्रुत और अवधि ज्ञानों का विपर्यय ज्ञानों के रूप में भी होने का उल्लेख दार्शनिक युग के आचार्यों के लिए प्रमाणाभास-प्रतिपादन का महत्त्वपूर्ण आधार सिद्ध हुआ। मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान सम्यक् ही होने के कारण उनके प्रमाणाभास होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अस्वसंवेदी ज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि को प्रमाणाभास कहा है। इस दृष्टि से अन्तरंग ज्ञान को ही सत्य मानने वाले ज्ञानाद्वैतवादियों, ज्ञान को क्षणिक मानने वाले विज्ञानाद्वैतवादियों आदि की प्रमाण-सम्बन्धी अवधारणाएँ व्यवहार में उपयोगी न होने के कारण प्रमाणाभास की कोटि में आ जाती हैं। कारकसाकल्य, सन्निकर्ष आदि भी प्रमाणाभास हैं, क्योंकि वे अचेतन होने से चेतन प्रमा के साधकतम नहीं हो सकते। प्रमाण के संख्याभास के अन्तर्गत प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास,

मुख्यप्रत्यक्षाभास, सांख्यवहारिक-प्रत्यक्षाभास, तर्काभास, अनुमानाभास आदि प्रमाणाभासों की चर्चा की गयी है।

निष्कर्ष यह कि प्रमाण-व्यवस्था से पूर्व सभी दर्शनों में प्रायः जड़ और चेतन की स्वतन्त्र वास्तविकता को स्वीकार किया गया है। इनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध की स्थिति सत्य सिद्ध करने के लिए सभी ने कसौटी के रूप में प्रमाण-व्यवस्था से पूर्व विद्या-अविद्या, सम्यक्-मिथ्या आदि को आधार बनाकर अपने मत को स्थापित करने के प्रयत्न किये। बाद में लगभग ईसा की प्रथम शती में प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के द्वारा वस्तुतत्त्व की सत्यता सिद्ध करने के लिए मानक के रूप में प्रमाण को मान्य किया। प्रमाण का सूत्रपात एवं प्रमाण-व्यवस्था का ऐतिहासिक काल प्रायः सभी दर्शनों का समान है। सामान्यरूप से प्रमा के साधकतम करण को भी सभी ने प्रमाण माना है, परन्तु करण के विषय में, अन्यदर्शनों से जैनदर्शन की दृष्टि भिन्न है। अन्यदर्शनों में जहाँ ज्ञान के कारणों को प्रमाण एवं ज्ञान को उसका फल कहा है। वहाँ जैनदर्शन में जानने रूप क्रिया के चेतन होने से उसमें साधकतम उसी का गुण-ज्ञान ही हो सकता है, इसलिए इस परम्परा में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, जिसमें विभिन्न कालों में जैनाचार्यों द्वारा प्रमाण के स्वरूप में दिए गये अविश्ववाद, अपूर्व आदि सभी विशेषण गर्भित हो जाते हैं। प्रमाणमीमांसा पर चिन्तन करने वाले आचार्यों की वह परम्परा उमास्वामी, समन्तभद्र आदि से लेकर 18वीं शती के आचार्य यशोविजय तक अविच्छिन्न रूप से वृद्धिगत होती रही, जिसमें आप्तमीमांसा आदि के कर्ता स्वामी समन्तभद्र जैनन्याय के जनक कहे गये। वैदिक दर्शनों के लिए प्रमाणमीमांसा हेतु ऋग्वेदादि विशाल साहित्य उपलब्ध होने पर भी प्रमाण का सूत्रपात एवं व्यवस्था करने वाले सभी आचार्यों का काल प्रायः समान है। प्रमाण-विषयक विवेचन के लिए जैन परम्परा में कुन्दकुन्द तक ज्ञान-विवेचन की ठोस आधार-भूमि प्रमाण-विवेचक आचार्यों को प्राप्त हुई, जिसके आधार पर सर्वप्रथम उमास्वामी ने प्रमाण का सूत्रपात किया। तत्पश्चात् समन्तभद्र और सिद्धसेन इन दो आचार्यों ने प्रमाण की सूत्रपात रूपी नाँव पर प्रमाण का भव्य प्रासाद निर्मित किया। इनके उत्तरवर्ती अकलंक, विद्यानन्दि आदि आचार्यों ने इन्हीं दोनों आचार्यों का आश्रय लेकर प्रमाणचर्चा को युगानुरूप ढाँचे में ढाला।

नय

नयों का जैन परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा परस्पर विरोधी विचारों का समाधान प्रस्तुत किया जाता है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक प्रभृति सभी दृष्टिभिन्नताओं का समाधान नय-व्यवस्था में अन्तर्निहित है। जब से जीव को अपनी आन्तरिक चेतना का प्रकृति और शरीर के साथ सम्बन्ध होने का अनुभव

हुआ, तब से उसने अपने अन्तर्दर्शन की शक्तियों का आश्रय लेकर आत्मा, शरीर, मृत्यु, बाह्यजगत् और उसके कारणों के विषय में चिन्तन प्रारम्भ किया। देश, काल, परिस्थिति, अपरिपूर्ण ज्ञान एवं रुचि-भिन्नता के कारण उनके चिन्तन में मत-भिन्नताएँ उत्पन्न हुई। उन मत-भिन्नताओं को सामान्य और विशेष में वर्गीकृत करके देखें, तब उनके मूल में समन्वय, समग्रता तथा विश्लेषण रूप आंशिक सत्यताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जब इनमें से प्रस्फुटित अवान्तर विचारधाराएँ विभिन्न मन्तव्यों को लेकर प्रमुखता से एकान्तिक पक्ष की ओर बढ़ने लगती हैं, तब अनेक वाद-विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। अतीत के दार्शनिक साहित्य पर दृष्टिपात करें, तब इस तरह की अनेक विचारधाराओं का अस्तित्व पाया जाता है। जैसे ब्रह्माद्वैतवादियों का झुकाव सामान्य की ओर रहा है, जिन्होंने अन्तिम निष्कर्ष में भेदों को नकार दिया। बौद्धों ने अभेदों को मिथ्या बताया। अनेक द्रव्यों को मानने वाले सांख्य प्रकृति-पुरुषवाद के रूप में उनकी नित्यता और व्यापकता के एकान्त का परित्याग नहीं कर सके। किसी ने धर्म-धर्मी, गुण-गुणी आदि में एकान्त माना इत्यादि अनेक मतों में परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इन सभी विरोधी दृष्टियों का समन्वय अहिंसा, समता, शान्ति, अपरिग्रह, सर्वोदय और वस्तु-व्यवस्था के आलोक में मध्यस्थभाव से जैनदर्शन की अनेकान्त-दृष्टि ने किया है। इसी समग्र-चिन्तन से स्याद्वाद प्रतिफलित हुआ तथा उससे नय-व्यवस्था। यही कारण है कि तीर्थंकरों के बाद आचार्यों द्वारा सृजित सम्पूर्ण वाङ्मय में अर्थाधिगम के लिए अनेकान्त दृष्टि का मूलाधार नय को भी प्रमाण की तरह स्वीकार किया गया है। आगमिक-साहित्य में विषय-वस्तु का विवेचन नय-दृष्टि से होता रहा है। ध्वला टीका में लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र-अर्थ आदि कुछ-भी नहीं कहा गया है। आचार्य यतिवृषभ ने यहाँ तक लिखा है कि जो व्यक्ति प्रमाण, नय और निक्षेप से पदार्थ की ठीक-ठीक समीक्षा नहीं करता, उसे अयुक्त पदार्थ भी युक्त और युक्त पदार्थ भी अयुक्त प्रतिभाषित होते हैं। समस्त वचन-प्रयोग और लोक-व्यवहार नयाश्रित है।

तत्त्वाधिगम का उपाय : नय

जैनदर्शन में तत्त्वाधिगम के लिए समग्र वस्तु-तत्त्व को विषय करने वाले प्रमाण की तरह तत्त्वों की आंशिक प्रमाणता के अधिगम के लिए नय को भी आवश्यक माना गया है। षट्खण्डागम में वस्तु-व्यवस्था के लिए नय-विवक्षा की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण और नय दोनों को वस्तु का प्रकाशक कहा है। आचार्य पूज्यपाद प्रमाण से ही नय की उत्पत्ति मानते हैं। अन्य दर्शनों में

अर्थाधिगम के रूप में मात्र प्रमाण को ही स्वीकार किया गया है। जीवादि तत्त्वों के अन्य उपायों के रूप में निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान के साथ-साथ सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व और निक्षेपों का भी उल्लेख किया गया है। ज्ञात हो कि प्रमाण वस्तु के समग्र-अंशों को तो विषय करता है, पर वह विविध वादों को सुलझा नहीं सकता। नय ही विविध वादों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। अनन्तगुणों वाली वस्तु के अपने अभिप्राय के अनुसार आंशिक कथन करने वाला नय होने के कारण आपाततः अभिप्राय-भेद से नयों में परस्पर-विरोध-जैसा प्रतीत होता है, परन्तु अपेक्षा-भेद से कथन किया जाये, तब उनमें विरोध उपस्थित नहीं होता। सम्भवतः इसी जटिलता को देखकर यह कहा गया है कि जिनवर का नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला और दुःसाध्य है। बिना समझे जो उसमें प्रवेश करता है, वह लाभ के बदले हानि उठाता है। आचार्यों ने नय का स्वरूप, भेदादि, प्रयोजन, फल एवं उनका सैद्धान्तिक-दार्शनिक तथा आगमिक विश्लेषण उपस्थित किये जाने के साथ साथ उसके वैशिष्ट्य पर भी गम्भीरता से प्रकाश डाला है। नय जीवादितत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ-बोध कराने वाला होता है। आचार्य पूज्यपाद और आ. अकलंक ने अधिगम के दो हेतुओं का निर्देश किया है-स्वाधिगम हेतु और पराधिगम हेतु। ज्ञान स्वाधिगम हेतु है, जो प्रमाण और नय रूप होता है और वचन पराधिगम हेतु है, स्याद्वादनयसंस्कृत-श्रुति के द्वारा जीवादिक की प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूप से जानी जाती है। लघीयस्त्रय में श्रुत के दो उपयोग बताये गये हैं-स्याद्वाद और नय।

नय का व्युत्पत्त्यर्थ

‘नय’ शब्द ‘णी’ प्राणणे धातु से कृदन्त का ‘अच्’ प्रत्यय संयुक्त करने पर निष्पन्न हुआ है। कर्तृवाच्य में इसकी व्युत्पत्ति ‘नयति प्राप्नोति वस्तुस्वरूपं यः स नयः’ या ‘जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति, व्यञ्जयन्ति इति नयः’ अथवा ‘नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तुं नयति प्रापयतीति वा नयः’ की जाती है। कर्मवाच्य में ‘नीयते, गम्यते, परिच्छिद्यते, ज्ञायतेऽनेन येन वा अर्थः स नयः’ या ‘नीयते एकविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिनियमगामिरिति नीतयो नयः’ के रूप में की गयी है। आचार्य विद्यानन्दि ने ‘नीयते गम्यते येन श्रुतांशो नयः।’ इन व्युत्पत्तियों के अनुसार कर्तृवाच्य में नय वह है, जो नीति से एकदेश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है अर्थात् प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहा गया है। कर्मवाच्यपरक व्युत्पत्ति के अनुसार जो श्रुत-प्रमाण द्वारा जाने गये अर्थ के किसी एक अंश या धर्म का कथन करता है, उसे नय कहते हैं।

नयों की इन व्युत्पत्तियों में नय का जो साधकतम करण है, उसे नय माना गया

है। वस्तुतः नय का प्रमाण का अंश होने के कारण नय में भी प्रमात्व अवश्य रहेगा। प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है। जो साधकतम हो, वह करण होता है। प्रमा या जानने रूप क्रिया जैनागम में चेतन मानी गयी है। इसलिए उसमें साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही माना जा सकता है। इस दृष्टि से नय क्रिया का भी साधकतम उसी का गुण ज्ञानांश होगा। जब 'नीयते य इति नयः' इस तरह कर्म साधन रूप व्युत्पत्ति की जाएगी, तब नय का अर्थ यह होगा कि नयों के द्वारा अर्थ ही जाने जाते हैं। आचार्य अकलंक ने ज्ञाताओं की अभिसन्धि प्रमाण और प्रमिति के एक-देश का सम्यक् निर्णय कराने वाले को नय कहा है। इस तरह नय भी ज्ञान की वृत्ति रूप सिद्ध होता है।

नय का स्वरूप

नय के स्वरूप विषयक सभी आचार्यों के मन्तव्य एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं कि इन्द्रिय-चेतना से होने वाला ज्ञान द्रव्य के समग्र-स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकता, परन्तु वह द्रव्यांश को जानने के कारण ज्ञानांश अवश्य है। उस अंश को ही सम्पूर्ण समझकर विवाद का विषय न बनाया जाये। इसलिए विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग कर आचार्यों द्वारा नय के तार्किक स्वरूप प्रस्तुत किये गये और यह सिद्ध किया गया कि अनन्तस्वरूप वाली वस्तु के आंशिक स्वरूप को स्वीकार करने के साथ उसके अन्य अंशों की सत्ता को भी स्वीकार करना नय-दृष्टि है तथा सत्यपथ का अनुचरण है। दार्शनिक-तार्किक युग में नय को सम्यगेकान्त, प्रमाणांश, श्रुतांश, वक्ता या ज्ञाता का अभिप्राय आदि के रूप में परिभाषित कर उनका तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। ज्ञात हो कि आगमिक और दार्शनिक युग के मध्यवर्ती कड़ी को जोड़ने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे महान् आचार्य थे, जिन्होंने नय-विषयक चिन्तन को नया आयाम दिया। यही कारण है कि उनके पश्चात् नय पर स्वतन्त्र चर्चाएँ होने लगीं। आचार्य कुन्दकुन्द के मन्तव्यों का अन्यथा अर्थ न किया जाये, एतदर्थ उनके ग्रन्थों पर आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति आदि टीकाओं की रचनाएँ की गयीं।

जैनवाङ्मय में नय स्वरूप के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं—आध्यात्मिक : आगमिक, शास्त्रीय दार्शनिक और स्वतन्त्र। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में यद्यपि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के रूप में ज्ञेय-शास्त्रीय दृष्टि से भी विवेचन पाया जाता है, परन्तु उनका निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा मुख्य प्रतिपाद्य आध्यात्मिक रहा है। उनकी दृष्टि से तत्त्वज्ञ होने के साथ हेय-उपादेय को भी समझना आवश्यक है, जो निश्चय और व्यवहार नय के बिना सम्भव नहीं है। ये दोनों नय सापेक्ष हैं। भेद-मूलक व्यवहार-दृष्टि नय है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने नय की स्पष्ट परिभाषा न देकर पदार्थ के अधिगम के लिए उसे

आवश्यक बताने के साथ उसका वर्गीकरण पूर्वपरम्परा का अनुकरण है तथा नय-विवेचन के लिए शास्त्रीय-दार्शनिक पद्धतियों के लिए प्रमुख आधार है।

विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गयीं नय की कतिपय परिभाषाएँ अप्रलिखित हैं—

आचार्य समन्तभद्र ने हेतु का प्रयोग कर नय के तार्किक स्वरूप का सर्वप्रथम सूत्रपात किया था। उन्होंने स्याद्वाद रूप परमागम से विभक्त हुए अर्थ-विशेष का सधर्म द्वारा साध्य के साधर्म्य से जो अविरोध-रूप से व्यंजक होता है, उसे नय कहा है। आचार्य अकलंक ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि नय का स्वरूप अनुमान और हेतु के बिना समझना कठिन है। स्याद्वाद-रूप परमागम से विभक्त हुए अर्थ-विशेष में जब एक-लक्षण-रूप हेतु घटित हो जाये, तब वह नय कहलाता है। स्याद्वाद इत्यादि के द्वारा अनुमित अनेकान्तात्मक-अर्थ-तत्त्व दिखाता है कि उससे नित्यत्वादि विशेष उसके अलग अलग प्रतिपादक हैं, ऐसा जो है, वही नय कहा जा सकता है। अनेकान्त अर्थ का ज्ञान प्रमाण है और उसके एक अंश का ज्ञान नय है, जो दूसरे धर्मों की भी अपेक्षा रखता है।

आचार्य पूज्यपाद ने प्रमाण से नय की उत्पत्ति मानकर पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित पारम्परिक नय के स्वरूप का उल्लेखपूर्वक लिखा है—‘*प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थविधारणं नयः*’ अर्थात् प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नय विवेचक सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में लिखा है कि ‘*सामान्यलक्षणं तावद् वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्णनात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः*’ आचार्यश्री ने नय के इस स्वरूप में साध्य, साधन, हेतु, पक्ष और अविनाभाव-अन्यथानुपपन्नत्व-अविरोध आदि का प्रयोग कर दार्शनिक युग में पूर्ण विकसित लक्षण के मानक के अनुसार नय का स्वरूप स्थिर किया है। उन्होंने लिखा है कि अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ-प्रयोग नय है। आचार्य अकलंकदेव ने नय के स्वरूप प्रतिपादन में पूर्वाचार्यों का ही अनुकरण किया है। वे लिखते हैं कि—‘*प्रमाणप्रकाशितार्थ-विशेषप्ररूपको नयः*’—प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करने वाला नय है और यह नय ही व्यवहार का हेतु होता है। एक स्थान पर सम्यगेकान्त को नय और सम्यग्नेकान्त को प्रमाण कहा है। आ. पूज्यपाद की तरह आ. अकलंकदेव ने भी अपने इस नय के स्वरूप के समर्थन में पूर्वाचार्यों का वाक्य ‘*सकलादेशो प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः*’ लिखकर उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की है। यहाँ सम्यगेकान्त और सम्यग्नेकान्त में भ्रम पैदा न हो, इसलिए इनके अर्थ का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

सम्यगेकान्त और सम्यगनेकान्त

एकान्त और अनेकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक-देश को सयुक्तिक ग्रहण करने वाला सम्यगेकान्त है। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरोद्ध अनेक-विरोधि-धर्मों का ग्रहण करने वाला सम्यगनेकान्त है तथा वस्तु को तत्, अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचनविलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यगेकान्त नय कहलाता है तथा सम्यगनेकान्त प्रमाण। यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाये और एकान्त का लोप किया जाये, तो सम्यगेकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जाएगा। यदि एकान्त ही माना जाए तो अविनाभावी इतर-धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्वलोप का प्रसंग उपस्थित होता है।

न्यायविनिश्चय ग्रन्थ के अनुसार स्याद्वाद के द्वारा अनुमित अनेकान्तात्मक-अर्थतत्त्व से यह सिद्ध होता है कि उसके नित्यत्वादि-विशेष उसके अलग-अलग प्रतिपादक हैं वही नय हैं। स्याद्वादमंजरी में न्यायदर्शन के अनुमान के स्वरूप में अनुमान का निश्चायक तृतीय ज्ञान 'परामर्श' जैसे शब्दों का प्रयोग कर निश्चित प्रमाणांश को प्राप्त कराने वाली नीति को नय कहा गया है। आचार्य अकलंकदेव से पूर्व एवं परवर्ती जितने भी आचार्यों ने नय के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, सभी का अन्तर्भाव इन्हीं लक्षणों में हो जाता है। वस्तुतः अनेकान्त की प्रतिपत्ति प्रमाण है एवं एकधर्म की प्रतिपत्ति नय है। इस दृष्टि से नय के स्वरूप में सभी आचार्यों के प्रतिपादन में समानता है। विशेषता देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उसके तार्किक, न्यायिक, आध्यात्मिक आदि प्रस्तुतीकरण में है।

प्रमाण के अंश: नय

अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि प्रमाण और नय से होती है। अनेकान्त का मूल नय है। प्रमाण वस्तु के सभी धर्मों को विषय करता है, नय उनमें से किसी एक धर्म को विषय करता है। प्रमाण ज्ञान-रूप है तथा वही अर्थपरिच्छेदक भी है। जैनैतर परम्पराओं में इन्द्रिय-व्यापार, ज्ञातृ-व्यापार, कारक-साकल्य सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है, परन्तु उनमें अंशग्राहीरूप से नय की चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। जैनदर्शन में ज्ञान अर्थप्रमिति में अव्यवहित साक्षात् कारण है, जबकि इन्द्रिय-सन्निकर्षादि-व्यवहित-परम्परा से कारण हैं। इसलिए अव्यवहित कारण को ही प्रमा का जनक स्वीकार करना युक्ति-संगत है। दूसरे प्रमिति अर्थप्रकाशक अज्ञाननिवृत्तिरूप है, जो ज्ञान द्वारा ही सम्भव

है, इन्द्रियसन्निकर्षादि द्वारा नहीं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पाँचों ज्ञानों को प्रमाण कहा गया है और उनसे अधिगम होता है। नय से भी प्रमाण की तरह अर्थाधिगम होता है। आचार्य समन्तभद्र ने भी प्रमाण और नय दोनों को वस्तु का प्रकाशक कहा है। समुदायविशेषं प्रमाणम् अवयव-विषया नयाः आचार्य अकलंकदेव के इस कथन से भी यह सिद्ध है। यहाँ यह विचारणीय है कि ज्ञान नय-रूप है या नहीं, यदि ज्ञान-रूप है, तो क्या वह प्रमाण है या अप्रमाण? 'यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाण से अलग अर्थाधिगम का उपाय बताने की क्या आवश्यकता थी, यदि अप्रमाण है, तब उससे यथार्थ अधिगम कैसे हो सकता है, यदि नय ज्ञानरूप नहीं है, तब उसे सन्निकर्ष आदि की तरह ज्ञापक स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन सभी प्रश्नों का समाधान 'नय प्रमाण के अंश हैं'—इस कथन से हो जाता है। इसके अनुसार नय न प्रमाण हैं और न अप्रमाण—अपितु ज्ञानात्मक-प्रमाण का एकदेश हैं। जैसे—समुद्र से लाया गया घट-भर-जल न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश है। यदि उसे समुद्र माना जाता है, तो शेष जल असमुद्र कहा जाएगा अथवा समुद्रों की कल्पना करना पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाता है, तो शेषांशों को भी असमुद्र कहा जाएगा। इस स्थिति में समुद्र का व्यवहार कहीं भी नहीं हो सकेगा और समुद्र का ज्ञाता भी किसी को नहीं कहा जा सकेगा। अतः नय न प्रमाण है, न अप्रमाण अपितु प्रमाणैकदेश है।

श्रुतप्रमाण का अंश : नय

ज्ञान स्वाधिगम का हेतु होने के कारण प्रमाण-रूप है एवं वचन पराधिगम का हेतु होने के कारण नय-रूप है, जो दूसरे के लिए स्याद्वादनयसंस्कृत जीवादिक की प्रतिपर्याय रूप माना गया है। पूज्यपाद ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रतिपत्ति के भेद से प्रमाण स्वार्थ और परार्थ के रूप में दो प्रकार का है। श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वार्थप्रमाण हैं, परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण को स्वार्थ-प्रमाण और वचनात्मक श्रुत-प्रमाण को परार्थ-प्रमाण कहते हैं। परार्थप्रतिपत्ति का एकमात्र साधन वचन होने से मति आदि चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं हैं। श्रुतज्ञान द्वारा स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रतिपत्तियाँ होती हैं। ज्ञाता व वक्ता का वचनात्मक-व्यवहार उपचार से परार्थ-श्रुतप्रमाण है। श्रोता को जो वक्ता के शब्दों से बोध होता है, वह वास्तविक परार्थ-प्रमाण है। ज्ञाता या वक्ता का जो अभिप्राय रहता है और अंश-ग्राही है, वह ज्ञानात्मक स्वार्थ-प्रमाण है। इस तरह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुत-प्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुत-प्रमाण दोनों नय हैं। यही कारण है कि दर्शनग्रन्थों में ज्ञान-नय और वचन-नय के भेद से दो प्रकार के नयों का भी विवेचन प्राप्त होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि नय की

प्रवृत्ति मति, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानों द्वारा ज्ञात सीमित अर्थ के अंश में नहीं होती है तो क्या नय को समस्त पदार्थों के समस्त अंशों में प्रवृत्त होने वाले केवलज्ञान का अंश माना जा सकता है, इसका समाधान आचार्य विद्यानन्दि द्वारा यह दिया गया है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष एवं स्पष्टरूप से पदार्थों के समस्त अंशों का साक्षात्कार करता है। नय परोक्ष-अस्पष्ट रूप से समस्त पदार्थों के अंशों का एकैकशः निश्चय करता है। इसलिए नय केवलमूलक नहीं हैं। वह मात्र परोक्ष श्रुतप्रमाण-मूलक है। आचार्य समन्तभद्र ने 'स्याद्वाद' अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा गृहीत अनेकान्तात्मक पदार्थ के धर्मों का पृथक्-पृथक् कथन करने वाले ज्ञान को नय कहा है। आलापपद्धति में श्रुतप्रमाण के विकल्पों को नय कहा गया है। नय को श्रुतप्रमाण का विकल्प या अंश मानने वाले अनेक आचार्य हैं। तात्पर्य यह कि श्रुतज्ञान द्वारा जाने गये वस्तु के अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला नय है। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है कि 'परिशुद्ध नयवाद केवल श्रुतप्रमाण का साधक बनता है और यदि वह गलत रूप से रखा जाए, तो दोनों पक्षों का घात होता है।'

श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में आचार्यों ने यह भी लिखा है कि श्रुत के दो उपयोग होते हैं—स्याद्वाद और नय। वस्तु के सम्पूर्ण कथन को स्याद्वाद एवं वस्तु के एकदेश-कथन को नय कहते हैं। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के बराबर माना है, दोनों में अन्तर मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का बताया है। इससे स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान के उपयोग में भी स्याद्वाद-रूप-प्रमाण का अंश नय है। ज्ञात हो कि आचार्य अकलंक ने श्रुत के तीन भेद किये हैं—प्रत्यक्ष निमित्तक, अनुमान निमित्तक तथा आगम निमित्तक। जैनतर्कवार्तिककार प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत को न मानकर परोपदेशज और लिंगनिमित्तक ये दो ही श्रुत मानते हैं।

वक्ता या ज्ञाता का अभिप्राय : नय

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि ज्ञाता व वक्ता का अभिप्राय नय है। द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु के विषय में ज्ञाता का अभिप्राय भेद व अभेद को लेकर होता है। उदाहरणार्थ एक ज्ञानी वस्तु में स्थायित्व देखकर उसे नित्य कहता है, वस्तु में होने वाले परिवर्तन आदि को देखकर दूसरा उसे अनित्य कहता है। ये विभिन्न अभिप्राय नय या दुर्नय अथवा नयाभास कहे जाते हैं। जब अपने-अपने अभिप्रायों को स्वीकार करते हुए भी दृष्टिभेद से दूसरे के अभिप्राय का निराकरण नहीं करते तब दोनों के ही उन अभिप्रायों को नय कहा जाता है; इसके विपरीत एकांगी अभिप्राय नयाभास या दुर्नय है।

नय : सम्यग्दर्शन एवं पुरुषार्थ का हेतु

नय गौण-मुख्यरूप से एक-दूसरे की अपेक्षा करके सम्यग्दर्शन के हेतु हैं। जिस

प्रकार तन्तु आदिक पुरुष की अर्थक्रिया और साधनों की सामर्थ्य से यथायोग्य निवेशित कर दिये जाने पर पट आदि की संज्ञा को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार ये नय भी स्वतन्त्र रहने पर अपेक्षा-बुद्धि से कार्यकारी ही हैं, क्योंकि पूर्व-पूर्व का नय उत्तर-उत्तर के नय का हेतु बनकर कार्यकारी होता है, परस्पर-निरपेक्ष-अंश पुरुषार्थ के भी हेतु नहीं बन सकते, वे परस्पर सापेक्ष होकर ही व्यवहार में साधक हो सकते हैं, क्योंकि उस रूप में उनकी उपलब्धि होती है।

नय के भेद

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से उसके विषय में तीर्थंकरों के वचन अभेदभेदात्मक होते हैं। परिस्थिति और शक्ति के अनुसार वस्तु के किसी धर्म के विषय में हम किस दृष्टि का आश्रय लेते हैं, वही दृष्टि नय-भेद के मूल में दृष्टिगोचर होती है। दृष्टिभेद ही नयभेद का प्रमुख कारक है। जितनी दृष्टियाँ एवं अभिप्राय हो सकते हैं, उतने नय हो सकते हैं। आचार्यों ने नय के एक से लेकर असंख्यात विकल्प बताये हैं। वस्तुतः नय के भेद प्रभेदों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपरीत असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य आदि विभिन्न दृष्टियाँ नय हैं। ये सर्वथा-रूप से वस्तु-तत्त्व को प्रदूषित करते हैं एवं स्यात्युक्त या कथंचित्-रूप से उसको पुष्ट करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्यों को यह कहना पड़ा कि जितने प्रकार के वचन-मार्ग हैं, उतने ही प्रकार के नयवाद हैं। जब वस्तु अनन्तधर्म वाली है और नय उसके प्रत्येक धर्म का ग्राही हो सकता है, तब नय अनन्त भी कहे जाएँ, तो अत्युक्ति नहीं होगी। निश्चित रूप से नय-व्यवस्था जैनदर्शन की अद्भुत देन है। वस्तु-तत्त्व का ऐसा विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य नहीं है। भेदाभेदात्मक-समग्र-दृष्टियों को आधार बनाकर आचार्यों ने इनसे क्रमशः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो मूल नय विकसित किये।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

आचार्य अकलंक ने लिखा है कि 'द्रु' धातु से 'य' प्रत्यय संयुक्त करने पर द्रव्य की कर्ता और कर्म में निष्पत्ति बन जाती है। यद्यपि पर्याय या उत्पाद-व्यय उस द्रव्य से अभिन्न होते हैं। तथापि कर्तृ और कर्म में भेद विवक्षा करके 'द्रवति गच्छति' यह निर्देश बन जाता है। जिससे द्रव्य का स्वरूप यह घटित होता है कि 'जो स्व और पर कारणों से होने वाली उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को प्राप्त हो तथा पर्यायों को जो प्राप्त हो जाता है, वह द्रव्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव-रूप बाह्य प्रत्यय रहने पर भी द्रव्य में स्वयं उस पर्याय की योग्यता न हो, तो पर्यायान्तर उत्पन्न नहीं हो

सकती। दोनों के मिलने पर ही पर्याय उत्पन्न होती है। जैसे—पकने योग्य उड़द यदि बोरे में पड़ा हुआ है, तो पाक नहीं हो सकता और यदि घोटक (न पकने योग्य) उड़द बटलोई में उबलते हुए पानी में भी डाला जाए, तो भी नहीं पक सकता। तात्पर्य यह कि उत्पाद और विनाश आदि अनेक पर्यायों के होते रहने पर भी जो साततिक द्रव्यदृष्टि से गमन करता जाए, वह द्रव्य है। ऐसे द्रव्य मात्र के अस्तित्व को ग्रहण करने वाला द्रव्यास्तिक और पर्याय मात्र के अस्तित्व को ग्रहण करने वाला पर्यायास्तिक है अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ है—गुण और कर्म आदि द्रव्य रूप ही हैं, वह द्रव्यार्थिक और पर्याय ही जिसका अर्थ है, वह पर्यायार्थिक है। पर्यायार्थिक की दृष्टि से अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं। अतः उनसे कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से वर्तमान मात्र पर्याय ही सत् है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से अन्वयविज्ञान अनुगताकार वचन और अनुगत धर्मों का लोप नहीं किया जा सकता। अतः द्रव्य ही अर्थ है। तात्पर्य यह कि प्राप्ति योग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं एवं जो निरन्तर गमन करता जाए—ऐसा द्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है एवं पर्याय जिसका प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिक नय है।

पर्याय शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'इण' धातु से 'ण' प्रत्यय जुड़ने पर सिद्ध होता है। आचार्य अकलंक देव ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि—'परि समन्तादायः पर्यायः। पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्' अर्थात् जो सब-ओर से भेद को प्राप्त करे, कालकृत भेद को प्राप्त हो अथवा वचन का विच्छेद जिस काल में हो, वह पर्याय है और वह काल जिनका मूल आधार है, वह पर्यायार्थिक नय है। अन्य ग्रन्थों में भी आचार्य अकलंकदेव ने पर्यायार्थिक नय को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए लिखा है कि विशेष, भेद, व्यतिरेक और अपवाद ये पर्याय के अर्थ हैं, इनको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। सर्वार्थसिद्धि में भी इसी प्रकार का लक्षण पाया जाता है। उन्होंने द्रव्य और पर्याय का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि द्रव्य एकत्वरूप अन्वयात्मक होता है। एक वस्तु में कालक्रम से होने वाली पर्यायों में अनुस्यूत एकत्व द्रव्य का स्वरूप है। द्रव्यत्व अन्य द्रव्यों में पाये जाने के कारण, वही अन्वयी है। पर्याय पृथक् एवं व्यतिरेक है। एक द्रव्य में कालक्रम से उत्पन्न पर्यायों परस्पर में एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। एक द्रव्य में गुणकर्म, सामान्य-विशेष से पर्यायरूप पार्थक्य है और प्रत्येक-क्षणवर्ती पर्याय अपने से भिन्न-क्षणवर्ती पर्याय से भिन्न होती है। यह भिन्नता व्यतिरेक है। प्रतिक्षण अनन्त भेदों को आत्मसात् किये हुए संसारी जीव की क्रोध आदि व्यवहार पर्यायें एवं ज्ञान आदि जीव की निश्चय पर्यायें हैं। तीर्थंकरों के वचन इन्हीं दो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों में संगृहीत हैं, अन्य कोई तीसरा प्रकार नहीं है। इन नयों की विशेषता यह है कि ये मति, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान के भेद न होकर

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में स्वतन्त्र रूप से श्रुतज्ञान में व्यवस्थित हैं।

ज्ञान-नय, अर्थ-नय एवं शब्द-नय

शास्त्रों में ज्ञान-नय, अर्थ-नय और शब्द-नय के रूप में नयों का तीन तरह से भी विभाजन पाया जाता है, जो विशेष रूप से सप्तनयों में किया गया है। जब प्रत्येक पदार्थ को अर्थ, शब्द और ज्ञान के आकारों में बाँटते हैं, तब उनका ग्राहक-ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें क्रमशः अर्थ-नय, शब्द-नय और ज्ञान-नय कहा जाता है। नैगम-नय ज्ञान-नय और अर्थ-नय दोनों है। उल्लेखनीय है कि सप्तभंगी की प्रक्रिया द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की विवक्षा से होती है और ये नय संग्रह और व्यवहार-रूप होते हैं। अर्थ-नय और शब्द-नय रूप से भी इनके विभाग हैं। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय हैं तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत शब्द-नय हैं। अवगत हो कि नय द्वारा सप्तभंगी के विवेचन में अकलंक ने नैगमनय तथा ज्ञाननय का उल्लेख नहीं किया है। आप्तमीमांसा भाष्य में भी अकलंक ने 'द्रव्यपर्यायस्थानः संग्रहादिनयः' लिखकर छह नयों को मानने की ओर संकेत किया है। ज्ञात हो कि आचार्य सिद्धसेन ने संग्रह, व्यवहार आदि छह ही नय माने हैं। आ. अकलंक ने सप्तनयों के विवेचन में नैगमनय का पूर्वपरम्परानुसार ही विवेचन किया है। 'लघीयस्त्रय' ग्रन्थ में भी नैगम, संग्रह आदि सप्तनयों का विवेचन किया गया है। प्रतीत होता है कि नैगमनय के विषय में अस्तित्व की स्पष्ट सूचना न होने के कारण उसे सप्तभंगी के प्रसंग में छोड़ दिया गया है।

आश्रितनयः निश्चय और व्यवहार

आगमिक काल में अध्यात्म-परक विवेचन निश्चय और व्यवहार नयों से होता रहा है। एवंभूत और व्यवहार नयों से भी उक्त नयों का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अध्यात्म ग्रन्थों में नैगमादि सात नयों के स्थान पर निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा विवेचन उपलब्ध होता है। दोनों पद्धतियाँ सिद्धान्त का ही निर्वचन करती हैं। दोनों में अन्तर शरीर और आत्मा जैसा है। एक दृष्टि शुद्ध सिद्धान्त का वर्णन करती है तथा दूसरी दृष्टि सिद्धान्त तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। दोनों नयों का प्रयोग प्रतिपाद्य की योग्यता के अनुसार होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट किया है कि परमभाव शुद्धस्वभाव का अवलोकन करने वाले पुरुषों के द्वारा शुद्धस्वरूप का वर्णन करने वाला शुद्धनय निश्चय नय है और जो अपरमभाव में स्थित हैं, वे व्यवहार नय से उपदेश देने के योग्य हैं। किसी एक नय के पक्षपातियों को आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के ये वचन सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जो शिष्य व्यवहार और निश्चय को यथार्थरूप से जानकर

मध्यस्थ रहता है, पक्षपात नहीं करता, वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल पाता है।

अनेक आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार नयों को मूल नय मानकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को निश्चय हेतु में साधन माना है। उन्होंने यह भी लिखा है कि निश्चय नय ही द्रव्यार्थिक नय है अथवा द्रव्यार्थिक नय ही निश्चय नय है एवं व्यवहार नय पर्यायार्थिक नय है अथवा पर्यायार्थिक नय ही व्यवहार-नय है। कारण और प्रयोजनों के कारण दोनों में अन्तर पाया जाता है, पर विषय भेद नहीं है। सम्पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में उठे विवाद को प्रमाण के द्वारा और उसके एक अंश के विवाद को नय के द्वारा हल किया जाता है। नयों में सामान्य विषयवस्तु को द्रव्यार्थिक और पर्याय को पर्यायार्थिक विषय करता है। इसी तरह आत्मा के सम्बन्ध में उठे सम्पूर्ण विवाद को निश्चय नय समाप्त करता है। आचार्य अकलंक को दृष्टि में निश्चय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित नय हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र और आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने अकलंक के मत का समर्थन किया है।

नैगम, संग्रह आदि सप्तनय

पूर्व में जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि मूल नय दो ही हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र एवं सिद्धसेन आदि आचार्यों ने इन्हें ही मूल नय माना है। नैगमादि नय इन्हीं नयों की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। समन्तभद्र ने नयों और उपनयों के रूप में बहुनयों की ओर भी संकेत किया है। जैनवाङ्मय में सप्तनय मानने को परम्पराओं के साथ षड् व पंच नयों को मानने वाली परम्पराएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। तत्त्वार्थसूत्र में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—ये सप्तनय माने गए हैं। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने भी सप्तनयों के उल्लेख-पूर्वक टीकाएँ लिखी हैं। इनमें जैसा विवेचन सर्वार्थसिद्धि में किया गया है, प्रायः वैसा ही विवेचन तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य अकलंक द्वारा संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र-नय को अर्थनय, नैगम को अर्थ-नय एवं ज्ञान-नय तथा शेष तीन को शब्द-नय माना है। लघीयस्त्रय में नैगम संग्रह आदि चार नयों को अर्थनय एवं शेष शब्द-नय के अन्तर्गत रखे गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचार्य उमास्वाति ने नैगम नय से शब्द तक पाँच ही नय स्वीकार किये हैं। इसी ग्रन्थ में आगे नैगम नय के दो भेद—एकदेश परिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी तथा शब्द नय के भी तीन भेद—साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत भेद किये गए हैं।

आचार्य पूज्यपाद का अनुकरण करते हुए आचार्य अकलंक ने अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय बताया है। भाविसंज्ञा में उपकार आदि की आशा बनी रहती है, परन्तु नैगमनय में तो कल्पनामात्र है, इस आशंका का समाधान देते हुए अकलंक

ने लिखा है कि नय का कार्य केवल विषय बताना है, उपयोगिता पर विचार करना नहीं, फिर भी संकल्प के अनुसार निष्पन्न वस्तु में उपकारादि की भी सम्भावना बनी रहती है। 'निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः' अर्थात् अन्दर से विकल्पों का बाहर निकलना नैगम है। इन विकल्पों में जो रहे या उत्पन्न हो, वह नैगमनय है। लघीयस्त्रय ग्रन्थ में अकलंक ने इस नय को भेद या अभेद का ग्रहण करने वाला बताया है। यही कारण है कि उन्होंने नैगम आदि ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नयों को अर्थनय माना है तथा अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का संग्रह नय में अन्तर्भाव किया है। नैगमनय को सिद्धसेन-जैसे आचार्य उपचार कहकर नहीं मानते हैं। अर्थनय की अपेक्षा से 'न एकं गमः नैगमः' यह व्युत्पत्ति की जाती है। जिसका तात्पर्य है कि जो एक को ही विषय न करे, वह नैगमनय है। आगमिक साहित्य में इसके भेद-प्रभेदादि पूर्वक विस्तार से वर्णन पाया जाता है।

संग्रह-नय सत्ता को विषय करता है। वह समस्त वस्तु-तत्त्व का सत्ता में अन्तर्भाव करके अभेदरूप से संग्रह करता है। सत्ता को विशेष ऊहा-पोह-पूर्वक स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंक ने लिखा है कि अनुगताकार बुद्धि और अनुगत शब्द प्रयोग का विषयभूत सादृश्य या स्वरूप जाति है। चेतन की जाति चेतनत्व और अचेतन की जाति अचेतनत्व है। अतः अपने अवरोधि सामान्य के द्वारा उन-उन पदार्थों का संग्रह करने वाला नय है। जैसे सत् कहने से सत्ता सम्बन्ध के योग्य द्रव्य, गुण, कर्म आदि सद् व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है अथवा द्रव्य कहने से द्रव्य व्यक्तियों का। स्याद्वाद-मंजरी के अनुसार विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य से जानना संग्रह-नय है। अन्य आचार्यों ने भी प्रायः इसके इसी तरह के स्वरूप का विवेचन किया है। वस्तुतः संग्रह-नय एक ऐसी मनोवृत्ति है, जो विश्व के सभी गुण-धर्मों आदि भेदों को विस्मृत कर एक अखण्ड स्वरूप पर ही विचार करती है। यह नय पर और अपर के भेद से अनेक प्रकार का है।

व्यवहार नय असत्य को विषय करता है, क्योंकि वह उन परस्पर भिन्न सत्त्वों को ग्रहण करता है, जिनमें एक-दूसरे का असत्य अन्तर्भूत है। सरल शब्दों में इसे इस तरह कह सकते हैं कि संग्रह-नय के द्वारा संगृहीत पदार्थों में विधिपूर्वक विभाजन करना व्यवहार नय कहलाता है। जैसे सर्वसंग्रह ने 'सत्' ऐसा सामान्य ग्रहण किया था, पर इससे तो व्यवहार चल नहीं सकता था। अतः भेद किया जाता है कि जो सत् है वह द्रव्य है या गुण, द्रव्य भी जीव है या अजीव, जीव और अजीव सामान्य से भी व्यवहार नहीं चलता, अतः उसके भी देव, नारक आदि तथा घट, पट आदि भेद लोक-व्यवहार में किये जाते हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने ऋजु का अर्थ प्रगुण किया है अर्थात् जो सरलता को सूचित करता है। ऋजुसूत्र नय का स्वरूप बताते हुए अकलंकदेव ने लिखा है 'सूत्रपातवदृजुत्वात्

ऋजुसूत्रः' अर्थात् जिस प्रकार सरल सूत डाला जाता है, उसी प्रकार ऋजुसूत्र नय एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय को विषय करता है। अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं। अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। उसका विषय एक-क्षण-वर्ती वर्तमान पर्याय है। 'कषायो भैषज्यम्' में वर्तमान कालीन वह कषाय भैषज हो सकती है, जिसके रस का परिपाक हुआ हो, न-कि प्राथमिक अल्प रसवाला कच्चा कषाय। इस नय का लक्ष्य मात्र लौकिक व्यवहार नहीं, बल्कि वर्तमान पर्याय मात्र है, क्योंकि वस्तु वस्तुतः वैसी है। इसलिए इस नय में कौआ काला नहीं होता, पलाल जलती नहीं, आदि। वस्तुतः इस नय का विषय सर्वथा पच्यमान, भुज्यमान, क्रियमाण आदि भी नहीं, क्योंकि पच्यमान में भी कुछ अंश तो वर्तमान में पकता है तथा कुछ अंश पक चुकते हैं। इसलिए इसे कथंचित् पच्यमान, कथंचित् भुज्यमान, कथंचित् क्रियमाण आदि कहा जाना चाहिए। इस नय में समानाधिकरण, दाह-दाहक भाव आदि भी नहीं बन सकते, क्योंकि ये-सब दो पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु यह नय दो पदार्थों के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता। सम्बन्ध और समवाय सम्बन्ध भी इस नय में नहीं बनते। इस नय की दृष्टि में पान-भोजन आदि कोई व्यवहार नहीं बनता। सफेद वस्तु काली नहीं बन सकती, क्योंकि दोनों का समय भिन्न-भिन्न है। वर्तमान के साथ अतीत का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः सजातीय और विजातीय दोनों उपाधियों से रहित केवल शुद्ध परमाणु हो इस नय का विषय है। अकलंक कहते हैं कि यह नय व्यवहार-लोप की चिन्ता नहीं करता। यहाँ मात्र उसका विषय बताया गया है। व्यवहार तो व्यवहार आदि नयों से सध जाता है।

शब्दनय, ऋजुसूत्र नय के द्वारा ग्रहण किये गये विषय को ग्रहण करता है। यह नय व्यंजन-पर्यायों को ग्रहण करता है। वे अभेद तथा भेद दो प्रकार के वचन-प्रयोग को सामने लाते हैं। शब्द-नय में पर्यायवाची विभिन्न शब्दों का प्रयोग होने पर भी उसी अर्थ का कथन होता है, अतः अभेद है। यह नय लिंग, संख्या, साधन और काल आदि व्यभिचार की निवृत्ति करता है। आचार्य अकलंकदेव ने अनेक उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए चुटकी ली है कि यह नय लोक और व्याकरणशास्त्र के विरोध की चिन्ता नहीं करता।

अनेक अर्थों को छोड़कर किसी एक अर्थ में मुख्यता से रूढ़ होने को समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे 'गौ' आदि शब्द वाणी, पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी सब को छोड़कर मात्र एक सास्नादि वाली 'गाय' में रूढ़ हो जाता है। आचार्य अकलंक ने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि उदाहरण देकर इस नय को विस्तार से समझाया है। जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप निश्चय कराने

वाले नय को एवंभूतनय कहते हैं। जैसे—‘गौ’ जिस समय चलती है, उसी समय गौ है बैठने और सोने की अवस्था में नहीं।

निष्कर्ष

वस्तु के आंशिक चिन्तन को सत्य मान लेना एवं अन्य अंशों की उपेक्षा करना सत्य की असमग्रता या एकान्तिकता का बोध कराती है। नयदृष्टि समग्र सत्यांशों में सत्यांश समझती है। दार्शनिक पृष्ठभूमि में जिसे प्रमाण के अंश के रूप में जाना जाता है। नय परस्पर सापेक्ष होकर ही व्यवहार में साधक हो सकते हैं। नैगम, संग्रह आदि नय पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनुकूल, सूक्ष्म एवं अल्प-विषय वाले हैं। पूर्व-पूर्व का नय उत्तरोत्तर नय का कारण है। परस्पर सापेक्ष होकर ये सप्तनय तत्त्व के विवेचन में सहायक हैं तथा गौण-मुख्य विवक्षा से परस्पर-सापेक्ष होकर सम्यग्दर्शन के कारण बनते हैं और पुरुषार्थक्रिया में समर्थ होते हैं। निरपेक्ष-नय सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकते। प्रमाण की तरह नय भी ज्ञान की ही वृत्तियाँ हैं। जो वक्ता के अभिप्राय के अनुसार प्रमाण से ही आंशिक रूप में प्रस्फुटित होती हैं। परन्तु नय न पूर्ण प्रमाण है न अप्रमाण, वरन् प्रमाण का अंश है। नयवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है, जो वैचारिक-द्वन्द्व को परिसमाप्त करता है। वैचारिक एकांगी दुराग्रह विश्व की मूल-समस्याओं की जड़ है। यदि व्यक्ति दूसरों के विचारों का आदर करे एवं उसके विचारों के प्रति सहिष्णु रहे, तब कभी भी टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। वस्तु-स्वरूप का वास्तविक परिज्ञान नय के बिना नहीं हो सकता और वस्तु-रूप के ज्ञान हुए बिना रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब-तक रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होगी, तब-तक मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध ही रहेगा। इसलिए नय-प्रक्रिया को सूक्ष्मता से समझना आवश्यक है।

निक्षेप का स्वरूप एवं उपयोगिता

जीवादि तत्त्वों के संव्यवहार के लिए निक्षेप प्रक्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका है। आगमों में अर्थ-निरूपण को यही प्राचीन पद्धति रही है। शब्दाद्वैतवादियों तथा शब्द का विवक्षित अर्थ न लेकर स्वार्थ के लिए अन्यार्थ ग्रहण करने वालों के निराकरण के लिए निक्षेप-विधि की अत्यन्त सार्थकता है। किस शब्द का क्या अर्थ है, यह निक्षेपविधि द्वारा विस्तार से बताया जाता है। वक्ता या श्रोता को शब्द के विवक्षित अर्थ के अतिरिक्त अनपेक्षित अर्थ से बचाने के लिए भी निक्षेपों की उपादेयता है। वस्तुतः इस प्रक्रिया से शब्द की भ्रान्ति दूर होती है।

‘निक्षेप’ शब्द ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘क्षिप्’ धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ न्यास या रखना होता है। ध्वलाकार ने ‘न्यास’ का अर्थ उपाय किया है और लिखा है कि

जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में स्थित वस्तु को निकालकर निश्चय में क्षेपण करता है, उसे निक्षेप कहते हैं। सभी जैनाचार्यों ने प्रायः यही अर्थ किया है। आचार्य पूज्यपाद ने निक्षेप की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'अप्रकृत का निराकरण करने के लिए और प्रकृत का निरूपण करने के लिए निक्षेप का कथन किया गया है, क्योंकि प्रकृत में किस शब्द का क्या अर्थ है, यह निक्षेप-विधि के द्वारा विस्तार से बतलाया जाता है।

निक्षेप के भेद

जब भी किसी सार्थक शब्द के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, तब वह कम से कम चार प्रकार का ही हो सकता है। वे ही शब्द वाच्य-अर्थ-सामान्य की अपेक्षा से निक्षेप के रूप में चार प्रकार से व्यवस्थित हैं। वे हैं-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। ये चार निक्षेप के भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों द्वारा प्रारम्भ से अद्यावधि तक निर्विवाद रूप से स्वीकार किये गये हैं। अवगत हो नयों की तरह निक्षेप भी अनन्त हैं, जिनका अन्तर्भाव इन्हीं चार निक्षेपों में हो जाता है। षट्खण्डागम व धवला में इन चारों निक्षेपों के अतिरिक्त क्षेत्र और काल को भी संयुक्त कर वर्णना-निक्षेप के छह भेद स्वीकृत कर प्रत्येक प्रकरण की व्याख्या की गयी है।

वस्तुतः व्यावहारिक जगत् में पदार्थों का निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकार से किया जाता है। जाति, गुण, क्रिया आदि निमित्तों को ध्यान में न रखकर किसी का कोई भी नाम रख देना नाम-निक्षेप है। जैसे-किसी व्यक्ति का नाम इन्द्र रखना। इसमें परम ऐश्वर्य रूप इन्दन क्रिया नहीं है, फिर-भी इन्द्र कहलाता है। यह केवल शब्दात्मक अर्थ का आधार है। गुण, क्रिया आदि के आधार पर जिसका नामकरण हो चुका है, उसकी तदाकार या अतदाकार वस्तु में स्थापना करना, स्थापना-निक्षेप है। यथा-इन्द्राकार प्रतिमा में इन्द्र की या शतरंज के मुहरों में हाथी, घोड़ा आदि की स्थापना करना। यहाँ ज्ञानात्मक अर्थ का आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्याय की योग्यता की दृष्टि से व्यवहार करना द्रव्य-निक्षेप है। जैसे-युवराज को राजा कहना अथवा जिसने राजपद छोड़ दिया है, उसे भी राजा कहना। वर्तमान पर्याय की दृष्टि से होने वाला व्यवहार भाव-निक्षेप है। जैसे-राज्य करने वाले को राजा कहना।

नाम और स्थापना निक्षेपों में संज्ञा रखे जाने के कारण दोनों एक-जैसे प्रतीत होते हैं, पर दोनों में बहुत अन्तर है। प्रथम में मात्र संज्ञा है, द्वितीय में गुण, क्रियादि के आधार पर रखे गये नाम से युक्त अप्रस्तुत पाषाण, काष्ठ आदि में स्थापना कर पूजा, आदर अनुग्रहादि की अभिलाषा की जाती है। द्रव्य और भाव की यद्यपि पृथक् सत्ता नहीं है, फिर भी संज्ञा, लक्षण आदि की दृष्टि से इन दोनों में भिन्नता है। लोक-

व्यवहार में एक ही वस्तु में नाम, स्थापना आदि चारों व्यवहार बन जाते हैं। नाम-निक्षेप के जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि, स्थापना-निक्षेप के असद्भाव, अक्ष, वराटक आदि, द्रव्य-निक्षेप के आगम, नो-आगम आदि भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रमाण, नय और निक्षेप में अन्तर

जहाँ जीवादितत्त्वों के अधिगम के लिए प्रमाण और नय आवश्यक हैं, वहाँ जीवादितत्त्वों के संव्यवहार के लिए निक्षेप प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः निक्षेप भाषा और भाव की संगति है। सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, ज्ञाता के हृदय का अभिप्राय नय है एवं निक्षेप उपाय स्वरूप है। नयचक्रवृत्ति में लिखा है कि प्रमाण और नय से निर्णीत पदार्थ निक्षेप का विषय होता है। शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उसमें प्रयोजक को कौन सा अर्थ अभीष्ट है, यह निर्णय निक्षेप-प्रक्रिया द्वारा होता है। अखण्ड ज्ञेय पदार्थ के जो भेद किये जाते हैं, वह निक्षेप है तथा उस भेद को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है।

आचार्य पूज्यपाद ने आगमग्रन्थों की तरह समग्र-विषय-वस्तु को निक्षेप-विधि में बाँधकर नय-दृष्टि से विचार किया है। परम्परा का निर्वाह करते हुए उन्होंने भाव-निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय एवं शेष तीन नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय बताये हैं। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में यह प्रश्न उठाया गया है कि जब नाम, स्थापना और द्रव्य, द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं तथा भाव पर्यायार्थिक नय का, तब स्वतन्त्र रूप से निक्षेपों का कथन नहीं किया जाना चाहिए, इसका समाधान यह दिया गया है कि नयों का कथन विषय की दृष्टि से है तथा निक्षेपों का कथन विषयी को दृष्टि से किया गया है। जो मन्दबुद्धि हैं, उनके लिए भी नय और निक्षेप का पृथक्-पृथक् विवेचन आवश्यक माना गया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, बीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली
2. सन्मतिप्रकरण, सिद्धसेन, सं. सुखलाल संघवी, बे. दोषी ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद
3. आगम युग का जैनदर्शन, पं. दत्तसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
4. जैनदर्शन, पं. महेन्द्रकुमार जैन, गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
5. जैनन्याय, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली
6. ऋग्वेद सायणभाष्य सहित, वैदिक संशोधन मंडल, तिलक, म. विद्यापीठ पूना
7. शतपथ ब्राह्मण
8. ऐतरेय ब्राह्मण
9. चरकसंहिता, सूत्रस्थान

10. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, महाभारत, आदिपर्व, शान्तिपर्व, एवं मनुस्मृति
11. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्
12. न्यायदर्शन, न्यायसूत्र, न्याय भा. न्याय या. आदि संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता
13. भारतीय दर्शन, सं. डॉ. न.कि.देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
14. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
15. समन्तभद्र ग्रन्थावली, अकलंककृत, आप्तमीमांसाभाष्य एवं पं. जुगलकिशोर मुख्तार के हिन्दी अनुवाद सहित, संकलन, डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, बीना
16. युक्त्यनुशासन, आचार्य समन्तभद्र
17. न्यायावतार, आचार्य सिद्धसेन, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई
18. लघीयस्त्रय, आचार्य अकलंक
19. परोक्षामुख, आचार्य माणिक्यनन्दि
20. प्रमाणपरीक्षा, आचार्य विद्यानन्दि, सं. डॉ. द. ला. कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी
21. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, आचार्य विद्यानन्दि, मनोहरलाल निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
22. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, सं. सुखलाल संघवी जैन ग्रन्थ., अहमदाबाद
23. न्यायदीपिका, अभिनव धर्मभूषण यति, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा
24. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति सहित, मैसूर विश्वविद्यालय
25. प्रमाणवार्तिकम्
26. तत्त्वसंग्रह पंजिका
27. अष्टसहस्री, आचार्य विद्यानन्दि, अकलूज, सोलापुर
28. वैशेषिकसूत्र
29. न्यायभाष्य
30. सांख्यतत्त्वकौमुदी
31. योगसूत्र
32. प्रकरणपंजि, का.हि.वि.वि.काशी
33. मीमांसासूत्र
34. वेदान्तपरिभाषा
35. तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य अकलंक
36. अष्टशती, आचार्य अकलंक
37. समन्तभद्र अवदान, डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, जयपुर
38. धवला, आचार्य वीरसेन
39. तिलोयपण्णति, आचार्य यतिवृषभ
40. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी
41. पदखण्डागम, आचार्य भूतबलि, पुष्पदन्त
42. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, आचार्य अमृतचन्द्र
43. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, आचार्य उमास्वाति
44. आप्तपरीक्षा, आचार्य विद्यानन्दि
45. स्याद्वादमंजरी, आचार्य पल्लिषेण
46. सिद्धिविनिश्चय, आचार्य अकलंक

47. न्यायविनिश्चय, आचार्य अकलंक
48. नयचक्र, पाइल्ल धवल
49. दरवारीलाल कोटिया अभिनन्दन ग्रन्थ
50. आलापपद्धति, आचार्य देवसेन
51. सन्मतिप्रकरण
52. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती,
53. समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द
54. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, क्षु. जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली

द्रव्य-गुण-पर्याय

डॉ. राकेशकुमार जैन

जैनदर्शन में संसार-परिभ्रमण का मुख्य कारण मोह को माना गया है। मोह का मुख्य कारण स्व-पर भेद-ज्ञान का अभाव है। भेद-ज्ञान करने हेतु स्व-परपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय का सम्यक् परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।¹ द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्यक् परिज्ञान के अभाव में हमारी दृष्टि कभी भी सम्यक् नहीं हो सकती। द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्यग्ज्ञान से शून्य हमारी दृष्टि हमेशा मिथ्या ही बनी रहती है और इस विश्व को उसके विराट्स्वरूप में न देखकर, मनुष्यपर्याय मात्र में अहंकार-ममकार करके वह अत्यन्त संकुचितपने को प्राप्त होती है— इस मिथ्यादृष्टि को ही आचार्यों ने पर-समय² कहा है।

विश्व या लोक की परिभाषा— आगम में विश्व या लोक की परिभाषा सामान्यतया षड्रव्यात्मकलोक.....⁴ अर्थात् 'छह द्रव्यों के समूह' की जाती है। परन्तु यह परिभाषा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में से मात्र द्रव्य को प्रधान करके की जाती है तथा क्षेत्र-काल-भाव की इसमें गौणता ही है। यद्यपि क्षेत्र-काल-भावादि का उक्त लोक की परिभाषा में अभाव नहीं होता, तथापि द्रव्य-विवक्षा में ही उन सबका अन्तर्भाव हो जाता है; अतः क्षेत्र की प्रधानता में पंचास्तिकायों के समूह को लोक कहते हैं, काल की प्रधानता में नौ पदार्थों के समूह को लोक कहते हैं और भाव की प्रधानता में सात तत्त्वों के समूह को लोक कहते हैं — ऐसा भी हम कह सकते हैं।

पदार्थ का स्वरूप—इस विश्व में जो कोई भी जानने में आने वाला पदार्थ है; वह समस्त द्रव्य-मय, गुण-मय और पर्याय-मय है।⁵ दृश्यमान ज्ञेयभूत या अर्थभूत पदार्थ मूलतः द्रव्य-मय होते हैं, क्योंकि पदार्थ में मात्र एक द्रव्य या अनेक द्रव्यों का संयोग दिखायी देता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें द्रव्य न हों या वे द्रव्य-मय न हों। यद्यपि पदार्थ, पर्याय-स्वरूप या गुण-स्वरूप भी हो सकते हैं, परन्तु गुण या पर्याय भी तो द्रव्य के ही आश्रित हैं अतः पदार्थों की द्रव्य-गुण-पर्यायमयता अबाधित है। पदार्थ या अर्थ की द्रव्य-गुण-पर्यायमयता—आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा 87 में द्रव्य, गुण और पर्याय— ऐसे तीन प्रकार का अर्थ कहा है।

अतः अर्थ शब्द का प्रयोग द्रव्य-गुण-पर्याय— इन तीनों के लिए प्रयुक्त होता है;

परन्तु कभी द्रव्य के लिए, कभी गुण के लिए, कभी पर्याय के लिए और कभी द्रव्य-गुण-पर्याय आदि तीनों को मिलाकर भी प्रयुक्त होता है। वहाँ जो गुणों और पर्यायों को प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं — ऐसे सर्व अर्थ 'द्रव्य' हैं; जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं — ऐसे सर्व अर्थ 'गुण' हैं; तथा जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त होते हैं — ऐसे सर्व-अर्थ 'पर्याय' हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरूप

द्रव्य— द्रव्य का लक्षण सत् है और जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है, वह सत् है। इस प्रकार द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता है। द्रव्य में प्रति-क्षण नवीन पर्याय की प्राप्ति रूप उत्पाद है, पूर्व पर्याय का त्याग, रूपव्यय है तथा द्रव्य का अपने स्वभाव-रूप में बने रहना ध्रौव्य है। जैसे— पुद्गल की नवीन घट रूपपर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है, उससे पूर्व की पिण्डरूप पर्याय का नाश होना व्यय है और दोनों अवस्थाओं में मिट्टीपने या पुद्गलपने में उसका कायम रहना ध्रौव्य है। परिणमन करते रहना द्रव्य का मूलभूत स्वभाव है, क्योंकि परिणमन के बिना द्रव्य में अर्थ-क्रिया या (प्रयोजनभूतक्रिया) और अर्थक्रिया के बिना उसके लोप का प्रसङ्ग आता है। इस सम्बन्ध में डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने कहा है— “प्रत्येक वर्तमानपर्याय अपने समस्त अतीत संस्कारों का परिवर्तित पुंज है और अपनी समस्त भविष्यत् योग्यताओं का भण्डार।... द्रव्य में उत्पादशक्ति यदि पहले क्षण में पर्याय को उत्पन्न करती है, तो विनाशशक्ति उस पर्याय का दूसरे क्षण में नाश कर देती है अर्थात् प्रति-समय यदि उत्पादशक्ति किसी नूतनपर्याय को लाती है, तो विनाशशक्ति उसी समय पूर्वपर्याय का नाश करके उसके लिए स्थान खाली कर देती है। इस तरह इस विरोधी-समागम के द्वारा द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, विनाश और इसकी कभी विच्छिन्न नहीं होनेवाली ध्रौव्य-परम्परा के कारण विलक्षण होता है।”⁵

द्रव्यों के छह भेद कहे गये हैं। यहाँ षड्द्रव्य कहने से द्रव्यों की कुल संख्या छह है— ऐसा नहीं समझना चाहिए, बल्कि द्रव्यों की जातियाँ छह हैं— ऐसा समझना चाहिए। द्रव्यों की संख्या तो अनन्तानन्त है। जबकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — ये द्रव्यों की छह जातियाँ हैं। विश्व-संरचना की जो मूलभूत वस्तुएँ हैं, वे ही द्रव्य हैं। वे अनादिनिधन स्वतःसिद्ध हैं, उन्हें किसी ने बनाया नहीं है। वर्तमान में जो दृष्टिगोचर पदार्थ हैं, वे तो जीव-पुद्गल द्रव्यों की संयोग-जनित पर्यायें हैं; जैसे— हमें यह शरीर दिखायी देता है, यह मूलभूत द्रव्य नहीं है, यह तो एक स्थूल बहुत पुद्गल द्रव्यों के संयोग-जनित पर्याय है; परन्तु यह शरीर जिन मूलभूत परमाणुओं से रचित है, वे

द्रव्य हैं।

गुण — जैनदर्शन में गुण कोई पृथक् पदार्थ नहीं है (वैशेषिकदर्शन में गुण को पृथक् पदार्थ माना है) बल्कि द्रव्य की सहभावी विशेषताओं को ही गुण कहा गया है अथवा जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त रहते हैं और उसकी समस्त पर्यायों में व्यापक रहते हैं; उन्हें गुण कहते हैं⁶ अथवा जो द्रव्य को द्रव्यान्तर से पृथक् करता है, वह गुण है।⁷

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं। गुणों को अनेक प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

1. स्वाभाविकगुण और वैभाविकगुण,⁸
2. सामान्यगुण और विशेषगुण,⁹
3. साधारणगुण और असाधारणगुण,¹⁰
4. अनु-जीवी गुण और प्रति-जीवी गुण,¹¹
5. गुणों के अन्य प्रकार से तीन भेद हैं— साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण,¹²

6. एक और प्रकार से गुणों के चार भेद हैं— अनुजीवी, प्रतिजीवी, पर्यायशक्ति रूप और आपेक्षिक धर्मरूपा,¹³

पर्याय — जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो, उसे पर्याय कहते हैं¹⁴ अथवा गुणों की प्रतिसमय होनेवाली अवस्था का नाम पर्याय है¹⁵ अथवा जो स्वभाव-विभाव-रूप से परिणमन करती है, वह पर्याय है।¹⁶

पर्यायों के भेद अनेक प्रकार से किये जाते हैं; जैसे— द्रव्यपर्याय-गुणपर्याय, अर्थपर्याय-व्यंजनपर्याय, स्वभावपर्याय-विभावपर्याय, शुद्धपर्याय-अशुद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय-कार्यशुद्धपर्याय, क्रमबद्धपर्याय या क्रमनियमितपर्याय आदि। फिर इनके भी उत्तरोत्तर भेद-प्रभेद हैं।¹⁷

वास्तव में द्रव्य और गुण अलग-अलग पदार्थ नहीं है, इस कारण द्रव्य के परिणमन में गुणों का परिणमन एवं द्रव्य के सर्व गुणों के अखण्ड परिणमन में द्रव्य का परिणमन अन्तर्गर्भित हो जाता है। जैसे पर्याय के दो भेद हैं— द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय। द्रव्य के परिणमन को द्रव्यपर्याय और गुण के परिणमन को गुणपर्याय कहते हैं, क्योंकि गुणों से भिन्न द्रव्य कोई अलग वस्तु नहीं है, इसी कारण प्रदेशत्व गुण के परिणमन को व्यंजनपर्याय और प्रदेशत्वगुण को छोड़कर अन्य गुणों के परिणमन को अर्थपर्याय कहा जाता है।¹⁸

इसी प्रकार तत्त्वतः गुण और पर्याय सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं होते, क्योंकि ये कथंचित् भेदाभेदात्मक हैं। यदि गुणों को सर्वथा नित्य और पर्यायों को सर्वथा अनित्य माना जाए, तो वस्तु में सर्व प्रकार से अर्थक्रियाकारित्व का विरोध आता है अर्थात् जगत् में कोई कार्य ही नहीं हो सकता; अतः गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य नामक कोई वस्तु ही

नहीं है।¹⁹

द्रव्य-गुण-पर्याय में सर्वथा अभिन्नता ही नहीं, कथंचित् भिन्नता भी—द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर भिन्नता है या नहीं? — इस प्रश्न का उत्तर सीधे-सीधे या सर्वथा तो नहीं दिया जा सकता है। द्रव्य-गुण-पर्याय में कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता होती है। कथंचित् अभिन्नता का कारण प्रदेश-भेद और अस्तित्व-भेद का अभाव है; जबकि कथंचित् भिन्नता का कारण संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि हैं। अभेद विवक्षा में द्रव्य के अन्तर्गत उसके गुणों और उसकी त्रैकालिक स्वभाव-विभाव-रूप पर्यायों की योग्यताओं का कथन किया जाता है। ध्यान रहे इस अभेद विवक्षा में द्रव्य को किसी एक पर्याय-रूप अथवा किसी एक गुण-रूप नहीं देखा जाता, यदि हम उसे किसी एक पर्याय-रूप या एक गुण-रूप देखते हैं, तो इससे उसका अनन्त गुणात्मकपना और त्रिकालत्वपना खण्डित हो जाता है। हम यह कह सकते हैं कि इनमें दो द्रव्यों जैसी भिन्नता नहीं है, क्योंकि इनमें प्रदेश-भेद का अभाव है, इसे पृथक्त्व का निषेध कहते हैं, क्योंकि उनमें संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेद है, इसे अन्यत्व का समर्थन कहते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों के नाम अलग-अलग हैं —यह संज्ञा-भेद है। द्रव्य एक है, गुण अनन्त हैं, पर्यायें अनन्तानन्त हैं —यह संख्या-भेद है। जो द्रव्य का लक्षण है, वही गुण या पर्याय का लक्षण नहीं है —यह लक्षण-भेद है। इसी प्रकार द्रव्य का प्रयोजन गुण-पर्यायों का भेद किये बिना अभेद अखण्ड वस्तु का ज्ञान कराना है तथा अध्यात्म की दृष्टि से निज-द्रव्य या आत्मा, ध्यान का विषय या आश्रय करने योग्य उपादेय है —यह द्रव्य का प्रयोजन है। गुण का प्रयोजन द्रव्य की महिमा उत्पन्न कराने हेतु उसकी विशेषताओं को बताना है; जबकि पर्याय का प्रयोजन द्रव्य-गुण के कार्यों को बताना है —यह प्रयोजन-भेद है।

द्रव्य का विशेष स्वरूप—जो स्वभाव को छोड़े बिना, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त है, गुणवान् है, पर्याय-सहित है; वह द्रव्य है —ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।²⁰ प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं और उस द्रव्य और उसके गुणों की प्रति-समय एक सूक्ष्म पर्याय होती है, अतः यदि ज्ञानचक्षु से देखा जाए तो प्रत्येक द्रव्य, प्रतिसमय अनन्त गुणों एवं उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों का अखण्ड पिण्ड दिखाई देता है। द्रव्य, गुण और पर्याय में यद्यपि कथन को अपेक्षा क्रम दिखायी देता है; इसप्रकार ये-सब एकरसात्मक एक अखण्ड वस्तु है।

द्रव्य की अनेक व्याख्याएँ जिनागम में प्राप्त होती हैं —कहीं पर गुण-पर्यायवान् को द्रव्य कहा है, कहीं पर मात्र गुणों के समूह को द्रव्य कहा है। कहीं पर त्रिकालवर्ती पर्यायों के समूह को द्रव्य कहा है, कहीं पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित को सत् और सत् को द्रव्य का लक्षण कहा है, कहीं पर अन्वय को द्रव्य कहा है, तो कहीं पर उक्त सभी के समुच्चय को द्रव्य कहा है।

द्रव्य के पर्यायवाची नाम

द्रव्य के पर्यायवाची नामों में निम्न मुख्य हैं— सत्, सत्त्व, सत्ता, अवान्तर-सत्ता, परिणामी, सामान्य, तद्भाव-सामान्य, सादृश्य-सामान्य, तिर्यक्-सामान्य, विस्तार-सामान्य, ऊर्ध्वता-सामान्य, त्रिकाली, ध्रुव, नित्य, अन्वय, उत्सर्ग, अनुवृत्ति, अर्थ, पदार्थ, वस्तु, चोज, प्रभु, विभु, प्रमेय, ज्ञेय, सप्रदेशी, प्रदेशवान्, विशेषवान्, गुणवान्, पर्यायवान्, गुण-पर्यायवान्, अस्तित्ववान्, सत्तावान्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवान्, स्वभाववान्, भाववान्, वीर्यवान्, गुणी, धर्मी, अस्ति, अस्तित्व, स्वरूपास्तित्व, अस्तिकाय, भाव, तत्त्व, परमार्थ, उपादान, कारण, कर्ता, व्यापक, स्वतन्त्र, स्वाधीन इत्यादि अनेक दृष्टियों से अनेक नाम हैं।

द्रव्य की स्वभावपरक शाब्दिक व्याख्या

‘द्रव्य’ शब्द ‘द्रु’ धातु से बना है, जिसका अर्थ -प्राप्त होना, प्राप्त करना, दौड़ना, जाना, गमन करना, अनुसरण करना, वहना, चलना, तरल होना, द्रवित होना, पिघलना, गलना, आदि है। इन सभी अर्थों का विचार किया जाये, तो ‘द्रव्य’ की इन क्रियाओं, परिणमनशीलता या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के आधार पर पंचास्तिकाय गाथा ९ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने द्रव्य की व्युत्पत्ति (निरुक्ति) सुन्दर रीति से स्पष्ट की है— द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभाव-विशेषानित्यनुगतार्थतया निरुक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम् अर्थात् जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है अर्थात् जो सामान्यरूप से या स्वरूप से उन-उन क्रमभावी और सहभावी सद्भावरूप स्वभाव-विशेषों में व्याप्त होता है, वह द्रव्य है — इस प्रकार अनुगत अर्थ वाली निरुक्ति (व्युत्पत्ति) से द्रव्य की व्याख्या की गई। इसी गाथा की आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है कि — ‘द्रवति स्वभावपर्यायान् गच्छति विभावपर्यायान्’— ऐसा अर्थ करने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य, अपनी स्वभाव-पर्यायों-रूप तो स्वयं द्रवित होता है, परन्तु विभाव-पर्यायों-रूप बाह्य निमित्त आदि की सापेक्षता में गमन करता है।²¹

‘द्रव्य’ इस शब्द में दो अर्थ छिपे हुए हैं — द्रवणशीलता और ध्रुवता। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ, अपने गुणों और पर्यायों का कभी भी उल्लंघन नहीं करता; उसके प्रवाहित होने की नियत धारा है, जिसके आश्रय से वह प्रवाहित होता रहता है।

द्रव्य की शुद्धता से तात्पर्य—छह द्रव्यों को मूल स्वरूप में देखने पर सर्वत्र शुद्धता के ही दर्शन होते हैं, क्योंकि द्रव्य-दृष्टि से विचारें, तो द्रव्य में कभी अशुद्धता आती ही नहीं है; अशुद्धता हमेशा पर्याय तक ही सीमित होने से पर्यायदृष्टि का ही विषय बनती है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, यदि अन्य द्रव्यरूप हो जाए या द्रव्य में अन्य द्रव्य का प्रवेश हो

जाए, तो ही वह द्रव्य अशुद्ध कहलाएगा, परन्तु द्रव्य कभी अन्य द्रव्यरूप होता नहीं है और न ही अन्य द्रव्य का उसमें कभी प्रवेश होता है; अतः इस द्रव्यदृष्टि से द्रव्य में कभी अशुद्धता नहीं होती। समयसार की छठी गाथा की आत्मख्याति टीका में 'शुद्ध' शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है— एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावव्युत्पत्तिः भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्धः इत्यभिलष्यते अर्थात् यही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

अशुद्धता का सम्बन्ध मिलावट से है, लेकिन मूल द्रव्यों में कभी मिलावट नहीं होती और यदि उनमें मिलावट होना मान भी लें, तो — फिर वह मिलावट कभी दूर नहीं हो सकेगी, क्योंकि फिर तो उसके मूल द्रव्य में ही मिलावट हो गई, अब वह दूर कैसे हो सकती है? पर्यायदृष्टि से पर्याय में अशुद्धता तो स्वीकार की ही गई है, परन्तु जब उस अशुद्धपर्याय को द्रव्य के साथ तन्मय करके देखते हैं, तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि द्रव्य भी उस काल में उस पर्याय से तन्मय होने से अशुद्ध है तथा पर्याय की अशुद्धता मिटने पर पर्याय की शुद्धता से द्रव्य तन्मय होने से द्रव्य शुद्ध हुआ — ऐसा भी कह सकते हैं, लेकिन यह—सब कुछ पर्यायदृष्टि से ही है।

गुण का विशेष स्वरूप— सूत्रकार आचार्य उमास्वामी के अनुसार— द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं निर्गुण होते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।²² इसी सूत्र की टीकाओं — सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि में एक गाथा उद्धृत है, उसमें 'गुण इदि दब्बविहाणं'— ऐसा पाठ है अर्थात् द्रव्य में भेद करनेवाले धर्म को गुण कहते हैं, क्योंकि गुणों के आधार पर ही द्रव्य की महिमा होती है। किस पदार्थ की क्या विशेषता है—यह गुणों के द्वारा ही जाना जा सकता है।

आचार्य धर्मभूषण ने गुणों को 'यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः'²³ कहा है — इसका तात्पर्य यह है कि जब तक द्रव्य रहेगा, तब तक उसके साथ गुण रहेंगे और उसकी समस्त पर्यायों का अनुसरण करेंगे। इसमें यह प्रतिध्वनित होता है कि जैसे द्रव्य परिणमन करते हैं, वैसे उसके गुण भी परिणमन करते हैं। जैसे — द्रव्य नित्यानित्यात्मक हैं, वैसे गुण भी नित्यानित्यात्मक हैं। जैसे—पर्यायों की अपेक्षा द्रव्य अनित्य है, तो उस अपेक्षा से उसके गुण भी अनित्य हैं। इसी व्याख्या का सहारा लेकर गुरुवर्य गोपालदास बरैया ने गुण की परिभाषा इस रूप में दी है — जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में पाये जाते हैं, उन्हें गुण कहते हैं²⁴ तथा द्रव्य को अन्वय तो गुण को अन्वयी माना गया है — 'अन्वयिनः गुणः'²⁵ — ऐसा पाठ है। गुण की परिभाषा में प्रयुक्त 'निर्गुण' शब्द के सम्बन्ध में ऐसा नियम है कि जैसे द्रव्य में गुण पाये जाते हैं, वैसे गुण में अन्य गुण नहीं रहते। अतएव गुण स्वयं गुणरहित रहते हैं, इस प्रकार यद्यपि जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं विशेष रहित हैं, वे गुण हैं।²⁶

गुण के पर्यायवाची नाम— शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति,

शील, आकृति और अंग— ये-सब जैन परम्परानुसार एकार्थवाचक शब्द हैं।²⁷

गुणों की नित्यानित्यात्मकता²⁸

पंचाध्यायी में गुणों की नित्यानित्यात्मकता का समर्थन अत्यन्त स्पष्टता के साथ किया गया है—

अन्यमत-वादी द्रव्य के गुणों को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य अथवा कुछ गुणों को सर्वथा नित्य और कुछ गुणों को सर्वथा अनित्य मानते हैं, जबकि जैनदर्शन में जिस प्रकार द्रव्यों को नित्यानित्यस्वरूप माना है, उसी प्रकार गुणों को भी द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्यानित्यस्वरूप माना है। यह सर्वमान्य है कि गुण नित्य होते हैं और पर्यायें अनित्य होती हैं। यहाँ गुणों को द्रव्य के समान नित्यानित्यात्मक क्यों कहा गया है? क्योंकि द्रव्य में गुण सदा विद्यमान रहते हैं, अतः गुणों को भी द्रव्य अपेक्षा नित्य और पर्याय अपेक्षा अनित्य मानना योग्य है। यद्यपि गुण नित्य हैं, तथापि वे बिना प्रयत्न के स्वाभाविकरूप से ही परिणमन करते रहते हैं, परन्तु वह परिणमन उनकी ही अवस्था है, उनसे भिन्न सत्ता नहीं है, इससे भी गुणों की नित्यानित्यात्मकता सिद्ध होती है।

“गुण नित्य होते हैं या अनित्य— यह विवाद पुराना है, किन्तु जैन-परम्परा इनमें से किसी भी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करती है। जैनमत में द्रव्य के समान गुण भी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होते हैं, क्योंकि गुण, द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जाते; इसलिए द्रव्य का जो स्वभाव ठहरता है, गुणों का भी वही स्वभाव प्राप्त होता है। ऐसा नहीं होता कि कोई गुण, वर्तमान में हो और कुछ काल बाद न रहे। जितने भी गुण हैं, वे सदा पाये जाते हैं।... अतः द्रव्य के समान गुणों को सर्वथा नित्य कैसे माना जा सकता है? अर्थात् नहीं माना जा सकता। इससे ज्ञात होता है कि गुण कथंचित् अनित्य भी हैं।

इस प्रकार यद्यपि गुण कथंचित् नित्यानित्यात्मक सिद्ध होते हैं, तथापि जो कार्य-कारण में सर्वथा भेद मानते हैं, वे गुणों को सर्वथा नित्य और पर्यायों को सर्वथा अनित्य मानने की सूचना करते हैं, पर उनकी यह सूचना ठीक नहीं है। तत्त्वतः विचार करने पर द्रव्य, गुण और पर्याय सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं होते, किन्तु जैन-परम्परा में इन-सब में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है, इसलिए जैसे द्रव्य नित्यानित्य प्राप्त होता है, वैसे गुण भी कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं।”²⁹

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जैनदर्शन में द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय नित्य हैं तथा पर्यायार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय अनित्य हैं— यह कहा है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य है, अतः द्रव्याश्रित द्रव्य-गुण-पर्याय नित्य हैं तथा पर्यायार्थिकनय का विषय पर्याय है, अतः पर्यायाश्रित द्रव्य-गुण-पर्याय अनित्यता देखता है।

गुणरूप पृथक् पदार्थ क्यों नहीं ?

शंका—नौ पदार्थों या सात तत्त्वों में द्रव्यरूप और पर्यायरूप पदार्थ या तत्त्व तो माने गये हैं, परन्तु गुणरूप पदार्थ या तत्त्व नहीं माने गये — इसका क्या कारण है ?

समाधान — क्योंकि गुण, द्रव्यों या पदार्थों के आश्रय से ही रहते हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यद्यपि पर्यायों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वे भी द्रव्य के आश्रय से ही रहती हैं, तथापि व्यंजन-पर्याय-रूप कुछ स्थूलपर्यायों की पदार्थ संज्ञा आगम में वर्णित है। पदार्थ होने से उनकी विशेषताओं का होना और जानना भी जरूरी है, अतः उन व्यंजनपर्यायरूप पदार्थों की विशेषताओं को भी गुण ही कहा जाएगा।

द्रव्य और गुण के दो रूप

द्रव्य और गुणों के दो रूप देखने में आते हैं — एक शक्ति रूप और दूसरा व्यक्तिरूप। तात्पर्य यह है कि शक्तिरूप में उसकी त्रैकालिक व्यक्तियों के दर्शन हो सकते हैं। जबकि व्यक्ति रूप में केवल वर्तमानपर्याय या व्यक्त रूप के ही दर्शन होते हैं। जैसे— मिथ्यादृष्टि आत्मा में या उसके ज्ञानगुण में केवलज्ञान की शक्ति तो है, परन्तु वर्तमानपर्याय में यथायोग्य कुमति-कुश्रुत-ज्ञान होने से केवलज्ञान का अभाव है। इसी प्रकार सर्व गुणों और सर्व द्रव्यों में शक्ति-रूप और व्यक्ति-रूप को स्पष्टतया जानना चाहिए।

पर्याय का विशेष स्वरूप

पर्याय का विशद स्पष्टीकरण करते हुए शुल्लक जिनेन्द्र वर्णी कहते हैं— 'पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है। ध्रुव, अन्वयी या सूक्ष्म तथा क्षणिक, व्यतिरेकी या क्रम-भावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के होते हैं। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। वे गुण के विशेष परिणमनरूप होती हैं। अंश की अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढ़ि से केवल व्यतिरेकी अंश को ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है।'³¹

पर्याय के पर्यायवाची

पर्याय के पर्यायवाची नामों में विशेष, अपवाद, व्यावृत्ति, विकार, अवस्था, वृत्तंश, व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय, पर्यव, पर्यय, परिणाम, अंश, भाग, विधा, प्रकार, भेद, छेद, भंग आदि हैं।³²

पर्याय की व्युत्पत्ति एवं लक्षण

पर्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है — स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः अर्थात् जो स्वभाव-विभावरूप होती है, गमन करती है, परिणमती है, परिणमन करती है, वह पर्याय है।³³

1. परिसमन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो या भेदरूप परिणमित हो, उसे पर्याय कहते हैं।³⁴

2. द्रव्य, अपने द्रव्यत्व को कायम रखते हुए अनेक गुणों के माध्यम से जो प्रयोजनभूत अर्थ-क्रिया करता रहता है, उन अर्थ-क्रियाओं की ही पर्याय संज्ञा है।³⁵

3. व्यतिरेकिणः पर्यायाः अर्थात् पर्यायें व्यतिरेकी होती हैं।³⁶

4. पदार्थों के प्रदेश नाम के अवयव भी परस्पर व्यतिरेकयुक्त होने से पर्याय हैं।³⁷

5. क्रमवर्तिनः पर्यायाः अर्थात् एक के बाद दूसरी — ऐसे क्रम-पूर्वक होती हैं, अतः पर्यायें क्रमवर्ती कहलाती हैं।³⁸

6. द्रव्य के विकार को ही पर्याय कहते हैं।³⁹

8. स्वाभाविक या नैमित्तिक, विरोधी या अविरोधी सभी अवस्थाओं की विकार संज्ञा है।⁴⁰

9. प्रत्येक द्रव्य में जो सामान्य-विशेष-गुण विद्यमान हैं, उनके परिणमन या विकार को ही पर्याय कहते हैं।⁴¹

10. द्रव्य और गुणों दोनों से पर्यायें होती हैं।⁴²

11. जो-जो व्यवहारनय, भेदनय या पर्यायार्थिकनय का विषय है, वह-सब पर्याय है।⁴³

परिणमनशीलता से तात्पर्य : निरन्तर गमन करने वाली रेलगाड़ी का सांगोपांग उदाहरण

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वभाव है, सूक्ष्मदृष्टि से वह प्रति-समय बदलती रहती है। प्रत्येक द्रव्य की इस प्रति-समय होनेवाली परिणमनशीलता से क्या तात्पर्य है?.... वास्तव में प्रत्येक द्रव्य निरन्तर परिणमन स्वभाव के कारण पर्यायों में गमन कर रहा है, एक समय के लिए भी स्थिर नहीं है।

जैसे— एक रेलगाड़ी निरन्तर गमन कर रही है, वैसे ही प्रत्येक द्रव्य निरन्तर गमन कर रहा है, वह एक-एक समय रुकता हुआ गमन नहीं कर रहा है, प्रति-समय गमन कर रहा है।

जैसे— चलती हुई रेलगाड़ी का फोटो खींचने पर वह फोटो हमें स्थिर दिखाई देता है, लेकिन वास्तव में वह ट्रेन फोटो खींचते समय भी एक समय के लिए भी वहाँ खड़ी नहीं हुई थी; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों में परिणमन कर रहा है, जब उसे जानते हैं, तो हमें ज्ञान में वह एक-समय के लिए स्थिर दिखायी देता है, परन्तु वह द्रव्य एक समय के लिए भी स्थिर नहीं हुआ है। मात्र ज्ञान में ही उस समय की द्रव्य की

अवस्था का ज्ञान होता है, इसे ही द्रव्य की तात्कालिक पर्याय कहा जाता है।

जैसे— फोटो खींचने पर हमें यह पता चलता है कि इतने बजकर, इतने मिनट, इतने सेकेण्ड पर वह गाड़ी यहाँ थी, ऐसी थी, उस समय इतनी स्पीड थी, आदि। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य परिणमन करता हुआ निश्चित समय पर कहाँ था, कैसा था, उसके भाव कैसे थे, — आदि का पता चलता है।

जैसे— रेलगाड़ी पूर्व-पूर्व अवस्था या स्टेशन को छोड़ती जाती है और नवीन-नवीन अवस्था या स्टेशन को प्राप्त करती रहती है, — यही उसका व्यय और उत्पाद है तथा वह अपनी पटरी को नहीं छोड़ती, अपने मार्ग को नहीं छोड़ती है, — यही उसका ध्रौव्यपना है; उसी प्रकार परिणमन-स्वभाव के कारण ही द्रव्य पूर्व-पूर्व अवस्था का त्याग और नवीन-नवीन अवस्था का ग्रहण करता जाता है, — यही व्यय और उत्पाद है, परन्तु अपने मौलिक स्वभाव को वह नहीं छोड़ता — यही उसका ध्रौव्यपना है।

जैसे— रेलगाड़ी में उसके डब्बे और मार्ग में आनेवाले स्टेशन आदि निश्चित होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें और उनके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वाले संयोग भी निश्चित होते हैं।

जैसे— कौनसी रेलगाड़ी, कितने बजे, कहाँ, किस स्पीड से, किस इंजन के माध्यम से, किस अवस्था में पहुँचती है — यह निश्चित होता है; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य कब, कहाँ, किस पुरुषार्थ-पूर्वक, किस निमित्त के माध्यम से, किस अवस्था में होगी— यह भी निश्चित होता है।

जैसे— कोई महान ज्योतिषी या निमित्तवेत्ता भूत-भविष्य में होने वाली रेलगाड़ी की दुर्घटना आदि की जानकारी दे देता है; उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान या विशेष अवधि-मनःपर्ययज्ञानी या कदाचित् विशेष निमित्तज्ञानी भी भूत-भविष्य में होने वाली घटनाओं को जानते हैं, कदाचित् उपस्थित हों तो बता भी देते हैं, उनकी दिव्यध्वनि में भी आ जाता है।

एक गुण की एक समय में एक ही पर्याय का मतलब

एक गुण की एक समय में एक ही पर्याय होती है— यह निर्विवाद सिद्धान्त है क्योंकि क्रमभावी पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, अतः एक गुण की दो पर्यायें या अधिक पर्यायें एक-साथ नहीं हो सकती हैं?

गुणों के परिणमन का अर्थ क्या?

सामान्यतया गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। यद्यपि यह परिभाषा स्थूलदृष्टि से ठीक है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो उसका जवाब यह है कि 'गुण' परिणमन नहीं करता; 'द्रव्य' परिणमन करता है तथा उस परिणमनशील द्रव्य की तात्कालिक

विशेषता को 'गुण-पर्याय या गुण की पर्याय' कहते हैं, अथवा जितने समय तक उस द्रव्य की वह पर्याय रहेगी, उतने समय तक उस पर्याययुक्त द्रव्य के जो गुण या विशेषताएँ हैं; उन्हें ही 'गुण-पर्याय' नाम से कहा जाता है। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'— इस नियम के अनुसार स्वयं निर्गुण होने से परिणमन करने का गुण, गुण में नहीं होता, गुण तो द्रव्य का अनुगमन करते हैं। द्रव्य नित्यानित्य है, तो गुण भी नित्यानित्य हैं। द्रव्य, द्रव्यदृष्टि से नित्य है, तो गुण भी उस दृष्टि से नित्य है तथा द्रव्य, पर्यायदृष्टि से अनित्य है, तो उसके गुण भी उस दृष्टि से अनित्य हैं; अतः द्रव्य जिस रूप में परिणमन करता है, उसी रूप में उसके गुण हो जाते हैं, इसी को 'गुण-पर्याय' कहते हैं।

द्रव्य ही सर्वशक्तिमान वस्तु— इस सम्पूर्ण विश्व में द्रव्य ही सर्वशक्तिमान वस्तु है, पदार्थ है; उसके ही गुण होते हैं, वही परिणमन करता है, उसके ही प्रदेश होते हैं। प्रदेश, गुण, पर्याय आदि सब द्रव्य के ही विभाग हैं, अंश हैं; अतः उन प्रदेश, गुण, पर्याय आदि में स्वयं कुछ शक्ति नहीं है अथवा बिना द्रव्य के वे कुछ— भी कार्यकारी नहीं हैं, सब— कुछ द्रव्य का ही है। प्रदेश की पर्यायें या गुण कहना, गुणों के प्रदेश या पर्यायें कहना या पर्यायों के प्रदेश या गुण कहना— ये सब उपचरित कथन हैं। वास्तव में द्रव्य के ही प्रदेश होते हैं, द्रव्य के ही गुण होते हैं और द्रव्य की ही पर्यायें होती हैं। द्रव्य चूँकि अपने प्रदेशों में रहता है; अतः गुण भी उन्हीं प्रदेशों में रहते हैं, पर्यायें भी उन्हीं प्रदेशों में होती हैं, परन्तु गुण या पर्याय का प्रदेशों से कुछ लेना-देना नहीं है। बस, इतना ही उनका सम्बन्ध है कि प्रदेश भी उसी द्रव्य के हैं और गुण भी उसी द्रव्य के हैं और पर्यायें भी उसी द्रव्य की हैं।

द्रव्य में प्रदेश रहते हैं या द्रव्य प्रदेशवान् है अर्थात् द्रव्य सदा अपने प्रदेशों में रहता है —ऐसा प्रदेशत्वगुण या नियतप्रदेशत्वशक्ति द्रव्य की है, परन्तु प्रदेश तो क्षेत्रवाची है; अतः प्रदेश कोई गुण नहीं है, बल्कि प्रदेशत्व, द्रव्य का गुण है। इसी प्रकार द्रव्य की प्रति-समय कोई न कोई पर्याय होती है — ऐसी परिणमनशक्ति या द्रव्यत्वगुण द्रव्य का है, परन्तु पर्याय स्वयं कोई गुण नहीं है, पर्यायत्व द्रव्य का गुण अवश्य है। इसी पर्यायत्व नामक गुण को ही आगम की भाषा में द्रव्यत्वगुण कहा गया है।

परिणमन किसका? द्रव्य का, गुण का या पर्याय का

इस प्रश्न का समाधान जानने से पूर्व हमें यह जानना जरूरी है कि सामान्यतया पर्याय को परिणमनशील कहा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि पर्याय परिणमन करती है, द्रव्य या गुण परिणमन नहीं करते; परन्तु वास्तव में पर्याय अंश परिणमन नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं तो क्षणिक है; जो स्वयं क्षणिक है, वह परिणमन कैसे करेगा? इसी प्रकार ध्रौव्य अंश भी परिणमन नहीं करता, क्योंकि वह तो स्थिर है; जो स्वयं स्थिर है, वह परिणमन कैसे करेगा? अतः द्रव्य ही परिणमन करता है और उसके वर्तमानकालीन परिणमन की ही पर्याय संज्ञा है। पर्याय तो स्वयं नष्ट हो जाती है, अतः वह परिणमन कैसे कर सकती

है ? परिणमनशीलता द्रव्य का स्वभाव है, अतः यदि पर्याय परिणमन करके नवीन पर्याय को उत्पन्न करे, तो वह नष्ट ही नहीं होगी, क्योंकि स्वयं नष्ट होनेवाला दूसरे को उत्पन्न कैसे करेगा ? यदि वह नष्ट नहीं हो, तो नवीन पर्याय होगी ही नहीं। वास्तव में वह पूर्व पर्याय अपने को नष्ट भी नहीं करती, क्योंकि वह तो स्वयं विद्यमान है, अतः जो स्वयं विद्यमान है, वह स्वयं को नष्ट नहीं कर सकती; अतः द्रव्य ही स्वयं ध्रुव रह कर पूर्व पर्याय को नष्ट करता है और नवीन पर्याय को उत्पन्न करता है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होकर परिणमन करता है।

जब द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है तो उसके अंशभूत गुण और पर्याय भी स्वाभाविकरूप से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध होते हैं। वास्तव में मूलतः तो द्रव्य ही सत् है और वही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है; परन्तु द्रव्य, गुण-पर्यायों से भिन्न वस्तु नहीं है; अतः गुण-पर्याय भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं।

दूसरी बात यह है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सिद्धि पर्याय के द्वारा ही होती है अर्थात् द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, परन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य की पर्यायों के आश्रित ही होते हैं, पर्यायों में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिलक्षित होते हैं और पर्यायें द्रव्य में होती हैं; अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी द्रव्य के ही सिद्ध होते हैं — यही द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता है।⁴⁵

पर्यायों के भेद-प्रभेद

पर्याय के मुख्यतः दो भेदों का कथन अनेक प्रकार से किया जाता है —

1. द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय— पर्यायें द्रव्यात्मक भी होती हैं और गुणात्मक भी।
47 पर्यायें दो प्रकार की होती हैं— द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय।⁴⁸

जो अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत है, वह द्रव्यपर्याय है।⁴⁹ जिन पर्यायों में गुणों के माध्यम से अन्वय-रूप एकत्व का ज्ञान होता है, उन्हें गुणपर्याय कहते हैं।⁵⁰

द्रव्यपर्याय के दो भेद हैं — स्वभाव-द्रव्यपर्याय और विभावद्रव्यपर्याय। स्वभावद्रव्यपर्याय सब द्रव्यों में समान है।⁵¹ विभावद्रव्यपर्याय के दो भेद हैं— समानजातीयविभावद्रव्यपर्याय और असमानजातीयविभावद्रव्यपर्याय।⁵²

गुणपर्याय के दो भेद हैं— स्वभाव-गुणपर्याय और विभाव-गुणपर्याय। स्वभावगुणपर्याय के दो भेद हैं— साधारणस्वभाव-गुणपर्याय और विशेषस्वभाव-गुणपर्याय। अगुरुलघुगुण के निमित्त से होनेवाली षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्याय साधारणस्वभाव-गुणपर्याय है। जीवद्रव्य में होनेवाली केवलज्ञानादिरूप पर्यायें विशेषस्वभाव-गुणपर्याय हैं।⁵³ रागादिपर्यायें विभावगुणपर्यायें हैं।⁵⁴

2. स्वभावपर्याय और विभावपर्याय — पर्याय के दो भेद हैं — स्वभावपर्याय और

विभावपर्याय।⁵⁵ द्रव्य और गुण दोनों की पर्यायें, इन दोनों प्रकार की होती हैं।⁵⁶

स्वभावपर्याय के दो भेद सम्भव हैं — द्रव्यस्वभावपर्याय और गुणस्वभावपर्याय।

द्रव्यस्वभावपर्याय के दो भेद हैं — सामान्यद्रव्यस्वभावपर्याय और विशेषद्रव्यस्वभावपर्याय। सामान्यद्रव्यस्वभावपर्याय सब द्रव्यों में समान है। विशेषद्रव्यस्वभाव-पर्याय के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य की अपेक्षा छह भेद हैं। कारण-कार्य की अपेक्षा विशेषद्रव्यस्वभावपर्याय दो प्रकार की हैं — विशेषद्रव्यकारणस्वभावपर्याय और विशेषद्रव्यकार्यस्वभावपर्याय। विशेषद्रव्यकारणस्वभावपर्याय तो अनादि-अनन्त एक-रूप शुद्ध है। लेकिन विशेषद्रव्यकार्यस्वभावपर्याय धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्य की अनादि शुद्ध होती है और जीव की विशेषद्रव्य कार्यस्वभावपर्याय एक बार शुद्ध होने के बाद सादि-अनन्तकाल के लिए शुद्ध हो जाती है; जबकि पुद्गलद्रव्य की कादाचित्क होने से सादि-सान्त होती है। ऐसा भी माना जाता है कि कोई-कोई पुद्गल परमाणु त्रैकालिक शुद्ध भी होते हैं, क्योंकि वे कभी अशुद्ध स्कन्धपने को प्राप्त नहीं होते।

गुणस्वभावपर्याय के भी दो भेद हैं — सामान्यगुणस्वभावपर्याय और विशेषगुणस्वभावपर्याय। सामान्यगुणस्वभावपर्याय सब द्रव्यों में समान हैं। विशेषगुणस्वभावपर्याय के दो भेद हैं— अनादिशुद्धविशेषगुणस्वभावपर्याय और सादिशुद्धविशेषगुणस्वभावपर्याय। अनादिशुद्धविशेषगुणस्वभावपर्याय के चार मुख्यतः भेद हैं— धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्य के विशेषगुण अनादि से शुद्ध हैं। जीव और पुद्गलद्रव्य के भी अनन्तविशेषगुण अनादिशुद्ध हैं। सादिशुद्धविशेषगुणस्वभावपर्याय के मुख्यतः दो भेद हैं— जीव और पुद्गलद्रव्य के सादिशुद्धविशेषगुणों की अपेक्षा ये भेद बनते हैं।

विभावपर्याय के दो भेद हैं— द्रव्यविभावपर्याय और गुणविभावपर्याय। द्रव्यविभावपर्याय के दो भेद हैं— जीवद्रव्यविभाव-पर्याय और पुद्गलद्रव्यविभाव-पर्याय। गुणविभावपर्याय के दो भेद हैं — जीवगुणविभावपर्याय और पुद्गलगुणविभाव-पर्याय।

3. अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय — 'अर्थपर्याय' और 'व्यंजनपर्याय' के रूप में दो प्रकार की पर्यायें मानी गई हैं।⁵⁷

जो द्रव्य को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं अथवा प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थपर्याय हैं। अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञानविषयक है; अतः शब्द से नहीं कही जा सकती। यह मात्र वर्तमानकालिक वस्तु को विषय करती है, इसलिए आचार्यों ने इसे 'ऋजुसूत्रनय' का विषय माना है।

वज्रशिला, स्तम्भादि में व्यञ्जन संज्ञा से उत्पन्न हुई पर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं।⁵⁸ व्यंजन-पर्याय स्थूल एवं शब्दगोचर है तथा अपेक्षाकृत स्थायी भी मानी जाती है। जैसे — मिट्टी की पिण्ड, स्थास, कोष, कुशल, घट और कपाल आदि पर्यायें व्यंजनपर्यायें

हैं। मिच्छन्तं पि वंजणपज्जाओ अर्थात् मिथ्यात्व भी व्यंजनपर्याय है।⁶⁰

4. कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय — शुद्धपर्याय दो प्रकार की होती हैं — कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय। यहाँ सहजशुद्ध निश्चय से अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले और शुद्ध — ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्धअन्तःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव-अनन्तचतुष्टय का स्वरूप, उसके साथ रहनेवाली पूज्य पंचमभाव— परिणति (परमपारिणामिकभाव) है, वही कारणशुद्धपर्याय है — ऐसा अर्थ है। सादिअनन्त, -अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से कथित, केवलज्ञान—केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्तचतुष्टय के साथ रहनेवाली जो परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति है, वही कार्यशुद्धपर्याय है।⁶⁰

5. क्रमभावी पर्याय और सहभावी पर्याय — पर्यायों दो प्रकार की हैं — क्रमभावी और सहभावी। जो पर्याय, एक के बाद एक क्रम से होती हैं, वे क्रमभावी पर्याय कहलाती हैं। क्रमभावी पर्याय के भी दो भेद हैं — क्रियारूप और अक्रियारूप तथा जो द्रव्य में एक साथ रहने वाले गुण हैं, उन्हें सहभावी पर्याय कहते हैं।⁶¹

6. ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय — पर्याय को ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे — तीन काल के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्य की जो अनन्त पर्यायें हैं, वे तिर्यक्पर्याय कही जाती हैं। यदि एक ही मनुष्य के प्रतिक्षण होनेवाले परिणमन की पर्याय कहें तो वह ऊर्ध्वपर्याय है।⁶²

7. कालापेक्षा से पर्यायों के भेद — काल की अपेक्षा पर्याय के चार भेद हैं — सादि-सान्त, सादि-अनन्त, अनादि-सान्त, अनादि-अनन्त।⁶³ सादि-सान्त पर्याय — जिस पर्याय का आदि भी हो और अन्त भी, जैसे हर्ष-विषाद आदि। सादि-अनन्त पर्याय — जो पर्याय उत्पन्न तो होती हो पर जिसका अन्त न होता हो; जैसे जीव की सिद्ध पर्याय। अनादि-सान्त पर्याय— जो पर्याय कभी उत्पन्न न हुई हो, अर्थात् अनादि से हो पर जिसका अन्त हो जाता है; जैसे जीव की संसारी पर्याय। अनादि-अनन्त पर्याय — जिस पर्याय का न आदि हो न अन्त; जैसे धर्मास्तिकाय की शुद्धद्रव्यपर्याय और अभव्य जीव की अशुद्धपर्याय।

सदुत्पाद और असदुत्पाद

द्रव्य में प्रतिसमय जो पर्याय उत्पन्न होता है, उसे उत्पाद कहते हैं; उस उत्पाद के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि वह द्रव्य में पहले से होता है या नवीन उत्पन्न होता है? — इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से दिया जाता है। द्रव्यार्थिकनय से जो द्रव्य में विद्यमान

होता है, वही उत्पन्न होता है, यह सदुत्पाद है तथा पर्यायार्थिकनय से जो द्रव्य में विद्यमान नहीं होता है, वह उत्पन्न होता है — यह असदुत्पाद है।⁶⁴

पर्याय की कारण वह पर्याय स्वयं

जिनागम में एक ऋजुसूत्रनय का कथन है, इस नय की दृष्टि से विचार करने पर उत्पाद-व्यय आदि पर्यायों का कोई कारण नहीं होता है, न ही कोई उसका आधार होता है, न सहचारी होता है, न उसका कोई भूत होता है, न भविष्य होता है, उसका कोई कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान या अधिकरण भी नहीं होता है। वस! जो पर्याय है, वह वही है — इतना ही ऋजुसूत्रनय का विषय है। इसी के आधार पर निमित्त-उपादान के प्रकरण में तत्समय की योग्यता अर्थात् दोनों की तात्कालिक योग्यता को ही कार्य का वास्तविक कारण माना गया है।⁶⁵

द्रव्य-गुण-पर्याय का परस्पर-आश्रयत्व

कुछ लोगों की ऐसी अवधारणा है कि द्रव्य की कथनी में पर्याय की बात नहीं आ सकती तथा पर्याय की कथनी में द्रव्य की बात नहीं आ सकती अथवा उनकी दृष्टि में द्रव्य की कथनी में केवल द्रव्य की बात आना चाहिए, गुण या पर्याय की नहीं और तथा गुण की कथनी में केवल गुण की बात आना चाहिए, द्रव्य या पर्याय की नहीं, इसलिए पर्याय की कथनी में केवल पर्याय की बात आना चाहिए, द्रव्य या गुण की नहीं।

इस सम्वन्ध में वास्तविकता यह है कि द्रव्य की कथनी में या द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य को समस्त पर्यायों या विशेष, सामान्य के रूप में ही दिखाई देते हैं तथा पर्याय की कथनी में या पर्यायार्थिकनय से देखने पर द्रव्य, पर्यायों अथवा विशेषों से तन्मय होने के कारण वह द्रव्य पर्यायस्वरूप ही भासित होता है। ऐसा नहीं है कि द्रव्यार्थिकनय किसी पर्यायरहित द्रव्य को देखता है और पर्यायार्थिकनय किसी द्रव्यरहित पर्याय को देखता है, बल्कि दोनों नय एक ही वस्तु को देखते हैं। द्रव्यार्थिकनय जिस वस्तु को सामान्यरूप से देखता है, पर्यायार्थिकनय उसे ही विशेषरूप से देखता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यार्थिकनय की कथनी में पर्यायों का अन्तर्भाव द्रव्य में हो जाता है और पर्यायार्थिकनय की कथनी में द्रव्य का अन्तर्भाव पर्याय में हो जाता है।

शुद्धशुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय

शुद्धगुणपर्यायाधारभूत शुद्धात्मद्रव्यं द्रव्यं भण्यते अर्थात् सिद्धपरमात्मा के द्रव्य को सिद्धपरमात्मा के शुद्धगुणों और शुद्धपर्यायों का आधारभूत माना है, उससमय भूत-भविष्य की पर्यायों का आधार उसे नहीं माना है। यहाँ सिद्धपरमात्मा की मात्र पर्याय को ही शुद्ध

नहीं कहा है, बल्कि गुण और द्रव्य को भी शुद्ध कहा गया है, लेकिन यहाँ त्रैकालिक गुण या द्रव्य को शुद्ध नहीं कहा जा रहा है। मात्र जिससमय शुद्धपर्याय से परिणत है तथा जब शुद्धगुणों से युक्त है, तभी आत्मा को शुद्धात्मद्रव्य कहा जा रहा है — यह भी आगमोक्त शैली है, इसे समझना चाहिए, क्योंकि यदि शुद्धात्मद्रव्य का अर्थ त्रिकालशुद्ध परमपरिणामिकभाव किया जाता है, तो वह त्रिकालशुद्धगुणपर्यायों का ही आधारभूत माना जाएगा। यदि वह त्रिकाल शुद्ध है, तो उसके गुण भी त्रिकाल शुद्ध ही सम्भव हैं, पर्याय भी त्रिकाल शुद्ध ही ली जाएँगी, वे भी परमपरिणामिकभावस्वरूप ही होंगी, औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षयिकभावस्वरूप पर्यायों का इसमें अन्तर्भाव नहीं होगा — यह लाक्षणिक दृष्टि से सम्मत विचार है।

द्रव्य तो सदाकाल शुद्ध है — ऐसी भी विवक्षा आगम में आती है, परन्तु ऐसी भी विवक्षा आगम में विद्यमान है कि द्रव्य जिससमय शुद्धगुण-पर्यायों का आधारभूत बनता है, तभी वह शुद्ध है। शुद्धपर्याय से युक्त द्रव्य शुद्ध कहा जाता है। द्रव्य के प्रति-समय के परिणमन को 'पर्याय' कहा जाता है, जबकि प्रति-समय परिणमन करते हुए द्रव्य की उस समय उस पर्यायगत जो-जो विशेषताएँ होती हैं, उन्हें भी गुण कहते हैं। यही कारण है कि यदि द्रव्य का परिणमन शुद्ध है तो शुद्धपरिणमन के समय उसकी समस्त विशेषताएँ या गुण भी शुद्ध ही कहलाएँगी, परन्तु जब द्रव्य का परिणमन अशुद्ध है, तो उसकी समस्त विशेषताएँ या गुण भी अशुद्ध ही कहलाएँगी। यही कारण है कि शुद्ध या अशुद्ध गुण-पर्याय के आधारभूत द्रव्य को भी शुद्ध या अशुद्ध कहा है।

मुक्तजीव में शुद्धद्रव्य के गुण-पर्याय तो शुद्ध हैं ही, लेकिन उनका द्रव्य भी शुद्ध, क्षेत्र भी शुद्ध, काल भी शुद्ध और भाव भी शुद्ध होता है; — इसी प्रकार संसारी जीव में अशुद्धद्रव्य के गुण-पर्याय भी अशुद्ध हैं तथा उसका द्रव्य भी अशुद्ध, क्षेत्र भी अशुद्ध, काल भी अशुद्ध और भाव भी अशुद्ध है, क्योंकि यदि हम स्व-द्रव्य को शुद्ध मानें, स्व-क्षेत्र को शुद्ध मानें, स्व-काल को शुद्ध मानें, स्वभाव को शुद्ध मानें और स्वद्रव्य के गुणों को भी शुद्ध मानें तो पर्याय के अशुद्ध होने का कोई कारण ही नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रव्य-गुण-पर्याय का यह विषय जिनागम में अत्यन्त विस्तार के साथ व्याख्यायित किया गया है तथा उसे अत्यन्त प्रयोजनभूत भी माना गया है, उसके बिना मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना अत्यन्त दुष्कर है। निर्विकल्प अनुभव से पूर्व विकल्पात्मकरूप से यदि आत्मा का निर्णय सम्यक् नहीं हुआ तो निर्विकल्पता भी कैसे साध्य हो सकती है?

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य, तत्त्वप्रदीपिका प्रवचनसार 89
2. प्रवचनसार 93

256 :: जैनधर्म परिचय

3. आत्मख्याति समयसार 49
4. पंचास्तिकायसंग्रह गाथा 5
5. जैनदर्शन 109-110 तथा सैंतालीस शक्तियाँ 33-39 — भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः । शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः । भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः । अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः । भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः । अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः ।— समयसार आत्मख्याति टीका परिशिष्ट
6. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न 3
7. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/240
8. परमात्मप्रकाश 1/57
9. अध्यात्मकमलमार्तण्ड 2/7-8; तत्त्वप्रदीपिका प्रवचनसार 95
10. परमात्मप्रकाश टीका 1/58
11. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न 75-76
12. परमात्मप्रकाश टीका 1/58 एवं समयसार परिशिष्ट शक्ति 26
13. श्लोकवार्तिक भाषा 2/1/4/53/158
14. कषायपाहुड़ 1/1,13,14 एवं तात्पर्यवृत्ति नियमसार 1
15. तत्त्वार्थसूत्र 5/42/ एवं पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध 117
16. आलापपद्धति 6 एवं श्रुतभवनदीपकनयचक्र पृष्ठ 57
17. द्रष्टव्य, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/45-46
18. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न 41 व 44
19. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा 328
20. प्रवचनसार 95
21. पंचास्तिकायसंग्रह टीका 9; और देखें, सर्वार्थसिद्धि 1/5 व 1/29; धवला 1/83, द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्रं 35, तत्त्वार्थवृत्ति 5/2, तत्त्वप्रदीपिका प्रवचनसार 87, तत्त्वार्थवार्तिक 1/17 व 6/6, निरुक्तकोष पृ0 151, योगशास्त्र, आवश्यकसूत्रवृत्ति, अनुयोगद्वार टीका आदि
22. तत्त्वार्थसूत्र 5/41
23. न्यायदीपिका 31 78/121
24. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न 2
25. तत्त्वार्थवृत्ति 5/38
26. सर्वार्थसिद्धि विशेषार्थ 5/41
27. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध 48 / उत्तरार्द्ध 478
28. देखें, पंचाध्यायी सरलार्थ प्रबोधिनी टीका 108-120
29. पंचाध्यायी 1/136 विशेषार्थ
30. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक 1/33
31. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/44
32. सर्वार्थसिद्धि 1/33, 5/38; पंचाध्यायी 1/60, गोम्मटसार जीवकाण्ड 572, स्याद्वादमंजरी 23
33. श्रुतभवनदीपकनयचक्र पृ. 85
34. तत्त्वार्थवार्तिक 1/33, धवला 1/84; कषायपाहुड़ 1/इ181/217; नियमसार टीका 14
35. श्रुतभवनदीपक नयचक्र पृष्ठ 57

36. सर्वार्थसिद्धि 5/38
37. पंचास्तिकाय समयव्याख्या 5
38. आलापपद्धति, परीक्षामुख 4/8 एवं परमात्मप्रकाश 57
39. सर्वार्थसिद्धि 5/38
40. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/29
41. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र 17; जैन सिद्धान्त प्रवेशिका पृ. 38
42. तेहिं पुण पञ्जाओ — प्रवचनसार 93
43. परमभावप्रकाशकनयचक्र पृ. 188
44. प्रवचननवनीत भाग 4 पृष्ठ 225 से 230 का सार-संक्षेप
45. उपादद्विदिभंग विज्जंते पज्जयेसु पञ्जाया। दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सत्वं ॥ — प्रवचनसार 101
46. प्रवचनसार, 99
47. तत्त्वप्रदीपिका प्रवचनसार 93
48. तात्पर्यवृत्ति पंचास्तिकायसंग्रह 16
49. तत्त्वप्रदीपिका प्रवचनसार 92
50. तात्पर्यवृत्ति प्रवचनसार 16
51. तात्पर्यवृत्ति प्रवचनसार 93
52. तात्पर्यवृत्ति पंचास्तिकायसंग्रह 16 एवं तत्त्वप्रदीपिका प्रवचनसार 93
53. तात्पर्यवृत्ति प्रवचनसार 93
54. आलापपद्धति, द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र परिशिष्ट 1/211-212
55. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र 17
56. बृहद्नयचक्र 17-19
57. तात्पर्यवृत्ति पंचास्तिकायसंग्रह 16
58. धवला 4/337
59. वही
60. तात्पर्यवृत्ति नियमसार 15
61. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/33/60
62. अशोककुमार जैन, जैनदर्शन में द्रव्य—गुण—पर्याय के भेदाभेदवाद की अवधारणा, पृ. 6 (लेख)
63. जैन सिद्धान्त सूत्र प्रश्न 50-60 पृ. 156-157
64. प्रवचनसार, 111-114
65. जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 206-207

विशेष एवं सामान्य गुण

राकेश जैन शास्त्री

अनादि-निधन विश्व में प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों में विद्यमान रहते हैं। गुण और पर्याय के बिना द्रव्य की सत्ता नहीं है। द्रव्य के अस्तित्व के लिए गुण और पर्याय का होना अनिवार्य है। जैन दार्शनिकों ने गुण को दो प्रकार का माना है— 1. सामान्य गुण, 2. विशेष गुण।

इन गुणों से ही द्रव्यों की पहचान होती है। गुणों में अर्थात् अपनी ऐसी अनन्त विशेषताओं-सहित जो-कि उस वस्तु का परिचय कराते हैं तथा अन्य वस्तुओं से भिन्नत्व प्रसिद्ध करते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने आलापपद्धति में कहा है—

गुण्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तराद्यैस्ते गुणाः।

अर्थात् जो द्रव्य को द्रव्यान्तरों से पृथक् करते हैं, सो गुण हैं।

साहित्यिक दृष्टि से गुण शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे— 'रूपादिगुण' (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण) में गुण का अर्थ रूपादि है। 'दो गुणा यव, त्रिगुणायव' में गुण का अर्थ भाग है, 'गुणज्ञ साधु' में या 'उपकारज्ञ' में उपकार अर्थ है, 'गुणवान् देश' में द्रव्य अर्थ है; क्योंकि जिसमें गौयें या धान्य अच्छा उत्पन्न होता है, वह देश गुणवान् कहलाता है।

अनेक अर्थों के धनी 'गुण' का प्रकृत प्रकरण में वस्तु में सदा तथा सर्वत्र पायी जाने वाली विशेषताएँ ही हैं। जिनसे वस्तु का वैशिष्ट्य पता चलता है अर्थात् अन्य वस्तुओं के बीच वस्तु का विशिष्ट रूप में परिचय प्राप्त होता है।

अभिनव धर्मभूषण यति द्वारा रचित 'न्याय-दीपिका' ग्रन्थ में गुण का लक्षण निम्न रूप से वर्णित है—

'यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः वस्तुत्वरूपरसगन्धस्पर्शादयः।'।

अर्थात् जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्तकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं और वे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि हैं।

जैसे पुद्गल द्रव्य में सदा, सर्वत्र स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण पाये जाते हैं, वैसे ही

विशेष एवं सामान्य गुण :: 259

जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, चेतनादि अनन्तगुण पाये जाते हैं। ये तो सभी विशिष्ट गुण हैं, जो जीवादि में अपने-अपने अलग विशिष्ट होते हैं। कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो सभी द्रव्यों में समानरूप से पाये जाते हैं, जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि, वे सामान्य गुण कहलाते हैं। जैसे विशिष्ट गुण प्रत्येक वस्तु में अनन्त होते हैं, वैसे ही सामान्य गुण भी अनन्त होते हैं, फिर भी सामान्य गुणों की संख्या मुख्य रूप से छह प्रसिद्ध है —

1. अस्तित्व, 2. वस्तुत्व, 3. द्रव्यत्व, 4. प्रमेयत्व, 5. अगुरुलघुत्व, 6. प्रदेशत्व।

उक्त गुण सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं, इसीलिए सामान्य गुण कहलाते हैं।

1. अस्तित्व—‘अस्तीत्येतस्य भावोऽस्तित्वं सद्रूपत्वम्’ । — आलापपद्धति

अर्थात् ‘अस्ति’ अर्थात् ‘है-पने’ के भाव को अस्तित्व कहते हैं। अस्तित्व अर्थात् सद्रूपत्व।

जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता और न ही किसी से उसका उत्पाद होता है, उस शक्ति को अस्तित्वगुण कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि द्रव्य अपने स्वभाव से अनादि-अनन्त काल तक अपनी-अपनी सत्ता में विद्यमान रहता है, अर्थात् जीव अनादि से जीव ही है, पुद्गल भी अनादि से पुद्गल ही है। जीव कभी पुद्गल नहीं होता, नहीं हो सकता तथा पुद्गल भी कभी जीव नहीं होता, नहीं हो सकता। जीव जीव है, था और रहेगा। ऐसे स्वरूप सत्ता का स्वतन्त्र, शाश्वत अस्तित्व जानकर भयादि दुर्गुणों से बच सकते हैं।

2. वस्तुत्व—‘वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्’—स्याद्वादमंजरी 5/30/6

अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है।

गुरु गोपालदासजी वरैया-कृत ‘लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका’ में प्रसिद्ध वस्तुत्व गुण का स्वरूप इस रूप में उल्लिखित है—“जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व (प्रयोजनभूतक्रिया) पाया जाए, उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं।” अर्थात् अपनी-अपनी प्रयोजनभूत क्रिया का कर्तापना ही वस्तु का वस्तुत्व-गुण है। इसी को मुख्यता से द्रव्य को वस्तु कहा जाता है।

प्रत्येक वस्तु अपने-अपने कार्य स्वयं ही करती है, अन्य कोई कर्ता नहीं। मात्र संयोग में सहयोगी पने का (निमित्तपने का) आरोप होता है। अन्य वस्तुएँ निमित्त कारण तो हैं, पर कर्ता नहीं। वास्तव में, जिस वस्तु में कार्य सम्पन्न हुआ हो, वही उस कार्य का कर्ता होता है, क्योंकि ‘कर्ता-कर्म भाव या परिणाम-परिणामी भाव एक द्रव्य में ही हो सकता है।’ (पं. जयचन्द छावड़ा, समयसार गाथा 99 का भावार्थ) अर्थात् जीव के भावों का कर्ता जीव ही है, पुद्गल नहीं तथा पुद्गल के भावों का कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं। एक-दूसरे के कार्य में अन्य की सहयोगी देखकर निमित्त कहा जाता है। वह सहयोगी है, कर्ता नहीं। जैसे— मिट्टी से निर्मित घट के ज्ञान का कर्ता जीव है, घट का कर्ता तो स्वयं मिट्टी

ही है, कुम्हार जीव तो घटकार्य में निमित्त ही है, सहयोगी ही है।

3. द्रव्यत्व— जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। इस गुण के कारण द्रव्य परिणामान्तर अर्थात् पर्याय-रूप परिणमन करता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की अवस्थाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं।

अवस्था, पर्याय, परिणाम, दशा, हालत, परिणमन, विशेष इत्यादि एकार्थवाची हैं। क्षण-क्षण का बदलाव यही परिणमनशीलता है, किन्तु यह अवस्थाओं पर ही लागू होता है, वस्तु की सत्ता पर नहीं। वस्तु सत्ता रूप से तो सदा अपने-अपने लक्षणों में कायम रहती है, यही उत्पाद-व्यय के साथ की ध्रौव्यता है।

द्रव्यत्व गुण की समझ से यह लाभ है कि अनादि काल से चली आ रही भूल नष्ट हो सकती है और जीव पामर से परमात्मपने को प्राप्त कर सकता है। इस तरह जीव अनन्त काल तक दुःखी रहने को बाध्य नहीं है।

4. प्रमेयत्व—जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी-न-किसी ज्ञान का विषय हो, उसे प्रमेयत्वगुण कहते हैं। इस गुण के सद्भाव से द्रव्य प्रमाण का विषय बनता है।

‘प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्। प्रमाणेन स्वपरस्वरूपपरिच्छेद्यं प्रमेयम्।

(आलापपद्धति)

अर्थात् प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। प्रमाण के द्वारा जो जानने योग्य स्व-पर-स्वरूप है वह प्रमेय है।

विश्व में विद्यमान सभी वस्तुएँ ज्ञेय कहलाती हैं। उनमें से कोई भी वस्तु छुपी हुई नहीं है। सभी वस्तुएँ किसी-न-किसी ज्ञान की ज्ञेय होती हैं। इस प्रमेयत्व गुण के समझने से अन्तर में विद्यमान चौर्यभाव समाप्त हो जाता है, क्योंकि कोई भी कार्य अज्ञात नहीं रहता। सहज-सरल जीवन-पद्धति ही हमारा कर्तव्य रहता है।

5. अगुरुलघुत्व—‘अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मा वागगोचराः प्रतीक्षणं वर्तमानाः आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः’।

(आलापपद्धति)

अर्थात् अगुरुलघु भाव अगुरुलघुत्व है अर्थात् जिस गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्यपना सदा बना रहे अर्थात् द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो सके, अथवा न द्रव्य के गुण बिखरकर पृथक्-पृथक् हो सकें और जिसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में तथा उसके गुणों में समय-समय प्रति षट्गुण हानि-वृद्धि होती रहे, उसे अगुरु लघु-गुण कहते हैं। अगुरु लघु-गुण का यह सूक्ष्म परिणमन वचन के अगोचर है, केवल आगम प्रमाणगम्य है।

अगुरुलघुगुण को समझने से यह ज्ञात होता है कि कोई द्रव्य न तो किसी अन्य से कमतर है और न ही अधिकतर है। सभी द्रव्य अपने-अपने में पूर्णता लिये हुए हैं।

6. प्रदेष्टव्य— जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई-न-कोई आकार अवश्य रहता है,

उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं।

‘प्रदेशवत्वमपि साधारणं संख्येयासंख्येयानन्त-प्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम् । तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम् ।’

(आचार्य अकलंक देव, राजवार्तिक, प्रथम 2/7/13)

अर्थात् प्रदेशत्व भी सर्वद्रव्य साधारण है, क्योंकि सर्वद्रव्य अपने-अपने संख्यात, असंख्यात वा अनन्त प्रदेशों को रखते हैं। यह कर्मों के उदय आदि की अपेक्षा का अभाव होने से पारिणामिक है।

प्रदेशत्व गुण को समझने से यह फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्य उसके स्वयं के क्षेत्र में विराजता है, संयोग देखकर व्यवहार से ही यह कहा जाता है कि जल गिलास में है, सोना डिब्बी में है। वस्तुतः तो जल अपने शीतलता, निर्मलता आदि गुणों में तथा सोना अपने पीलेपन, चिकनेपन, भारीपन आदि में विद्यमान रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सदैव अपने स्व-क्षेत्र में रहती है।

ये छह सामान्यगुण हैं, क्योंकि ये सभी द्रव्यों में सदैव पाये जाते हैं। गुण-रहित कोई भी वस्तु/द्रव्य विश्व में नहीं है। सभी द्रव्य गुणवान ही होते हैं।

प्रकारान्तर से सामान्य गुण के दस भेद भी हैं— 1. अस्तित्व, 2. वस्तुत्व, 3. द्रव्यत्व, 4. प्रमेयत्व, 5. अगुरुलघुत्व, 6. प्रदेशत्व, 7. चेतनत्व, 8. अचेतनत्व, 9. मूर्तत्व, 10. अमूर्तत्व।

इन दस गुणों में से प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण रहते हैं। यतः जीवद्रव्य में अचेतनत्व और मूर्तत्व नहीं है तथा पुद्गल में चेतनत्व और अमूर्तत्व नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में चेतनत्व और मूर्तत्व गुण का अभाव है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण पाये जाते हैं। आपेक्षिक गुणों में नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व की गणना को जाती है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य गुणों का समूह है। गुणों से द्रव्य की महिमा ज्ञात होती है और द्रव्य को महिमा-सम्पन्न देखने से दृष्टि साम्यभाव-युक्त होकर, आनन्दमयी हो जाती है और परमुखापेक्षी-पने का अभाव हो जाता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. आलापपद्धति, आचार्य देवसेन
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, भाग-1 एवं भाग-2, आचार्य अकलंकदेव
3. न्यायदीपिका, अभिनव धर्मभूषण यति
4. स्याद्वाद मंजरी, आचार्य मल्लिषेण
5. लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, पं. गोपालदास वैर्या
6. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-1, डॉ. नेमीचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य
7. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
8. समयसार भावार्थ, पं. जयचन्द्र छावड़ा

औपशमिक आदि जीव के भाव

पं. रतनलाल बैनाडा

जैनदर्शन के अनुसार जीव-द्रव्य परिणामी है। वह प्रतिक्षण परिणमन करता है। यह परिणमन कर्म-निरपेक्ष भी होता है और कर्म-सापेक्ष भी। मुक्त जीव कर्म-रहित होते हैं, उनका परिणमन कर्म-निरपेक्ष अर्थात् स्वाभाविक ही होता है। संसारी जीव कर्म-सहित होते हैं, उनका परिणमन कर्म-सापेक्ष होता है। कर्मों के संयोग से होने वाली परिणति विशेष को भाव कहते हैं अथवा चेतन (आत्मा) के परिणमन को भाव कहते हैं।

सामान्य से जीव के भाव पाँच प्रकार के कहे गये हैं²—1. औपशमिक, 2. क्षायिक, 3. क्षायोपशमिक, 4. औदयिक, 5. पारिणामिक, इन पाँचों भावों की परिभाषा निम्न प्रकार है—

1. औपशमिक भाव— जैसे गन्दे जल में निर्मली डाल देने से जल की गन्दगी नीचे बैठ जाती है, उसी तरह आत्मा में विभाव उत्पन्न करने वाले कर्मों का विशुद्ध परिणामों द्वारा दब जाना उपशम कहलाता है। इस उपशम के कारण होने वाले परिणाम औपशमिक कहलाते हैं।

2. क्षायिक भाव— जैसे गन्दे पानी की मिट्टी नीचे बैठ जाने पर, ऊपर के स्वच्छ जल की अलग बर्तन में निकाल लेने से पानी गन्दगी-रहित हो जाता है। उसी तरह आत्मा में राग-द्वेषादि परिणाम-रूप अशुद्धि उत्पन्न करने वाले कर्मों का, आत्मा से पृथक् हो जाना क्षय कहलाता है। इस क्षय के कारण आत्मा में जो विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक भाव कहे जाते हैं।

3. क्षायोपशमिक भाव— जैसे जल में कुछ गन्दगी दब जाने पर तथा कुछ गन्दगी शेष रहने पर, पानी मटमैला-सा बना रहता है, उसी प्रकार आत्मा में रागादि उत्पन्न करने वाले कर्मों के कुछ अंश के क्षय हो जाने तथा कुछ अंश के उपशम रहने रूप दशा को क्षयोपशम कहते हैं। इस क्षयोपशम के कारण, आत्मा में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनको क्षायोपशमिक कहा जाता है।

4. औदयिक भाव— जैसे पानी में गन्दगी रहने से पानी मटमैला बना रहता है, उसी प्रकार कर्म उदय के कारण आत्मा में अशुद्धि उत्पन्न होना उदय कहलाता है। इस उदय

के कारण आत्मा में जो परिणाम होते हैं, उनको औदयिक भाव कहा जाता है।

5. पारिणामिक भाव— जैसे गन्दगी न रहने से पानी स्वभाव से स्वच्छ रहता है, उसी प्रकार कर्मों के उदयादि की अपेक्षा से रहित आत्मा के जो स्वाभाविक परिणाम होते हैं, उनको पारिणामिक भाव कहा जाता है।

जीव की कोई भी अवस्था हो, चाहे वह संसारी हो या मुक्त हो, वह उपर्युक्त भावों से सर्वथा रहित नहीं हो सकता। संसारी अवस्था में जीव के क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक ये तीन भाव तो होते ही हैं। इनसे कम, मात्र एक या दो भाव, किसी भी संसारी जीव के नहीं पाये जाते। किसी संसारी जीव के चार भाव तथा पाँचों भाव भी एक काल में होना सम्भव हैं। मुक्त जीवों में क्षायिक भाव तथा पारिणामिक, ये दो भाव सदैव पाये जाते हैं।

औपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौ, क्षायोपशमिक भाव के अठारह, औदयिक भाव के इक्कीस तथा पारिणामिक भाव के तीन इस तरह भाव त्रेपन प्रकार के होते हैं³।

औपशमिक आदि भावों के भेद

1. औपशमिक भाव के दो भेद — मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में मिथ्यात्व तथा कषाय रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं। यदि मोहनीय कर्म का उपशम हो जाय, तो आत्मा में ये परिणाम उत्पन्न नहीं होते। अतः मोहनीय कर्म के उपशम होने से आत्मा में दो प्रकार के औपशमिक भाव उत्पन्न होते हैं⁴—

(अ) औपशमिक सम्यक्त्व— आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करने वाले दर्शन मोहनीय कर्म तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। इनके उपशम हो जाने पर आत्मा में जो सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व भाव है। यह सम्यग्दर्शन पूर्ण शुद्ध होता है, अत्यन्त निर्मल होता है। यह चारों गति के जीवों को हो सकता है।

(आ) औपशमिक चारित्र— आत्मा के सम्यक् चारित्र गुण का घात करने वाली चार अप्रत्याख्यानावरण कषाय, चार प्रत्याख्यानावरण कषाय तथा चार संज्वलन कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) तथा नौ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद) कुल इक्कीस कषायें हैं, इनका उपशम हो जाने पर अर्थात् उदय न होने से अथवा दब जाने से आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। यह चारित्र पूर्ण निर्मल अर्थात् वीतराग होता है तथा मात्र मुनिराजों के होता है।

वर्तमान पंचम काल में औपशमिक सम्यक्त्व भाव होना सम्भव है, परन्तु शारीरिक क्षमता का अभाव होने से औपशमिक चारित्र होना सम्भव नहीं है। ये दोनों भाव अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट तक) से अधिक नहीं रह पाते हैं।

2. क्षायिक भाव— आत्मा के चार अनुजीवी गुणों का घात करने वाले, चार घातिया कर्म हैं। इनका क्षय अर्थात् सम्पूर्ण नाश होने से आत्मा में नौ क्षायिक भाव प्रकट होते हैं,

जो इस प्रकार हैं—

(अ) क्षायिक ज्ञान— आत्मा के ज्ञान गुण का घात करने वाला ज्ञानावरण कर्म है। इस कर्म का तपादि के द्वारा सम्पूर्ण घात हो जाने से आत्मा में क्षायिक ज्ञान भाव उत्पन्न होता है, जिससे आत्मा लोक तथा अलोक के समस्त द्रव्यों को तथा उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों को एक-साथ स्पष्ट जानने लगता है। यह अर्हन्त भगवान् के होता है। इसे केवलज्ञान या अनन्तज्ञान भी कहते हैं।

(आ) क्षायिक दर्शन— आत्मा के दर्शन गुण का घात करने वाला दर्शनावरण कर्म है। इस कर्म के सम्पूर्ण घात हो जाने से आत्मा में क्षायिक दर्शन भाव प्रकट हो जाता है, जिससे आत्मा लोकालोक के समस्त द्रव्यों का सामान्य अवलोकन करने में समर्थ हो जाता है। यह भी अर्हन्त भगवान् के होता है। इसे केवलदर्शन या अनन्तदर्शन भी कहते हैं।

(इ) क्षायिक दान— अन्तराय कर्म का एक भेद— दानान्तराय कर्म का नाश होने से आत्मा में क्षायिक-दान-भाव प्रकट होता है। इसके प्रभाव से अर्हन्त भगवान् का समस्त जीवों के लिए परम हितकारी अहिंसामय धर्मोपदेश होता है। सभी जीवों को इससे परम अभय रूप अभय दान प्राप्त होता है।

(ई) क्षायिक लाभ— लाभान्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से आत्मा में क्षायिक-लाभ-भाव उत्पन्न होता है। इसके कारण अर्हन्त भगवान् के असाधारण, अत्यन्त शुभ, दिव्य, नोकर्मवर्गणाएँ आने से, उनका परमौदारिक शरीर कुछ-कम कोटिपूर्व-वर्ष-तक कवलाहार के बिना भी स्थिर रहता है।

(उ) क्षायिक भोग— सम्पूर्ण भोगान्तरायकर्म के क्षय होने से आत्मा में क्षायिक-भोग-भाव उत्पन्न होता है, जिससे अरहन्त भगवान् के पुण्यवृष्टि, विहार में स्वर्णकमल रचना आदि अतिशय होते हैं।

(ऊ) क्षायिक उपभोग— सम्पूर्ण उपभोगान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से आत्मा में क्षायिक-उपभोग-भाव होता है। इसके कारण अर्हन्त भगवान् के दिव्य सिंहासन, चमर, तीन छत्र, भामंडल आदि क्षायिक उपभोग होते हैं।

(ए) क्षायिक वीर्य— आत्मा की शक्ति पर रोक लगाने वाले वीर्यान्तराय कर्म का सम्पूर्ण नाश हो जाने से क्षायिक वीर्य भाव प्रकट होता है, जिससे अर्हन्त भगवान् को अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति रूप अनन्तवीर्य प्राप्त होता है।

(ऐ) क्षायिक सम्यक्त्व— सम्यक्त्व की घातक मोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार कषायों के सर्वथा क्षय होने से आत्मा में क्षायिक सम्यक्त्व भाव उत्पन्न होता है। इस भाव की उत्पत्ति चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक के जीवों के सम्भव है। यह सम्यक्त्व पूर्ण-निर्मल तथा अक्षय-अनन्त है। कभी नष्ट नहीं होता। इस भाव वाले जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं।

(ओ) क्षायिक चारित्र— सम्यक् चारित्र की घातक 21 कषायों के सर्वथा क्षय होने

से आत्मा में क्षायिक चारित्र गुण प्रकट होता है। यह भी अनन्तकाल रहने वाला अत्यन्त विशुद्ध तथा अविनाशी होता है। यह बारहवें गुणस्थान से सिद्ध भगवान् तक में पाया जाता है।

3. क्षायोपशमिक भाव— घातिया कर्मों के सर्वघाति स्पर्धकों के अनुदय तथा देशघाती स्पर्धकों के उदय से आत्मा में ज्ञान-दर्शन-शक्ति, सम्यक्त्व तथा चारित्र गुण की जो आंशिक प्रकटता होती है, वह क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। इसके 18 भेद हैं—

(अ) क्षायोपशमिक ज्ञान— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम होने से इन चारों ज्ञानों का आंशिक प्रकट होना क्षायोपशमिक भाव कहलाता है। इसके चार भेद हैं : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञान। इनमें से प्रथम तीन का सद्भाव चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक तथा मनःपर्यय ज्ञान का सद्भाव छठें से बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। ये चारों ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होते हैं। मनःपर्ययज्ञान को छोड़कर इनका सद्भाव चारों गतियों में सम्भव है। मनःपर्ययज्ञान मात्र मनुष्यगति में मुनिराजों के ही सम्भव है।

(आ) क्षायोपशमिक अज्ञान— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा अवधिज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम होने से मिथ्यादृष्टि जीवों के, ये तीन क्षायोपशमिक अज्ञान भाव होते हैं। ये चारों गति के जीवों के पाये जाते हैं। इसके तीन भेद हैं।

(इ) क्षायोपशमिक दर्शन— जहाँ आत्मा का दर्शन-गुण आंशिक प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक दर्शन कहलाता है। इसके तीन भेद हैं—

(1) चक्षुर्दर्शन—चक्षु इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान से पहले आत्मा का जो प्रयास होता है, वह चक्षुर्दर्शन है। चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से यह दर्शन-गुण का अंश प्रकट होता है। समस्त चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सैनी व असैनी जीवों के यह भाव होता है।

(2) अचक्षुर्दर्शन— अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा के दर्शन-गुण का आंशिक प्रकट होना, अचक्षुर्दर्शन भाव है। सभी संसारी जीवों के (12वें गुणस्थान तक) यह क्षायोपशमिक भाव अवश्य पाया जाता है। चक्षु इन्द्रिय के अलावा अन्य चारों इन्द्रियों तथा मन से होने वाले ज्ञान से पूर्व आत्मा का जो प्रयास होता है, (सामान्य अवलोकन) उसे अचक्षुर्दर्शन भाव कहते हैं।

(3) अवधि दर्शन— अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम होने से आत्मा में जो अवधिज्ञान से पूर्व सामान्य अवलोकन होता है, वह अवधिदर्शन कहलाता है। यह चारों गति के सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी जीवों के पाया जाता है।

(ई) क्षायोपशमिक लब्धि— अन्तरायकर्म का क्षयोपशम होने से प्रत्येक संसारी जीव के (12वें गुणस्थान तक) पाँचों लब्धि सम्बन्धी शक्ति की आंशिक प्रकटता रूप यह भाव होता है। इसके पाँच भेद हैं— दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य।

(उ) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व— सम्यक्त्व की घातक सात प्रकृतियों में से, सम्यक्

प्रकृति के उदय होने तथा अन्य छह प्रकृतियों के अनुदय से आत्मा में जो समल सम्यक्त्व-गुण प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व-भाव कहलाता है। यह भाव चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीवों में पाया जा सकता है। इसका सदभाव चारों गतियों में पाया जाता है।

(ऊ) क्षायोपशमिक चारित्र— अनन्तानुबन्धी चार, अप्रत्याख्यानावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार कुल 12 कषायों का अनुदय होने से तथा संज्वलन चार (क्रोध, मान, माया, लोभ) का उदय होने से जो आत्म-विशुद्धि-रूप भाव पाया जाता है, उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। यह छठे तथा सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के होता है।

(ए) संयमासंयम— अनन्तानुबन्धी चार तथा अप्रत्याख्यानावरण चार = 8 कषायों का अनुदय होने, प्रत्याख्यानावरण चार के उदय होने तथा संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों का उदय होने से, आत्मा में जो देश-चारित्र-रूप-भाव उत्पन्न होता है, उसे संयमासंयम भाव कहते हैं। यह भाव सिर्फ कर्मभूमिया मनुष्यों तथा तिर्यचों में सम्भव है। सभी सम्यग्दृष्टि व्रतियों, क्षुल्लक, ऐलक, आधिकादि में यह भाव पाया जाता है।

4. औदयिक भाव— कर्मों के उदय से आत्मा में जो भाव प्रकट होते हैं, उन्हें औदयिक भाव कहते हैं। ये सभी संसारी जीवों के पाये जाते हैं। केवली भगवान के भी औदयिक भाव होते हैं। उसके इक्कीस भेद हैं—

(अ) चार गति— नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति तथा देव गति नाम कर्म के उदय से, आत्मा में जो उस गति रूप भाव होता है अर्थात् मनुष्य-गति-नाम- कर्म के उदय से 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा भाव सदा बना रहना मनुष्य-गति-औदयिक-भाव है। इसी प्रकार चारों गतियों में समझना चाहिए। एक जीव में इन चारों में से एक- समय में एक ही भाव होता है। प्रत्येक संसारी जीव के यह भाव अवश्य पाया जाता है। इसके चार भेद हुए।

(आ) चार कषाय— चारित्र मोहनीय के भेद क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय के उदय से आत्मा में जो कषाय-रूप-भाव उत्पन्न होता है, वह कषाय औदयिक भाव है। इसके चार भेद होते हैं। नरक, तिर्यच तथा देव गति के समस्त जीवों के यह भाव हमेशा पाया जाता है। मनुष्य गति में नौवें गुणस्थान तक के जीवों में चारों कषायों का तथा दसवें गुणस्थान के जीवों में लोभ-कषाय-रूप-भाव पाया जाता है। इससे आगे के गुणस्थानों में यह नहीं पाया जाता।

(इ) तीन लिंग— चारित्र मोहनीय के भेद पुरुषवेद, स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद कर्म के उदय से आत्मा में जो वासना-रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह लिंग औदयिक भाव है। इसके तीन भेद हैं। नौवें गुणस्थान तक प्रत्येक जीव में एक लिंग का उदय अवश्य होता है।

(ई) मिथ्यादर्शन— दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ में अश्रद्धान रूप मिथ्यादर्शन-भाव होता है। असेनी पंचेन्द्रिय तक प्रत्येक जीव के इसका उदय पाया जाता

है। इसका उदय चारों गति के जीवों के हो सकता है।

(उ) अज्ञान-भाव— ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञान की सम्पूर्णता नहीं हो पाती है। अज्ञान भाव तो केवलज्ञान होने से पूर्व रहता ही है। अतः ज्ञानावरण-कर्म के उदय से ज्ञान में कमी रूप जो अज्ञान-भाव रहता है, वह औदयिक भाव है। यह मनुष्यगति में बारहवें गुणस्थान तक तथा शेष गतियों के प्रत्येक जीव के पाया जाता है।

(ऊ) असंयत-भाव— चारित्र मोह की अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से, पाँच इन्द्रिय तथा मन के विषयों एवं छह काय की हिंसक प्रवृत्ति से दूर न होने रूप असंयत-भाव होता है। सभी नारकी एवं सभी देवों के इसका उदय पाया जाता है। चतुर्थ गुणस्थान तक के तिर्यच एवं मनुष्यों के भी इसका उदय होता ही है।

(ए) असिद्धत्व-भाव— कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा यह भाव होता है। जब तक कर्मों का उदय रहता है, तब तक सिद्ध-अवस्था प्राप्त न होने रूप असिद्धत्व- भाव रहता है। इसका उदय समस्त संसारी जीवों के होता ही है।

(ऐ) लेश्या-भाव— जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, वह लेश्या-भाव है। इसी शुभ तथा अशुभ रूप भाव के कारण आत्मा कर्मों से युक्त होती है। कषाय तथा योग के उदय के कारण लेश्या-भाव होता है। इसके छह भेद हैं—

(1) कृष्ण लेश्या— तीव्रतम कषाय के उदय से होने वाले परिणाम।

WORST परिणाम। गुणस्थान एक से चार तक।

(2) नील लेश्या— तीव्रतर कषाय के उदय से होने वाले परिणाम।

WORSE परिणाम। गुणस्थान एक से चार तक।

(3) कापोत लेश्या— तीव्र कषाय के उदय से होने वाले परिणाम।

BAD परिणाम। गुणस्थान एक से चार तक।

(4) पीत लेश्या— मन्द कषाय के उदय से होने वाले परिणाम।

GOOD परिणाम। गुणस्थान एक से सात तक।

(5) पद्म लेश्या— मन्दतर कषाय के उदय से होने वाले परिणाम।

BETTER परिणाम। गुणस्थान एक से सात तक।

(6) शुक्ल लेश्या— मन्दतम कषाय के उदय से होने वाले परिणाम।

BEST परिणाम। गुणस्थान एक से तेरह तक।

सामान्य से सभी नारकी प्रथम तीन अशुभ लेश्या वाले होते हैं। सभी देव शेष तीन शुभ लेश्या वाले होते हैं। मनुष्य एवं तिर्यचों में यथा-योग्य छहों लेश्याएँ सम्भव हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के भी छहों लेश्याएँ सम्भव हैं। अर्हन्त-परमेष्ठी के भी योग होने के कारण शुक्ल-लेश्या होती है। अयोग-केवली, कषाय एवं योग से सम्पूर्णतया रहित होने के कारण लेश्या-रहित होते हैं। मुक्त जीवों के लेश्या नहीं होती हैं। लेश्या के दो भेद भी कहे जाते हैं— द्रव्य लेश्या तथा भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या का सम्बन्ध शरीर के वर्ण से है,

वह यहाँ प्रासंगिक नहीं है। भाव लेश्या का सम्बन्ध जीव के परिणामों से है। इसी का यहाँ प्रसंग है। अयोग-केवली के अलावा कोई भी संसारी जीव लेश्या-भाव से रहित नहीं होता है।

5. पारिणामिक-भाव— आत्मा के जो परिणाम कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा न रखते हुए स्वभाव से होते हैं, उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(अ) जीवत्व भाव— चैतन्य परिणाम को जीवत्व भाव कहते हैं। सुख-दुःख का ज्ञान, हित का उद्यम और अहित का भय, ये चैतन्य के विशेष हैं। सभी संसारी एवं मुक्त जीवों में यह भाव पाया जाता है।

(आ) भव्यत्व भाव— जिसमें सम्यग्दर्शनादि भाव प्रकट होने की योग्यता है, वह भव्यत्व भाव कहलाता है।

(इ) अभव्यत्व भाव— जो भविष्य काल में कभी भी सम्यग्दर्शनादि भाव-रूप परिणाम नहीं करेंगे अर्थात् जिनमें इनको व्यक्त करने की शक्ति का अभाव है, वे अभव्यत्व-भाव युक्त जीव हैं।

भव्यत्व-भाव-युक्त जीव तीन प्रकार के होते हैं —

(1) आसन्न अथवा निकट-भव्य— जो जीव शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। वे आसन्न या निकट भव्य जीव हैं।

(2) दूर-भव्य— जो जीव आगे कभी मोक्ष प्राप्त करेंगे। वे दूर-भव्य जीव हैं।

(3) अभव्य-सम भव्य (दूरानुदूर भव्य)— जिन जीवों में शक्ति रूप से तो मोक्ष प्राप्ति सम्भव होती है, अतः जो भव्य तो हैं, परन्तु उसकी व्यक्ति कभी नहीं हो पाने के कारण अभव्य-सम भव्य हैं।

ये तीनों प्रकार के पारिणामिक भाव वाले जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं। इनसे रहित कोई भी जीव नहीं होता। प्रत्येक जीव में जीवत्व भाव तो होता ही है। शेष दो भावों में से एक भाव होता है अर्थात् प्रत्येक जीव में या तो भव्यत्व भाव पाया जाता है या अभव्यत्व भाव पाया जाता है। मुक्त जीवों में मात्र जीवत्व-भाव पाया जाता है। सभी अभव्य जीवों में मात्र प्रथम मिथ्यात्व-गुणस्थान ही होता है।

जीव के उपर्युक्त भावों के सम्बन्ध में निम्न बातों का ज्ञान भी आवश्यक है—

(1) तत्त्वार्थ सूत्र 2/5 के अन्त में जो 'च' शब्द दिया है, उसमें संज्ञित्व- भाव, सम्यग्मिथ्यात्व भाव तथा योग आदि को गर्भित मानना चाहिए अर्थात् ये भी क्षायोपशमिक-भाव हैं।

(2) तत्त्वार्थ सूत्र 2/7 के अन्त में जो 'च' शब्द दिया है, उसमें अस्तित्व, वस्तुत्व, कर्तृत्व आदि का भी अन्तर्भाव मानना चाहिए अर्थात् ये भी पारिणामिक-भाव हैं।

(3) संख्या की अपेक्षा सब-से-कम संख्या औपशमिक भाव वाले जीवों की है। ये

पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनसे क्षायिक भाव वाले संसारी जीव बहुत अधिक हैं तथा सिद्धों की अपेक्षा अनन्त हैं। क्षायोपशमिक भाव वाले जीव, क्षायिक भाव वालों से आवलि के असंख्यातवें भाग गुणकार अधिक हैं अर्थात् अनन्त हैं। औदयिक भाव वाले जीव इनसे भी अधिक हैं, जो अनन्त हैं तथा पारिणामिक भाव वाले जीव अनन्तानन्त हैं अर्थात् सूत्र में भावों का क्रम, संख्या की अपेक्षा भी बिल्कुल उचित है।

(4) गुणस्थान की अपेक्षा, औपशमिक भाव-4 से 11 तक, क्षायिक भाव-4 से सिद्ध तक, क्षायोपशमिक भाव-1 से 12 तक, औदयिक भाव -1 से 14 तक तथा पारिणामिक भाव-1 से सिद्ध जीव तक पाये जाते हैं।

(5) उपर्युक्त पाँच भावों में से औदयिक-भाव बन्ध करने वाले हैं, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिक भाव, बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं⁹। परन्तु सभी औदयिक-भाव बन्ध में कारण नहीं हैं। औदयिक भावों के 21 भेदों में से, चार गति, अज्ञान तथा असिद्धत्व भाव को छोड़कर, शेष 15 भाव बन्ध में कारण हैं।

(6) उपर्युक्त पाँचों भाव जीवों में पाये जाते हैं। अन्य द्रव्यों की अपेक्षा, पुद्गल द्रव्यों में औदयिक तथा पारिणामिक-भाव तथा अन्य चार द्रव्यों में (धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल द्रव्य) केवल पारिणामिक-भाव पाये जाते हैं।¹⁰

(7) क्षायिक भावों में, क्षायिक-सम्यक्त्व-भाव वाला जीव उसी भव में भी मोक्ष जा सकता है और अधिक से अधिक चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता है। शेष क्षायिक-भाव-वाले जीव उसी भव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(8) औदयिक भावों में, असिद्धत्व भाव तो प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों के उदय की अपेक्षा से है। 11 तथा 12वें गुणस्थान में मोहनीय की छोड़कर शेष सात कर्मों की अपेक्षा से तथा तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्मों के उदय से असिद्धत्व भाव होता है।

(9) सिद्ध परमेष्ठी में 9 क्षायिक भाव तथा एक जीवत्व पारिणामिक-भाव होता है। संक्षेप से सिद्ध जीवों में क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक चारित्र, क्षायिक वीर्य = ये पाँच क्षायिक भाव तथा जीवत्व पारिणामिक-भाव होता है।¹¹

(10) भव्यत्व पारिणामिक भाव का, चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नाश हो जाता है। अतः सिद्ध परमेष्ठी के भव्यत्व-भाव नहीं होता।

(11) वर्तमान पंचम काल में किसी भी जीव के पाँचों भाव सम्भव नहीं हैं, क्योंकि इस काल में क्षायिक भावों का अभाव है। वर्तमान में हम-सभी मनुष्यों के क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक, ये तीन भाव तो निरन्तर प्रति-समय रहते हैं। कदाचित् उपशम सम्यक्त्व के प्राप्ति काल में चार भाव भी एक-समय में सम्भव हैं।

(12) यदि कोई क्षायिक सम्यक्त्वी जीव, उपशम श्रेणी आरोहण करे, तो 8वें से 11वें

गुणस्थान तक के काल में उसके पाँचों भाव एक-साथ पाये जाते हैं, अन्य दशाओं में नहीं पाये जाते।

सन्दर्भ—

1. भावः चित्परिणामः। गोम्पटसार जीवकांड (जी. प्र.) गाथा 165
2. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपरिणामिकौ च।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ. 2/1
3. द्वि-नवाष्टादशैक-विंशति-त्रि भेदा यथाक्रमम्। —तत्त्वार्थसूत्र 2/2
4. सम्यक्त्वचारित्रे। —तत्त्वार्थ सूत्र 2/3
5. ज्ञान-दर्शन-दान-त्ताभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च। —तत्त्वार्थसूत्र 2/4
6. ज्ञानाज्ञान-दर्शन लब्धयस्त्वतुस्त्रि-पंच-भेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।
—तत्त्वार्थसूत्र 2/5
7. गति कषाय लिङ्ग मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुस्त्वतुस्त्रैकैकैकषट्भेदाः।
—तत्त्वार्थसूत्र 2/6
8. जीव भव्याभव्यत्वादि च। —तत्त्वार्थ सूत्र 2/7
9. ओदइया बंधभरा, उवसमखय मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणिमिओ, करणोभय वज्जिओ होहि ॥ —धवला 7/9
10. भावाः पंचापि जीवस्य, द्वावन्यौ पुद्गलस्य च।
धर्मादीनां तु शेषाणां, स्याद्भावः पारिणामिकः ॥ —ज्ञानार्णव 6/40
11. गोम्पटसार, कर्मकांड, गाथा 821

जीव और कर्म सम्बन्ध

नीरज जैन

ऊर्ध्व-मध्य और पाताल, इन तीन लोकों की सीमा में यह जगत छह द्रव्यों से बना है।

जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश और काल, इन छहों द्रव्यों का समुदाय ही जगत, लोक या संसार कहा गया है।

लोक स्व-निर्मित और स्व-प्रतिष्ठित है। किसी के द्वारा रचित या किसी के आधार पर टिका हुआ नहीं है, अन्य कोई इसका कर्ता-धर्ता या संहारक नहीं है।

लोक सदा से विद्यमान है, अनादि और अ-निधन है, इसका आदि नहीं है और अन्त भी नहीं।

न तो यह लोक कभी उत्पन्न किया गया और न ही कभी कोई इसका विनाश कर सकेगा।

स्वाधीन और निर्निमित्तक परिणमन द्रव्य का स्वभाव है। इस नैसर्गिक नियम के कारण लोक के घटक ये छहों द्रव्य शुद्ध और स्वाधीन परिणमन करते हैं। यह द्रव्य का स्व-प्रत्यय स्वभाव है।

इन छह द्रव्यों में धर्म-अधर्म-आकाश और काल ये चारों अमूर्तिक और निष्क्रिय द्रव्य हैं।

इन्द्रियों के माध्यम से इन अमूर्तिक द्रव्यों को जानना, देख पाना, सूँघ पाना और छूना भी सम्भव नहीं होता। तीनों लोकों में ठसाठस भरे होने के कारण इन द्रव्यों में हलन-चलन और स्थानान्तरण आदि क्रियाएँ भी नहीं होतीं। ये चारों द्रव्य सदा शुद्ध हैं, कभी विकारी नहीं होते।

जीव द्रव्य के संसारी और मुक्त ये दो भेद हैं। मुक्त जीव वे हैं, जो संसार-सागर से पार हो गये हैं, उन्हें कभी लौट कर संसार में देह धारण करने नहीं आना है। शुद्ध जीव फिर कभी अशुद्ध नहीं होंगे।

शेष दो द्रव्य, चेतन संसारी जीवद्रव्य और अचेतन पुद्गलद्रव्य मूर्तिक द्रव्य हैं।

अशुद्ध जीव अनादिकाल से अशुद्ध हैं। उनमें स्व-पर-प्रत्यय परिणमन यानी जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों का मिला जुला परिणमन होता रहता है। वे अनिश्चित काल तक

संसार में रूतते रहें या संयम का निमित्त मिलने पर मोक्षमार्ग में प्रगति करके संसार को पार कर लें, परन्तु अशुद्ध जीव यदि अभव्य नहीं है तो, कारण पाकर अशुद्ध से शुद्ध हो सकता है। शुद्ध जीव फिर कभी अशुद्ध नहीं होगा।

जीव में अनन्त शक्तियाँ हैं। उसमें स्व-पर विज्ञान, स्व की तथा पर को जानने की सामर्थ्य या चेतना गुण नाम की स्व-पर प्रकाशक ऐसी विलक्षण शक्ति है, जो अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं होती।

पुद्गल द्रव्य में भी शक्तियाँ तो अनन्त हैं, परन्तु स्व और पर को जानने की सामर्थ्य या चेतना गुण नामकी विलक्षण शक्ति जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों में नहीं होती, पुद्गल में भी नहीं होती।

पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार विशेष गुण हैं, जो अन्य पाँच द्रव्यों में नहीं होते।

इस प्रकार जीव और पुद्गल ही एक-दूसरे के लिए साधक-बाधक, सुखी-दुःखी, हलन-चलन, जीवन-मरण तथा स्थिरता-भंगुरता आदि परिणमन रूप क्रियाओं में परस्पर निमित्त कारण बनते रहते हैं। सारांश यह कि षट्द्रव्यमयी शाश्वत लोक में जीव और पुद्गल यही दो सक्रिय द्रव्य हैं। इनके सारे परिणमन परस्पर सहयोग से ही होते हैं। इनका परिणमन सहकारी निमित्त के बिना नहीं होता, क्योंकि अशुद्ध द्रव्य में वैसा हो नहीं सकता।

कारण पाकर जीव और पुद्गल में अपने आकार में संकोच-विस्तार करने की और स्थूलता तथा सूक्ष्मता रूप परिणमित होने की विशेष शक्ति होती है, जो अन्य चार द्रव्यों में नहीं होती।

ये दोनों द्रव्य ही मूर्तिक हैं। जीव द्रव्य मूलतः तो अमूर्तिक है, परन्तु अपनी विकारी दशा में देह में देही रूप में देखा पहचाना जाता है, इस अपेक्षा से उसे कथंचित् मूर्तिक कहा गया है। पुद्गल द्रव्य अपने स्पर्श-रूप-रस और गन्ध गुणों के कारण स्पष्टतः मूर्तिक ही है।

जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य अपने कारणों से या एक-दूसरे के संग-दोष से, अपनी परिस्थिति या अपनी पर्याय से, अगली पर्याय की ओर संसरण करते हैं, सरकते रहते हैं। इसी कारण इनके सम्मिलित या एकल अभिनय का नाम संसार है। भव-भ्रमण भी इसी जगत-लीला का नाम है।

इन द्रव्यों के उपर्युक्त सम्मिलित परिणमन में प्रसंगानुसार, या कथनकार के अभिप्राय के अनुसार, मुख्य को उपादान तथा सहकारी को निमित्त कहा जाता है। किसे निमित्त कहा जाये, और किसे उपादान का श्रेय दिया जाये, अथवा किसे मुख्यता दी जाये और किसे गौण किया जाये, इसका निर्णय अधिकांशतः वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर होता है। सिद्धान्त शास्त्रों में इस निमित्त-उपादान कथन अथवा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की

विस्तृत विवेचनाएँ की गई हैं।

सभी संसारी जीवों में अनादि काल से लेकर भव-भ्रमण से मुक्त होने तक आहार-भय-मैथुन और परिग्रह, ये चार संज्ञाएँ पाई जाती हैं। ये संज्ञाएँ जीव की चेतना को दूषित करके उसमें अन्य जीवों तथा पर-पदार्थों के प्रति उत्सुकता और आकर्षण उत्पन्न करती हैं, उदयागत क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों से प्रेरित प्राणी हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह आदि पापों में संलग्न होकर सदैव कर्मबन्ध करता रहता है।

बन्ध के साथ जीव और कर्म पुद्गल वर्गणाएँ मिलकर एकाकार हो जाते हैं। उनके बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। दोनों बन्ध की अवधि भर एकसाथ, एक क्षेत्रावगाही होकर रहते हैं। अवधि पूरी होने पर बन्ध का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तब वे कर्म वर्गणाएँ जीव से अलग होकर एक-क्षेत्रावगाही भी रह सकती हैं और पृथक् भी हो सकती हैं। समय आने पर योग्यतानुसार उसी जीव के साथ या अन्य जीव के साथ बँध जाती हैं।

कर्मबन्ध और कर्मफल संयोगों की मध्यावधि में भी जीव और कर्म पुद्गलों के बीच खींचतान होती रह सकती है। जितना और जैसा बाँधा था उतना और वैसा ही कर्म प्रायः उदय में नहीं आ पाता, इस मध्यावधि में वृद्ध कर्मों में अनिश्चित घट-वृद्ध हो सकती है या होती रहती है।

चेतन जीवद्रव्य के, और अचेतन पुद्गलद्रव्य के कर्म वर्गणाओं के, परस्पर बँधकर एक हो जाने, अवधि पूरी होने पर कर्म के उदय में आने और फल देकर पृथक् हो जाने की, संक्षेप में यही व्याख्या है। यों तो इन दोनों के बीच एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध भी होता ही है पर वह कर्मबन्ध का नियामक सम्बन्ध नहीं है। जीव और पुद्गल कर्मों के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो प्रमुख और कार्यकारी होता है।

विद्वान् पं. माणिकचन्दजी कौन्देय ने इस विषय में समन्तभद्र स्वामी के वचनों के अनुसार कार्य की निष्पन्नता में एक कारण की नहीं, वरन् कारण समुदाय या सामग्री की अनिवार्यता पर बल दिया है। समन्तभद्र स्वामी के अनुसार कार्य के होने में उपादान के साथ निमित्त का होना मात्र पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका सहकारी होना आवश्यक है। उन्होंने यह भी बताया है कि जीव के ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नों की उत्पत्ति में समवायि कारण, असमवायि कारण, निमित्त कारण आदि अनेक कारण अपना योगदान करते हैं। तब कहीं कार्य की सिद्धि होती है। न्यायाचार्य जी के साथ चर्चा के दौरान अनेक निमित्त कारणों की चर्चा आती रहती थी, उनमें से कुछ मेरी डायरी पर भी स्थान पाते रहे, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत करना मुझे रुचिकर है—

1. उपादान कारण, 2. निमित्त कारण, 3. उदासीन कारण, 4. प्रेरक कारण, 5. समर्थतम कारण, 6. अवलम्बन कारण, 7. सहकारी कारण, 8. शक्त्याधान कारण, 9. व्यञ्जक कारण, 10. कारक कारण, 11. समवायि कारण, 12. असमवायि कारण,

13. स्वतन्त्र कारण, 14. अवलम्बकारण, 15. अधिपति कारण, 16. अधिकरण कारण, 17. सहभावी कारण, 18. क्रमभावी कारण, 19. कार्यदेशस्थित कारण, 20. अन्यदेशस्थित कारण।

इसी प्रकार इनके सम्बन्ध भी सूचित किए गये हैं—

1. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, 2. आधार-आधेय सम्बन्ध, 3. एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध, 4. विषय-विषयी सम्बन्ध, 5. वाच्य-वाचक सम्बन्ध, 6. ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध, 7. बहिर्व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, 8. अन्तर्व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध।

हेतु के भी तीन भेद कहे गए हैं—

1. कारक हेतु, 2. ज्ञापक हेतु, 3. व्यञ्जक हेतु।

निमित्त अभावात्मक भी हो सकते हैं—

ऊपर वे कुछ कारण गिनाये गए हैं, जो अपने सद्भाव द्वारा कार्य की निष्पन्नता में सहायक हो सकते हैं। जैन न्याय के अनुसार इन सद्भावात्मक कारणों के अलावा अनेक ऐसे भी कारण हैं, जिनका अभाव कार्य को उत्पन्न करने और बनाए रखने में निमित्त बनता है। ये अभावात्मक कारण हैं—

किसी भी द्रव्य की, या किसी भी पदार्थ की सुनिश्चित और परिपूर्ण परिभाषा करनी हो तो उसकी वर्तमान पर्याय की व्याख्या करके ही उसका सही परिचय देना सम्भव होता है। उस पदार्थ का यह रूप कब निर्मित हुआ, उसका रूप-रंग कैसा है, उसका रस या स्वाद कैसा है, उसकी गन्ध कैसी है और उसका स्पर्श ठण्डा है या गर्म, रूखा है या चिकना, हल्का है या भारी तथा कोमल है या कठोर, ये कुछ बातें तो उसके परिचय में बतायी जाएँगी। यही तो वस्तु-स्वरूप की परिभाषा होगी, किन्तु वस्तु की समग्र परिभाषा यहाँ समाप्त नहीं होती। सारे विवरण बताने के बाद भी वस्तु के सम्बन्ध में बहुत-कुछ अनकहा रह जाता है, जिस पर विचार किये बिना वस्तु का परिचय पूरा नहीं कहा जा सकता।

परिभाषा की पूर्णता के लिए हमें वस्तु की विद्यमान पर्यायों के साथ उसकी वर्तमान में अविद्यमान पर्यायों की भी विचार में लेना पड़ेगा। सद्भाव की चर्चा के साथ अभाव की चर्चा किए बिना वस्तु-व्याख्यान पूरा नहीं होता। जैन आचार्यों ने उन सारे अभावों को मुख्यतः प्राग् अभाव, प्रध्वंस अभाव, अन्योन्य अभाव और अत्यन्त अभाव, इन चार अभावों में वर्गीकृत किया है। आगम में इनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

1. प्राग् अभाव — वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में जो अभाव है, वह प्राग्भाव है। जैसे — दही का दूध में अभाव या छाछ का दही में अभाव।

2. प्रध्वंस अभाव—वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है। जैसे — दूध का दही में अभाव या दही का छाछ में अभाव।

3. अन्योन्य अभाव — द्रव्य की एक वर्तमान पर्याय में उसी द्रव्य की विगत और

अनागत सभी पर्यायों के अभाव को अन्योन्याभाव कहा गया है, अर्थात् वर्तमान पर्याय में उसी द्रव्य की अन्य-अन्य वर्तमान पर्यायों का अभाव ही अन्योन्याभाव है। उदाहरण के लिए दही में घास-भूसा-खली तथा घी-मिट्टी-पत्थर-लकड़ी आदि पुद्गल द्रव्य की अन्य-अन्य पर्यायों का अभाव अन्योन्याभाव है।

4. अत्यन्त अभाव—अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में अभाव ही अत्यन्ताभाव है, या एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे पुद्गल द्रव्य की दूध-दही आदि पर्यायों में अन्य द्रव्यों के चेतनत्व-अमूर्तित्व तथा गतिहेतुत्व आदि गुणों और पर्यायों का अभाव अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहा जाता है।

परिणमन छहों द्रव्यों का स्वभाव है। इस परिणमन में दूसरे द्रव्य से किसी प्रकार के सक्रिय सहयोग की अपेक्षा या आवश्यकता नहीं होती। यही छहों द्रव्यों के शुद्ध परिणमन का नियम है; परन्तु जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यों का अशुद्ध परिणमन भी तो होता है, उनका नियम अलग है। इन दोनों द्रव्यों की अशुद्ध पर्यायों से ही संसार बना है। जगत में जितने भी चेतन और जड़ पदार्थ नाना रूपों में दिखाई देते हैं या अनुभव में आते हैं, वह सब जीव और पुद्गल की अशुद्ध पर्यायों की लीला है। संसार में संसरण करते हुए ये दोनों द्रव्य अशुद्ध दशा में ही हैं। यथार्थ यही है कि यह सारा जगत जीव और पुद्गल के निमित्त से निर्मित है। यहाँ ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए निमित्त और उपादान बनते रहते हैं और उसी बल पर यह सृष्टि चलती है। यहाँ कभी भी, कुछ भी, निमित्त के बिना न तो घटित होता है, न घटित हुआ है, और न कभी घटित हो सकता है।

कर्मवर्गणा रूपी पुद्गल द्रव्य जीव के साथ बँधकर या मिलकर एकमेक होता रहता है। अपनी स्वनिर्धारित अवधि पूर्ण करके हर कर्मपुंज उदयरूप परिणमित होता है और अपना फल देकर जीव के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वतः समाप्त हो जाता है। कर्म के बन्ध और उदय का चक्र जीव की चेतना की ऐसे माया जाल में गाँस कर रखता कि उसके प्रभाव में जीव अपनी शक्ति भूलकर विवश हुआ संसार में भटकता रहता है।

वास्तव में पुद्गल के प्रभाव में मदान्ध होकर जन्म-मरण करते रहना ही जीव की कायरता है। अपनी शक्ति भुलाकर, स्वयं अहितकर मार्ग पर भटकते रहना ही उसके भव-भ्रमण का कारण है। इस भ्रम का निवारण करने की शक्ति भी जीव में है; क्योंकि अपनी इस आन्तरिक सृष्टि का निर्माता ब्रह्मा स्वयं ही है। अवागमन के इस चक्र को अटल मानकर इसका पालनहार विष्णु भी जीव स्वयं ही है। अपने निज स्वरूप की पहचान कर इस स्व-रचित मिथ्या-सृष्टि का संहार करने की शक्ति भी उसके भीतर है, इसलिये आत्मज्ञान और आत्मध्यान का निमित्त जुटाकर, इस स्वरचित आन्तरिक सृष्टि का संहारक शंकर बनकर, अपने लिए जीव को स्वयं यह पुरुषार्थ करना होगा। मेरे लिए यह

करने वाला जगत में कोई नहीं है।

संसार परिपाटी को छोड़कर उससे बाहर निकलना कोई अशक्य-अनुष्ठान नहीं है। अनुकूल निमित्त जुटाकर अनन्त प्राणी इस अपार-पारावार को पार करके लोकाग्र में विराजमान हो चुके हैं, आज भी हो रहे हैं, उनका उदाहरण मेरे सामने है। उनका अनुसरण करने पर उन निमित्तों के सहकार से मुझे भी मेरा गन्तव्य प्राप्त होगा। मैं अनन्त शक्तिशाली, ज्ञानपुंज, चेतन आत्मा हूँ और अपनी भूलवश जड़ पुद्गल से प्रभावित हुआ लोक में भटक रहा हूँ। पुद्गल के प्रभाव से मुक्त होना ही मेरी मुक्ति है।

कर्म सिद्धान्त, गुणस्थान एवं लेश्या

राकेश जैन शास्त्री

कर्म सिद्धान्त समझने के लिए प्रथम हमें कर्म शब्द से ही परिचित हो जाना चाहिए। कर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे कृत्य, कार्यसम्पादन, व्यवसाय, धार्मिककृत्य, कृत का फल आदि। षट्कारक प्रक्रिया में कर्ता कारक के उपरान्त कर्म कारक, जिसका अर्थ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' अर्थात् जो कर्ता का पसन्द किया हुआ कार्य है, वह कर्म है। जैसे जीव का ज्ञान, दर्शन आदि रूप सहज कर्म, पुद्गल का स्पर्श, रस आदि रूप सहज कर्म या परिणमन या कार्य।

व्याकरण के ज्ञाताओं में कर्म का यह अर्थ बहु-प्रचलित है और तत्त्वज्ञानियों को यह कर्म का स्वरूप हमारे सहज स्वभाव का प्रसिद्ध करने वाला होने से पसन्द आता है।

अन्य अर्थ जो जगज्जन में कर्म बन्धन रूप में प्रसिद्ध है। सभी आत्मवादी, ईश्वरवादी दर्शन इस विषय में यही मान्यता प्रसिद्ध करते हैं कि "जो जस करहिं सो तसु फल चाखा" अर्थात् प्राणी जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। वास्तव में कर्म का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव मन-वचन-काय के द्वारा कुछ-न-कुछ करता है, यह सब उसकी क्रिया या कर्म है, और मन-वचन-काय ये तीन उसके द्वार हैं। इसे जीव-कर्म या भावकर्म कहते हैं। यहाँ तक तो सभी स्वीकार करते हैं।

परन्तु इस भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गलस्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं, और उसके साथ बँधते हैं। यह बात केवल जैनागम ही बताता है। ये सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और सूक्ष्म रूप-रसादि के धारक मूर्तिक होते हैं। जैसे-जैसे कर्म (भाव) जीव करता है वैसे ही स्वभाव को लेकर ये द्रव्य कर्म (पुद्गल) उसके साथ बँधते हैं और कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय (फल) में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही उनका फलदान कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण वे हमें दृष्टिगोचर नहीं हैं, पर अनुभवगोचर हैं।

परलोक मानने वाले दार्शनिकों का मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म अपना संस्कार छोड़ जाता है; क्योंकि हमारे प्रत्येक कर्म या प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति या कर्म क्षणिक होता है, तथापि उसका संस्कार फल-काल तक स्थायी रहता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आती है, इसी का नाम संसार है।

किन्तु जैनदर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में इससे भिन्न है। जैनदर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है, किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है। जो रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मिल जाता है। यद्यपि यह पदार्थ भौतिक है तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया से आकृष्ट होकर वह जीव के साथ बँधता है इसलिए उसे कर्म कहते हैं। वह आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है।

विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि पुद्गल द्रव्य मुख्य रूप से पाँच वर्गणाओं (समान गुण वाले परमाणु पिण्ड को वर्गणा कहते हैं) में विभक्त हैं — (1) आहारवर्गणा (2) भाषा वर्गणा (3) मनोवर्गणा (4) तैजस वर्गणा, और (5) कार्माणवर्गणा। जो इस संसार में सूक्ष्म स्कन्धों के रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जीव के मन-वचन-काय के माध्यम से, राग-द्वेष रूप कार्यों के निमित्त से यह कार्माण वर्गणा ही कर्मरूप परिणमित हो जाती है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'प्रवचनसार' में लिखा है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।

तो पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ 187 ॥

जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे प्रतीत शुभ और बुरे प्रतीत अशुभ कर्मों में लगता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरण आदि रूप से उसमें प्रवेश करता है।

इस प्रकार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीव के साथ बँध जाता है।

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में उस मूर्त कर्मबन्ध की परम्परा को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

जो खलु संसारत्थो जीवो ततो दु होदि परिणामो।

परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥ 136 ॥

गदिमधिगदस्स देही देहादो ईदियाणि जायंते।

तेहिं दु विषयगगहणं ततो रागो व दोसो वा ॥ 137 ॥

जायदि जीवस्सेदं भावो संसारचक्कवाल्मि।

इदि जिणवेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥ 138 ॥

अर्थात् जो जीव संसार में स्थित है, यानी जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है उसके रागरूप और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बँधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ

कर्म सिद्धान्त, गुणस्थान एवं लेश्या :: 279

होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है। विषयों को ग्रहण करने से यह जीव इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष करता है। इस प्रकार संसारचक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते हैं। यह चक्र अभव्य-जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य-जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है; ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

इससे स्पष्ट है कि संसारी जीव अनादिकाल से मूर्तिक जड़ कर्मों से बँधा हुआ है, इसलिए एक तरह से वह मूर्तिक ही हो रहा है, जैसा कि कहा है—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्टणिच्चया जीवे।

णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधा दो॥७॥

— सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र, 'द्रव्य संग्रह'

अर्थात् वास्तव में जीव में पाँचों रूप, पाँचों रस, दोनों गन्ध, आठों स्पर्श नहीं रहते, इसलिए वह अमूर्तिक है, क्योंकि जैन दर्शन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण वाली वस्तु को ही मूर्तिक कहा है। किन्तु कर्मबन्ध के कारण व्यवहार में जीव मूर्तिक है। अतः ऐसे कथंचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मद्रव्य का सम्बन्ध होता है।

सारांश यह है कि कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीव से सम्बद्ध कर्म पुद्गलों को द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्म के उदय में अज्ञान से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूप भावों को भावकर्म कहते हैं। बिना भावकर्म के न तो द्रव्यकर्म होते हैं और न ही द्रव्यकर्मों के बिना भावकर्म होते हैं।

'पंचास्तिकाय संग्रह' में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

यह लोक सभी ओर से बादर, सूक्ष्म आदि विविध प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलों से ठसाठस भरा है। इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—कि कर्मयोग्य पुद्गल सर्वलोकव्यापी होने से जहाँ आत्मा है, वहाँ पहले से ही विद्यमान रहते हैं। संसारी आत्मा अपने स्वाभाविक चैतन्य स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए ही अनादि बन्धन से बद्ध होने से मोह-राग-द्वेष भाव रूप परिणामन करता है, उन भावों को निमित्त करके पुद्गल स्वभाव से ही कर्मपने को प्राप्त होकर जीव के प्रदेशों में बद्ध हो जाते हैं। जैसे बिना किसी के किये ही पुद्गलों के इन्द्रधनुष, मेघादि रूप स्कन्ध बन जाते हैं, वैसे ही अपने योग्य जीव के परिणामों का निमित्त मिलते ही ज्ञानावरण आदि कर्म भी उत्पन्न हो जाते हैं।

संसार में जो विविधता देखी जाती है—कोई गरीब है, कोई अमीर है, कोई सुखी जैसा है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई अज्ञानी है, यह विषमता न तो अहेतुक है और न ही इसका कारण केवल लोक-व्यवस्था आदि है। इसमें कारण प्रत्येक जीव का अपना शुभाशुभ कर्म ही है।

कर्म का फल जीव को कैसे प्राप्त होता है?... क्या अन्य कोई नियन्ता या ईश्वर

या वे कर्म ही स्वयं फल देने की सामर्थ्य रखते हैं। इस विषय पर विचार करते हैं—

ईश्वर को जगत का नियन्ता मानने वाले वैदिक दर्शन जीव को कर्म करने में तो स्वतन्त्र किन्तु उसका फल भोगने में परतन्त्र मानते हैं। उनके मत से कर्म का फल ईश्वर देता है, और वह प्राणियों के अच्छे या बुरे कर्म के अनुरूप ही अच्छा या बुरा फल देता है किन्तु जैनदर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं देता है। इसके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। जैसे शराब पीने से नशा होता है और दूध पीने से पुष्टि होती है। शराब या दूध पीने के बाद उसका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिमान नियामक की आवश्यकता नहीं होती। उसी तरह जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्म-परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बँध जाते हैं, उन कर्म परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह अशुभ या शुभ प्रभाव डालने की शक्ति रहती है, जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है। उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो दुःखदायक या सुखदायक प्रतीत होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव शुभ होते हैं, तो बँधने वाले परमाणु पुण्य रूप होते हैं और उनका फल अच्छा प्रतीत होता है तथा यदि भाव बुरे, अशुभ होते हैं, तो बँधने वाले परमाणु पाप रूप होते हैं। कालान्तर में उनका फल भी बुरा या पाप रूप प्रतीत होता है।

जैनदर्शन में कर्म से मतलब जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ जीव की ओर आकृष्ट होने वाले कर्म-परमाणुओं से है। वे कर्म-परमाणु जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ जिसे जैनदर्शन में योग के नाम से कहा गया है, जीव की ओर आकृष्ट होते हैं और आत्मा के राग-द्वेष-मोह आदि भावों का, जिन्हें कषाय नाम से अभिहित किया गया है, निमित्त पाकर जीव से बँध जाते हैं। इस तरह कर्म परमाणुओं को जीव तक लाने का काम जीव की योग-शक्ति करती है। सारांश यह है कि जीव की योगशक्ति और कषाय ही बन्ध का कारण हैं। कषाय के नष्ट हो जाने पर योग के रहने तक जीव में कर्म परमाणुओं का आस्रव/आगमन तो होता है, किन्तु कषाय के न होने के कारण वे उहर नहीं सकते। उदाहरण के लिए योग को वायु की, कषाय को गोंद की, जीव को एक दीवार की, और कर्मपरमाणुओं को धूल की उपमा देकर समझ सकते हैं। यदि दीवार पर गोंद लगा हो, तो वायु के साथ उड़कर आने वाली धूल दीवार से चिपक जाती है, किन्तु यदि दीवार साफ चिकनी और सूखी होती है, तो धूल दीवार पर न चिपक कर तुरन्त झड़ जाती है।

यहाँ धूल का कम या ज्यादा परिमाण में उड़कर आना वायु के वेग पर निर्भर है। यदि वायु तेज होती है, तो धूल भी ज्यादा उड़ती है और यदि वायु धीमी होती है, तो धूल भी कम उड़ती है तथा दीवार पर धूल का थोड़े या अधिक दिनों तक

चिपके रहना उस पर लगी गोंद आदि गीली वस्तुओं की चिपकाहट की कमी-अधिकता पर निर्भर है। यदि दीवार पर पानी पड़ा हो, तो उसपर लगी हुई धूल जल्दी झड़ जाती है। यदि किसी पेड़ का दूध लगा हो, तो कुछ देर में झड़ती है और यदि कोई गोंद लगी हो, तो बहुत दिनों में झड़ती है। सारांश यह है कि चिपकाने वाली चीज का असर दूर होते ही चिपकाने वाली चीज स्वयं झड़ जाती है। यही बात योग और कषाय के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। योगशक्ति जिस दर्जे की होती है, आने वाले कर्मपरमाणुओं की संख्या भी उसी के अनुसार कम या अधिक होती है। यदि योग उत्कृष्ट होता है, तो कर्मपरमाणु भी अधिक मात्रा में जीव की ओर आते हैं। यदि योग जघन्य होता है, तो कर्म परमाणु कम मात्रा में जीव की ओर आते हैं। इसी तरह यदि कषाय (राग-द्वेष-मोह) तीव्र होती है, तो कर्मपरमाणु भी जीव के साथ बहुत समय तक बँधे रहते हैं व तीव्र फल देते हैं। यदि कषाय हल्की होती है, तो कर्म-परमाणु जीव के साथ कम समय के लिए बँधते हैं और फल भी कम देते हैं। यह एक साधारण नियम है, किन्तु उसमें कुछ अपवाद भी हैं।

इस प्रकार योग और कषाय से जीव के साथ कर्म-पुद्गलों का बन्ध होता है। कर्मों में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्या में कमी या अधिकता योग पर निर्भर है तथा उनमें जीव के साथ कम या अधिक काल तक ठहरने की शक्ति और तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति होना कषाय पर निर्भर है। इस तरह प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो योग से होते हैं और स्थितिबन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं।

इनमें से प्रकृति बन्ध के आठ भेद हैं—(1) ज्ञानावरण, (2) दर्शनावरण, (3) वेदनीय, (4) मोहनीय, (5) आयु, (6) नाम, (7) गोत्र, और (8) अन्तराय। (1) ज्ञानावरण नाम का कर्म जीव के ज्ञानगुण के घातने में निमित्त होता है। इसी की वजह से कोई अल्पज्ञानी या कोई विशेषज्ञानी दिखाई देता है। (2) दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शन गुण को घातने में निमित्त होता है। आवरण ढाँकने वाली वस्तु को कहते हैं। ये दोनों कर्म ज्ञान और दर्शन गुण को ढाँकने में निमित्त होते हैं। (3) वेदनीय कर्म सुख-दुःख के वेदन-अनुभवन में निमित्त होता है। (4) मोहनीय कर्म जीव को मोहित होने में निमित्त होता है। इसके दो भेद हैं—एक, जिसके होने पर जीव को अपना भान ही नहीं हो पाता, वह दर्शन मोहनीय और दूसरा, जो सच्चे स्वरूप का भान होने पर भी स्वरूप स्थिर होने में बाधक होता है, वह चारित्र मोहनीय। (5) आयु कर्म—जो अमुक समय तक जीव को किसी एक शरीर में रोके रहने में निमित्त होता है। इसके नष्ट हो जाने पर जीव की मृत्यु हुई, ऐसा कहा जाता है। (6) नाम कर्म—जिसकी निमित्तता में अच्छे या बुरे शरीर के अंग-उपांग वगैरह की रचना होती है। (7) गोत्र कर्म—जिसके निमित्त से जीव उच्च या नीच कुल वाला कहलाता है। (8)

अन्तराय कर्म—जिसके निमित्त से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में या पुरुषार्थ में बाधा पैदा होती है।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय ये चार कर्म तो घाति कर्म कहे जाते हैं; क्योंकि ये चारों जीव के स्वाभाविक गुणों को घातने में निमित्त होते हैं। शेष चार कर्म अधाति कहे जाते हैं, वे जीव के गुणों का घात नहीं किन्तु संयोगों के मिलाने में निमित्त होते हैं।

‘गोम्पटसार कर्मकाण्ड’ में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इन कर्मों की प्रकृति को समझने के लिए उपमाएँ प्रयुक्त की हैं—

ज्ञानावरण कर्म की उपमा पर्दे से दी है। जैसे पर्दे से ढकी चीज का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ज्ञानावरण के उदय में पदार्थों का ज्ञान नहीं हो पाता। दर्शनावरण की उपमा द्वारपाल से दी है। जैसे कोई व्यक्ति राजमहल आदि देखना चाहता है, किन्तु द्वारपाल रोक देता है। वेदनीय की उपमा शहद लपेटी तलवार से दी है, चाटने पर मीठा लगता है, किन्तु जीभ कट जाती है, ऐसा ही सुख-दुःख देना वेदनीय का स्वभाव है। मोहनीय कर्म की उपमा मद्य से दी है जैसे मद्य पीकर मनुष्य अपने होश में नहीं रहता, उसी प्रकार की स्थिति मोह के उदय में संसारी जीव की होती है। आयु कर्म की उपमा पैरों में पड़ी बेड़ी से दी है, जैसे पैर बँध जाने पर मनुष्य एक ही स्थान पर पड़ा रहता है, वैसे ही आयु कर्म जीव को अमुक भव में रोके रहता है, उसके उदय रहते मृत्यु नहीं होती। नामकर्म की उपमा चित्रकार से दी गयी है, जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, वैसे ही नाम कर्म अनेक प्रकार के शरीर आदि की रचना करता है। गोत्रकर्म की उपमा कुम्हार से दी गयी है जैसे कुम्हार छोटे-बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्रकर्म ऊँचा-नीचा या छोटा-बड़ा व्यवहार कराता है। अन्तराय की उपमा भण्डारी से दी गयी है। जैसे राजा तो किसी को कुछ देना चाहता है, किन्तु भण्डारी मना कर देता है, वैसे ही अन्तराय कर्म के उदय में जीव को इच्छित वस्तु का लाभ नहीं होता। देने वाले की इच्छा होने पर भी दे नहीं पाता और लेने वाला ले नहीं पाता। अन्तराय कर्म जीव की अनन्त शक्ति का प्रच्छादक है।

इस प्रकार कर्म के आठ मूल भेद हैं, किन्तु इनकी उत्तर प्रकृतियाँ 148 हैं। जिनका विवरण कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

कर्मों की 10 विविध अवस्थाएँ

जैन सिद्धान्त में कर्मों की मुख्य दस अवस्थाएँ बतलाई गयी हैं, जिन्हें ‘करण’ कहते हैं। उनके नाम हैं—बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरण, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचित।

1. सर्वप्रथम बन्धकरण होता है। जीव के साथ कर्म पुद्गलों के एक क्षेत्रावगाह

रूप सम्बन्ध को **बन्ध** कहते हैं।

2. बन्ध को प्राप्त कर्म प्रदेशों की स्थिति और अनुभाग को बढ़ाना **उत्कर्षण** है।
3. कर्म प्रदेशों की स्थिति और अनुभाग की हानि को अर्थात् जो पहले बाँधा था, उससे कम करने को **अपकर्षण** कहते हैं।
4. जो प्रकृति पूर्व में बँधी थी, उसका सजातीय अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना **संक्रमण** है।
5. अपक्व पाचन का नाम उदीरणा है अर्थात् अपने नियतकाल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों का फलोन्मुख हो जाना **उदीरणा** है।
6. कर्म बन्ध के पश्चात् फल देने के प्रथम समय तक उसका सत्ता में रहना **सत्त्व** कहलाता है।
7. अपनी सत्ता में विद्यमान कर्म जब अपनी स्थिति को पूरा कर फल देने लगता है, तब उसे कर्मों का **उदय** कहते हैं।
8. आत्मा में कर्मों की निजशक्ति का कारणवश प्रकट न होना **उपशम** है। जैसे फिटकरी डाल देने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है। वैसे ही परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है। यह उपशमकरण केवल मोहनीय कर्म में ही होता है।
9. कर्मों को उदय में आने से तथा अन्य प्रकृति रूप संक्रमण करने में समर्थ न होना हो **निवृत्ति** है।
10. कर्म का उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण का न हो पाना **निकाचित** है।

कर्मों की इन अनेक दशाओं के साथ-साथ कर्म का स्वामी, कर्मों की स्थिति, कब कौन कर्म बँधता है? किसका उदय होता है, किस कर्म की सत्ता रहती है, किस कर्म का क्षय होता है? इत्यादि विस्तृत वर्णन जानने के लिए 'गोप्पटसार' आदि ग्रन्थ अवलोकनीय हैं।

गुणस्थान

मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के निमित्त से उत्पन्न जीव के अन्तरंग परिणामों की तरतमता अर्थात् प्रतिक्षण होने वाला उतार-चढ़ाव गुणस्थान है। गुणस्थान आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का नाम है। जीव के परिणाम सदा एक से नहीं रहते, उनमें मोह व मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के कारण प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव होता रहता है। इन प्रत्येक अवस्थाओं का बोध गुणस्थान द्वारा होता है। गुणस्थानों से जीव के मोह-निर्मोह, संसार-मोक्ष, बन्ध-अबन्ध दशाओं का परिचय प्राप्त होता है।

यद्यपि जीव स्वयं अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, बल आदि अनन्त गुणों का अधिपति सदैव है, किन्तु मात्र अनादि अज्ञान भाव से अपने स्वभाव से अपरिचित रहा और इस

अपरिचय के कारण कर्मों से सम्पृक्त होता रहा, बँधता रहा है। अनन्त संसार चक्र में दुःखित होता हुआ जीव जब सदुपदेश एवं महाभाग्य की उपस्थिति में सम्यक् पुरुषार्थ से ज्ञानभाव रूप अपने को स्वीकार करता है, तब बन्धमार्ग से बचता है और आनन्द रूप मुक्ति मार्ग को पा जाता है। ऐसा उतार-चढ़ाव होता ही रहता है।

यह उतार-चढ़ाव का क्रम 10वें गुणस्थान तक जारी रहता है तथा दूसरे व ग्यारहवें गुणस्थान से तो केवल अवरोहण/उतार ही होता है, ये जीव के पतनोन्मुख परिणाम हैं। बारहवाँ गुणस्थान आरोहण स्वरूप ही है। अन्ततः जीव 13वें व 14वें गुणस्थान से ऊर्ध्वारोहण करता हुआ मोक्ष-शिखर पर ही पहुँचाता है। इसी को पञ्चसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1/3 में आचार्य देव कहते हैं—

जेहिं दु लखिखजंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि।

जीवा ते गुणसण्णा णिदिदुद्धा सव्वदरिसीहिं ॥

अर्थात् दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने गुणस्थान कहा है।

यों तो परिणामों के उतार चढ़ाव की अपेक्षा आत्मिक विकास के आरोहण-अवरोहण के अनन्त विकल्प सम्भव हैं, फिर भी परिणामों की उत्कृष्टता और जघन्यता की अपेक्षा उन्हें चौदह भूमिकाओं में विभक्त किया गया है, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। जो निम्न हैं—

1. मिथ्यादृष्टि, 2. सासादन सम्यग्दृष्टि, 3. सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र), 4. अविरत सम्यग्दृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि, 5. देशविरत या संयतासंयत, 6. प्रमत्त संयत या प्रमत्तविरत, 7. अप्रमत्त संयत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्म साम्प्राय, 11. उपशान्त मोह, 12. क्षीण मोह या वीतराग छद्मस्थ, 13. सयोग केवली जिन एवं 14. अयोग केवली जिन।

सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थान) के साथ प्रयुक्त असंयत विशेषण अपने से पूर्व के गुणस्थानों में असंयतपना व्यक्त करता है। यह अन्त्यदीपक प्रयोग है। इससे ऊपर के गुणस्थान संयमी जीवों के होते हैं तथा सभी सम्यग्दृष्टि होते हैं।

प्रमत्तविरत (छठवें गुणस्थान) में प्रयुक्त प्रमत्त शब्द अपने साथ अपने से नीचे की प्रमत्त स्थिति को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थान के साथ जुड़ा छद्मस्थ शब्द भी अन्त्यदीपक है; क्योंकि आवरण कर्मों के अभाव हो जाने से उससे आगे की भूमिकाओं में छद्मस्थता नहीं रहती।

गुणस्थानों के उक्त नामों के कारण मोहनीय कर्म और योग हैं। प्रारम्भ के चार गुणस्थानों का सम्बन्ध हमारी दृष्टि (श्रद्धा) से है, जो कि दर्शन मोहनीय कर्म के

कर्म सिद्धान्त, गुणस्थान एवं लेश्या :: 285

निमित्त से होते हैं। पंचम आदि गुणस्थानों का सम्बन्ध जीव के चारित्रिक विकास से है, वे चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान योग-निमित्तक हैं।

गुणस्थानों का स्वरूप इस प्रकार है—

1. मिथ्यात्व—सहज ज्ञानानन्दी शुद्ध आत्म स्वभाव अपना होने पर भी, पता न होने के कारण सुहाता नहीं हैं। यही आत्म-अज्ञानी भाव, पर रुचि-रुझान में इतना तल्लीन होता है कि समझाए जाने पर भी अपने को देहादि रूप ही स्वीकारता है। ज्ञातारूप स्वीकार नहीं पाता। मात्र इतने दोष से ही यह जीव मिथ्यात्वी, अज्ञानी, संसारी, दुःखी और आकुलित रहता है। मिथ्या पद का अर्थ वितथ, व्यलीक, विपरीत और असत्य है। जब तक प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा असत्य होती है, तब तक जीवत्व से बाह्य शरीरादि पदार्थ तथा रागादि बाह्य विकृत परिणाम अपने लगते हैं, तभी तक जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में रहता है। अनादि से आत्म अज्ञान व भ्रम से ऐसी ही दशा प्रत्येक संसारी अज्ञानी को हो रही है। जैसे पित्त ज्वर से ग्रस्त रोगी की हितकारी मधुर औषधि भी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही मिथ्यात्वग्रस्त चित्त में आत्मतत्त्व-पोषक जिनवचन प्रिय नहीं लगते हैं।

ऐसा जीव स्व-पर विवेक रहित होता है अर्थात् स्वानुभूतिपूर्वक विपरीत अभिनिवेश (मान्यता) रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होता तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का भी यथार्थ श्रद्धान नहीं होता।

मिथ्यात्व के दो भेद हैं—अगृहीत और गृहीत। एकेन्द्रियादि सभी संसारी जीवों के प्रवाह रूप से जो अज्ञान-भाव-मय मिथ्या मान्यता चली आ रही है, जिससे जीव को देहादि जड़ पदार्थों में और उनको निमित्त करते हुए रागादिभावों में एकत्वबुद्धि बनी रहती है, वह अगृहीत मिथ्यात्व है और इसके सद्भाव में जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले जीवों द्वारा कल्पित जो अनादि अज्ञान पुष्ट होता है और नयी अन्यथा मान्यताएँ अंगीकार की जाती हैं, वह गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। वह कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की निमित्तता में होता है।

यह मिथ्याभाव पाँच प्रकार भी बतलाया गया है। विपरीत, एकान्त, विनय, संशय एवं अज्ञान रूप मिथ्यापरिणति वाला।

2. सासादन सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शन के विराधन को आसादन कहते हैं, उसके साथ जो भाव होता है, वह सासादन कहलाता है। जिस औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ने अनन्तानुबन्धी कषाय के उदयवश औपशमिक सम्यक्त्व के काल में कम-से-कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलि काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन रूपी रत्नपर्वत के शिखर से च्युत होकर मिथ्यादर्शन रूपी कण्टकाकीर्ण आकुलतारूप भूमि के सन्मुख

होते हुए सम्यग्दर्शन का तो नाश कर दिया है, किन्तु मिथ्यादर्शन को प्राप्त नहीं हुआ है। जीव की इस अवस्था को सासादन गुणस्थान कहते हैं।

सासादन पद के साथ सम्यक्त्व पद का प्रयोग भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा हुआ है। इस का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, काल पूरा होने पर नियम से मिथ्यादृष्टि होता है।

3. मिश्र-(सम्यक्मिथ्यादृष्टि)—जिस गुणस्थान में जीव के सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदयवश समीचीन और मिथ्या उभय रूप श्रद्धा युगपत् होती है, उसकी उस श्रद्धा को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। जिसप्रकार दही और गुड़ के मिलाने पर उनका मिला हुआ परिणाम (स्वाद) युगपत् अनुभव में आता है, उसी प्रकार ऐसी श्रद्धा वाले जीव के समीचीन और मिथ्या उभय रूप श्रद्धा होती है। यहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

इस गुणस्थान से सीधे देशविरत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती तथा यहाँ पर-भव-सम्बन्धी आयु का बन्ध व मरण तथा मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है।

4. अविरत सम्यक्त्व या असंयतसम्यग्दृष्टि—निश्चय सम्यग्दर्शन से सहित और निश्चय व्रत (अणुव्रत और महाव्रत) से रहित अवस्था ही अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थगुणस्थान कहलाता है।

जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धि तथा चतुर्थगुणस्थान के योग्य बाह्य आचार से सम्पन्न होने पर, दर्शन मोहनीय एवं अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क के उपशमादिरूप अभाव के होने पर, स्वपुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख होने पर आत्मानुभूति पूर्वक होती है, अर्थात् यह अपने आत्मा का सच्चा स्वरूप समझता है कि "मैं तो त्रिकाल एकरूप रहने वाला ज्ञायक परमात्मा हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, अन्य ज्ञेय हैं, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अनेक प्रकार के विकारी भाव जो पर्याय में होते हैं, वे भी मेरा स्वरूप नहीं हैं। ज्ञाता स्वभाव की दृष्टि एवं लीनता करते ही वे नाश को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उत्पन्न ही नहीं होते।" इस प्रकार निर्णयपूर्वक दृष्टि स्वसन्मुख होकर निर्विकल्प आनन्दरूप परिणति का साक्षात् अनुभव करती है, तथा निर्विकल्प अनुभव के छूट जाने पर भी मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायों के अभावस्वरूप आत्मा की शुद्ध परिणति निरन्तर बनी रहती है। उस को अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं।

इसके तीन भेद होते हैं—

1. औपशमिक, 2. क्षायोपशमिक, 3. क्षायिक।

इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन में से किसी एक सम्यग्दर्शन के साथ जब तक इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण आदि क्रोध, मान, माया और लोभ के उदयवश अविरतरूप परिणाम बना रहता है, तब तक अविरत सम्यक्त्व नाम का चतुर्थ गुणस्थान रहता है।

कर्म सिद्धान्त, गुणस्थान एवं लेश्या :: 287

अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान से सम्पन्न होने के कारण अभिप्राय की अपेक्षा विषयों के प्रति सहज उदासीन होता है। चरणानुयोग के अनुसार आचरण में इसके पंचेन्द्रियों के विषयों का तथा त्रस-स्थायी जीवों के घात का त्याग नहीं होता। इसलिए इसके बारह प्रकार की अविरति पायी जाती है। भोग भोगते हुए उनमें लिप्त नहीं होता, जल के बीच कमल की तरह निर्लिप्त रहता है। लक्ष्य तथा बोध शुद्ध हो जाने से संयम के पथ पर अग्रसर होने के लिए उत्कण्ठित रहता है।

5. देशविरत या संयतासंयत—चतुर्थ गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा की आंशिक शुद्ध परिणति को स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाता हुआ पंचम गुणस्थान को प्राप्त करता है। इस दशा में आत्मा का निर्विकल्प अनुभव (चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा) शीघ्र-शीघ्र होने लगता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है। आत्मिक शान्ति बढ़ जाने के कारण, पर से उदासीनता बढ़ती जाती है तथा सहज देशविरत के शुभ भाव होते हैं। अतः श्रावक के व्रतों का यथावत् पालन करता है, परन्तु अपनी शुद्ध परिणति विशेष उग्र नहीं होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के सद्भाव बने रहने से भावरूप मुनिपद का अधिकारी नहीं हो सकता है। यह अवस्था ही देशविरत नामक पंचम गुणस्थान है। इसे व्रताव्रत या संयतासंयत गुणस्थान भी कहते हैं; क्योंकि अन्तरंग में निश्चय व्रताव्रत या निश्चय संयमासंयम रूप दशा होती है और बाह्य में एक ही समय में त्रसवध से विरत और स्थावरवध से अविरत रहता है। इस गुणस्थान वाले श्रावक के अणुव्रत नियम से होते हैं। ग्यारह प्रतिमाओं के धारक आत्मज्ञानी क्षुल्लक, ऐलक एवं आर्यिका इसी गुणस्थान में आते हैं।

6. प्रमत्तसंयत—जिस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ने निज द्रव्याश्रित पुरुषार्थ द्वारा पंचम गुणस्थान से अधिक शुद्धि प्राप्त करके निश्चय सकल संयम प्रकट किया है और साथ में कुछ प्रमाद भी वर्तता है, उन्हें प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज कहते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी बारह कषायों का अभाव होने से पूर्ण संयमभाव होने के साथ संज्वलन कषाय और नोकषाय की यथासम्भव तीव्रता रहने से संयम को मलिन करने वाला प्रमाद भी होता है, इसलिए इस गुणस्थान की प्रमत्त संयत संज्ञा सार्थक है।

इस गुणस्थान में मुनिराज महाव्रतों की अपेक्षा सविकल्प अवस्था में ही होते हैं, इसलिए यद्यपि इसमें उपदेश, आहार, निहार, विहार आदि विकल्प होते हैं, तथापि मुनियोग्य आन्तरिक शुद्ध परिणति (निश्चय संयम दशा) निरन्तर बनी रहती है, और उसके अनुरूप 28 मूलगुण व उत्तर गुणों का और शील के सब भेदों का यथावत् पालन भी सहज होता है।

चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों के कारण आचरण किंचित् दूषित बना रहता है, किन्तु छोटे गुणस्थान योग्य निश्चय संयम का

घात नहीं होता।

छठे गुणस्थान में (यथोचित शुद्ध परिणति सहित) सविकल्पता और सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता होती है तथा दोनों का काल अन्तर्मुहूर्त ही होता है। अतः मुनिराज बारम्बार सविकल्प से निर्विकल्प एवं निर्विकल्प से सविकल्प दशा में परिवर्तित होते रहते हैं।

7. अप्रमत्त संयत—जो भावलिङ्गी मुनिराज पूर्वोक्त 15 प्रमादों से रहित हैं, अनन्तानुबन्धी आदि 12 कषायों से रहित तो हैं ही, साथ ही संज्वलन कषायों तथा नोकषायों की तीव्रता न होकर सप्तम गुणस्थान योग्य मन्दता होती है एवं मूलगुण, उत्तरगुणों की सहज निरतिचार परिणति बनी रहती है, इसलिए इनकी अप्रमत्त संज्ञा है। बुद्धिपूर्वक विकल्पों का अभाव होता है। निर्विकल्प आत्मा के अनुभव रूप ध्यान ही वर्तता है। इस गुणस्थान के दो भेद हैं—1. स्वस्थान अप्रमत्तसंयत, 2. सातिशय अप्रमत्तसंयत।

जो संयत क्षपक या उपशम श्रेणी पर आरोहण न कर निरन्तर एक-एक अन्तर्मुहूर्त में अप्रमत्त भाव से प्रमत्त भाव को और प्रमत्त भाव से अप्रमत्त भाव को प्राप्त होते रहते हैं, उनके उस गुण की स्वस्थान अप्रमत्त संज्ञा है।

उपर्युक्त मुनिराज उग्र पुरुषार्थपूर्वक आत्मरमणता विशेष बढ़ जाने पर, श्रेणी आरोहण के समुख होकर अधःप्रवृत्तकरण रूप विशुद्धि को प्राप्त होते हैं, उनके उस गुण की सातिशय अप्रमत्त संज्ञा है।

पंचमकाल में हीन पुरुषार्थ, हीन संहनन इत्यादि के कारण सातिशय अप्रमत्त दशा का पुरुषार्थ इस काल में नहीं हो पाता है।

8. अपूर्वकरण—जिस गुणस्थान में आत्मविशुद्धि की अपूर्वता है अर्थात् पूर्व में इस प्रकार की विशुद्धि का अनुभव नहीं हुआ है। यहाँ प्रत्येक जीव के परिणाम में प्रत्येक समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती जीव के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीव के परिणामों से सदा विसदृश ही होते हैं, अपूर्व ही होते हैं और अभिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हो सकते हैं तथा विसदृश भी होते हैं।

श्रेणी आरोहण के इस प्रारम्भिक गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है।

9. अनिवृत्तिकरण—आत्मस्थिरता की प्रतिसमय विशुद्धता बढ़ती होती है, फलतः समसमयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश एवं भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं। इस गुणस्थान में संज्वलन चतुष्क के उदय की मन्दता के कारण निर्मल हुई परिणति से क्रोध, मान, माया एवं वेद का समूल नाश हो जाता है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है।

10. सूक्ष्मसाम्पराय—जिन जीवों के सूक्ष्म भाव को प्राप्त साम्पराय अर्थात् अबुद्धिपूर्वक

होने वाले सूक्ष्म लोभ नामक साम्पराय कषाय का पूर्ण रूप से उपशमन या क्षपण होता है, अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रत्येक समय में अनन्तगुणी आत्म विशुद्धि को लिए हुए एक समय में एक ही (नियत विशुद्धि वाला) परिणाम होता है और जिनके निरन्तर कर्म प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण होता रहता है। उनके उस गुणस्थान की सूक्ष्म साम्पराय संज्ञा है।

11. उपशान्तकषाय—उपशम श्रेणी की स्थिति में दशम गुणस्थान में चारित्र मोह का पूर्ण उपशम करने से उपशान्त मोह या उपशान्त कषाय गुणस्थान होता है। मोह पूर्ण उपशमित हो जाता है, पर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मोहोदय आ जाने से नियमतः इस गुणस्थान से पतन होता है। क्षपक श्रेणी वाले जीव इस गुणस्थान में नहीं आते हैं, मात्र उपशम श्रेणी वाले ही 11वें गुणस्थान में आते हैं।

12. क्षीणमोह—मोहकर्म का आत्यन्तिक क्षय सम्पादित करते हुए दशम गुणस्थान में अवशिष्ट लोभांश का भी क्षय होने से स्फटिक मणि के पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल के समान परिणामों की पूर्ण निर्मलता क्षीणमोह गुणस्थान है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है। इसमें पूर्ण वीतरागता के साथ छद्मस्थपना पाये जाने से इसे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ भी कहते हैं। यथाख्यातचारित्र के धारक मुनिराज को मोहनीय कर्म का तो अत्यन्त क्षय होता है, और शेष तीन घातिया कर्मों का क्षयोपशम रहता है, अन्तर्मुहूर्त में ही उनका क्षय करके तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं। यह गुणस्थान क्षपक श्रेणी में ही होता है।

13. सयोग केवली जिन—जिन जीवों का केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो चुका है और जिन्हें नौ केवललब्धियाँ (क्षाधिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) प्रकट होने से परमात्म संज्ञा प्राप्त हुई है; वे जीव इन्द्रिय और आलोक आदि की अपेक्षा से रहित, असहाय ज्ञान-दर्शन युक्त होने से 'केवली', योग युक्त होने से 'सयोग' और द्रव्य-भाव उभय रूप घाति कर्मों पर विजय प्राप्त करने के कारण 'जिन' कहलाते हैं।

इस गुणस्थान में योग का कम्पन होने से एक समय मात्र की स्थिति का साता वेदनीय का ईर्यापथ आस्त्व होता है, लेकिन कषाय का सम्पूर्ण अभाव होने से बन्ध नहीं होता।

14. अयोगकेवली जिन—इस गुणस्थान में स्थित अर्हन्त भगवान मन-वचन-काय के योगों से रहित और केवलज्ञान सहित होने से, इस गुणस्थान की संज्ञा अयोगकेवली जिन है। इस गुणस्थान का काल ह्रस्व अ, इ, उ, ऋ, लृ स्वरों के उच्चारण करने के बराबर है। इस गुणस्थान के अन्तिम दो समय में अघाति कर्मों की सर्व प्रकृतियों का भी क्षय करके ये भगवान सिद्धपने को प्राप्त होते हैं। व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक शुक्ल ध्यान के बल से सत्ता में स्थित 85 प्रकृतियों का क्षय भी इसी गुणस्थान में होता है।

गतियों की अपेक्षा गुणस्थान

नरक और देवगति के जीव प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक प्राप्त कर सकते हैं। उससे ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त करने की पात्रता उनमें नहीं रहती। तिर्यचों में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के एकमात्र प्रथम गुणस्थान होता है। मन का अभाव होने के कारण ये ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्यपर्याय में स्त्री शरीर को प्राप्त जीव देशसंयम को प्राप्त कर सकते हैं। अतः उनमें प्रथम से पंचम गुणस्थान तक होते हैं। मनुष्य अवस्था वाला जीव अपने आत्मा का परिपूर्ण विकास कर सकता है, अतः मनुष्यों में सभी गुणस्थान पाये जाते हैं। वर्तमान काल के भरत क्षेत्र के मनुष्य मुनिराज अवस्था तक पहुँच कर भी सप्तम गुणस्थान से ऊपर नहीं जाते; क्योंकि वर्तमान में उत्कृष्ट पुरुषार्थ व उत्तम संहनन का अभाव है।

गुणस्थानों से आरोह-अवरोह का क्रम

क्र.	गुणस्थान	आरोहण	अवरोहण
1.	मिथ्यात्व अनादि सादि	4,5,7 3,4,5,7	
2.	सासादन	×	1
3.	मिश्र	4	1
4.	अविस्त सम्य. औपशमिक अविस्त सम्य. क्षायिक अविस्त सम्य. क्षयोपशमिक	5,7 5,7 5,7	सासादन पूर्वक 1 × 3,1
5.	संयतासंयत	7	4,3,2,1
6.	प्रमत्तसंयत	7	5,4,3,2,1
7.	अप्रमत्तसंयत	8	6,4 (मरण की अपेक्षा)
8.	अपूर्वकरण	9	7,4 (मरण की अपेक्षा)
9.	अनिवृत्तिकरण	10	8,4 (मरण की अपेक्षा)
10.	सूक्ष्मसाम्पराय	11, 12	9,4 (मरण की अपेक्षा)
11.	उपशान्तमोह	—	10,4 (मरण की अपेक्षा)
12.	क्षीणमोह	13	×
13.	सयोगकेवली जिन	14	×
14.	अयोगकेवली जिन	मोक्ष	×

लेश्या

कषाय से अनुरंजित जीव की मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। 'पंचसंग्रहो' (पञ्चसंग्रह) प्राकृतग्रन्थ में लेश्या का स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित है—

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।

जीवोत्ति होइ लेसा लेसा गुण जाणयक्खाया॥ 142।

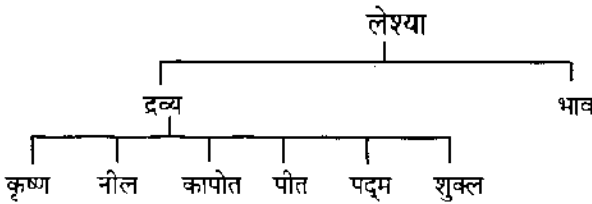
जह गेरुवेण कुडुओ लिप्पई लेवेण आमपिट्टेण।

तह परिणामो लिप्पइ सुहासुहा यत्ति लेवेण॥ 143॥

अर्थात् जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके अधीन करता है, उसको लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार आमपिष्ट (दाल की पिट्टी या तैलादि) से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवार रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है, उसको लेश्या कहते हैं।

लेश्या द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार की कही गयी है।

शरीर नाम कर्मोदय से उत्पन्न द्रव्य लेश्या होती है और कषाय से अनुरंजित जीव की योग रूप प्रवृत्ति भाव लेश्या है।



उक्त लेश्याओं में कृष्ण, नील व कापोत लेश्याएँ अशुभ परिणाम रूप होती हैं और पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ तारतम्यरूप से शुभ परिणामों वाली होती हैं।

(1) कृष्ण लेश्या के लक्षण—जो स्वयं धर्म क्रिया पालता नहीं, दूसरों को पालने देता नहीं, तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, जो किसी के वश को प्राप्त न हो, स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला-चातुर्य से रहित हो, पंचेन्द्रिय विषयों में लम्पट हो, पानी, मायावी, आलसी व भीरु हो, दुराग्रही हो, उपदेश की अवमानना करता हो, ताप-हिंसा-असन्तोष आदि परम तामस भाव सहित होना कृष्ण लेश्या के लक्षण

हैं। ऐसा जीव धूमप्रभा नरक से अन्तिम नरक तक जन्म लेता है।

(2) नील लेश्या — जो स्वयं तो धर्मक्रिया पालता नहीं है, किन्तु दूसरों को पालने में बाधक नहीं होता, बहुत निद्रालु हो, पर-वंचन (उगविद्या) में अति दक्ष हो, धन-धान्य के संग्रहादिक में तीव्र लालसा वाला हो, विषयों में आसक्त, मतिहीन, लोभ से अन्धा, प्रचुर माया प्रपंच में संलग्न, कायर और कार्यानिष्ठा, और बहु संज्ञा युक्त अर्थात् आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञाओं में आसक्त परिणति नील लेश्या युक्त जीव की होती है। ऐसा जीव धूमप्रभा नरक तक जन्म लेता है।

(3) कापोत लेश्या—जो स्वयं धर्मक्रिया पालता तो है, पर स्वरूप की समझ नहीं है, दूसरों के ऊपर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, दूषण बहुल हो, शोक बहुल हो, भय बहुल हो, दूसरों से ईर्ष्या करता हो, पर का पराभव करता हो, नाना प्रकार से अपनी प्रशंसा करता हो, पर का विश्वास न करता हो, दूसरों को अपने से हीन मानता हो, स्तुति किये जाने पर अति सन्तुष्ट हो, अपनी हानि और वृद्धि को न जानता हो, रण में मरण का इच्छुक हो, स्तुति या प्रशंसा किये जाने पर बहुत धनादिक देवे, कर्तव्य-अकर्तव्य को कुछ भी न गिनता हो, जीवन निराश हो, ऐसे परिणाम कापोत लेश्या में होते हैं।

(4) पीत लेश्या—जो अनुपयोगी कार्यों में ज्यादा व्यस्त रहे, उपयोगी कार्य कम करता हो, पर न्याय-नीतिपूर्वक करता हो, अपने कर्तव्य और अकर्तव्य, और सेव्य-असेव्य को जानता हो, सबमें समदर्शी हो, दया और दान में रत हो, मृदुभाषी हो, दृढ़ता, मित्रता, सत्यवादिता, स्वकार्य पटुतायुक्त लक्षण तेजो लेश्या या पीतलेश्या के होते हैं।

(5) पद्म लेश्या—जो उपयोगी कार्य-बहुलता में रहे, त्यागी हो, भद्र हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत ही अपराध या हानि होने पर क्षमा कर दे, साधुजनों के गुणों के पूजन में निरत हो, सात्विकदान, पाण्डित्य परिणाम युक्तता पद्मलेश्या के अन्तर्गत होती है।

(6) शुक्ल लेश्या—जो उदय प्रमाण संयोगों में माध्यस्थ्य भाव रखता हो, पक्षपात न करता हो, निदान न करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो, जिसे पर में राग-द्वेष व स्नेह न हो, निर्वैर, वीतरागता, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्यों से उदासीनता, श्रेयोमार्ग की रुचि आदि शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।

उक्त कृष्णादि छहों लेश्याओं से रहित, पंचपरावर्तन रूप संसार से जो निकल गये हैं, अनन्त सुखी हैं, आत्मोपलब्धि रूप सिद्धपुरी को सम्प्राप्त हैं, ऐसे अयोग केवली और सिद्ध जीव अलेश्य जानना चाहिए।

लेश्या से परिचित होने के लिए प्रसिद्ध चित्र के माध्यम से भी समझ सकते हैं। फल प्राप्ति के लिए गृह्यता के आधार पर ही लेश्या समझने योग्य है।

चित्र को इस प्रकार देखें—कोई पुरुष वृक्ष को जड़ मूल से उखाड़कर, कोई स्कन्ध से काटकर, कोई गुच्छों को तोड़कर, कोई शाखा को काटकर, कोई फलों को चुनकर, कोई गिरे हुए फलों को बीनकर खाना चाहे तो उनके भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं, उसी प्रकार कृष्णादि लेश्याओं के भाव भी उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं।



कारण-कार्य-विवेचन

प्रो. श्रीयांशकुमार सिंघई

जगत् में विद्यमान विविध वस्तुएँ, उनके क्रिया-कलाप आदि का समीचीन अवबोध कार्य-कारण प्ररूपणा के बिना सम्भव नहीं है। अध्ययन या अवबोधन की एक शाखा के रूप में हम इसे दर्शनशास्त्रीय विषय मान सकते हैं। भारतीय वाङ्मय की प्रत्येक धारा में इसका विवेचन है। मानव जीवन का हर पहलू ही कार्य-कारण ही परिधि में आकलित होता हुआ लगता है। अपने स्वाभाविक, सांयोगिक आदि परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक वस्तु कार्य-कारण मीमांसा से मूल्यांकित होती है और उससे ही हमें उसका सत्यानुबोध सम्भव हो पाता है। अन्धविश्वासों एवं कोरी कल्पनाओं से जनित अज्ञान का उन्मूलन भी कार्य-कारण की सच्ची समझ से ही सम्भव है। सत्य-असत्य का विवेक, हित-अहित की समझ, शास्त्रोद्भूत बुद्धि का परीक्षण, साम्प्रदायिक या धार्मिक आस्थाओं का मूल्यांकन कर पाना कार्य-कारण की वास्तविक विवेचना से ही सम्भव हो पाता है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार कार्य-कारण शब्द डुकृञ् करणे, कृञ् वधे और कृञ् विक्षेपे धातुओं से निष्पन्न होते हैं। व्युत्पत्तिमूलक इन शब्दों से हमें उनके मौलिक एवं यथार्थ अभिधेय का बोध होता है। अतः संस्कृत वाङ्मय में कार्य-कारण शब्दों के विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति स्वीकृत की जा सकती है, किन्तु क्रिया-निष्पादन के सन्दर्भ में ही इनका प्रयोग प्रचुरता से उपलब्ध होता है तथा इस अर्थाभिव्यक्ति के लिए ही दर्शनशास्त्र में इनका प्रयोग स्वीकृत माना गया है।

दर्शनशास्त्र में क्रिया के परिणाम अर्थात् भाव या कर्म को कार्य कहते हैं तथा क्रिया के होने में प्रेरकपने या स्वभावपने का जो हेतु होता है उसे कारण कहते हैं। क्रिया वस्तुओं में एवं उनके सांयोगिक स्वरूपों या पदार्थों में ही होती है, अवस्तु या काल्पनिक वस्तुओं में नहीं। अतः कार्य-कारण की विवेचना वस्तुमूलक ही होना चाहिए। प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तुओं की जानकारी तथा उनकी परिधि या मर्यादा आदि की स्वीकृति भी काल्पनिक न होकर वास्तविक ही होना चाहिए, क्योंकि वास्तविक वस्तुओं की ही सयुक्तिक एवं यथार्थमूलक विवेचना सम्भव होती है, जिसके होने पर ही हम कार्य-कारण को यथार्थतः समझ सकते हैं, अन्यथा विवादप्रस्त बुद्धि या परिणति से ही हमारा

सामना होता रहेगा और कार्य-कारण की सही अवधारणा असम्भव हो जाएगी।

सर्वसम्मत सत्य यह है कि कोई भी कार्य अकारण नहीं होता है। कार्य सत्तात्मक हो या परिणमनधर्मा; उसका वजूद कारण के बिना कतई नहीं माना जा सकता है। इसलिए कारण को स्वीकार करने में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने कार्य के होने में मुख्य एवं सहकारी कारणों की भूमिका को स्वीकार किया ही है। किसी भी कार्य के होने में उसके मुख्य कारण की भूमिका तो अपरिहार्य हो होती है। कोई भी कार्य और उसका मुख्य कारण ये दोनों ही एक अव्यतिरिक्त वस्तु की योग्यता से ही सम्बन्धित रहते हैं। कार्यवस्तु से उसका मुख्य कारण सदैव अभिन्न हो होता है। सहकारी कारण अवश्य भिन्न भी हो सकते हैं। अन्यथा भारतीयदर्शन में प्रतिष्ठापित सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद की अवधारणाएँ निरर्थक हो जाएँगी। जबकि वे सर्वथा निरर्थक नहीं हैं।

सत्कार्यवाद कारण को कार्यवस्तु में सत् प्ररूपित करता है या कारण में ही कार्य को सत् मान लेता है। असत्कार्यवाद में यह स्वीकृति सम्भव नहीं है। चार्वाकदर्शन में पृथिव्यादि चार भूतों की सत्ता और उनके कार्य सत्कार्यवाद की परिधि में स्वीकृत हो जाते हैं, किन्तु आत्मा की प्रादुर्भूति को वहाँ असत्कार्यवाद का ही परिणाम माना जा सकता है। बौद्धों द्वारा वस्तु को क्षणिक ही प्ररूपित करना भी कार्यवस्तु में कारण को अस्वीकारना ही है। यद्यपि बौद्ध कार्यसन्तति में संस्कार को कारण मानते हैं, तथापि वहाँ दोनों को क्षणवर्ती ही स्वीकार किया गया होने से कार्यवस्तु में कारण का या कारण में कार्य का होना सम्भव नहीं माना जा सकता है। अतः बौद्धों के यहाँ सत्कार्यवाद की धारणा असंगत सिद्ध होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चार्वाक और बौद्ध ये दोनों दर्शन असत्कार्यवाद के द्योतक हैं। शेष भारतीय दर्शनों में जहाँ कार्य-कारण की चिन्तना है, वहाँ सत्कार्यवाद की पुष्टि होती है।

सांख्यदर्शन में सत्कार्यवाद परिणामवाद के रूप में स्वीकृत है, तो वेदान्त में यह विवर्तवाद की परिधि में स्वीकृत हुआ है। सत्कार्यवाद की इन दोनों ही अवधारणाओं को जैनदार्शनिक परिप्रेक्ष्य में भी समझा जा सकता है; क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु में जो भी कार्य परिणमता है, वह अपने गुणधर्म की योग्यता के अनुरूप ही परिणमित होता है, अन्यथा नहीं। यहाँ गुणों के स्वभावानुकूल परिणमन स्वरूप कार्यों में उनके गुण ही कारण हैं, जो गुणानुरूप सम्भवत्कार्यों में सत् ही रहते हैं तथा प्रत्येक कार्य भी अपने कारण में से तदनुरूप ही प्रगट होता है। अतएव प्रत्येक द्रव्य में परिणमित होते हुए परिणमनधर्मा सभी कार्य अपने गुणानुरूपता के कारण परिणामवाद के रूप में सत्कार्यवाद की परिधि में परिगणित किए जा सकते हैं।

इनके अलावा सृष्टिमूलक सारे ही सांयोगिक कार्य भी संयोगापन्न द्रव्यों की अपनी-अपनी योग्यता का उत्त्लंघन नहीं करते हैं। यहाँ इन कार्यों का परिगणन किसी

एक द्रव्य या गुण के परिणाम के रूप में नहीं किया जा सकता है, किन्तु ये कार्य अनेक द्रव्यों के विविध परिणामों की समष्टि के रूप में विवर्त अर्थात् अपनी विशिष्ट वर्तना के पर्याय-स्वरूप में पाये जाते हैं। जैन परम्परा में जीव की मनुष्य आदि तथा पुद्गल की स्कन्ध आदि विभाव-व्यञ्जन-पर्यायों को विवर्तवाद की परिधि में शामिल किया जा सकता है। 'धात्रा सृष्टिमकल्पयत्' के अनुसार मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन में सृष्टि का कारण विधाता ब्रह्मा को माना जा सकता है। सांख्य योग दर्शन में सृष्टि पुरुष के लिए प्रकृति का परिणाम है। यद्यपि योगदर्शन ने अपने अष्टांग मार्ग की सफलता के लिए ईश्वर को भी आलम्बन स्वरूप कारण के रूप में स्वीकार कर लिया है। न्याय वैशेषिक दर्शन अपने परिवेश में कार्य-कारण की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। न्यायदर्शन ने ईश्वर को पहिले निमित्तकारण के रूप में प्ररूपित किया था, किन्तु कालान्तर में वहाँ ईश्वर को ही जगत् के सभी कार्यों का मूलकारण माना जाने लगा और जगत्स्वरूप के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हुई।

हर कार्य अपने कारण के होने पर ही होता है और कारण के अभाव में कोई भी कार्य नहीं होता है, इस सत्य को कोई भी नहीं नकारता है, तथापि कार्य-कारण की बात भारतीयदर्शन शास्त्रों में अपने स्वेष्ट तत्त्वों की सिद्धि के लिए यत्किञ्चित् ही की गयी है। वैदिक पृष्ठभूमि वाले सभी दर्शनसम्प्रदायों में कार्यकारणवाद प्रायः न्यायदर्शन की प्ररूपणाओं से प्रभावित माना जा सकता है। यदि हमें कार्य-कारण की अवधारणा को सूक्ष्म एवं गम्भीर परिवेश में समझना है, तो दर्शनशास्त्रीय पटल पर न्यायवैशेषिक दर्शन एवं जैनदर्शन शास्त्रों की प्ररूपणाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा और सत्यासत्य विवेक की कसौटी के रूप में वस्तु व्यवस्था को ही महत्त्व देना होगा।

समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के रूप में न्यायदर्शन कारण को त्रिविध प्ररूपित करता है, जबकि जैनदर्शन ने कारण को मूलतः दो भेदों में विभाजित किया है—(1) उपादान कारण और (2) निमित्त कारण।

जैन दर्शन में उपादान कारण स्वभावमूलक तथा निमित्त कारण सहकारमूलक माने गये हैं। कोई भी कार्य इन की उपेक्षा करके अर्थात् इनकी अपेक्षा के बिना कतई नहीं होता है। कार्य के होने में इन दोनों की भूमिका आकलित होती ही है। किसी भी कार्य का उपादान कारण स्वकीय वस्तु में ही पाया जाता है, जबकि निमित्तकारण तो दूसरी वस्तुएँ भी होती हैं।

प्रत्येक वस्तु में सदैव पाया जाने वाला स्वभाव अपने-अपने कार्य का त्रैकालिक उपादान होता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य में उसके अपने द्रव्यगत या वस्तुगत स्वभाव की ही अभिव्यक्ति होती है, तद्व्यतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य के स्वभाव की नहीं।

स्वभावानुकूल इस अभिव्यक्ति में समानता होने पर भी प्रत्येक कार्य की अपनी कुछ विशेषताएँ भी होती हैं, जो अकारण नहीं मानी जा सकती हैं। पर्यायगत योग्यता को इसमें कारण माना गया है। इस प्रकार द्रव्यगत शाश्वत योग्यताओं को त्रैकालिक उपादान तथा पर्यायगत क्षणस्थायि योग्यताओं को क्षणिक उपादान की संज्ञा जैन दार्शनिकों ने दी है।

यहाँ हम कह सकते हैं कि आत्मा में प्रादुर्भूत ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा आदि कार्य अपने-अपने त्रैकालिक उपादान स्वरूप गुणों के परिणाम हैं। प्रत्येकक्षणवर्ती इन परिणामों की अपनी विशिष्ट-विशिष्ट पहिचान भी है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा आदि कार्यों की अपने-अपने स्वभावानुकूल ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा-स्वरूप परिणति होने पर भी उन-सब की अलग-अलग सामर्थ्याभिव्यक्ति स्वरूप विशिष्टता पायी जाती है। जैसे प्रत्येक ज्ञान-परिणाम ज्ञान-रूप ही है, फिर-भी प्रत्येक-ज्ञान-परिणाम में उसकी अपनी अर्हता भी है, जो उसे विशिष्ट सिद्ध कर देती है। स्पष्ट है कि वस्तु में सदैव विद्यमान रहने वाली वस्तुगत योग्यता ही त्रैकालिक उपादान है। इस योग्यता के अनुरूप ही वस्तु में अपनी पर्यायगत क्षणिक योग्यताओं का प्रस्फुटन भी प्रतिक्षण होता रहता है। वस्तुओं की यह पर्यायगत योग्यता ही क्षणिक उपादान कही जाती है। जैनदार्शनिक परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक कार्य इन दोनों योग्यताओं की परिधि में ही होता है, इनका उत्लंघन कहीं भी, कभी भी और कैसे भी सम्भव नहीं है। अतः जैनदार्शनिकों ने इन्हें उपादान कारण प्रतिपादित किया है। त्रैकालिक उपादान कारण और क्षणिक उपादान कारण के रूप में इनकी परिचिति प्रमाणित की जा सकती है। उपादान कारण और तज्जन्य कार्य का एक ही द्रव्य में पाया जाना या बने रहना अविरुद्ध प्रतिपत्ति है, क्योंकि 'मिट्टी का घड़ा' इस प्रतिपत्ति में घट रूप कार्य अपने उपादान कारण मिट्टी से ही जन्य है। यहाँ मिट्टी और घट का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध सुस्पष्ट है अर्थात् मिट्टी ही घट में है अथवा घट का सर्वस्व मिट्टी ही है। मिट्टी ही घटपने से परिणमित हुई है तथा घट रूप कार्य परिणाम में मिट्टी ही सर्वत्र व्याप्त है, जिससे मिट्टी का घड़ा सब तरह से मिट्टी-मय ही सिद्ध होता है। मिट्टी के बिना मिट्टी के घट का अस्तित्व कहीं भी कैसे भी ज्ञात नहीं हो सकता है। अतः उपादान कारण और तज्जन्य कार्य को एक वस्तु में जान पाना असम्भव नहीं है। कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं अथवा सर्वत्र कारण के अनुरूप ही कार्य हुआ करते हैं, यह निष्पत्ति हमें तभी स्वीकार्य होती है, जब हम कार्य के उपादान कारण को वस्तु-गत स्वभाव के रूप में स्वीकार करें। इस स्वीकृति से ही वस्तु स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण माना जा सकता है तथा गुण-गुणी में और कार्य-कारण में अद्वैतभाव की सिद्धि सम्भव हो सकती है।

किसी भी कार्य के होने में वस्तु के स्वभावभूत उपादान कारण को अनिवार्य एवं

अपरिहार्य माना गया है, तथापि सहकारि निमित्त कारणों की उपेक्षा कथमपि सम्भव नहीं है। जैसे पूर्वोक्त 'मिट्टी का घड़ा' इस कार्य-वस्तु में उपादान कारण मिट्टी का महत्त्व तो अपरिहार्य है ही, तथापि उसके अविनाभावि निमित्त कारणों के बिना मिट्टी रूप उपादान से घट कार्य की निष्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती है। क्या कुम्भकार, दंड, चक्र आदि के बिना मिट्टी रूप उपादान घट बन सकता है? ...नहीं, कदापि नहीं। इससे ज्ञात होता है कि जगत् में कोई भी कार्य अपने उपादान कारण या कारणों की परिणमनशीलता तथा निमित्त कारणों की सहकारिता से ही सम्पन्न होता है, उनके बिना नहीं। हाँ, यहाँ यह अवश्य जान लेना चाहिए कि किसी भी कार्य के होने में उसका उपादान कारण तो सर्वत्र सर्वदा ही नियत होता है, किन्तु निमित्त कारण एक-जैसे कार्यों के होने में अलग-अलग भी हो सकते हैं। उपादान योग्यता का परिपाक होने पर कार्य परिणत होता है, तो उस स्थिति में सायास या अनायास समुचित निमित्त कारणों का मिलना भी निश्चित ही होता है। एक कार्य के होने में अनेक निमित्त कारण होते हैं। निमित्त कारणों को जानने में मुख्य गौण व्यवहार की अपेक्षा भी जगत् में होती ही है।

जो स्वयं तो कार्यरूप में न परिणमे, किन्तु उस पर यह आरोप आये कि इसके होने पर यह कार्य हुआ, तो उसे यह कार्य का निमित्तकारण कहते हैं। निमित्त कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—अन्तरंग निमित्तकारण और बहिरंग निमित्तकारण। इनमें अन्तरंग निमित्तकारण तो किसी कार्य विशेष की परिणति में अपरिहार्य, अपरिवर्तित और नियत होते हैं, किन्तु बहिरंग निमित्तकारण अपरिहार्य होकर भी परिवर्तित एवं अनियत माने जाते हैं। जैसे किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी में सम्यग्दर्शन होने का कार्य हुआ। यहाँ सम्यग्दर्शन रूप कार्य के होने में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक प्राणी, उसका श्रद्धा गुण एवं तदर्थ योग्यता सम्पन्न पर्याय क्रमशः अन्तरंग निमित्तकारण एवं उपादान कारण हैं। इसके बिना असंख्य निमित्त भी मिल जायें, जो दूसरों के सम्यग्दर्शन होने में निमित्त कारण बने हैं, तो भी सम्यग्दर्शन कार्य का होना सम्भव नहीं है। किन्तु जब उपादान योग्यता पकती है अर्थात् कार्य की भक्तिव्यता आ जाती है, तो काल-आदिक उदासीन-निमित्त तथा देशना-दाता गुरु आदिक प्रेरक निमित्त मिलने पर ही सम्यग्दर्शन होता है।

यहाँ सभी प्राणियों की अपेक्षा दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम या क्षयोपशम या क्षय को अपरिहार्य अन्तरंग निमित्तकारण माना गया है। जिसके होने पर ही बाह्य देवदर्शन, धर्मश्रवण आदि सहकारि कारणों को भी निमित्त कारण माना जा सकता है। बाह्य सहकारि कारण तो मिल जाएँ, किन्तु अन्तरंग निमित्तकारण न हो तथा उसका

अविनाभावि उपादान कारण भी परिपक्व न हो, तो सम्यग्दर्शन नहीं होता है। बाह्य सहकारि कारणों की निमित्तता अन्तरंग निमित्तकारण के बिना अप्रभावी एवं अव्यवहार्य ही होती है। सचमुच में तो अन्तरंग कारण के बिना बाह्य सहकारि कारण निमित्त ही नहीं कहे जा सकते हैं और उपादान कारण के बिना इन निमित्त कारणों की कारणता कार्य सम्पादन में स्वीकृत ही नहीं हो सकती है, क्योंकि उपादान-कारण-शून्य कार्य शशशृंग (खरगोश के सींग) के समान ही माना जा सकता है।

जगत् में सांयोगिक एवं सृष्टि-मूलक कार्यों का समीचीन बोध निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों के बलबूते पर ही सम्भव होता है, क्योंकि जगत् एवं तद्विषयक कार्यों की परिधि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों तक ही सीमित होती है। वहाँ निमित्त कारण और नैमित्तिक कार्य इन दोनों में परस्पर सह-क्रम-भाव नियम स्वरूप अविनाभाव सम्बन्ध घटित होता ही है। यहाँ नैमित्तिक वस्तु को कार्य और निमित्त वस्तु को कारण समझना चाहिए। दोनों ही वस्तुएँ अपनी-अपनी योग्यता से निमित्त एवं नैमित्तिक होती हैं। प्रत्येक वस्तु हर किसी वस्तु के लिए निमित्त नहीं हो सकती है और न ही कोई वस्तु हर किसी के लिए नैमित्तिक, अपितु प्रत्येक वस्तु में विद्यमान योग्यता से ही यह निश्चित होता है कि कौन वस्तु किस के लिए निमित्त या नैमित्तिक हो।

जो कोई भी वस्तु है वह यदि अन्य किसी के परिणामन में अनुकूल या प्रतिकूल होने की योग्यता से आरोपित होती है, तो वह अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त कहलाती है और जब स्वयं अपना परिणामन करती है, तो उपादान कहलाती है। इसी प्रकार जब भी हम किसी कार्य का आकलन निमित्त कारण स्वरूप पर-वस्तु से करते हैं, तो उसे नैमित्तिक कार्य कहा जाता है, परन्तु वह कार्य होता तो स्वयं ही है अपनी योग्यता से अपनी उपादान-कारण-स्वरूप वस्तु में ही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनपरम्परा में दोनों ही उपादान और निमित्त कारणों का औचित्य अप्रतिहत बना रहता है तथा वस्तु-स्वातन्त्र्य का हनन हुए बिना ही जगत् एवं उसके कार्यों की समीचीन प्ररूपणा सम्भव हो जाती है।

जैन आचार मीमांसा

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

सम्पूर्ण विश्व में श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-भण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ही अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण के बाद भी इस संस्कृति ने अपना पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

जैनधर्म के अन्य नामों में आर्हत तथा श्रमणधर्म प्रमुख रूप में प्रचलित हैं। इसके अनुसार श्रमण की मुख्य विशेषताएँ हैं— उपशान्त रहना, चित्तवृत्ति की चंचलता, संकल्प-विकल्प और इष्टानिष्ट भावनाओं से विरत रहकर, समभाव पूर्वक स्व-पर कल्याण करना। इन विशेषताओं से युक्त श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और आचरित संस्कृति को श्रमण-संस्कृति कहा जाता है।

यह पुरुषार्थमूलक है। इसकी चिन्तनधारा मूलतः आध्यात्मिक है। अध्यात्म के धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण-संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन का लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख स्वतन्त्रता में ही सम्भव है। कर्मबन्धन युक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता। वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निःश्रेयस के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

जैन आचार का वैचारिक आधार

आचार शब्द के तीन अर्थ हैं— आचरण, व्यवहार और आसेवन। सामान्यतः सिद्धान्तों, आदर्शों और विधि-विधानों का व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहा जाता है। सभी जैन तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा के अनेकानेक श्रमणों ने स्वयं आचार की साधना द्वारा भव-भ्रमण के दुःखों से सदा के लिए मुक्ति पायी, साथ ही मुमुक्षु जीवों को दुःख निवृत्ति का सच्चा मार्ग बताया। जैनधर्म का आचारपक्ष आत्मानुलक्षी है। 'अप्या सो परमप्या' आत्मा ही परमात्मा है— इस अवधारणा के आधार पर यहाँ परमात्म-पद की प्राप्ति हेतु प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपना पुरुषार्थ करना पड़ता है, किसी दूसरे के या ईश्वर अथवा दैव के भरोसे नहीं। प्राणियों के जैसे विचार और भाव होंगे, वैसे उनके कर्मों का आगमन होगा। प्राणियों के भावों में कुछ भाव प्रशस्त-उत्तम सराहनीय हैं और कुछ

जैन आचार मीमांसा :: 301

अप्रशस्त-अधम-निन्दनीय हैं। इन शुभ और अशुभ भावों के अनुसार ही जीव के शुभ कर्म और अशुभ कर्म की व्यवस्था है। जो कभी अशुभ कर्म करता है, वही समझदारी आने पर शुभ कर्म करने लगता है। इसी प्रकार जो शुभ कर्म करता है, वह कभी कुसंगति से अशुभ कर्म भी करने लगता है। इन कर्मों के विविध फलों को देने वाला कौन है? इस प्रश्न का उत्तर है—*स्वयं करोति कर्मात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते...* अर्थात् आत्मा स्वयं कर्म करता है और वह उसके फल को स्वयं प्राप्त करता है। यह प्रत्यक्ष है कि रास्ता देखकर न चलनेवाला पुरुष सामने के पड़े पत्थर से ठोकर खा जाता है और गिर पड़ता है। उसके माथे में चोट स्वयं आ जाती है, यहाँ कोई पत्थर को दोषी माने तो भी उचित प्रतीत नहीं होता तथा यहाँ कोई दूसरा जैसे ईश्वर की भूल के फलस्वरूप उसका माथा नहीं फोड़ता। जैन मान्यता है कि जीव कर्म स्वेच्छा से करता है, कोई कराता नहीं है। अतः फल भी स्वयं भोगता है, कोई देता नहीं है। अगर फल देने वाला अन्य है तो कर्म कराने वाला भी अन्य है, तब शुभ-अशुभ कर्म कराने वाला भी शुभ-अशुभ कर्म का जिम्मेदार है। फिर वह भी कर्म लिप्त होगा। अतः सिद्ध है कि परमात्मा मात्र ज्ञाता-द्रष्टा है।

उपर्युक्त विचार गीता के पंचम अध्यायगत निम्न श्लोकों में भी पाये जाते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

नादत्ते कस्यचिद् पापं न चैव सुकृतं विभुः॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

गीता के इन पद्यों का भाव यह है कि सर्वव्यापक परमेश्वर भी न तो मनुष्य के कर्तृत्व का कर्ता है और न उनके कर्मों की सृष्टि करता है। न ही उनके कर्मों के फल का संयोग कराता है— उन्हें कर्मफल देता है। यह सब स्वभाव से प्रवृत्त है। न वह किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही लेता है। अज्ञान से प्राणियों का ज्ञान आवृत है। इससे मोह के कारण वे ऐसा मानते हैं।

वस्तुतः प्राणी स्वयं अपने कर्मों के कर्ता और स्वयं उनके फलभोक्ता हैं। अतः सार यह है कि यदि हम वास्तव में सुखी होना चाहते हैं तो जीवन में स्वयं ऐसा अहिंसक आचरण करें कि किसी भी प्राणी को कष्ट न हो, मेरी कषायें कम हों तथा संयम, तप, ध्यान आदि के माध्यम से मेरे पूर्वोपार्जित बँधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाएँ और मैं अपनी शुद्धात्मा का आश्रय पाकर मुक्त हो जाऊँ।

मोक्षमार्ग

मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस की प्राप्ति स्वयं रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर ही सम्भव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों को ही रत्नत्रय कहा जाता है, यही

मोक्षमार्ग है जिसकी प्राप्ति तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट आचार संहिता से ही सम्भव है। श्रमण संस्कृति व्यक्ति को देह से भिन्न अपनी शुद्धात्मा रूपी भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निःश्रेयस के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपनी समग्रता में ही मोक्षमार्ग का निर्माण करते हैं।

प्राचीन काल से लेकर श्रमणधारा के प्रत्येक साधक ने सर्वप्रथम स्वयं के जीवन में इस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अनुसरण किया और अपनी साधना की उपलब्धियों के अनन्तर इसी मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। इससे जो आचार-संहिता निर्मित हुई, वह श्रमण परम्परा की एक समग्र 'आचार संहिता' बनी, जिसमें गृहस्थ के जीवन से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक की साधना और उसके उपयुक्त आचार-सम्बन्धी नियम-उपनियम आदि का विधान किया गया।

आध्यात्मिक विकास के लिए आचार की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। जिसका अर्थ है सच्चा श्रद्धान या विश्वास। बिना इसके ज्ञान विकास का साधक नहीं हो सकता और साधना भी सम्यक् नहीं हो सकती। इसीलिए श्रावक और श्रमण दोनों के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसके बाद ज्ञान स्वतः विकासोन्मुखी हो जाता है, किन्तु सही ज्ञान की समग्रता साधना के बिना सम्भव नहीं। इसलिए 'णाणस्स सारमायारो' अर्थात् ज्ञान का सार आचार है तथा 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र ही धर्म है, कहकर आचार या चारित्र एवं तपश्चरण को विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। सम्यग्दृष्टि-व्यक्ति आचारमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए क्रमशः श्रावक एवं श्रमण के आचार को स्वीकार करता है अथवा सामर्थ्य के अनुसार श्रमण धर्म स्वीकार कर लेता है। श्रावक और श्रमण के आचार का स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विवेचन करके जैन मनीषियों ने जीवन के समग्र विकास के लिए स्वतन्त्र रूप से आचार संहिताओं का निर्माण कर दिया। विभिन्न युगों में देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल नियमोपनियमों में विकास भी हुआ है, तथापि सम्यक् चारित्र का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक विकास करते हुए मुक्ति प्राप्त करना ही रहा है। श्रावक (गृहस्थ) एवं श्रमण (मुनि अथवा अनगार) — इन दो रूपों में सुव्यवस्थित जैन आचारसंहिता की सुदृढ़ आधारशिला और इसकी अपनी विशेषताओं के कारण ही जैनधर्म को मजबूत जड़ों को आज तक कोई हिला नहीं सका। इसीलिए तो पद्मभूषण आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि—

'आचार' श्रमण संस्कृति के उद्बोधक जैनधर्म का मेरुदंड है। जिस प्रकार मेरुदंड देहपाणि को पुष्ट एवं सुव्यवस्थित बनाने में सर्वथा कुतकार्य है, उसी प्रकार आचार जैनधर्म को पुष्ट तथा परिनिष्ठित करने में सर्वतोभावेन समर्थ है।'

जैनधर्म के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पूर्णता हेतु श्रावक या गृहस्थधर्म पूर्वार्ध है और श्रमण या मुनिधर्म उत्तरार्ध। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थधर्म पर मजबूत होती है। यहाँ गृहस्थधर्म की महत्वपूर्ण भूमिका इसलिए भी है; क्योंकि श्रावकाचार की भूमिका में

एक सामान्य गृहस्थ त्याग और भोग— इन दोनों को समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है। हम यहाँ श्रमण अर्थात् जैन साधुओं की आचार संहिता को समझेंगे।

श्रमणों की आचार-संहिता

संसार के समस्त भोगों को असार जान लेने के बाद, मनुष्य को जब जीवन के सत्य का अनुभव करने की तीव्र उत्कण्ठा होती है, तब वह भगवान् महावीर को तरह वैरागी होना चाहता है, उन्हीं की तरह अपने आत्मा की अनुभूति करना चाहता है। श्रमण होने का इच्छुक सर्वप्रथम बन्धुवर्ग से पूछता और विदा माँगता है। तब परिवार से विमुक्त होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों को अंगीकार करता है और सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त अपरिग्रही बनकर, स्नेह से रहित, शरीर संस्कार का सर्वथा के लिए त्याग कर आचार्य द्वारा 'यथाजात' (नग्न) रूप धारण कर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने साथ लेकर चलता है। मुनि के लिए श्वेताम्बर जैन परम्परा में दीक्षा के बाद निर्धारित सीमित वस्त्र-पात्र आदि का विधान है।

जिन मूलगुणों को धारण कर साधक श्रमणधर्म (आचरण मार्ग) स्वीकार करता है, उनका विवेचन आगे प्रस्तुत है।

मूलगुण

श्रमणाचार का प्रारम्भ मूलगुणों से होता है। आध्यात्मिक विकास के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपनी आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन गुणों को धारण करके जीवन पर्यन्त पूर्ण निष्ठा से पालन करने का संकल्प ग्रहण करता है, उन गुणों को 'मूलगुण' कहा जाता है। वृक्ष की मूल (जड़ या बीज) की तरह ये गुण भी श्रमणाचार के लिये मूलाधार हैं। इसीलिए श्रमणों के प्रमुख या प्रधान आचरण होने से इनकी मूलगुण संज्ञा है। इन मूलगुणों की निर्धारित अट्ठाईस संख्या इस प्रकार है—

पाँच महाव्रत—हिंसा विरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह) पाँच समिति— ईर्ष्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका। पाँच इन्द्रियनिग्रह— श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श— इन पाँच इन्द्रियों का निग्रह। छह आवश्यक— समता (सामायिक), स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)। सात अन्य मूलगुण— लोच (केशलोच), आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त।

उपर्युक्त मूलगुण श्रमणधर्म की आधारशिला हैं। सम्पूर्ण मुनिधर्म इन अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध होता है। इनमें लेषमात्र की न्यूनता साधक को श्रमणधर्म से च्युत बना देती है, क्योंकि श्रमण के लिए आत्मोत्कर्ष हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर होता है।

शरीर चला जाए, यह उसे सहर्ष स्वीकार होता है, पर साधना या संयमाचरण में जरा भी औँच आये, यह किसी भी अवस्था में उसे स्वीकार्य नहीं। जीवन के जिस क्षण मुमुक्षु श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, उस क्षण वे 'सावज्जकरणजोगं सच्चं तिविहेण तियरणविसुद्धं वज्जंति' अर्थात् सभी प्रकार के सावद्य (दोष युक्त) क्रिया रूप योगों का मन, वचन, काय तथा करने, कराने और अनुमोदन से सदा के लिए त्याग कर देते हैं।

1-5. महाव्रत

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों में सर्वप्रथम पंच महाव्रत का उल्लेख है। व्रत से तात्पर्य हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म तथा परिग्रह— इन पाँच पापों से विरति (निवृत्ति) होना। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह भी व्रत है। अथवा यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है— इस प्रकार नियम करना भी व्रत है। इस प्रकार हिंसा आदि पाँच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग का, इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति— ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।

हिंसादिक पाँच असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है, किन्तु सभी प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत, और सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। अणु या महत्—ये विशेषण व्रत के साथ पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जहाँ साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— इन पाँच व्रतों के समग्र पालन की क्षमता में अपने को पूर्ण समर्थ नहीं पाता अथवा महाव्रतों के धारण की क्षमता लाने हेतु अभ्यास की दृष्टि से इनका एकदेश पालन करता है, तो उसके ये व्रत अणुव्रत तथा वह अणुव्रती श्रावक (गृहस्थ) कहलाता है। तथा जब मुमुक्षु साधक अपने आत्मबल से इन व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में समग्र रूप में पूर्ण समर्थ हो जाता है, तब उसके वही व्रत महाव्रत कहे जाते हैं तथा वह महाव्रती श्रमण मुनि या अनगार कहलाता है।

6-10. समिति

श्रमण के मूलगुणों में महाव्रतों के बाद चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति हेतु ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान एवं प्रतिष्ठापनिका— इन पाँच समितियों का क्रम है। ये समितियाँ महाव्रतों तथा सम्पूर्ण आचार की परिपोषक प्रणालियाँ हैं। अहिंसा आदि महाव्रतों के रक्षार्थ गमनागमन, भाषण, आहार ग्रहण, वस्तुओं के उठाने रखने, मलमूत्र विसर्जन आदि क्रियाओं में प्रमादरहित सम्यक् प्रवृत्ति के द्वारा जीवों की रक्षा करना तथा सदा उनके रक्षण

की भावना रखना समिति है। ये पाँचों समितियाँ चारित्र के क्षेत्र में प्रवृत्तिपरक होती हैं। इन समितियों में प्रवृत्ति से सर्वत्र एवं सर्वदा गुणों की प्राप्ति तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति होती है।

11-15. इन्द्रिय निग्रह

इन्द्र शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा के चिन्ह अर्थात् आत्मा के सद्भाव की सिद्धि में कारणभूत अथवा जो जीव के अर्थ- (पदार्थ) ज्ञान में निमित्त बने, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं— श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श। ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति कराके आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती हैं। अतः इनको विषय-प्रवृत्ति की ओर से रोकना इन्द्रिय निग्रह है। ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने नामों के अनुसार अपने नियत विषयों में प्रवृत्ति करती हैं। जैसे स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श द्वारा पदार्थ को जानती है। रसनेन्द्रिय का विषय स्वाद, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय देखना तथा श्रोत्र का विषय सुनना है। इन्द्रियों के इन विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया है -

(1) काम रूप विषय, तथा

(2) भोग रूप विषय।

रस और स्पर्श कामरूप विषय हैं तथा गन्ध, रूप और शब्द भोग रूप विषय हैं। इन्हीं इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अवरोध निग्रह कहलाता है। अर्थात् इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की प्रवृत्ति से रोकना इन्द्रिय-निग्रह है। जैसे उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़े को लगाम के द्वारा निग्रह किया जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान की भावना (तप, ज्ञान और विनय) के द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी उन्मार्ग से निग्रह किया जाता है, क्योंकि जिनकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक क्षणिक विषयों की ओर है, वह आत्मतत्त्व रूपी अमृत कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जो सारी इन्द्रियों की शक्ति को आत्मतत्त्व रूप अमृत के दर्शन में लगा देता है, वह सच्चे अर्थों में अमृतमय इन्द्रियजयी बन जाता है।

16-21. आवश्यक

जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्यकरणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। जो रागद्वेषादि के वश में नहीं उस (अवश) का आचरण या कर्म आवश्यक है।

आवश्यक कर्म निम्नलिखित छह प्रकार के बताये गये हैं— जो श्रमण एवं श्रावक दोनों के लिये अनिवार्य हैं— 1. समता (सामायिक); 2. स्तव (चतुर्विंशति तीर्थकर स्तव); 3. वन्दना; 4. प्रतिक्रमण-(प्रमादपूर्वक किये गये दोषों का निराकरण); 5. प्रत्याख्यान (आगामी कालीन दोषों का निराकरण); तथा 6. व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)। इनका विवेचन आगम में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन छह के आलम्बन से किया जाता है।

शेष सात मूलगुण

इस तरह पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिग्रह तथा उपर्युक्त छह आवश्यक— इन सबको मिलाकर इक्कीस मूलगुणों का उल्लेख श्रमणाचार के प्रसंग में प्रस्तुत किया गया। शेष सात मूलगुण इस प्रकार हैं—

22. लोच

श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों में लोच बाईसवाँ मूलगुण है। जिसका अर्थ है— हाथ से नोचकर केश निकालना। लोक प्रचलित अर्थ में इसे ही केशलुंचन कहते हैं। केशलोच अपने आप में कष्ट-सहिष्णुता तथा सम्यभाव की उच्च कसौटी के और श्रमणों के पूर्ण संयमी जीवन का प्रतीक है। चूँकि केशों का बढ़ना स्वाभाविक है, किन्तु नाई या उस्तरे, कैची आदि के बिना हाथों से ही उन्हें उखाड़कर निकालना श्रमण के स्ववीर्य, श्रामण्य तथा पूर्ण अपरिग्रही होने का प्रतीक है। इससे अपने शरीर के प्रति ममत्व का निराकरण तथा सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण होता है। दीनता, याचना, परिग्रह और अपमान आदि दोषों के प्रसंगों से भी स्वतः बचा जा सकता है। सभी तीर्थंकरों ने प्रव्रज्या ग्रहण करते समय अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया था।

23. अचेलकत्व

सामान्यतः 'चेल' शब्द का अर्थ वस्त्र होता है। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में यह शब्द सम्पूर्ण परिग्रहों का उपलक्षण है। अतः चेल के परिहार से सम्पूर्ण परिग्रह का परिहार हो जाता है। इस दृष्टि से वस्त्राभूषणादि समस्त परिग्रहों का त्याग और स्वाभाविक नग्न- (निर्ग्रन्थ) वेश धारण करना अचेलकत्व है। श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार इसका अर्थ अल्प चेल (वस्त्र) मुनि का वेष है।

24. अस्नान

जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उबटन त्याग तथा नख, केश, दन्त, ओष्ठ, कान, नाक, मुँह, आँख, भौंह तथा हाथ-पैर इन सबके संस्कार का त्याग अस्नान नामक प्रकृष्ट मूलगुण है। वस्तुतः आत्मदर्शी श्रमण तो आत्मा की पवित्रता से स्वयं पवित्र होते हैं, अतः उन्हें बाह्य स्नान से प्रयोजन ही क्या? आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार-वृत्ति में कहा है कि श्रमण की स्नान से नहीं, अपितु व्रतों से पवित्र होना चाहिए। यदि व्रतरहित प्राणी जलावगाहनादि से पवित्र हो जाते तो मत्स्य, मगर आदि जल-जन्तु तथा अन्य सामान्य प्राणी भी पवित्र हो जाते, किन्तु ये कभी भी उससे पवित्रता की प्राप्त नहीं होते। अतः व्रत, संयम-नियम ही पवित्रता के कारण हैं। इन्हीं सब कारणों से श्रमण को स्नान आदि संस्कारों से सर्वथा विरत रहने तथा आत्मस्वरूप को प्राप्ति में उपयोग लगाए रखने के लिए अस्नान मूलगुण का विधान अनिवार्य माना है।

25. क्षितिशयन

सामान्यतः पर्यंक, विस्तर आदि का सर्वथा वर्जन करके शुद्ध जमीन में शयन करना क्षितिशयन है। मूलाचार में कहा है— आत्मप्रमाण, असंस्तरित, एकान्त, प्रासुक भूमि में, धनुर्दंडाकार मुद्रा में, एक करवट में शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।

26. अदन्तघर्षण

शरीर विषयक संस्कार श्रमण को निषिद्ध कहे गये हैं। अतः अँगुली, नख, दातौन, कलि (तृणविशेष), पत्थर और छाल— इन सबके द्वारा तथा इनके ही समान अन्य साधनों के द्वारा दाँतों को साफ न करना अदन्तघर्षण मूलगुण है। इसका उद्देश्य इन्द्रिय-संयम का पालन तथा शरीर के प्रति अनासक्त भाव में वृद्धि करना है।

27. स्थित-भोजन

शुद्ध-भूमि में दीवाल, स्तम्भादि के आश्रयरहित समपाद खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर आहार ग्रहण करना स्थित-भोजन है। प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम के पालन हेतु जब तक श्रमण के हाथ-पैर चलते हैं अर्थात् शरीर में सामर्थ्य है, तब तक खड़े होकर पाणि-पात्र में ही आहार ग्रहण करते हैं, अन्य विशेष पात्रों में नहीं।

28. एकभक्त

सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने के बाद तथा सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक बेला में आहार ग्रहण कर लेना एकभक्त मूलगुण है।

इस प्रकार जैन साधुओं का जीवन रागद्वेष से रहित होकर दृढ़ संयम तथा तपस्या से परिपूर्ण होता है, जिसके फलस्वरूप वे आत्मानुभूति में रहकर सदैव आनन्दित रहते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं। साधु होने से पूर्व साधु बनने की योग्यता गृहस्थ जीवन को संयमित तथा वैराग्ययुक्त बनाकर व्रताचरण के पूर्वाभ्यास से ही आती है। अतः जैन आचारशास्त्र गृहस्थ के आचरण का भी विधान उतनी ही गम्भीरता से करता है जितनी गम्भीरता से श्रमणाचार का।

श्रावकाचार

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

आचार की दृष्टि से जैनधर्म के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं—अनगार अर्थात् मुनि-धर्म और सागार अर्थात् गृहस्थ-धर्म। सद्गृहस्थ की श्रावक संज्ञा है और उसके धर्म को श्रावक-धर्म भी कहा जाता है।

श्रावक शब्द का सामान्य अर्थ श्रोता या सुनने वाला है। जो जिनेन्द्र भगवान के वचनों को एवं उनके अनुयायी गुरुओं के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सावधानी से सुनता है, वह श्रावक है। कहा भी गया है—

*अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसत्पत् परं समाचारमनुप्रभातम् ।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः ॥'*

अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध सम्पत्ति को प्राप्त जो व्यक्ति प्रातःकाल से ही साधुजन से उनकी समाचार विधि को आलस्य रहित होकर सुनता है, जिनेन्द्र भगवन्तों ने उसे श्रावक कहा है।

'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः' अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक गुरु आदि से धर्म श्रवण करता है, वह श्रावक है। श्रावक शब्द की एक निरुक्ति ऐसी भी प्राप्त होती है, जिसमें श्र, व और क वर्णों को क्रमशः श्रद्धा, विवेक और क्रिया का प्रतीक मानकर श्रद्धावान्, विवेकशील और क्रियाशील अर्थात् अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहा है।

अभिप्राय यह है कि जो श्रद्धालु जैनशासन को सुनता है, पात्र जनों में अर्थ को तुरन्त प्रदान करता है एवं सम्यग्दर्शन का वरण करता है तथा सुकृत (पुण्य) करके संयम का आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

व्रती गृहस्थ को श्रावक शब्द के अतिरिक्त विविध श्रावकाचारों में उपासक, सागार (आगारी), देशसंयमी (देशविरत/अणुव्रती) आदि नामों का उल्लेख हुआ है।

श्रावक ही एकदेशचारित्र का पालक होता है, इसके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक आदि ये तीन भेद हैं। जैनधर्म का पक्ष रखने वाला पाक्षिक श्रावक होता है, यह मूलगुणों

के पालन के साथ सप्तव्यसन का त्यागी होता है। जो व्रतों में अभ्यस्त होता है, वह नैष्ठिक श्रावक होता है, इसी के द्वारा बारह व्रतों का पालन किया जाता है। यह नौवीं प्रतिमा तक के नियमों का पालन करने वाला होता है तथा जो समाधिमरण की साधना करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है। ये दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक होते हैं। इसी कारण से ग्यारह प्रतिमाओं के लक्षण भी दिए जा रहे हैं, क्योंकि ये तीनों श्रावक इनके धारक हो सकते हैं—

ग्यारह प्रतिमाएँ—प्रत्याख्यानवरण कषाय के उदय की हीनाधिकता के कारण देशचारित्र ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त होता है। जो निम्नोक्त बिन्दुओं के माध्यम से प्रदर्शित किया जा रहा है—

• सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूलगुण धारण करना तथा सात व्यसनों का त्याग करना दर्शन-प्रतिमा है।

• पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों का धारण करना व्रत-प्रतिमा है।

• प्रतिदिन तीन सन्ध्याओं में विधिपूर्वक सामायिक करना सामायिक-प्रतिमा है।

• प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को सोलह प्रहर का उपवास करना प्रोषध-प्रतिमा है।

• सचित्त वस्तुओं के सेवन का त्याग करना सचित्तत्यागप्रतिमा है।

• मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से रात्रिभोजन का त्याग करना रात्रिभुक्तित्याग-प्रतिमा है अथवा इस प्रतिमा का दूसरा नाम दिवा मैथुन-त्याग भी है, जिसका अर्थ है नव कोटियों से दिन में मैथुन का त्याग करना।

• स्त्री मात्र का परित्याग कर ब्रह्मचर्य से जीवन व्यतीत करना ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है।

• व्यापार आदि आरम्भ का त्याग करना आरम्भ-त्याग-प्रतिमा है।

• निर्वाह के योग्य वस्त्र तथा वर्तन रख कर शेष समस्त परिग्रह का स्वामित्व छोड़ना परिग्रहत्यागप्रतिमा है।

• व्यापार आदि लौकिक कार्यों की अनुमति का त्याग करना अनुमतित्याग- प्रतिमा है।

• अपने निमित्त से बनाये हुए आहार का त्याग करना उद्दिष्टत्याग-प्रतिमा है।

साधक उत्तरोत्तर विकास की ग्यारह श्रेणियाँ (प्रतिमाएँ) पार करता हुआ मुनिपद की ओर अग्रसर होता है और आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

श्रावक के मूलगुण—श्रावक आठ मूलगुणों का धारक होता है। जैसे वृक्ष में जड़ मुख्य होती है, उसी प्रकार गुणों में मूलगुण प्रधान होते हैं। अनेक आचार्यों ने इनका वर्णन किया है। श्रीमद् उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' में श्रावक के बारह व्रतों का तो विवरण है, किन्तु उसमें मूलगुणों का उल्लेख नहीं है। श्रावक के अष्ट मूलगुणों का सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश आचार्य समन्तभद्र रचित 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' में मिलता है।

उसमें लिखा है कि मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को जिनेन्द्रदेव गृहस्थ के अष्ट मूलगुण कहते हैं। परवर्ती आचार्यों और विद्वानों ने मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।^१ इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

मद्यत्याग—अनेक वस्तुओं को सड़ाकर मदिरा बनाई जाती है, जिससे उसमें अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, साथ ही उसके पीने से मनुष्य मतवाला होकर धर्म-कर्म सब भूल जाता है। पागलों के समान चेष्टा करता है, इसलिए इसका त्याग आवश्यक है। भाँग, चरस, अफीम आदि नशैली वस्तुओं का सेवन भी इसी मद्य के अन्तर्गत आता है। अतः श्रावक को इन सभी का त्यागी होना चाहिए।

मांस त्याग—त्रस जीवों के घात से मांस की उत्पत्ति होती है, इसमें कच्ची और पक्की दोनों ही अवस्थाओं में उसी वर्ण के अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। खाना तो दूर रहा स्पर्श से ही उन जीवों का विघात होता है, अतएव शास्त्रों में कहा गया है कि अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए मांसभक्षण का त्याग करना चाहिए।

मधुत्याग—मधुमक्खियों के मुख से निकली हुई लार ही मधुरूप में परिणत होती है। इसमें अनेक जीवों का निवास है। शास्त्रकारों ने तो यह लिखा है कि मधु की एक बूँद के खाने से उतना पाप होता है, जितना सात गाँवों के जलाने से होता है; इसका तात्पर्य यह है कि सात गाँवों में जितने स्थूल जीव रहते हैं; उतने सूक्ष्म जीव मधु की एक बूँद में रहते हैं। मधु बनाने वाले लोग उन सब जीवों का संहार करके ही मधु बनाते हैं, अतः विवेकी मनुष्य को इसका त्याग करना चाहिए।

पंचोदुम्बरफल त्याग—बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर और पाकड़ आदि इन पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को पंच उदुम्बर फल त्याग कहते हैं। इन फलों में असंख्यात त्रस जीवों की सत्ता होती है, अतः ये अभक्ष्य हैं। इनका त्याग करने से ही अष्ट मूलगुणों का प्रथमतः पालन हो जाता है। आचार्यों ने मूलगुणों में अणुव्रतों को ग्रहण किया है; जिनका वर्णन व्रत भेदों में किया जा रहा है, क्योंकि ये श्रावक के वारह भेदों में परिगणित हैं। पं. आशाधर जी अष्टमूलगुण में तीन मकार को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हुए पंचाणुव्रतों को एक मूलगुण मानकर देवदर्शन, रात्रिभोजन त्याग और जलगालन तथा पंच उदुम्बर फलों के त्याग को श्रावकों के मूलगुण स्वीकार करते हैं। मूलगुण के सम्यक् रूप से पालन करने वाले श्रावकों के कर्तव्यों पर भी आचार्यों ने विचार किया है, जो इस प्रकार है :

श्रावक के षडावश्यक—मूलगुण के सम्यक् रूप से पालन करने वाले श्रावक के जिन आवश्यक कार्यों का दिग्दर्शन आचार्यों ने कराया है, वे इस प्रकार हैं—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

—पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका

अर्थात् देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह गृहस्थों के प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कार्य हैं। प्रायः सभी आचार्य पद्मनन्दि आचार्य के उक्त कथन से पूर्णरूपेण सहमत हैं। इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है—

1. देवपूजा—जिनागम में अर्हन्त और सिद्धपरमेश्वरी की देवसंज्ञा है, इनकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों के द्वारा पूजा करना देवपूजा है। देवपूजा के नित्यपूजा, आष्टाह्निकपूजा, इन्द्रध्वजपूजा, महामह अथवा सर्वतोभद्र और कल्पद्रुममह के भेद से पाँच भेद हैं। पूजा करते समय किसी लौकिक फल की आकांक्षा न कर अपने ज्ञानानन्द स्वभावी वीतराग-स्वरूप आत्मा की ओर लक्ष्य रखना चाहिए। ज्ञानी जीव अर्हन्तदेव के गुणों के प्रति अपना लक्ष्य स्थिर कर अपने कर्तव्य का पालन करता है।

2. गुरुपास्ति—निर्ग्रन्थ मुनि मोक्षमार्ग के साधक हैं, अतः उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखते हुए उनकी उपासना करना श्रावक का कर्तव्य है। मुनिमार्ग खड्ग की धार पर चलने के समान कठिन है, उसे धारण करने का साहस विरले ही मनुष्य करते हैं। इसलिए आहार-दान तथा वैयावृत्य आदि के द्वारा सुविधा पहुँचाते हुए उन्हें उस मार्ग में उत्साहित करते रहना आवश्यक है।

3. स्वाध्याय—अपना अपने ही भीतर अध्ययन, आत्म-चिन्तन, आत्म-मनन ही स्वाध्याय है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध हो, इस अभिप्राय से विधिपूर्वक स्वाध्याय करना प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है। आत्मज्ञान के बिना अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी निरर्थक है और आत्मज्ञान के साथ अष्ट प्रवचनमातृका का जघन्य श्रुतज्ञान भी इस जीव को अन्तर्मुहूर्त में सर्वज्ञ बना देता है, अतः शास्त्र पढ़ते समय स्वकीय शुद्धस्वरूप की ओर लक्ष्य रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के बीच में सम्यग्ज्ञान को आचार्यों ने इसी उद्देश्य से रखा है कि वह सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों को बल पहुँचाता है।

4. संयम—बढ़ती हुई इच्छाओं को नियन्त्रित करना तथा हिंसादि पाँच पापों से विरक्त होना संयम है। यह संयम इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम के भेद से दो प्रकार का है। पाँच इन्द्रियों और मन की उद्दाम प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रिय संयम है और छह काय के जीवों की यथाशक्य रक्षा करना प्राणिसंयम है।

जिस प्रकार लगाम के बिना घोड़ा स्वच्छन्दाचारी हो जाता है, उसी प्रकार संयम के बिना मनुष्य स्वच्छन्दाचारी हो जाता है। स्वच्छन्दाचारी होना संसार को बढ़ावा है और संयम को धारण करना मोक्ष का मार्ग है।

5. तप—‘कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः’ कर्मक्षय के लिए जो शरीर को तपाया जाता है, वह तप है। शक्ति अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त, विनय आदि अन्तरंग तप धारण करना तप है। श्रावक अपने मन में मुनि-व्रत धारण करने का भाव रखता है और मुनि-व्रत तपश्चरण-प्रधान होता है। इसलिए अभ्यास के रूप में तपश्चरण करता हुआ गृहस्थ मुनि-व्रत धारण करने का अभ्यास करता है।

6. दान—‘अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्’ (त.सू. 7/38) अर्थात् स्व और पर के उपकार के लिए अपने धन का त्याग करना दान है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्यों ने कहा है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने का नाम दान है। ‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ में आहार, औषध, ज्ञान के साधन शास्त्रादिक उपकरण और वसतिका दान, इस तरह चार प्रकार का दान कहा है। दान के जितने भी प्रकार हैं, उन सब का अन्तर्भाव इनमें हो जाता है। यद्यपि दान एक है, फिर भी उनके फल में अन्तर देखा जाता है, जिसका मुख्य कारण विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता है। इनकी न्यूनाधिकता से दान के महत्त्व में न्यूनाधिकता आती है।

विधि की विशेषता—पात्र का प्रतिग्रह-पङ्गाहन करना, उच्चस्थान देना, उसके पाद प्रक्षालन करना, पात्र की पूजा करना, नमस्कार करना, मन-वचन और काय की शुद्धि रखना और अन्न-जल का शुद्ध होना, इस नवधा भक्ति को विधि-विशेष कहते हैं।

द्रव्य की विशेषता—दिए जाने वाले अन्न आदि ग्रहण करने वाले साधुजनों के तप, स्वाध्याय के परिणामों की वृद्धिकारणभूतता है अथवा जो ग्रहण करने वाले के तप स्वाध्याय, ध्यान और परिणामों की शुद्धि आदि की वृद्धि का कारण हो, वह द्रव्यविशेष कहा जाता है।

दाता की विशेषता—पात्र के प्रति ईर्ष्या का नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, देने की इच्छा करने वाले में अथवा जिसने दान दिया है, उन सब में प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना और निदान नहीं करना दातृविशेष है।

पात्र की विशेषता—भोक्ष में कारणभूत रत्नत्रय से जो युक्त है, वह पात्र-विशेष है। जैसे भूमि, बीज आदि कारणों में गुणवत्ता होने से फल-विशेष की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार विधि-विशेष, दातृ-विशेष, पात्र-विशेष और द्रव्य-विशेष से दान के फल में विशेषता आती है।

व्रत

श्रावक का एकदेश संयम या विकलचारित्र सम्यग्दर्शन से विभूषित होने के पश्चात्

बारह व्रत (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) ग्रहण करने पर होता है। एकदेशचारित्र या संयम का अभ्यास सकलचारित्र की प्राप्ति में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाले पुरुष या स्त्री के द्वारा बारह व्रतों का आचरण करना, उसके कल्याण को करने वाला है।

व्रत धारण करने से पुण्य-कर्म का आस्रव होता है। अव्रत सेवन से पाप-कर्म का आस्रव होता है। आचार्यों ने व्रती जीवन को ही श्रेयस्कर माना है। व्रतों को ग्रहण करने वाला ही व्रती है। व्रती का जीवन ही मंगलमय होता है। श्रीमद् उमास्वामी ने शल्यरहित व्रती होता है, ऐसा कहा है।^१ विविध प्रकार की वेदना रूपी शलाकाओं के द्वारा जो प्राणियों को छेदेती हैं, दुःख देती हैं, वे शल्य कहलाती हैं।

माया, मिथ्या और निदान के भेद से शल्य तीन प्रकार की है।^१ माया विकृति, वंचना, छल-कपट आदि ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। विषय-भोगों की कांक्षा निदान है। अतत्त्व-श्रद्धान मिथ्यादर्शन है। इन तीन प्रकार की शल्यों से निष्क्रान्त (निःशल्य) व्यक्ति व्रती कहलाता है। आगारी गृहस्थ और अनगारी मुनि के भेद से व्रती दो प्रकार के हैं। अगार (घर) जिसके है, वह आगारी कहलाता है, जैसे गृहस्थ। जिसके अगार नहीं है, वह अनगार कहलाता है, जैसे—मुनि। इसके अतिरिक्त अणुव्रतों का धारक आगारी कहलाता है।^१

मानव जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता का महर्षियों ने गहन चिन्तन किया है। उसकी दुर्लभता प्रतिपादित की है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन चारों संज्ञाएँ मनुष्य और तिर्यचों में समान रूप से पायी जाती हैं। किन्तु मानव अपने जीवन को समुन्नत बनाने के लिए नियम व्रत आदि का पालन एवं धारण कर सकता है। अपने विचारों व प्रवृत्तियों पर संयम का अंकुश लगा सकता है।

सबसे पहले यह विचार करना चाहिए कि व्रत क्या है? स्वच्छन्दवृत्ति में अभ्यस्त यह जीव पंचेन्द्रियों के विषयों में अनियन्त्रित रूप से प्रवृत्ति करता है, उस अनियन्त्रित जीवन के प्रभाव से भूल जाता है कि मैं कौन हूँ? मेरा कर्तव्य क्या है? उस स्वच्छन्द आवेग को नियन्त्रित करने वाली प्रवृत्ति ही व्रत कहलाती है। 'वृज् वरणे' धातु से व्रत शब्द बना है, जिसका अर्थ है स्वेच्छा से मर्यादा को स्वीकार करना।

व्रत पालन का उद्देश्य—जीव सदा अशुभ भावों से प्रेरित होकर संसार-संवेदनों की प्रवृत्ति करता रहा है, उससे नाना प्रकार के संक्लेश परिणामों के वशीभूत होकर वह आत्म-पतन करता है, ऐसी स्थिति में उसे अशुभ-प्रवृत्ति से निवृत्त कर शुभ-प्रवृत्ति में प्रवृत्त कराना आवश्यक है। यह उद्देश्य इन व्रतों के पालन से पूर्ण होता है।

तत्त्वार्थसूत्र प्रणेता आचार्य उमास्वामी ने जिनवचन का आश्रय लेकर कहा है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरति का नाम व्रत है।^१ आचार्य पूज्यपाद व्रत को नियम रूप से प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—'अभिप्राय पूर्वक अथवा संकल्प

पूर्वक किया गया नियम व्रत कहलाता है।^९ अथवा यह मेरे लिए कर्तव्य है, यह मेरे लिए अकर्तव्य है, इस प्रकार के विवेक को व्रत कहते हैं।

दूसरे शब्दों में किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक निर्णय व्रत है। व्यवहार में इसे संकल्प कहा जाता है। संकल्प और व्रत में वास्तविक अन्तर है, क्योंकि संकल्प शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु व्रत सदा शुभ ही होता है।

व्रतों के भेद-प्रभेद—मूलतः व्रतों को दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं। एक अणुव्रत और दूसरा महाव्रत। गृहस्थाश्रम में पालनीय व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। मुनि अवस्था में धारण करने वाले व्रत महाव्रत कहलाते हैं।^{१०} वैसे तो पाँच महाव्रतों और पाँच अणुव्रतों के नाम में साम्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ही महाव्रत के हैं तथा ये ही नाम अणुव्रत के भी हैं; परन्तु इनके पालन में बहुत ही अन्तर है। महाव्रतों में अहिंसा आदि का पूर्णरूप से पालन करना होता है, जबकि अणुव्रतों में अहिंसा आदि का आंशिक रूप से पालन किया जाता है। इसीलिए व्रतों के नाम की दृष्टि से अणुव्रत और महाव्रत में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही मोक्ष-यात्रा के लिए अपने-अपने स्थान पर अनिवार्य हैं।

गृहस्थ हिंसादिक का पूर्ण त्यागी नहीं हो सकता है, अतएव वह एकदेश-व्रतों का पालन करने वाला होता है। एकदेश-व्रती पाँचों अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का भलीप्रकार से पालन करता है।

अणुव्रत

जब किसी सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण का अनुदयरूप क्षयोपशम होता है, तब उसके हिंसादि पाँचों पापों का एकदेश त्याग होता है और ये ही पाँच प्रकार के अणुव्रत कहलाते हैं—1. अहिंसाणुव्रत, 2. सत्याणुव्रत, 3. अचौर्याणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्याणुव्रत, 5. परिग्रहपरिमाणव्रत।

अहिंसाणुव्रत—अहिंसा जैनाचार का प्राण-तत्त्व है। इसे ही परमब्रह्म और परमधर्म कहा गया है।^{१०} प्रत्येक आत्मा चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल, स्थावर हो या त्रस, तात्त्विक दृष्टि से समान है। मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाने से बचाये रखना ही सच्ची अहिंसा है। 'ना हिंसा अहिंसा, ईषत् हिंसा अहिंसा' अर्थात् हिंसा का न होना तो अहिंसा है ही, लेकिन ऐसी अल्प हिंसा, जो रोकी नहीं जा पा रही है, ईषत् अहिंसा है, वही एकदेश अहिंसाव्रत है। श्रीमद् उमास्वामी ने कहा—प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है^{११} तथा इसके विपरीत अहिंसा है।

गृहस्थ जीवन में हिंसा चार प्रकार से हो सकती है—1. संकल्पी हिंसा, 2. विरोधी

हिंसा, 3. आरम्भी हिंसा, 4. उद्योगी हिंसा। संकल्पपूर्वक अर्थात् मैं इस प्राणी का वध करूँगा—ऐसा संकल्प कर जीव-हिंसा करना संकल्पी-हिंसा कहलाती है। अपने प्रति, धर्म के प्रति, साधर्मी बन्धु या भगिनिओं के प्रति अहंकारी पुरुष के द्वारा आक्रमण करने पर उसका प्रतीकार करना विरोधी हिंसा है। गृहस्थ किसी के प्रति आक्रमण न करे। दूसरे के द्वारा किए आक्रमण का प्रतिकार करे।

क्योंकि विरोधी हिंसा गृहस्थाश्रम में त्याज्य नहीं है। इसी प्रकार तीसरी आरम्भी हिंसा का भी गृहस्थ त्यागी नहीं होता है, क्योंकि गृहस्थ को अपने निर्वाह के लिए कृषि आदि आरम्भ करना पड़ता है। चौथी हिंसा उद्योगी है, व्यापार, उद्योगादि करते समय, गृह कृत्यादि करते समय होने वाली हिंसा अपरिहार्य है। इसलिए गृहस्थ त्यागी नहीं होता है। केवल संकल्पपूर्वक वह त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त होता है, अतः स्थूल हिंसा का त्याग होने से अहिंसा अणुव्रती कहलाता है।

बहुत थोड़े शब्दों में जैनागम की हिंसा की व्याख्या की जाये, तो हम कह सकते हैं कि आत्मा में राग-द्वेषादि विकारी भावों को उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है और आत्मा में उन राग-द्वेषादि संक्लेश परिणामों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। अहिंसा ही शिव-पद को देती है, यही स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है और यही अहिंसा आत्मा की हितकारी है तथा समस्त व्यसनों और कष्टों को दूर करती है। यह अकेली भगवती अहिंसा प्राणियों को जो सौख्य, कल्याण और मुक्ति प्रदान करती है, वह तप, शील, संयमादि का समुदाय भी नहीं दे सकता, क्योंकि तप, श्रुत, शील, संयम आदि सभी अंगों का आधार एकमात्र अहिंसा है।¹²

अहिंसाव्रत की भावनाएँ—अणुव्रत और महाव्रत के लिए आचार्य उमास्वामी ने समान भावनाओं का उल्लेख किया है, तदनुसार पूज्यपाद और भट्ट अकलंकदेव ने भी किया है। ये व्रतों की सामान्य भावनाएँ हैं। अतः एकदेश-चारित्र और सकल-चारित्र (अणुव्रत और महाव्रत) के प्रतिपादन के पूर्व उनकी भावनाओं को समझ लेना अनिवार्य है। उन भावनाओं का वर्णन इस प्रकार है—अहिंसाव्रत की दृढ़ता एवं निर्मलता के लिए कुछ भावनाओं को भाना चाहिए, जिससे व्रत में विशुद्धि होती है। वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्ष्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन में अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।¹³ वचन को वश में करना वचनगुप्ति है। मन को वश में करना मनोगुप्ति है। चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्ष्यासमिति है। भली प्रकार साधन व स्थानादि को देखकर पुस्तक आदि का उठाना और रखना आदाननिक्षेपणसमिति है। सूर्य के प्रकाश में अवलोकन करके अन्न-पानी ग्रहण करना आलोकितपानभोजनसमिति है। मन, वचन और काय-रूपी गुप्ति का पालन करना इसमें आवश्यक है, क्योंकि मन, वचन, काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति से ही इस आत्मा की हिंसादि में प्रवृत्ति होती है।

इसलिए अहिंसकवृत्ति को धारण करने के लिए आवश्यक है कि मन, वचन और काय से सर्वप्रकार के जीवों की रक्षा करे। किसी पदार्थ को रखते हुए, उठाते हुए उपलक्षण से किसी बन्धु के साथ व्यवहार करते समय इस बात का अवश्य विचार करे कि मेरे द्वारा किसी जीव को पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है। इसी प्रकार आलोकित पान-भोजन अर्थात् सूर्य प्रकाश में अच्छी तरह देखभाल कर वह आहार ग्रहण करे।¹⁴ इससे रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। अहिंसा की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग करना आवश्यक है। इन भावनाओं से अहिंसा व्रत में निर्मलता आती है।

व्रतों को निरतिचार रूप पालन करने में ही उसका महत्व है। अतिचारों में व्रत को भंग कर अनाचार करने की भावना व्रत पालने वाले के हृदय में नहीं होती, तथापि गृहस्थ जीवन में रहते हुए इस प्रकार की प्रवृत्ति घटती है, इस सम्बन्ध में वह पश्चात्ताप भी करता है, इसलिए उसे अनाचार संज्ञा नहीं दी जा सकती है। वह अनाचार नहीं है, क्योंकि वह व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है, वह निर्दोष व्रत भी नहीं है, क्योंकि उसमें अंशमात्र हिंसा की घटना होती है। इसलिए व्रती साधक को उचित है कि वह व्रतों को हमेशा निरतिचारपूर्वक ही पालने का प्रयत्न करे।

अहिंसागुणव्रत के अतिचार—स्थूल प्राणातिपातविरमण (अहिंसागुणव्रत) के मुख्य पाँच अतिचार हैं—बन्ध, वध, छेद, अतिभारोपण और अन्नपाननिरोध।¹⁵

1. बन्ध—किसी त्रस प्राणी को कष्ट देने वाले बन्धन में बाँधना। उसे इष्ट स्थान को जाते हुए रोकना, अपने अधीन जो व्यक्ति है, उन्हें निर्दिष्ट समय से अधिक रोककर उनसे अधिक कार्य लेना आदि भी बन्ध के ही अन्तर्गत हैं। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विविध प्रकार का है।

2. वध—किसी भी त्रस प्राणी को मारना वध है। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को या अन्य प्राणियों को लकड़ी, चाबुक या पत्थर आदि से मारना, उन पर अनावश्यक आर्थिक भार डालना, किसी की भी लाचारी का अनुचित लाभ उठाना, अनैतिक दृष्टि से शोषण कर उससे लाभ उठाना आदि वध के ही अन्तर्गत हैं। जिस कार्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप त्रस प्राणियों की हिंसा होती है, वह वध है।

3. छेद—किसी प्राणी के अंगोपांग काटना, विच्छेद के समान वृत्तिच्छेद करना भी अनुचित है। किसी की सम्पूर्ण आजीविका का छेद करना अथवा उचित पारिश्रमिक से कम देना आदि भी छेद के सदृश ही दोष-युक्त है।

4. अतिभार—बैल, ऊँट, घोड़ा, प्रभृति पशुओं पर या अनुचर अथवा कर्मचारियों पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना अतिभार है। किसी से शक्ति से अधिक कार्य करवाना भी अतिभार है।

5. अन्नपाननिरोध—समय पर भोजन-पानी आदि न देकर, नौकर आदि को समय

पर वेतन आदि न देकर उसे कष्ट पहुँचाना आदि। ये—सब बातें अन्नपाननिरोध के अन्तर्गत परिगणित होती हैं।¹⁶

सत्याणुव्रत—लोक में सत्य व्यवहार का बड़ा महत्व है। सत्य व्यवहार करने वाले का सभी कोई विश्वास करते हैं। कुछ सामाजिकों की राय इस प्रकार की हो गयी है कि असत्य व्यवहार के बिना हमारे धन सम्पत्ति आदि की वृद्धि नहीं होती है, परन्तु जीवन का सर्वस्व धन-सम्पत्ति ही नहीं है। जीवन में सदगुणों का अस्तित्व होना चाहिए। उसके बिना वह जीवन उद्योत को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए जीवन कल्याण के लिए सत्यव्रती अथवा सत्याणुव्रती होना आवश्यक है।

जैसा हुआ हो, वैसा ही कहना सत्य का सामान्य लक्षण है। सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि गृहस्थ स्नेह और मोहादिक के वश से गृह-विनाश और ग्राम-विनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त है, इसलिए उसके दूसरा अणुव्रत है।¹⁷ कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार—जो हिंसा का वचन नहीं कहता और न दूसरों की गुप्त बात को प्रकट करता है तथा हित-मित वचन बोलता है, सब जीवों को सन्तोषकारक वचन बोलता है, वह दूसरे सत्याणुव्रत का धारी है।¹⁸

सत्यव्रत की भावनाएँ—क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण,—ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।¹⁹

यह मानव क्रोध से झूठ बोलता है, कभी लोभ से झूठ बोलता है, कभी भय से झूठ बोलता है, कारण न मिले तो कभी हँसी-विनोद के लिए झूठ बोलता है। इसलिए इन क्रोधादिक असत्य कारणों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करना चाहिए एवं सदा आगमानुसार निर्दोष वचन ही बोलना चाहिए। अथवा इसी प्रकार के वचनों का आश्रय मेरे द्वारा हो, ऐसी सतत चेष्टा रहनी चाहिए, तभी वह सत्य-वचन को बोलने में अभ्यस्त हो सकता है। सभी गुण-सम्पदाएँ सत्य-वक्ता में प्रतिष्ठित होती हैं। झूठे का बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं रहते। जिह्वा-छेदन, सर्व-धन-हरण आदि दंड उसे भुगतने पड़ते हैं।²⁰

सत्यव्रत के पाँच अतिचार—मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखनक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद के भेद से ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।²¹

1. मिथ्योपदेश—उन्नति और कल्याण को क्रियाओं में कुछ का कुछ कहना मिथ्योपदेश है। उसी को अन्य आचार्यों ने परिवाद शब्द से व्यवहृत किया है।

अज्ञान व प्रमाद से मोक्ष की साधनभूत क्रियाओं में अन्यथा प्रवर्तन करने का उपदेश देना, सन्मार्ग में संशय आने पर कोई आकर वस्तुस्थिति की पृच्छना करे, तो अज्ञान से अन्यथा कह देना मिथ्योपदेश है। जानबूझकर तत्त्व का अन्यथा बोध करने वाले वचन का कहना तो असत्य अनाचार है, उसे सत्यव्रती कर नहीं सकता है।

2. रहोभ्याख्यान—स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकान्त में किए गये रहस्य का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है। अभिनिवेशवश, किसी प्रकार के हठाग्रह से एवं रागादि के आवेश से प्रतिपादन करे, तो वह अतिचार नहीं है, प्रमाद योग होने के कारण अनाचार ही है।

3. कूटलेखनक्रिया—किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है। इस प्रकार वंचन के निमित्त लेख लिखना कूटलेख क्रिया है। दूसरे शब्दों में—खोटे कागज पत्र तैयार करना, नोट आदि बनाना, दूसरों के मोहर, अक्षरों आदि बनाकर दूसरों को ठगना आदि कूटलेख क्रिया है, यह भी त्याज्य है।

4. न्यासापहार—हिरण्य आदि निक्षेप में अल्पसंख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है अर्थात् किसी ने अपने पास धरोहर रखा, और कुछ दिन बाद आया, ठीक प्रमाण की उसे विस्मृति हुई, उसने कम बताया तो झटपट कह देना कि ठीक है, मैं देता हूँ, ले जाइए, यह कहकर अवशिष्ट भाग का अपहरण करना न्यासापहार है। पूर्ण अंश का अपहरण करना तो अनाचार है।

5. साकार-मन्त्र-भेद—प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है अर्थात् प्रयोजन प्रकरण, अंगविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकार-मन्त्र-भेद है।²²

ये पाँच अतिचार व्रतभंग—अभंग वृत्ति की अपेक्षा उपलक्षण से कहे गये हैं। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इन अतिचारों को कुछ परिवर्तन के साथ प्रतिपादित किया है। कुछ शब्दों में अन्तर होने पर भी अर्थ-भावार्थ में विशेष अन्तर नहीं है।

इस प्रकार के सत्यव्रत को एकदेश से भंग करने वाले अन्य वचन या प्रवृत्तियाँ भी सत्यव्रत के अतीचार हैं; सत्याणुव्रती को इन-सब बातों को सावधानीपूर्वक विचार कर सत्य को जीवन में उतारना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत—बिना दिए हुए दूसरों के पदार्थों का ग्रहण करना चोरी है।²³ चोरी हिंसा का एक रूप है, अहिंसा के सम्यक् परिपालन के लिए चोरी का त्याग भी आवश्यक है। चोरी करने से वंचित व्यक्ति को पीड़ा होती है। अतः चोरी करने से अहिंसा नहीं पल सकती तथा चोरी करने वाला सत्य का पालन भी नहीं कर सकता।

अचौर्याणुव्रती इस प्रकार की उन समस्त चोरियों का त्याग कर देता है, जिसके करने से राजदंड भोगना पड़ता है, समाज में अविश्वास बढ़ता है, प्रामाणिकता खंडित होती है तथा प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। किसी को ठगना, किसी की जेब काटना, किसी का ताला तोड़ना, किसी को लूटना, डाका डालना, किसी के घर सेंध लगाना,

किसी की सम्पत्ति हड़प लेना, किसी का गड़ा धन निकाल लेना आदि सब स्थूल चोरी के उदाहरण हैं।

अचौर्याणुव्रत को अस्तेयाणुव्रत भी कहते हैं। विभिन्न ग्रन्थों में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—जो रखे हुए तथा गिरे हुए अथवा भूले हुए अथवा धरोहर रखे हुए परद्रव्य को नहीं हरता है, न दूसरों को देता है, सो स्थूल चोरी से विरक्त होना अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।¹⁴ श्रावक राजा के भय आदि के कारण दूसरे को पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तु को लेना यद्यपि छोड़ देता है, तो भी बिना दी हुई वस्तु के लेने से उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है।¹⁵

अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ—शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद के भेद से ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं।¹⁶

1. शून्यागारावास—पर्वत की गुफा, वृक्ष की खोह (कोटर) आदि में निवास करना,
2. विमोचितावास—दूसरों के द्वारा छोड़े गये मकान आदि में रहना,
3. परोपरोधाकरण—दूसरों को उसमें आने से नहीं रोकना,
4. भैक्ष्यशुद्धि—आचारशास्त्र मार्ग अनुसार भिक्षाचर्या,

5. सधर्माविसंवाद—‘यह मेरा है, यह तेरा है’ इस प्रकार साधर्मियों के साथ विसंवाद नहीं करना। इस प्रकार पाँचों भावनाओं में निरत होने के कारण उस अचौर्यव्रत में विशुद्धि आती है।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार—अचौर्याणुव्रत का निर्दोष रूप से पालन करने के लिए पाँच प्रकार के अतिचारों का त्याग करके व्रत की विशुद्धि करनी चाहिए। स्तेनप्रयोग, चोरी के धन का ग्रहण, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

1. स्तेनप्रयोग—चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना व दूसरों के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त-प्रवृत्त कराना और उस चोरी की अथवा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना ये—सब स्तेनप्रयोग हैं।

2. तदाहतादान (चोरी के धन का ग्रहण)—चोरी करके लाये हुए धन-धान्यादिक को ग्रहण करना, खरीदना चौरहतादान कहलाता है, इसमें चोर को प्रेरणा भी नहीं करता है, अनुमति भी नहीं देता है, केवल चौर्यकर्म से लाये हुए पदार्थों को खरीदता है, यह भी दोष है।

3. विरुद्धराज्यातिक्रम—उचित न्यायभाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। राजा के राज्य पालनोचित कार्य को राज्य कहते हैं। राज्य के नियमों के विरुद्ध राज्य परिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महाकीमत में देने का प्रयत्न करना

विरुद्धराज्यातिक्रम है। शत्रु राज्यों के राजा के साथ मन्त्री, सेनापति आदि का संगठन होना यह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है।

4. हीनाधिकमानोन्मान—क्रय-विक्रय प्रयोग में कूटप्रस्थ तराजू आदि को हीनाधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है अर्थात् प्रस्थादि मान कहलाते हैं और तराजू आदि उन्मान। दूसरों को देते समय कम वजन वाले से बाटों से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाटों का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता है।

5. प्रतिरूपक व्यवहार—कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वंचना-पूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं का असली वस्तु में पिलाकर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है।¹⁷ इन-सब से व्रत में दूषण लगने के कारण एकदेशभंग भी है, इसीलिए अतिचार कहलाता है।

इन अतिचारों को त्याग कर अचौर्याणुव्रत को निर्दोषपूर्वक पालन करना चाहिए।
ब्रह्मचर्याणुव्रत—‘मैथुनमब्रह्म’ (त. सूत्र 7/16)—मैथुन के कर्म को मैथुन कहते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श करने में जो राग-परिणाम है, वही मैथुन है, अर्थात् चारित्र्यमोहनीय कर्म का उदय होने पर स्त्री और पुरुष के परस्पर शरीर का सम्मिलन होने से सुख-प्राप्ति की इच्छा से होने वाला जो राग परिणाम है, वह मैथुन कहलाता है। यौनाचार के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। गृहस्थ अपनी कमजोरीवश पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं कर पाता। उसके लिए विवाह का मार्ग खुला है। वह विवाह करके कौटुम्बिक जीवन में प्रवेश करता है। उसके विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करना ही होता है। विवाह के बाद वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माता, वहिन और पुत्री की तरह समझता है तथा पत्नी अपने पति के सिवा अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र की तरह समझती हुई दोनों एक-दूसरे के साथ ही सन्तुष्ट रहते हैं। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदारसन्तोषव्रत कहते हैं।¹⁸

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ—स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जन, तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग (उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग), पूर्व में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग, उन्मादक भोजन का त्याग और स्वशरीर संस्कार का त्याग—ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।¹⁹

जिन कथाओं को सुनने और पढ़ने आदि से स्त्रीविषयक अनुराग जाग्रत हो, ऐसी कथाओं के सुनने और पढ़ने आदि का त्याग करना स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग है। स्त्रियों के मुख, आँख, कुच और कटि आदि सुन्दर अंगों को देखने से काम-भाव जाग्रत होता है, इसलिए व्रती को एक तो स्त्रियों के सम्पर्क से अपने को बचाना चाहिए। दूसरे यह तन्मनोहरांग-निरीक्षणत्याग है। गृहस्थ अवस्था में विविध प्रकार के भोग भोगे रहते

हैं, उनके स्मरण करने से कामवासना बढ़ती है, इसलिए उनका भूलकर भी स्मरण नहीं करना पूर्वरतानुस्मरणत्याग है। गरिष्ठ और प्रिय खानपान का त्याग करना वृष्येष्टरसत्याग है तथा किसी भी प्रकार से अपने शरीर का संस्कार नहीं करना, जिससे स्व और पर के मन में आसक्ति पैदा हो सकती हो, स्वशरीर संस्कारत्याग है। ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्यव्रत की विशुद्धि व दृढ़ता में सहायक हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार—परविवाहकरण, अपरिगृहीता-इत्वरिकागमन, परिगृहीता-इत्वरिकागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।^{१०}

1. पर-विवाहकरण—अपने पुत्र और पुत्रियों का विवाह करना श्रावक के चतुर्थ व्रत के अन्तर्गत है, किन्तु कन्यादान में पुण्य समझकर और रागादि के कारण दूसरों के लिए लड़के-लड़कियाँ ढूँढ़ना, उनका विवाह कराना पर-विवाह-करण नामक अतिचार है।

2. अपरिगृहीता-इत्वरिकागमन—जिसका अपना कोई पुरुष स्वामी नहीं है, जो वेश्या या व्यभिचारिणी होने से दूसरे पुरुषों के पास आती-जाती रहती हैं, ऐसी पुंश्चला स्त्रियों के संसर्ग करना अपरिगृहीता-इत्वरिकागमन-अतिचार है।

3. परिगृहीता इत्वरिकागमन—जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है, ऐसी परिगृहीता भी पुंश्चला स्त्री के संसर्ग में जाना परिगृहीता-इत्वरिकागमन-अतिचार है।

4. अनंगक्रीड़ा—अनंगों से क्रीड़ा अनंगक्रीड़ा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि कामसेवन के अंग है। उन अंगों को छोड़कर अन्य अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है।

5. कामतीव्राभिनवेश—काम का प्रवृद्ध परिणाम कामतीव्राभिनवेश है। विषयभोग और कामक्रीड़ा में तीव्र आसक्ति होना है। उसके लिए कामोदीपन करने वाली औषधियों का सेवन कर विषय-वासना में प्रवृत्त होना कामतीव्राभिनवेश है।^{११}

इन अतिचारों से सदाचार अथवा ब्रह्मचर्यव्रत दूषित होता है। अतः श्रावक को इन अतिचारों से बचना चाहिए।

परिग्रहपरिमाणानुव्रत —आचार्य उमास्वामी ने परिग्रह की परिभाषा 'मूर्च्छा परिग्रहः'^{१२} ऐसा किया है। मोहनीयकर्म से उत्पन्न होने वाली ममत्व परिणति मूर्च्छा है, बाह्यान्तरंग परिग्रहों में होने वाली ममत्व की भावना ही परिग्रह है अथवा धन-धान्यादि बाह्यपदार्थों के प्रति ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहते हैं। मनुष्य के पास जितनी अधिक सम्पत्ति होती है, उसके पास उतना ही अधिक ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति होती है। अपनी इसी आसक्ति के कारण आवश्यकता न होने पर भी वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की कोशिश करता है, किन्तु जैसे-जैसे धन प्राप्त होता है, वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता ही जाता है। वह अपने इसी लोभ के कारण अधिकाधिक धन-संग्रह

करता है। परिग्रह की होड़ में दिन-रात बेचैन रहता है। यह लोभ और तृष्णा ही हमारे दुःख का मूल कारण हैं। धन-सम्पत्ति से सुख की कामना करना ईधन से आग बुझाने का प्रयास करने की तरह है। इसके विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो लोभकषाय को कम करके सन्तोष रूपी रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का घात करता है और अपनी आवश्यकता को जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है, उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है।¹³

परिग्रहत्याग व्रत की पाँच भावनाएँ—मनोज्ञ और अमनोज्ञ पाँचों इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष का त्याग करना अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ हैं¹⁴ अर्थात् अपने लिए इष्ट व अनिष्ट ऐसे पाँच इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग और द्वेष का त्याग करना इस व्रत की दृढ़ता के लिए कारण है। यह मानव इष्ट पदार्थों के प्रति अनुरक्त होता है और अनिष्ट पदार्थों के प्रति द्वेष करता है। इस प्रकार आसक्ति और द्वेष इन दोनों के त्याग से परिग्रहों को सीमित करने की भावना होती है और अपरिग्रह व्रत की रक्षा होती है। व्रती के लिए सदा व्रत की रक्षा के लिए इन भावनाओं का चिन्तन करते रहना चाहिए। उपर्युक्त कथन को 'सर्वार्थसिद्धि' में उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया गया है—जिस प्रकार पक्षी मांस के टुकड़े को प्राप्त करके उसको चाहने वाले दूसरे पक्षियों के द्वारा पराभूत होता है, उसी प्रकार परिग्रह वाला भी इसी लोक में उसको चाहने वाले चोर आदि के द्वारा पराभूत होता है। उसी के अर्जन, रक्षण और नाश से होने वाले अनेक दोषों को प्राप्त होता है, जैसे ईधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती, ठीक वही स्थिति लोभ की है। लोभातिरेक के कारण ही कार्य और अकार्य का विवेक नहीं करता, परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है तथा यह लोभी है, इस प्रकार से इसका तिरस्कार भी होता है। इसलिए परिग्रह का त्याग श्रेयस्कर है।

परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार—खेत, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन इन परिग्रहों का परिमाण करके, उनका उल्लंघन करना परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार हैं।¹⁵ जो जमीन खेती बाड़ी के काम आती है, वह क्षेत्र कहलाती है और घर आदि को वास्तु कहते हैं। इनका जितना प्रमाण निश्चित किया हो, लोभ में आकर प्रमाण का उल्लंघन करना क्षेत्र-वास्तुप्रमाणातिक्रम है।

व्रत लेते समय चाँदी और सोने का जो प्रमाण निश्चित किया हो उसका उल्लंघन करना हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम है। गाय, भैंस आदि पशुधन और चावल, गेहूँ आदि धान्य इनके स्व-कृत-प्रमाण का उल्लंघन करना धन-धान्यप्रमाणातिक्रम है। जिसके यहाँ जितने नौकर-चाकर हों, उनकी संख्या बढ़ाने की भावना रखना और उनके साथ मानवोचित व्यवहार न करना, उन्हें अपनी जायदाद समझना दासी-दासप्रमाणातिक्रम

है। वस्त्रों और बर्तनों आदि का प्रमाण निश्चित करके उसके प्रमाण का उल्लंघन करना कुप्यप्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

उक्त अतिचार रहित पाँच अणुव्रत स्वरूप निधियाँ सौधर्म आदि स्वर्गों के सुख प्रदान करती हैं। स्वर्गों में अणिमा-महिमा आदि आठ सिद्धियाँ और सप्तधातुरहित दिव्यशरीर प्राप्त होते हैं। पाँच अणुव्रत के पालन से इहलोक और परलोक में समादर प्राप्त होता है।

गुणव्रत

अणुव्रत के विकास के लिए गुणव्रतों का विधान किया गया है।^{१६} दिशापरिमाणव्रत (दिग्व्रत) देशव्रत, अनर्थदंडविरमणव्रत इन तीनों को गुणव्रत इसलिए कहा जाता है कि ये अणुव्रत रूपी मूल गुणों की रक्षा व उनका विकास करते हैं।^{१७} अणुव्रत यदि स्वर्ण के सदृश है, तो गुणव्रत उस स्वर्ण में चमक-दमक बढ़ाने के लिए पॉलिश-जैसे है। अणुव्रतों में शक्ति का संचार करने वाले गुणव्रत हैं। अणुव्रतों के पालन करने में जो कठिनाइयाँ हैं, उन कठिनाइयों को गुणव्रत दूर करते हैं। गुणव्रत द्वारा अणुव्रत की सीमा में रही हुई मर्यादा को और-अधिक संकुचित किया जाता है। अणुव्रतों में सभी द्रव्यों, क्षेत्रों, काल, भावों से हिंसादि के द्वार खुले रहते हैं। उन द्वारों को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से बन्द करने में गुणव्रत सहायक होते हैं। इसीलिए मूल-गुण-रूप अणुव्रतों के पश्चात् गुणव्रतों का विधान किया गया है—

(क) दिशापरिमाणव्रत : दुष्परिहार क्षुद्र जन्तुओं से भरी हुई दिशाओं से निवृत्ति दिग्विरति है।^{१८} जिनका परिहार (वचाव) अशक्य है ऐसे क्षुद्र जन्तुओं से दिशाएँ व्याप्त हैं। अतः उन क्षुद्र जन्तुओं की रक्षा करने के लिए दशों दिशाओं में गमनागमन निवृत्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की विनिवृत्ति के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके इससे बाहर में नहीं जाऊँगा इस प्रकार संकल्प करना या निश्चय कर लेना सो दिग्व्रत या दिशापरिमाणव्रत है।^{१९}

दिशापरिमाणव्रत के अतिचार— जिसने दिग्व्रतपरिमाणव्रत ग्रहण कर लिया है, उसे इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। दिशापरिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं। वे इस प्रकार हैं— 1. ऊर्ध्वव्यतिक्रम, 2. अधोव्यतिक्रम, 3. तिर्यग्व्यतिक्रम, 4. क्षेत्रवृद्धि और 5. स्मृत्यन्तराधान^{२०}।

1. ऊर्ध्वव्यतिक्रम— ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिए जो क्षेत्र-मर्यादा निश्चित कर रखी है, उस क्षेत्र को अनजाने में उल्लंघन कर जाना।

2. अधोव्यतिक्रम— नीची दिशा में जो गमनागमन की क्षेत्र मर्यादा कर रखी है, उसका अज्ञात रूप से उल्लंघन हो जाना।

3. तिर्यग्व्यतिक्रम— पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, नैऋत्य, वायव्य, ईशान और आग्नेय दिशा विदिशाओं में जो क्षेत्र मर्यादा रखी है उसका अतिक्रमण हो जाना।

4. क्षेत्रवृद्धि— असावधानी से क्षेत्र की मर्यादा को एक दिशा के परिमाण का अमुक अंश दूसरे दिशा के परिमाण में मिला देना अर्थात् एक दिशा के लिए की गयी सीमा को कम करके दूसरी दिशा की सीमा में जोड़ लेना। यह क्षेत्र-मर्यादा को वृद्धि करना अतिचार है।

5. स्मृत्यन्तराधान— अनुस्मरण (निश्चित मर्यादा को भूल जाना) ही स्मृत्यन्तराधान है। कितनी ही बार मर्यादा का स्मरण न रहने से मर्यादा का भंग हो जाता है।

(ख) देशव्रत— निश्चित मर्यादा वाले ग्राम, नगर, घर, कोठा आदि के प्रदेशों को देश कहते हैं। दिग्व्रत में ली गयी जीवन-भर की मर्यादा के भीतर भी अपनी आवश्यकताओं एवं प्रयोजन के अनुसार आवागमन को सीमित समय के लिए और-अधिक नियन्त्रित रखना देशव्रत कहलाता है।¹⁴ कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार— जो श्रावक लोभ और काम को घटाने के लिए तथा पाप को छोड़ने के लिए वर्ष आदि की अथवा प्रतिदिन की मर्यादा करके, पहले दिग्व्रत में किए हुए दिशाओं के प्रमाण को, भोगोपभोग परिमाणव्रत में किए हुए इन्द्रियों के विषयों के परिमाण को और-भी-कम करता है, वह देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत है।¹⁵ लाटीसंहिता के अनुसार—देशावकाशिक व्रत का विषय गमन करने का त्याग, भोजन करने का त्याग, मैथुन करने का त्याग अथवा मौन धारण करना आदि है।

दिग्व्रत एवं देशव्रत में अन्तर यह है कि दिग्व्रति यावज्जीवन (सर्वकाल) के लिए होती है, जबकि देशव्रत शक्यनुसार नियत काल के लिए होता है। सीमाओं के परे स्थूल-सूक्ष्म-रूप पाँचों पापों का भले प्रकार त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।

देशव्रत के पाँच अतिचार— आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशव्रतव्रत के पाँच अतिचार हैं,¹⁶—ऐसा आचार्य उमास्वामी ने कहा है। तत्त्वार्थवार्तिककार इन्हें इस प्रकार समझते हैं—

1. आनयन— सीमा के बाहर कार्यवश एवं लोभवश स्वयं न जाकर बाहर से कोई पदार्थ को मँगवाना आनयन-प्रयोग है।

2. प्रेष्यप्रयोग— व्यापार के निमित्त से स्वयं सीमा के बाहर न जाकर कोई माल वगैरह भेजना प्रेष्य-प्रयोग है।

3. शब्दानुपात— कोई लोभवश सीमा के बाहर न जाकर सीमा के पास खड़े होकर शब्द करना, आवाज देना आदि शब्दानुपात है।

4. रूपानुपात— सीमा का उत्लंघन न करने पर भी देशावकाशिक व्रती सीमा के

समीप जाकर अपने शरीरादि को दिखाकर अपने अभीप्सित कार्य के लिए संकेत करता है, वह रूपानुपात नाम का अतिचार है।

5. पुद्गलक्षेप— लोभवश सीमा के बाहर न जाकर सीमा के पास खड़े होकर पत्थर आदि फेंककर इशारा करना पुद्गलक्षेप है।¹⁷

(ग) अनर्थदंडविरमणव्रत— जिससे उपभोग-परिभोग होता है, वह श्रावक के लिए अर्थ है और उससे भिन्न जिससे उपभोग-परिभोग नहीं होता है, वह अनर्थ है। उस अनर्थदंड से विरत होना ही अनर्थदंड-विरति है।¹⁸

रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार—मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का नाम दंड है। प्रयोजन-रहित मन, वचन, काय की व्यर्थ-प्रवृत्ति को अनर्थदंड कहते हैं। प्रयोजन-रहित पाप के कारण रूप कार्यों को सीमा के अन्दर भी नहीं करना अनर्थदंडविरमणव्रत कहलाता है। अनर्थदंडविरमणव्रत के पाँच भेद हैं— पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या।

1. पापोपदेश— बिना प्रयोजन छोटे व्यापार आदि पाप क्रियाओं का उपदेश करना पापोपदेश कहलाता है। अनर्थदंडविरति वाले श्रावक को ऐसा उपदेश नहीं देना चाहिए।

2. हिंसादान— अस्त्र-शस्त्रादि हिंसक उपकरणों का आदान-प्रदान करना हिंसादान है।

3. दुःश्रुति— चित्त को क्लुप्ति करने वाला हिंसा, रागादि-प्रेरक अश्लील साहित्य पढ़ना, सुनना तथा अश्लील गीत, नाटक, टेलीफोन एवं सिनेमा आदि देखना दुःश्रुति है।

4. अपध्यान— कोई हार जाए, कोई जीत जाए, अमुक का मरण ही जाए, अमुक को लाभ हो जाए, अमुक को हानि हो जाए, बिना प्रयोजन इस प्रकार के चिन्तन को अपध्यान कहते हैं। इन क्रियाओं में व्यर्थ ही समय नष्ट होता है तथा पाप का संग्रह होता है। अतः व्रती इसका भी त्याग कर देता है।

5. प्रमादचर्या— बिना मतलब पृथ्वी खोदना, पानी बहाना, बिजली जलाना, पंखा चलाना, आग जलाना तथा वनस्पति काटना, तोड़ना आदि प्रयोजन-रहित और प्रदूषण फैलाने वाली क्रियाओं को प्रमादचर्या कहते हैं।

अनर्थदंड के पाँच अतिचार— प्रस्तुत व्रत के पाँच अतिचार हैं, जिनका परिहार करना व्रत के विकास के लिए आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं— कन्दर्प, कौतुक्य, मौख्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य।¹²

1. कन्दर्प— चारित्रमोह के उदय से उत्पादित राग के उद्रेक से हास्य-युक्त अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है।

2. कौतुक्य— हास्य, शोर, भंड-वचन सहित भौंहें, नेत्र, ओष्ठ, हाथ-पैर, नाक, मुख आदि की कुत्सित चेष्टा करना, यानी विकारों को धारण करना कौतुक्य नामक अतिचार है।

3. मौख्य— धृष्टतापूर्वक यदा-कदा बहुप्रलाप करना, शालीनता का त्याग कर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना मौख्य नामक अतिचार है।

4. असमीक्ष्याधिकरण— मन-वचन-काय की निष्प्रयोजन चेष्टा असमीक्ष्याधिकरण है।

5. उपभोगपरिभोगानर्थक्य— उपभोग और परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना। मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत ही है।¹³

इस तरह अनर्थदंडविरमणव्रत से मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रवृत्तियाँ विशुद्ध होती हैं, जिससे श्रावक सामायिक आदि अगले व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।

शिक्षाव्रत

अणुव्रतों और गुणव्रतों का पालन जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार श्रावक चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता है। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिधिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।¹⁴ इनसे मुनि बनने की शिक्षा/प्रेरणा मिलती है, इसलिए इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। श्रावक इन्हें विशेष रूप से पालता है। साधु-अवस्था में जिन कार्यों को विशेष रूप से करना होता है, उनका अभ्यास करना ही शिक्षाव्रत का प्रमुख उद्देश्य है। उपर्युक्त चारों शिक्षाव्रतों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

1. सामायिक— सामायिक ध्यान का श्रेष्ठ साधन है। मन की शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। सामायिक में मूल शब्द 'समय' है, जिसका अर्थ है एक-साथ जानना व गमन करना। 'आय' अर्थात् प्राणियों की हिंसा के हेतुभूत परिणाम। उस आय या अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना ही समय है अथवा सम्यक् आय अर्थात् आत्मा के साथ एकीभूत होना सो समय है। उस समय में हो या वह समय ही है प्रयोजन जिसका, सो सामायिक है। तात्पर्य यह है कि हिंसादि अनर्थों से सतर्क रहना सामायिक है। अमितगतिश्रावकाचार के अनुसार—जीवन व मरण में, संयोग व वियोग में, अप्रिय व प्रिय में, शत्रु व मित्र में, सुख व दुःख में समभाव को सामायिक कहते हैं।¹⁵

सामायिक करने के लिए उद्यत व्रती सबसे पहले केश-बन्धन करे। मुष्टि और वस्त्र में बन्धन कर प्रतिज्ञा करे कि इनके खुलने तक मैं आत्मविचार या सामायिक करूँगा। इसी प्रकार पर्यंक-आसन, पद्मासन आदि आसनों में बैठकर बैठक का नियम भी कर लेवे, इसी का नाम सामायिक है। सामायिक स्थान स्त्री, पाखंडी, तिर्यच, भूत, बेताल आदि; वे व्याघ्र, सिंह आदि तथा अधिक जन-संसर्ग से दूर होना चाहिए, निराकुल होना चाहिए। सामायिक करने वाले अचलयोग होते हुए शीत, उष्ण, डांस-मच्छर आदि

कृत परीषह उपसर्ग को भी सहन करते हैं। मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दुःखमय और पर-रूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिए। जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनधर्म, पंचपरमेष्ठी तथा कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालय का भी सामायिक में ध्यान किया जाता है। परिणामों में समताभाव की वृद्धि के लिए श्रावकों को शक्ति अनुसार सामायिक अवश्य करना चाहिए।

सामायिकव्रत के पाँच अतिचार— श्रीमद् उमास्वामी ने कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनः दुष्प्रणिधान, अनादर, स्मृत्यनुपस्थान,—ये पाँच सामायिक व्रत के अतिचार बतलाए हैं।⁵⁰

योगों का अन्यथा-प्रवर्तन योग-दुष्प्रणिधान है। क्रोधादिक कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र विकृत रूप हो जाना कायदुष्प्रणिधान है। वर्णसंकर का अभाव तथा अर्थ के आगमत्व में चलना अर्थात् निरर्थक अशुद्ध वचनों का प्रयोग करना वाचनिक-दुष्प्रणिधान है। मन का अनर्पितत्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना मानसिक-दुष्प्रणिधान है। अनुत्साह को अनादर कहते हैं। कर्तव्य कर्म का जिस-किसी तरह निर्वाह करना अनादर या अनुत्साह है अर्थात् सामायिक के प्रति उत्साह नहीं होना ही अनादर है। चित्त की एकाग्रता न होना और मन में समाधिरूपता का न होना स्मृत्यनुपस्थान कहा जाता है।

उपर्युक्त अतिचारों के कारण सामायिक व्रत का एकदेश भंग होता है, सर्वथा सामायिकव्रत का अभाव नहीं होता है। अभ्यास-दशा में जब सामायिक अतिचार-रहित होता है, तभी वह व्रती आगे की प्रतिमा को धारण करने के लिए योग्य होता है, इसलिए सामायिकव्रत की निर्दोषता के लिए व्रती सामायिक व्रत के पाँच अतिचारों का त्याग अवश्य करे। सामायिकव्रत में चित्त स्थिर करना सरल नहीं है, परन्तु नित्य प्रति अभ्यास करने से चित्त में एकाग्रता आती जाती है।

2. प्रोषधोपवासव्रत— चारों ही प्रकार के आहारों का त्याग उपवास है। उपवास धारण के दिन एकभुक्ति अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशी के दिन एक-भुक्ति प्रोषध और पर्व दिन में, अष्टमी, चतुर्दशी का उपवास एवं पारणा के दिन अर्थात् नौमी और पूर्णिमा के दिन एक-भुक्ति इसका नाम प्रोषधोपवास है। महीने में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी को उपवास, दो नौमी और पूर्णिमा, अमावस्या को एक-भुक्ति इसका नाम प्रोषधोपवास है।

प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार— श्रीमद् उमास्वामी ने अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार बतलाये हैं।⁵¹ जिनका वर्णन तत्त्वार्थवार्तिककार ने इस प्रकार किया है—चक्षु का व्यापार प्रत्यवेक्षण है, कोमल पिच्छिकादि उपकरण से भूमि

आदि का शोधन करना प्रमार्जन जानना चाहिए। उन प्रतिषेध विशिष्ट दोनों (अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित) का उत्सर्गादि प्रत्येक (उत्सर्ग, आदान, संस्तरोपक्रमण) के साथ सम्बन्ध करना चाहिए, जैसे अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग इत्यादि। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन नहीं करना—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित है। बिना देखी और बिना शोधी हुई भूमि पर मलमूत्रादि करना—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है। बिना देखी और बिना शोधी हुई भूमि पर अर्हन्त या आचार्य की पूजा के उपकरण का रखना, उठाना तथा गन्ध, माला, धूपादि का और अपने परिधान (बिछौना) आदि का वस्त्र एवं पात्रादि पदार्थों का रखना, उठाना, ग्रहण करना आदि अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितादान है। बिना देखी अथवा बिना शोधी भूमि पर संथारा (बिछौना) आदि बिछाना अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण है। भूख-प्यास आदि के कारण आवश्यक क्रियाओं में उत्साह नहीं रखना अनादर है। रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता से भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।¹²

3. भोगोपभोग परिमाण व्रत— भोजन, माला आदि एक ही बार उपयोग में आने योग्य वस्तु का भोग कहते हैं तथा वस्त्राभूषण अदि बार-बार भोगने में आने-योग्य वस्तुओं को उपभोग कहते हैं। भोग और उपभोग के साधनों को कुछ समय या जीवन-पर्यन्त के लिए त्याग करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहलाता है। यह भोगोपभोगपरिमाणव्रत व्यक्तिगत निराकुलता एवं सामाजिक सद्भाव दोनों दृष्टियों से उपयोगी है, क्योंकि इस व्रत के हो जाने पर अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह/संचय और उपभोग बन्द हो जाता है। इससे श्रावक अनावश्यक खर्च और आकुलता से बच जाता है तथा एक जगह अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न होने से दूसरों के लिए वे वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं। अनावश्यक माँग न होने के कारण समाजवाद में यह व्यवस्था बहुत ही उपयोगी है कि व्यक्ति अपने उपयोग की वस्तु का ही सीमित मात्रा में संग्रह करे। किसी एक के पास अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह होने से दूसरे उसके उपभोग से वंचित हो जाते हैं।

त्रसघात, बहुस्थावरघात, प्रमादकारक, अनिष्ट और अनुपसेव्य के त्याग रूप भेद से भोगोपभोगपरिमाणव्रत पाँच प्रकार का है।¹³ त्रस-घात की निवृत्ति के लिए मधु-माँस को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। केतकी के पुष्प, अर्जुन के पुष्प आदि बहुत जन्तुओं के उत्पत्ति-स्थान हैं तथा अदरख, हल्की, मूली, नीम के फूल आदि अनन्तकाय कहे जाने योग्य हैं अर्थात् इनमें अनन्त साधारण निगोदिया जीव रहते हैं। इनके सेवन से बहुविधात होता है, अतः इनका त्याग ही कल्याणकारी है। प्रमाद का नाश करने के लिए कार्याकार्य के विवेक को नष्ट करने वाली और मोह को करने वाली मदिरा का त्याग अवश्य करना चाहिए। यान, वाहन, हाथी, रथ, घोड़ा, अलंकार आदि में 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं, अन्य अनिष्ट हैं' इस प्रकार विचार कर अनिष्ट से निवृत्ति करनी

चाहिए, क्योंकि जब तक अभिसन्धि (अभिप्राय) पूर्वक वस्तु का त्याग नहीं किया जाता है, तब तक वह व्रत नहीं माना जा सकता। जो स्व को इष्ट है, परन्तु शिष्टजनों के लिए उपसेव्य नहीं है, धारण करने योग्य नहीं है, ऐसे विचित्र प्रकार के वस्त्र, विकृत वेष, आभरण आदि अनुपसेव्य पदार्थों का यावज्जीवन परित्याग करना चाहिए। यदि यावज्जीवन त्याग करने की शक्ति नहीं हो, तो अमुक समय की मर्यादा से अमुक वस्तुओं का परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार— (1) सचिताहार, (2) सम्बन्धाहार, (3) सम्मिश्राहार, (4) अभिषवाहार और (5) दुःपक्वाहार।

(1) सचिताहार— चेतनता-सहित द्रव्य का आहार सचिताहार है।

(2) सम्बन्धाहार— सचित से सम्बन्ध को प्राप्त हुआ द्रव्य सम्बन्धाहार है।

(3) सम्मिश्राहार— मिश्रित द्रव्य का आहार सम्मिश्राहार है।

(4) अभिषवाहार— द्रव्य, सिरका आदि और उत्तेजक भोजन अभिषवाहार कहलाता है।

(5) दुःपक्वाहार— जो ठीक तरह से नहीं पका हो, ऐसा आहार दुःपक्वाहार है।

4. अतिथिसंविभाग व्रत— चारित्र लाभ रूपी बल से सम्पन्न होने के कारण जो संयम का विनाश न करके भ्रमण करता है, वह अतिथि है अथवा जिसके आने की तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है। संविभजन को संविभाग कहते हैं। अतिथि के लिए संविभाग दान देना अतिथि-संविभाग है।¹⁴ व्रती श्रावक प्रतिदिन अपने भोजन से पूर्व उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों की प्रतीक्षा करता है। श्रावक सिर्फ आहार दान हो नहीं देता बल्कि आवश्यकता के अनुसार औषधि-दान भी देता है, समय-समय पर मुनियों को पिच्छी, कमंडलु एवं शास्त्रादि उपकरण भी देता है। इसी प्रकार मुनियों के रहने योग्य स्थान भी बनवाकर या व्यवस्था कर स्वयं को कृतार्थ करता है। ये सब क्रियाएँ अतिथि-संविभाग-व्रत के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार अभ्यागत अतिथि की पूजा और सत्कार करने से उसके द्वारा गृह-कार्यों से अर्जित समस्त पाप धुल जाते हैं।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार— सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, पर-व्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिथि-संविभाग-व्रत के अतिचार हैं।¹⁵ सचित्त कमल-पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु सचित्त-निक्षेप कहलाती है। प्रकरणवश सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है। दाता दूसरे स्थान पर, यह देने योग्य पदार्थ भी दूसरे व्यक्ति का है, ऐसा कहकर अर्पण करना पर-व्यपदेश है। आहार देते समय आदर भाव के बिना देना मात्सर्य कहलाता है। अनगारों के अयोग्य काल में आहार देना कालातिक्रम कहा जाता

है, ये पंच अतिचार अतिथिसंविभागव्रत के हैं।^{१६}

उक्त पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप बारह व्रतों का निर्दोष आचरण करते हुए आयु के अन्त में समाधिमरण धारण करने से सागार-धर्म की पूर्णता होती है; जैसा कि सागारधर्मावृत में कहा भी है— निर्मल सम्यक्त्व, निर्दोष अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत एवं मरण के अन्त समय में सल्लेखना को धारण करना पूर्ण सागारधर्म है। आयु, इन्द्रिय, बल आदि प्राणों का ह्रस्व-रूपी क्षुद्र-मरण तो प्रति-समय होता रहता है, परन्तु अन्त समय में पर्याय परिवर्तन का जो मरण होता है, उसका नाम महामरण है, महामरण के समय सल्लेखना की साधना भद्र-साधक का कर्तव्य है।

सल्लेखना—‘सल्लेखना’ (सत्+लेखना) अर्थात् अच्छी तरह से काय और कषायों को कृश करने को सल्लेखना कहते हैं। निष्प्रतीकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धपना अथवा रोग के आ जाने पर धर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे आर्य पुरुषों ने सल्लेखना कहा है। इसे ही समाधिमरण भी कहते हैं। श्रीमद् उमास्वामी ने कहा है— मरणकाल समुपस्थित होने पर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समतापूर्वक देह-त्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है।^{१७}

देह-त्याग की इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे आत्म-घात कहते हैं, किन्तु सल्लेखना आत्म-घात नहीं है। आत्म-घात को तो जैनधर्म में पाप, हिंसा एवं आत्मा का अहितकारी कहा गया है। आत्म-घात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है, किन्तु सल्लेखना का मूलाधार समता है। आत्म-घाती को आत्मा की अविनश्वरता का भान नहीं होता, जबकि सल्लेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक यात्रा को सुधारना है। सल्लेखना जीवन के अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता, अनुपयुक्तता, भार-भूतता अथवा मरण के किसी अन्य कारण के आने पर मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है, जबकि आत्म-घात जीवन में किसी भी क्षण किया जा सकता है। आत्मघाती के परिणामों में दीनता, भीति और उदासी पायी जाती है, तो सल्लेखना में परम उत्साह, निर्भीकता और वीरता का सद्भाव पाया जाता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है, तो सल्लेखना निर्विकार-मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहाँ मरने का लक्ष्य है, तो सल्लेखना का ध्येय मरण के योग्य परिस्थिति निर्मित होने पर अपने सद्गुणों की रक्षा का है, अपने जीवन के निर्माण का है।

सल्लेखना को साधना की अन्तिम क्रिया कहा गया है। अन्तिम क्रिया यानी मृत्यु के समय की क्रिया को सुधारना अर्थात् काय और कषाय को कृश करके संन्यास धारण करना—यही जीवन भर के तप का फल है। इसलिए प्रत्येक साधक को सल्लेखना अवश्य करनी चाहिए।

सल्लेखना की विधि— साधक को सर्वप्रथम अपने कुटुम्बियों, परिजनों एवं मित्रों से मोह, अपने शत्रुओं से बैर तथा सब प्रकार के बाह्य पदार्थों से ममत्व का शुद्ध मन से त्यागकर, मिष्ट वचनों के साथ अपने स्व-जनों एवं परि-जनों से क्षमा याचना करनी चाहिए तथा अपनी ओर से भी उन्हें क्षमा करनी चाहिए। उसके बाद किसी योग्य गुरु के पास जाकर कृत-कारित अनुमोदन से किए गये सब प्रकार के पापों की छलरहित आलोचना कर, मरणपर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कषायों को कृश करने के साथ वह अपनी काया को कृश करने के हेतु सर्वप्रथम स्थूल/ठोस आहार दाल-भात, रोटी-जैसे का त्याग करता है तथा दुग्ध, छाछ आदि पेय पदार्थों पर निर्भर रहने का अभ्यास बढ़ाता है। धीरे-धीरे जब दूध, छाछ आदि पर रहने का अभ्यास हो जाता है, तब वह उनका भी त्याग कर मात्र गर्प जल ग्रहण करता है। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक अपने उक्त अभ्यास और शक्ति को बढ़ाकर धीरजतापूर्वक, अन्त में उस जल का भी त्याग कर देता है और अपने व्रतों को निरतिचार पालन करते हुए 'पञ्च नमस्कार' मन्त्र का स्मरण करता हुआ शान्ति पूर्वक इस देह का त्यागकर परलोक को प्रयाण करता है।^{१०}

सल्लेखना के अतिचार—जीने की आकांक्षा करना, मरने की आकांक्षा करना, मित्रों में अनुराग करना, पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना और निदान-बन्ध करना ये पाँच सल्लेखनाव्रत के अतिचार हैं। यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है, जल के बबूले के समान अनित्य है— ऐसे इस शरीर की स्थिति किस प्रकार रखी जाए, कैसे यह बहुत काल तक टिका रहे इत्यादि रूप से शरीर के ठहरने की अभिलाषा जीविताशंसा है। रोगादि की तीव्र पीड़ा के कारण जीवन में संक्लेश होने पर मरण के प्रति चित्त का प्रणिधान होना मरणाशंसा है। बचपन के जो मित्र हैं, जिन्होंने आपत्ति में सहायता दी है और सुख-दुःख में सहयोगी बने हैं, उन मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है।

'मैंने यह खाया, इस प्रकार के पलंग पर सोता था, इस प्रकार की क्रीड़ा करता था' इत्यादि पूर्व भुक्त क्रीड़ा, शयन, भोग आदि का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहा जाता है। विषय सुखों की उत्कट अभिलाषा भोगाकांक्षा है। उस भोगाकांक्षा से जिसमें नियत रूप से चित्त दिया जाता है वह निदान है।

इसप्रकार ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं। जो एक बार अतिचार रहित होकर सल्लेखनापूर्वक मरण प्राप्त करता है, वह अतिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है। जैन शास्त्रों के अनुसार सल्लेखनापूर्वक मरण करने वाला साधक या तो उसी भव से मुक्त हो जाता है या एक या दो भव के अन्तराल से। ऐसा कहा जाता है कि सल्लेखनापूर्वक मरण होने से अधिक से अधिक सात-आठ भवों में तो मुक्ति हो ही जाती है इसीलिए जैनसाधना में सल्लेखना को इतना महत्त्व दिया जाता है तथा प्रत्येक साधक 'श्रावक

और मुनि' को जीवन के अन्त में प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करने का उपदेश दिया गया है।

सन्दर्भ

1. अभिधान राजेन्द्रकोष, सप्तमभाग, सावद्यशब्द पृ. -779
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार -66
3. तत्त्वार्थसूत्र 7/39
4. निःशल्को ब्रती। त.सू. 7/18
5. तत्त्रिविधं मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात्। त. वा. 7/18/3
6. अगार्यनगारश्च। अणुव्रतोऽगारी। त. सू. 7/19, 20
7. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ब्रतम्। त. सू. 7/1
8. ब्रतमभिसन्धि कृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा सर्वा. सि. 7/1/664
9. देशसर्वतोऽणुमहती। त. सू. 7/2
10. तत्त्वार्थसूत्रवार्तिक 7/1/6
11. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। त. सू. 7/13
12. उद्धृत जैन धर्माभूत 430, 33
13. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च। त.सू. 7/4
14. मूलाचार—337
15. बन्धबधच्छेदातिभारोपणान्नपाननिरोधाः। त. सू. 7/25
16. तत्त्वार्थवार्तिक 7/25/1 से 5 तक के वार्तिक
17. सर्वार्थसिद्धि 7/20/358/8
18. कार्तिकेयानुप्रेक्षा। 333/334
19. क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानात्यनुवीचिभाषणञ्च पञ्च त. स. 7/5
20. चारित्रसार /65/4
21. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।। त. सू. 7/26
22. द्रष्टव्य—त. वा. 7/26/1 से 5 तक वार्तिक
23. अदत्तादानं स्तेयम्। त. सू. 7/15
24. रत्नकरण्डश्रावकाचार 57
25. सर्वार्थसिद्धि 7/20/358
26. शून्यागारविमोक्षितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च। त. सू. 7/6
27. स्तेनप्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहाराः। त. सू. 7/27
28. रत्नकरण्डश्रावकाचार 59
29. स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वतानुस्मरणवृष्येष्टर-सस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च। तत्त्वार्थसूत्र 7/7
30. परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनवेशाः। त. सू. 7/28
31. तत्त्वार्थवार्तिक 7/28/1 से 5 तक के वार्तिक

32. तत्त्वार्थसूत्र 7/17
33. कार्तिकेयानुप्रेक्षा मू. 339-340
34. मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च । त. सू. 7/8
35. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः । त. सू. 7/29
36. यद्गुणायोपकारायणुव्रतानां व्रतानि तत् गुणव्रतानि । सागारधर्माभूत 5/1
37. दिविररतिः देशविरति अनर्थदंडविरतिरिति एतानि त्रीणि गुणव्रतानि । सर्वा. सि. 7/21/703
38. दुष्परिहरक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्द्विनिवृत्तिः । त. वा. 7/21/15
39. रत्नकरण्डश्रावकाचार 67-68
40. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि । तत्त्वार्थसूत्र 7/30
41. उपभोग-परिभोगौ अस्याऽगारिणोऽर्थः । तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः । तत्त्वार्थभाष्य 7/16
42. कन्दर्पकौतुकुच्यमौखर्यऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि । त. सू. 7/32
43. त. वा. 7/32/1 से 5 तक वार्तिक
44. तत्त्वार्थवार्तिक 7/21/3 ~ ग्रामादीनाम् अवधृतपरिणामः प्रदेशो देशः
45. कार्तिकेयानुप्रेक्षा मू. गा. 367 368
46. आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । त. सू. 7/31
47. त. वा. 7/31/1-5 तक के वार्तिक
48. भगवती आराधना मू.—2082
49. अमितगतिश्रावकाचार 8/31
50. त. सू. 7/33
51. त. सू. 7/34
52. त. सू. 7/34/1-5
53. भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसंघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । त. वा. 7/21/27
54. त. वा. 7/21 पृ. 392
55. त. सू. 7/36
56. त. वा. 7/36/1-5
57. मारणान्तिकी सत्त्वेखनां जोषिता । त. सू. 7/22
58. रत्नकरण्डश्रावकाचार—122-130

प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य

ब्र. जयकुमार 'निशान्त'

जैन धार्मिक परम्परा में देव-दर्शन एवं पूजा प्रत्येक गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य है। देव दर्शन से जहाँ पुण्य की प्राप्ति होती है, वहीं कर्मों की निर्जरा भी होती है',—ऐसी जैन दार्शनिक मान्यता है। इसीलिए जैन-परम्परा में देवदर्शन-स्तोत्र में निम्नांकित उल्लेख मिलता है—

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम् ।

दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम् ॥

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वन्दनेन च ।

न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥

अर्थात् 'जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन पापों को नष्ट करने वाला है, स्वर्ग की सीढ़ी है, मोक्ष का साधन है एवं जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन व साधुओं की वन्दना से पाप चिरकाल तक ठहर नहीं सकता अर्थात् अविलम्ब नष्ट होता है, ठीक वैसे ही जैसे खुली अंगुलियों वाली अंजुली में पानी नहीं ठहरता है।' साक्षात् जिनेन्द्र देव का दर्शन आज सम्भव नहीं है, वह जिनबिम्ब के माध्यम से ही घटित होता है; पर जिनबिम्ब यदि केवल पाषाण, रत्न या धातु का बना है और उसमें प्रतिष्ठा नहीं हुई है, तो वह भी बहुत-काम का नहीं है, क्योंकि प्रतिष्ठा से ही बिम्ब में गुणों का आरोपण होता है और उन आरोपित गुणों के साथ जुड़ाव से ही पुण्यार्जन होता है व व्यक्ति में अन्ततः कर्मों की निर्जरा की प्रवृत्ति और बिम्ब में उसका निमित्त बनने की शक्ति जाग्रत होती है।

संस्कृत व्याकरण शास्त्र के अनुसार प्रतिष्ठा शब्द 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु से 'अङ्' व 'टाप्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। इसके अपने-अपने सन्दर्भ में अनेक अर्थ हैं, सभी धर्मावलम्बी अपने आराध्य की स्थापना चित्र, ग्रन्थ, प्रतिमा, यन्त्र आदि में करते हैं और इस प्रतिष्ठापना-क्रिया के बाद वह माध्यम रूप कागज, धातु या पाषाण पाषाण नहीं रह जाता, वह उसके आराध्य के रूप में उसकी श्रद्धा, आस्था एवं समर्पण के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह प्रतिष्ठापना-क्रिया सत्पुरुषों के सान्निध्य में मांगलिक अनुष्ठानपूर्वक मन्त्रों के द्वारा होती है और इसी प्रकार इसी

प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य :: 335

क्रिया से वह वस्तु पूजनीय हो जाती है।

जैन परम्परा में प्रतिष्ठा के पर्याय के रूप में प्रतिष्ठान, प्रतिष्ठा, स्थापन, तत्प्रतिक्रिया इत्यादि पर्यायवाची नामों का प्रयोग है और उक्त स्थापना आदि में आत्मबुद्धि होने के कारण स्तवन आदि से उसमें अभेद माना गया है। कुल मिलाकर प्रतिष्ठा के मन्त्रों के द्वारा हम प्रतिष्ठित होने वाली विम्ब वस्तु में सर्वज्ञपने की, तीर्थकरत्व की, वीतराग-भाव की निक्षेप के द्वारा स्थापना करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वह वस्तुविशेष आत्म-वस्तु के यथार्थ-ज्ञान की कारक बन जाती है।

जैन-परम्परा में मन्दिर-प्रतिष्ठा के अन्तर्गत विम्ब-प्रतिष्ठा, वेदी-प्रतिष्ठा, शिखर-प्रतिष्ठा, यन्त्र-प्रतिष्ठा और चरण-प्रतिष्ठा आदि का विधान है और इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया का उल्लेख प्रमुख रूप से प्रतिष्ठा पाठ, प्रतिष्ठा तिलक, प्रतिष्ठा सारोद्धार, प्रतिष्ठा चन्द्रिका, प्रतिष्ठा प्रदीप, प्रतिष्ठा रत्नाकर, प्रतिष्ठा पराग आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यद्यपि उक्त ग्रन्थों के पूर्व भी जैन परम्परा में जैन आचार-शास्त्र के मूल ग्रन्थों में प्रतिष्ठा सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं, परन्तु इन ग्रन्थों के द्वारा प्रतिष्ठा की प्रक्रिया को एक व्यवस्थित स्वरूप मिला है। जैन परम्परा में देवदर्शन एवं पूजा की परम्परा अनादिकालीन है, इसलिए ऐसी प्रतीति है कि प्रतिष्ठा की प्रक्रिया भी अनादिकालीन ही रही होगी। चूँकि सभी भारतीय धर्मों, दर्शनों की मूल प्रक्रिया वाचिक थी, इसलिए यह परम्परा भी आचार्यों के साथ बँधती हुई श्रुत के रूप में आगे चली होगी, जो उक्त ग्रन्थों में निगदित है।

इस स्थापना के प्रमुख रूप से दो भेद माने गये हैं—1. अतदाकार स्थापना; 2. तदाकार स्थापना। अतदाकार स्थापना में प्रतिष्ठेय का आकार-रूप न होने पर भी उसे उस रूप स्वीकार करना, जैसे—शतरंज के मोहरे, सामान्य (वेडोल) पाषाण में देवों की स्थापना, चावल आदि में भगवान् की स्थापना आदि एवं तदाकार स्थापना में प्रतिष्ठेय का आकार, बाह्य रूप उसी रूप में होना चाहिए, जैसा मूल रूप में भगवान् का था, पर इस प्रकार प्रतिमा की अवधारणा वस्तुतः तदाकार की स्थापना के रूप में जैन प्रतिष्ठा परम्परा में पल्लवित हुई है। यहाँ यह उद्धृत करना अतिरिक्त न होगा कि समस्त भारतीय धर्मों में प्राचीनतम प्रतिमाएँ जैन-परम्परा की प्राप्त हुई हैं। चूँकि वे प्रतिष्ठित होकर आराधना का अंग किसी न किसी काल में बनीं, इसीलिए हजारों वर्षों की लम्बी यात्रा कर आज भी हमें देश एवं विदेश में प्राप्त होती हैं।

प्रतिष्ठा के पात्र और उनकी अर्हता

प्रतिष्ठा करने व कराने वालों की पात्रता के सम्बन्ध में भी जैन शास्त्रों में लम्बी चर्चा है। यदि पात्रता रखने वाला व्यक्ति प्रतिष्ठा कराता है, तो उसके परिणाम बड़े सकारात्मक होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिष्ठाकर्ता को अनेक लाभ होते हैं और

उनका विश्वास अनुष्ठान-विधि में बढ़ता है। पात्रों की संयम-साधना, अभक्ष्य-त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, कषाय-प्रवृत्तियों पर अंकुश करने से उनके चित्त का शोधन होता है, जिसका प्रभाव प्रतिष्ठेय वस्तु पर पड़ता है। इसीलिए प्रतिष्ठा-पाठों में प्रतिष्ठा करने वाले की योग्यताओं का विशद वर्णन मिलता है। बात इतनी ही नहीं, प्रतिष्ठा के कराने वाले आचार्य, पण्डित आदि की योग्यता का उल्लेख भी शास्त्रों में है। सूरिमन्त्र प्रदाता आचार्य, इन्द्र क्रिया का कर्ता, यज्ञ का कर्ता, यजमान, उसकी पत्नी, पूजन-कर्ता आदि ये पाँचों व्रतधारी होने चाहिए। सामग्री सम्पादित करने वाला, मन्त्री, सभासद, अध्यापक, पाठवक्ता, पण्डित, श्री, ह्री आदि कन्याएँ व लौकान्तिक देव के रूप में भी साधर्मिजन पात्र के रूप में प्रतिष्ठा में सम्मिलित होते हैं। इन सबकी योग्यता के बारे में भी शास्त्रों में लेख हैं, जो प्रमुख रूप से उनके संयमी जीवन का आधार बनते हैं।

प्रतिष्ठाकर्ता-यजमान न्याय-मार्ग से आजीविका करने वाला, गुरु की भक्ति करने वाला, निन्दा आदि दोषों से रहित, विनयवान, ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण वाला व्रत क्रिया, वन्दना आदि में सावधान, शीलवान, श्रद्धावान, सदाता के गुणों से युक्त, महान् कार्य करने का इच्छुक, शास्त्रज्ञ, मन्दकषायी, निष्कलंक, कुकर्म-उन्माद व अपवाद से दूर रहने वाला और जैनधर्म में उदार बुद्धिवाला व्यक्ति होना चाहिए। जैन परम्परा में यजमान के पर्यायवाची के रूप में यज्वा, याजक, यष्टा, पूजक, षट्कर्मा, याज्ञकृत, संघी आदि शब्द मिलते हैं।

जहाँ जैन-परम्परा प्रतिष्ठा के योग्य पात्रों का उल्लेख करती है, वहीं कौन प्रतिष्ठा नहीं करा सकता है, इस बात का उल्लेख भी जैन शास्त्रों में है, भील अर्थात् शिकार करने वाला, सुनार, भैरों, चण्डिका की पूजा करने वाला, चोरी करने वाला, स्त्री का व्यभिचार कराकर धन अर्जित करने वाला, जुआरी, व्यसनी, रौद्र का रूप मदिरा आदि तथा खेती करने वाले, दूसरे का धन लगाकर अपना यश चाहने वाले, संघ के निन्दक, राज्य के द्रव्य का हरण करने वाले, निर्माल्य के भोक्ता के द्रव्य का प्रतिष्ठा में निषेध है। इस पूरी प्रक्रिया के पीछे जैन विचार-शास्त्रियों का भाव उत्तम समाज के निर्माण का रहा है। इसीलिए वहाँ प्रतिष्ठाकर्ता के द्विविध स्वरूप का उल्लेख है। ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार प्रतिष्ठा-कर्ता की योग्यताओं और अयोग्यताओं का उल्लेख जैन परम्परा में है, ठीक वैसे ही जैन शास्त्रों के अनुसार कोई भी शास्त्रज्ञ प्रतिष्ठाचार्य, इन्द्र, शची, दिक्कन्या आदि के रूप में संयम आदि का पालन न करने वाला अपनी भूमिका नहीं निभा सकता है। इनके चयन के भी जो आधार हैं, वे आधार निश्चित रूप में एक उत्तम समाज के निर्माण का संकेत करते हैं।

बिम्ब-निर्माण-विधि

प्रतिष्ठा ग्रन्थों में बिम्ब निर्माता किस तरह का हो, उसका शिल्पी कैसा हो, शिल्पी

जिस पाषाण से बिम्ब बनाने जा रहा है, वह कैसा हो और उसके बाद जो बिम्ब बनकर तैयार होना है, उसका स्वरूप कैसा हो, उसकी माप कैसी हो, आदि का उल्लेख भी बड़ी सूक्ष्म-प्रक्रिया के साथ प्रतिष्ठा-पाठों में मिलता है। इस पूरी प्रक्रिया के पीछे भी विचार यह है कि जो जिनालय या जो जिनबिम्ब हम स्थापित करने जा रहे हैं, वह न्याय से अर्जित किये गये धन उत्तम संयमी शिल्पी¹⁵ व निर्माणकर्ता तथा उत्तम शिला के आधार पर उत्तम/उत्कृष्ट आकार वाला होना चाहिए। जिनबिम्ब स्वर्ण, रत्न, मणि, चाँदी, स्फटिक एवं निर्दोष पत्थर के बनाये जाते हैं।

शिला-परीक्षण या आकर-शुद्धि-विधि

प्राचीन काल में यह क्रिया जिनबिम्ब निर्माण के पूर्व शिला के भीतरी दोषों को जानने के लिए पूर्ण विधि-विधानपूर्वक दिन में, सूर्य के प्रकाश में, अनुष्ठानपूर्वक की जाती थी। इस क्रिया में निम्न क्वाथों का प्रयोग किया जाता है—

1. सप्तौषधि क्वाथ; 2. पंचफल क्वाथ; 3. छल पंच क्वाथ; 4. दिव्यौषधि मूलाष्टक क्वाथ; 5. सर्वौषधि क्वाथ; 6. सर्वौषधि; 7. अष्टगन्ध; 8. उवटन।

इन क्वाथों में विशेष औषधियों के प्रभाव से शिला-खण्ड के भीतरी दोष प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार निर्दोष शिला का चयन कर पूर्ण विधि-विधान से मन्त्रों से शुद्ध करके वास्तु के नियमानुसार बिम्ब-निर्माण किया जाता था।

पाषाण-प्रतिमा के दाग प्रगट करने के लिए निर्मल कांजी के साथ बेल वृक्ष की छाल का प्रयोग तथा पानी के साथ छिले हुए गरी के गोले को प्रतिमा पर रगड़ने से रेखाओं की जानकारी हो जाती थी व हो जाती है।

जिनबिम्ब प्रतिष्ठा एवं मन्दिर निर्माण में ज्योतिषीय गणनाओं का भी उल्लेख है तथा यह भी लिखा है कि ज्योतिष सम्बन्धी मुहूर्तादिक का प्रतिष्ठा में किसी भी प्रकार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, यथा—दक्षिणायन, गुरु अस्त, शुक्र अस्त, मल मास, अशुभ योग में प्रतिष्ठा कार्य नहीं करना-कराना चाहिए। शुभ-तिथि, शुभ-लग्न, शुभ-वार, शुभ-नक्षत्र में ही कार्य का शुभारम्भ श्रेयस्कर होता है।

जिनबिम्ब का माप

जिनबिम्ब का माप ताल से किया जाता है, जिस प्रतिमा का माप करना हो, उस प्रतिमा के 12 अंगुल एक ताल के बराबर होता है।

1. त्रिलोकसार—आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी के अनुसार 10 ताल
2. वास्तुसार—उक्कुरफेरु के अनुसार 9 ताल
3. धवला ग्रन्थ—आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि के अनुसार देवों, मनुष्यों एवं नारकियों का उत्सेध क्रमशः दश, नौ एवं आठ ताल के अनुसार होता है।

4. प्रतिष्ठा पाठ—आचार्य जयसेन के अनुसार बिम्ब 9 ताल (108 अंगुल) होना चाहिए।

प्रतिष्ठा ग्रन्थानुसार जिनबिम्ब सुन्दर अंगोपांग, कान्ति व लावण्य-सहित, वृद्ध व बाल अवस्था से रहित, प्रसन्न, सौम्य, शान्त स्वरूप, श्रीवत्स लक्षण सहित, नख-केश सहित, समचतुरस्र संस्थान से युक्त, वैराग्य और तप की दिगम्बर-मुद्रा-सहित, पद्मासन एवं कायोत्सर्ग-मुद्रा-सहित अन्य नाना प्रकार के आसनों से रहित, अष्टप्रातिहार्ययुक्त, नासाग्र स्थित अविकारी दृष्टि, शुभ लक्षण सहित एवं रौद्रादि बारह दोषों से रहित, दाग एवं प्रतिकूल रेखाओं रहित होता है।

अर्हन्त एवं सिद्ध बिम्ब में अन्तर

अर्हन्त बिम्ब सुन्दर अंगोपांग सहित, दिगम्बर स्वरूप वाला अष्टप्रातिहार्य एवं चिह्न सहित होता है। सिद्ध बिम्ब अष्ट प्रातिहार्य एवं चिह्न रहित होता है। दोनों ही बिम्ब रूप होते हैं, तभी उनके ऊपर संस्कारारोपण एवं मन्त्रन्यास की क्रिया किया जाना सम्भव होता है।

सर्पांगुल—प्रतिमा प्रतिष्ठा योग्य नहीं होती है, विषम माप की प्रतिमा श्रेष्ठ होती है और वह प्रतिष्ठा के योग्य होती है।

हीनांगी जिनबिम्ब का फल

जिनबिम्ब के अंगोपांग उपर्युक्त माप के अनुसार होने चाहिए। बेडौल, भिन्नमाप, हीनांग या अधिकांग का प्रभाव प्रतिष्ठाकारक पर पड़ता है। अतः प्रतिष्ठाकारक को जिनबिम्ब का माप अनुभवी प्रतिष्ठाचार्य से कराकर ही प्रतिष्ठा कराना चाहिए। मूलनायक प्रतिमा का सूक्ष्म परीक्षण अनिवार्य है।

हीनांगप्रतिमा का फल निम्नानुसार है—

वक्रनासिका—दुःखकारक

विकृत नेत्र—नेत्र-विनाशक

हीन कटि—आचार्य-विनाशक

हीन आसन—ऋद्धि-अवनाशक

ऊर्ध्वमुख—धन-नाशकारक

वक्र ग्रीवा—स्वदेश-विनाशक

विषम आसन—व्याधिकारक

न्यूनाधिक अंग—स्व-पर-पक्ष को कष्ट

अधिक अंग—शिल्पकार का नाश

पतला उदर—दुर्भिक्षकारक

प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य :: 339

गाढ़ दृष्टि—अशुभकारक
 ऊर्ध्वदृष्टि—भार्यानाश
 बड़ा उदर—उदर-रोगकारक
 हीन अंस—पुत्र-नाशकारक
 अंग छोटे हों—क्षयकारक
 छोटा मुख—भोग-विनाशक
 हीन जंघा—पुत्र-मित्र-विनाशक
 हीन हस्त एवं चरण—धन-क्षयकारक
 अधोमुख—चिन्ताकारक
 ऊँचा-नीचा मुख—विदेश गमन
 अन्याय के धन से निर्मित—दुष्काल-कारक
 रौद्र रूप—विम्ब निर्माता का नाश
 दुर्बल अंग—द्रव्य का नाश
 तिरछी दृष्टि—अपूजनीय-विरोधकारक
 अधोदृष्टि—विघ्नकारक-पुत्रनाश
 नेत्ररहित—नेत्र-नाशकारक
 हीनाधिक हृदय—हृदय-रोगकारक

खण्डित जिनबिम्ब का फल

रथोत्सव, विमानोत्सव एवं अन्य नित्य अनुष्ठानों में धातु के विम्ब ही स्थापित करना चाहिए। पाषाण या कोमल सन्धि वाले जिनबिम्ब स्थापित नहीं करना चाहिए।

खण्डित प्रतिमा का प्रभाव व्यक्ति के परिवार के साथ-साथ समाज तथा पूजक पर भी पड़ता है। इसलिए खण्डित अंग की प्रतिमा को मूलनायक के रूप में विराजमान नहीं करना चाहिए।

नख खण्डित होने पर—शत्रुभय कारक
 बाहु खण्डित होने पर—बन्धन कारक
 चरण खण्डित होने पर—द्रव्य क्षयकारक
 चिह्न खण्डित होने पर—वाहन विनाशक
 छत्र खण्डित होने पर—लक्ष्मी विनाशक
 कान खण्डित होने पर—बन्धु विनाशक
 अंगुलि खण्डित होने पर—देश विनाशकारक
 नासिका खण्डित होने पर—कुल विनाशकारक
 पादपीठ खण्डित होने पर—स्वजन विनाशक

परिकर खण्डित होने पर—सेवक विनाशक
श्रीवत्स खण्डित होने पर—सुख विनाशक

मूलनायक जिनबिम्ब की दृष्टि

वेदी निर्माण एवं वेदी प्रतिष्ठा के समय पूर्ण विधि-विधान एवं मूलनायक प्रतिमा की दृष्टि का ध्यान रखा जाना अनिवार्य है। मूलनायक प्रतिमा ब्रह्म स्थान एवं नाभिकेन्द्र को छोड़कर इस प्रकार स्थापित करें कि दृष्टि गज—आय से होकर बाहर निकले।

यदि मूलनायक जिनबिम्ब की दृष्टि बाधित होती है तो प्रतिष्ठाकारक, समाज और नगर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। श्रावकों के स्वास्थ्य, व्यापार, उद्योग, मानसिक स्थिति सभी प्रभावित होते हैं। आय का वर्णन वास्तुसार, वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासार एवं प्रासाद मण्डन के अनुसार गर्भगृह के द्वार के सातवें भाग में रहना शुभ माना है।

जिनबिम्ब दीवार से सटाकर या दीवार के अन्दर बनी वेदी में विराजमान नहीं करना चाहिए, इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार निर्दोष प्रतिमा विराजमान करके भाव-सहित मन, वचन, काय की विशुद्धिपूर्वक दर्शन-पूजन करने वाले को परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कल्याणक

तीर्थते संसार-सागरो येन सः तीर्थः, तीर्थकर। संसार पार होने वाले मार्ग को करने वाले जीव के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान एवं मोक्ष के अवसर पर देवों एवं मनुष्यों द्वारा विशेष रूप से मनाये जाने वाले उत्सव विशेष को कल्याणक कहते हैं, इनकी संख्या पाँच होने से पंचकल्याणक कहलाते हैं, जिनसे भव्य जीवों के कल्याण (मोक्षमार्ग) का पथ प्रशस्त होता है।

तीर्थकर सत्ता को धारण करने वाले जीव पूर्व बाँधी आयु के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाता है। वहाँ की आयु पूर्ण कर तीर्थकर रूप में पंचकल्याणक-पूर्वक मोक्ष (सिद्ध अवस्था) को प्राप्त करता है।

तीर्थकरों के अतिरिक्त अन्य जीव भी संयम एवं त्याग द्वारा वेदना देने वाले कर्मों से आत्मा को छुड़ाकर सिद्ध-अवस्था को प्राप्त कर सिद्धजीव कहलाते हैं। वह पुनः संसार में नहीं आएँगे; जैसे दूध, दही एवं नवनीत बनकर अपनी अशुद्धियों को हटाकर घी रूप परिणत हो जाता है, वह पुनः दूध-रूप नहीं हो सकता है।

जैनतर भारतीय धर्मों में यह मान्यता है कि अपराध, अत्याचार एवं हिंसा बढ़ने पर भगवान् ही महापुरुष के रूप में जन्म लेकर अवतरित होते हैं और सत्पुरुषों का संरक्षण करते हैं। यह मान्यता जैन परम्परा में स्वीकार्य नहीं है।

पंचकल्याणक कब और कितने

जैन शास्त्रों के अनुसार काल परिवर्तन उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी रूप होता है, जिसके छह भाग होते हैं। अवसर्पिणी के चौथे एवं उत्सर्पिणी के तीसरे काल में कर्मभूमि में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में क्रमशः 24 तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान एवं मोक्ष (निर्वाण) रूप पंचकल्याणक होते हैं।

विदेह क्षेत्र में काल-परिवर्तन नहीं होने के कारण हमेशा चौथा काल ही रहता है। जिसके कारण केवली एवं श्रुत केवली का सान्निध्य श्रमणों एवं श्रावकों को सदैव मिलता रहता है। इसीलिए वहाँ के आर्यखण्ड में दो, तीन एवं पाँच कल्याणक वाले अन्य तीर्थकर जीव होते हैं।

जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा-विधि

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में उपयोग में आने वाली समस्त सामग्री नवीन एवं उत्कृष्ट होना चाहिए। वेदी, मंडप के निर्माण से लेकर इन्द्र-इन्द्राणियों के वस्त्र भी नवीन होने आवश्यक है।

सकलीकरण

जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का शुभारम्भ संयम-साधना एवं आय के स्रोत के अनुसार पात्रों का चयन करके सर्वप्रथम जिनालय की मूलवेदी के समक्ष प्रतिष्ठा-विधि में सम्मिलित सभी पात्रों का सकलीकरण बाह्य एवं अन्तरंग दो प्रकार से किया जाता है।

बाह्य सकलीकरण में प्राणायाम विधि से कायोत्सर्ग करके भक्तिपाठ करके वस्त्र शुद्धि, अंगशुद्धि, अंगन्यास, अमृतस्नान, रक्षामन्त्र द्वारा संकल्पसूत्र एवं यज्ञोपवीत धारण करके किया जाता है। अन्तरंग सकलीकरण की क्रिया मन शुद्धि, आलोचना पाठ एवं प्रतिक्रमण करके आवश्यक नियमों के साथ संस्कार-विधि द्वारा सम्पन्न की जाती है। तत्पश्चात् मन्त्रों द्वारा क्षेत्र—शुद्धि, भूमि—शुद्धि, दिक्—शुद्धि करते हैं। सकलीकरण होने के पश्चात् पात्र सूतक की अशुद्धि से प्रभावित नहीं होते हैं।

जप-अनुष्ठान

अनुष्ठान की सानन्द सम्पन्नता के लिए मन्त्र-आराधना आवश्यक है। शान्तिमन्त्र, रक्षामन्त्र अथवा णमोकार मन्त्र का निश्चित संकल्प करके जप करते हैं। जपकर्ताओं का सकलीकरण करके उनसे जाप मन्त्र का शुद्धोच्चारण कराकर, आवश्यक सावधानियों का निर्देश देकर जप आरम्भ करते हैं। जप—निरापद, उचित-प्रकाश-युक्त, जहाँ आवागमन न हो, ऐसे कक्ष की शुद्धिपूर्वक पूर्वोत्तर दिशाभिमुख विनायक यन्त्र विराजमान करते हैं। सर्वप्रथम यन्त्र अभिषेक एवं पूजा करके मंगलकलश एवं अखण्ड दीप स्थापित

करके जप का संकल्प अवधिपूर्वक करते हैं। जपकर्ता शुद्ध धोती दुपट्टे में सूर्योदय से सूर्यास्त के काल में जप के दोषों का परिहार करते हुए जप करके अनुष्ठान की सफलता में सहयोगी होते हैं।

जपकर्ताओं को विश्वशान्ति कल्याण कामना (हवन) में सम्मिलित होना अनिवार्य है।

महिलाओं को मुख्य जाप कक्ष में न बिठाकर मन्दिर-प्रांगण में उनका स्थान निश्चित करके जप करते हैं। उनकी जाप की गणना पृथक् से की जाती है। सामूहिक जप में समाज के श्रावक-श्राविकाएँ, बालक-बालिकाएँ सभी को सम्मिलित करना चाहिए।

ध्वज-स्थापन—प्रत्येक अनुष्ठान का शुभारम्भ शुभलग्न, शुभतिथि, शुभवार, शुभयोग एवं शुभकरण में ध्वज-स्थापन द्वारा किया जाता है। ध्वज-स्थापन-कर्ता संयमी, श्रावकोचित चर्या वाला, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धालु परिवार सहित हो। वह शुद्ध धोती दुपट्टा पहिनकर अनुष्ठान क्रियाएँ सम्पादित करे। ध्वज-स्थल वेदी के ठीक सामने बनाकर जाप, भक्ति-पाठ, यन्त्र-पूजा, ध्वजप्रतिष्ठा-पूजा करके ध्वज-स्थापन क्रिया करें।

ध्वज-स्थापन के समय ध्वज-स्थल पर चतुर्निकाय देवताओं, शासन-रक्षक देवताओं एवं क्षेत्ररक्षक देवताओं का आह्वान करके अनुष्ठान हेतु आज्ञा प्राप्त करते हैं, उनसे अनुष्ठान में सम्मिलित होकर पुण्यार्जन करने एवं अनुष्ठान को जिनशासन की महिमा, गरिमा और प्रभावनापूर्वक सम्पन्न करने हेतु निवेदन करते हैं।

ध्वज-स्थापन स्थल की शुद्धि मन्त्रोक्त विधि से वायुकुमार, मेघकुमार एवं अग्निकुमार जाति के देवों के माध्यम से करके ध्वज-दण्ड एवं ध्वज की शुद्धि करके मंगल-कलश एवं दीपक स्थापित किया जाता है।

ध्वज-स्थापन के समय ध्वज लहराने की दिशा से अनुष्ठान की सफलता का संकेत मिलता है। यदि ध्वज विपरीत दिशा में फहराता है, तो वृहत्-शान्ति-मन्त्र, शान्ति-विधान करके शान्ति-क्रिया की जाती है।

घट-यात्रा—नदी, सरोवर या कूप के तट पर देवाज्ञापूर्वक जलमण्डल यन्त्र के माध्यम से सामान्य जल में पद्म-महापद्मादि एवं गंगा, सिन्धु आदि नदियों के जल का मन्त्र संस्कार करके पवित्र करते हैं। प्रत्येक कलश को जल से शुद्ध करके, कलावा वेष्टित कर, सिद्धार्थ (पीली सरसों) पुंग (सुपारी), हरिद्रा (हल्दी गाँठ) डालकर 81 कोष्ठ मण्डल पर स्थापित करते हैं। तीर्थमण्डल पूजा करके स्वर्ण सौभाग्यवती बहिर्नी द्वारा 81 मन्त्रों द्वारा कलश-शुद्धि, दिक्कन्याओं द्वारा जल से परिपूर्ण कर समस्त सौभाग्यवती महिलाओं एवं कन्याओं को देकर घट-यात्रा-जुलूस अनुष्ठान स्थल तक ले जाते हैं।

वहाँ पंडाल, पंचकल्याणक वेदी, मूल वेदी, श्रुत वेदी, अनुष्ठान वेदी एवं हवन कुण्डों की शुद्धि 81 मन्त्रों द्वारा करते हैं। मूल वेदी का दिक्कन्याओं, वायुकुमार, मेघकुमार, अग्निकुमार एवं नागकुमार जाति के देवों के माध्यम से संस्कार करके बिम्ब-

स्थापना की जाती है।

इन्द्र-प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठाविधि में सम्मिलित होने वाले मुख्य पात्रों एवं शेष पात्रों का सकलीकरण करके मन्त्रविधि द्वारा अधोवस्त्र (धोती), दुकूल (दुपट्टा), हार, मुकुट, माला, कण्ठाभरण, कंकण, वाज्रबन्ध, कुण्डल एवं करधनी का मन्त्र-संस्कार करते हैं तथा अनुष्ठान-पर्यन्त के लिए आवश्यक नियम देकर, देव-शास्त्र-गुरु की साक्षीपूर्वक संकल्प करके इन्द्र-प्रतिष्ठा की जाती है।

मण्डप-प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठा विधि के लिए याग-मण्डल वेदी पर रत्नचूर्ण एवं रंगोली^{५७} से बनाए गये मण्डल पर एवं मण्डप में मुख्य पात्रों द्वारा मन्त्र-विधि से चतुर्निकाय देव एवं दिक्पालों का आह्वान श्रीफल एवं पुष्पों द्वारा किया जाता है। मण्डल पर दिशा एवं विदिशा में लघुपताका स्थापित करके यन्त्र, मंगल-कलश एवं मंगल-दीप की स्थापना करते हैं। मण्डप को रक्षामूत्र द्वारा वेष्टित करके मण्डप-प्रतिष्ठा की जाती है।

नान्दी-विधान—विम्ब प्रतिष्ठा विधि में तीर्थंकर के माता-पिता का स्वर्ण सौभाग्यवती महिलाओं के द्वारा मंगल स्नान, उवटन आदि से कराकर उनका स्वस्ति-वाचन, मंगल-तिलक, पट्टवस्त्र, हार-मुकुट पहनाकर तीर्थंकर के वंश में गोत्र-परिवर्तन किया जाता है। इसके पश्चात् वह गृह-कार्यों से विरत होकर पंचकल्याणक की क्रियाओं में संलग्न रहेंगे। उन्हें घर में होने वाले सूतक का दोष नहीं लगेगा।

यागमंडल-विधान—जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा, वेदी-प्रतिष्ठा, कलशारोहण एवं ध्वजारोहण की अनुष्ठान-विधि में यागमण्डल-विधान किया जाता है। आचार्य जयसेन स्वामी ने 'प्रतिष्ठापाठ' ग्रन्थ में ९ वलय का मण्डल बनाकर याग-मण्डल विधान करने का निर्देश किया है।

प्रथम वलय में—पंचपरमेष्ठी, चारों मंगल, उत्तम एवं शरण की १७ अर्घ्यों से आराधना।

द्वितीय वलय में—भूतकालीन २४ तीर्थंकरों की २४ अर्घ्यों से आराधना।

तृतीय वलय में—वर्तमानकालीन २४ तीर्थंकरों की २४ अर्घ्यों से आराधना।

चतुर्थ वलय में—भविष्यत्कालीन २४ तीर्थंकरों की २४ अर्घ्यों से आराधना।

पंचम वलय में—विद्यमान २० तीर्थंकरों की २० अर्घ्यों से आराधना।

षष्ठ वलय में—आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुणों की ३६ अर्घ्यों से आराधना।

सप्तम वलय में—उपाध्याय परमेष्ठी के २५ मूलगुणों की २५ अर्घ्यों से आराधना।

अष्टम वलय में—साधु परमेष्ठी के २८ मूलगुणों की २८ अर्घ्यों से आराधना।

नवम वलय में—ऋद्धिधारी मुनिराजों की ४८ अर्घ्यों से आराधना।

अन्त में जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य एवं चैत्यालयों की आराधना करके जयमालापूर्वक विधान की पूर्णता की जाती है।

गर्भकल्याणक

मंगलाष्टक, दिग्बन्धन, पंचकल्याणक स्तोत्र, भक्तिपाठ एवं मातृका, सुरेन्द्र-मन्त्र की जाप सम्पन्न करें।

प्रतिमा-आकार-शुद्धि—षट्कोण शिला पर स्थापित करके विभिन्न क्वाथों, सर्वौषधि, उबटन एवं पुष्प क्षेपण द्वारा करते हैं।

मंजूषा—(काँच की पेटिका) की शुद्धि जल, सर्वौषधि एवं चन्दन द्वारा करके तीर्थंकरों की माँ के गर्भ का संस्कार पुष्पों द्वारा करते हैं।

गर्भावतरण—नन्द्यावर्त-स्वस्तिक-स्थापन, चन्दन की भद्रासन-स्थापन, मातृका-यन्त्र की स्थापना, सुरेन्द्र-यन्त्र की स्थापना श्री, ह्री आदि देवियों से करते हैं।

—अर्धरात्रि में केशर से बिम्ब का लिम्पन कर उसे सौधर्म इन्द्र मंजूषा में पश्चिम मुख स्थापित करके वस्त्र द्वारा मंजूषा का आच्छादन करके करते हैं।

—शेष बिम्बों की सम्पूर्ण क्रिया विधिनायक-जैसी करके उन्हें अलग-अलग कपड़ों से वेष्टित करके गर्भावतरण की मन्त्रानुष्ठान-विधि करते हैं।

—कुबेर इन्द्र माता के महल में भोगोपभोग की सामग्री स्थापित करके रत्नवृष्टि करता है।

अन्त में शान्तिपाठ पढ़कर कार्य पूर्ण करते हैं।

जन्मकल्याणक

गर्भकल्याणक पूजा करके पंचकल्याणक स्तोत्र-दिग्बन्धन, रुचकवर द्वीप की देवियों की मन्त्र-संस्कार विधि करते हैं।

जन्मक्रिया—मंजूषा पर पुष्पक्षेपण करके जन्म की योग्यता का संस्कार करना, वस्त्र अपनयन, मन्त्रपूर्वक शुभ लग्न में बिम्ब को मंजूषा से निकालकर भद्रासन एवं यन्त्रों पर बाहर विराजमान करना^{११}, शंख, घंटा, तुरही आदि वाद्ययन्त्रों का वादन एवं तीन दीपक जलाकर अवधिज्ञान का संकेत करके जन्म-क्रिया करते हैं।

जन्मातिशय आरोपण—रुचकवर द्वीप की देवियाँ बिम्ब का स्पर्श करते हुए मन्त्रपूर्वक पुष्पक्षेपण कर जन्म के अतिशय की स्थापना करती हैं।

नवलब्धि आदि संस्कारारोपण—देवियों द्वारा पुष्पों से मन्त्र द्वारा स्थापना करते हैं।

वर्धमानचरित्र की स्थापना—वर्धमान यन्त्र को स्थापित करके वर्धमान मन्त्र से पुष्पों द्वारा संस्कार करते हैं।

जन्माभिषेक—तीर्थंकर बालक के जन्म होते ही सौधर्म इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान होता है, वह शचि के साथ 1 लाख योजन की अवगाहना वाले ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर अयोध्या नगरी में आता है, वहाँ शचि द्वारा माता को मायामयी निद्रा में सुलाकर मायागयी बालक रखकर प्रसूति गृह से बिम्ब लाकर इन्द्र को सौंपती है, इन्द्र बिम्ब

प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य :: 345

का सहस्राक्षदर्शन करके उस बिम्ब को ऐरावत पर बैठाकर पांडुक शिला पर ले जाकर 1008 कलशों से जन्माभिषेक करते हैं।

शृंगार— शचि-इन्द्राणि विलेपन करके परिमार्जन कर वस्त्राभरण द्वारा अलंकरण करके अंजन-संस्कार करती है।

स्तुति-आरती—सौधर्म इन्द्र सहस्रनामों से स्तुति करता है तथा शचि-इन्द्राणि रत्नदीपों से मंगल-आरती करती है।

अमृत-स्थापन—सौधर्म इन्द्र बालक जिनबिम्ब के पाँव के अँगूठों में अमृत-स्थापन करता है, जिससे संकेत मिलता है कि तीर्थंकर बालक अँगूठा चूसकर वृद्धि करता है। वह माँ का स्तनपान नहीं करता है।

पालना—उत्सवपूर्वक तीर्थंकर बालक को सुसज्जित पालने में बिठाकर दोलन क्रिया करना।

बालक्रीड़ा—देवकुमारों के साथ विभिन्न प्रकार की शिक्षाप्रद बाल लीलाएँ करना।

तप-कल्याणक

राज्यतिलक—यौवन अवस्था होने पर सौधर्म इन्द्र के सहयोग से बिम्ब रूप आदिकुमार युवराज का नन्दा, सुनन्दा राजकुमारियों से सांकेतिक पाणिग्रहण संस्कार। असि, पसि, कृषि, शिल्प, विद्या, वाणिज्य द्वारा जीवन-यापन की शिक्षा देकर जीव-संरक्षण। सौधर्म द्वारा राज्याभिषेक एवं राजतिलक-क्रिया-सम्पादन, महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर तथा मुकुटवद्ध राजाओं का नियोजन कर राजनीति एवं सामाजिक शाब्दिक दण्ड-व्यवस्था का संकेत करना।

वैराग्य—बिम्ब को नीलांजना के नृत्य करते-करते आयु पूर्ण होने के निमित्त से वैराग्य, लौकान्तिक देवों द्वारा वैराग्यवर्धन एवं पुष्पांजलि-समर्पण, सभी पुत्रों को राज्य सौंपकर परिवार को सम्बोधित करके⁷⁵ दीक्षा पालकी में आकाशमार्ग से वन-गमन का संकेत।

दीक्षा—वटवृक्ष के नीचे चन्द्रकान्त शिला पर पूर्व दिशा में आसीन हो वस्त्राभूषण त्यागकर 'नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए मुनिराज द्वारा पंचमुष्टि केशलौच, सर्वांग पर बीजाक्षरों का स्वर्ण-शलाका द्वारा आरोपण। 48 मन्त्रों द्वारा निर्वाण अवस्था तक के संस्कार लवंग द्वारा करके पिच्छी कमण्डलु का समर्पण करके उसे वन में साधना हेतु बिम्ब स्थापन करना। चार बत्ती वाला दीपक जलाकर चौथे मनःपर्यय-ज्ञान-प्राप्ति का संकेत।

ज्ञानकल्याणक

आहार दान—तीर्थंकर भगवान बिना आहार लिये निर्वाण प्राप्त नहीं करते। आहारदाता

दान-तीर्थ का प्रवर्तन करता है तथा नियम से मोक्ष जाता है। आहार के पश्चात् पंचाश्चर्य होते हैं।

गुणस्थान आरोहण—जिनबिम्ब की आहारचर्या पंचाश्चर्यपूर्वक कराकर वन में साधना हेतु स्थापित करके मातृका-यन्त्र, बोधि-समाधि यन्त्र, पुष्पों एवं अर्घ्यों द्वारा गुणस्थान-आरोहण-संस्कार करते हैं।

अधिवासना—तेरहवें गुणस्थान की विधि में परदे के भीतर अधिवासना क्रिया पूजा द्वारा आरम्भ करके जल की 108 मन्त्रों द्वारा धारा, चन्दन, अक्षत एवं पुष्पों का समर्पण करके मुनिराज द्वारा हैं अक्षर द्वारा तिलक न्यास, विभिन्न अंगों पर मन्त्रन्यास, पुष्पों द्वारा अधिवासना मन्त्र-संस्कार, स्वस्ति-मन्त्र-संस्कार, यवमाला, मदनफल एवं सप्तधान्य का संस्कार करें, नैवेद्य, दीप, धूप, फल एवं अर्घ्य का समर्पण करके कर्म-क्षय की शक्ति-आरोपण तत्पश्चात् परदा हटाकर मुखोद्घाटन-विधि करते हैं।

नयनोन्मीलन—नयनोन्मीलन-यन्त्र स्थापित करके घृत, दुग्ध, मिश्री, चन्दन के द्रव्य द्वारा बिम्ब की आँखों में स्वर्णशलाका द्वारा नयनोन्मीलन (ज्ञान-चक्षु-खोलना) सभी बिम्बों में करते हैं।

केवलज्ञान—आचार्य परमेष्ठी चन्द्र-कला, सूर्य-कला, प्राण-प्रतिष्ठा एवं सूरि-मन्त्रों के संस्कार पूर्णतः एकान्त में करके अपनी तपः-शक्ति से बिम्बों में भगवत्-सत्ता का आरोपण करते हैं। मन्त्र क्रिया पूर्ण होते ही 5 बत्ती वाला दीप प्रज्वलित करके शंखनाद, घण्टानाद, तुरही-नाद एवं सिंह-नाद करके केवलज्ञान की सूचना सभी को देते हैं।

बिम्बों में अनन्त चतुष्टय, नवलब्धियों, केवलज्ञान के 10 अतिशयों एवं देवकृत 14 अतिशयों की स्थापना मन्त्रों द्वारा करके सिद्धयन्त्र एवं मोक्षमार्ग यन्त्र की स्थापना करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में नग्न दिगम्बर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की परम्परा है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में राजसी-वेशभूषा-युक्त प्रतिमा प्रतिष्ठा के योग्य मानी जाती है। दिगम्बर परम्परा में प्रतिष्ठा-विधि में सूर्यमन्त्र की प्रधानता है। वहीं श्वेताम्बर परम्परा में अंजन-शलाका-विधि की मुख्यता है।

समवसरण—8 भूमि एवं 12 सभावाले समवसरण में चार बिम्बों की स्थापना चारों दिशाओं में करके आचार्य श्री गणधर रूप में देव, मनुष्य एवं तिर्यचों को सात तत्त्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, श्रमण-श्रावक धर्म, दशलक्षण धर्म रूप उपदेश देते हैं।^{१९} केवलज्ञान की पूजा के पश्चात् समवसरण (धर्म-सभा) का विसर्जन करते हैं।

मोक्षकल्याणक

निर्वाण—प्रातः शुभ लग्न में कैलाश पर्वत पर बिम्ब विराजमान करके पुष्पों द्वारा

प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य :: 347

निर्वाण की योग्यता आरोपित करते हैं। शुक्लध्यान के तृतीय एवं चतुर्थ चरण की अर्घ्यावली करके अ, इ, उ, ऋ, लृ पंच लघु-अक्षर उच्चारण-मात्र के समय में अघातियाकर्मों की 72 एवं 13 प्रकृतियों का क्षय वताकर बिम्ब को मन्त्रपूर्वक उठाकर कर्पूर प्रज्वलित कर निर्वाण का संकेत करते हैं। सौधर्म इन्द्र आनन्दकूट नाटक द्वारा मृत्यु-महोत्सव मनाता है। अग्निकुमार देव के मुकुटों से प्रज्वलित अग्नि से मायापयी शरीर का अन्तिम संस्कार करते हैं। निर्वाण-कल्याणक-पूजा करके विश्वशान्ति-हवन द्वारा समापन करते हैं।

विश्वशान्ति कल्याण कामना महायज्ञ (हवन)

धार्मिक अनुष्ठान की सानन्द सफलता के लिए किये गए जाप के संकल्प की दशांश आहुतियाँ ⁹³ देकर विश्वशान्ति की कामना की जाती है।

*क्रुद्धाधीर्विष-दष्ट-दुर्जय-विषज्वालावली-विक्रमो ।
विद्या-भेषज-मन्त्र-तोय हवनैर्याति प्रशान्तिं यथा ॥*

हवन का उद्देश्य सप्त परम स्थान की प्राप्ति भी है।

*सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥*

सज्जाति, सद्गृहस्थ, संन्यास, सौधर्मपद, चक्रवर्तीपद, अर्हन्तपद, निर्वाण सप्त परम स्थान हैं। पीठिकामन्त्र, जातिमन्त्र, निस्तारकमन्त्र, ऋषिमन्त्र, सुरेन्द्रमन्त्र, परमराजमन्त्र एवं परमेष्ठी-मन्त्र, —इस प्रकार सात आहुति-मन्त्र हैं।

वैज्ञानिक भी वनस्पतियों, जड़ीबूटियों एवं घी से किये हुए हवन को पर्यावरण-शुद्धि का कारक स्वीकार करते हैं।

वेदी प्रतिष्ठा—घटयात्रा द्वारा 81 मन्त्रों से वेदी शुद्धि; वेदी संस्कार विधि करके प्रतिष्ठा-स्थल से जुलूस पूर्वक जिनालय में बिम्बों को लाकर मूल वेदी में अचलयन्त्र, स्वस्तिक, पंचरत्न एवं पारद की स्थापना करके मन्त्रपूर्वक मूलनायक जिनबिम्ब को अचल रूप में विराजमान करके वेदी में वन्दनवार, सूत्रवन्धन, अष्टप्रातिहार्य, अष्टमंगल द्रव्य स्थापना, कलश एवं ध्वजा लगाकर वेदी प्रतिष्ठा विधि करते हैं। यह बिम्ब अब कभी भी वेदी से उठाया नहीं जाएगा। शेष बिम्बों को सामान्य रूप से सिंहासन में विराजमान करते हैं।

शिखर-प्रतिष्ठा—जिनबिम्ब स्थापना के पश्चात् 21 कलशों द्वारा शिखर शुद्धि करके 7 नग वाले कलश के एक-एक नग की स्थापना एवं पूजा करते हुए अन्तिम कलश में आकाशयन्त्र डालकर स्थापित करते हैं, फिर मन्त्र-पूर्वक ध्वजा का आरोहण करके मन्दिर में हवन-पूर्वक शिखर-प्रतिष्ठा का कार्य पूर्ण करते हैं।

यन्त्र-प्रतिष्ठा—दशलक्षण, षोडशकारण, भक्तामर, कल्याण-मन्दिर एवं श्रुतस्कन्ध आदि की आराधना यन्त्रों द्वारा की जाती है। जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा-विधि की तरह ही यन्त्रों की शुद्धि एवं प्रतिष्ठा की जाती है। पाषाण, स्वर्ण, रजत, ताम्रपत्र पर बीजाक्षर अंक एवं विशेष आकृतियों को उकेरकर जल, सर्वोषधि, अभिषेक, शान्तिधारा द्वारा शुद्धि करके केशर। पुष्प एवं पीली सरसों का मन्त्र-पूर्वक प्रयोग करके यन्त्र-प्रतिष्ठा-विधि करते हैं, तभी यन्त्र पूज्यता को प्राप्त होते हैं।

चरण-प्रतिष्ठा—तीर्थकरों का निर्वाण होते ही सौधर्म इन्द्र उस निर्वाण क्षेत्र पर तीर्थकरों के चरण चिह्न (चरण का तलवे वाला भाग जिसमें रेखाएँ भी स्पष्ट बनायी जाती हैं) स्थापित करता है। उस क्षेत्र को सिद्ध-क्षेत्र कहा जाता है। उसी परम्परा में तीर्थकरों, आचार्यों एवं मुनिराजों के चरण की स्थापना की जाती है। चरण-प्रतिष्ठा में चरणों की शुद्धि, जल, केशर एवं पुष्पों से संस्कार-विधि द्वारा करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में जहाँ तलवे वाले चरण चिह्न पूज्य माने जाते हैं। वहीं श्वेताम्बर परम्परा में नख, वेष्टित ऊपर वाला भाग चरण रूप में पूज्य माना गया है।

जिनबिम्ब प्रतिष्ठा में मन्त्र, यन्त्र एवं तन्त्र का महत्त्व

बिम्बप्रतिष्ठा विधि में पाषाण एवं धातु बिम्बों में आराध्य के गुणों का आरोपण एवं संस्कार मन्त्र ऊर्जा (शक्ति) से किया जाता है। मन्त्र-शक्ति का आरोपण विभिन्न बीजाक्षरों के विशेष विन्यास यथा — पृथ्वी बीज, जल बीज, वायु बीज, अग्नि बीज, व्योम बीज, बीजाक्षरों से आकर्षण, सम्मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, शान्तिक एवं पौष्टिक रूप यन्त्रों द्वारा किया जाता है।

इस मन्त्र की शक्ति पर जहाँ शिल्पी की संयमसाधना, एकाग्रता, समर्पण एवं अनुभव (कार्यकुशलता) का प्रभाव होता है, वहीं पाषाण की संरचना, रंग, निर्दोषता का प्रभाव भी होता है।

मन्त्र-शक्ति शुभलग्न, तिथि, वार आदि के साथ प्रतिष्ठा-पात्रों की शुद्धि-विशुद्धि एवं भावनात्मक श्रद्धा, प्रतिष्ठाचार्य विद्वान् की संयम-साधना एवं मन्त्र प्रदाता आचार्य/मुनि की तपःशक्ति प्रभाव डालती है।

मन्त्र-संस्कार बीजाक्षरों का बिम्ब के सर्वांग पर आरोपण (अंगन्यास एवं मन्त्रन्यास) सिद्धार्था, कुंकुम रंजित अक्षत, लवंग, विभिन्न क्वाथ, सर्वोषधि, उबटन, सप्तधान्य, मदनफल, यवमाला, स्वर्णशलाका, रजत एवं ताम्र-यन्त्र आदि से किया जाता है, यह तन्त्र-क्रिया कहलाती है। यह तन्त्र-क्रिया मन्त्रोच्चारण, हस्तस्पर्शन, सामग्रीसमर्पण, जलधारा, लवंग एवं सिद्धार्था क्षेपण करके की जाती है। गर्भकल्याणक से दीक्षाकल्याणक के पूर्व तक की तन्त्र एवं मन्त्र क्रिया दिक्कन्याओं, शवि, इन्द्राणि, सौधर्मन्द्र एवं प्रतिष्ठाचार्य द्वारा की जाती है।

प्रतिष्ठा विधि एवं साहित्य :: 349

दीक्षा-क्रिया से केवलज्ञान (भगवत् सत्ता) की क्रिया मन्त्रन्यास एवं गुणारोपण गूढ़ मन्त्रों द्वारा मुनिराज द्वारा की जाती है, जिसमें श्रावकों का प्रवेश भी निषिद्ध होता है। बिम्ब पर जैसे-जैसे मन्त्रारोपण एवं गुणारोपण होता है। बिम्ब में ऊर्जा घनीभूत होने लगती है, बिम्ब के आभामण्डल का विस्तार होने लगता है।

बिना मन्त्र, तन्त्र एवं यन्त्र के बिम्ब-प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है, इनके द्वारा ही बिम्ब में गुणारोपण से पूज्यता आती है, ऊर्जा की सघनता से बिम्ब के सामने श्रद्धा एवं समर्पण की भावनापूर्वक की गयी ध्यान एवं भक्ति सांसारिक दुःखों से छुटकारा दिलाने में सक्षम होती है।

दीक्षा एवं केवलज्ञान क्रिया में बिम्ब के सर्वांग पर किये गए अंकन्यास एवं मन्त्रन्यास का ही प्रभाव है, जो जिनबिम्ब के अभिषेक का जल (गन्धोदक) चमत्कारी हो जाता है, जिससे कुष्ठ जैसे रोगों का भी शमन हो जाता है।

इस प्रकार मान्त्रिक एवं तान्त्रिक क्रियाएँ जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का महत्वपूर्ण अंग हैं।

प्रतिष्ठा विधि में आवश्यक मन्त्र, यन्त्र, भक्ति एवं मण्डल

प्रतिष्ठा में उपयोगी यन्त्रों की सूची—

1. विनायक यन्त्र
2. सिद्ध यन्त्र
3. जलमण्डल यन्त्र
4. अचल यन्त्र
5. नवदेव यन्त्र
6. अग्निमण्डल यन्त्र
7. पातृका यन्त्र
8. सुरेन्द्र यन्त्र
9. वर्धमान यन्त्र
10. बोधि सप्ताधि यन्त्र
11. नयनोन्मीलन यन्त्र
12. मोक्षमार्ग यन्त्र
13. निर्वाण सम्पत्तिकर यन्त्र
14. आकाश मण्डल यन्त्र

प्रतिष्ठा में उपयोगी मण्डलों की सूची

1. पंचपरमेष्ठी मण्डल
2. नवदेव मण्डल

3.यागमण्डल

4. भक्तामर मण्डल

प्रतिष्ठा में उपयोगी मन्त्र-सूची

- 1.शान्ति मन्त्र
- 2.रक्षा मन्त्र
- 3.मातृका मन्त्र
- 4.बृहत् शान्ति मन्त्र
- 5.भूमिजागरण मन्त्र
- 6.अचल मन्त्र
- 7.सुरेन्द्र मन्त्र
- 8.वर्धमान मन्त्र
- 9.बोधि-समाधि मन्त्र
- 10.नयनोन्मीलन मन्त्र
- 11.सिद्धचक्र मन्त्र
- 12.चन्द्रकला मन्त्र
- 13.सूर्यकला मन्त्र
- 14.प्राणप्रतिष्ठा मन्त्र
- 15.सूरि-मन्त्र
- 16.गणधर-वलय मन्त्र
- 17.निर्वाण-सम्पत्कर मन्त्र

प्रतिष्ठा में उपयोगी भक्तियों की सूची

- 1.सिद्धभक्ति
- 2.श्रुतभक्ति
- 3.आचार्यभक्ति
- 4.चारित्रभक्ति
- 5.चैत्यभक्ति
- 6.तीर्थकरभक्ति
- 7.योगिभक्ति
- 8.निर्वाणभक्ति
- 9.शान्तिभक्ति
- 10.समाधिभक्ति

जैन प्रतिष्ठा-साहित्य

जैन प्रतिमा विज्ञान : श्री बालचन्द्र जैन, प्रकाशक मदनमहल जनरल स्टोर्स, जबलपुर
प्रतिष्ठाकल्प : आचार्य अकलंक स्वामी।

प्रतिष्ठा रत्नाकर : पं. गुलाबचन्द्र 'पुष्प', सम्पादक : डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया,
ब्र. जय कुमार जैन 'निशान्त' प्रकाशक : श्री 1008 महावीर जिनालय प्रीत विहार,
जैनसमाज, दिल्ली, 1998 ई.।

प्रतिष्ठा पाठ : आचार्य जयसेन, प्रकाशक : हीराचन्द्र नेमचन्द्र दोषी, बी.नि. सं. 2452।

प्रतिष्ठा सारोद्धार : पं. आशाधर जी, संकलन : पं. मोहनलाल शास्त्री, प्रकाशक : श्री
जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, वम्बई, वि.सं. 1974।

प्रतिष्ठा प्रदीप : पं. नाथूलाल जैन शास्त्री, प्रकाशक : वीर निर्वाण ग्रन्थ समिति,
गोम्मतगिरि, इन्दौर, 1990 ई.।

प्रतिष्ठा सार संग्रह : संकलन : ब्र. शीतलप्रसाद जी, प्रकाशक : दि. जैन पुस्तकालय,
सूरत वि. सं. 2019।

प्रतिष्ठा चन्द्रिका : संकलक : श्री शिवराम जी पाठक, प्रकाशक : देवेन्द्र कुमार
जैन, रांची, संवत् 2017।

प्रतिष्ठा-विधिदर्पण : आचार्य कुन्धुसागर, प्रकाशक : दिगम्बर जैन कुन्धुविजय
ग्रन्थमाला समिति, जयपुर

मन्दिर-वेदी प्रतिष्ठा : संकलक : डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, प्रकाशक : गणेश
वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, वाराणसी।

प्रतिष्ठा पराग : सम्पादक : ब्र. जयकुमार निशान्त, प्रकाशक : पं. मन्लूलाल जैन
प्रतिष्ठाचार्य स्मृति ट्रस्ट एवं अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद्, पुष्प भवन,
टीकमगढ़, वर्ष-2011 ई.।

तीर्थकर : पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर, प्रकाशक : मदन महल जनरल स्टोर्स, राइट टाउन,
जबलपुर (म.प्र.)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. षट्खण्डागम पुस्तक 6, आचार्य पुष्पदन्त भूतवली
2. प्रतिष्ठा पाठ, आचार्य जयसेन
3. त्रिलोकसार, आचार्य नेमिचन्द्र
4. उमास्वामी श्रावकाचार, आचार्य उमास्वामी
5. जैन प्रतिमा विज्ञान, पं. बालचन्द्र जैन
6. प्रतिष्ठासारोद्धार, पं. आशाधर
7. प्रतिष्ठासार संग्रह, पं. शीतलप्रसाद
8. प्रतिष्ठारत्नाकर पं. गुलाबचन्द्र 'पुष्प'

9. प्रतिष्ठाप्रदीप, पं. नाथूलाल शास्त्री
10. वास्तुसार, टक्कुर फेरूमल
11. मुहूर्त गणपति, देवज्ञवर्य गणपति
12. वसुनन्दी श्रावकाचार, आचार्य वसुनन्दि
13. जिनसरस्वती, मुनि प्रशान्त सागर
14. जैन तत्त्व विद्या, आचार्य माधनन्दि योगीन्द्र, टीका मुनि प्रमाणसागर
15. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन
16. गोम्पटसार, आचार्य नेमिचन्द्र
17. त्रिकालवर्ति महापुरुष
18. प्रतिष्ठा तिलक, नेमिचन्द्र देव
19. प्रतिष्ठा पराग, ब्र. जयकुमार 'निशान्त'
20. हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन
21. मुनिसुव्रत काव्य, कविवर अर्हदास
22. तीर्थकर, पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर
23. मंगलमन्त्र णमोकार: एक अनुचिन्तन, डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य
24. प्रतिष्ठा पराग, आचार्य माधनन्दि
25. संस्कृत हिन्दी कोष, शिवराम आपटे।

पूजा परम्परा

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

जैनधर्म के अनुसार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल नामक ज्ञान के पाँच भेद हैं। इन्हें स्वार्थ और परार्थ नामक दो भेदों में विभाजित किया गया है। मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्व-अर्थ सिद्ध हैं, जबकि परार्थ ज्ञान केवल एक है और वह भी श्रुत। श्रुत का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। भारतीय धर्म-साधना में वैदिक, बौद्ध और जैनधर्म समाहित हैं। वैदिक शास्त्रों को वेद, बौद्ध शास्त्रों को पिटक तथा जैन शास्त्रों को आगम कहा जाता है। जो हित और अहित का ज्ञान कराते हैं, वे आगम हैं। जैन शास्त्रों का वर्गीकरण चार अनुयोगों—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग—के रूप में किया गया है। जिन शास्त्रों में महापुरुषों के चरित्र द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन होता है और अन्त में वीतरागता को हितकर निरूपित किया जाता है, उन शास्त्रों को प्रथमानुयोग कहते हैं। करणानुयोग के शास्त्रों में गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप से जीव का वर्णन होता है। इसमें गणित का प्राधान्य है, क्योंकि गणना और नाम का यहाँ व्यापक वर्णन होता है। गृहस्थ और मुनियों के आचरण-नियमों का वर्णन चरणानुयोग के शास्त्रों में होता है। इनमें सुधापित, नीति-शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, जीवों को पाप से मुक्त कर धर्म में प्रवृत्त करना इनका मूल प्रयोजन है। इनमें प्रायः व्यवहार-नय की मुख्यता से कथन किया जाता है। बाह्याचार का समस्त विधान चरणानुयोग का मूल वर्ण्य विषय है। द्रव्यानुयोग में षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व और स्व-पर भेद-विज्ञान का वर्णन होता है। इस अनुयोग का प्रयोजन वस्तु स्वरूप का सच्चा श्रद्धान तथा स्व-पर भेद-विज्ञान उत्पन्न कर वीतरागता प्राप्त करने की प्रेरणा देना है। जैनधर्म के अनुसार तो यह परिपाटी है कि पहले द्रव्यानुयोगानुसार सम्यग्दृष्टि हो, फिर चरणानुयोगानुसार व्रतादि धारण कर व्रती हो। पूजा-अर्चना का सम्बन्ध इन्हीं अनुयोगों से होता हुआ चरणानुयोग के शास्त्रों में पल्लवित हुआ है।

द्राविड़ तथा वैदिक परम्परा द्वारा निर्दिष्ट सन्मार्ग पर भारतीय जन समाज आरम्भ से ही प्रवहमान है। अपने आराध्य के श्रीचरणों में भक्ति-भावना व्यक्त करने के लिए ब्राह्मण शैली यज्ञ का आयोजन करती है। श्रमण समाज में पूजा का विधान व्यवस्थित हुआ, जिसमें पुष्प का क्षेपण उल्लेखनीय है। भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति का

प्रमुख स्थान है। श्रमण संस्कृति के दर्शन, सिद्धान्त, धर्म उसके प्रवर्तकों-तीर्थंकरों तथा उनकी परम्परा का महनीय अवदान है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम अर्थात् चौबीसवें तीर्थंकर महावीर और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों, उपासकों ने आध्यात्मिक विद्या का प्रसार किया है, जिसे उपनिषद् साहित्य में 'परा-विद्या' अर्थात् उत्कृष्ट विद्या कहा गया है। तीर्थक्षेत्र, मन्दिर, मूर्तियाँ, ग्रन्थागार, स्मारक आदि सांस्कृतिक विभव उन्हीं के अटूट प्रयत्नों से आज संरक्षित हैं। इस उपलब्ध सामग्री का श्रुतधराचार्य, सारस्वताचार्य, प्रबुद्धाचार्य और परम्परा पोषकाचार्यों द्वारा संवर्द्धन होता रहा है।

आत्म-स्वरूप में रमण करना वस्तुतः चारित्र्य है। मोह, राग, द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम साम्य भाव है, जिसे प्राप्त करना चारित्र्य का मूलोद्देश्य है। चारित्र्य-साधना गृहस्थ से प्रारम्भ होती है। विवेकवान् विरक्त चित्त अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहा गया है। जैन परम्परा के अनुसार श्रावक को तीन भागों—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक में विभक्त किया जा सकता है। पाक्षिक श्रावक देव-शास्त्र-गुरु का स्तवन करता है, साथ ही उसे रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य का पालन कर सप्तव्यसनो से विरक्त होकर अष्टमूलगुणों का स्थूल रूप से अनुपालन करना चाहिए। जो ग्यारह प्रतिमा को धारण कर चारित्र्य का पालन करता है, वह वस्तुतः नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और जिसमें व्रतपालन कर अन्त में समाधिभरण की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, उसे साधक श्रावक कहा जाता है।

संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत रहते हैं। दुःखों से बचने के लिए आत्मा को समझकर उसमें लीन होना सच्चा उपाय है। मुनिराज अपने पुष्ट पुरुषार्थ द्वारा आत्मा का सुख विशेष प्राप्त कर लेते हैं और गृहस्थ अपनी भूमिकानुसार अंशतः सुख प्राप्त कर पाते हैं। उक्त मार्ग में चलने वाले सम्यक् दृष्टि श्रावक के आंशिक शुद्ध रूप निश्चय आवश्यक के साथ-साथ शुभ विकल्प भी आते हैं, उन्हें व्यवहार-आवश्यक कहते हैं। श्रावक के आवश्यक व्यवहार छह प्रकार के बतलाए गये हैं—सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, उत्सर्ग। इस प्रकार श्रावक अर्थात् सद्गृहस्थ के लिए दान, पूजा आदि मुख्य कार्य हैं। इनके अभाव में कोई भी मनुष्य सद्गृहस्थ नहीं बन पाता। मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन करना मुख्य है। इनके बिना मुनिधर्म का पालन करना व्यर्थ है। याग, यज्ञ, ऋतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह, ये सब पूजाविधि के पर्यायवाची शब्द हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से छह प्रकार की पूजा का विधान है। अरहन्तादि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प आदि क्षेपण किये जाते हैं, वह नाम पूजा कहलाती है। वस्तु विशेष में अर्हन्तादि के गुणों का आरोपण करना वस्तुतः स्थापना कहलाती है। स्थापना दो प्रकार की है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। आकार वस्तु में अरहन्तादि के गुणों का जो आरोपण किया जाता है, उसे सद्भाव स्थापना पूजा कहा

जाता है और अक्षत वराटक अर्थात् कौड़ी या कमलगट्टा आदि में अपनी बुद्धि से यह अमुक देवता है, ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना असद्भाव स्थापना पूजा कहलाती है। जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा कहते हैं, द्रव्य पूजा सचित, अचित तथा मिश्रभेद से तीन प्रकार की कही गयी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सचित पूजा है। तीर्थंकर आदि के शरीर की और कागज आदि पर लिपिवद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है, वह अचित पूजा है और जो दोनों की पूजा की जाती है, वह मिश्र पूजा कहलाती है। जिनेन्द्र भगवान की जन्मकल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति स्थान, तीर्थ चिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाणभूमियों में पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना वस्तुतः क्षेत्र-पूजा कहलाती है। जिस दिन तीर्थंकरों के पंचकल्याणक—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा निर्वाण हुए हैं, भगवान का अभिषेक कर नन्दीश्वर पर्व आदि पर्वों पर जिन महिमा करना काल पूजा कहलाती है। मन से अर्हन्तादि के गुणों का चिन्तन करना भाव पूजा कहलाती है। भावपूजा में जो परमात्मा है, वह ही मैं हूँ तथा जो स्वानुभव गम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है, इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं। इस प्रकार ही आराध्य-आराधक भाव की व्यवस्था है।

आगम शास्त्र परम्परा के आधार पर पूजा का प्रचलन श्रमण-संस्कृति में आरम्भ से ही रहा है। श्रमण संस्कृति सिन्धु, मिश्र, बेबीलोन तथा रोम की संस्कृतियों से कहीं अधिक प्राचीन है। भागवतकार वेदव्यास ने आद्य पनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ को दिगम्बर श्रमण और ऊर्ध्वगामी मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता माना है। उनके सौ पुत्रों में से नौ पुत्र श्रमण मुनि बने। मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ ऐसी मोहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर योग मुद्रा में कुछ जैन मूर्तियाँ अंकित हैं। वहाँ पर एक मोहर ऐसी भी मिली है, जिस पर भगवान ऋषभदेव का चित्र खड़ी मुद्रा अर्थात् कायोत्सर्ग योगासन में चित्रित है। कायोत्सर्ग योगासन का उल्लेख वृषभ के सम्बन्ध में किया गया है। ये मूर्तियाँ पाँच हजार वर्ष पुरानी हैं। इससे प्रकट होता है कि सिन्धुघाटी के निवासी ऋषभदेव की भी पूजा करते थे और उस समय लोक में जैनधर्म भी प्रचलित था। फलक बारह और एक सौ अठारह आकृति सात मार्शल कृत मोहन जोदड़ो कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या एफ.जी.एच. फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है, सम्भव है कि यह ऋषभ ही का पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो, तो शैवधर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्र युगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। इस प्रकार आज से पाँच

हजार वर्ष पूर्व भगवान ऋषभ देवादि की पूजा करने का उल्लेख मिलता है। श्रमण संस्कृति में नमस्कार मन्त्र अनादिकालीन माना जाता है। इस मन्त्र में पंच परमेष्ठियों की वन्दना की गयी है पूजा का आदिम रूप णमो अर्थात् नमन, नमस्काररूप में मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में 'वंदितु' द्वारा सिद्धों को नमस्कार किया है।

इष्टदेव, शास्त्र और गुरु का गुण-स्तवन वस्तुतः पूजा कहलाता है। मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि का अभाव कर पूर्णज्ञान तथा सुखी होना ही इष्ट है। उसकी प्राप्ति जिसे हो गयी, वही वस्तुतः इष्टदेव हो जाता है। अनन्त चतुष्टय—सुख, दर्शन, ज्ञान, वीर्य—के धनी अर्हन्त और सिद्ध भगवान ही इष्टदेव हैं और वे ही परमपूज्य हैं। शास्त्र तो सच्चे देव की वाणी होती है और इसीलिए उसमें मिथ्यात्व राग-द्वेष आदि का अभाव रहता है। वह सच्चे सुख का मार्ग-दर्शक होने से सर्वथा पूज्य है। नग्न-दिगम्बर भाव-लिंगी गुरु भी उसी पथ के पथिक वीतरागी सन्त होने से पूज्य हैं। लौकिक दृष्टि से विद्यागुरु, माता-पिता आदि भी यथायोग्य आदरणीय एवं सम्माननीय हैं, परन्तु उनके राग-द्वेष आदि का पूर्णतः अभाव न होने से मोक्षमार्ग की महिमा नहीं है, अस्तु उन्हें पूज्य नहीं माना जा सकता। अष्टद्वय से पूजनीय तो वीतराग सर्वज्ञ देव, वीतरागी मार्ग के निरूपक शास्त्र तथा नग्न-दिगम्बर भाव-लिंगी गुरु ही हैं। ज्ञानी जीव लौकिक लाभ की दृष्टि से भगवान की आराधना नहीं करता है। उसमें तो सहज ही भगवान के प्रति भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। जिस प्रकार धन चाहने वाले की धनवान की महिमा आये बिना नहीं रहती, उसी प्रकार वीतरागता के सच्चे उपासक अर्थात् मुक्ति के पथिक को मुक्तात्माओं के प्रति भक्ति का भाव आता ही है। ज्ञानी भक्त सांसारिक सुख की कामना नहीं करते, पर शुभभाव होने से उन्हें पुण्य-बन्ध अवश्य होता है और पुण्योदय के निमित्त से सांसारिक भोग-सामग्री भी उन्हें प्राप्त होती है, पर उनकी दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं। पूजा-भक्ति का सच्चा लाभ तो विषय-कषाय से सर्वथा वचना है।

श्रावक अथवा सुधी सामाजिक अर्थात् सद्गृहस्थ की दैनिक जीवन-चर्या आवश्यक षट्कर्मों से अनुप्राणित हुआ करती है। इन षट्कर्मों में देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान श्रावक के दैनिक आवश्यक कर्तव्य में देवपूजा का स्थान सर्वोपरि है। राग प्रचुर होने से गृहस्थों के लिए जिनपूजा वस्तुतः प्रधानधर्म है। श्रद्धा और प्रेम तत्त्व के समीकरण से भक्ति का जन्म होता है। श्रद्धा-भक्ति एवं अनुराग के मिश्रण से पूजा की उत्पत्ति होती है। जिन, जिनागम, तप तथा श्रुत में पारायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग वस्तुतः भक्ति कहलाता है। पूजा के अन्तरंग में भक्ति की भूमिका प्रायः महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म का मेरुदण्ड ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए भक्ति एक आवश्यक साधन है। भक्ति मन की वह निर्मल दशा है, जिसमें देव-तत्त्व का माधुर्य मन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। जब अनुराग स्त्री विशेष के लिए न रहकर प्रेम, रूप और तृप्ति की समष्टि किसी दिव्य तत्त्व के लिए हो जाये, तो

वही भक्ति की सर्वोत्तम मनोदशा है। भक्ति वस्तुतः अनुभव-सिद्ध स्थिति का अपर नाम है। भक्त में जब इस स्थिति का प्रादुर्भाव होता है, तब उसके जीवन, विचार तथा आचार-पद्धति में प्रायः परिवर्तन दिखने लगते हैं। ज्ञान-प्राप्त्यर्थ पूजक भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करता है। जैन भक्ति में श्रद्धा तत्त्व की भूमिका उल्लेखनीय है। जिनेन्द्र भगवान् में श्रद्धा रखने का अर्थ है अपनी आत्मा में अनुराग उत्पन्न करना। यही वस्तुतः सिद्धत्व की स्थिति है। जैनधर्म में साधुओं और सुधी श्रावकों की नित्य की चर्या-प्रयोग में आने वाली भक्ति भावना को दस अनुभागों—सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, आचार्य, पंचपरमेष्ठि, तीर्थंकर, चैत्य, समाधि, वीर—में विभाजित किया गया है। इसके अतिरिक्त निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति और शान्ति-भक्ति का भी उल्लेख मिलता है। नवधा भक्ति भी साधुजनों के आहार-दान के समय व्यवहार में प्रचलित है। जैन भक्ति में निराकार आत्मा और वीतराग भगवान् के स्वरूप में जो तादात्म्य विद्यमान है। वह अन्यत्र प्रायः सुलभ नहीं है। जैनधर्म में सिद्धभक्ति के रूप में निष्कल ब्रह्म एवं तीर्थंकर भक्ति में सकल ब्रह्म का केवल विवेचन हेतु पृथक् उल्लेख अवश्य मिलता है। अन्यथा दोनों में समानता है। भक्त अथवा पूजक की मान्यता है कि उनकी वन्दना अथवा भक्ति से परम शुद्धि तथा सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर अमित आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। जैन भक्ति में भक्त के सम्मुख निवृत्तिमूलक शुद्धोपयोग का उच्चादर्श विद्यमान रहता है। वह निरर्थक आवागमन से मुक्ति पाने के लिए अर्हन्त देव के दिव्य गुणों का चिन्तन करता है और पूजा-पाठ के द्वारा अष्ट द्रव्यों से वसु-कर्म्मों के क्षयार्थ शुभ संकल्प करता है। इसके द्वारा क्रमशः अष्टद्रव्य का क्षेपण कर अमुक-अमुक कर्म त्यागने का संकल्प किया जाता है। जैन भक्ति में भगवान् से किसी प्रकार की सांसारिक मनोकामना पूर्ण करने-कराने की अपेक्षा नहीं की जाती। पूजक अथवा भक्त अपने मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करने हेतु प्रभु के समक्ष शुभ संकल्पशील होता है। साथ ही वह प्रभु-गुणों का चिन्तन कर तद्रूप बनने की भावना का चिन्तन करता है।

पूज्य का आदर करना वस्तुतः पूजा है। राग-द्वेष-विहीन वीतराग आप्त पुरुष तथा पूज्य है। इस भौतिकवादी युग में व्यक्ति लोक-रंजना के कार्यों में इतने अधिक ग्रसित रहते हैं कि वे जिनपूजन के मंगल-कार्य के लिए समय ही नहीं निकाल पाते। वे कर्म परमाणु जो आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप को विकृत करके उसमें क्रोध, अहंकार आदि कषाय तथा राग-द्वेष रूप परिणति उत्पन्न कर देने वाले मोहनीय कर्म से जीवन में घिरे रहने के कारण कल्याण मार्ग में प्रवृत्त ही नहीं हो पाते। जिनेन्द्र पूजा वह संजीवनी रसायन है, जो अमंगल में भी मंगल का सूत्रपात कर देती है। जीवन में जागरूकता ला देती है। वीतराग भगवान् जिनेन्द्र की जब पूजक पूजा करता है, तब वह भगवान् जिनदेव के गुणों का चिन्तन करता हुआ उनका वाचन-कीर्तन करता है। वह जितनी

देर पूजा करता है उतनी ही देर वीतराग भगवान के संसर्ग अथवा प्रसंग से अशुभ गतिविधि को शुभ किंवा प्रशस्त मार्ग में परिणत कर देता है। पूजा करने का मुख्य हेतु आत्मशुद्धि है। जिन्होंने आत्मशुद्धि करके या-तो मोक्ष प्राप्त कर लिया है या जो अर्हन्त अवस्था को प्राप्त ही गए हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु तथा जिन-प्रतिमा और जिनवाणी ये भी आत्मशुद्धि में प्रयोजक होने से उसके आलम्बन माने गये हैं। जब तक सराग अवस्था है, तब तक जीव के राग की उत्पत्ति होती ही है। यदि वह लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है, तो उससे संसार की वृद्धि होती है, किन्तु अर्हन्त आदि स्वयं राग और द्वेष से रहित होते हैं। लौकिक प्रयोजन से उनकी पूजा की भी नहीं जाती है, इसलिए उनमें पूजा आदि के निमित्त से होने वाला राग मोक्षमार्ग का प्रयोजक होने से प्रशस्त माना गया है। भगवान जिनेंद्र देव की भक्ति करने से पूर्व संचित सभी कर्मों का क्षय होता है। आचार्य के प्रसाद से विद्या और मन्त्र सिद्ध होते हैं। ये संसार से तारने के लिए नौका के समान हैं। अर्हन्त, वीतराग-धर्म, द्वादशांग वाणी, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें जो अनुराग करते हैं, उनका वह अनुराग प्रशस्त होता है। इनके अभिमुख होकर विनय और भक्ति करने से सब अर्थों की सिद्धि होती है। इसलिए भक्ति रागपूर्वक मानी गयी है किन्तु यह निदान नहीं है, क्योंकि निदान सकाम होता है और भक्ति निष्काम यही वस्तुतः दोनों में अन्तर है।

जैन पूजा अनुष्ठान का अपना विशेष विधान होता है। जैन दर्शन भाव-प्रधान है। किसी भी कार्य सम्पादन के मूल में भाव और उसकी प्रक्रिया विषयक भूमिका वस्तुतः महत्त्वपूर्ण होती है। वास्तविकता यह है कि बिना भावना के किसी कार्य-सम्पादन को सम्भावना नहीं की जा सकती। इसी आधार पर पूजा करने से पूर्व पूजा करने का भाव संकल्प स्थिर करना परमावश्यक है। इसीलिए शौचादि से निवृत्त होकर भक्त अथवा पुजारी को मन्दिर के लिए प्रस्थान करने से पूर्व अपने हृदय में जिन-पूजन का शुभ भाव उत्थित करना होता है। पूजन का संकल्प लेकर भक्त द्वारा तीन बार 'णमोकार मन्त्र' का उच्चारण किया जाता है और तब उसका देवालय जाना आवश्यक होता है। जिनमन्दिर में प्रवेश करते ही पुनः तीन बार णमोकार मन्त्र का उच्चारण करना आवश्यक होता है और यदि घर पर स्नान न किया हो, तो उसे मन्दिर स्थित स्नानागार में जाकर शरीर-शुद्धि करना अपेक्षित है। छने हुए स्वच्छ जल से स्नान कर भक्त को मन्दिर जी में धुले हुए पवित्र वस्त्रों को धारण कर सामग्री कक्ष में प्रवेश करना चाहिए। पूजा-विधान सामान्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है—भाव पूजा और द्रव्य पूजा। भाव पूजा श्रमण-साधुजनों अथवा ज्ञानवन्त श्रेष्ठ श्रावक द्वारा ही सम्पन्न किया जाना होता है। सरागी श्रावक के लिए द्रव्य पूजा करना आवश्यक होता है। द्रव्य पूजा करने के लिए पूजक को सामग्री सँजोनी पड़ती है। अक्षत, फलादि सामग्री को स्वच्छ

जल में पखारना (धोना) चाहिए। केशर तथा चन्दन को घिसकर एक पात्र में एकत्र कर लेना चाहिए। आधे अक्षत और नैवेद्य (सूखे नारियल की टुकड़ियाँ या शकलें) को केशर चन्दन में रंग लेना आवश्यक है। यदि केशर का अभाव हो तो हरसिंगार के पुष्प-पराग को चन्दन के साथ घिसकर तैयार करना चाहिए। अष्टकर्मों को क्षय करने के लिए जिन पूजन में अष्टद्रव्यों का ही विधान है। इन सभी द्रव्यों को एक बड़े थाल में क्रमशः व्यवस्थित करना चाहिए—यथा—(1) जल—स्वच्छ जल को जल पात्र में भर लेना चाहिए, (2) चन्दन—स्वच्छ जल में चन्दन केशर मिलाकर एक पात्र में भर लेना है, (3) अक्षत—श्वेत पखारे हुए पूर्ण चावलों को थाल में रखना चाहिए, (4) पुष्प—श्वेत पखारे हुए चावलों को चन्दन केशर में रंग कर, रखना होता है। (5) नैवेद्य—गिरी की चिटें अथवा टुकड़ियों को पखार कर रखना चाहिए। (6) दीप—गिरी की चिटें अथवा टुकड़ियों को केशर चन्दन में रंगकर अथवा यदि सम्भव हो तो घृत और कपूर का जला हुआ दीप रखा जाता है, (7) धूप—चन्दन चूरा तथा धूप चूरा, कभी-कभी यदि चन्दन चूरा पर्याप्त न हो तो अक्षत में उसे ही मिलाकर व्यवस्थित कर लिया जाता है, (8) फल—बादाम, लौंग, बड़ी इलायची, काली मिर्च, कमल-घटक आदि शुष्क फलों का प्रक्षालन कर थाल में रखना चाहिए। थाल के बीच में उक्त अष्ट द्रव्यों का मिश्रण अर्ध का रूप ग्रहण करता है।

पूजन में काम आने वाले पात्रों के प्रकार और संख्या इस प्रकार से आवश्यक होती है—थाल नग 2, तश्तरी नग 2, कलश नग 2 (छोटे आकार के जल, चन्दन के लिए), चम्पच नग 2, स्थापनापात्र—ठोना नग 1, जल चन्दन चढ़ाने का पात्र-नग 1, धूपदान नग 1, छन्ना नग पाँच (एक छन्ना सामग्री को ढकने के लिए, तीन छन्ने प्रभु-प्रतिमा प्रक्षालन के लिए तथा एक छन्ना वेदिका को धोकर पोंछने के लिए), काष्ठ की चौकियाँ नग 2, थाल आदि रखने के आकार की सामान्य चौकियाँ। वेदी, जहाँ प्रभु-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं, में पूजक को प्रवेश करते समय तीन बार—निःसही, निःसही, निःसही का उच्चारण करना चाहिए। इस उच्चारण में मूल बात यह है कि यदि प्रभु-वेदिका में किसी भी योनि के जीव-गण—व्यन्तर देव आदि उपासनार्थ पहले से उपस्थित हों तो उनसे व्यर्थ में टकराहट न हो जावे और वे इस त्रयोच्चारण को सुनकर स्वयं बच जावें तथा राग-द्वेष जन्य समग्र व्यवधान समाप्त हो जावे। पूजन सामग्री तथा उपकरणों को यथास्थान पर रखने के पश्चात् पूजक को प्रत्येक वेदी पर प्रभुविम्ब के सम्मुख नतमस्तक हो णमोकार मन्त्र पढ़ना चाहिए। प्रतिमा अभिषेक (जल से नहलाना) करने से पहिले श्वेत स्वच्छ तीन छन्नों को क्रमशः एक छन्ना प्रभुचरणों में बिछा देना चाहिए। एक छन्ना से कलश ढोने से पूर्व प्रभु-प्रतिमा को शुष्क प्रक्षालन कर लेना आवश्यक है। कलश ढोकर प्रतिमा रूप-स्वरूप का प्रक्षालन करना परमावश्यक है। अन्त में दूसरे छन्ने से प्रतिमा का परिपोछन करना होता है, ताकि प्रतिमा पर किसी भी अंश में जल-कण शेष

न रहें। इस प्रकार के शुभ काम के करते समय अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में 'पंचमंगल पाठ' करना आवश्यक है। छत्ते से पूजा के पात्रों को साफ करना चाहिए। सबसे पहले स्थापना पात्र (ठोना) पर स्वस्तिक चिह्न चन्दन अथवा केशर से लगाना चाहिए। जल, चन्दन चढ़ाने वाले कलश पात्र पर स्वस्तिक चिह्न लगाना चाहिए। महार्घ की थालिका के अतिरिक्त दूसरी थालिका (रकेवी) में स्वस्तिक चिह्न लगाना चाहिए तथा बड़े थाल में क्रमशः बीच में तीन स्वस्तिक चिह्न देव, शास्त्र, गुरु के प्रतीकार्थ लगाना चाहिए। बीच वाले स्वस्तिक चिह्न के ऊपर तीन बिन्दुओं की संरचना सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के लिए करनी होती है।

प्रथमतः पुजारी को खड्गासन में सावधानीपूर्वक नौ बार णमोकार मन्त्र का शुद्ध उच्चारण कर दर्शन, ज्ञान और चारित्र की तीन बिन्दु-स्थलियों पर नौ-नौ पुष्पों को क्रमशः इस प्रकार चढ़ाना चाहिए कि वे एक-दूसरे से सम्मिलित न होने पावें। सस्वर विनयपाठ' का वाचन करने के बाद मध्यस्थ चिह्नित स्वस्तिक पर पुष्पों को चढ़ाना चाहिए तथा इसके पश्चात् 'ॐ ह्रीं अनादिमूलमन्त्रेभ्यो नमः' ऐसा कहकर पुष्पों का क्षेपण करना चाहिए। चन्द्राकार बने स्थापना आदि पर क्रमशः पंच कल्याणक का अर्घ, पंचपरमेष्ठि का अर्घ, सहस्रनाम का अर्घ, स्वस्तिमंगलवाचन, जिनेन्द्र स्वस्तिमंगल, दश दिक्पालों के अर्घ चढ़ाते हुए 'देव-शास्त्र-गुरु पूजा' का विधिवत पूजन करना चाहिए। यदि पुजारी-भक्त के पास समयाभाव है, तो पूर्ण पूजन करने की अपेक्षा 'बीस तीर्थकर के अर्घ, अकृत्रिम चैत्यालयों के अर्घ, द्वितीयांक चन्द्राकार मण्डित चिह्न पर अर्घ चढ़ाते हुए नौ बार णमोकार महामन्त्र का पाठ कर पुष्पांजलि क्षेपण करना चाहिए। 'सिद्धपूजाअर्घ' तीसरे क्रम के बने चन्द्राकार पर अर्घ्य क्षेपण करना चाहिए। 'चौबीसी तीर्थकर पूजार्थ चौथे चन्द्राकार पर अर्घ्य' चढ़ाना होता है। यदि प्रभु वेदिका पर तीर्थकर आदिनाथ की प्रतिमा विराजमान है, तो पुजारी प्रत्येक तीर्थकर की पूजा करने का अधिकारी है। यदि वहाँ पर महावीर स्वामी की स्थापना है तो फिर पूर्व तीर्थकरों की पूजा बाद में नहीं करनी चाहिए। इन तीर्थकरों की स्थापना स्थापना-पात्र (ठोणा) में ही की जाती है, किन्तु विराजमान तीर्थकर की स्थापना ठोणा में नहीं की जाती। उनकी स्थापना चन्द्राकार पाँच पर ही सम्पादित की जाती। शान्ति पाठ के पश्चात् महार्घ मोक्षस्थली स्थान से आरम्भ कर पूरी परिक्रमा तक समाप्त कर देना चाहिए। अर्घ बार-बार नहीं लेना चाहिए। 'शान्ति करो सब जगत में वृषभादिक जिनराज' तक पाठ करने पर पुष्पों को समाप्त कर लेना चाहिए। तब जल और चन्दन को उठाकर पात्र में दोनों की धार मिलाकर तीन बार में समाप्त कर देना चाहिए और अन्त में नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़कर विसर्जन पाठ पढ़ते हुए तीन-तीन सावित पुष्पों को तीन बार में कुल नौ पुष्प स्थापना पात्र में चढ़ाना चाहिए। तीन बार आशिका लेनी चाहिए और उन सभी पुष्पों को धूप दान में भस्म कर देना चाहिए तथा स्थापना पात्र में बने स्वस्तिक चिह्न को जल से छत्ते द्वारा

साफ कर देना चाहिए। वेदी की परिक्रमा कम से कम तीन बार अवश्य देना चाहिए। परिक्रमा समाप्त होने के साथ ही तीर्थंकर को एक बार नमस्कार करके ही मन्दिर से बाहर निकलना चाहिए।

जैनधर्मानुसार मूल में भावपूजा का ही प्रचलन रहा है। कालान्तर में द्रव्यरूपा का प्रचलन हुआ है। द्रव्यरूपा में आराध्य के स्थापन की परिकल्पना की जाती है और उसकी उपासना भी द्रव्य रूप में हुआ करती है। जैन दर्शन कर्म-प्रधान है। समग्र कर्म-कुल को यहाँ आठ भागों में विभाजित किया गया है। इन्हीं के आधार पर अष्ट द्रव्यों की कल्पना स्थिर हुई है। जैनधर्म में पूजा की सामग्री को अर्घ्य कहा गया है। पूजा-द्रव्य के सम्मिश्रण को अर्घ्य कहते हैं। जैनैतर लोक में इसे प्रभु के लिए भोग लगाना कहते हैं। वहाँ भोग सामग्री का प्रसाद रूप में सेवन किया जाता है, पर जिनवाणी में इसका भिन्न अभिप्राय है। जैन पूजा में अर्घ्य निर्माल्य होता है। वह तो जन्मजरादि कर्मों का क्षय करके मोक्ष-प्राप्ति के लिए शुभ संकल्प का प्रतीक होता है। अतएव अर्घ्य सर्वथा अखाद्य होता है। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल—इन अष्ट द्रव्यों का क्षेपण अलग-अलग अष्ट फलों की प्राप्ति के लिए शुभ संकल्प रूप है। लौकिक जगत में चन्दन एक वृक्ष है, जिसकी लकड़ी के लेपन का प्रयोग ऐहिक शीतलता के लिए किया जाता है। जैन दर्शन में चन्दन सांसारिक ताप को शीतल करने के अर्थ में प्रयुक्त है। सम्पूर्ण मोहरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए परम शान्त वीतराग स्वभावयुक्त जनेन्द्र भगवान की केशर-चन्दन से पूजा की जाती है। परिणामस्वरूप हार्दिक कठोरता, कोमलता और विनय-प्रियता में परिवर्तित होकर प्रकट हो। अक्षत शब्द अक्षय पद अर्थात् मोक्ष पद का प्रतीक है। अक्षत का शाब्दिक अर्थ है— वह तत्त्व, जिसकी क्षति न हो। अक्षत का क्षेपण कर भक्त अक्षय पद की प्राप्ति कर सकता है। पुष्प कामदेव का प्रतीक है। लोक में इसका प्रचुर प्रयोग देखा जाता है। जैन पद्धति में पुष्प समग्र ऐहिक वासनाओं के विसर्जन का प्रतीक है। नैवेद्य वह खाद्य पदार्थ है, जो देवता पर चढ़ाया जाता है। पूजा में क्षुधारोग को शान्त करने के लिए चढ़ाया गया मिष्ठान्न वस्तुतः नैवेद्य कहलाता है। मोहान्धकार को शान्त करने के लिए दीपरूपी ज्ञान का अर्घ्य आवश्यक है। धूप गन्ध द्रव्यों से मिश्रित एक द्रव्य विशेष है, यह सुगन्धित द्रव्य धूप शब्द का प्रतीकार्थ है तथा पूजा प्रसंग में अष्ट कर्मों का विनाशक माना गया है। फल का लौकिक अर्थ परिणाम है। जैन पूजा के प्रसंग में मोक्ष पद को प्राप्त करने के लिए क्षेपण किया गया द्रव्य वस्तुतः फल कहलाता है।

जैनधर्म में गुणों की पूजा की गयी है। गुणों के व्याज से ही व्यक्ति को भी स्मरण किया गया है, क्योंकि किसी कार्य का कर्ता यहाँ परकीय शक्ति को नहीं माना गया है। अपने-अपने कर्मानुसार प्रत्येक प्राणी स्वयं कर्ता और भोक्ता होता है। 'देव' शब्द का अर्थ दिव्य दृष्टि को प्राप्त करना है। जो दिव्य भाव से युक्त आठ सिद्धियों सहित

क्रीड़ा करते हैं, जिनका शरीर दिव्यमान है, जो लोकालोक को प्रत्यक्ष जानते हैं, वे सर्वज्ञ देव कहलाते हैं। सच्चा देव वही है जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो। जो किसी से न तो राग ही करता है, और न द्वेष, वही पूर्णज्ञानी वीतरागी कहलाता है। देव की वाणी को शास्त्र कहते हैं। वह वीतराग है, अतः उनकी वाणी भी वीतरागता की पोषक होती है। वीतरागी वाणी का आधार है—तत्त्व-चिन्तन। लोक में 'गुरु' का अर्थ है 'बड़ा'। जैनदर्शन में पंच परमेष्ठियों यथा—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु में से एक परमेष्ठी विशेष होता है। वस्तुतः दिगम्बर परम्परा में नग्न दिगम्बर साधु को गुरु कहते हैं। गुरु सदा आत्मध्यान, स्वाध्याय में लीन रहते हैं। विषय भोगों की लालसा उनमें लेशमात्र भी नहीं होती। ऐसे तपस्वी साधुओं को गुरु कहते हैं। पंच परमेष्ठी, चैत्यालय, अकृत्रिम चैत्यालय, चौबीस तीर्थंकर, बीस तीर्थंकर और बाहुबली आदि जैन पूजा में पूज्य शक्तियाँ हैं।

जैनधर्म में ही नहीं अपितु सभी भारतीय धर्मों में उपासना विषयक स्वीकृति के परिदर्शन होते हैं। उपासना के विविध रूपों में पूजा का महनीय स्थान है। पूजा के स्वरूप उसके विधि-विधान तथा उद्देश्य विषयक विभिन्नताएँ होते हुए भी यह सर्वमान्य सत्य है कि संसार के दुःखी प्राणी अपने दुःख-संघात समाप्त करने के लिए पूजा को एक आवश्यक व्रत-अनुष्ठान स्वीकारते हैं। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। अभय, क्षुधा, औषधि तथा ज्ञान विषयक सुविधाओं का वह आरम्भ से ही आकांक्षी रहा है। आरम्भ में इन आवश्यक सुविधाओं के अभाव में उसे दुःखानुभूति हुआ करती है। दुःख का सीधा सम्बन्ध उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। मनोनुकूलता में उसे सुख और प्रतिकूलता में दुःखानुभूति हुआ करती है। आस्थावादी प्राणी अपनी इस दुःखद अवस्था से मुक्ति पाने के लिए सामान्यतः परोन्मुखी हो जाता है। ऐसी स्थिति में विवश होकर वह परकीय सत्ता के सम्मुख अपने को समर्पित कर उसकी गुण-गरिमा गाने-दुहराने लगता है। यही वस्तुतः पूजा की प्रारम्भिक तथा आवश्यक भूमिका होती है। लोकेषणा के वशीभूत होकर अर्थात् जोकि किसी भी प्रकार की इच्छा की पूर्ति की अभिलाषा रखने वाला सामान्य पूजक जैन पूजा करने की पात्रता प्राप्त नहीं कर पाता। इच्छा की पूर्ति के लिए की गई उपासना को जैनधर्म में मिथ्यात्व (जीवादि तत्त्वों के विपरीत श्रद्धा) की कोटि में माना गया है।

व्रत : जैनाचार के आधार

डॉ. रमेशचन्द्र जैन

व्रत का लक्षण—आचार्यों ने व्रत की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें से प्रमुख परिभाषाएँ या लक्षण इस प्रकार हैं—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरतिव्रतम् ॥ — तत्त्वार्थसूत्र-7/1

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।

‘व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा’।

— आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, 7/1

प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है तथा यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना व्रत है।

‘व्रतं कोऽर्थः सर्वनिवृत्ति परिणामः।’

— परमात्मप्रकाश : ब्रह्मदेवसूरि कृत टीका 2/52/173/5

सर्वनिवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं।

‘संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।’

निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि॥

— पण्डितप्रवर आशाधर-रचित सागारधर्माभूत 2/80

किसी पदार्थ के सेवन या अशुभ कर्म की निवृत्ति और शुभ कर्म में प्रवृत्ति व्रत है।

स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवर्तनं इति निश्चयव्रतम् ॥’

— परमात्म प्रकाश टीका—2/67/189/2

अपने आत्मा से अपने आत्मा में प्रवृत्ति करना निश्चय व्रत है।

व्रत भंग नहीं करना चाहिए—अर्हन्त, सिद्ध और केवलि की सन्निधि में अथवा

समस्त संघ की साक्षी में आहारादि के प्रत्याख्यान (त्याग) का त्याग करने से तो मर जाना अच्छा है।¹

व्रत भंग होने पर लिया गया प्रायश्चित्त—भली-भाँति सोच-विचारकर व्रत ग्रहण करना चाहिए तथा उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। अभिमान या प्रमाद से यदि व्रत भंग हो जाये, तो उसका प्रायश्चित्त लेकर उसका सही रूप पालन करना चाहिए।²

व्रत के भेद—व्रत दो प्रकार का होता है— देशत्याग (आंशिक त्याग) रूप अणुव्रत और सर्वत्याग रूप महाव्रत।³ गृहस्थों का चारित्र पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का होता है।⁴

व्रतों से पूर्व सम्यक्त्व अनिवार्य— मुनियों के अहिंसादि पाँच महाव्रत और देशविरत (श्रावकों) के पाँच अणुव्रत ये सम्यग्दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) के बिना नहीं होते हैं। अतः आचार्यों ने सम्यक्त्व का वर्णन प्रथमतः किया है।⁵

व्रत के ग्रहण करने की विधि— आचार्य शिवाय कृत भगवती आराधना की टीका में कहा गया है कि जिसको जीवों का स्वरूप ज्ञात हुआ है, ऐसे मुनि को नियम से व्रत देना, यह व्रतारोपण नाम का छठा स्थितिकल्प है। जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की है, उद्दिष्ट (मुनि को उद्देश्य करके जो बनाया जाय) आहार और राजपिण्ड (राजा द्वारा दिया गया आहार) का त्याग किया है, जो गुरुभक्त और विनयी है, वह व्रतारोपण के लिए योग्य है। जब गुरु बैठते हैं और आर्यिकाएँ सम्मुख होकर बैठती हैं, ऐसे समय श्रावक और श्राविकाओं को व्रत दिये जाते हैं। व्रत ग्रहण करने वाला मुनि भी गुरु के बायीं तरफ बैठा है, तब गुरु उसे व्रत देते हैं। व्रत के विषय में जानकर श्रद्धा करके पापों से विरक्त होना/विरत होना/अलग होना व्रत है।⁶

व्रतों की संख्या— जैन परम्परा में व्रतों की संख्या कुछ निश्चित नहीं है। आचार्य जिनसेन कृत हरिवंश पुराण तथा विविध विधि विधानों और व्रतविधान संग्रहादि ग्रन्थों में व्रतों की विविध संख्या और नामावली दृष्टिगोचर होती है। हरिवंश पुराण में निम्नलिखित व्रतों का वर्णन हुआ है—

1. सर्वतोभद्र व्रत, 2. वसन्तभद्र व्रत, 3. महासर्वतोभद्र व्रत 4. त्रिलोकसार व्रत, 5. वज्रमध्य व्रत, 6. मृदंगमध्यव्रत, 7. मुरजमध्य व्रत, 8. एकावली व्रत, 9. द्विकावली व्रत, 10. पुक्तावली व्रत, 11. रत्नावली व्रत, 12. रत्नमुक्तावली व्रत, 13. कनकावली व्रत, 14. सिंह-निष्क्रीडित व्रत 15. मध्यम सिंह-निष्क्रीडित व्रत, 16. उत्कृष्ट सिंह-निष्क्रीडित व्रत, 17. नन्दीश्वर व्रत, 18. मेरुपंक्ति व्रत, 19. विमानपंक्ति व्रत, 20. शतकुम्भ व्रत, 21. चान्द्रायण व्रत, 22. सप्त सप्तम व्रत, 23. आचाम्ल वर्द्धमान व्रत, 24. श्रुतव्रत, 25. दर्शनशुद्धिव्रत, 26. तपःशुद्धि व्रत, 27. चारित्र शुद्धि व्रत, 28. सत्य महाव्रत, 29. अचौर्यमहाव्रत, 30. ब्रह्मचर्य महाव्रत, 31. परिग्रह-त्याग महाव्रत, 32. एक-कल्याण व्रत, 33. पंच-कल्याण व्रत, 34. शील-कल्याण व्रत, 35. भावना व्रत, 36. पंचविंशति

कल्याण-भावना व्रत, 37. दुःखहरण व्रत, 38. कर्मक्षय व्रत, 39. जिनेन्द्र-गुण-सम्पत्ति व्रत, 40. दिव्य-लक्षणपंक्ति व्रत, 41. परस्पर-कल्याण व्रत।

इन व्रतों के पालन करने की विधि 'हरिवंश पुराण' में विस्तृत रूप से वर्णित की गयी है। इसे पाठकवृन्द अवश्य पढ़ें।

वसुनन्दि श्रावकाचार में पंचमी व्रत, रोहिणी व्रत, अश्विनी व्रत, सौख्य-सम्पत्ति व्रत, नन्दीश्वर पंक्ति व्रत तथा विमान-पंक्ति व्रतों के नाम आये हैं।

व्रत-विधान-संग्रह में उपर्युक्त व्रतों के अतिरिक्त अनेक व्रतों का उल्लेख हुआ है। इन-सब के नाम क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के द्वारा जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग-3) में उद्धृत हैं। तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी टीकाओं में अहिंसादिक पाँच व्रतों के पाँच-पाँच अतिचार व पाँच-पाँच भावनाएँ वर्णित हैं। ये भावनाएँ मुख्यतः मुनियों के लिए हैं, कदाचित् श्रावकों के लिए भी इन भावनाओं को भाने का निर्देश प्राप्त होता है। कुछ श्रावकाचार-परक ग्रन्थों में श्रावकों के बारह व्रतों में प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

छहढालाकार पण्डित दौलतराम जी ने कहा है—

बारह व्रत के अतीचार पन पन न लगावै।

मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नसावै॥

यों श्रावकव्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावै।

तह तैं चय नर-जन्म पाय मुनि हैं शिव जावै॥

कहीं-कहीं रात्रिभोजन त्याग को छठा अणुव्रत कहा गया है। कहीं-कहीं उसका अहिंसाव्रत की भावनाओं के अन्तर्गत 'आलोकित पान-भोजन' भावना के अन्तर्गत समावेश किया है।

उपवास के विशिष्ट शब्द—जहाँ उपवास के लिए चतुर्थक शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ एक उपवास; जहाँ षष्ठ शब्द आता है, वहाँ दो उपवास और जहाँ अष्टम शब्द आता है, वहाँ तीन उपवास समझना चाहिए। इसी प्रकार दशम से लेकर छह मास पर्यन्त के उपवासों की संज्ञा जाननी चाहिए।¹⁰

उपवासों का विशिष्ट काल— प्रतिपदा से लेकर पंचदशी तक की तिथि में उपवास करना चाहिए। ये उपवास अनेक भेदों को लिये हुए हैं और जैनमार्ग में इन्हें सब प्रकार के सुखों से सम्पन्न करने वाला¹¹ कहा है। प्रतिवर्ष भाद्रपद की शुक्लपक्ष की सप्तमी के दिन उपवास करना चाहिए। यह परिनिर्वाण-नामक विधि है तथा अनन्त-सुख रूपी फल को देने वाली है। भाद्रपद शुक्ल एकादशी के दिन उपवास करने से प्रातिहार्य-प्रसिद्धि नाम की विधि होती है तथा यह पत्न्यों-प्रमाण-काल तक सुख रूपी फल को फलती है। हर एक मास की कृष्ण पक्ष की एकादशियों के दिन किये हुए छियासी

उपवास अनन्त सुख को उत्पन्न करते हैं। मार्गशीर्ष शुक्ल तृतीया के दिन उपवास करना अनन्त मोक्ष फल को देने वाला है तथा इसी मास की चतुर्थी के दिन बेला करने से विमान-पंक्ति-वैराज्य नाम की विधि होती है और उसके फलस्वरूप विमानों की पंक्ति का राज्य मिलता है। व्रत की विधियों में यथाशक्ति विधियाँ करनी चाहिए; क्योंकि वे साक्षात् और परम्परा से स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सुख के कारण¹² मारी गयी हैं।

प्रमुख व्रत—प्रत्येक व्रत का यद्यपि अपना महत्त्व है, तथापि आजकल कुछ व्रत अधिक प्रचलित हैं। जैसे—

नन्दीश्वर व्रत— नन्दीश्वर द्वीप में प्रत्येक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर इस प्रकार तेरह पर्वत हैं। चारों दिशाओं के मिलाकर सब 52 पर्वत हुए। इन प्रत्येक पर्वतों पर शाश्वत अकृत्रिम जिन-भवन हैं। प्रत्येक मन्दिर में 108 रत्नमय अतिशय युक्त जिनबिम्ब विराजमान हैं। ये जिनबिम्ब 500 धनुष ऊँचे हैं। यहाँ इन्द्रादि देव आकर नित्य भक्ति-पूर्वक पूजा करते हैं। मनुष्यों का वहाँ गमन नहीं होता है। अतः मनुष्य उन चैत्यालयों की स्थापना स्थापन-विधि से अपने-अपने मन्दिरों में करते हैं।

नन्दीश्वर द्वीप का मण्डल बनाकर वर्ष में तीन बार (कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा तक) आठ-आठ दिन पूजाभिषेक करते हैं और आठ दिन व्रत भी करते हैं। इस व्रत का पालन करने वाला सप्तमी से प्रतिपदा तक ब्रह्मचर्य व्रत रखे, सप्तमी को एकाशन करें, भूमि पर शयन करे, सचित्त पदार्थों का त्याग करे, दिन में मण्डल बनाकर अभिषेक और पूजा करें। पंचमेरु की स्थापना कर पूजा करे और चौबीस तीर्थकरों की जयमाल पढ़ें, नन्दीश्वर व्रत की कथा सुने और 'ॐ ह्रीं नन्दीश्वरसंज्ञाय नमः', —इस मन्त्र की 108 जाप करें।

नवमी को सब क्रियाएँ अष्टमी के समान ही की जाएँ। केवल 'ॐ ह्रीं त्रिलोकसार संज्ञाय नमः', इस मन्त्र की 108 जाप करे और दोपहर पश्चात् पारणा करें।

दशमी के दिन भी सब क्रिया अष्टमी के समान ही करें। 'ॐ ह्रीं त्रिलोकसार संज्ञाय नमः', —इस मन्त्र का 108 बार जाप करें तथा केवल पानी और भात भोजन में लें।

ग्यारस के दिन भी सब क्रियाएँ अष्टमी के समान करें। सिद्धचक्र की त्रिकाल पूजा करें। 'ॐ ह्रीं चतुर्मुख-संज्ञाय नमः' —इस मन्त्र की 108 बार जाप करें तथा अल्प भोजन करें।

द्वादशी को भी समस्त क्रियाएँ एकादशी के ही समान करें। 'ॐ ह्रीं पञ्चमहालक्षणसंज्ञाय नमः', इस मन्त्र की 108 बार जपें तथा एकाशन करें।

त्रयोदशी को सर्व क्रियाएँ द्वादशी के समान करें।

चतुर्दशी के दिन सब क्रियाएँ ऊपर के समान करें और 'ॐ ह्रीं सिद्धचक्राय नमः' —इस मन्त्र की जाप करें।

पूर्णमासी के दिन उपर्युक्त क्रियाओं के साथ 'ॐ ह्रीं इन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः—इस मन्त्र का 108 बार जाप करें तथा उपवास करें। प्रतिपदा के दिन पूजनादि क्रिया के अनन्तर घर आकर 4 प्रकार के संघ को चार प्रकार का दान (आहार, औषधि, अभय, ज्ञान) कर पारणा करें। यह तीन, पाँच, सात या आठ वर्ष किया जाता है। पश्चात् उद्यापन किया जाता है।

दशलक्षण व्रत— यह व्रत दशलक्षण पर्व पर किया जाता है। दशलक्षण पर्व वर्ष में 3 बार आते हैं—1. भाद्रपद, 2. माघ और 3. चैत्रमास की शुक्लपक्ष पंचमी से चतुर्दशी तक यह व्रत सम्पन्न होता है। दशों दिन त्रिकाल सामायिक, प्रतिक्रमण, वन्दना, अभिषेक, पूजन, स्तवन तथा धर्म-चर्चा आदि कार्यों में पर्व का पूरा समय व्यतीत करना चाहिए। रात्रि के समय जागरण व भजन करना चाहिए। दशों दिन यथाशक्ति-उपवास— बेला, तेला आदि करना चाहिए। यदि इतनी शक्ति न हो, तो एकाशन, अवमोदर्य तथा रस-परित्याग करना चाहिए। कामोत्तेजक, सचिककण, मिष्ट, गरिष्ट और स्वादिष्ट भोजन का त्याग करना चाहिए तथा स्वच्छ वस्त्रों का उपयोग करना चाहिए। दसों दिन की दस जाप इस प्रकार हैं—

1. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-क्षमा-धर्माङ्गाय नमः।
2. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय उत्तम-मोदव-धर्माङ्गाय नमः।
3. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-आर्जव-धर्माङ्गाय नमः।
4. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-शौच-धर्माङ्गाय नमः।
5. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-सत्य-धर्माङ्गाय नमः।
6. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-संयम-धर्माङ्गाय नमः।
7. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-तपो-धर्माङ्गाय नमः।
8. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल—समुद्रगताय-उत्तम-त्याग-धर्माङ्गाय नमः।
9. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल समुद्रगताय-उत्तम-अकिञ्चन्य-धर्माङ्गाय नमः।
10. ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमल समुद्रगताय-उत्तम-ब्रह्मचर्य-धर्माङ्गाय नमः।

इस व्रत का दश वर्ष पालन कर उद्यापन करना चाहिए। यदि उद्यापन की शक्ति न हो, तो बीस वर्ष तक यह व्रत पालन करना चाहिए।

रत्नत्रय व्रत—भाद्रपद, माघ और चैत्रमास के शुक्लपक्ष में त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णमासी को यह व्रत किया जाता है। द्वादशी को व्रत का धारण तथा प्रतिपदा को पारणा (व्रतान्त भोजन) की जाती है अर्थात् द्वादशी को श्री जिनेन्द्र का अभिषेक तथा पूजन कर एकाशन (एक बार भोजन) आदि करे और मध्याह्न काल का सामायिक कर उसी समय से स्वाद्य, खाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहार तथा विकथाओं का त्याग करें। त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णमासी को उपवास करें और प्रतिपदा के दिन अभिषेक तथा पूजन कर अतिथि को भोजन कराकर स्वयं भोजन करें। इस दिन भी

एक बार खायें। यह व्रत 12 वर्ष का होता है। अनन्तर उद्यापन करे। उद्यापन की शक्ति न हो तो दूनी अर्वाधि तक व्रत करें।

रविव्रत—यह व्रत रविवार को किया जाता है। प्रत्येक रविवार को उपवास या बिना नपक का इसमें भोजन किया जाता है। भोजन के पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ का अभिषेक और पूजन की जाती है। धर्म-ध्यान-पूर्वक इस दिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता है। इस दिन 'ॐ ह्रीं अर्हं श्रीपार्श्वनाथाय नमः' मन्त्र का जाप देना चाहिए। नौ वर्ष व्रत कर उद्यापन करना चाहिए।

दीपमालिका व्रत— चौथे काल के जब तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रह गये, तब कार्तिक मास की अमावस्या के प्रभातकाल स्वातिनक्षत्र में श्री महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ। देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक का उत्सव मनाया और पावानगरी में दीपोत्सव किया। इस पवित्र दिन की स्मृति में भारत में दीपावली प्रसिद्ध हुई।

इस दिन यथाशक्ति उपवास या एकासन किया जाय। भगवान् महावीर की पूजन कर निर्वाण लाडू चढ़ाया जाय। सायंकाल गौतम गणधर की कैवल्य प्राप्ति की स्मृति में दीपक प्रज्वलित किये जाएँ। 'ॐ ह्रीं श्री महावीर-स्वामिने नमः' —इस मन्त्र का जाप किया जाये।

पुष्पांजलि व्रत— इस व्रत में भादों शुक्ल 5 से 9 तक पाँच दिन नित्यप्रति पंचमेरु की स्थापना कर चौबीस तीर्थंकरों का अष्टद्रव्य से अभिषेक व पूजन किया जाये। पाँच अष्टक तथा पाँच जयमाला पढ़े और 'ॐ ह्रीं पंचमेरु-सम्बन्धि-अशीति-जिनालयेभ्यो नमः' मन्त्र का 108 बार जाप करें। पंचमी का उपवास करें और शेष दिनों में रस-त्याग कर अवमौदर्य (भूख से कम भोजन) करें। सम्भव, हो तो पाँच दिन उपवास करें। रात्रि को भजन व जागरण करें। विषय (पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय) तथा कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) को घटावें, ब्रह्मचर्य का पालन करें और आरम्भ (घर-गृहस्थी के कार्य) का त्याग करें। इस प्रकार पाँच वर्ष व्रत करके उद्यापन करें। प्रत्येक प्रकार के 5-5 उपकरण जिनालयों को भेंट में दें, पाँच शास्त्र प्रतिष्ठित करें, पाँच श्रावकों को भोजन कराएँ और चार प्रकार का दान दें।

त्रिलोक तीज व्रत— भादों शुक्ल तीज को उपवास कर भूत, भविष्यत् और वर्तमान के चौबीसों तीर्थंकरों के 72 कोठे का मण्डल माँडकर तीन चौबीसी पूजा विधान करे। तीनों काल 'ॐ ह्रीं भूतवर्तमानभविष्यत्काल-सम्बन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमः' —इस मन्त्र का जाप करें। इस प्रकार तीन वर्ष तक यह व्रत कर पश्चात् उद्यापन करें अथवा द्विगुणित वर्ष व्रत करें। कई लोग इस व्रत को 'रोटतीजव्रत' भी कहते हैं। उद्यापन करने के समय तीन चौबीसी का मण्डल माँडकर बड़ा विधान करे और प्रत्येक प्रकार के तीन-तीन उपकरण भी जिन-मन्दिर में भेंट करें। चार संघ (पुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका) को चार प्रकार का दान दें तथा शास्त्र भेंट करें।

षोडश कारण व्रत— षोडश कारण भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण होती हैं। भाद्रपद, माघ और चैत्र कृष्णा एकम से आश्विन, फाल्गुन और वैशाख कृष्णा एकम तक वर्ष में तीन बार एक-एक मास तक इस व्रत को करना चाहिए। यथाशक्य उपवास या एकासन इन दिनों श्रेयस्कर हैं। इन दिनों ब्रह्मचर्य से रहें और शरीर का शृंगार न करें। त्रिकाल सामायिक करें और दिन में तीन बार इस मन्त्र का जाप करें—
'ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादि-षोडशकारणेभ्यो नमः ।'

इस व्रत को उत्कृष्ट सोलह वर्ष, मध्यम 5 वर्ष अथवा 2 वर्ष और जघन्य एक वर्ष कर उद्यापन किया जाये। सोलह-सोलह उपकरण मन्दिर जी में भेंट करें। सरस्वती भवन बनवायें, पवित्र जिनधर्म का उपदेश दे या प्रवचन कराएँ। यदि द्रव्य व्यय करने की शक्ति न हो, तो दुगुना व्रत करें।

सुगन्ध दशमी व्रत— यह व्रत भादों शुक्ल दशमी को किया जाता है। इस दिन जलधारा-पूर्वक जिनाभिषेक के साथ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करना चाहिए। विशेष रूप से शीतलनाथ भगवान की भाव-भक्ति-पूर्वक पूजा करनी चाहिए। व्रत के दिन घर के समस्त कार्य जिनसे पाप का आस्रव होता हो, उन्हें छोड़ देना चाहिए। यह व्रत दश वर्ष तक मन लगाकर करना चाहिए, अनन्तर उद्यापन करना चाहिए। इस दिन दस-दस श्रीफल आदि फल और दस पुस्तकें भेंट करना चाहिए।¹⁴

व्रत का फल— किस व्रत के करने का क्या सुपरिणाम हुआ अथवा इनका फल किन-किन को प्राप्त हुआ, —इसका उल्लेख कथा-ग्रन्थों और व्रत-विधान-संग्रह, व्रतोद्यापन-संग्रह आदि ग्रन्थों में संगृहीत है। व्रत धारण करने का फल प्रायः स्वर्ग और परम्परया मोक्ष बतलाया गया है। अतः जीवन में कुछ न कुछ व्रत अवश्य धारण करने चाहिए। एक-एक व्रत को धारण करने का महान फल हुआ, ऐसा शास्त्रों में वर्णित है। अतः श्रद्धापूर्वक व्रताचरण करना चाहिए।

व्रत की रक्षा हेतु भावनाएँ— हिंसादि पाँच दोषों में अपाय (विघ्न) और अवघ (पाप) का दर्शन भावने योग्य है अथवा हिंसादि दुःख ही हैं, ऐसी भावना करना चाहिए। प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, दीन-दुखियों के प्रति करुणा का व्यवहार और विरोधियों या अशिष्ट आचरण करने वालों के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए। संवेग (संसार से भय) और वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव का विचार करना चाहिए।¹⁵ मुनि समस्त हिंसा के त्यागी होते हैं। श्रावक त्रस-हिंसा का त्यागी होने के साथ-साथ यथाशक्य एकेन्द्रिय जीव की हिंसा से भी बचता है।

सन्दर्भ

1. अरहंतसिद्ध केवलि अविउता सव्वसंघसक्खिस्स।

पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं। — भगवती आराधना, 1633/1480

2. समीक्ष्यव्रतमादेयं पाल्यं प्रयत्नतः ।
छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा ॥ —सागार धर्माभूत, 2/79
3. देशसर्वतोऽणुमहती ॥ तत्त्वार्थसूत्र 7/2
4. गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षा व्रतात्मकं चरणम् । पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथाख्यातमाख्यातम् ॥
आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डे श्रावकाचार-51
5. पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाई च देसविरदाणं । ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मतं पढमदाए ॥
भगवतीआराधना, विजयोदया टीका में उद्धृत-116/277/16
6. भगवतीआराधना, विजयोदया टीका 421/614/11
7. जैनेन्द्रसिद्धान्त-कोश, भाग-3, पृ. 624-629
8. आचार्य जिनसेन : हरिवंशपुराण 34/52-124
9. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-भाग-3 पृ. 626 पर उद्धृत ।
10. हरिवंश पुराण 34/125
11. वही 34/126
12. हरिवंश पुराण 34/127-130
13. जैन व्रत कथा संग्रह (संग्रहकर्ता-मोहनलाल शास्त्री), पृ. 125-129
14. पं. मोहनलाल शास्त्री द्वारा संगृहीत जैन व्रत कथा संग्रह से साधार उद्धृत, प्रकाशक—सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, मोहनलाल शास्त्री मार्ग, जवाहरगंज, जबलपुर (म.प्र.), वीर निर्वाण संवत् 2503, चतुर्थ संस्करण ।
15. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, 7/9-12

सोला

डॉ. भरत कुमार बाहुबलि कुमार जैन

शरीर और पर्याप्तियों के अनुरूप पुद्गलों के ग्रहण करने की क्रिया को आहार कहते हैं।^१ जैन-जीवन का विचार कर्ममूलक है, अतः यह आहार भी शरीर नामकर्म के उदय से होता है।^२ सभी संसारी जीव आहार ग्रहण करते हैं। इनकी अपेक्षा आहार कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार एवं मानसाहार आदि अनेक प्रकार का है। इसमें मनुष्य व तिर्यच कवलाहार करते हैं। इसमें ही शुद्धाशुद्धि का भेद होता है, शेष आहार प्राकृतिक हैं, अतः शुद्धाशुद्धि से रहित होते हैं। आहार-शुद्धि के प्रमुख चार सोपान पाने गये हैं— 1. द्रव्यशुद्धि, 2. क्षेत्रशुद्धि, 3. कालशुद्धि, 4. भावशुद्धि। इनके चार-चार भेद किये गये हैं, जिससे आहारशुद्धि सोलह प्रकार की हो जाती है, इसे सोला (सोलह) कहते हैं।

1. द्रव्यशुद्धि— आहार में लगने वाली सामग्री शुद्ध होना चाहिए। इसे चार भागों में विभक्त किया है।

(क) अन्न शुद्धि— घुना, बीधा हुआ अनाज न हो। जिसमें त्रसजीवों का संदेह हो, उन पदार्थों का त्याग करना चाहिए। अन्नादिक अच्छी तरह शोधना गया हो। मन की असावधानी एवं प्रमाद पूर्वक न शोधा गया हो, शोधन-विधि अज्ञानकार साधर्मी एवं जानकार विधर्मी से नहीं कराना चाहिए। जिस अन्न को शोधने बहुत समय न हो गया हो, उसका मर्यादा से अधिक काल न हो गया हो, और यदि हो गया हो, तो उसे पुनः शोधन करना चाहिए।^३

सब्जी, फल आदि शुद्ध धुले हुए हो, ज्यादा पके व ज्यादा कच्चे न हो, सड़े-गले न हो, ज्यादा बड़े, ज्यादा छोटे न हो, पंचउदम्बर फल, कन्द-मूल, पत्र व पुष्प जाति की वनस्पतियाँ न हो, अपने स्वभाव से चलित अर्थात् अन्य रूप स्वाद वाले, अंकुरित, फफूँद लगे पदार्थ न हो। वासा भोजन, आसव, अरिष्ट, अचार, मुरब्बा, मक्खन, मद्य, मांस, मधु आदि अशुद्ध द्रव्य न हो।^४ भोजन बनाने एवं खाने वाले बर्तन टूटे नहीं होना चाहिए।

(ख) जलशुद्धि— पत्थर फोड़कर निकाला हुआ अर्थात् पर्वतीय झरनों का, रहट

द्वारा ताड़ित हुआ वापियों का गरम जल श्रेष्ठ होता है।^१ घी, तैल, दूध, पानी आदि पतले पदार्थों को बिना छने कभी काम में नहीं लेना चाहिए।^२ छना जल दो घड़ी, लवंगादि डालने पर छह घंटे एवं उबलने पर 24 घंटे तक पीने-योग्य रहता है, इसके बाद बिना छने के समान है। 36 अंगुल लम्बे, 24 अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करने पानी छानना चाहिए।^३

(ग) अग्नि-शुद्धि—भोजन पकाने के लिए ईंधन घुना, जीव सहित, गीला एवं छिलका लगा न हो। अग्नि जलाने से पहले ईंधन चूल्हा शोधकर जीव रहित कर लेना चाहिए।

(घ) कर्ता-शुद्धि—भोजन बनाने वाला स्वस्थ हो, स्नानादिक कर स्वच्छ कपड़े पहने हो, नाखून बड़े न हो, अंगुली आदि कट जाने पर खून का स्पर्श न हो, गर्मी में पसीना का स्पर्श न हो, या पसीना खाद्य वस्तु में न गिरे। ज्यादा बात न करता हो, दृष्टि अच्छी हो, अच्छी तरह सुनता हो, दयालु, विवेकवान, पाक-कला एवं भक्ष्याभक्ष्य का जानकार हो, क्रोधी और चटोरा न हो।

भोजन बनाने वाली बच्चे को स्तनपान कराने वाली या गर्भिणी न हो। रोगी, अत्यन्त वृद्ध, बालक, अन्धा, गूँगा, अशक्त, भय युक्त, शंका-युक्त अत्यन्त नजदीक खड़ा हुआ, दूर खड़ा हुआ, लज्जा से मुँह फेरने वाला, जूता-चप्पल पहिन कर भोजन बनाने एवं परोसने वाला नहीं होना चाहिए।^४

2. क्षेत्र-शुद्धि—भोजन बनाने का स्थान और आहार ग्रहण करने का स्थान शुद्ध होना अनिवार्य है। क्षेत्र-शुद्धि चार प्रकार की है।

(क) प्रकाश-शुद्धि— भोजन दिन में ही बनाना चाहिए, रात्रि में जीवों की हिंसा होती है। सूर्य के प्रकाश में जीव नहीं आते, किन्तु कृत्रिम प्रकाश में जीवों का आवागमन ज्यादा होता है। अत्यन्त अँधेरे स्थान में भोजन बनाना और ग्रहण करना हानिकारक है। रसोईघर में प्राकृतिक प्रकाश आना चाहिए।

(ख) वायु-शुद्धि— रसोईघर खुला हुआ हो, जिससे शुद्ध वायु आ-जा सके। भोजन-शाला में जहाँ प्रकाश आवश्यक है? वहीं स्वच्छ वायु का प्रवाह भी होना चाहिए। गन्दे स्थान से दुर्गन्धयुक्त वायु रसोईघर या भोजन कक्ष में नहीं आना चाहिए। उत्तर या पूर्व दिशा से प्रवाहित होकर वायु का आना श्रेष्ठ होता है। सूर्य प्रकाश से संस्कारित वायु स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होती है। गन्दगी, रोगी, मांसाहारी भोजन-बनाने की जगह एवं कचरा जलने की ओर से वायु न आती हो।

(ग) स्थान-शुद्धि— भोजन बनाने एवं ग्रहण करने का स्थान अँधेरे में न हो, श्मशान, बूचड़खाना, मदिरालय, वेश्यालय, जानवरों के बाँधने का स्थान, मांस पकाने का स्थान, सार्वजनिक आने-जाने का मार्ग एवं दुर्गन्ध युक्त स्थान नहीं होना चाहिए।।

भोजनशाला मल, मूत्र त्यागने के स्थान एवं मनुष्य और तिर्य्यच के शरीर के अवयवों से दूर होना चाहिए। रसोईघर और शौचालय पास-पास न हो, तथा गीला चमड़ा, हड्डी, मांस, नख, केश आदि के सम्बन्ध से रहित भूमि श्रेष्ठ है।⁹

(घ) दुर्गन्ध रहित—जहाँ निरन्तर दुर्गन्ध आती हो, अशुद्ध वस्तु जलाई जाती हो, कचरा डाला जाता हो, शूद्र रहते हो, गन्दी नाली बहती हो, शूद्रों का आना-जाना हो, दुर्गन्ध वाली वस्तु का भंडारण हो, कीटनाशक, जहरीली वस्तुओं का व्यापार हो, सड़ांध आती हो, धुआँ रुकता हो, ऐसे स्थान का आहार के लिए त्याग कर देना चाहिए।

3. कालशुद्धि—आहारशुद्धि के लिए समय का ध्यान रखना चाहिए। यह आहार को प्रभावित करता है। इसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) ग्रहण काल— भोजन बनाते या आहार ग्रहण करते समय चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण नहीं होना चाहिए, ऐसे समय में स्वास्थ्य के लिए हानिकारक किरणें निकलती हैं। बिजली गिरना, इन्द्रधनुष होना, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघों के समूह से आच्छादित दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा) आदि का अभाव होने से काल-शुद्धि होती है।¹⁰

(ख) शोक-काल—राजा एवं प्रियजन का मरण काल आचार्य, साधु की समाधि का समयत्र शोक के वातावरण में भोजन बनाना एवं आहार ग्रहण करना दूषण है। सुख-दुःख और शोक के समय का अभाव काल-शुद्धि है।

(ग) रात्रि-काल—रात्रि के समय भोजन बनाना और ग्रहण करना अशुद्ध, अशुभ एवं स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। दिन में भी जहाँ अँधेरा रहता हो, विद्युत प्रकाश करना पड़ता हो, ऐसे स्थान में भोजन बनाना एवं ग्रहण करना रात्रिभोजन के दूषण से सहित होता है। रात्रि में भोजन बनाना एवं ग्रहण करने से असंख्यात जीवों की हिंसा होती है। अतः रात्रि-काल शुद्ध नहीं होता है।

(घ) प्रभावना-काल—धर्म-प्रभावना या उत्सव के समय भोजन बनाना एवं ग्रहण नहीं करना चाहिए। संन्यास का काल, महा-उपवास, नन्दीश्वर महिमा एवं जिन महिमा के समय को छोड़कर आहार तैयार करना एवं ग्रहण करना श्रेष्ठ है।¹¹

4. भाव-शुद्धि—भोजन बनाने, परोसने, ग्रहण करने वालों के भावों में शुद्धि होना चाहिए। यह चार प्रकार से हो सकती है।

(क) वात्सल्य-भाव—आत्मा में उठने वाली भावरूपी तरंगों का प्रभाव समस्त जड़ एवं चेतन पदार्थों पर पड़ता है। हमारी भावनाओं का प्रभाव स्वयं के शरीर में स्थित ग्रन्थियों पर भी पड़ता है, यदि हमारे भाव ईर्ष्या, डाह, द्वेष, क्रोध एवं बदले की भावना से युक्त होते हैं, तो अमृत-तुल्य किया गया भोजन भी जहर जैसा कार्य करता है, अतः भोजन ग्रहण करने एवं परोसने वाले के भाव निस्वार्थ, निरपेक्ष और स्नेह से अनुरंजित

होना चाहिए।

(ख) करुणा-भाव— भोजन बनाने एवं परोसने वाले को प्रत्येक जीव के प्रति करुण भाव रखना आवश्यक है, तभी वह निर्दोष, स्वास्थ्य-वर्धक भोजन परोस सकता है। बिना करुणा के भोजन अरुचिकर, अपूर्ण एवं विकृति करने वाला होता है, पुष्टिकारक नहीं होता है।

भोजन ग्रहण करने वाले को जीवों के प्रति करुणा-भाव रहना चाहिए, जिससे उसे ध्यान रहे कि हमारे भोजन के कारण अन्य जीवों को कष्ट या उनकी विराधना तो नहीं हो रही है। करुणा भाव ही शाकाहार को प्रोत्साहन देता है। मांसाहारी के करुणा नहीं होती है। बहुत जीवों का घात जिस वनस्पति के सेवन से होता है, करुणा-भावों का कर्ता उनका त्याग कर देता है। करुणाभाव पूर्वक बनाया गया भोजन ही पवित्र होता है।

(ग) विनय-भाव— भोजन बनाने, परोसने एवं ग्रहण करने वालों के अरिहन्तादिक परमगुरुओं में विनय-भाव का होना आवश्यक होता है। ईष्या न होना, त्याग में विषाद न होना, देने की इच्छा करने वाले में, देनेवालों में या जिसने दिया है, उन-सब में प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा न होना, किसी से विसंवाद नहीं करना, विनय-भाव रखना विनय-शुद्धि है।¹²

(घ) दान का भाव— भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य, क्षमा के साथ मन, वचन, काय तथा कृत, कास्ति, और अनुमोदना द्वारा विशुद्ध आहारादि दान देना दान-शुद्धि है।¹³ साधु या श्रावक को बल, आयु, एवं शरीर की पुष्टि के लिए नहीं अपितु ज्ञान (स्वाध्याय), संयम, ध्यान एवं प्राणों को धारण करने के लिए भोजन देना दान-शुद्धि है।¹⁴

आहार-प्रमाण— उतना ही भोजन ग्रहण करें, जितना सुगमता से पचा सकें। गरिष्ठ भोजन भूख से आधा एवं हल्के पदार्थों को तुष्टि होने तक सेवन करें।¹⁵

व्यक्ति को भूख से अधिक नहीं खाना चाहिए। वह आधा पेट भोजन करें, तृतीय भाग जल से भरे, एवं चौथा भाग वायु के संचार को अवशेष रखें।¹⁶ ठंडा और गर्म भोजन मिलाकर ग्रहण नहीं करना, मात्रा से अधिक एवं अति-तृष्णा से भोजन ग्रहण करना, निन्दा, ग्लानि करते हुए भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए।¹⁷

सोलह प्रकार की शुद्धि से शुद्ध भोजन करने वाला निरोग, अप्रमादी एवं उत्साही होता हुआ विकारी भावों से बचकर सन्मार्ग पर लगता है, वैर भाव का अभाव होता है, परस्पर में प्रीति, वात्सल्य एवं मैत्रीभाव प्रकट होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची—

1. सर्वार्थसिद्धि 2, 30, पृ. 133. भारतीय ज्ञानपीठ सन् 1971 सम्पादक—पं. फूलचन्द्र

- सिद्धान्तशास्त्री, राजवार्तिक 2, 30, पृ. 376, प्रकाशक—दुलीचन्द्र बाकलीवाल यूनिवर्सल एजेन्सीज देरगाँव आसाम, वार्तिक सम्पादक—डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, हिन्दी अनुवाद — आर्थिका सुपाश्वर्मि माता जी।
2. राजवार्तिक 9, 7, 11, पृ. 573
 3. लाटी संहिता सर्ग 1, 19, 32 श्रावकाचार संग्रह भाग 3 प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर, सन् 2003 सम्पादक, अनुवादक—पं. हीरालाल जैन शास्त्री सिद्धान्ताचार्य।
 4. लाटी संहिता सर्ग 1, 55
 5. रत्नमाला 63, 64 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 2, लेखक क्षु. जिनेन्द्र वर्णो पृ. 325, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन सन् 1993
 6. लाटी संहिता सर्ग 1, 23
 7. व्रत विधान संग्रह 31
 8. भगवती आराधना विजयोदया टीका 1200, पृ. 946 लेखक—आचार्य शिवकोटि, प्रकाशन श्री एम. एस. जैन, अध्यक्ष—श्री निग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति दिल्ली सन् 2008
 9. धवला 9, 4, 15
 10. धवला 9, 4, प्रकाशक— जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर, सन् 1986, सम्पादक, अनुवादक —पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
 11. धवला 9, 4
 12. आदिपुराण 20, 82—85 पृ. 452 आचार्य जिनसेन, सम्पादन, अनुवाद—डॉ. पन्नालाल सिद्धान्ताचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन सन् 1993
 13. सागार धर्मावृत 5, 47
 14. मूलाराधना 481-483
 15. सागार धर्मावृत 6, 24, श्रावकाचार संग्रह भाग 2
 16. मूलाराधना 491
 17. अनगार धर्मावृत 5, 37, पृ. 400 भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् 1996 सम्पादक, अनुवादक— पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य।

सल्लेखना

—पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

मरण और समाधिमरण—ये दोनों मानव की अन्तिम समय की बिल्कुल भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यदि एक पूर्व है तो दूसरा पश्चिम, एक अनन्त दुःखमय और दुःखद है तो दूसरा असीम सुखमय व सुखद। मरण की दुःखद स्थिति से सारा जगत् सु-परिचित तो है ही, भुक्त-भोगी भी है, पर समाधिमरण की सुखानुभूति का सौभाग्य विरलों को ही मिलता है, मिल पाता है। सल्लेखना समाधिमरण के समय होने वाली काय व कषाय को कृष करने की प्रक्रिया का नाम है।

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञानों की दृष्टि में 'मरण' सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट व अशुभ प्रसंग के रूप में ही मान्य रहा है। उनके लिए 'मरण' एक ऐसी अनहोनी अघट घटना है, जिसकी कल्पना मात्र से अज्ञानियों का कलेजा काँपने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है कि मानों उन पर कोई ऐसा अप्रत्याशित-अकस्मात् अनश्व वज्रपात होने वाला है, जो उनका सर्वनाश कर देगा, नेस्त-नाबूत कर देगा, उनका अस्तित्व ही समाप्त कर देगा। समस्त सम्बन्ध और इष्ट संयोग अनन्तकाल के लिए वियोग में बदल जाएँगे। ऐसी स्थिति में उनका 'मरण' 'समाधिमरण' में परिणत कैसे हो सकता है?...अर्थात् नहीं हो सकता।

जब चारित्रमोहवश या अन्तर्मुखी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण आत्मा की अमरता से सुपरिचित-सम्यग्दृष्टि-विज्ञान भी 'मरण-भय' से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रह पाते, उन्हें भी समय-समय पर इष्ट-वियोग के विकल्प सताये बिना नहीं रहते। ऐसी स्थिति में देह-जीव को एक मानने वाले मोही-बहिरात्माओं की तो बात ही क्या है?....मृत्युभय से उनका प्रभावित होना व भयभीत होना तो स्वाभाविक ही है।

मरणकाल में चारित्रमोह के कारण यद्यपि ज्ञानी के तथा अज्ञानी के बाह्य व्यवहार में अधिकांश कोई खास अन्तर दिखायी नहीं देता, दोनों को एक जैसा रोते-बिलाखते, दुःखी होते भी देखा जा सकता है; फिर-भी आत्मज्ञानी-सम्यग्दृष्टि व अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के मृत्युभय में जमीन-आसमान का अन्तर होता है; क्योंकि दोनों की श्रद्धा में भी जमीन-आसमान जैसा ही महान अन्तर आ जाता है।

स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से प्राण छोड़ने के कारण नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है; वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके 'मरण' को 'समाधिमरण' में अथवा मृत्यु को महोत्सव में बदलकर स्वर्गादि सुखद गति को प्राप्त करता है।

यदि दूरदृष्टि से विचार किया जाय, तो मृत्यु-जैसा मित्र अन्य कोई नहीं है, जो जीवों को जीर्ण-शीर्ण-जर्जर तन-रूप कारागृह से निकालकर दिव्य-देह-रूप देवालय में पहुँचा देता है। कहा भी है—

“मृत्युराज उपकारी जिय कौ, तन सों तोहि छुड़ावै।

नातर या तन बन्दीगृह में, पड़ौ पड़ौ बिललावै ॥”

कल्पना करें, यदि मृत्यु न होती, तो और क्या-क्या होता, विश्व की व्यवस्था कैसी होती?

अरे! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गम्भीर समस्या ही नहीं है, क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्व-ज्ञानी यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतारकर नया वस्त्र धारण करने के समान है; परन्तु जिसने जीवन-भर पापाचरण ही किया हो, आर्त-रौद्र-ध्यान ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण ही रहा है, उस अज्ञानी और अभागे का दुःख कौन दूर कर सकता है? अब उसके मरण सुधरने का भी अवसर समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी तो अब गति के अनुसार मति को बिगड़ना ही है।

सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञानी की देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षण-भंगुरता से भली-भाँति परिचित होता है। वह जानता है, विचारता है कि—

“नौ दरवाजे का पौजरा, तामें सुआ समाय।

उड़वे कौ अचरज नहीं, अचरज रहे मौहि ॥”

अतः उसे मुख्यतया तो मृत्युभय नहीं होता; किन्तु कदाचित् यह भी सम्भव है कि सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यादृष्टियों की तरह आँसू बहाये। पुराणों में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं—रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, तद्भव मोक्षगामी थे, फिर-भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कन्धे पर ढोते फिरे।

कविवर बनारसीदास की मरणासन विपन्न दशा देखकर लोगों ने यहाँ तक कहना प्रारम्भ कर दिया था कि—“पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं? ...लोगों की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर उन्होंने स्लेट पट्टी माँगी और उस पर लिखा—

ज्ञान कुतकर्का हाथ, मारि अरि मोहना।

प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनन्त सु सोहना ॥

जा परजै को अन्त, सत्यकरि जानना।

चले बनारसिदास, फेर नहीं आवना ॥

अतः मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर ही उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि वह अभी श्रद्धा के स्तर तक ही मृत्युभय से मुक्त हो पाया है... चारित्रमोह जनित कमजोरी तो अभी है ही न?.... फिर-भी वह विचार करता है कि—“स्वतन्त्रतया स्वचालित अनादिकालीन वस्तु-व्यवस्था के अन्तर्गत ‘मरण’ एक सत्य तथ्य है, जिसे न तो नकारा ही जा सकता है, न टाला ही जा सकता है और न आगे-पीछे ही किया जा सकता है।” कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी जीवों का जीवन-मरण व सुख-दुःख अपने-अपने कर्मानुसार ही होता है। कहा भी है—

“परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥”

यद्यपि ज्ञानी व अज्ञानी अपने-अपने विकल्पानुसार इन प्रतिकूल परिस्थितियों को टालने के अन्त तक भरसक प्रयास करते हैं, तथापि उनके वे प्रयास सफल नहीं होते, ही भी नहीं सकते। अन्ततः इस पर्यायगत सत्य से तो सब का गुजरना ही पड़ता है। जो विज्ञ-जन तत्त्व-ज्ञान के बल पर इस उपर्युक्त सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, उनका मरण समाधिमरण के रूप में बदल जाता है और जो अज्ञ-जन उक्त सत्य को स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से मरकर नरकादि गतियों को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि—ज्ञानीजन स्वतन्त्र स्व-संचालित वस्तुस्वरूप के इस प्राकृतिक तथ्य से भलीभाँति परिचित होने से श्रद्धा के स्तर तक मृत्युभय से भयभीत नहीं होते और अपना अमूल्य समय व्यर्थ चिन्ताओं में व विकथाओं में बर्बाद नहीं करते; किन्तु इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित अज्ञानी-जन अनादिकाल से हो रहे जन्म-मरण एवं लोक-परलोक के अनन्त व असीम दुःखों से वे-खबर होकर जन्म-मरण के हेतुभूत विकथाओं में एवं छोटी-छोटी समस्याओं को तूल देकर अपने अमूल्य समय व सीमित शक्ति को बर्बाद करते हैं, यह भी एक विचारणीय बिन्दु है।

ऐसे लोग न केवल समय व शक्ति बर्बाद ही करते हैं, बल्कि आर्त-रौद्र-ध्यान करके प्रचुर पाप भी बाँधते रहते हैं। यह उनकी सबसे बड़ी मानवीय कमजोरी है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि— जब भी और जहाँ कहीं भी दो परिचित व्यक्ति बातचीत कर रहे होंगे, वे निश्चित ही किसी तीसरे की बुराई-भलाई या टीका-टिप्पणी ही कर रहे होंगे। उनकी चर्चा के विषय राग-द्वेष-वर्द्धक विकथाएँ ही होंगे। सामाजिक व राजनैतिक विविध गतिविधियों की आलोचना-प्रत्यालोचना करके वे ऐसा गर्व का अनुभव करते हैं, मानों वे ही सम्पूर्ण राष्ट्र का संचालन कर रहे हों। भले ही, उनकी मर्जी के अनुसार पत्ता भी न हिलता ही। नये जमाने को कोसना, बुरा-भला कहना व पुराने जमाने के गीत गाना तो मानों उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है। उन्हें क्या पता कि वे यह व्यर्थ की बकवास द्वारा आर्त-रौद्र-ध्यान करके कितना पाप बाँध रहे हैं, जो कि प्रत्यक्ष कुगति का कारण है।

भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके

माथे के धवल-केश मृत्यु का सन्देश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिर-विदाई की मानसिकता बना चुके हों। अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्त्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए समय है?

हो सकता है कि उनके विचार सामयिक हों, सत्य हों, तथ्य-परक हों, लौकिक दृष्टि से जनोपयोगी हों, न्याय, नीति के अनुकूल हों, परन्तु इस नक्कार खाने में तूती की आवाज सुनता कौन है? क्या ऐसा करना पहाड़ से पाथा मारना नहीं है?....यह तो उनका ऐसा अरण्य रुदन है, जिसे पशु-पक्षी और जंगल के जानवरों के सिवाय और कोई नहीं सुनता।

वैसे तो जैनदर्शन में श्रद्धा रखने वाले सभी लोगों का यह कर्तव्य है कि वे तत्त्व-ज्ञान के आलम्बन से जगत् के ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहना सीखें; क्योंकि सभी को शान्त व सुखी होना है, आनन्द से रहना है, पर वृद्धजनों का तो एकमात्र यही कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवलज्ञातादृष्ट ही रहें, उसमें रुचि न लें, राग-द्वेष न करें; क्योंकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख के उपायभूत समाधि का साधन नहीं अपनाएँगे तो कब अपनाएँगे?....फिर उन्हें यह स्वर्ण-अवसर कब मिलेगा? उनका तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरों के बारे में विचार करने का समय आ ही गया है। वे उसके बारे में क्यों नहीं सोचते?

इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाने और जगत् को सुधारने में उन्होंने अब-तक क्या-कुछ नहीं किया? बचपन, जवानी और बुढ़ापा — तीनों अवस्थाएँ इसी उधेड़बुन में हो तो बिताई हैं, पर क्या हुआ? जो कुछ किया, वे सब रेत के घरोंदे ही तो साबित हुए, जो बनाते-बनाते ही ढह गये और हम हाथ मलते रह गये; फिर भी इन सबसे बैराग्य क्यों नहीं हुआ?

आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अनन्तान्त जीव अनादि से निगोद में हैं, उनमें से कुछ भली होनहार वाले बिरले जीव भाड़ में से उचटे बिरले चनों की भाँति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में आते हैं। वहाँ भी वे लम्बे काल तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकायों में जन्म-मरण करते रहते हैं। उनमें से भी कुछ बिरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय पर्यायों में आते हैं। यहाँ तक तो ठीक; पर इसके उपरान्त मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति, श्रावककुल, सम्यग्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ हैं। जो कि हमें हमारे सातिशय पुण्योदय से सहज प्राप्त हो गये हैं। तो क्यों न हम अपने इन अमूल्य क्षणों का सदुपयोग कर लें। अपने इस अमूल्य समय को विकथाओं में व्यर्थ बरबाद करना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना, आत्मज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समता, शान्ति व सुखपूर्वक जीवित ही रह सकता है और न

समाधिमरण पूर्वक मर ही सकता है।

अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत दो-तीन प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है। एक तो यह कि — भाग्य से अधिक और समय से पहले, किसी को कभी कुछ नहीं मिलता और दूसरा यह है — न तो हम किसी के सुख-दुःख के दाता हैं, भले-दुरे के कर्ता हैं और न कोई हमें भी सुख-दुःख दे सकता है, हमारा भला-बुरा कर सकता है।

किसी कवि ने कहा है —

“तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यः, भाग्यात् परं नैव ददाति किञ्चित् ।
अहिर्निशि वर्षति वारिवाह तथापि पत्र त्रितयः पलाशः ॥”

राजा सेवक पर कितना ही प्रसन्न क्यों न हो जाये; पर वह सेवक को उसके भाग्य से अधिक धन नहीं दे सकता। दिन-रात पानी क्यों न बरसे, तो भी ढाक की टहनी में तीन से अधिक पत्ते नहीं निकलते।

यह पहला सिद्धान्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा है। इसका आधार जैनधर्म की कर्म व्यवस्था है। दूसरा सिद्धान्त ‘वस्तु स्वातन्त्र्य’ का सिद्धान्त है, जो कि जैनदर्शन का प्राण है। इसके अनुसार ‘जगत की प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही स्वतन्त्ररूप से परिणमनशील है, पूर्ण स्वावलम्बी है।’

जब तक यह जीव इस वस्तुस्वातन्त्र्य के इस सिद्धान्त को नहीं समझेगा और क्रोधादि विभाव-भावों को ही अपना स्वभाव मानता रहेगा; अपने को पर का और पर को अपना कर्ता-धर्ता मानता रहेगा-तब तक समता एवं समाधि का प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

देखो, “लोक के प्रत्येक पदार्थ पूर्ण, स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी परा-द्रव्य के आधीन नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता भी नहीं है।” ऐसी श्रद्धा एवं समझ से ही समता आती है, कषायें कम होती हैं, राग-द्वेष का अभाव होता है। बस, इसीप्रकार के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कषाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है।

स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते ।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किए निष्फल होते ॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी ।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमाद बुद्धि ॥

— भावनाद्वात्रिशतिका, आचार्य अमृतगति : हिन्दी अनुवाद-युगलजी

यहाँ कोई व्यक्ति झुंझलाकर कह सकता है कि—समाधि....समाधि....समाधि...? अभी से इस समाधि की चर्चा का क्या काम?...यह तो मरण के समय धारण करने की वस्तु है न?...अभी तो इसकी चर्चा शादी के प्रसंग पर मौत की ध्वनि बजाने-जैसी अपशकुन की बात है न?

नहीं भाई! ऐसी बात नहीं है, तुम्हें सुनने व समझने में भ्रम हो गया है, समाधि व समाधिमरण-दोनों विल्कुल अलग-अलग विषय हैं। जब समाधि की बात चले, तो उसे मरण से न जोड़ा जाय। मरते समय तो समाधि-रूप वृक्ष के फल खाये जाते हैं। बीज तो समाधि अर्थात् समता-भाव से जीवन जीने का अभी ही बोना होगा, तभी तो उस समय समाधिमरण-रूप फल प्राप्त हो सकेगा। कहा भी है—

“दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, प्रीति सहित अपनाय।

ज्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि फल पाय॥”

समाधि तो साम्य-भावों से निष्कषाय-भावों से, निराकुलता से जीवन जीने की कला है, उससे मरण का क्या सम्बन्ध?...हाँ, जिसका जीवन समाधिमय होता है, उसका मरण भी समाधिमय हो जाता है; मरण की चर्चा तो मात्र सजग व सावधान करने के लिए, शेष जीवन को सफल बनाने के लिए, संवेग भावना जगाने के लिए बीच-बीच में आ जाती है। सो उसमें भी अपशकुन-जैसा कुछ नहीं है।

भाई! मौत की चर्चा अपशकुन नहीं है, बल्कि उसे अपशकुन मानना अपशकुन है। हमें इस खरगोश वाली वृत्ति को छोड़ना ही होगा, जो मौत को सामने खड़ा देख अपने कानों से आँखें ढक लेता है और स्वयं को सुरक्षित समझ लेता है। जगत् में जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते तो हैं ही; परन्तु सभी जीवों की मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उनके मरण को समाधिमरण नहीं कहा जा सकता।

हाँ, जिन्होंने तत्त्व-ज्ञान के बल पर अपना जीवन भेद-विज्ञान के अभ्यास से, निज आत्मा की शरण लेकर समाधिपूर्वक जिया हो, निष्कषाय भावों से, शान्त परिणामों से जिया हो और मृत्यु के क्षणों में देहादि से ममता त्यागकर समतापूर्वक प्राणों का विसर्जन किया हो, उनके उस प्राणविसर्जन की क्रिया-प्रक्रिया को ही समाधिमरण या मृत्यु महोत्सव कहते हैं। एतदर्थ सर्वप्रथम संसार से संन्यास लेना होता है।

संन्यास व समाधि का स्वरूप—

संन्यास अर्थात् संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान् तथा दुःखरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना। संन्यास की सर्वत्र यही व्याख्या है। ऐसे संसार, शरीर व भोगों से विरक्त, आत्म-साधना के पथ पर चलने वाले भव्यात्माओं को संन्यासी कहा जाता है। साधु तो संन्यासी होते ही हैं, गृहस्थों को भी इस संन्यास की भावना को निरन्तर भाना ही चाहिए।

‘समाधि’ के लिए निजस्वरूप की समझ अनिवार्य है। आत्मा की पहचान, प्रतीति व श्रद्धा समाधि का प्रथम सोपान है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा उसमें निमित्त होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर संन्यासपूर्वक ही समाधि की साधना सम्भव है। सम्यग्दर्शन अर्थात् वस्तुस्वरूप को यथार्थ श्रद्धा, जीव,

अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों की सही समझ, इनमें हेयोपादेयता का विवेक एवं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अनिवार्य है। इसके बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सम्भव नहीं है। संन्यास व समाधि भी इसके बिना सम्भव नहीं है।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, आत्मा में रमण यही सब समाधि के सोपान हैं। वस्तुतः कषाय-रहित शान्त परिणामों का नाम ही तो समाधि है।

शास्त्रीय शब्दों में कहें तो—“आचार्य जिनसेन कृत ‘महापुराण’ के इक्कीसवें अध्याय में कहा है—‘सम’ शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकरूप या एकाग्र करना। इस प्रकार शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।”

इसी प्रकार ‘भगवती आराधना’ में भी समाधि के सम्बन्ध में लिखा है—“सम शब्द का अर्थ है एकरूप करना, मन को एकाग्र करना, शुभोपयोग में मन को एकाग्र करना।”

आचार्य कुन्दकुन्द कृत ‘नियमसार’ गाथा 122 में समाधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि —“वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतराग-भाव से जो आत्मा को ध्याया जाता है, उसे समाधि कहते हैं।”

आचार्य अमृतचन्द्र ‘पुरुषार्थसिद्धयुपायु’ में कहते हैं कि सल्लेखना आत्मघात नहीं है। मूल श्लोक निम्न प्रकार है—

मरगडेणवश्यं भाविनि, कषाय सल्लेखना तनू करण मात्रे।

रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥77॥

अवश्यभावी मरण के समय कषायों के कारण (राग-द्वेष कम करने से) प्राण त्याग होने पर भी आत्मघात नहीं होता।

आत्मघात की स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जो क्रोधादि कषायों के वश होकर श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने प्राण त्यागता है, उसे आत्मघाती कहते हैं—मूल श्लोक इस प्रकार है—

यो हि कषायाविष्टः, कुंभक-जल-धूमकेतु-विषशस्त्रैः।

व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः ॥78॥

आचार्य योगीन्द्रदेव कृत ‘परमात्मप्रकाश’ की 190वीं गाथा में परम समाधि की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है कि —“समस्त विकल्पों के नाश होने को परम समाधि कहते हैं।”

इसे ही ध्यान के प्रकरण में ऐसा कहा है कि—“ध्येय और ध्याता का एकीकरणरूप समरसीभाव ही समाधि है।”

‘स्याद्वाद मंजरी’ की टीका में योग और समाधि में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—“बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागरूप तो योग है तथा स्वरूप में चित्त का निरोध करना

समाधि है।”

इस प्रकार जहाँ भी आगम में समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन-साधना, आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावों से ही जोड़ा है। अतः समाधि के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीवन को निष्कषाय भाव से, समतापूर्वक, अतीन्द्रिय आत्मानुभूति के साथ जीना जरूरी है। जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के आश्रय से ही सम्भव है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल पर जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा। एतदर्थ हमें अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन और उन्हीं की भावनाओं को बारम्बार नाचना, उनका बारम्बार चिन्तन करना—अनुप्रेक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। तभी हम राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्कषाय-अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे। जिन्होंने अपना जीवन समाधिपूर्वक जिया हो, मरण भी उन्हीं का समाधिपूर्वक होता है। वस्तुतः आधि-व्याधि व उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही समाधि है।

पर ध्यान रहे, जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवन-भर संक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता में ही हाय-हाय करते बीता हो, जिसने जीवन में कभी निराकुलता का अनुभव ही न किया हो, जिन्हें जीवन-भर मुख्यरूप से आर्त-ध्यान व रौद्र-ध्यान ही रहा हो, उनका मरण कभी नहीं सुधर सकता; क्योंकि “जैसी मति, वैसी गति।”

आगम के अनुसार जिसका आयुबन्ध जिस प्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में होता है, उसका मरण भी वैसे ही परिणामों में होता है। अतः यहाँ ऐसा कहा जायगा कि “जैसी गति, वैसी मति”।

जब तक आयुबन्ध नहीं हुआ, तब तक मति अनुसार गति वँधती है और अगले भव की आयुबन्ध होने पर ‘गति के अनुसार मति’ होती है। अतः यदि कुगति में जाना पसन्द न हो, तो मति को सुमति बनाना एवं व्यवस्थित करना आवश्यक है, कुमति कुगति का कारण बनती है और सुमति से सुगति की प्राप्ति होती है।

जिन्हें संन्यास व समाधि की भावना होती है, निश्चित ही उन्हें शुभ आयु एवं शुभगति का ही बन्ध हुआ है या होने वाला है। अन्यथा उनके ऐसे उत्तम विचार ही नहीं होते। कहा भी है—

तादृशी जायते बुद्धिः, व्यवसायोऽपि तादृशः।

सहायास्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता ॥

बुद्धि, व्यवसाय और सहायक कारण-कलाप सभी समवाय एक होनहार का ही अनुसरण करते हैं। मोही जीवों को तो मृत्यु इष्ट-वियोग का कारण होने से दुःखद ही अनुभव होती है। भला मोही जीव इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को

महोत्सव रूप कैसे दे सकते हैं ? ...अर्थात् नहीं दे सकते।

अतः हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन सुधारने का प्रयत्न करना होगा।

मृत्यु को अमृत महोत्सव बनाने वाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवन-भर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिकरूप से अपने आत्मा के अजर-अमर, अनादि-अनन्त, नित्यविज्ञान-घन व अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा देह से देहान्तर होने की क्रिया को सहज भाव से स्वीकार करके चिर विदाई के लिए तैयार होता है। साथ ही चिर विदाई देने वाले कुटुम्ब-परिवार के विवेकी व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं, तब कहीं वह मृत्यु अमृत महोत्सव बन पाती है।

कभी-कभी अज्ञानवश मोह में मूर्छित हो परिजन-पुरजन अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या मरण की सम्भावना से भी रोने लगते हैं, इससे मरणासन्न व्यक्ति के परिणामों में संक्लेश होने की सम्भावना बढ़ जाती है, अतः ऐसे वातावरण से उसे दूर ही रखना चाहिए।

संन्यास, समाधि व सल्लेखना—

यद्यपि संन्यास, समाधि व सल्लेखना एक पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु संन्यास समाधि की पृष्ठभूमि है, पात्रता है। संन्यास संसार, शरीर व भोगों से विरक्तता है और समाधि समताभाव रूप कषाय-रहित शान्त परिणामों का नाम है तथा सल्लेखना जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है सत् + लेखना = सल्लेखना। इसका अर्थ होता है—सम्यक् प्रकार से काय एवं कषायों की कृश करना।

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में कहा है कि—

उपसर्गं दुर्धिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।

धर्मायतन् विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

जब उपसर्ग, दुर्धिक्ष, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि कोई ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण धर्म की साधना सम्भव न रहे, तो आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादि तपों द्वारा काय को भी कृश करके धर्मरक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है। इसे ही मृत्यु-महोत्सव भी कहते हैं।

धर्म आराधक उपर्युक्त परिस्थिति में प्रीतिपूर्वक प्रसन्न-चित्त से बाह्य में शरीरादि संयोगों को एवं अन्तरंग में राग-द्वेष आदि कषायभावों को क्रमशः कम करते हुए परिणामों में शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करता है। बस, यही सल्लेखना का संक्षिप्त स्वरूप है।

समाधि की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि —'समरसी भावः समाधिः' समरसी भावों का नाम समाधि है। समाधि में त्रिगुप्ति (मन-वचन-काय को वश में करना) की प्रधानता होने से समस्त विकल्पों का नाश होना मुख्य है।

सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय कृश करना मुख्य है, वहीं समाधि में निजशुद्धात्म स्वरूप का ध्यान प्रमुख है। स्थूलरूप से तीनों एक होते हुए भी साधन-साध्य की दृष्टि से संन्यास समाधि का साधन है और समाधि सल्लेखना का, क्योंकि संन्यास विना समाधि सम्भव नहीं और समाधि विना सल्लेखना-कषायों का कृश होना सम्भव नहीं होता।

सल्लेखना के आगम में कई प्रकार से भेद किये हैं; जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

नित्य-मरण सल्लेखना—प्रतिसमय होने वाले आयुर्कर्म के क्षय के साथ द्रव्य सल्लेखनापूर्वक विकारी परिणाम विहीन शुद्ध परिणामन, नित्य-मरण सल्लेखना है।

तद्भवमरण सल्लेखना—भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त में शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर साम्यभाव से शरीर का त्यागना, तद्भवमरण-सल्लेखना है।

काय-सल्लेखना—काय से ममत्व कम करते हुए काय को कृश करना; उसे सहनशील बनाना काय-सल्लेखना है। एतदर्थ कभी उपवास, कभी एकासन, कभी नीरस आहार, कभी अल्पाहार (उनोदर)—इसतरह क्रम-क्रम से शक्तिप्रमाण आहार को कम करते हुए क्रमशः दूध, छाछ, गर्म पानी से शेष जीवन का निर्वाह करते मरण के निकट आने पर पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करना काय-सल्लेखना है।

भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना—इसमें भी उक्त प्रकार से ही भोजन का त्याग होता है। इसका उत्कृष्ट काल 12 वर्ष व जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

कषाय सल्लेखना—तत्त्व-ज्ञान के बल से कषायें कृश करना।

समाधिमरण—आगम में मरण या समाधिमरण के उल्लेख अनेक अपेक्षाओं से हुए हैं—उनमें निम्नांकित पाँच प्रकार के मरण की भी एक अपेक्षा है।

1. पण्डित-पण्डित मरण—केवली भगवान की देह को छोड़ने की क्रिया को पण्डित-पण्डित मरण कहते हैं। इस मरण के बाद जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता।

2. पण्डित मरण—यह मरण छठवें गुणस्थान में रहने वाले मुनिराजों के होता है। एकवार ऐसा मरण होने पर दो-तीन भव में ही मुक्ति ही जाती है।

3. बाल पण्डित मरण—यह मरण देशसंयमी के होता है। इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

4. बाल मरण—यह मरण चतुर्थगुणस्थान में रहने वाले अविरत सम्यग्दृष्टियों के होता है। इस मरण से प्रायः स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

5. बाल-बाल मरण—यह कुमरण मिथ्यादृष्टि के होता है। यह मरण करने वाले अपनी-अपनी लेश्या व कषाय के अनुसार चारों गतियों के पात्र होते हैं। पाँचवें बाल-बाल मरण को छोड़कर उक्त चारों ही मरण समाधिपूर्वक ही होते हैं, परन्तु स्वरूप की स्थिरता और परिणामों की विशुद्धता अपनी-अपनी योग्यतानुसार होती है।

समाधिधारक यह विचार करता है कि—“जो दुःख मुझे अभी है, इससे भी अनन्तगुणे

दुःख मैंने इस जगत् में अनन्तबार भोगे हैं, फिर-भी आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा। अतः इस थोड़े से दुःख से क्या घबराना?... यदि पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान होगा, तो फिर नये दुःख के बीज पड़ जाएँगे। अतः इस पीड़ा पर से अपना उपयोग हटाकर मैं अपने उपयोग को आत्म-चिन्तन में लगाता हूँ। इससे पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बन्ध भी नहीं होगा। जो असाता कर्म के उदय में दुःख आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही, यदि समतापूर्वक सह लेंगे और तत्त्व-ज्ञान के बल पर संक्लेश परिणामों से बचे रहेंगे तथा आत्मा की आराधना में लगे रहेंगे, तो दुःख के कारणभूत सभी संचित-कर्म क्षीण हो जाएँगे।”

हम चाहे निर्भय रहें या भयभीत, रोगों का उपचार करें या न करें, जो प्रबल कर्म उदय में आएँगे, वे तो फल देंगे ही। उपचार भी कर्म के मन्दोदय में ही अपना असर दिखा सकेगा। जब तक असाता का उदय रहता है, तब तक औषधि निमित्त रूप से भी कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े वैद्य, डाक्टर, राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते; क्योंकि उनके पास साधनों की क्या कमी?... अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का वश नहीं चलता,—ऐसा मानकर आये दुःख को समताभाव से सहते हुए सब के ज्ञाता-दृष्टा बनने का प्रयास करना ही योग्य है। ऐसा करने से ही मैं अपने मरण को समाधिमरण में परिणत कर सकता हूँ।

आचार्य कहते हैं कि —यदि असह्य वेदना हो रही हो और उपयोग आत्म-ध्यान में न लगता हो, मरण समय हो, तो ऐसा विचार करें कि — “कोई कितने ही प्रयत्न क्यों न करे, पर होनहार को कोई टाल नहीं सकता। जो सुख-दुःख, जीवन-मरण जिस समय होना है, वह तो होकर ही रहता है।”

‘कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ में स्पष्ट लिखा है कि —“साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति सम्पन्न इन्द्र व अनन्त बल के धनी जिनेन्द्र भी स्व-समय में होने वाली सुख-दुःख व जीवन-मरण पर्यायों को नहीं पलट सकते।” ऐसे विचारों से सहज समता आती है और राग-द्वेष कम होकर मरण समाधिमरण में बदल जाता है।

“समाधि नाम निःकषाय का है, शान्त परिणामों का है। (भूमिकानुसार) कषाय-रहित (या कषाय को मन्दता में) शान्त परिणामों से मरण होना समाधिमरण है।”

“सम्यग्ज्ञानी पुरुष का यह सहज स्वभाव ही है कि वह समाधिमरण की ही इच्छा करता है। उसकी हमेशा यही भावना रहती है...अन्त में मरण समय निकट आने पर वह सावधान हो जाता है।”

सम्यग्दृष्टि के हृदय में आत्मा का स्वरूप प्रगटरूप से प्रतिभासता है।...वह अपने को साक्षात् पुरुषाकार, अमूर्तिक, चैतन्य धातु का पिण्ड, अनन्तगुणों से युक्त चैतन्यदेव ही जानता है, उसके अतिशय से ही वह परद्रव्य के प्रति रंचमात्र भी रागी नहीं होता।

वह मरण के समय इसप्रकार भावना भाता है कि—“अब मुझे ऐसे चिह्न दिखायी

देने लगे हैं, जिनसे मालूम होता है कि अब इस शरीर की आयु थोड़ी ही है, इसलिए मुझे सावधान होना उचित है। इसमें देर करना उचित नहीं है।”

समाधिधारक ज्ञानी व्यक्ति विचार करता है कि — “मैं ज्ञाता-दृष्टा हुआ शरीर के नाश को देख रहा हूँ। मैं इसका पड़ोसी हूँ न कि कर्ता या स्वामी। मैं तो शरीरादि को तमाशागीर की तरह देख रहा हूँ। मेरा स्वरूप तो एक चेतनस्वभाव शाश्वत अविनाशी है। उसकी महिमा अद्भुत है।”

“...तीन लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव रूप परिणमन करते हैं। कोई किसी का कर्ता नहीं है, कोई किसी का भोक्ता नहीं है।”

“मैं तो इस ज्ञायक स्वभाव ही का कर्ता और भोक्ता हूँ और उसी का वेदन एवं अनुभव करता हूँ। इस शरीर के जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं और इसके रहने से मेरा कोई सुधार भी नहीं है।”

अज्ञानी जीव पिता-माता, भाई-भाभी, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्धी जनों के वियोग में विलाप करते हैं, जबकि ज्ञानी जीव विचार करते हैं कि— इन सब संयोगों के अभाव में विलाप करने से अपने में ही आर्तध्यान होगा; वियोगी जीव तो अब मिलने वाले हैं नहीं, अतः समता में ही सुख-शान्ति है। ऐसे विचार से ज्ञानी दुःखी नहीं होते, दुःख को लम्बाते नहीं हैं।

ज्ञानी विचार करता है कि—मैं तो अनादिकाल से अविनाशी चैतन्यदेव त्रिलोक द्वारा पूज्य पदार्थ हूँ। उस पर काल का जोर नहीं चलता, तथा मैं तो चैतन्य शक्ति वाला शाश्वत बना रहने वाला हूँ। उसका अनुभव करते हुए दुःख का अनुभव कैसे हो ? नहीं होता।

मेरे सर्वांग में चैतन्य ही चैतन्य उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार नमक की डली में सर्वत्र छार व्याप्त है, तथा शक्कर में पिठास व्याप्त है, मधुर रस व्याप्त है।

मेरा निज रूप चैतन्य स्वरूप अनन्त आत्मीक सुख का भोक्ता है। वह आकाश के समान स्वच्छ निर्मल है। मैं आकाश की तरह अमूर्तिक, निर्विकार, अविनाशी, पूर्ण निर्मलता का पिण्ड हूँ। निश्चयतः मुझे मेरा स्वरूप ही शरण है और बाह्य रूप से पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी और रत्नत्रय धर्म शरणभूत हैं।

सम्यग्दृष्टि पुरुष पहले तो स्वरूप में ही उपयोग लगावे। यदि उसमें उपयोग नहीं लगे, तो अरहन्त व सिद्ध के स्वरूप का अवलोकन कर उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करे। अपने स्वरूप जैसा ही अरहन्तों का स्वरूप है और अर्हन्त-सिद्ध जैसा ही अपना स्वरूप है, अपने और अर्हन्त-सिद्धों के द्रव्य स्वभाव में अन्तर नहीं है, किन्तु उनके पर्याय में तो अन्तर है ही। मैं तो द्रव्य-स्वभाव का ही ग्राहक हूँ, इसलिए अर्हन्त का ध्यान करते हुए आत्मा का ध्यान भली प्रकार समझता है। ‘अर्हन्तों व आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है। चाहे अर्हन्त का ध्यान करो, चाहे आत्मा का ध्यान करो-दोनों समान हैं।’ ऐसा विचार करता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधानीपूर्वक स्वभाव में स्थित होता है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष माता-पिता से ममत्व छुड़ाने के लिए बहुत विस्तार से कहता है कि—

‘अहो इस शरीर के माता-पिता ! तुम निश्चय से मेरे आत्मा के माता-पिता नहीं हो। अतः मोह छोड़ो। इसी प्रकार पत्नी से तथा पुत्र-पुत्रियों से एवं अन्य सभी सम्बन्धियों से हाथ जोड़कर कहता है कि तुम-सब मेरे इस शरीर के सम्बन्धी हो, तुम अब इससे मुँह मोड़ो। हमारा-तुम्हारा यहीं तक का साथ था, सो हो गया। तुम सब भी आत्मा को जानकर, पहचान कर इसी में जमो, रमो और शीघ्र परमात्मा बनो। मेरी तुम्हारे प्रति यही सद्भावना है।’

सभी भव्य जीव ऐसे मंगलमय समाधिमरण को धारण कर अपने जीवन में की गई आत्मा की आराधना तथा धर्म की साधना को सफल करते हुए सुगति प्राप्त कर सकते हैं।

सारांश रूप में कहें तो आधि, व्याधि और उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम समाधि है। आधि अर्थात् मानसिक चिन्ता, व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग और उपाधि अर्थात् पर के कर्तृत्वका बोझ — इन तीनों से रहित आत्मा की वह निर्मल परिणति समाधि है, जिसमें न कोई चिन्ता है, न रोग है और न पर के कर्तृत्व का भार ही है। एकदम निराकुल, परम शान्त, अत्यन्त निर्भय और निशंक भाव से जीवन जीवन जीने की कला ही वस्तुतः समाधि है। यह समाधि संवेग के बिना सम्भव नहीं और संवेग अर्थात् संसार से उदासी सम्यग्दर्शन के बिना सम्भव नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए तत्त्वाभ्यास और भेद-विज्ञान अनिवार्य है।

जिसे समाधि द्वारा सुखद जीवन जीना आता है, वही व्यक्ति सल्लेखना द्वारा मृत्यु को महोत्सव बना सकता है, वही शान्तिपूर्वक मरण का वरण कर सकता है।

समाधि और सल्लेखना को और-भी सरल शब्दों में परिभाषित करें, तो हम यह कह सकते हैं कि “समाधि समता भाव से सुख-शान्तिपूर्वक जीवन जीने की कला है और सल्लेखना मृत्यु को महोत्सव बनाने का क्रान्तिकारी कदम है, मानव जीवन को सार्थक और सफल करने का एक अनोखा अभियान है।”

अहिंसा—एक संक्षिप्त प्रवेशिका

डॉ. सुलेखचन्द्र जैन

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।

यः स्यादहिंसा संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

अहिंसा और जैनधर्म में सम्बन्ध—

“जैनियों के लिए अहिंसा एक आम शब्द है, पर बहुत से लोगों के लिए हिंसा एक प्रति-दिन का अनुभव है। तर्क-वितर्क करने या किसी से झगड़ा करने के बारे में वे अधिक नहीं सोचते। उन्होंने सच्चे प्रेम का कभी अनुभव नहीं किया। उनके लिए तर्क-वितर्क करना साधारण बात है। आज की लोलुपता और भौतिकवाद इस हिंसा को बढ़ावा देते हैं।”

—डॉ. अतुल शाह, मुख्य सम्पादक, जैन स्मिरिट, लन्दन, इंग्लैंड

अहिंसा जैनधर्म की आत्मा और केन्द्रीय धुरी है और इस संसार-सागर से पार उतरने का एकमात्र साधन है।

मेरी मान्यता है कि अहिंसा और जैनधर्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जैनधर्म अहिंसा की नींव पर खड़ा है। यदि जैनधर्म से अहिंसा लुप्त हो जाए, तो जैनधर्म ही लुप्त हो जाएगा।

जैन धर्मानुसार वास्तविक धर्म वह है, जो प्राणी-मात्र को जीवित रखता है और परस्पर सद्भाव-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है। जैनधर्म का नीतिशास्त्र अपनी सम्पूर्णता में अहिंसा के सिद्धान्त को आचरण में ढालने का सिद्धान्त है।

प्रश्न : एक जैन, अन्य धर्मानुयायियों से भिन्न कैसे है ?

हम कहते हैं कि जैनधर्म का एक प्राचीन समृद्ध इतिहास और संस्कृति है। जैनधर्म और इसके अनुयायियों ने भारत की भाषाओं, कलाओं और संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। जैनधर्म में बहुत से शास्त्र और धार्मिक पुस्तकें हैं, कई सुन्दर मन्दिर हैं और कई बहुत शिक्षित और बुद्धिमान साधु और साध्वियाँ हैं। जैनी अपने आस-पास के समुदायों की शिक्षा, आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में तथा सार्वजनिक भलाई के लिए बनाई गयी कई अन्य संस्थाओं में सेवारत हैं।

यदि जैनी की किसी एक विशिष्टता को इंगित करना हो, तो वह अहिंसा है, केवल

बातचीत में, सन्देश में या पूजा में ही नहीं, अपितु मन्दिर के भीतर-बाहर सभी स्थानों पर अहिंसा को अहर्निश अपने आचरण में ढाल कर उसे एक स्वभाव ही बना लेना चाहिए। अहिंसा एक जैन का मूलमन्त्र, उसकी पहचान, धर्म और गहना होनी चाहिए।

जैन कौन है?—

एक जैन अहिंसा, स्नेह, करुणा, शान्ति, सामंजस्य और एकता का चिह्न होना चाहिए। अहिंसा करुणा का पर्याय है— दूसरे के दुःख को अनुभव करना है।

कर्म की चार अवस्थाएँ —

जैन दर्शन में कर्म की चार अवस्थाओं पर महत्वपूर्ण बल दिया गया है। ये हैं—

कर्म का अन्तःप्रवाह—आस्रव

कर्म का बन्धन अर्थात् बन्ध

कर्म के अन्तःप्रवाह को रोकना —संवर

कर्म का विनाश —निर्जरा

सभी पर-तन्त्र आत्माएँ कर्म से बँधी हुई हैं। कर्मों की मात्रा एवं लक्षण व्यक्ति के अपने कार्यों पर निर्भर करते हैं।

कर्मों के अन्तःप्रवाह (आस्रव) का कारण हिंसा है—

मेरा विश्वास है कि हिंसा ही पापों के आस्रव (अन्तःप्रवाह) का कारण है और अहिंसा कर्म के संवर का मार्ग है। जैनधर्म में साधु और साध्वियाँ पाँच बड़े व्रत लेते हैं, जिन्हें महाव्रत कहा जाता है। इसी प्रकार सभी साधारण व्यक्ति पाँच छोटे व्रत अर्थात् अणुव्रत तथा सात अन्य व्रत (गुणव्रत, शिक्षाव्रत) लेते हैं।

सिद्धान्ततः महाव्रत एवं अणुव्रत एक समान हैं, पर महाव्रत में अहिंसा पर अधिक बल है। ये पाँच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इनमें अहिंसा प्रथम स्थान पर है। यही मूलभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण व्रत है। अहिंसा नाव की तरह संसार-सागर पार करने का साधन है।

अतः अहिंसा के सिद्धान्त का अर्थ विचार, शब्द और कर्म में शुद्धता लाना है और सार्वभौमिक स्नेह और दया की भावना से प्रेरित होना है। अहिंसा को परिभाषित करने के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया जाता है— जैसे कि करुणा, किसी की चोट न पहुँचाना, किसी की हानि न करना, आदि। इनके लिए संस्कृत में करुणा, अनुकम्पा और दया शब्दों का प्रयोग किया जाता है, पर इनमें से कोई भी शब्द अहिंसा के पूरे प्रभाव को व्यक्त या परिभाषित करने में असमर्थ है।

अहिंसा केवल सर्वोच्च धर्म और सद्गुण ही नहीं, अपितु एक आध्यात्मिक पुरुष का मूलमन्त्र है। अहिंसा का पालन किए बिना कोई अध्यात्म के मार्ग पर नहीं चल सकता।

अहिंसक कौन है? अहिंसक का जीवन कैसा होता है?—

वह जो अहिंसा का पालन करे, (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) अहिंसक कहलाता है। अहिंसक केवल अहिंसा में विश्वास ही नहीं रखता, अपितु वह सक्रिय रूप

से अपने दैनन्दिन जीवन में हर पल अहिंसा का पालन करता है। एक अहिंसक के लिए, अहिंसा ही जीवन-मार्ग है और वह जीवन-भर किसी भी जीव को अपने विचारों, शब्दों या कार्यों द्वारा हानि न पहुँचाने का प्रयास करता है। ऐसा आचरण अहिंसक के जीने का ढंग कहलाता है।

एक जीव द्वारा की गई हिंसा दो प्रकार की है—

(1) एक प्राकृतिक स्वभाव या नैसर्गिक प्रवृत्ति, जैसा—कि मांसाहारी पशु जो दूसरे जीव की भोजन के लिए हत्या करता है और

(2) वरण, जिसमें हिंसा करने वाला साधारणतया मनुष्य होता है।

सभी जीवों में चार आवश्यक संज्ञाएँ एक-समान होती हैं। ये हैं—भूख, प्रजनन, नौद एवं भय। केवल मनुष्य ही अपने खाने का वरण या -फिर वस्त्र पहनने का चुनाव (बिना किसी जीव के प्रति हिंसा किए) कर सकता है। अन्य सभी जीव इस प्रकार का चुनाव नहीं कर सकते। वे इन चार आवश्यक क्षेत्रों में प्राकृतिक स्वभाव और आवश्यकताओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं।

प्रश्न : कौन-सी प्रजाति हिंसा का चुनाव करती है ?

उत्तर स्पष्ट है : संसार में मानव ही सर्वाधिक हिंसा करते हैं, क्योंकि वे हिंसा का वरण करते हैं। वे स्वभावानुसार या प्राकृतिक प्रवृत्ति होने के कारण हिंसा नहीं करते। वे भोजन के लिए हिंसा करते हैं, क्योंकि वे अन्य जीवों की हत्या करते हैं।

अहिंसा का इतिहास—

अहिंसा का सिद्धान्त प्राचीन गुरुओं ने लाखों वर्ष पहले प्रतिपादित किया था। लगभग सभी चिन्तक एवं धर्मगुरु इसे मानव-चरित्र का मूल सिद्धान्त मानते हैं। यद्यपि महावीर, बुद्ध, जोसस क्राइस्ट जैसे सत्य के खोजी और ल्होत्से, कन्फ्यूशियस जैसे दार्शनिक एवं पाइथागोरस —जैसी विभूतियाँ भौगोलिक रूप से एक-दूसरे से दूर थे, पर उनका दर्शन सत्य की निरन्तरता का प्रतिपादन करता है; विशेष रूप से जैनधर्म में 'अहिंसा परमो धर्मः' कहा गया है।

भगवान महावीर का उपदेश इस शाश्वत सत्य पर आधारित है कि सभी प्राणियों का स्वभाव प्रसन्नता एवं शान्ति से रहना तथा परमानन्द की प्राप्ति है।

आध्यात्मिक स्तर पर जैनियों ने हिंसा को पाप का पर्याय माना है, जो कर्म बन्धन, पुनर्जन्म और उससे जुड़ी पीड़ा का कारण है। अतः जब मैं किसी व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा करता हूँ, तो सर्व-प्रथम अपने-आपको आहत करता हूँ।

जैनधर्म में अहिंसा का मूलाधार—

मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं। मैं सनातन हूँ निरन्तर और पवित्र। इस ब्रह्माण्ड में रहने वाला प्रत्येक प्राणी —छोटा या बड़ा, मानव या पशु, पेड़-पौधे और अन्य जीव सभी की मेरी

तरह एक आत्मा है। सभी आत्माएँ सनातन, स्वतन्त्र और वैयक्तिक हैं। प्रत्येक आत्मा अथाह ज्ञान, बोध और चेतन स्वरूप है। प्रत्येक आत्मा शान्ति और आनन्द में रहना चाहती है। कोई भी आत्मा कष्ट भोगना नहीं चाहती।

अहिंसा की परिभाषा —

अहिंसा की विस्तृत एवं सर्व-समावेशी परिभाषा इस प्रकार है—

“मानसिक, शाब्दिक, शारीरिक, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से, जाने या अनजाने में, साभिप्राय और बिना शर्त के, स्वयं से या दूसरों द्वारा किसी भी छोटे-बड़े जीव को आघात न पहुँचाना, आहत न करना, गाली न देना, शोषण न करना, अपमान न करना, भेदभाव न करना, उत्पीड़न न करना और न ही हत्या करना ही अहिंसा है।”

अहिंसा के कई सांकेतिक अर्थ हैं। जब हम कहते हैं—अहिंसा, तो साधारणतया हम सोचते हैं कि किसी को भी अपने शब्दों या कृत्यों से न मारना या आघात पहुँचाना, पर यह अहिंसा का केवल दस प्रतिशत अर्थ ही है। एक हिम नदी की तरह इसका अधिकांश अर्थ प्रच्छन्न ही रहता है।

बीसवीं शताब्दी के समाज-सुधारक आचार्य तुलसी अहिंसा को परिभाषित करते हुए तीन शर्तें रखते हैं। प्रथम—किसी भी जीव की मानसिक, शाब्दिक या अपने कृत्यों से हत्या न करें, उसको आघात न पहुँचाएँ। द्वितीय—सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखें। आदर, स्नेह, दया और करुणा भी इसमें सम्मिलित हैं। तृतीय—सदा सतर्क रहें।

वास्तव में अहिंसा बिना शर्त के सभी प्राणियों के प्रति स्नेह, करुणा और आदर-भाव है।

अहिंसा की यह परिभाषा सम्पूर्ण, सार्वभौमिक बिना शर्त के और सनातन है। इसमें कोई दोष नहीं है। मेरे मत में अनेकान्तवाद—‘कोई, एक दृष्टिकोण पूरे सत्य को उद्घाटित नहीं करता’, हमें अहिंसा की कोई अन्य परिभाषा को चुनने की स्वतन्त्रता नहीं देता। अहिंसा का केवल एक ही अर्थ है। जैन धर्मानुसार अहिंसा प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। इसे सदैव अपनी पूरी शक्ति के अनुसार व्यवहार में लाना है। यह प्रवचन या उपदेश के लिए नहीं, अपितु पालन करने के लिए है।

अहिंसा के दो प्रकार—

अहिंसा दो प्रकार की हो सकती है—

1. नकारात्मक—यह किसी को भी किसी प्रकार से हानि न पहुँचाने का सिद्धान्त है। (यह “जियो और जीने दो” कहा जाता है) डॉ. डी. आर. मेहता इसे नकारात्मक अवधारणा मानते हैं।

2. सकारात्मक— यह सिद्धान्त दूसरों की पीड़ा दूर करने में सहायता करना है। (“इसे

अहिंसा—एक संक्षिप्त प्रवेशिका :: 393

जियो और दूसरों को जीने में सहायता करो" कहा जाता है) इस अर्थ में हम एक दर्शक की तरह हिंसा होते हुए नहीं देख सकते।

जैन धर्मग्रन्थों में बताये गए अहिंसा के 18 प्रकार —

बहुत से जैनी प्रतिक्रमण संस्कार का पालन करते हैं। कुछ इसे प्रतिदिन करते हैं, कुछ वर्ष में कुछ बार। पर्यूषण और दस लक्षण के दौरान का श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों प्रतिक्रमण पालन करते हैं। प्रतिक्रमण एक सुव्यवस्थित एवं विचारात्मक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति के जीवन पर एकाग्र की गई है (पिछले 24 घण्टों में, छः महीनों में, वर्ष भर में या-फिर जो भी समय निर्धारित किया जाता है) और व्यक्ति इसमें ईमानदारी से स्वयं मूल्यांकन करता है कि उसने क्या, कहाँ और कब हिंसा की?

18 प्रकार के पाप इस प्रकार हैं—हिंसा, झूठ बोलना, चोरी करना, इन्द्रिय सुख, संचित करना, क्रोध, अहं, धोखा, लालच, मोह, विद्वेष, झगड़ा, झूठा लांछन लगाना, निन्दा करना, अनुराग एवं असन्तुष्टि, दूसरों के बारे में व्यर्थ बातें करना एवं गलत धारणा रखना।

प्रश्न : क्या पीड़ा का स्तर एवं तीव्रत्व सभी जीवों पर एक-जैसा होता है चाहे उनकी कितनी भी इन्द्रियाँ हों?

इसका उत्तर है—नहीं। पीड़ा का स्तर एवं तीव्रत्व सभी जीवों में एक-समान नहीं होता। यह विभिन्न जीवों के प्राणों की संख्या पर निर्भर करता है। अतः सभी जीवों का एक पदानुक्रम है।

एक अहिंसक, एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियों वाले जीवों के पदानुक्रम का आदर करता है। उसे ज्ञात है कि सभी जीव हिंसा की मात्रा का एक-समान अनुभव नहीं करते। अतः वह अपने नित्य के जीवन को उसी पदानुक्रम पर आधारित करता है। एक अहिंसक जहाँ तक सम्भव हो सके, भोजन, कपड़ों और अन्य आवश्यकताओं के लिए सभी जीवों पर क्रूरता और उनके शोषण का बहिष्कार करता है।

नीचे प्राणों के आधार पर एक जीव द्वारा अनुभव की गई पीड़ा का सारांश दिया गया है :

- एक इन्द्रिय वाले जीव के चार प्राण होते हैं :
जीवन आयु, शारीरिक शक्ति, श्वास और स्पर्श।
- दो इन्द्रिय वाले जीव के छः प्राण होते हैं :
जीवन आयु, शारीरिक शक्ति, श्वास, स्पर्श, स्वाद तथा बोलने की शक्ति।
- तीन इन्द्रिय वाले जीवों के सात प्राण होते हैं :
ऊपर लिखे सभी तथा घ्राण शक्ति।
- चार इन्द्रियों वाले जीव के आठ प्राण होते हैं :
उपरिलिखित सभी एवं दृष्टि।

— पाँच इन्द्रियों वाले असैनी जीव के नौ प्राण होते हैं :

उपरिलिखित सभी एवं श्रवण शक्ति।

— पाँच इन्द्रियों वाले सैनी जीव के दस प्राण होते हैं :

उपरिलिखित सभी एवं मानसिक शक्ति।

जैन आचार संहिता ---

जैन आचार संहिता एक अहिंसक के लिए कुछ नियम तय करती है—

1. मैं किसी भी जीव की जानबूझ कर हत्या नहीं करूँगा और न ही आत्महत्या करूँगा।
2. मैं किसी कर्मचारी या कार्मिक से निश्चित समय से अधिक कार्य नहीं लूँगा और न ही पशुओं पर अधिक बोझ लादूँगा।
3. मैं भ्रामक विचारों का प्रचार नहीं करूँगा और न ही किसी को झूठा फसाऊँगा।
4. मैं किसी भी ऐसी संस्था का सदस्य नहीं बनूँगा, जो हिंसा और विध्वंस में विश्वास करती हो और न ही इन गतिविधियों में भाग लूँगा।
5. मैं पशुओं पर प्रयोग की गई वस्तुओं का उपयोग नहीं करूँगा।
6. मैं सब को समभाव से देखूँगा और सभी धर्मों के प्रति सहनशीलता बनाए रखूँगा।
7. मैं शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक अहिंसा का पालन करूँगा।

इस आचार-संहिता का पालन करते हुए व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण, मित्र भाव और करुणा को प्राप्त करता है तथा लोभ से छुटकारा पा लेता है। यह प्रत्येक व्यक्ति की मुक्ति के लिए आवश्यक है। यह शान्ति और सामंजस्य के लिए व्यावहारिक धर्म है।

एक अहिंसक के गुण —

स्नेह, हर्ष, शान्ति, सहनशीलता, दया, औचित्य, विश्वसनीयता, सज्जनता और आत्मनियन्त्रण एक अहिंसक के आवश्यक गुण हैं।

अहिंसा का पालन करने के लाभ—

अहिंसा का पालन करने से इनकी प्राप्ति होती है—

- सभी जीवधारियों के प्रति आदर (अस्तित्व का जनतन्त्र)
- दूसरों के विचारों का सम्मान (विचार एवं धारणा का जनतन्त्र)
- अनासक्ति (घृणा और मोह का परित्याग)
- स्वामित्व की परिसीमा (स्वामित्व का जनतन्त्र)
- एक-दूसरे पर निर्भरता और सभी का सम्मान (कोई भी अकेला जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि हम एक-दूसरे से बँधे हैं।)
- कर्मों के अन्तःप्रवाह में कमी।

अहिंसा—एक संक्षिप्त प्रवेशिका :: 395

मैं कौन हूँ?—

आचार्य महाप्रज्ञ ने 'मैं कौन हूँ' का इस प्रकार वर्णन किया है—“आत्मा मेरा ईश्वर है। त्याग मेरी प्रार्थना है। सद्भावना मेरी भक्ति है। आत्म-नियन्त्रण मेरा धर्म है।”

हिंसा और अहिंसा की व्याप्ति—

किसी कारणवश या अकारण की गई हिंसा का एक विस्तृत क्षेत्र है और यह कई रूपों में की जाती है। इसमें अन्न, कपड़े, घर और दवाई—जैसी शारीरिक आवश्यकताएँ सम्मिलित हैं। गौण आवश्यकताओं और इच्छाओं में सुन्दरता, खेल और मनोरंजन, सजावट, परिवहन, सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाज, अहं, क्रोध, घृणा, नियन्त्रण, दूसरों पर प्रभुत्व आदि आती हैं।

इसी प्रकार अहिंसा का पालन-भोजन, कपड़ों, सजावट, दवाइयाँ, खेल, मनोरंजन, लिंग और जातीय एवं प्रजातीय सम्बन्धों, आपसी सम्बन्धों, व्यापार-निवेश, जीविका, आस्था सम्बन्धी परम्पराओं, वैश्विक दृष्टिकोण एवं वातावरण आदि क्षेत्रों में भी करना चाहिए।

यदि कोई अहिंसक बनने का प्रयास कर रहा है, तो उसे यह पता होना चाहिए कि कहीं अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति में वह किसी अन्य मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली या कीड़े-मकोड़ों को पीड़ा तो नहीं पहुँचा रहा।

अहिंसक सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्धों पर ध्यान देता है। वह देखता है कि क्या वह किसी प्रकार के भेद-भाव, जातीय दृष्टिकोण, अन्याय-पूर्ण और पक्षपातपूर्ण-नियम और अधिनियम, वर्ण-भेद, दासता और अस्पृश्यता में तो लिप्त नहीं है।

वह अपने निवेश पर भी ध्यान देता है और विचार करता है कि क्या वह मनुष्य या पशु के शोषण, वातावरण के विनाश, स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए घातक गतिविधियों द्वारा तो लाभ नहीं कमा रहा है।

संक्षेप में, अहिंसा विचार, वाणी और कर्मों में प्रेम, आदर एवं करुणा की प्राप्ति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देती है। यह घृणा, वैमनस्य और ईर्ष्या के सभी प्रकारों का त्याग करती है। यह समता और सम-भाव से सभी का स्वागत करती है। यह अहं, क्रोध, लोभ, धोखा और पाखण्ड से मुक्त है। इससे विश्राम, हर्ष, प्रशान्ति एवं आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति होती है।

महावीर और बुद्ध के बाद जीसस क्राइस्ट ही शान्ति और अहिंसा के सबसे बड़े अवतार थे।

भारतीय धर्मों और क्रिश्चियन धर्म में समानताएँ—

अहिंसा, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, ध्यान-प्रार्थना, क्षमा, सभी प्राणियों में समानता।
 स्वर्णिम नियम—‘दूसरों से ऐसा व्यवहार करो; जैसा आप स्वयं उनसे चाहते हो।
 ईश्वर आपके भीतर है;
 शान्ति बनाये रखने वाले—ईश्वर के पुत्र कहलाएँगे;
 अपने शत्रु के प्रति दया;
 अपने पड़ोसी से प्रेम अर्थात् प्राणी-मात्र से स्नेह;
 दान, क्षमा और स्वयं-सेवी भावना;
 स्वामित्व एवं निर्धनता;
 जैन-धर्म के पाँच महाव्रत और क्रिश्चियनों तथा यहूदियों के दस आदेश

कुछ उत्तम वचन (उद्धरण) :

सभी जीवों के प्रति अहिंसा और दया अपने प्रति दया है। इससे व्यक्ति अपने-आपको विभिन्न प्रकार के पापों और उनसे उत्पन्न कष्टों से मुक्त रखता है। वह अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है।

—भगवान महावीर

सर्वोपरि धर्म है—वैश्विक भाईचारा, और सभी प्राणियों को अपने तुल्य समझना।

—गुरुनानक

एक समय आएगा, जब मनुष्य पशुओं की हत्या को मानव-हत्या के समान समझेंगे।

—लियोनार्दो दा विंची

क्रूरता आधुनिक सभ्यता का कैंसर है।

—रेव. ए. डी. बेल्लडन

छोटे से छोटे पशु के प्रति सहानुभूति रखना मनुष्य का सबसे बड़ा सद्गुण है।

—चार्ल्स डार्विन

सन्दर्भ—

1. डी. आर. मेहता — "Comprehensive Concept of Ahimsa, its application in real life."
2. शुभचन्द्र जैन — A paper titled "Ahimsa/Non violence, its Dimensions and Practices."

अध्यात्म

पं. रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत लेख का विषय 'जैन अध्यात्म' है। अतः इस लेख के द्वारा हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि—जैन अध्यात्म क्या है? जैनधर्म में अध्यात्म किसे कहते हैं?

'जैन अध्यात्म' में दो शब्दों का समावेश है—(1) जैन (2) अधि + आत्म = अध्यात्म। जो जिन का या जिनेन्द्र देव का भक्त है, वह जैन है तथा 'अधि' उपसर्ग पूर्वक आत्मन् शब्द है। अधि उपसर्ग का अर्थ ज्ञान होता है, अतः जैन धर्म की दृष्टि से जो आत्मज्ञान है, वही 'जैन अध्यात्म' है।

अब हमें यह जानना है कि जैनधर्म के अनुसार अध्यात्म का स्वरूप क्या है? और हमें जैन अध्यात्म जानना क्यों जरूरी है?

जैनधर्म के अनुसार आत्मा में उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही मोक्षमार्ग में अध्यात्म कहा है। शुद्ध आत्मा की प्रतीति या ब्रह्मान ही सम्यग्दर्शन है तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानना सम्यग्ज्ञान एवं उस आत्मा में ही जमना, रमना, सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार इन तीनों का स्वरूप जानना ही 'जैन अध्यात्म' का ज्ञान है।

सभी जीव संसार के दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं, क्योंकि सच्चा सुख मोक्ष-अवस्था में ही है। वह मोक्ष जैन अध्यात्म ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है, अतः जैन अध्यात्म का जानना अत्यावश्यक है।

जैनधर्म के अनुसार सृष्टि अर्थात् जगत् अनादि-अनन्त है, स्व-संचालित है, इसका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। इसमें मूलतः 6 द्रव्य हैं, पहला—द्रव्य जीव है, ये जीव द्रव्य अनन्त हैं, दूसरा—पुद्गल द्रव्य है, ये अनन्तानन्त हैं। तीसरा—धर्मद्रव्य एक है, चौथा—अधर्म द्रव्य भी एक ही है, पाँचवाँ—आकाश द्रव्य है, यह भी एक है तथा छठवाँ—कालद्रव्य है ये असंख्य हैं। इसका विस्तृत वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में है। जिज्ञासु जीव वहाँ से जानें। विस्तारभय से वह सब यहाँ देना सम्भव नहीं है।

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ एक प्रमाण ज्ञान एवं सुख-स्वभावी ही हैं; सभी आत्माएँ समान ही हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है, परन्तु संसार-अवस्था में जीव अपने ज्ञान-स्वभाव को भूला है तथा पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की मिथ्या कल्पना करके रागी-

द्वेषी हुआ अनादि से जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है।

जैनधर्म के अनुसार जो जीव स्वयं (निज आत्मा) को जानकर, पहचानकर स्वयं में जम जाता है, रम जाता है, वह जीव मात्र अन्तर्मुहूर्त में (48 मिनट में ही) अष्ट कर्मों का विनाश करके परमात्मा बन जाता है, वह परमात्मा वीतरागी व सर्वज्ञ है तथा वह सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। वह जगत् का मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है तथा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जानकर, उसमें रमकर अनन्त काल के लिए अनन्त सुख प्राप्त कर लेता है।

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिए हमें सर्वप्रथम उन परमेश्वर स्वरूप मुक्त आत्माओं की शरण में जाना होता है, जिन आत्माओं ने वह सुख प्राप्त कर लिया है, ऐसे अर्हन्त, सिद्ध भगवन्तों की शरण लेकर अपने आत्मा को जानने का प्रयास करना होता है। एतदर्थ वीतरागी सर्वज्ञ-स्वभावी अर्हन्त भगवान् के द्वारा कहे एवं आचार्यों द्वारा लिखे गये वीतरागता के पोषक शास्त्रों का अध्ययन मनन-चिन्तन जरूरी है।

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार द्रव्यानुयोग की दृष्टि से कहें, तो यह जीव लगातार एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मा में स्थिर होकर चार कषायों के अभावपूर्वक स्व-सन्मुख हुआ पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतकर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति प्राप्त कर अनन्तकाल तक रहने वाला परमात्म-पद प्राप्त कर लेता है।

दूसरे, करणानुयोग के दृष्टिकोण से कहें, तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मानुभवी जीव को 'जिन' कहते हैं। छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को जिनवर तथा घाती कर्मों का अभाव करने वाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को जिनवर वृषभ (अर्हन्त) कहते हैं। वे अर्हन्त ही शेष अघातिया कर्मों का अभाव कर सिद्ध भगवान्-होते हैं।

इन जिनवर वृषभ (अर्हन्त देव) द्वारा प्रसारित दिव्यध्वनि को आचार्यों ने चार अनुयोगों द्वारा अर्थात् चार कथन पद्धतियों द्वारा प्रतिपादित किया है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं।

सम्पूर्ण जिनवाणी के कथन करने की चार शैलियाँ हैं, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं वे इस प्रकार हैं—

1. प्रथमानुयोग
2. चरणानुयोग
3. करणानुयोग और
4. द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग में 63 शलाका महापुरुषों के चरित्रों द्वारा अज्ञानी, अल्पज्ञानी जीवों को सन्मार्ग दर्शन दिया जाता है, मोक्षमार्ग में लगाया जाता है, इस अनुयोग में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि के निरूपण से जीवों

को धर्म में लगाया जाता है। यह अनुयोग मुख्यतया तुच्छबुद्धि जीवों के प्रयोजन से अर्थात् अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टियों के प्रयोजन से लिखा गया है। जिन्हें तत्त्वज्ञान हो गया है, उन्हें भी ये प्रथमानुयोग के कथन उदाहरण-रूप भासित होने से सार्थक होते हैं।

करणानुयोग में राग-द्वेष-मोह के कारण जीव से बँधे हुए अष्ट कर्मों के विशेष कथन द्वारा तथा त्रिलोकादि की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया जाता है, 'करण' का अर्थ गणित होता है। गणित की मुख्यता से इस शैली में त्रिलोकादि का स्वरूप बताया जाता है तथा गुणस्थान आदि से जीव के भावों का कथन होता है।

चरणानुयोग में नानाप्रकार से धर्म के साधनों का निरूपण करके जीवों के आचरण को सुधार कर उन्हें धर्म में लगाया जाता है, इस कारण इसमें जीवों के आचरण का मुख्यता से निरूपण होता है।

द्रव्यानुयोग में द्रव्यों एवं तत्त्वों का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाते हैं। इस कथन शैली में आत्मज्ञान की मुख्यता होती है।

अपने वर्ण्य विषय 'जैन अध्यात्म' को जानने के लिए द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अध्ययन ही विशेष कार्यकारी है, क्योंकि 'जैन अध्यात्म' द्रव्यानुयोग से ही सम्बन्धित है। अतः हम द्रव्यानुयोग के आधार से ही जैन अध्यात्म का अध्ययन करेंगे।

द्रव्यानुयोग में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और पंचास्तिकाय संग्रह ग्रन्थ तो प्रमुख हैं ही, आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह, आ. उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र, आ. अकलंक देव द्वारा रचित राजवार्तिक, आ. पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि, आ. गुणभद्र का आत्मानुशासन, आ. योगीन्द्र देव के द्वारा रचित परमात्मप्रकाश एवं योगसार तथा कविवर बनारसी दास का नाटक समयसार आदि ग्रन्थों में भी आत्मा की मुख्यता से ही सात तत्त्वों एवं छहद्रव्यों का वर्णन है। अतः ये सभी ग्रन्थ भी अध्यात्म के प्रतिपादक ही हैं। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ 'जैन अध्यात्म' की श्रेणी में ही आते हैं; क्योंकि इन सभी में आत्मा की मुख्यता से ही कथन है। वैसे तो सम्पूर्ण जिनागम एक आत्मज्ञान के लिए हो समर्पित है; परन्तु प्रथमानुयोग में महापुरुषों के चरित्रों का, करणानुयोग में कर्मों की विचित्रता का तथा चरणानुयोग में आचरण की मुख्यता से कथन होता है।

एकमात्र द्रव्यानुयोग में ही जीवादि सात तत्त्व, छहद्रव्य तथा मोक्ष के साक्षात् कारण निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान एवं निश्चय सम्यक्चारित्र का निरूपण होता है, अतः 'जैन अध्यात्म' के अध्ययन हेतु द्रव्यानुयोग की रचना हुई है। यही जैन अध्यात्म के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी रूप जो सम्यग्दर्शन है, उसकी उत्पत्ति जैन अध्यात्म के अध्ययन बिना सम्भव ही नहीं है। अध्यात्म-रसिक पण्डित श्री दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं—

मोक्षमहल की परधम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।

जिनागम में सम्यग्दर्शन की चार परिभाषाएँ दी हैं—

1. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

तीन मूढ़ता रहित आठ अंग सहित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु रूप परमार्थियों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

—आ. समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 4

2. “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र 1/2

3. समयसार में स्व-पर भेद-विज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। तथा—

4. छहढाला में पर-द्रव्यों से भिन्न आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

वैसे तो सभी चारों अनुयोग ही अप्रत्यक्ष रूप से जैन अध्यात्म के निरूपक हैं, क्योंकि सभी में डायरेक्ट-इनडायरेक्ट रूप से आत्मा का ही निरूपण है; परन्तु छहढाला, तत्त्वार्थसूत्र एवं समयसार तो विशुद्ध अध्यात्म के ही ग्रन्थ हैं, रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रथम अध्याय भी सम्यग्दर्शन की मुख्यता से ही लिखा गया है, उसमें भी अध्यात्म का ही विषय अधिक है।

अब हम अध्यात्म के प्रमुख ग्रन्थ समयसार और नाटक समयसार के माध्यम से जैन अध्यात्म का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं, जो हमें ‘जैन अध्यात्म’ को गहराई से जानने में मदद करेगा।

हिन्दू धर्म के श्रेष्ठ ग्रन्थ गीता को भी केवल इस कारण आध्यात्मिक ग्रन्थ कहा जाता है, क्योंकि उसमें आत्मा को अनादि-अनन्त और अमर- तत्त्व के रूप में देखा गया है। वहाँ लिखा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

आत्मा शस्त्रों से छिदती नहीं, इसे अग्नि जला नहीं सकती, यह जल से गलता नहीं तथा इसे वायु भी सुखा नहीं सकती।

1. अब प्रथम समयसार परमागम के जीवाजीवाधिकार के आधार से यहाँ आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हैं। तदुपरान्त इसी ग्रन्थ के कर्ता-कर्म अधिकार के आधार से आत्मा के कर्ता-कर्म एवं पुण्य-पाप आदि अधिकारों के आधार से पुण्य-पाप आदि पर विचार करेंगे।

समयसार का जीवाजीवाधिकार मुख्यतः भेद-विज्ञान का अधिकार है, जीव व अजीव तत्त्वों का जैसा सूक्ष्म-विश्लेषण इस अधिकार में है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया। इसमें शुद्ध जीवपदार्थ का अजीवपदार्थ से भेद-ज्ञान कराते हुए यहाँ तक कह दिया गया है कि एक निज शुद्धात्म-तत्त्व के सिवाय अन्य समस्त पर-पदार्थ अजीव तत्त्व हैं। जड़-अचेतन पदार्थ तो अजीव हैं ही, अन्य अनन्त जीव राशि को भी निज ज्ञायकस्वभाव से भिन्न होने के कारण अजीव-तत्त्व के रूप में गिना है तथा अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाले क्षणिक क्रोधादि विकारीभावों तथा मति-श्रुतज्ञानादि अपूर्ण पर्यायों को भी अपने त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञायक स्वभाव से भिन्न होने के कारण अजीव-तत्त्व कहा है।

ऐसा जीव नामक शुद्धात्मतत्त्व देह एवं रागादि औपचारिक भावों से भिन्न है— यह बात स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि—“चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व सार है, ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है। इस चित्शक्ति से अन्य जो भी औपाधिक भाव हैं, वे सभी पुद्गलजन्य हैं, अतः पुद्गल ही हैं।”

उन पौद्गलिक और पुद्गलजन्य भावों का उल्लेख करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जीव के वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श नहीं हैं; शरीर, संस्थान, संहनन भी नहीं हैं; तथा राग, द्वेष, मोह, कर्म व नोकर्म भी नहीं हैं; वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक भी नहीं हैं; अध्यात्म के स्थान, अनुभाग के स्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, गुणस्थान आदि कुछ भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि ये सब तो पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्य-शक्ति-मात्र है।¹

गुणस्थानादि को यद्यपि व्यवहार से जीव कहा गया है, पर वे सब वस्तुतः ज्ञायक स्वभाव से भिन्न होने से जीव के भाव ही नहीं हैं और जीव-स्वरूप भी नहीं हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इसी बात पर अपनी मुहर (छाप) लगाते हुए कहा है कि—‘वर्णादिक व रागादिक भाव आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को ये-सब दिखाई नहीं देते। उसे तो मात्र एक चैतन्यभावस्वरूप सर्वोपरि आत्म-तत्त्व ही दिखाई देता है।’²

जीव का वास्तविक लक्षण तो चेतना मात्र है। अस्ति से कहें, तो वह ज्ञान-दर्शनमय है और नास्ति से कहें, तो वह अरस, अरूप, अगन्ध और अस्पर्शी है। तथा पुद्गल के आकार रूप नहीं होता, अतः उसे निराकार व अलिंगग्रहण कहा जाता है।³

आत्मा के ऐसे स्वभाव को न जाननेवाले अज्ञानीजन पर का संयोग देखकर आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों व पर-भावों को ही आत्मा मानते हैं; इस कारण कोई राग-द्वेष को, कोई कर्म-फल को, कोई शरीर को और कोई अध्यवसानादि भावों को ही जीव मानते हैं। जबकि वस्तुतः ये-सब जीव नहीं हैं, क्योंकि ये-सब तो कर्म-रूप पुद्गलद्रव्य

के निमित्त से होने वाले या-तो संयोगीभाव हैं या संयोग हैं, अतः अजीव हैं।¹

ज्ञानी इन-सब आगन्तुक भावों से भेद-ज्ञान करके ऐसा मानता है कि “मैं एक हूँ, अरूपी हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, इसके सिवाय अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं।”² इसी दृष्टि से समयसार गाथा-2, 6 एवं 7 भी महत्वपूर्ण हैं, जिनमें क्रमशः स्वसमय-परसमय एवं प्रमत्त-अप्रमत्त के सन्दर्भ में पर व पर्यायों से भेद-ज्ञान कराके शुद्धात्मस्वरूप का विशद स्पष्टीकरण किया गया है।

2. समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में वस्तु-स्वातन्त्र्य या छहों द्रव्यों के स्वतन्त्र परिणमन का निरूपण, प्रकारान्तर से परद्रव्य के अकर्तृत्व का ही निरूपण है। यह अकर्तावाद का सिद्धान्त आगमसम्मत, युक्तियों एवं सिद्धान्तशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा स्थापित तो है ही, पर अपने व्यावहारिक लौकिक जीवन में भी उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

आगम के दबाव और युक्तियों की मार से सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेने पर भी अपने दैनिक जीवन को छोटी-मोटी पारिवारिक घटनाओं के सन्दर्भ में उन सिद्धान्तों के प्रयोगों द्वारा आत्मिक शान्ति और निष्कषाय भाव रखने की बात जगत् के गले आसानी से नहीं उतरती, उसके अन्तर्मन को सहज स्वीकृत नहीं होती, जबकि हमारे धार्मिक सिद्धान्तों की सच्ची प्रयोगशाला तो हमारे जीवन का कार्यक्षेत्र ही है।

क्या अकर्तावाद जैसे संजीवनी सिद्धान्त केवल शास्त्रों की शोभा बढ़ाने या बौद्धिक व्यायाम करने के लिए ही हैं?... अपने व्यावहारिक जीवन में प्रामाणिकता, नैतिकता एवं पवित्रता प्राप्त करने में इनकी कुछ भूमिका—उपयोगिता नहीं है?

जरा सोचो तो, अकर्तृत्व के सिद्धान्त के आधार पर जब हमारी श्रद्धा ऐसी हो जाती है कि कोई भी जीव किसी अन्य जीव का भला या बुरा कुछ भी नहीं कर सकता, तो-फिर हमारे मन में अकारण ही किसी के प्रति राग-द्वेष-मोहभाव क्यों होंगे?

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अकर्तृत्व की सच्ची श्रद्धा वाले ज्ञानियों के भी क्रोधादि भाव एवं इष्टानिष्ट की भावना प्रत्यक्ष देखी जाती है तथा उनके मन में दूसरों का भला-बुरा या बिगाड़-सुधार करने की भावना भी देखी जाती है—इसका क्या कारण है?

उत्तर यह है कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा सिद्धों-जैसी पूर्ण निर्मल होती है, तथापि वह चारित्रमोह कर्मोदय के निमित्त से एवं स्वयं के पुरुषार्थ की कमी के कारण दूसरों पर कषाय करता हुआ भी देखा जा सकता है; पर सम्यग्दृष्टि उसे अपनी कमजोरी मानता है। उस समय भी उसकी श्रद्धा में तो यही भाव है कि पर ने मेरा कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं किया है। अतः उसे उसमें अनन्त राग-द्वेष नहीं होता। उत्पन्न हुए कषाय को यथाशक्ति कृश करने का पुरुषार्थ भी निरन्तर चालू रहता है। अतः इस अकर्तावाद के सिद्धान्त को धर्म का मूल आधार या धर्म का प्राण भी कहा जाये तो

भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वस्तुतः पर में अकर्तृत्व की यथार्थ श्रद्धा रखने वाले का तो जीवन ही बदल जाता है। वह अन्दर ही अन्दर कितना सुखी, शान्त, निरभिमानी, निर्लोभी और निराकुल हो जाता है; अज्ञानी तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

समयसार के अकर्तावाद का तात्पर्य यह है कि जो प्राणी अपने को अनादि से पर-द्रव्य का कर्ता मानकर राग-द्वेष-मोह भाव से कर्म-बन्धन में पड़कर संसार में परिभ्रमण कर रहा है, वह अपनी इस मूल भूल को सुधारे और अकर्तृत्व की श्रद्धा के बल से राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागता प्रकट करे; क्योंकि वीतरागता हुए बिना पूर्णता, पवित्रता व सर्वज्ञता की प्राप्ति सम्भव नहीं है। एतदर्थ अकर्तावाद को समझना अति आवश्यक है।

वस्तुतः कर्ता-कर्म-सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता ही नहीं है, एक ही द्रव्य में होता है। इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कलश द्रष्टव्य है—

“यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेतु तत्कर्म।
या परिणति क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥५१॥”

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है; जो परिणाम होता है, उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति है, वह क्रिया कहलाती है, वास्तव में तीनों भिन्न नहीं हैं।”

इस कलश से स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल में कर्ता-कर्म-सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः कर्तृ-कर्म सम्बन्ध वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव या उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है, वह व्यापक है, उपादान है तथा जो कार्य होता है, वह व्याप्त है, उपादेय है।

यदि आत्मा पर-द्रव्यों को करे, तो नियम से वह उनके साथ तन्मय हो जाये, पर तन्मय नहीं होता, इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है। वीतरागता प्राप्त करने के लिए अकेला अकर्ता होना ही जरूरी नहीं है, बल्कि अपने को पर का अकर्ता जानना, मानना और तद्रूप आचरण करना भी जरूरी है। एक-दूसरे के अकर्ता तो सब जीव हैं ही, पर भूल से अज्ञानियों ने अपने को पर का कर्ता मान रखा है, इस कारण उनकी अनन्त आकुलता और क्रोधादि कषायें कम नहीं होतीं, अन्यथा इस अकर्तृत्व सिद्धान्त की श्रद्धा वाले व्यक्ति के विकल्पों का तो स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे समय-समय पर प्रतिकूल परिस्थिति-जन्य अपनी आकुलता कम करने के लिए वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन पर एवं उस परिणमन में पर की अपेक्षा से अपनी अकिंचित्करता के स्वरूप के आधार पर ऐसे विचार आते हैं कि जिनसे उसकी आकुलता सहज ही कम हो जाती है। उदाहरणार्थ वह सोचता है कि—

1. यदि मैं अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार परिणामा सकता, तो जब भी अपशकुन

की प्रतीक मेरी बायीं आँख फड़कती है, उसे तुरन्त बन्द करके शुभ शकुन की प्रतीक दायीं आँख क्यों नहीं फड़का लेता?

2. यदि मैं अपने प्रयत्नों से शरीर को स्वस्थ रख सकता हूँ, तो प्रयत्नों के बावजूद भी यह अस्वस्थ क्यों हो जाता है?... जब किसी को कैंसर, कोढ़ एवं दमा-श्वास जैसे प्राणघातक भयंकर दुःखद रोग हो जाते हैं तो वह उन्हें अपने प्रयत्नों से तत्काल ठीक क्यों नहीं कर लेता?
3. यदि मैं किसी का भला कर सकता, तो सबसे पहले अपने कुटुम्ब का भला क्यों न कर लेता?... फिर मेरे ही परिजन-पुरजन दुःखी क्यों रहते?... मैंने अपनी शक्ति-अनुसार उनका भला चाहने व करने में कसर भी कहाँ छोड़ी, पर मैं इच्छानुसार किसी का कुछ भी नहीं कर सका।
4. इसी प्रकार, यदि कोई किसी का बुरा या अनिष्ट कर सकता होता, तो आज सम्भवतः यह दुनिया ही इस रूप में न होती, सभी-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता; क्योंकि दुनिया तो राग-द्वेष का ही दूसरा नाम है। ऐसा कोई व्यक्ति, नहीं जिसका कोई शत्रु न हो; पर आज जगत यथावत् चल रहा है। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी के भले-बुरे, जीवन-मरण व सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता नहीं है। जो होना होता है, वही होता है; किसी के करने से कुछ नहीं होता।

लोक में सभी कार्य स्वतः अपने-अपने षट्कारकों से ही सम्पन्न होते हैं। उनका कर्ता-धर्ता मैं नहीं हूँ। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व के भार से निर्भर होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेता है। यही आत्मानुभूति का सहज उपाय है।

प्रत्येक द्रव्य व उनकी विभिन्न पर्यायों के परिणमन में उनके अपने-अपने कर्ता, कर्म, करण आदि स्वतन्त्र षट्कारक हैं, जो उनके कार्य के नियामक कारण हैं। ऐसी श्रद्धा का बल बढ़ने से ही ज्ञानी ज्यों-ज्यों उन षट्कारकों की प्रक्रिया से पार होता है, त्यों-त्यों उसकी आत्म-शुद्धि में वृद्धि होती जाती है।

जब कार्य होना होता है, तब कार्य के नियामक अन्तरंग षट्कारक एवं पुरुषार्थ, काललब्धि एवं निमित्तादि पाँचों समवाय स्वतः मिलते ही हैं और नहीं होना होता है, तो अनन्त प्रयत्नों के बावजूद भी कार्य नहीं होता तथा तदनुरूप कारण भी नहीं मिलते। मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से अकर्तावाद सिद्धान्त की ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि जिससे उसके असीम कष्ट सीमित रह जाते हैं। जो विकार शेष बचता है, उसकी उग्र भी लम्बी नहीं होती।

बस, इसीलिए तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद ही कर्ताकर्म अधिकार लिखने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया है। इसमें बताया गया है—जगत् का प्रत्येक पदार्थ पूर्णतः स्वतन्त्र है, उसमें होने वाले नित्य नये परिवर्तन

या परिणमन का कर्ता वह पदार्थ स्वयं है। कोई भी अन्य पदार्थ या द्रव्य किसी अन्य पदार्थ या द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है।

समयसार के कर्ता-कर्म-अधिकार का मूल प्रतिपाद्य ही यह है कि पर-पदार्थ के कर्तृत्व की तो बात ही क्या कहें, अपने क्रोधादि भावों का कर्तृत्व भी ज्ञानियों के नहीं है। जब तक यह जीव ऐसा मानता है कि मैं (आत्मा) कर्ता व क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं, तब तक वह अज्ञानी है तथा जब स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा क्रोधादि आस्रवों से शुद्धात्म स्वरूप को भिन्न जान लेता है, तब ज्ञानी होता है।

यद्यपि जीव व अजीव दोनों द्रव्य हैं, तथापि जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मवर्णाएँ स्वतः अपनी तत्समय की योग्यता से कर्म-रूप परिणत होती हैं और पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव अपनी तत्समय की योग्यता से रागादि परिणामस्वरूप से परिणमित होता है। इस प्रकार जीव के व कर्म के कर्ता-कर्म-सम्बन्ध नहीं हैं, क्योंकि न-तो जीव पुद्गलकर्म के किसी गुण का उत्पादक है और न पुद्गल जीव के किसी गुण का उत्पादक है। केवल एक-दूसरे के निमित्त से दोनों का परिणमन अपनी-अपनी उपादान की योग्यतानुसार होता है। इस कारण जीव सदा अपने भावों का कर्ता होता है, अन्य का नहीं।

यद्यपि आत्मा वस्तुतः केवल स्वयं का ही कर्ता-भोक्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं, तथापि द्रव्यकर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा को सांसारिक सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है, परन्तु ऐसा कहने का कारण पर का या द्रव्यकर्म का कर्तृत्व नहीं है, बल्कि आत्मा में जो अपनी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता या अज्ञानता से राग-द्वेष-मोह कषायादि भावकर्म हो रहे हैं, उनके कारण यह सांसारिक सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता होता है। वस्तुतः आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, अतः वह किसी का कार्य नहीं है तथा वह किसी को उत्पन्न नहीं करता, इस अपेक्षा वह किसी का कारण भी नहीं है। अतः दो द्रव्यों में मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। ध्यान रहे, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता है, जो-कि पूर्ण स्वतन्त्र व स्वावलम्बी होते हैं।

आत्मा जब तक कर्म-प्रकृतियों के निमित्त से होने वाले विभिन्न पर्यायरूप उत्पाद-व्यय का परित्याग नहीं करता, उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मान्यता नहीं छोड़ता, तब तक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि एवं असंयमी रहता है। जब वह अनन्त कर्म व कर्म-फल के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भाव का परित्याग कर देता है, तब वह बन्ध से रहित होकर केवल ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है।

जिस प्रकार नेत्र विभिन्न पदार्थों की देखता मात्र है, उनका कर्ता व भोक्ता नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञान बन्ध तथा मोक्ष को एवं कर्मोदय तथा निर्जरा को जानता मात्र है, उनका कर्ता व भोक्ता नहीं होता। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के

अहंकारादि एवं असंयमादि दोषों से निर्वृत्त हो स्वरूप-सन्मुख हो जाते हैं।

3. पुण्य-पाप स्वर्ण-लोहमय वेड़ियाँ हैं—आचार्य कुन्दकुन्द शुभ और अशुभ दोनों कर्मों को कुशील कहते हैं। अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील मानने वाले अज्ञानीजनों से वे पूछते हैं कि जो कर्म हमें संसाररूप बन्दीगृह में बन्दी बनाता है, वह पुण्यकर्म सुशील कैसे हो सकता है ?

जैसे पुरुष को सोने की बेड़ी भी बाँधती है और लोहे की बेड़ी भी बाँधती है, उसी प्रकार शुभ व अशुभ कर्म भी जीवों को समान रूप से सांसारिक बन्धन में बाँधते हैं ।

“रागी जीव कर्म से बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मबन्धन से छूटता है, अतः शुभाशुभ कर्मों में प्रीति करना ठीक नहीं है।”

वस्तुतः यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि शुद्धोपयोग पर ही केन्द्रित है, वे शुभाशुभ दोनों ही भावों को एक-जैसा संसार का कारण होने से हेय मानते हैं।”

पं. बनारसीदास ने तो इस अधिकार का नाम ही पुण्यपाप-एकत्वद्वारा रखा है। पापबन्ध व पुण्यबन्ध—दोनों ही मुक्तिमार्ग में बाधक हैं, दोनों के कटु और मधुर स्वाद पुद्गल के हैं, संक्लेश व विशुद्धभाव दोनों विभाव हैं, कुगति व सुगति दोनों संसारमय हैं। इस प्रकार दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल—सभी समान हैं। फिर न जाने क्यों, अज्ञानी को इनमें अन्तर दिखायी देता है ?... जबकि दोनों ही अंधकूप हैं व कर्म-बन्ध-रूप हैं, अतः दोनों का ही मोक्षमार्ग में निषेध है।¹⁰

समयसार के हिन्दी-टीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि—

“पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्ध रूप दुर् मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि।।”

पुण्य व पाप दोनों ही कर्म-बन्ध-रूप हैं, अतः दोनों ही दुःखद हैं।” —ऐसा जानें।

इस प्रकार मोक्षमार्ग में पुण्य-पाप का क्या स्थान है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गयी है, फिर भी पाप-कार्यों से बचने के लिए पुण्य की भी अपनी उपयोगिता है—इस बात को दृष्टि से ओझल न करते हुए यथायोग्य पुण्याचरण करते हुए पुण्य के प्रलोभन से वचें और पुण्य को ही धर्म न समझ लिया जाये—इस बात से भी सावधान रहें।

4. संवर-अधिकार में कहा है कि—संवर-तत्त्व भेद विज्ञान की भावना का ही सुफल है। इसमें कहा गया है कि ज्ञानोपयोग चैतन्य का परिणाम होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म—सभी पुद्गल के परिणाम होने से जड़ हैं। अतः उपयोग व क्रोधादि में प्रदेश-भिन्नता होने से अत्यन्त-भेद है।

ज्ञानी दर्शनज्ञान उपयोग में स्थिर है। अतः उसके मिथ्यात्व, अविरति व योग रूप आस्रव का अभाव है। आस्रव के अभाव में कर्मों-नोकर्मों का निरोध है। कर्मों-नोकर्मों के निरोध से संसार का निरोध है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मोपलब्धि में मूल कारण स्व-पर में भेदविज्ञान ही है।

5. निर्जरा-अधिकार में पहले तो द्रव्यनिर्जरा व भाव निर्जरा किन जीवों के किस प्रकार होती है?...— यह बताया। पश्चात् ज्ञान व वैराग्य का विस्तृत विवेचन किया है तथा कहा गया है कि—

“एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं। 206।।”

हे आत्मन्! यदि तू सुख चाहता है, तो उस आत्मानुभव में ही तल्लीन हो, उसी में सन्तुष्ट हो और उसी में तृप्त हो। अन्य सब इच्छाओं का त्याग कर दे, ऐसा करने से ही तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

6. बन्ध अधिकार में कहा गया है कि कर्मबन्ध का मूल कारण अपना अज्ञान-जन्म राग-द्वेष-मोह रूप अध्यवसान है। यदि अध्यवसान भाव है, तो अन्य जीवों को मारो या न मारो, बन्ध होगा ही और यदि राग-द्वेष-मोह नहीं है, तो भले जीव मर जाये, तो भी बन्ध नहीं होगा।

यद्यपि रागादि भाव किसी न किसी व्यक्ति या वस्तु के अवलम्बन से ही होते हैं; परन्तु बन्ध उस व्यक्ति या वस्तु के कारण नहीं, बल्कि अपने अध्यवसान से होता है। अतः पर-वस्तु या व्यक्ति पर राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

इस अधिकार में पर को सुखी-दुःखी करने, मारने-बचाने (जीवित करने) आदि से सम्बन्धित 247 से 266 तक 20 गाथाएँ हैं, जो मिथ्या मान्यताओं पर सीधी चोट करती हैं।

इन्हीं के सम्बन्ध में आ. कुन्दकुन्ददेव ने 267 से 269 तक तीन गाथाओं में मार्मिक उद्बोधन करते हुए कहा है कि—हे भव्य! तुम जरा गहराई से सोचो कि जब तुम्हारा पर में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं हो सकता, तो-फिर तुम क्यों व्यर्थ ही उनमें राग-द्वेष करके कर्म-बन्ध करते हो?

8. अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने इस सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार के माध्यम से पुनः जीव के अकर्तृत्व एवं अभोक्तृत्व स्वभाव का ही विस्तार से वर्णन कर जीव को सम्पूर्ण रूप से पर एवं विकारी पर्यायों से पृथक् सिद्ध करके पूर्ण स्वावलम्बी एवं स्वतन्त्र सिद्ध कर दिया है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का विषय भी मूलतः सर्वविशुद्ध ज्ञान स्वरूप है।

ज्ञान का स्वभाव तो ज्ञेयों को जानना मात्र है। ज्ञेयों को जानने मात्र से ज्ञान में

विकार नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण-पर्यायों में अनन्य होता है। अतः वह अपने ही गुण-पर्याय-रूप परिणमन करता है। इसलिए उसमें पर के कर्तृत्व की कल्पना निरर्थक है।

इस अधिकार को कर्ता-कर्म का उपसंहार भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार आगम के आधार पर अनेक तर्कों द्वारा आचार्यदेव ने अज्ञानी के अज्ञान को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

इस प्रकार समयसार के जीवाजीवाधिकार में 'जैन अध्यात्म' की दृष्टि से जीवाजीव से भेद-ज्ञान कराते हुए तथा कर्ता-कर्माधिकार के माध्यम से कर्ता-कर्म के सम्बन्ध से जीव के अकर्तृत्व का भान कराते हुए पुण्य-पाप दोनों को ही संसार का कारण बताने के साथ भूमिकानुसार पुण्य की उपयोगिता दर्शाते हुए आस्रव, बन्ध एवं मोक्ष का स्वरूप दिखाकर एक बार पुनः सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार द्वारा कर्ता-कर्म का स्वरूप ही पुनः विस्तार से बताया गया है। इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के ही अन्य ग्रन्थ प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय ग्रन्थों में तथा आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य पूज्यपादस्वामी के सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलंक देव के राजवार्तिक एवं आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रथम अध्याय तथा योगीन्दु देव के योगसार व परमात्मप्रकाश, आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन आदि ग्रन्थों में भी जैन अध्यात्म का बहुत सुन्दर एवं सरल शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। अध्यात्म-रुचि-सम्पन्न व्यक्तियों को उपर्युक्त सभी ग्रन्थों का आद्योपान्त अनेक बार अध्ययन करना चाहिए। इन आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी जो 'जैन अध्यात्म' प्रस्तुत किया गया है, उसका यदि पाठक अवलोकन करेंगे, तो निःसन्देह वे आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेंगे। इन सभी ग्रन्थों को पढ़ने की कुंजी के रूप में आचार्यकल्प पण्डितों के पण्डित श्री टोडरमलजी के मोक्षमार्ग-प्रकाशक का अध्ययन भी अवश्य करना चाहिए।

सन्दर्भ

1. समयसार, गाथा 50 से 55
2. समयसार, कलश 37
3. समयसार, गाथा 49
4. समयसार, गाथा 39 से 43
5. समयसार, गाथा 38
6. समयसार, गाथा 73 की आत्मख्याति टीका
7. समयसार, गाथा 145
8. समयसार, गाथा-146
9. समयसार, गाथा-150
10. समयसार नाटक, पुण्य-पाप-एकत्वद्वार, छन्द 6

पर्यूषण पर्व

प्रो. विजयकुमार जैन

जैनधर्म आत्मवादी धर्म है, उसके सारे प्रयत्न मनुष्य को लोककल्याण और आत्मोत्थान की ओर ले जानेवाले हैं। आत्मशुद्धि जैन पर्वों की प्रमुख विशेषता है। इसके लिए क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायों को हटाकर सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण को जीवन में उतारा जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के द्वारा अपनी शुद्धि की जाती है। वाणी में स्याद्वाद, विचारों में अनेकान्तवाद और आचार में अहिंसा की प्रतिष्ठापना की जाती है। आत्मसाधना करते समय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि सद्गुणों के विकास तथा क्रोधादि विकारों के शमन हेतु व्रत, उपवास, एकासन, दर्शन, पूजन, भक्ति, स्वाध्याय, उपदेश-श्रवण आदि प्रधान कार्य किये जाते हैं। इन्हीं के द्वारा आत्मा के राग-द्वेष आदि विकारों को शान्त कर उत्तरोत्तर समता की ही अभिवृद्धि की जाती है।

पर्यूषण पर्व या दशलक्षण पर्व शाश्वत पर्व माना जाता है। पर्यूषण शब्द अपभ्रंश है जिसे पञ्जूषण कहा है। इसके प्राकृत रूप पञ्जूसन, पञ्जीसवण, पञ्जीसमन आदि हैं, और संस्कृत रूप पर्युषन, पर्युषण, पर्युपवास, पर्युपासन आदि हैं। पर्युषन (परि+उषन) का अर्थ पर-भाव से विरत होकर स्वभाव में रमण करना है। पर्युपशमन (परि+उपशमन) का अर्थ वर्षायोग में एक स्थान में तिष्ठते हुए अपनी आत्मा में ही निवास करना-लीन रहना है और पर्युपासना (परि+उपासना) का अर्थ उत्कृष्ट उपासना अर्थात् आत्मोपासना आत्माराधन करना। इस प्रकार सब ही अर्थों की दृष्टि से पर्यूषण आत्मलोचन, आत्मनिरीक्षण, आत्म जाग्रति एवं आत्मोपलब्धि का महान पर्व है। 'परि समन्तात् उषणं निवासः' अर्थात् व्यापकपने से सर्वत्र निवास करना, तीन लोक में व्याप्त आत्मशक्ति का प्रसार करना, प्राणीमात्र के साथ सहानुभूति से समभाव रखना तथा क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि के विचार का उपशमनकर निज स्वभाव में स्थिर होना। इस पर्व को पर्यूषमन भी कहा जाता है जिसका अर्थ है मानसिक विचारों को पूर्णतया शान्त करना। पर्यूषण की संवत्सरी भी कहते हैं। संवत्सर का अर्थ वर्ष है। संवत्सर शब्द से पर्व अर्थ में अणु प्रत्यय जोड़कर संवत्सर की व्युत्पत्ति हुई। वर्ष के अनन्तर सम्पन्न होनेवाले पर्व को सांवत्सर कहते हैं। इसी के आधार पर इसे संवत्सरी कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन संवत्सरी मनाते हैं तथा उसके आठ दिन पहले पर्यूषण पर्व मनाते हैं। दिगम्बर परम्परा

में दशलक्षण का आरम्भ भाद्रपद शुक्ल पंचमी से होता है। इसकी आरम्भ तिथि भाद्रपदशुक्ल पंचमी है और समाप्ति तिथि भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी। बीच में किसी तिथि की कमी हो जाने पर यह व्रत एक दिन पहले से किया जाता है। इसमें समाप्ति की तिथि चतुर्दशी ही नियामक है। परम्परा के अनुसार दशलक्षण पर्व वर्ष में तीन बार आते हैं, लेकिन यह भादों महीने वाले दशलक्षण पर्व को ही समाज में मनाया जाता है।

छठे काल के अन्त में भरत और ऐरावत खण्ड में प्रलय होती है। छठे काल के अन्त में संवर्त नामक पवन पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि को चूर्णकर समस्त दिशा और क्षेत्र में भ्रमण करता है। इस पवन के कारण समस्त जीव मूर्च्छित हो जाते हैं। विजयाङ्क की गुफा में रक्षित 72 युगलों के अतिरिक्त समस्त प्राणियों का संहार हो जाता है। इस काल के अन्त में तेज पवन, अत्यन्त शीत, क्षार रस, विष, कठोर अग्नि, धूलि और धुआँ की वर्षा एक-एक सप्ताह तक होती है। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल का प्रवेश होता है अर्थात् छठे काल के अन्त होने के उनचास दिन पश्चात् नवीन युग का आरम्भ होता है।

सृष्टि का पुनर्निर्माण— प्रलय के अनन्तर उनचास दिन तक सुवृष्टि होती है। इससे पृथ्वी की गर्मी शान्त होती है और लता, वृक्ष वगैरह उगने लगते हैं। छिपे हुए मनुष्य-युगल अपने-अपने स्थानों से निकलकर पृथ्वी पर बसने लगते हैं। इस तरह सृष्टि का पुनर्निर्माण होता है। मानव जाति ने सृष्टि की सुखद स्मृति के प्रतीक के रूप में पर्यूषण मनाना प्रारम्भ किया।

उत्तम—तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने लिखा है, 'उत्तम-क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।' दृष्टव्य है कि इसमें, उत्तम क्षमादि दस धर्मों को, उमास्वामी ने, एक वचन में धर्म कहा है। इससे स्पष्ट होगा कि ये दस, एक ही धर्म के दस लक्षण हैं। द्रव्य दृष्टि से 'वस्तु सहावो धम्मो', माने 'वस्तु स्वभावो धर्मः' कहा गया है। इस सूत्रानुसार वस्तु स्वभाव ही धर्म है और स्वभाव में स्थित रहकर ही शान्ति मिलती है, तथा क्रोधादि से व्याप्त रहकर कोई भी प्राणी अपने अन्तरंग मन में शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। इन दस धर्मों के पीछे लगाया गया 'उत्तम' शब्द बताता है कि, ये दसों धर्म संयम के पालन के लिए हैं।

उत्तम क्षमा—क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्षमा पृथ्वी का भी नाम है। जिस प्रकार पृथ्वी तरह-तरह के बोझ को सहन करती है, उसी प्रकार चाहे कैसी भी विषम परिस्थिति आए उसमें अपने मन को स्थिर रखना, अपने आपको क्रोध-रूप परिणत न करना क्षमा है। क्रोध आत्मा का शत्रु है, इसके वशीभूत प्राणी अपने आप को भी भूल जाता है। इससे उसके सभी प्रयोजन नष्ट हो जाते हैं।

क्षान्तिरेव मनुष्याणां, मातेव हितकारिणी।

माता कोपं समायाति, क्षान्तिर्नैव कदाचन॥४॥

पर्यूषण पर्व :: 411

अर्थ—क्षमा मनुष्यों की माता के समान हितकारी है, माता क्रोध को प्राप्त हो सकती है, किन्तु क्षमा कभी भी क्रोध को प्राप्त नहीं होती।

क्षमया क्षीयते कर्म दुःखदं पूर्वसंचितम् ।

चित्तं च जायते शुद्धं, विद्वेषभयवर्जितम् ॥ 5 ॥

अर्थ—क्षमा से दुःखदायी पूर्व संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, तथा विद्वेष और भय से रहित चित्त निर्मल हो जाता है।

पुष्पकोटि समं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमो जपः ।

जपकोटिसमं ध्यानं, ध्यानकोटिसमा क्षमा ॥ 6 ॥

अर्थ—आराध्य के चरणों में करोड़ों पुष्पों की चढ़ाने से जितना पुण्य मिलता है उतना पुण्य एक स्तोत्र के पाठ करने से प्राप्त हो जाता है, करोड़ों पाठ करने से जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना पुण्य एक जाप करने से प्राप्त हो जाता है, करोड़ों जाप करने से जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना पुण्य ध्यान करने से प्राप्त हो जाता है तथा करोड़ों बार ध्यान करने से जितना पुण्य प्राप्त होता है उतना पुण्य किसी अपराधी प्राणी को एक बार क्षमा करने से प्राप्त हो जाता है।

कस्यचित् सम्बलं विद्या, कस्यचित् सम्बलं धनम् ।

कस्यचित् सम्बलं मार्त्यं, मुनीनां सम्बलं क्षमा ॥ 7 ॥

अर्थ—किसी का सम्बल विद्या है, किसी का सम्बल धन है, किसी का सम्बल मरण है और मुनियों का सम्बल क्षमा है।

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणः ।

गुणस्याभरणं ज्ञानं, ज्ञानस्याभरणं क्षमा ॥ 8 ॥

अर्थ—मनुष्य का आभूषण (अलंकार) रूप है, रूप का आभूषण गुण है, गुण का आभूषण ज्ञान है, ज्ञान का आभूषण (अलंकार) क्षमा है।

टिप्पण—शरीर की सुन्दरता में वृद्धि करने वाले पदार्थ को अलंकार या आभूषण कहते हैं।

क्रोधे नाशयते धर्मं, विभावसुरिवेन्धनम् ।

पापं च कुरुते घोरमिति मत्वा विसह्यत ॥ 22 ॥

अर्थ—क्रोध धर्म को नष्ट कर देता है, जैसे अग्नि ईंधन को नष्ट कर देती है वैसे क्रोध भयंकर पापों को भी करता है, ऐसा मानकर क्रोध को छोड़ देना चाहिए।

क्रोध को जीतने का उपाय—

कोपेन कोऽपि यदि ताडयतेऽथ हन्ति,
पूर्वं मयाऽस्य कृतमेतदनर्थबुद्धया ।
दोषो ममैव पुनरस्य न कोऽपि दोषो,
ध्यात्वेति तत्र मनसा सहनीयमस्य ॥ ५५ ॥

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति क्रोध से ताड़ित करता है, तो उस समय ऐसा विचार करना चाहिए कि मैंने पहले अज्ञानता से इसका अनर्थ किया है इसलिए ये कष्ट दे रहा है इसमें मेरा ही दोष है, इसका नहीं, ऐसा विचार करके मन से सहन करना चाहिए।

अपकारिणिचेत् क्रोधः, क्रोधे क्रोधः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां, चतुर्णां परिपन्थिनि ॥ ५६ ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों का विनाश करने वाला यदि क्रोध अपकारी है तो तुम्हारा क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं होता अर्थात् क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए।

क्रोध बिना लगाम के घोड़े के समान गड्ढे में पटकने वाला है। क्रोध संसार को बढ़ाने के लिए अग्नि को प्रज्वलित करने वाली हवा के समान है, क्रोध जठराग्नि को और पुण्य को नष्ट करने वाला है। क्रोध, पापों को करने के लिए धूम को उत्पन्न करने वाली अग्नि के समान है। क्रोध—मिथ्या आग्रह रूपी दृष्टि को करने वाला है। क्रोध दुष्ट स्वभाव वाले मन्त्री के समान है। क्रोध गुण रूपी रत्नों को नष्ट करने के लिये समुद्र में लगी हुई बडवानल के समान है। क्रोध सम्यग्दर्शन रूपी पर्वत की शोभा को नष्ट करने के लिए वज्र के समान है। चारित्र और ध्यान को जलाने के लिये वनाग्नि के समान है। दुष्ट कर्म वन को हरा भरा रखने के लिये मेघ के समान है।

एक व्यक्ति के क्रोध से, कभी न झगड़ा होय ।
आपस में जब दो मिले, तब निश्चित झगड़ा होय ॥ १ ॥
निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छायाय ।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुवाय ॥ ४ ॥

उत्तम मार्दव—‘मृदोर्भावः मार्दवम्’- मृदुता का भाव रखना मार्दव है। मन, वचन और काय से मृदु होना मार्दव अथवा मृदुता है। यदि मृदुता में त्रियोग में से किसी एक योग की भी वक्रता है तो वह मायाचार है। मान का परिहार करना मार्दव धर्म कहलाता है। उत्तम जाति, कुल, देश, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल, शिल्प इन आठ से युक्त होने पर

पर्यूषण पर्व :: 413

भी दूसरे जीवों का तिरस्कार करने वाले अभिमान का अभाव होना मार्दव कहलाता है। उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, विशिष्ट ज्ञान का क्षयोपशम उत्तम प्रभुता, उत्तम बल, उत्तम तप, उत्तम ऐश्वर्य इन से उत्पन्न होने वाले मान का जो खण्डन करते हैं, विद्वान् उसको मार्दव धर्म कहते हैं। मार्दव धर्म के बिना साधु भी असाधु हो जाता है, साधु के मार्दव धर्म ही परम गुण है, मार्दव धर्म तीनों लोकों में सुख का खजाना स्वरूप है। मार्दव धर्म से भूषित मनुष्य मूर्ख भी पंडित कहा जाता है, अट्ठाईस मूल गुणों के धारक साधुओं के मार्दव धर्म आभूषण स्वरूप है, और गृहस्थ भी मार्दव धर्म के प्रभाव से सप्त धातु से रहित सुन्दर शरीर का धारक देव होता है, वहाँ से च्युत होकर मनुष्य होता है और मुनिव्रत को धारण कर मुक्तिरमा का स्वामी होता है।

मान श्रेष्ठ आचरण को नष्ट कर देता है, जैसे मेघ, सूर्य के तेज को लुप्त कर देता है, मान, विनय को नष्ट कर देता है, जैसे सर्प प्राणियों के जीवन को नष्ट कर देता है, पान, कीर्ति को नष्ट कर देता है, जैसे हाथी कमलिनी को जड़ से उखाड़ कर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मान मनुष्य के त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को नष्ट कर देता है, जैसे नीच पुरुष उपकार के समूह को नष्ट कर देता है।

उत्तम आर्जव— 'ऋजोर्भावः आर्जवम्'— ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव का विपरीत माया है। जो प्राणी मन, वचन, काय से कुटिलता न रखता हो वही आर्जव धर्म को पाल सकता है। कहा है— महात्माओं का कार्य मन, वचन और काय से एक होता है तथा दुरात्माओं के मन में कुछ और होता है, वचन से कुछ और बोलते हैं तथा कार्य में कुछ अन्य आचरण करते हैं।

आचार्य पद्मनन्दि देव ने कहा है—

मायित्वं कुरुते कृतं संकृदपिच्छयाविघातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः श्यामदिष्वलम् ॥
सर्वे तत्र यदासते विनिभृता क्रोधादयस्तत्त्वत
स्तत्पापवत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरं भ्राम्यत ॥ १० ॥

यदि मुनि द्वारा एक बार भी मायाचारी की जाए तो वह बड़ी कठिनाई से संचित किए हुये उसके अहिंसादिक गुणों को ढक देती है। उस मायाचाररूपी मकान में क्रोधादि कषयों भी छिपी रहती हैं, उस मायाचार से उत्पन्न हुआ पाप जीव को अनेक प्रकार की दुर्गतियों में भ्रमण कराता है। 'ऋजोर्भाव आर्जवं' सरल भाव आर्जव कहलाता है।

जो चिंतेइ ण वंक्, ण कुणदि वंक् ण जंपदे वंक्।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥ २ ॥

अर्थ—जो न कुटिल चिन्तन करता है, न शरीर से कुटिलता करता है। न कुटिल बोलता है और ना ही अपने दोषों को छुपाता है उसके आर्जव धर्म होता है। जो भव्य निज कृत अतिचार आदि दोषों को नहीं छुपाते हैं तथा किए हुये दोषों की निन्दा, गर्हा, प्रायश्चित्त आदि करते हैं, उनके आर्जव धर्म होता है। आर्जव धर्म का यह लक्षण सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। इसे निकट भव्य सरल बुद्धि से धारण करते हैं।

उत्तम शौच—‘शुचेर्भावः शौचं’ - पवित्रता का भाव शौच है। पवित्रता लोभकषाय का अभाव होने पर प्रकट होती है। जो परपदार्थों के प्रति निःस्पृह है, समस्त प्राणियों के प्रति जिसका चित्त अहिंसक है और जिसने दुर्मेध अन्तरंग मल को धो डाला है, ऐसा पवित्र हृदय ही उत्तम शौच है।

स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

*तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥*

अर्थात् तृष्णारूपी ज्वालाएँ इस जीव को जला रही हैं। यह जीव इन्द्रियों के इष्टविषय एकत्रकर उनसे इन तृष्णारूपी ज्वालाओं को शान्त करने का प्रयत्न करता है, पर उनसे इसकी शान्ति नहीं होती है, बल्कि वृद्धि ही होती है।

*धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सो ।
शौच सदा निर्दोष, धरम बड़ी संसार में ॥ 4 ॥*

उत्तम सत्य- ‘सद्भयो हितं सत्यम्’ - जो सज्जनों को हितकर हो वह सत्य है। सत्य का अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में सत्य की प्रतिष्ठा की गई है।

पुरुषों को प्रथम तो समस्त समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला निरन्तर मौन धारण करना हितकारी है और यदि वचन बोलना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिये जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनों का हित करने वाला हो।

*धर्म नाशे क्रियाध्वंसे, स्व सिद्धान्तार्थ विप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं, तत्स्वरूपप्रकाशने ॥ 8 ॥*

अर्थ— जहाँ धर्म का नाश हो, जैनाचार बिगड़ता हो तथा समीचीन सिद्धान्त का लोप होता हो उस जगह समीचीन धर्म क्रिया और सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानों की बोलना चाहिए क्योंकि यह सत्पुरुषों का कार्य है।

दस प्रकार का सत्य—

देशसम्प्रतिनिक्षेप, नायरूपप्रतीतिः।

संभावनीयमाने च, व्यवहारो भाव इत्यपि ॥ 28 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 94

अर्थ—सत्य दस प्रकार का है— जनपद सत्य, सम्प्रति सत्य, निक्षेप सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीति सत्य, सम्भावना सत्य, उपमान सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य।

भाषा के चार भेद—

असत्य सत्यं किंचित्, किंचित् सत्यमसत्यं।

सत्यंसत्यं पुनः किंचित्, किंचित् सत्यासत्यमेवा ॥ 44 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 98

अर्थ— कोई वचन असत्य—सत्य कोई सत्य—असत्य कोई सत्य—सत्य, कोई असत्य—असत्य इस प्रकार भाषा के चार भेद होते हैं।

1. जो असत्य होकर भी सत्य है जैसे भात पक रहा है, वस्त्र बुना जा रहा है।

2. जो सत्य होकर भी असत्य है जैसे— पन्द्रह दिन में वह वस्तु मैं तुम्हें दे दूँगा। ऐसा विश्वास मिलाकर एक माह या एक वर्ष में देना, दे दिया इसलिए सत्य है किन्तु जब कहा था तब नहीं दिया इसलिए असत्य है।

3. जो वस्तु जैसी है जिस देश, काल, आकार प्रमाण में मानी गयी है, उसी रूप में स्वीकार करना सत्य—सत्य कहलाता है।

4. जो वस्तु अपने पास नहीं है, वह कल मैं तुम्हें दूँगा ऐसा कहना असत्य—असत्य है।

दश प्रकार की खोटी भाषा

कर्कशा परुषा कटवी निष्ठुरा परकोपिनी।

छेदंकरा मध्यकृशाऽतिमानिन्यनयंकरा ॥

भूतहिंसाकरी वेति दुर्भाषा दशधा त्यजत्।

भूतहिंसामितमसन्दिग्धं, स्याद् भाषासमिति वदन् ॥ 48 ॥

दशधर्म स्कन्ध, पृ. 98

अर्थ— कठोर, रूक्ष, कड़वी, निर्दयी, दूसरों को क्रोध कराने वाली, गुणों का नाश करने वाली, हृदय में ठेस पहुँचाने वाली, अभिमान युक्त, छोटे मार्ग पर ले जाने वाली, प्राणियों की हिंसा कारक इन दस प्रकार की भाषा का त्याग करना चाहिए, क्योंकि भाषा समिति का धारक हितकारी थोड़ा और सन्देह रहित बोलता है।

1. कर्कशा—जैसे— तुम मूर्ख हो, बैल हो, कुछ नहीं जानते हो इत्यादि बोलना।

2. परुषा—मर्म विदारक, जैसे—तुम अनेक दोषों से दुष्ट हो इत्यादि बोलना।

3. कटुका— भय उत्पादक, जैसे तुम जाति हीन हो, निर्धन हो इत्यादि बोलना।

4. निष्ठुरा— मैं तुम्हें मार डालूँगा, सिर काट लूँगा इत्यादि बोलना।
5. पर कोपिनी— क्रोध उत्पादक, जैसे तुम्हारा कोई तप है, हँसता रहता है, निर्लज्ज है, इत्यादि बोलना।
6. छेदंकरा— वीर्य शील गुणों का नाश करने वाली अथवा अविद्यमान दोषों को प्रकट करने वाली भाषा बोलना।
7. मध्यकृशा— ऐसी कठोर भाषा बोलना जो हड्डी को भी पतला करती है।
8. अतिमानिनी— अपनी प्रशंसा, पर की निन्दा युक्त भाषा बोलना।
9. अनयंकरा— शील भंग करने वाली अथवा मित्रता नष्ट करने वाली भाषा बोलना।
10. भूतघातकरा— प्राणियों के प्राणों का वियोग करने वाली भाषा बोलना।

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

जाके हृदय साँच है, ताके हृदय प्रभु आप ॥ 1 ॥

कोयल काको देत है, कागा काको लेत।

मीठी वाणी बोलकर, जग अपना कर लेत ॥ 2 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 107

उत्तम संयम— संयम का अर्थ है— आत्मप्रवृत्तियों की रोकना। संयम आत्म-साधना के आध्यात्मिक मार्ग में जितना आवश्यक और कल्याणकारी है, उतना ही समाज एवं राजनीति में भी है। फिर भी परमार्थ-दृष्टि से जैसा संयम साधा जा सकता है वैसा अन्य किसी भी उपाय से नहीं। शास्त्रकारों ने इसके दो भेद किये हैं— (1) इन्द्रिय-संयम और (2) प्राणि-संयम। छह इन्द्रियों और मन की प्रवृत्ति को वश में रखना इन्द्रिय-संयम और छह काय के जीवों की हिंसा से विरत रहना प्राणि-संयम है। संयम एक अमूल्य रत्न है, विषयरूपी चोरों से इसकी सुरक्षा अत्यावश्यक है।

उत्तम तप— इच्छाओं का निरोध तप है। इच्छाएँ अनन्त हैं। मनुष्य की एक इच्छा पूर्ण होती नहीं है कि शीघ्र ही दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का अन्त नहीं होता। इसीलिए मनीषी आचार्यों ने कहा है कि इच्छाओं का दमन करो। जैनधर्म में तप दो प्रकार का कहा है— (1) बाह्य तप और (2) आध्यन्तर तप।

अनशन (फल की कांक्षा के बिना संयमवृद्धि के लिये किया गया उपवास), अवमौदर्य (संयम में सावधान रहने के लिये कम भोजन करना), वृत्ति परिसंख्यान (भोजन की प्रवृत्ति में सब प्रकार से मर्यादा करना), रस परित्याग (स्वाध्यायकी सिद्धि, इन्द्रिय निग्रह एवं निद्रा-विजय के लिए रसों का त्याग करना), विविक्त शय्यासन (ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि हेतु एकान्त स्थान में सोना, उठना-बैठना), काय-क्लेश (शारीरिक सुखों की इच्छा मिटाने तथा दुःख सहन करने की शक्ति बढ़ाने के लिए

ध्यान आदि के द्वारा शरीर को कष्ट देना), यह छह प्रकार की क्रियाएँ चूँकि बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा से होती हैं, सबको प्रत्यक्ष होती हैं, अतः इनको बाह्य तप कहते हैं।।

प्रायश्चित् (दोषों की शुद्धि करना), विनय (त्यागियों का आदर करना), वैयावृत्य (त्यागियों की सेवा करना), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (परिग्रह का त्याग करना), और ध्यान (मन की चंचलता को रोककर मन को केन्द्रित करना) ये छह अन्तरंग तप हैं। (तत्त्वार्थसूत्र)

तप चाहें सुर राय, करम शिखर को वज्र है।

द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करे निज शक्ति सम ॥ 5 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 147

उत्तम त्याग— सम्यक् प्रकार से श्रुत का व्याख्यान करना और मुनि इत्यादि को पुस्तक, स्थान तथा पीछी-कमंडलु आदि संयम के साधन देना सदाचारियों का उत्तम त्याग धर्म है। इसमें यह भावना होती है कि मेरा कुछ भी नहीं है। बारस अणुवेक्खा में कहा गया है—

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चाइऊण सव्व दव्वेसु।

जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिदिहिं ॥ 78 ॥

जो समस्त द्रव्यों के प्रति मोह छोड़कर संसार, शरीर और भोगों के प्रति विरक्ति की भावना रखता है, उसके त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

- बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ना त्याग कहलाता है।
 - ज्ञान, संयम और शौच के उपकरण साधु को प्रदान करना त्याग कहलाता है।
 - आत्मा के अहित करने वाले विषय कषाय का छोड़ना त्याग कहलाता है।
 - राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकार भावों की छोड़ना त्याग कहलाता है।
 - आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पना का छोड़ना त्याग कहलाता है।
 - तीन प्रकार के पात्रों को चार प्रकार का आहार देना त्याग कहलाता है।
 - इसलोक-परलोक में फल प्राप्ति के लिए धन का व्यय करना त्याग कहलाता है।
- दान के योग्य सात क्षेत्र—

जिनविम्ब जिनागारं, जिनयात्रा प्रतिष्ठितम्।

दानं पूजा च सिद्धान्त- लेखनं क्षेत्र सप्तकम् ॥ 47 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 158

अर्थ— जिन प्रतिमा, जिन मन्दिर, जिन यात्रा, प्रतिष्ठा, चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान, पूजा, सिद्धान्त के लेखन इन सात क्षेत्रों में दान देना चाहिए। दान का फल-दानियों की इस लोक में कीर्ति, प्रताप, भाग्य वृद्धि इत्यादि फल की प्राप्ति, परभव में भोगभूमि के भोगों को भोगकर स्वर्ग को प्राप्त होता है, किन्तु जो सम्यग्दृष्टि सत्पात्र को

दान देता है वह सोलहवें स्वर्ग की लक्ष्मी को प्राप्त कर तीर्थंकर चक्रवर्ती के वचनातीत सुखों को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन से रहित होने पर भी जो एक बार सत्पात्र को दान देता है, वह दान के प्रभाव से भोगभूमि के सुखों को प्राप्त कर स्वर्ग जाता है, इसलिए सद्ग्रहस्थ को हमेशा शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए। उत्कृष्ट पात्र दान से उत्कृष्ट भोगभूमि, मध्यम पात्र दान से मध्यम भोगभूमि, जघन्य पात्र दान से जघन्य भोगभूमि प्राप्त होती है। सुपात्र में लगाया गया धन परलोक में अनन्त गुना फलता है। कुपात्र दान से कुभोगभूमि एवं अपात्रदान से दुर्गति की प्राप्ति होती है।

उत्तम आकिंचन्य—‘अकिंचनस्य भावः आकिंचन्य’—अकिंचनपने का भाव आकिंचन्य है। जिसके पास कुछ नहीं बचा, वह अकिंचन कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति परमाणुमात्र भी राग है वह व्यक्ति भले ही सारे आगमों का ज्ञाता हो, किन्तु वह आत्मा को भली प्रकार नहीं जानता। वह व्यक्ति राग और द्वेष-रूपी दो दीर्घ रस्सियों से खींचा जाता हुआ अत्यन्त चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है। अतः सांसारिक पदार्थों के प्रति राग-द्वेष का त्याग आवश्यक है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः।

रागद्वेषनिवृत्तौ चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ 47 ॥

मोहान्धकार नष्ट हो जाने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त साधु राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र्य को प्राप्त होता है, इस प्रकार का मोह, राग तथा द्वेष की निवृत्ति आत्मोपलब्धि के लिए अत्यावश्यक है, यह निवृत्ति उत्तम आकिंचन्य धर्म प्रकट करने से होती है।

परिग्रह-उपकरणों के देखने से उस ओर उपयोग लगाने से उनमें मूर्खभाव रखने से तथा लोभ कर्म की उदीरणा होने से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

अन्तरंग परिग्रह के भेद—

मिथ्यात्व वेद रागस्तथैव हास्यादयश्च षड्भेदाः।

चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥ 13 ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद का राग, इसी तरह हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह दोष और चार कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानवरण, प्रत्याख्यानवरण और संज्वलन ये चार कषाय इस प्रकार अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं।

बहिरंग परिग्रह के भेद—

क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्टपदम् ।

आसनं शयनं वस्त्रं भाण्डं स्याद् गृहमेधिनां ॥ 4 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 176

अर्थ—खेल, मकान, सोना चाँदी, धान्य (अनाज), दासी-दास, गाय-बैल आदि आसन (वर्तन), शयन (वस्त्र) पाप और आरम्भ की हानि के लिए गृहस्थों को इन दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करना चाहिए।

उत्तम ब्रह्मचर्य— 'ब्रह्मणि चरणं ब्रह्मचर्यं' - अर्थात् आत्मा में विचरण करना, लीन होना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावना—

स्त्रीरूप-मुख-शृंगार-विलासनिरीक्षणम् ।

पूर्वानुभूत सद भोग-रत्यादि स्मरणेज्जनम् ॥ 21 ॥ दशधर्म स्कन्ध, पृ. 190

अर्थ— स्त्रियों में राग बढ़ाने वाला रूप, मुख, शृंगार, विलास आदि के निरीक्षण का पूर्व अनुभूत भोगों एवं रति के स्मरण का त्याग करना, ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

स्त्रियों के सम्पर्क में रहना, गरिष्ठ भोजन करना, सुगन्धित तेल मालादि पहनना, स्त्रियों के समीप सोना-बैठना, गाने वालों के समीप रहना, धन का संग्रह करना, कुशील स्त्री पुरुषों की संगति करना, राजाओं की सेवा करना, रात्रि में घूमना ये दश ब्रह्मचर्य के विनाशक हैं। - दशधर्म स्कन्ध, पृ. 191

शील-वाड नौ राख, ब्रह्म-भाव अन्तर लखो।

करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा॥

उत्तम ब्रह्मचर्य मन आनौ, माता बहिन सुता पहिचानो।

सहै वान-वरषा बहु सूर, टिकै न नैन-वान लखि कूर॥

कूर तिया के अशुचि तन में, काम-रोगी रति करै॥

बहु मृतक सड़हिं मसान माहीं, काग ज्यों चोंचे भरै॥

संसार में विषबेल नारी, तजि गये जोगीश्वरा।

'द्यानत' धरम दश पैँडि चढ़िकै, शिव-महल में पग धरा॥

- दशलक्षण धर्म पूजन, जिनवाणी संग्रह,

ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग

राकेश जैन शास्त्री

उत्तम संहननस्यैकाग्रचित्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ १९/२७ ॥

आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र

अर्थात् उत्तम संहनन वाले का एक विषय में ही चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।

एकाग्रता का नाम ही ध्यान है अर्थात् व्यक्ति जिस समय जिस भाव का चिन्तन करता है, उस समय वह उस भाव के साथ तन्मय होता है। रुचि पूर्वक जाने हुए विषय में 'ध्यान' बिना किसी प्रयास के सहज ही होता है। इस ध्यान के लिए कोई प्रशिक्षण इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकता तो इतनी ही है कि जिसका हम ध्यान करना चाहते हैं, पहले उसे भली प्रकार सम्यक्तया जान लें तथा जानकर पसन्द कर लें। तत्सम्बन्धी ध्यान तो स्वयमेव होता है। जीवमात्र इस ध्यान से परिचित है। संसार दशा में भी जीव ध्यान करता ही रहता है। वह ध्यान एक आत्म तत्त्व को आगे करके नहीं अपितु अन्य पदार्थों की अनन्तता में से किसी को पसन्द करके होता है। यह पसन्द भी सदैव एक-रूप नहीं होती है। कभी किसी के प्रति तो कभी अन्य किसी के प्रति इस कारण यह जीव ध्यानरत रहते हुए भी आकुलता-सम्पन्न बना रहता है। प्रयास तो आनन्द के लिए करता है और फल आकुलता का मिलता है। इसका कारण इतना ही है कि ध्यान योग्य (ध्येय) का निर्णय ज्ञान से किया नहीं गया और न ही तत्सम्बन्धी रुचिकरता हुई है।

हमारा ध्यान आनन्द रूप फलवाला ही इसके लिए मात्र ध्यान का विषय ज्ञान द्वारा निर्णीत होना चाहिए।

श्री चामुण्डराय विरचित 'चारित्रसार' ग्रन्थ में ध्यान को चार अंग वाला तथा दो प्रकार का बताया गया है—

वे चार अंग हैं—ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानफल। इन चार अंगों वाला ध्यान

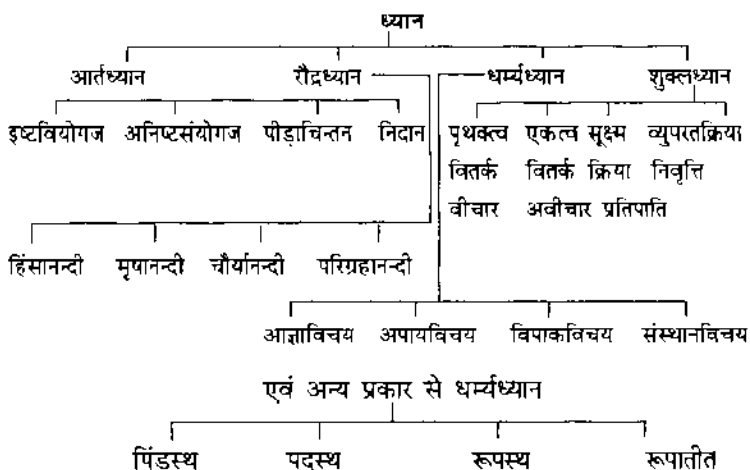
ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग :: 421

प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है।

1. ध्यान करने वाले योगी को ध्याता कहते हैं।
2. ध्याता द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो, उसे ध्यान कहते हैं। ध्याता द्वारा की गयी क्रिया ध्यान है।
3. ध्याता पुरुष द्वारा जिसका ध्यान किया जाए, उसे ध्येय कहते हैं।
4. ध्याता पुरुष द्वारा ध्याने योग्य का ध्यान करने पर जो अर्जित किया जाए वह ध्यानफल है। ध्यान से जो प्राप्त हो, वह ध्यानफल है।

अब प्रशस्त और अप्रशस्तपना विचारणीय है—

जो ध्यान की क्रिया स्वाधीन, अविनाशी, ध्याने योग्य निज आत्मतत्त्व के प्रति समर्पित हो एवं निजात्मा के आराधकों के प्रति समर्पित हो, वह तो प्रशस्त-ध्यान है और इनके अतिरिक्त किसी के प्रति भी ध्यानमग्नता अप्रशस्त-ध्यान है। प्रशस्त ध्यान धर्म्यरूप तथा शुक्लरूप होता है तथा अप्रशस्त ध्यान आर्त और रौद्र रूप होता है। धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान सुखरूप तथा सुख के कारण हैं तथा आर्त और रौद्र ध्यान दुःख रूप तथा दुःख के कारण हैं।



1. आर्तध्यान—आर्त का अर्थ है पीड़ा या दुःख। जिन परिणामों में जीव निरन्तर पीड़ित रहे, विकल रहे, दुःखी रहे। ऐसे अनादि संस्कार-वश होने वाले अशुभ परिणाम ही आर्तध्यान रूप होते हैं। व्याकुलता, छटपटाहट, अधीरता ये आर्तध्यान की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

आर्तध्यान के चार भेद हैं—अनिष्ट संयोगज, इष्टवियोगज, पीड़ा चिन्तन एवं निदानज।

- (1) अनिष्ट संयोगज—विष, कण्टक, शत्रु एवं शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं, वे अमनोज्ञ या अनिष्ट कहलाते हैं। उनके संयोग होने पर निरन्तर दुःखी रहना या उनके वियोग की चिन्ता में परेशान रहना अनिष्ट-संयोगज आर्तध्यान है।
- (2) इष्टवियोगज—अपने चाहे हुए स्त्री-पुत्र-धनादि सामग्री के वियोग हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्तित रहना तथा वियोग पर निरन्तर खेद-खिन्न रहना, इसप्रकार की दुःखमयी प्रवृत्ति इष्टवियोगज आर्तध्यान है।
- (3) पीड़ा चिन्तनज—वात-पित्त-कफ आदि के प्रकोप से देह में होने वाले रोगों को देखते हुए तज्जन्य वेदना से निरन्तर चिन्तित रहना तथा ऐसी चिन्ता बनी रहना कि ऐसे रोगों की मुझे कभी भी उत्पत्ति न हो या ये शीघ्र नष्ट हो जाएँ, पीड़ा चिन्तनज तीसरा आर्तध्यान है।
- (4) निदानज—भोगों की इच्छा लिए हुए आगामी अनुकूल विषयों की प्राप्ति के प्रति निरन्तर संकल्पित रहना, चिन्तारत रहना निदानज आर्तध्यान है।

उक्त चारों प्रकार का आर्तध्यान दुःखी जीवों को तिर्यच गति के बन्धन के कारण होते हैं अर्थात् यह वर्तमान का दुःखमयीपना भविष्य की दुःखमयी गति का कारण होता है।

2. रौद्रध्यान—रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। ऐसा निर्दय स्वभावी, निरन्तर क्रोधी, अभिमान में चूर, पाप में प्रवीण जीव रौद्रध्यानी होता है। इस ध्यान से प्रभावित जीव ध्वंसात्मक भावों को प्राप्त होता है और उनकी प्रेरणा से अवांछित कार्यों में प्रवृत्त रहता है। इष्ट प्राप्ति में निरन्तर आनन्दित दिखता है। रौद्र ध्यान भी चार प्रकार का होता है—हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी।

- (1) हिंसानन्दी—तीव्र कषाय के उदय से हिंसा में आनन्द मानना। जीवों के समूह को अपने से या अन्य के द्वारा मारे जाने, पीड़ित किए जाने, ध्वंस किए जाने और घात किए जाने के लिए सम्बन्ध मिलाए जाने पर जो हर्ष माना जाए, वह हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है।
- (2) मृषानन्दी—जिन पर दूसरों को श्रद्धा न हो सके, ऐसी अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पना की हुई युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिए झूठ बोलने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना मृषानन्द है।
- (3) चौर्यानन्दी—जबरदस्ती अथवा प्रमाद पूर्वक दूसरे के धन को हरण करने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना अर्थात् जीवों के चौर कर्म के लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरी करके भी निरन्तर हर्ष, आनन्द माने, उसे चौर्यानन्दी रौद्रध्यान होता है।

- (4) परिग्रहानन्दी—इसका दूसरा नाम विषय-संरक्षणानन्द भी है। चेतन अचेतन रूप परिग्रह में 'यह मेरा परिग्रह है', 'मैं इसका स्वामी हूँ', इसप्रकार ममत्व रखकर, उसके अपहरण करने वाले का नाशकर, उसकी रक्षा करने के संकल्प का बारम्बार चिन्तन करना विषय संरक्षणानन्द या परिग्रहानन्द नाम का रौद्रध्यान है।

उक्त चतुर्विध रौद्रध्यान के परिणामों में जीव आनन्दित महसूस होता है, किन्तु इन रौद्रध्यान के परिणामों में नरक-जैसी दुःखदायी गतियों का आस्रव होता है अर्थात् ये रौद्रध्यान नरक गति के कारण हैं।

3. धर्म्यध्यान—धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान है, राग-द्वेष को त्यागकर, अर्थात् साम्यभाव से जीवादि पदार्थों का, वे जैसे-जैसे अपने स्वरूप में अवस्थित हैं, वैसे-वैसे ध्यान या चिन्तन करना धर्म्यध्यान कहा गया है।

पंचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा, दान, अभ्युत्थान तथा विनय आदि शुभानुष्ठान बहिरंग धर्म्यध्यान के चिह्न हैं। विषय लम्पटता, निष्ठुरता, क्षुब्ध चित्त रूप कषायोत्पादक परिणामों से विपरीत वैराग्यरस से भरपूर, तत्त्वज्ञानरत जीवन, परिग्रह-त्याग-युक्त साम्यभाव और परीषहजय के परिणामों से धर्म्यध्यान होता है। धर्म्यध्यान से युक्त जीव निरन्तर प्रसन्नचित्त रहता है। बाह्य प्रसंगों की अनुकूल-प्रतिकूलता में चित्त दोलायमान नहीं होता है।

संसार शरीर, भोगों से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर उस भाव को स्थिर बनाये रखने के लिए सम्यग्दृष्टि जीव का जो प्रणिधान (महान प्रयत्न) होता है, उसे धर्म्यध्यान कहते हैं। यह उत्तम क्षमादि धर्म से युक्त होता है, इसलिए धर्म्यध्यान कहलाता है।

निमित्त भेद से धर्म्यध्यान चार प्रकार का बताया गया है—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥१९/३६

आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इन की विचारणा के निमित्त से मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।

- (अ) आज्ञाविचय—उपदेश देने वाले आचार्यों की दुर्लभता होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से, और पदार्थों के सूक्ष्म होने से, तत्त्व के समर्थन में हेतु तथा दृष्टान्त का अभाव होने से, सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है अथवा स्वयं पदार्थों के रहस्य की जानता है, और दूसरों के

प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्वसिद्धान्त के अविरोध द्वारा तत्त्व का समर्थन करने के लिए उसके जो तर्क, नय और प्रमाण की योजना रूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा विचय कहा जाता है। आज्ञा विचय तत्त्वनिष्ठा में सहायक होता है।

- (2) अपायविचय—मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उन्हें सम्मार्ग का परिज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं। इस प्रकार सम्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना, अथवा ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र से कैसे दूर होंगे,— इसप्रकार चिन्तन करना अपाय विचय धर्म्यध्यान है। अपायविचय संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति उत्पन्न करता है।
- (3) विपाकविचय—जीवों को जो एक और अनेक भवों में पुण्य और पाप कर्म का फल प्राप्त होता है, उसका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्ष का चिन्तन करना विपाक विचय है। विपाक विचय से कर्मफल और उसके कारणों की विचित्रता का ज्ञान दृढ़ होता है।
- (4) संस्थान विचय—तीन लोकों का आकार, प्रमाण, आयु, द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का चिन्तन करना संस्थान विचय है। संस्थानविचय से लोक स्थिति का ज्ञान दृढ़ होता है।

उक्त के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी धर्म्यध्यान के चार भेद किए जाते हैं—

- (1) पिण्डस्थ, (2) पदस्थ, (3) रूपस्थ और (4) रूपातीत।
- (1) पिण्डस्थ—शरीर स्थित आत्मा का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान है। जड़ पुद्गलमयी शरीर व कर्मादि संयुक्त अवस्था में तथा राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों में भी अपने जीवत्व को ज्ञानादि चैतन्य लक्षण विचार करना पिण्डस्थ ध्यान है।
- (2) पदस्थ—अर्हन्त आदि पंचपरमेष्ठी वाचक अक्षरों व मन्त्रों का अनेक प्रकार से विचार तथा तदनुसार उनके स्वरूप का एकाग्र होकर चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है। शुद्ध होने के लिए शुद्ध-आत्माओं का स्वरूप चिन्तन कर्मरज को दूर करने वाला है।
- (3) रूपस्थ—सर्व चिद्रूप का चिन्तन, निज आत्मा का पुरुषाकार आदि रूप में विचार करना रूपस्थ ध्यान है, अथवा समवसरण में विराजमान अष्ट प्रतिहार्य, अनन्तचतुष्टय रूप से सुशोभित अर्हन्त भगवान का चिन्तन भी रूपस्थ ध्यान में समाहित है।
- (4) रूपातीत—निज निरंजन त्रिकाली शुद्धात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान है। विचार

व चिन्तन से अतीत, मात्र ज्ञाता-द्रव्य रूप से ज्ञान का भवन ही रूपातीत ध्यान है। उक्त चतुर्विध धर्म्यध्यान सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होता है।

4. शुक्ल ध्यान—निज निरंजन शुद्ध ज्ञानस्वभावी भगवत्स्वरूप आत्मतत्त्व में लवलीन वर्तमान परिणति कि जिसमें मात्र ज्ञान ही ज्ञान का ज्ञेय-ध्येय ही रहा है, जिसमें अन्य ज्ञेयसमुदाय या विकारादिरूप समग्र परिणतिसमुदाय भी निजरूप से बाहर-बाहर रहते हैं, ऐसी निजाधीन परिणति शुक्लध्यान है। इस अवस्था में मुनिराज को बुद्धिपूर्वक समस्त राग समाप्ति की ओर तथा निर्विकल्प समाधि जाग्रत होती है।

इसकी उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ हैं—

(1) पृथक्त्व वितर्क वीचार, (2) एकत्ववितर्क अवीचार, (3) सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति, (4) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति या व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

(1) पृथक्त्व वितर्क वीचार—ध्याता पुरुष निजशुद्धात्म संवेदन भावनारत रहते हुए बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशों में स्वरूप स्थिरता नहीं है उतने अंशों में अनिच्छित विकल्प उत्पन्न होते हैं। अतः द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्र वचन से दूसरे शास्त्रवचन तथा एक योग से दूसरे योग के आलम्बन से ध्यान की धारा चलना 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' ध्यान है। उपशान्त मोह गुणस्थान की दशा में मुनिराज जो निरन्तर आत्म-ध्यान-रत रहते हैं, यही दशा पृथक्त्व वितर्क वीचार की है।

(2) एकत्व वितर्क अवीचार—निज शुद्ध आत्मद्रव्य में, या विकार रहित आत्मसुख अनुभवरूप पर्याय में, उपाधि रहित स्वसंवेदन गुण में, इन तीनों में से जिस एक में अपरिवर्तित निश्चल प्रवृत्ति होना, 'एकत्व वितर्क अवीचार' ध्यान है। क्षीणकषाय नामक वारहवें गुणस्थान में यह ध्यान होता है, जो कि केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है।

(3) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती—एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यान के बल से जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा जब न तो श्रुत वचन का आश्रय रहता है और न ही योग-संक्रमण होता है, केवल सूक्ष्मकाय योग मात्र का अवलम्बन रहता है तब, जब आयु कर्म का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान सम्पन्न होता है।

(4) व्युपरत क्रियानिवृत्ति—श्रुत विकल्प रूप वितर्क तथा योगसंक्रमण रूप वीचार और मन-वचन-काय-रूप योग-संक्रमण के अभाव में जो स्व-स्वरूप में अविचल प्रवृत्ति है, वही व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति रूप सर्वोत्तम शुक्ल ध्यान है, इसका समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति अपर नाम है। इस ध्यान के प्रताप से कर्म-रहित निष्कर्म सिद्ध-अवस्था उद्भूत होती है।

भावना

जिन भावों से मोहासक्त, मुग्ध, मोही जीव आत्मतन्त्र हो जाता है, दुःखदायी कर्मों को नष्ट कर सुख भोगता हुआ मुक्तिलाभ की प्राप्ति कर स्वतन्त्र हो जाता है, उन भावों को जानकर, बारम्बार चिन्तन करना ही भावना है।

आचार्य जयसेन कृत 'पंचास्तिकाय संग्रह' की तात्पर्यवृत्ति टीका में भावना को निम्न रूप में परिभाषित किया गया है —

‘ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना’ । 46 ।

अर्थात् जाने हुए अर्थ को पुनः पुनः चिन्तन करना भावना है।

जिनागम में भावनाएँ अनेकरूप में वर्णित हैं—भव्यजीवों के आनन्द की जनक वैराग्योत्पादक बारह भावनाएँ (अनुप्रेक्षाएँ), संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति सीखने रूप वैराग्यभावना तथा उत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म के बन्ध की कारण स्वरूप सोलह कारण भावनाएँ, देहान्त के समय में भाने योग्य समाधिभावना आदि बहुचर्चित भावनाएँ हैं।

बारह भावना

‘जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्’ । 7/12

आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र

यह जगत् और शरीर स्वभाव से हो संवेग और वैराग्य के लिए है।

ऐसा जानकर नित्य स्थायी, ज्ञानघन, चैतन्य-आनन्द स्वभावी आत्मा के अनुभवी ज्ञानीजन उक्त क्षणस्थायी, स्वभाव से ही अशरण, असारभूत जगत् से तथा अशुचिता का घर, आस्रव-बन्ध का कारण स्वरूप, मोह-राग-द्वेष का सर्वोत्तम सहायी, ‘देह’ के प्रति उदासीन होते हैं क्योंकि विषयासक्ति राग-द्वेष की कारण है और विषय-विरक्तिपूर्वक आत्मरमणता राग-द्वेष के अभाव की या स्वाधीन, स्थायी, आत्मिक आनन्द की प्राप्ति की कारण है।

ऐसी विषय-विरक्तता रूप वैराग्य-परिणति को जगाने के लिए अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं, जिन्हें बारह भावनाएँ भी कहा जाता है।

कविवर दौलतराम जी ने तो इन बारहों भावनाओं को ‘वैराग्य रस को उत्पन्न करने के लिए माता के समान’ कहा है।

संसार, शरीर और भोगों के यथार्थ स्वरूप पर जब हम बार-बार चिन्तन करते हैं, तो उनकी निःसारता, दुःखमयता, दुःखकारणता समझ में आने लगती है, तब भ्रम

से उत्पन्न आसक्ति ढीली पड़ने लगती है और सहज ही वैराग्य के अंकुर फूटने लगते हैं। यही पुनः पुनः चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है, भावना है।

वे बारह भावनाएँ प्रसिद्ध हैं—

1. अनित्य, 2. अशरण, 3. संसार, 4. एकत्व, 5. अन्यत्व, 6. अशुचि, 7. आस्रव, 8. संवर, 9. निर्जरा, 10. लोक, 11. बोधि-दुर्लभ और 12. धर्म।

1. **अनित्य**—ज्ञान और आनन्द स्वभावी मैं आत्मतत्त्व अनादि अनन्त जीव तत्त्व हूँ। न मेरा जन्म होता है और न ही मेरा मरण सम्भव है; क्योंकि मैं शाश्वत तत्त्व हूँ। मेरे अलावा मुझे इस विश्व के समस्त पदार्थों का संयोग होता है। संयोग तो वियोग स्वभावी होते हैं, अतः उनके भरोसे मुझे स्थायित्व और स्वाधीनता का लाभ नहीं मिल सकता है। अन्य पदार्थ चेतन हों या अचेतन, कोई भी मुझे लाभान्वित कर सकने या हानि कर सकने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं, क्योंकि वे सभी क्षणभंगुर हैं। चाहे ये शरीर हो, सम्पत्ति हो या सम्बन्धी, सबके सब छूटने वाले हैं। इनका अस्तित्व भोर के तारों की भाँति है, जो कुछ क्षणों में ही विलीन होने वाले हैं, किन्तु मैं स्वयं अपने अस्तित्व में सदा विद्यमान रहने वाला नित्य तत्त्व हूँ। कहा भी गया है—

द्रव्यरूप करि सर्व धिर पर्यय धिर है कौन।

द्रव्यदृष्टि आपा लखौ परजय नय करि गौन॥

पं. जयचन्द छावड़ा, बारह भावना

2. **अशरण**—अनादि-निधन विश्व में इस जीव को अपना निज आत्मा ही शरण है कि जिस आत्मा को निरन्तर ज्ञान का विषय बनाये रहने पर अतीन्द्रिय आनन्द निभय होकर भोगा जाता है। इस निज आत्मा से उपयोग के हटने पर, जिन्होंने निज आत्मा की शरण ली है ऐसे पंच परमेष्ठी तथा उनका बताया धर्म ही इस जीव को शरणभूत है कि जिनकी शरण में रहकर जीव आकुलताओं से बचा रह सकता है। इनके अलावा संसार में कोई भी इस जीव को जन्म-जरा-मृत्यु रूपी भयों से बचा नहीं सकता। चाहे कितना भी बड़ा परिकर और परिवार हो, धन और वैभव हो अथवा देवी-देवताओं की उपासना भी की जाए, आयु के अन्त समय पर इनका कोई जोर नहीं चलता, सारे साधन रहते हुए भी निष्प्राण ही जाते हैं। जन्म लेने वाले का मरण अनिवार्य है। बड़ी-बड़ी औषधि, यन्त्र-तन्त्र और सारे पदार्थ व्यर्थ सिद्ध ही जाते हैं। जिस प्रकार सिंह के मुख में प्रविष्ट हिरण को कोई नहीं बचा सकता, उसी प्रकार इस देहधारी को मृत्युरूपी सिंह के मुख से बचाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में इस जीव को यदि कोई शरण है तो मात्र निजात्मा या देव-गुरु-धर्म ही शरण है। भगवान् वासुपूज्य की पूजा की जयमाल में कहा है—

“निजात्म के परमेसुर शर्न, नहीं इनके बिन आपद हर्न”

पं. जयचन्द जी छावड़ा कृत 'बारह भावना' भी यही इशारा करती है—

शुद्धात्म अरु पंच गुरु, जग में सरनौ दोय।

मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥

3. संसार—अनादि-अनन्त इस लोक में जीव को हितलाभ के लिए एकमात्र निज शुद्ध स्वभाव एवं उसकी आराधना ही सारभूत है, जिससे यह जीव स्वाधीन स्थायी सुखलाभ-प्राप्त करता है। इस स्वतत्त्व के अतिरिक्त इस विश्व में अनन्त जीव और अनन्तान्त पुद्गलादि पदार्थ हैं, किन्तु वे कोई भी सारभूत नहीं हैं।

ऐसे अपने-अपने अनन्त गुण-पर्यायों से युक्त समस्त जीवादि पदार्थ जी कि मेरे लिए पर हैं, असार हैं, उनके प्रति प्रीति का होना ही संसार है, दुःख रूप है, दुःख का कारण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परावर्तनमयी अनन्त संसार में निज आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ असार है। इन असार तत्त्वों का अनुराग चतुर्गति भ्रमण का कारण है जी कि सदैव दुःख स्वरूप है। इसलिए परोन्मुखता से हटकर स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ ही कर्त्तव्य है। यही असार रूप संसार में सार भूत तत्त्व की भावना है।

षड्द्रव्यमयी लोक का नाम संसार नहीं है, षड्द्रव्यमयी जो लोक या विश्व है, वह विश्व जीव को दुःख रूप नहीं है, किन्तु संसार में जीव दुःखी होता है अर्थात् संसार लोक में नहीं अपितु जीव के अन्तर्भावों में राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों से है। वे विकृत भाव जीव ने अज्ञानवश कल्पना से उत्पन्न किये हैं।

जीव का सुख जीव के स्वयं के ज्ञान स्वभाव में है, अन्यत्र किसी भी द्रव्यादि के पास जीव का सुख नहीं है। ऐसे अपने स्वभाव से अपरिचित जीव अन्य पदार्थों से सुख की कामना रूप राग-द्वेष भावों में उलझता रहता है, दुःखी होता रहता है।

जैसे शिकारी के उपद्रव से भयभीत भागता हुआ खरगोश, अजगर के खुले-फैले हुए मुँह को बिल समझकर प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार जीव अज्ञानता में क्षुधा, तृषा, काम-क्रोधादि तथा इन्द्रियों के विषयों की तृषा के आताप से सन्तापित होकर विषय रूप अजगर के मुख में प्रवेश करता है। विषय कषायों में प्रवेश करना ही संसाररूप अजगर का मुख है। इसमें प्रवेश कर अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्तादि भाव प्राणों को न पहचान कर भ्रम में रहता हुए निगोदादि में अचेतन-जैसा होकर अनन्त बार जन्म-मरण करता हुआ अनन्तकाल व्यतीत करता है।

4. एकत्व—

एक्कोहं णिममो सुद्धो णाण दंसण लक्खणो।

सुद्धेयत्तमुवादेयं एवं चिंतेइ सव्वदा ॥ 20 ॥

आचार्य कुन्दकुन्द, बारसाणुवेक्खा

ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग :: 429

अर्थात् मैं एक हूँ, निर्मम (ममता रहित) हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन लक्षण हूँ, इसलिए एक शुद्धत्व ही उपादेय है, ऐसा निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

ऐसा ज्ञान-दर्शन चेतना लक्षण जीवत्व ही मैं हूँ, यही मेरा स्वरूप है, यही मेरी शाश्वतता है। मैं सदैव अपने लक्षणों में एक रूप ही रहा हूँ। मेरे अपने निजभाव के अतिरिक्त मैं पर या परभाव रूप कदापि नहीं हुआ हूँ। मेरे अलावा पर एवं पर के भाव अनन्त होने पर भी वे सब मेरे संयोगी तो हुए पर वे 'मैं' नहीं हुए हैं। मैं सदैव उन सबसे असम्बन्धित रहते हुए उनका मात्र ज्ञाता ही रहा हूँ और अपने ज्ञानभाव का ही भोक्ता रहा हूँ। अन्य सब विभाव भावों का कर्ता या भोक्ता तो संयोग देखकर कहा ही जाता रहा हूँ, तदरूप हुआ नहीं हूँ।

ऐसा जानकर अपने में अपनत्व करना ही अपनी एकत्व की आराधना है।

5. अन्यत्व—

बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीया ॥ 26 ॥

आचार्य अमिताति

अर्थात् 'जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्मधीन विनाशी है।'।

इस विश्व में निज ज्ञायक तत्त्व के अतिरिक्त अन्य अनन्त ज्ञान-स्वभावी जीव व अनन्तानन्त स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण—लक्षण पुद्गल तथा धर्म, अधर्म, आकाश और कालादि पदार्थ भी हैं और वे स्वयं अपने-अपने कार्य रूप सदैव परिणमते हैं। उनके परिणमन में मेरा कोई हस्तक्षेप नहीं चलता और मेरे स्वभाव व परिणमन में उनमें से किसी का भी हस्तक्षेप या दबाव नहीं चलता है।

यद्यपि उनका संयोग मेरे साथ व मेरा संयोग उनके साथ अनन्त बार अनन्त प्रकार से हुआ है, हो रहा है और कदाचित् होता भी रहेगा, परन्तु मात्र संयोग ही तो होगा। वे मेरे स्वभाव रूप कभी न थे, न हैं और न ही होंगे। ऐसा जानकर समस्त पर पदार्थों से तथा क्षणिक अवस्थाओं मात्र से अप्रभावित रहना ही अन्यत्व की भावना है।

एकत्व और अन्यत्व दोनों भावनाओं को आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' में एवं आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में इस प्रकार समाविष्ट किया है—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोग लक्खणा ॥ गाथा 101 ॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचराः।

बाह्या संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ श्लोक 27 ॥

अर्थात् 'मेरा सुशाश्वत एक दर्शन ज्ञान लक्षण जीव है।

बाकी सभी संयोग लक्षण भाव मुझसे बाह्य हैं।'

6. अशुचि—अनादि अनन्त चैतन्य चिह्न से पहिचाना जाने वाला निज शुद्धात्मतत्त्व सदैव ज्ञान-दर्शन लक्षणों में परिणमता हुआ स्वभाव से शुद्ध ही है, पवित्र ही है। ऐसी स्वाभाविक पवित्रता का अनुभव पवित्रता (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय) की उत्पत्ति का कारण है। इस स्वभाव से बाह्य यह निकटस्थ देह तथा देह के प्रति का रागादिभाव सदैव अशुद्धता लिए हुए ही हैं तथा अशुद्धता के कारण व दुःख रूप हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'समयसार' में कहा है—

णादूण आसवाणं असुचितं च विवरीय भावं च।

दुःखस्स कारणं तिय तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥ 72॥

अर्थात्— अशुचिपना विपरीतता ये आसवों का ज्ञान के।

अरु दुःख कारण जानके इनसे निवर्तन जीव करे॥

ये रागादि भाव रूप आसव ही वास्तव में अशुचि हैं। ज्ञान-दर्शन लक्षण जीव तो तत्समय भी शुद्ध ही बना रहता है। जैसे गन्दे कपड़े में गन्दा तो मैल है, कपड़ा तो उस समय अशुद्ध-गन्दा दिखता है। मात्र दिखता ही है, मैला हुआ नहीं है। कपड़े की स्वच्छता में विवेकियों को मैल में मलिनता ही नजर आती है। कपड़ा तो तत्समय भी स्वच्छ है। ऐसे ही रागादि भावों के समय आत्मा मलिन प्रतीत होता है, किन्तु ज्ञानियों को तो उस समय भी रागादि भाव ही मलिन नजर आते हैं आत्मा तो शुद्ध ही अनुभव में आता है। इसलिए जिन्हें ज्ञानी होने की भावना है उन्हें भी इसी तरह देखना, अनुभवना चाहिए।

देह की अशुचिता, मलिनता तो जगत् प्रसिद्ध है। सप्त धातुमय देह के मिलन का कारण रज-वीर्य रूप मलिन पदार्थ हैं। यह देह मांस, हड्डी, खून आदि मलिन पदार्थों से भरी है, व्याधियों से घिरी ही रहती है। और तो और, केशर चन्दनादि पवित्र पदार्थ भी देह के स्पर्श मात्र से मलिन हो जाते हैं तथा यह देह निरन्तर मलों को ही उत्पन्न करने वाली अपवित्र संयोगिक वस्तु है, प्रीति के योग्य नहीं है। देह-प्रीति के योग्य नहीं हैं, तो द्वेष के योग्य भी नहीं हैं, विरक्तता का ही हेतु है।

देह को दूर नहीं करना है, देह से मात्र दूरी बनाके जीना है।

निर्मल अपनी आत्मा, देह अपावन गेह।

जानि भव्य निज भाव को, यासों तजो सनेह ॥

पं. जयचन्दजी छावड़ा, बारह भावना

7. **आस्रव**—आनन्दमयी शाश्वत निज चैतन्य स्वरूप की रुचि व एकाग्रता से जीव आनन्द भोगता है। ऐसे स्वभाव की भूलकर जब यह जीव अपने से भिन्न पर तथा मलिन विभाव भावों से प्रीति या एकत्व जोड़ता है, तब जीव के संयोग में कर्म पुद्गलों का आगमन चालू हो जाता है, यही कर्मों का आस्रव है तथा बन्ध का कारण है। इसलिए ऐसे पर पदार्थ व परभाव कभी भी अपनाने योग्य या हितकारी मानने योग्य नहीं हैं।

इन आस्रवों के दो भेद प्रसिद्ध हैं—शुभास्रव तथा अशुभास्रव। ये दोनों ही संसार में दाखिल कराने के द्वार हैं। मुक्ति मार्ग के लिए तो ये बाधक ही हैं। जैसे समुद्र के बीच जहाज में छिद्रों से जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार ये 57 भेद युक्त आस्रव, कर्मों के आने के द्वार हैं।

8. **संवर**—जैसे समुद्र के बीच में ही नाव में जल आने का छिद्र बन्द कर दें तो नाव में जल प्रविष्ट न हो पाये, उसी प्रकार संसार समुद्र के मध्य में ही स्व-स्वरूप की रुचि-प्रीति से बलिष्ठ होकर जीव प्रविष्ट होते हुए कर्मों के आस्रव को रोक देता है। कर्मों का आगमन रुक जाना ही संवर है। इसका उपाय मात्र स्वरूप सौन्दर्य की पसन्दगी ही है।

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने लिखा है—

आस्रवनिरोधः संवरः 9/1,

स गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परिहजय चारित्रैः 9/2

अर्थात् आस्रव का रुक जाना ही संवर है और वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिहजय और चारित्र के द्वारा होता है।

9. **निर्जरा**—स्व-स्वरूप की रुचि, प्रीति, अनुभव से कर्मों का आस्रव रुक जाने पर अर्थात् संवरपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों का तप की शुद्धता के बल से झड़ने लग जाना ही प्रतिसमय असंख्यात गुणी वृद्धिगत निर्जरा है।

यद्यपि कर्म-निर्जरा तो उदय पाकर मोही अवस्था में भी होती है, किन्तु वह कर्म-निर्जरा जब अज्ञानता से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के कारण पुनः बन्ध की कारण हो जाती रही है, तो वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। जीव को लाभ तो इसी में है कि बँधे हुए कर्म पुनः बन्धन के कारण तो न बनें, और स्वरूप स्थिरता की आनन्द दशा के कारण निर्जरित (निकलते) होते जायें, ऐसी अविपाक निर्जरा से जीव निर्भर होता जाता है और इसप्रकार मुक्ति मार्ग का राही होकर मोक्ष-लक्ष्मी के वरण का पात्र हो जाता है।

10. **लोक**—जड़-चेतन पदार्थों से भरा हुआ अनादि-निधन, अकृत्रिम, निश्चल असंख्यात—प्रदेशी लोक स्वयं व्यवस्थित है। इसका कोई बनाने वाला, संरक्षण करने वाला, बदलने वाला या विनाश करने वाला नहीं है। इस लोक में रहने वाले षट् द्रव्य

रूप जीवादि पदार्थ भी लोक की ही तरह स्वयं व्यवस्थित, अपने-अपने लक्षणों में सदा विद्यमान तथा अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमने वाले हैं। एक के कार्य में अन्य को सहायी कहना यह व्यवहार-मात्र है, यथार्थ में तो प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही परिणमन करते हैं।

ऐसे स्वयं व्यवस्थित लोक में यह जीव मात्र अपने अज्ञान भावों से ही भ्रमण करता रहता है। अन्य कोई भ्रमण का कारण नहीं है। ऐसा जानकर, अपनी भूल पहचान कर, अपने स्वरूप को जानकर उसका प्रीतिवन्त होना चाहिए। लोक न तो रत रहने लायक है और न ही छोड़ने लायक है। आखिर जीव की अपस्थिति लोक में ही तो द्रव रहेगी, अलोक में नहीं।

ऐसे लोक में 'मैं इस लोक से भिन्न ज्ञानानन्द लक्षण जीव हूँ' विचार कर आत्म तृप्त रहना चाहिए।

11. **बोधिदुर्लभ**—बोधि अर्थात् ज्ञान, जीव का अनादि-निधन निज भाव ज्ञान। यह ज्ञान जीव का सहज स्वभाव है, सहज परिणाम है और जो सहज होता है, वह सह+ज अर्थात् साथ में ही रहता है, इसलिए सुलभ ही है, किन्तु ज्ञानस्वभावी जीव आत्मज्ञान से रहित होने के कारण, अज्ञानता से पर के प्रति अनुरक्त होता रहा है। यद्यपि पर को भी सही रीति से यथार्थतया जानता नहीं है, तो भी उन पर (अन्य) पदार्थों के प्रति उल्लास युक्त रहता रहने के कारण रागी-द्वेषी होता हुआ अपने स्वभाव को जानने के कार्य में प्रमादी रहा। इस कारण अपना स्वभाव ज्ञान दुर्लभ रहा है।

सभी आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वभावी सहज ही हैं, किन्तु जिस जीव के ज्ञान में अपना आत्मा जानने में आ जाता है, वे सहज ही आनन्दमयी जीवन का लाभ लेते हैं।

आत्मज्ञान के अभाव में समस्त जिनागम अभ्यास तथा संयमादि रूप भाव भी एकड़ा के बिना शून्य-जैसा मूल्य रहित ही रहता है। इसलिए सर्वप्रथम जीव को अपने से परिचित होना चाहिए।

12. धर्म—

इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः। १/२

आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि

अर्थात् जो जीव को इष्ट स्थान में धरता है, वह धर्म है।

'जो प्राणियों को पंचपरावर्तन रूप संसार के दुःखों से निकाल कर बाधारहित, उत्तम, अविनाशी सुखों में धर दे, पहुँचा दे, वह धर्म है। वह धर्म कर्मों का विनाशक तथा समीचीन है' ॥ २ ॥

पं. सदासुखदासजी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार—भाषाटीका

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, पर द्रव्यों में आत्म बुद्धि छोड़कर अपने ज्ञाता

ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग :: 433

द्रष्टा रूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव (ज्ञान) और ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तन रूप जो आचरण है, वह धर्म हैं। यह धर्म उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप, रत्नत्रयरूप तथा अहिंसादिमय कहा जाता है। ऐसे उत्तम धर्म की शरण पाकर जीव जगत् से विरक्त होकर यथाजात रूप मुनिपद का धारी हो स्वाधीन, स्थायी, सन्तुष्टिदायक आत्मसुख का धनी हो जाता है। अन्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि से स्वाधीनता के स्थान पर, पराधीनता की प्राप्ति होती है जो सुख का सच्चा मार्ग नहीं है।

इसप्रकार इन बारह भावनाओं का निरन्तर चिन्तन जीव के आसक्ति भाव को नष्ट कर विरक्ति के भावों को जन्म देता है और आत्मलीनता का साधक होता है।

सोलह कारण भावना

मनुष्य के व्यक्तित्व में 'भाव' का स्थान सर्वोपरि है। भावों से ही स्वर्ग है, भावों से ही नरक है, यहाँ तक कि भावों से ही मोक्ष है। 'सद्भावों से सद्गति और बुरे भावों से दुर्गति' यह तो जगत्प्रसिद्ध उक्ति है। भावों की पुनः पुनः प्रवृत्ति ही भावना नाम पाती है। सोलह भावनाएँ जो तीर्थकर बनने में निमित्तभूत हैं, वे भी भावों की निरन्तरता ही हैं।

ध्यान देने योग्य है कि तीर्थकर बनने के लिए भावों की निर्मलता मुख्य साधन है। चारों गतियों में केवल मनुष्यगति ही ऐसी है, जिसमें भावों की ऐसी उत्कृष्टता, निर्मलता सम्भव है। यही कारण है कि केवल मनुष्य ही तीर्थकर बनने की सम्भावनाओं से युक्त हो सकता है। जिस मनुष्य को आत्मकल्याण का आनन्ददायीपना इतना मधुर लगा हो कि वह जीवमात्र को इस आनन्ददायी आत्महित के लिए प्रबल प्रेरक हो, जिससे आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण का सर्वोदयी वात्सल्य जाग्रत हो। इन्हीं पवित्र सम्यग्दर्शन सहित भावनाओं में तीर्थकर कर्म प्रकृति का आस्रव-बन्ध होता है।

वे सोलह कारण भावनाएँ निम्न हैं—

1. दर्शनविशुद्धि, 2. विनयसम्पन्नता, 3. शीलव्रतेष्वनतिचार,
4. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, 5. संवेग, 6. शक्तितस्त्याग,
7. शक्तितस्तप, 8. साधुसमाधि, 9. वैयावृत्यकरण
10. अर्हद् भक्ति, 11. आचार्य भक्ति, 12. बहुश्रुत भक्ति,
13. प्रवचन भक्ति, 14. आवश्यकपरिहाणि 15. मार्गप्रभावना और,
16. प्रवचन वात्सल्य भावना।

1. दर्शनविशुद्धि—तीर्थकरत्व नामकर्म की कारणभूत सोलहकारण भावनाओं में सर्वप्रथम व सर्वप्रधान भावना दर्शनविशुद्धि है, इसके बिना शेष 15 भावनाएँ निरर्थक हैं; क्योंकि दर्शनविशुद्धि ही आत्मस्वरूप संवेदन के प्रति एकमात्र कारण है। सम्यग्दर्शन का अत्यन्त निर्मल व दृढ़ ही जाना ही दर्शनविशुद्धि है।

“प्रश्न—केवल उस एक दर्शनविशुद्धता से ही तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कैसे सम्भव है, क्योंकि ऐसा मानने से सब सम्यग्दृष्टियों के तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का प्रसंग आया ?

उत्तर — इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि शुद्धनय के अभिप्राय से तीन मूढ़ताओं और आठ मलों से रहित होने पर ही दर्शनविशुद्धता नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त गुणों से अपने निज स्वरूप को प्राप्त कर स्थित, सम्यग्दर्शन के साधुओं को प्रासुक अपरित्याग, साधुओं की समाधि संधारणा, साधुओं की वैयावृत्ति का संयोग, अर्हन्त भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचन वत्सलता, प्रवचनप्रभावना और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्तता में प्रवर्तने का नाम विशुद्धता है। उस एक दर्शनविशुद्धता से ही तीर्थंकर कर्म को बाँधते हैं। अर्हन्त के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श को अर्हन्त भक्ति कहते हैं और यह दर्शनविशुद्धता आदिकों के बिना सम्भव नहीं है।”

8/3, 41/80/1 धवला, आचार्य वीरसेन स्वामी

आचार्य अकलंकदेव ने ‘तत्त्वार्थराजवार्तिक’ ग्रन्थ में तो ‘जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग’ में रुचि को दर्शनविशुद्धि कहा है। उसके आठ अंग हैं— इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अरक्षण और आकस्मिक-सातभयों से मुक्त अथवा जिनोपदिष्ट तत्त्वों में शंका रहितता रूप निःशंकित, विषयोपभोग-आकांक्षा रहित निःकांक्षित, अशुभभावनाबद्ध चितविचिकित्सा रहित निर्विचिकित्सा, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धिरहित युक्तियुक्त अमूढदृष्टि, धर्मभावना से आत्मा की धर्मवृद्धि करना-उपवृंहण, कषायोदय आदि से धर्मभ्रष्टता के अवसर आने पर भी धर्मदृढ़ रहना-स्थितिकरण, जिनप्रणीत धर्माभूत तथा धर्मात्माओं से नित्य अनुराग रूप वात्सल्य तथा रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशमान करना-प्रभावना। इन आठ अंग सहितता ही दर्शनविशुद्धता है,— ऐसा कहा है।

2. विनय-सम्पन्नता भावना — दर्शनविशुद्धि भावना के बाद क्रम आता है विनय-सम्पन्नता भावना का। विनय नम्रता को कहते हैं एवं नम्रता-युक्त जीव विनय-सम्पन्न है और उसके भाव को विनय-सम्पन्नता कहते हैं। रत्नत्रय तथा रत्नत्रयधारियों का यथोचित उपकार करना, उनका सत्कार करना, सेवा-शुश्रूषा करना आदि शास्त्रानुकूल कर्म में प्रवृत्ति करना विनय है। इसीप्रकार के कर्मों से इसकी उत्पत्ति होती है। कषाय और इन्द्रियों को जीते बिना आत्मा शुद्ध नहीं होता, उसमें विनय नहीं आती। अतः विनयोत्पत्ति में कषाय व इन्द्रियजय भी आवश्यक है। विनय मन की उज्ज्वलता का कारण है, शुद्धि का मुख्य साधक है। अतः राग-द्वेषादि के द्वारा जिस प्रकार आत्मा का घात न होवे, उस प्रकार प्रवृत्ति करना यही विनय-सम्पन्नता का मर्म समझना चाहिए।

‘विनयतीति विनयः’ इस निरुक्ति के अनुसार विनय शब्द के दो अर्थ होते हैं—प्रथम—“विनयति अपनयति इति विनयः” अर्थात् जो दूर करता है, उसे विनय कहते हैं, इस प्रकार जो अप्रशस्त (बुरे) कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते हैं। द्वितीय है—“विशेषेण नयति इति विनयः” अर्थात् जो विशेष रूप से प्राप्त कराता है, उसे विनय कहते हैं, इस प्रकार

जो स्वर्ग-मोक्षादि विशिष्ट अभ्युदयों को प्राप्त कराता है उसे विनय कहते हैं।

विनय मद-नाशक होता है, शिक्षा का सार होता है, सज्जनों के लिए स्पृहणीय, समाधि आदि गुण-दायक होता है, मंगलफलदायक होता है तथा जिनलिंगधारण में साधक होता है। जिस प्रकार लोटा अपने सिर को नीचा करके ही जलग्रहण करता है, यदि वह अपने को न झुकावे तो जल प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार मनुष्य जितना विनम्र बनता है, राग-द्वेष आदि कषायों को दूर करता है और इन्द्रियों को अपने वश में करके सद्गुणों की उपासना करता है, उतना ही वह उन सभी गुणों को प्राप्त करने लगता है। विनयहीन की तो शिक्षा ही निष्फल अथवा अनिष्टकारी होती है, तब उसके लिए जिनलिंगधारण करना तो आत्म-विडम्बना मात्र है। इस प्रकार विनय-सम्पन्नता की महत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

शास्त्रों में विनय के चार भेद उल्लिखित हैं—दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय तथा उपचार विनय। आचार ग्रन्थों में तपविनय नामक पंचम भेद भी प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन में शंकादि दोषों को दूर करने व उपगूहनादि गुणों को उत्पन्न करने में जो प्रयत्न किया जाता है, वह दर्शन-विनय कहलाता है। अर्हन्त-सिद्धादि की भक्ति-वंदन-स्तुति आदि करना, धर्म के यश का प्रचार करना, अवर्णवाद का नाश, आसादन का परिहार आदि दर्शन-विनय के ही अन्तर्गत आते हैं। सम्यग्दर्शनादि को निर्मल बनाने में जो प्रयत्न किया जाता है, वह तो विनय है तथा निर्मल बने हुए उनमें जो वृद्धि आदि का प्रयत्न है, वह आचार कहलाता है।

बहुत आदर के साथ मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण करना उसका अभ्यास करना, स्मरण करना आदि ज्ञान-विनय है। यह ज्ञान-विनय असमयों से इतर काल में ग्रन्थादि पढ़ने रूप कालाचार, शास्त्र-शास्त्रज्ञ व उनके गुण-प्रेम व गुण-ग्रहण की भावना रूप विनयाचार, ग्रन्थ पढ़ने आदि में कालावधि के संकल्प रूप उपधानाचार, शास्त्र-पठन में आदर करने रूप बहुमानाचार, गुरु का नाम न छिपाने रूप अनिहवाचार, शब्दों के शुद्ध उच्चारणरूप शब्दाचार, शुद्ध अर्थ अवधारणरूप अर्थाचार और शुद्ध शब्द व शुद्ध-अर्थ के कथनरूप उभयाचार के भेद से आठ प्रकार का है।

पश्चात् चारित्र-विनय का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं कि चारित्र अर्थात् आचरण को निर्मल या निर्दोष बनाने का प्रयत्न करना, यही चारित्र-विनय है। कषायों का उपशम या क्षय, इन्द्रिय-विषयों से राग-द्वेष त्याग, यत्नपूर्वक समिति पालन, व्रतों के उद्धार आदि से स्वर्ग-मोक्ष के कारणभूत चारित्र को विनय होती है, ऐसा चारित्र विनय का स्वरूप है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रवन्त जीवों की विनय करना, वह उपचार विनय कहलाता है। इसके अन्तर्गत आचार्य आदि के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, नमस्कारादि करना, मन-वचन-काय से उनकी विनय करना आदि आता है। उपचार विनय के प्रत्यक्ष व परोक्ष दो भेद हैं, जिनके कायिक-वाचिक-मानसिक के भेद से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं।

अन्तिम तप-विनय में आवश्यक कर्मों को करना, परीषहों को जीतना, आतापनादि गुणों में उत्साहित होना, अनशनादि तपों को करना, तपोवृद्धों की सेवा करना आदि यथोचित सत्कार करना आदि शामिल हैं।

ज्ञान-लाभ, पंचाचार-निर्मलता, आराधनादि अनेक गुण-सिद्धि करना ही इस विनय-सम्पन्नता भावना का मूल प्रयोजन है।

3. शीलव्रतेषु अनतिचार भावना—तीसरी भावना है—शीलव्रतों में अनतिचार। सर्वप्रथम शील क्या है? तो शील शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, जैसे—सत्त्वभाव, ब्रह्मचर्य, दिग्व्रतादि सात व्रत आदि। सत्त्वभाव का अर्थ है क्रोधादि के वश में न होना, और यही स्वभाव अहिंसादि व्रत रक्षा में प्रधान है, इस प्रकार अहिंसादि व्रतों की रक्षा के कारणों को शील कहा जाता है। इस कारण से क्रोधादि कषायों का त्याग, ब्रह्मचर्य व्रत पालन तीन गुणव्रतों व चार शिक्षाव्रतों का पालन, इसे शील कहा जाता है।

अब व्रत क्या है जिसकी रक्षा करना उनके पालनकर्ता को इष्ट है? तो शुभकार्यों में प्रवृत्ति करना तथा अशुभ कार्यों को छोड़ देना, यह व्रत है। यह व्रत दो प्रकार से वर्णित है—अहिंसादि शुभ भावों में प्रवृत्ति रूप तथा हिंसा, असत्यादि अशुभ कार्यों से निवृत्ति रूप। पाँच पापों से निवृत्तिपूर्वक व्रतों का पालन होता है। जो प्रमाद के वश से होने वाली जीव की हत्या या उसे पीड़ा पहुँचाना आदि हिंसा के त्याग से अहिंसा व्रत होता है। यदि डॉक्टर के द्वारा सावधानी से इलाज करते हुए भी औषधि या यन्त्र के प्रयोग से रोगी के प्राण निकल जाएँ, तो वह दोषी नहीं, किन्तु यदि जीव को मारे बिना भी उसे कष्ट देने का अशुभ संकल्प किया, तब हिंसा का दोष लगेगा, क्योंकि प्रथम स्थिति में प्रमाद नहीं है, किन्तु द्वितीय में है। यहाँ हिंसा और अहिंसा का वैशिष्ट्य है। हिंसा के चार भेद किए— संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी व विरोधी। इनमें से मुनिजन तो सर्वथा हिंसा के त्यागी होते हैं, किन्तु गृह-कार्यों में होने वाली आरम्भी हिंसा, आजीविका में होने वाली उद्योगी हिंसा व आश्रितों की तथा स्व-रक्षा में होने वाली विरोधी हिंसा का त्याग गृहस्थ के जीवन-निर्वाह के अनुकूल न होने से वह मात्र संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। इसप्रकार अहिंसा व्रत का पालन मुनि व गृहस्थ दोनों के जीवन में होता है।

रागादिभावों से या कषायपूर्वक अप्रशस्त या अशुभ वचन बोलने रूप असत्य का त्याग सत्य व्रत है। हिंसा के समान ही असत्य में भी प्रमाद के कारण दोष लगता है। मुनिजन तो सत्त्वभाव के ज्ञाता, सर्वथा असत्य के त्यागी होते हैं तथा गृहस्थ असत्य का आंशिक त्याग कर सत्याणुव्रत का पालन करता है।

इसीप्रकार मुनिराज तो कृत-कारित-अनुमोदना व मन-वचन-काय से चोरी, कुशील व परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं व गृहस्थ अपनी भूमिकानुसार इनका त्याग कर अणुव्रतों के पालन में तत्पर होता है।

अहिंसादि पाँच व्रतों में अनेक अतिचार लगते हैं, जैसे अहिंसाव्रत में बन्धन, वधादि

करना, सत्यव्रत में मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यानादि करना, अचौर्यव्रत में स्तेनप्रयोग बताना, चोरी का माल लेना आदि, ब्रह्मचर्य व्रत में दूसरों का विवाह कराना आदि तथा परिग्रहपरिमाण व्रत में धन-धान्यादि की सीमा को घटाना या बढ़ाना आदि अतिचार लगते हैं। इन अतिचारों से रहित व्रतों का पालन ही शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है। व्रतों की रक्षा के कारणभूत शीलव्रत भी गृहस्थ व मुनिजीवन में कहे गये — जो गृहस्थों के लिए दिग्ब्रतादि सात कहे तथा मुनियों के महाव्रतों की रक्षा के लिए 18000 शील कहे। जिस प्रकार मलयुक्त बीज बोने से उनके कोई फल नहीं लगता, उसी प्रकार अतिचार सहित व्रतपालन फलदायी नहीं है, अतः निरतिचार पालन की प्रेरणा दी गई।

वस्तुतः तो मुनि जीवन व गृहस्थ जीवन में रागादि के घट जाने से स्वयं ही ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे पापों से विरत क्रमशः शुद्ध तथा शुभ भावों में लीन रहते हैं, इसी प्रवृत्ति की व्रतादि संज्ञा दे दी जाती है। कदाचित् रागादि के कारण इन व्रतों में दोष लगते हैं, उन्हें अतिचार कहा जाता है, उन अतिचारों से रहित होकर निर्दोष व्रत-शीलपालन को ही शीलव्रतेष्वनतिचार भावना नाम दिया जाता है।

4. अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना—आत्मा तो ज्ञान स्वभावी ही है, उसका जो भी कार्य, अवस्था, परिणाम होता है, वह सभी ज्ञान रूप ही होता है। ज्ञान से ही आत्मा की उन्नति, उत्थान होता है। आत्मा के ऐसे विशिष्ट स्वभाव की प्राप्ति की इच्छा करते हुए ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहना, वहीं अपने मन को लगाना, बाह्य सामग्री, विषय-भोगों में मन को न जाने देना व ज्ञानाभ्यास में ही रत रहना, वह अभीक्षण-ज्ञानोपयोग भावना है।

अभीक्षण का शाब्दिक अर्थ ही सतत, निरन्तर, लगातार या अनवरत होता है। यहाँ ज्ञानाभ्यास को एक-क्षण की भी नहीं छोड़ने का उपदेश इस भावना में दिया गया है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य किसी पदार्थ को नहीं देख सकता, उसी प्रकार ज्ञान-रहित व्यक्ति कर्तव्य-अकर्तव्य को, सत्-असत् को, हेय-उपादेय को न तो देख सकता है और न ही कोई निर्णय कर सकता है। अतः ज्ञानाभ्यास होना/करना अति आवश्यक है।

ज्ञान की महिमा तो सभी स्थानों पर विशद रूप से गाई गयी है। जहाँ छहढालाकार पण्डित दौलतराम जी को ये पंक्तियाँ कि “ज्ञान समान न आन जगत में सुख का कारण, इह परमाप्त जन्म-जरा-मृत्यु रोग निवारण” ज्ञान की महत्ता बताती है, तो यह कहावत कि “ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः” यह भी ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित करती है।

जिनशासन में पाँच ज्ञानों का वर्णन आता है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान। इनमें से प्रथम दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं, इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न होने से पराधीन ज्ञान हैं। ये दोनों ज्ञान सभी जीवों के होते हैं। गुणस्थानों के क्रमानुसार देखने पर ये दोनों ज्ञान यदि सम्यक् हों तो चतुर्थ अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। यदि मिथ्या हों तो पहले से तीसरे गुणस्थान तक होते हैं। अवधि

आदि तीन ज्ञान सीधे आत्मा से होने के कारण प्रत्यक्ष हैं तथा अवधिज्ञान मिथ्या व सम्यक् दोनों हो सकता है। मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यक् ही होते हैं। एक आत्मा में कम-से-कम एक केवलज्ञान और अधिक से अधिक चार— पति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान तक एक साथ हो सकते हैं।

वस्तुतः ज्ञान चैतन्य की परिणति होने से इन पाँचों भेदों को मात्र व्यवहार कहा जाता है, उपचार कहा जाता है। अनादि से काम-क्रोधादि मुझ जीव के साथ लगे हुए हैं, अब ऐसी भावना कि जिनेन्द्र भगवान की वाणी के अभ्यास से रागादिक का अभाव हो, निज ज्ञायक भगवान आत्मा में ही अपना उपयोग ठहर जाए, यही आत्मा का हित, यही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है। ज्ञानाभ्यास करने से संसार-देह-भोग से वैराग्य उत्पत्ति, विषय-वांछा व कषाय का नाश, मन की स्थिरता, व्रतों की दृढ़ता, जिनशासन प्रभावना आदि अनेकानेक कार्य होते हैं। अतः मनुष्य जन्म की एक भी घड़ी सम्यग्ज्ञान के बिना मत खोवो, ज्ञान ही सर्व जीव की परमशरण है।

5. संवेग भावना—संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर धर्म और धर्म के फल में अनुराग करना, वह संवेग भावना है। दुःखों के समुद्र रूप संसार में शारीरिक, मानसिक, इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज आदि अनेक प्रकार के दुःख भरे हुए हैं, इन दुःखों से नित्य डरते रहना संवेग कहलाता है और यही मुक्ति का परम्परा साधन है।

संसार तो दुःखों का ही घर है। जिस पुत्र से यह जीव राग करता है, वही पुत्र अपने कार्य सधने तक तो पिता का आदर करता है, किन्तु यदि असमर्थ हो जाए तो उसी पिता का, जो उसके राग में अनेक कष्ट सहकर भी उसका पालन-पोषण करता है, उसका अनादर करने लगता है।

स्त्री है, सो वह भी ममता-तृष्णा बढ़ाने वाली, धर्म का नाश करने वाली, ध्यान-स्वाध्याय में विघ्न कराने वाली, क्रोधादि कषायों में तीव्रता कराने वाली है और कलह का मूल, दुर्ध्यान का स्थान व मरण को बिगाड़ने वाली है। मित्रादिक भी विषयों में उलझाने वाले स्वार्थ के सगे हैं, बुरे समय में साथ देना तो दूर, सामने भी नहीं आते।

इन्द्रियों के विषय-भोग साक्षात् विष ही हैं। ये आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं, कुगति के कारण हैं। विषय तो अग्नि के समान दाह कराने वाले हैं, न हों तो प्राप्ति की इच्छा, हो जाएँ तो भोगने की इच्छा, अधिक हो जाएँ तो सम्हालने की चिंता, इस प्रकार ये सदैव ही जीव को संतप्त करने वाले हैं।

यह शरीर रोगों का स्थान, अशुचिता का पुंज है, प्रतिक्षण जीर्ण होता जाता है, करोड़ों उपाय, मन्त्र-तन्त्रादि करने पर भी, विभिन्न प्रकार से रक्षा किये जाने पर भी मरण की प्राप्ति होता ही है। इस प्रकार इस संसार का, संसार के दुःखों का स्वरूप जानना, उनसे नित्य डरते रहना व धर्म का स्वरूप जानकर उसमें अनुराग करना, वही संवेग भावना है।

वस्तु का जो स्वभाव है, वह धर्म है। रत्नत्रयरूप, दशलक्षणरूप तथा जीवदया रूप भाव

वह धर्म कहा गया है, सो यह धर्म अत्यन्त मिष्ट फल वाला कहा है। तीर्थंकर पदवी, नारायण, चक्रवर्ती आदि सभी पद धर्म के फल से ही मिलते हैं। सांसारिक अनुकूलता—जैसे प्रचुर सम्पदा की प्राप्ति, लोक में मान्यता, बुद्धि की उज्ज्वलता, निरोगता, दीर्घायु आदि सब धर्म धारण करने के फल में ही मिलते हैं। कल्पवृक्ष हो या चिन्तामणि रत्न सभी धर्मात्मा के चरणों की धूलि होते हैं। ऐसे धर्म को त्रैलोक्य में उत्कृष्ट जानना, यही संवेग भावना है।

6. शक्तितस्त्याग भावना—यह षष्ठ भावना है, जिसके अन्तर्गत त्याग करने की प्रेरणा दी गई है। अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थों को छोड़ना, देना ही त्याग कहलाता है। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से ममता के छोड़ने से त्याग धर्म होता है। प्रथम ती अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता है, पश्चात् बाह्य परिग्रह की धीरे-धीरे सीमित करते हुए त्याग किया जाता है। मिथ्यात्व, कषायें व नोकषायें, ये सभी अन्तरंग परिग्रह हैं। शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि करना मिथ्यात्व है, सर्वप्रथम इसी का त्याग करना, क्योंकि इस मिथ्यात्व के समान इस लोक में इस जीव का अन्य कोई शत्रु नहीं है।

अन्तरंग परिग्रह के त्याग के पश्चात् धन-धान्यादि का त्याग होता है। दोनों प्रकार के परिग्रह के एकदेश त्याग से श्रावकदशा तथा सकल त्याग से मुनिदशा होती है। परिग्रह के त्याग के साथ-साथ विषय-कषायों का भी त्याग होता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों को, उनमें लोलुपता को जीतने से त्याग धर्म होता है तथा उत्तम, मध्यम व जघन्य— ऐसे तीन प्रकार के पात्रों को भक्तियुक्त होकर आहार-औषधि आदि का दान देना भी समस्त त्याग धर्म के अन्तर्गत आता है। त्याग के बिना गृहस्थ का गृह श्मशान के समान है तथा गृहस्थी का स्वामी पुरुष भृतक के समान है और स्त्री-पुत्रादि गिद्धपक्षी के समान इसके धनरूपी माँस को नोंच-नोंचकर खाने वाले हैं, अतः अपनी शक्ति अनुसार त्याग करने की प्रेरणा इस भावना में दी गई है।

7. शक्तितस्तप भावना—कर्मों के नाश करने के लिए अथवा इच्छा का निरोध करने के लिए अथवा मन और इन्द्रियों को वश में रखने के लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहा जाता है और अपनी शक्ति के अनुसार तप करने की शक्तितस्तप भावना कहा जाता है।

यह शरीर तो अनित्य-अस्थिर है, कृतघ्न के समान है, अतः इसे पुष्ट करना योग्य नहीं, किन्तु कृश करने योग्य है, तभी यह गुणरत्नों के संचय का कारण बनता है। अतः इसे सेवक के समान ही भोजनादि देकर कायक्लेशादि तप करना योग्य है, श्रेष्ठ है। तप को अनेकानेक शास्त्रों में कर्मपर्वत को भेदने वाले वज्र की उपाधि दी गई है। तप रूपी सुभट की सहायता के बिना ये काम-क्रोधादि लुटेरे अपनी श्रद्धा-ज्ञानादि धन को लूट लेते हैं, अतः तप को धारण अवश्य करना चाहिए।

सबसे प्रधान तप तो दिगम्बरपना है, जो घर-कुटुम्बादि की ममता से रहित, परिषहों

को जीतने की भावना सहित, वस्त्रादि का त्याग कर, इन्द्रिय-विषयों में प्रवर्तन का त्याग कर निज स्वभाव की ओर उन्मुख हुए जीव की दशा है। इस अतिशय तप में तो आहारादि के लाभ-अलाभ में समता रखना, सरस-नीरस भोजन में लालसारहित सन्तोषरूप अमृत का पान करते हुए आनन्द में तिष्ठना होता है।

जिनमार्ग में अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार के तप का स्वरूप कहा गया है। बाह्य तप आत्मोत्थान में, आत्मा की चंचल चित्त-वृत्तियों को रोकने में और ध्यान की ओर अग्रसर करने में अर्थात् अन्तरंग तप में निमित्त हो, तभी उस बाह्य तप की सार्थकता है। बाह्य तपों में अनशन, अवमौदर्य आदि आते हैं, जो श्रेष्ठता के क्रम से बढ़ते हुए अन्तरंग तपों में प्रायश्चित्त आदि से होते हुए सर्वोत्कृष्ट ध्यान तप तक आते हैं। इस ध्यान रूप तप के द्वारा ही घातिकर्मों का नाश होकर केवलज्ञान की प्राप्ति पूर्वक जीव मुक्त होता है, अतः अपनी शक्ति को न छिपाते हुए तप करना, यह शक्तिस्तप नामक सातवीं भावना है।

8. साधु-समाधि भावना—व्रत-शीलादि अनेक गुणयुक्त, स्व और पर के आत्मोत्थान का कार्य सिद्ध करने वाले व्रती-संयमी साधुजनों पर किसी कारण से आने वाले विघ्न को दूर कर उनके व्रत-शील की रक्षा करना सो साधु समाधि भावना है। जिस प्रकार भण्डार में लगी अग्नि को गृहस्थ अपनी उपकारक या उपयोगी वस्तुएँ अन्दर रखी जानकर उसे बुझाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्न साधु में विद्यमान रहते हैं, ऐसे साधु की रक्षा करना योग्य ही है। गृहस्थ को या साधु को भी उपसर्ग, मरणादि आ जाने पर भय को प्राप्त नहीं होना, वह साधु समाधि है। उपसर्ग स्थूलरूप से चार प्रकार के माने गये हैं—मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यचकृत और अचेतनकृत। स्वाभाविक अवस्था को बदल देना उपसर्ग कहलाता है, चाहे ठंड के मौसम में मुनि के पास अग्नि जलाना हो या सोने के लिए घास आदि बिछाना, सभी उपसर्ग को कोटि में हो आता है।

उपसर्ग के समय में भी यह चिन्तन करना कि मैं तो अखण्ड ज्ञानस्वभावी वस्तु हूँ, मेरा जन्म-मरण नहीं होता है। जो उत्पन्न हुआ है सो अवश्य ही विनशेगा। वह ज्ञानी जीव तो मरण को मित्रवत् मानता है। वह मृत्यु से डरता नहीं, अपितु ऐसा मानता है कि व्रत-तप-संयम का उत्तम फल मृत्यु नामक मित्र के उपकार बिना कैसे मिलता? वह देह से अपना स्वरूप भिन्न जानकर भय को प्राप्त नहीं होता। ऐसे ज्ञानी जीवों के हो साधु-समाधि नामक भावना होती है।

असाता के प्रबल उदय को टालने में कोई समर्थ नहीं है, ऐसे में उन परिस्थितियों में राग-द्वेष करना व्यर्थ है तथा भव-भव में अनेक बार यह जीव समवसरण में गया, स्त्री-पुरुष हुआ, ऋद्धिधारी देव हुआ, पुण्य का फल भी भोगा, किन्तु रहा इसी संसार में। संसार से पार उतारने में तो धैर्य धारण करने पर होने वाली साधु-समाधि भावना ही है।

9. वैयावृत्य भावना—व्यपनोद, व्यावृत्ति और वैयावृत्ति एकार्थवाची शब्द हैं जिनका

अर्थ होता है -हटाना। अर्थात् दुःखों को दूर करना। पूर्व में साधु-समाधि भावना में साधु का जो स्वरूप वर्णित है, ऐसे साधुओं की वैयावृत्ति करना चाहिए। अन्य शब्दों में कहें तो कोढ़, ज्वर, श्वासादिकी कोई बीमारी या बाधा आदि आ जाने पर किसी साधु की श्रावक द्वारा अथवा साथी साधु द्वारा तथा श्रावक की अन्य श्रावक द्वारा निर्दोष आहार-औषधि आदि देकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, विनय-आदर करना, उनका दुःख दूर करने का प्रयत्न करना, सो वैयावृत्य कहलाता है तथा जो आचार्यादि गुरु-शिष्य को श्रुत के अंग पढ़ाते हैं, व्रतादि की शुद्धि का उपदेश देते हैं, वह शिष्य का वैयावृत्य है, इसी प्रकार शिष्य का गुरु की आज्ञा में प्रवर्तित हुए उनकी सेवा करना वह गुरु के प्रति वैयावृत्य है।

वास्तव में, अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को राग-द्वेषादि दोषों में लिप्त नहीं होने देना, यह अपने आत्मा का वैयावृत्य है। अपने आत्मा को भगवान के द्वारा कथित परमागम में लगा देना, दशलक्षण रूप धर्म में लीन होना ही असली वैयावृत्य है। भील-म्लेच्छादि द्वारा किये गए उपद्रव से मुनिराज का जो परिणाम विचलित हुआ, उसे सिद्धान्त का आधार लेकर स्थितिकरण करना, यही वैयावृत्य भावना है जो कि रत्नत्रय को रक्षा का कारण होने से जगत् में अति उत्तम कही गई है।

10. अर्हद्भक्ति भावना—पूजार्थक अर्ह धातु से अर्हत् शब्द बना है, जिसके अनुसार जो चार घातिया कर्मों के सर्वथा नाश कर देने के कारण पूजनीय हैं, वे अर्हन्त हैं, ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में रहने वाले व द्वादशांग वाणी के प्रवर्तक अर्हन्त भगवान, उनके गुणों में अनुराग करना सो अर्हद्भक्ति भावना है।

अर्हन्त भगवान् राग-द्वेष-मोहादि के नाश से वीतराग, ज्ञान का समस्त आवरण दूर हो जाने पर लोकालोक को जानने वाले होने से सर्वज्ञ तथा यथार्थ वक्ता होने के कारण हितोपदेशी हैं। हितोपदेश के कर्तापन के कारण ही अर्हन्त भगवान् को सिद्धों से भी पूर्व स्मरण किया जाता है। जिनागम में अर्हन्त भगवान् के 46 गुण कहे गये हैं, जिनमें अनन्त चतुष्टय रूप चार गुण ही आत्माश्रित हैं, शेष बयालीस शरीराश्रित तथा विशेषकर तीर्थंकर अर्हन्तों के कहे गए हैं। अर्हन्त भगवान् या आप्त 18 दोषों से रहित होते हैं। आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रन्थ में लिखते हैं—

क्षुत्पिपासाजरातंक जन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

अर्हन्त भगवान् पंच कल्याणधारी, सामान्यकेवली आदि सात प्रकार के कहे गए हैं, वस्तुतः रागादिक वैभाविक परिणतियों के नाश रूप स्वभाव को प्रकटता तो सभी में समान ही है, मात्र किंचित् भेद है। ऐसा रूप समझकर अर्हन्त भक्ति में चित्त लगाना चाहिए, क्योंकि यह संसारसमुद्र से तारने वाली है। यथार्थ अर्हन्त भक्ति तो अर्हन्त भगवान् के समान निज स्वरूप को देखकर स्वयं अर्हन्त बन जाना ही है तथा अर्हन्त भक्ति व सम्यग्दर्शन में

मात्र नामभेद है, अर्थभेद नहीं है। यदि मात्र बाह्य-भक्ति-पूजा में लगे रहे व शुद्धोपयोग रूप प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ तो वह तुष कूटने के समान निष्फल ही है। अतः यथार्थ प्रयोजन पूर्वक स्व को पवित्र करने वाली अर्हन्त भक्ति भावना कही गयी है।

11. आचार्यभक्ति भावना—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप इन पाँच उत्कृष्ट आचारों का स्वयं आचरण करने वाले तथा संघस्थ अन्य साधुओं को आचरण करवाने वाले आचार्य कहलाते हैं। अनशनादि 12 तपों में उद्यत, दशलक्षण धर्म रूप परिणति युक्त, त्रयगुप्ति सहित, निर्गन्ध मार्ग में गमन करने में तत्पर आचार्य योग्य जानकर शिष्य को दीक्षा आदि देते हैं, प्रायश्चित्त विधि से उनके दोषों को दूर करते हैं, धर्म के लोभी भव्य जीवों को हित का उपदेशादि देते हैं। ऐसे आचार्य के रूप को जानकर उनके गुणों में अनुराग करना, सो संसार परिभ्रमण की नाशक आचार्यभक्ति है।

आचार्य के 36 गुण कहे गए किन्तु वे तो सभी साधुओं में पाये जाते हैं तो आचार्य का वैशिष्ट्य क्या है? सो कहते हैं कि जो मुनिसंघ के शासक, धर्म के नायक, लोक व्यवहार व परमार्थ के ज्ञाता, बुद्धि व तप की प्रबलता के धारक, उग्र तप करने में सक्षम, वैराग्योत्पादक अतिशय वचन युक्त होते हैं, वे आचार्य हैं। गणधर, जो द्वादशांग रूप जिनवाणी का गठन करते हैं, वे भी आचार्य ही होते हैं।

संघ में राजा के समान व्यवस्था आदि करने हेतु आचार्य के 8 गुण गिनाए गये हैं अर्थात् आचार्य स्वयं आचरण करने व अन्य शिष्यों को आचरण करवाने से आचारवान् हैं। स्वयं व शिष्य को विचलित न होने देने से व आधारभूत होने से आधारवान् हैं, प्रायश्चित्त आदि सूत्र के ज्ञाता होने से व्यवहारवान्, आपत्ति आने पर संघ की सेवा करने से प्रकर्ता और मुनि के विचलित होने पर रत्नत्रय को रक्षा कराने व धर्म में स्थित कराने के कारण आपायोपायविदर्शी हैं। मुनि को अपने दोषों की ठीक आलोचना न करने पर समझाने के कारण अवपीड़क, एक मुनि के दोष अन्य मुनि से न कहने के कारण अपरिश्रावी तथा शिष्य को विघ्नादि से बचाकर संसार से पार लगाने वाले होने से निर्यापक ऐसे आचार्य होते हैं, उनकी भक्ति करना, वह आचार्य भक्ति भावना है।

12. बहुश्रुतभक्ति भावना—बारहवीं भावना बहुश्रुतभक्ति नामक भावना है जिसमें सभी उपाध्यायों की भक्ति करने का वर्णन प्राप्त होता है। जो अंग-पूर्वादि रूप द्वादशांग जिनवाणी के ज्ञाता हैं, चारों अनुयोगों के पारगामी हैं, जो निरन्तर स्वयं परमागम को पढ़ते हैं तथा अन्य सभी से अधिक ज्ञानी हैं, ऐसे उपाध्याय बहुश्रुत कहलाते हैं। संघस्थ मुनियों को पढ़ाने के कारण वे ही पाठक कहलाते हैं। स्याद्वादरूप परम विद्या के धारक, ऐसे बहुश्रुती उनकी भक्ति करना, वही बहुश्रुतभक्ति भावना है।

“उपेत्याधीयते यस्मात् सः उपाध्यायः” इस निरुक्ति के अनुसार जिसके पास बैठकर पढ़ा जाए, वे गुरु ही उपाध्याय कहलाते हैं। वे आचारांग आदि 11 अंग तथा उत्पादादि

14 पूर्व के ज्ञाता होने से 25 गुणधारक हैं। यद्यपि ये गुण अन्य आचार्य व साधुओं में हो सकते हैं, किन्तु उपाध्याय पद मात्र पढ़ाने से ही प्राप्त होता है।

यह द्वादशांग रूप सूत्रादि का ज्ञान है, वह तप के प्रभाव से उपजता है, अतः उपाध्याय बुद्धिप्रमाण शिष्यों को पढ़ाते हैं तथा श्रुत का अथवा ज्ञान का सदा ही दान करते हैं, उन गुरुओं की भक्ति करना सदा योग्य ही है तथा शास्त्र की भक्ति, वह भी बहुश्रुतभक्ति कही गई है, शास्त्रों की पढ़ना-पढ़ाना, अपने धन को शास्त्रों के मुद्रणादि में लगाना, यह भी इसी के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार द्वादशांग रूप जिनवाणी तथा उसके धारक, ऐसे बहुश्रुती, उनकी मन-वचन-काय से स्तुति-भक्ति आदि करना, वह बहुश्रुतभक्ति भावना है।

13. प्रवचनभक्ति भावना—प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट वचन। जिनेन्द्र भगवान् के मुख से निकला हुआ वचन ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। जिसमें षड्द्रव्यादि का वर्णन आया है, ऐसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के वचन जो स्वर्ग-मोक्ष को देने वाले हैं, वे सब प्रवचन कहलाते हैं।

जिस प्रकार अन्धकार युक्त महल में हाथ में दीपक लेने पर सभी पदार्थ देखे जा सकते हैं। उसी प्रकार तीनलोक रूपी महल में प्रवचन अर्थात् जिनेन्द्र को वाणी रूपी दीपक की सहायता से सूक्ष्म-स्थूल, मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ देखे जा सकते हैं। वीतराग जिनेन्द्र भगवान् का ज्ञान अनन्त है तथा राग-द्वेष के अभाव से सर्व जीवों के लिए हितकारक तथा अज्ञानता के अभाव से सर्व पदार्थ यथार्थ रूप से जानते हैं, उनका उपदेश भी यथार्थ और हितकारक है, इसी कारण वह 'प्रवचन' संज्ञा को प्राप्त है।

इसी प्रवचन में अनन्त भूत, अनन्त भविष्य व वर्तमान के समस्त द्रव्यों का उनके गुण व पर्यायों सहित वर्णन है। पुण्यपुरुषों के जीवन-चरित्र रूप प्रथमानुयोग, व्रतादि आचरण के वर्णन रूप चरणानुयोग, कर्म-प्रकृतियों के उदयादि के कथन रूप करणानुयोग तथा सप्ततत्त्वादिके स्वरूप का वर्णन करने रूप द्रव्यानुयोग आदि भी इसी में आते हैं। और इस संसार से उद्धार करने वाला सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग का उल्लेख भी जिनेन्द्र भगवान् के परमागम में ही है। इस प्रकार अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कथन करने वाले स्याद्वाद शैली में सुगठित जिनेन्द्र के परमामृत रूप प्रवचन के प्रति उत्कृष्ट विनय रखना, शास्त्राभ्यास में ही अपना चित्त लगाना, यही प्रवचन-भक्ति भावना है। अनेक प्रकार से जो द्रव्यश्रुत व भावश्रुत रूप प्रवचन हैं, उनका भक्ति से पाठ करना, श्रवण करना, व्याख्यान करना, वन्दनादि करना, सब प्रवचनभक्ति भावना में ही शामिल है।

14. आवश्यकपरिहाणि भावना—जो कार्य अवश्य करने योग्य होते हैं, उन्हें आवश्यक कहा जाता है। उस आवश्यक कार्य को प्रतिदिन करते रहना ही अहानि अर्थात् आवश्यकपरिहाणि कहलाता है। शास्त्रों में आवश्यक कार्य 6 बताये गए हैं। बाह्य वस्तुओं को अचेतन व स्वयं से भिन्न जानते हुए रागादि विकार से रहित स्वयं को शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा

रूप अनुभव करना ही सामायिक नामक आवश्यक है। जिनेन्द्र भगवान् के अनेक नामों द्वारा अनेक गुणों का कीर्तन, वह स्तवन तथा त्रिशुद्धि-आवर्तादि पूर्वक किन्हीं एक तीर्थकर या अर्हन्तादि को मुख्य करके स्तुति करना, वह वन्दना आवश्यक है। भूतकाल में किये गए तथा आगामी काल में लगने वाले पापों व दोषों की निन्दा आदि करना वह क्रमशः प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान है। शरीर से ममत्व त्याग कर शुद्ध आत्मा की भावना करना, यह कायोत्सर्ग नामक छठा आवश्यक कार्य है। कहीं-कहीं स्वाध्याय को भी इन्हीं में शामिल किया गया है। देवपूजा, गुरुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थों के षट् आवश्यक कहे गए हैं। इन क्रियाओं की प्रतिदिन करते रहना, कभी न छोड़ना ही आवश्यकपरिहाणि भावना है।

15. मार्गप्रभावना भावना—कल्याण के मार्ग को ही जिनागम में मार्ग कहा गया है, वह मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को एकता रूप मोक्षमार्ग ही है, ऐसे उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की प्रभावना करना, उसके प्रभाव को प्रकट करना ही मार्गप्रभावना नामक पन्द्रहवीं भावना है।

अनादि से यह आत्मा मिथ्यात्व-रागादि से सहित है तथा दुःख भोग रहा है, किन्तु अब मनुष्य जन्म, इन्द्रियों की पूर्णता, मति-श्रुतज्ञान की शक्ति, परमागम की शरण, साधर्म्य का समागम आदि सभी योग्य वस्तुएँ मिली हैं तो अब रागादि का नाश करके मुक्तावस्था को प्राप्त करना, यही सच्ची मार्गप्रभावना है। प्रथम तो यही आत्म-प्रभावना ही करने योग्य है। पश्चात् तप, ज्ञान, पूजा आदि से अन्य जनों को प्रभावित करना। जैनधर्म का अतिशय प्रकट करना, ऐसे धार्मिक कृत्य जिनसे जिनधर्म का माहात्म्य प्रकट हो, वह परात्म प्रभावना कहलाती है। जिन भक्ति, शास्त्र व्याख्यान करना, कराना, दान देना, जिनमन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठादि करवाना, ये सभी परात्म प्रभावना के कार्य हैं जो जगत् जनों की प्रभावित करने वाले होते हैं।

शील की दृढ़ता, परिग्रहपरिमाणता आदि से आत्मप्रभावना भी होती है तथा मार्ग प्रभावना भी। अतः तन-मन-धन से मार्ग की प्रभावना करने में उद्यत होना, यही मार्गप्रभावना भावना का सार है।

16. प्रवचनवत्सलत्व भावना—देव-शास्त्र-गुरु तथा इनके मानने वालों को 'प्रवचन' संज्ञा दी गई है, इस प्रकार देव-गुरु-धर्म तथा इनके मानने वालों के प्रति प्रीतिभाव रखना, वात्सल्यभाव रखना सो प्रवचन-वत्सलत्व भावना कही गई है।

समस्त विषयों की आशा से रहित, निराम्भी, अपरिग्रही, ज्ञान व ध्यान में ही सदा लीन रहने वाले ऐसे साधु, व्रतों के धारक, पापभीरु, न्यायमार्गी, मन्दकषायी व सन्तोषी, ऐसे श्रावक-श्राविकाओं के गुणों में अनुराग धारण करना वात्सल्य है। स्त्रीपर्याय में व्रतों की उत्कृष्ट भर्यादा का पालन करने वाली आर्थिका आदि के गुणों में अनुराग वात्सल्य है।

अनादि से यह जीव स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि में तो राग करता आ रहा है, धनिक हुआ तो

धन के प्रति रागी हुआ, अति तृष्णावान् हुआ, कुपात्रों को दान दिया, तो नीच-गतियों में गया, किन्तु अब इनसे बचने के लिए अर्हन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु, स्याद्वाद रूप परमागम, दयारूप धर्म, जिनमन्दिर का वैयावृत्य, दानादि, जिनसिद्धान्त व धर्म में प्रीति व वात्सल्य भाव ही धारण करना योग्य है। वात्सल्य से ही तप, दान, ध्यान, मतिश्रुत-ज्ञान की शोभा बढ़ती है, इसी से जिनश्रुत का सेवन कार्यकारी होता है। इस प्रकार मनुष्य भव के मण्डन रूप इस प्रवचनवत्सलत्व भावना को धारण करना चाहिए।

उपसंहार—इस प्रकार ये सोलहकारण भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण होती हैं। सम्यग्दर्शन के साथ में सभी भावनाएँ मिलकर व अलग-अलग भी तीर्थंकर प्रकृति बन्ध में सहायक हैं, सम्यग्दर्शन के बिना तो सभी 15 मिलकर भी यह कार्य नहीं कर सकतीं, अतएव सम्यग्दर्शन या दर्शनविशुद्धि भावना ही सभी में शिरोमणि है तथा तीर्थंकर प्रकृति जगत् को कल्याणकारी व सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति होने से एक मात्र ऐसी कर्म प्रकृति है जो जगत्-वन्दनीय है। अतः जो भी जीव स्वर्ग-मोक्ष सुख को प्राप्त करना चाहते हैं, उन भव्यों को विधिपूर्वक निर्मल चित्त से हमेशा इन भावनाओं को भाना चाहिए, इनकी उपासना करनी चाहिए।

वैराग्य भावना

प्रत्येक जीव सुख की चाहत में है और इसके लिए नित्यप्रति प्रयासरत भी है; क्योंकि सुख प्राप्ति जीव का ही धर्म है। इस सुख प्राप्ति के प्रयास में प्रथम सुख का स्वरूप ही निर्धारणीय है। 'मनुःस्मृति' में सुख का स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित है—

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।

एतद्विज्ञात्समासेन, लक्षणं सुख-दुःखयोः॥ 4/160

अर्थात् परवशता ही सब तरह से दुःख रूप है, और स्ववशता अर्थात् स्वतन्त्रता ही सुख है। इस प्रकार संक्षेप में सुख व दुःख का लक्षण ही इतना-सा है।

जीव मात्र स्वाधीनता में सुख और पराधीनता में दुःख मानता है। अतः दुःख से बचने व सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय तो मात्र स्वाधीनता की प्राप्ति ही है।

अनादि से जीव सुख की चाहत में स्वाधीन सुख को प्राप्ति पराधीनताओं (कर्म-उदय, संयोग व कर्म परिणामों) से प्राप्त समझता रहा है। जिनसे सुख प्राप्ति समझता रहा, उनके संग्रह, भोग आदि के लिए प्रयासरत भी रहा है, किन्तु ये सभी प्रयास अबतक पर की आश्रितता के ही रहे हैं और यह कार्य रागवृद्धि रूप ही फलित हुआ है। राग, रक्तता, आसक्ति, अनुराग, रति ये सभी लगभग एकार्थवाची हैं, जो कि वास्तव में दुःख स्वरूप, दुःख के कारण व सुख से विपरीत हैं। कविवर दौलतरामजी 'छहढाला' में लिखते हैं—

यह राग आग दहै सदा, तार्तेँ समामृत सेइये ।
 चिर भजे विषय-कषाय, अब तौ त्याग निजपद बेइये ॥
 कहा रच्यो पर-पद में, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै ।
 अब 'दौल' होउ सुखी, स्व-पद रचि, दाव मत चूको यहै ॥ 6/15

वीतरागी जिनेन्द्रप्रभु के वचन राग से वचकर विरक्ति, वैराग्यपूर्वक वीतरागता की प्राप्ति के हैं। इसके लिए सम्यक् अभिप्राय से वस्तु को जानना, पहचानना ही राग के स्थान पर वैराग्य प्राप्ति का सच्चा साधन हो सकता है।

जिनसे विरक्त होना अभिप्रेत है वे हैं—

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ 7/1

तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रहों से विरक्ति ही व्रत है। जीवमात्र को प्रमादपूर्वक पीड़ाकारक (हिंसा), असत् स्वीकृति तथा वचन बोलना (असत्य, झूठ) अदत्त को लेना (स्तेय, चोरी) मैथुन परिणाम व कार्य (अब्रह्म, कुशील) तथा अपने अतिरिक्त पर वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) रूप अन्तरंग रागादि तथा बहिरंग धन-धान्यादि (परिग्रह) ये पाँच पाप कहे गये हैं। इनसे विरक्ति ही व्रत है।

इन पाँचों पापों के होने में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों कारण हैं तथा इन कषायों के लिए राग-द्वेष कारण स्वरूप हैं।

इस तरह राग-द्वेष के कारण कषायें तथा कषायों के कारण पाँचों पाप होते हैं और इनसे जीव दुःखी होता है।

दुःख से बचने के लिए पापों से, पापों से बचने के लिए कषायों से, कषायों से बचने के लिए राग-द्वेष से तथा राग-द्वेष से बचने के लिए मोह से बचना ही दुःख से बचने का उपाय है। इसी को अस्तिपरक विवेचन से देखा जाए तो स्वस्वरूप की प्रीति, प्रतीति व ज्ञान से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा इसी स्वस्वरूप में रमणता से सम्यक् चारित्र द्वारा उपर्युक्त सर्व पर-आसक्ति छूट जाती है और आसक्ति छूटने का नाम ही विरक्ति है। और आसक्ति छूटने पर उनका संयोग भी छूट सकता है। इसप्रकार पर संयोग विरहितता ही वीतरागता का स्वरूप है।

वैराग्य भावनाएँ इसीलिए अत्यन्त उपयोगी हैं कि जिनसे यह जीव संसार, शरीर व भोगों के प्रति आसक्ति से बच जाता है।

अब इन संसार, शरीर व भोगों का स्वरूप क्रमशः अन्वेक्षणीय है, उनमें प्रथम संसार का स्वरूप विचारते हैं—

पंचपरावर्तन रूप भ्रमण-चक्र में पूर्वकृत पुण्य परिणामों के फलस्वरूप जीव को अनुकूल सामग्री, उच्च जाति, शरीर व निर्विघ्न सुविधाओं आदि की प्राप्ति होती है तथा पूर्वकृत पाप परिणामों के फल में जीव को प्रतिकूल सामग्री, नीच जाति, शरीर तथा

ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग :: 447

परेशानियों का समागम मिलता है। ये सभी समागम जीव को संयोग ही हैं, क्षणिक हैं, जीव के अपने व स्वभाव नहीं हैं, स्थायी नहीं हैं। पाप के उदय में मिलने वाले संयोग-वियोग तो सुखस्वरूप-सुखदायी हैं ही नहीं, पुण्योदय में मिलने वाले संयोग-वियोग भी सुखस्वरूप, सुखदायी तो नहीं, किन्तु सुखदायीपने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। हैं तो ये भी यथार्थतया दुःखस्वरूप ही। ऐसा जानकर विवेकी जीव इन पुण्य परिणामों के होने पर भी इन्हें सुखस्वरूप, सुखकारण नहीं मानते हैं अपितु निजाश्रित धर्म परिणाम को ही सुखस्वरूप मानते हैं।

ज्ञानी जीव को सहज ही अनासक्ति पूर्वक हुए पुण्य भावों के फल में उत्कृष्ट समागम प्राप्त होते हैं। नारायण, वलभद्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि जैसे पुण्योदय ज्ञानियों को ही होते हैं और वे ज्ञानी इन पुण्योदयों को भोगते हुए भी दिखाई देते हैं। इस भोग प्रक्रिया में महाभाग्य से मिला अपूर्व पुरुषार्थयोग्य समय, क्षयोपशमज्ञान, विशुद्धि आदि ऐसे व्यतीत होते जाते हैं कि जिनमें समयादि का व्यतीत होना महसूस ही नहीं होता।

समागमों की प्राप्ति तो महाभाग्य से होती है, किन्तु उन समागमों में स्वयं सत्कार्य में जुड़ना, अपने उपयोग को स्वरूप अनुरक्ति व विषय विरक्ति में लगाना पुरुषार्थ है।

ऐसा महापुरुषार्थी सद्गुरु के समागम में उनके प्रति अत्यन्त विनयावनत हो, नम्रभाव से उनको प्रदक्षिणा देकर, स्तुति-पूजा करके उनका समीपस्थ हो, उन धर्म-शिरोमणि से उपदिष्ट वस्तु सत् का स्थायी स्वरूप तथा संयोग व भावों का क्षणिक स्वरूप सुनकर इन संयोगस्वरूप राजपद, स्त्री, पुत्रादि के प्रति की रसानुभूति से विरक्त हो जाता है। उस उपदेश से अपनी अनादिकालीन बुद्धि भ्रमस्वरूप भासने लगती है तथा संसार, शरीर व भोगों का स्वरूप विचारकर उनसे चित्त उचटने लगता है और उत्कृष्ट धर्मस्वरूप अपने निजतत्त्व में प्रीति जुड़ने लगती है।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—

यथा-यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा-तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

यथा-यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।

तथा-तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥ इष्टोपदेश

अर्थात् भेदज्ञान के बल से जैसे-जैसे उत्तम आत्म तत्त्व की संवित्ति (ज्ञान) होने लगती है, तैसे-तैसे सहज ही प्राप्त रमणीय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते हैं। और जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रिय विषयों से रुचि घटती जाती है, तैसे-तैसे स्वसंवित्ति रूप उत्तम विशुद्धता बढ़ती जाती है।

जन्म-मरण रूप संसार महावन में भ्रमण का तो कोई अन्त नहीं है। जीव जन्म-जरा-मरण आदि में निरन्तर दुःखित होते हुए पीड़ित ही रहता है। कभी नरक की स्थिति में निरन्तर छेदन-भेदन की पीड़ा भोगता है, तो कभी पशु पर्याय में बध-बन्धन का दुःख

भोगता है। कभी देवगति में पहुँचकर दूसरे की सम्पदाएँ देखकर उनसे रागी होता हुआ महादुःखी रहता है और मनुष्यगति तो अनेक विपत्तिमय है ही। जन्म के काल से लेकर सम्पूर्ण जीवनकाल तक अनन्तों समस्याओं से भरा जीवन बीतता है। इस प्रकार चारों गति रूप संसार-समुद्र में सम्पूर्णतया सुखी कोई नहीं हैं।

मनुष्यभव में कोई तो इष्टजनों के वियोग-प्रसंगों से दुःखी है, तो कोई अनिष्ट जनों के मिलन-प्रसंगों से दुःखी है। कोई दीन-दारिद्र्य से बिलखते हैं, तो कोई तन में आये रोगों से दुःखी हैं। किसी को गृह-कलह को जन्म देने वाली पत्नी से पीड़ा है, तो कोई दुश्मन के समान मतलबी भाई-बन्धुओं से परेशान है। किसी का दुःख बाह्य में दिखाई देता है, तो कोई अन्तर हृदय में पीड़ित है।

कोई पुत्र प्राप्ति के अभाव में तड़पता है, तो कोई पुत्र प्राप्ति के बाद उसके मरण हो जाने पर रोता रहता है। कोई सन्तान के आज्ञाकारी नहीं होने पर, छोटे लक्षण युक्त होने से दुःखी होता है। कदाचित् पुण्य उदय हो, तो भी सदा सुख-अनुकूलता नहीं रहती, जितना प्राप्त हो उतने से सन्तुष्टि नहीं होती, और अधिक, और अधिक की चाहत में निरन्तर यह जीव दुःखी हो बना रहता है। इस प्रकार इस भव वन में जहाँ दृष्टिपात किया जाए वहीं दुःखदायीपना प्रतिभासित होता है।

यदि इस संसार में ही, पुण्योदय से प्राप्त सामग्रियों में ही सुख होता तो तीर्थंकर महापुरुष आदि महापुण्यशाली जीव क्यों इस जगवास को त्यागकर संयम का पथ अपनाते हुए मोक्षमार्ग आरुढ़ हो सिद्ध बनते? अर्थात् जिस संसार दुःख से तीर्थंकर महापुरुष भी भयभीत हुए, उस संसार में सुख की कल्पना भ्रमरोग हो है।

अब देह का स्वरूप विचारणीय है—

पुद्गल परमाणुओं की आहार वर्णजाओं से निर्मित यह मनुष्य गति, पशुगति का औदारिक देह स्वयं अपवित्र रज-वीर्यादि पदार्थों से निर्मित होकर, हड्डी, मांस, नस, खून, चर्बी आदि अपवित्र वस्तुओं से बनी हुई, केशर, चन्दनादि सुगन्धित पवित्र वस्तुओं के संसर्ग में भी अपनी अपवित्रता से उन सुगन्धित पदार्थों को भी मलिन दुर्गन्धयुक्त करने वाली है तथा सुन्दर से सुन्दर बहुमूल्य वस्तुएँ भी इस देह के संसर्ग से मलिन मल-मूत्रमय हो जाती है। स्वयं अस्थिर स्वभाव वाली है। इसे तो समुद्र-भर जल से भी पवित्र किया जाए तो भी शुद्ध-पवित्र नहीं हो सकती है।

यह रस, रक्त, मांस, मैदा, हड्डी, मज्जा, शुक्र जैसी महामलिन धातुओं से लबालब, चमड़े से लिपटी हुई दिखाई देती है। भीतर से देखने पर यह पता चलता है कि इससे गन्दी तो विश्व में कोई और वस्तु ही नहीं है। आँख, नाक, कान, मुँह, नाभि, मूत्र एवं मल—नौ मलद्वारों से निरन्तर धिनैने पदार्थों का बहना चालू रहता है। अनेक शारीरिक व मानसिक व्याधि-उपाधियाँ जहाँ लगी ही रहती हैं। ऐसे शरीर में से कोई कैसे सुख पा सकता है। और तो और इस देह का तो जितना पोषण करो, इसे सुविधाएँ दो, उतनी ही अकड़ती व

बीमारियों से घिरी रहती है, बल्कि इसका जितना शोषण, दोहन, मेहनत करो, उतनी स्वस्थ व अनुकूल रहती है। वास्तव में तो इस देह का स्वरूप ही दुर्जन जैसा है। इस देह से तो मूर्खों की ही प्रीति होती है। यह देह तो मूर्खों द्वारा ही प्रीतियोग्य है।

यह देह रचने-पचने, पसन्द आने योग्य नहीं है, किन्तु विरक्ति सीखने योग्य है वैराग्य धारण करने योग्य है। जैसे काणे गन्ने को कोई चूसे तो दुःख व बीमारियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु यदि उसे भूमि में वो दिया जाए तो उत्तम फलदायी होता है। इसी प्रकार यह देह भी काणे गन्ने के सदृश बीमारियों का घर, दुःखदायी है, किन्तु यदि इस देह को पाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक संयम के मार्ग में जोड़ दिया जाए, तो कर्म काटने का साधन भी यही देह बन जाए, और यही सारभूत है।

और अब अन्त में विरक्ति का साधन भोग भी विचारणीय हैं—

भोक्ता द्वारा जो भोगे जाएँ ऐसे स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय भोग कहलाते हैं। जो पुण्योदय में प्राप्त हों वे अनुकूल तथा जो पापोदय में प्राप्त हों वे प्रतिकूल माने जाते हैं।

शास्त्रों में भोगों को भोग और उपभोग—दो रूपों में व्याख्यायित किया है, वहीं भोगों को काम और भोग इन दो रूपों में भी बाँटा गया है।

वहाँ प्रथम भोग और उपभोग रूप भोगों की चर्चा तो 'श्रावकाचार' आलेख में शिक्षाव्रतों की चर्चा करते हुए की ही गयी है, पुनरुक्ति भय से इसे संक्षेप में देखा जाये तो भोगने योग्य पदार्थ जो एक बार ही भोगे जाएँ वे भोग हैं तथा जो पुनः पुनः भोग्य हों वे उपभोग हैं। जैसे क्रमशः भोजन आदि भोग्य हैं तथा वस्त्र, आभूषणादि उपभोग्य हैं।

आचार्य जयसेन स्वामी ने 'समयसार' ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीका में चौथी गाथा में कहा है कि स्पर्शन एवं रसना इन्द्रिय सम्बन्धी तीव्र आसक्ति भाव के जनक विषय काम हैं तथा घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रिय सम्बन्धी भोग-विषय भोग हैं।

पुण्योदय से प्राप्त यह भोग-सामग्री जीव के आसक्ति भाव को बढ़ाने में ही सहयोगी होती रही है, विरक्ति भाव तो लगभग पापोदय में ही जाग्रत होता देखा गया है। तीर्थकरादि महापुरुष भी गृहस्थदशा में प्राप्त पुण्योदय में तो भोगवृत्ति में ही लगे रहे हैं, उन्हें भी विरक्ति भाव तो पुण्योदय में बाधा पड़ने पर ही पैदा होता है, वृद्धिगत होता है।

आचार्य यतिवृषभ स्वामी तो 'तिलोपपण्णति' में कहते हैं—

पुण्णेण होइ विहओ, विहवेण मओ मएण मइमोहो।

मइमोहेण य पावं, तम्हा पुण्णोवि वज्जेज्जो ॥ १/५२ ॥

चूँकि पुण्य से विभव, विभव से मद, मद से मतिमोह और मतिमोह से पाप होता है, इसलिए पुण्य को भी छोड़ना चाहिए।

ऐसा कहकर आचार्य देव पुण्य की उपादेयता, पुण्य में धर्मबुद्धि छुड़ाना चाहते हैं, पुण्य नहीं।

ऐसे पुण्य के उदय से प्राप्त विषय-भोग साधन भवरोग बढ़ाने वाले होने से इस जगत् में जीव के दुश्मन ही हैं, क्योंकि ये भोग भोगते समय ही मधुर लगते हैं, फलकाल में तो ये दुःख रूप ही होते हैं। वज्र, अग्नि, विष एवं विषधर सर्प इस लोक में दुःखदायी प्रसिद्ध हैं, किन्तु ये भोग तो इनसे भी अधिक दुःखदायी हैं। धर्मरूपी रत्न के तो ये चोर हैं, चपलता लिये हुए हैं और दुर्गति के मार्ग में धकेलने वाले हैं।

मोह के उदय में ही अज्ञानी जीव को ये भोग भले-से लगते हैं। जैसे कोई व्यक्ति धतूरा खाकर सभी सामग्री को कंचन रूप मानने लग जाता है। इन भोगों का स्वरूप तो ऐसा है कि जैसे-जैसे इस जीव को मनोहारी भागों की प्राप्ति होती है, तैसे-तैसे इनकी और अधिक प्राप्ति की अभिलाषा बढ़ती ही जाती है, ये तो तृष्णा रूपी नागिन के डसे हुए ही हैं।

मैंने अब तक अनेक जन्मों में, अनेकों बार बड़े-से-बड़े राजे-महाराजे के पद भी पाये हैं, और निरन्तर बहुतेरे भोग भोगे हैं, फिर भी मेरी मनोभिलाषाएँ जरा-सी भी पूरी नहीं हो पायीं हैं। राज्याधिकार-राज्य सम्पदाएँ और समाज ये सब तो महान पाप के कारण हैं और निरन्तर बैरभाव की वृद्धि कराने वाले हैं। तथा यह पुण्योदय में प्राप्त लक्ष्मी भी वेश्या के समान चंचला है, इसका तो कोई एक पति/स्वामी नहीं है, जिस की जेब में हो वही उसका मालिक बन बैठता है, मान लेता है।

वास्तव में, मोह ही हमारा महाशत्रु है, जो इस जीव को संसार-भ्रमण के संकट में फँसा लेता है और ये शरीर रूपी कारागृह (जेल), स्त्री रूपी बेडी और परिजन लोग इस जेलखाने के रखवाले हैं। ये सब तो मोह के प्रतिनिधि हैं। इनका कार्य मुझे मोहजाल में फँसाये रखना है। मेरे हितकारी तो मात्र सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य व तप—ये ही हैं, ये ही सार स्वरूप हैं, और बाकी सब तो असार, अप्रयोजनभूत, वेमतलव के हैं। यह विचार कर विरक्ति भाव ही भाने योग्य है।

बड़े-बड़े महापुरुष चक्रवर्ती आदि ने भी ऐसा विचार कर उनके पास उपलब्ध पुण्योदय स्वरूप रानियाँ, करोड़ों घोड़े, लाखों हाथी, पैदल सेना, रत्न आदि सभी को जीर्ण तिनके के समान जानकर, वैराग्य अंगीकार कर, योग्य पुत्रादि को उत्तराधिकार सौंपकर, मुनिराजश्री के समक्ष उनके चरणों में विनती करके नग्न दिगम्बर मुनि-मुद्रा धरकर, पंचमहाव्रत पाल, सामायिक आदि चारित्र्य में स्वरूपस्थ हो अपने इस प्राप्त नरभव को केवलज्ञानादि प्राप्तकर सफल दिया है।

वे जीव धन्य हैं, सुकृतार्थ हैं, जिन्होंने ऐसी आत्मानुरक्ति में विषयविरक्ति अंगीकार की है।

धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरज धारी।

ऐसी सम्पत्ति छोड़ बसे वन, तिन पद धोक हमारी॥

पं. दौलतराम जी ने 'छहढाला' में भी कहा है—

धनि धन्य हैं वे जीव नर-भव पाय यह कारज किया।

तिन ही अनादी भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ॥ 6/13 ॥

हम सभी भी महापुरुषों द्वारा कृत की अनुमोदना करते हुए स्वयं भी ऐसे विष- सम पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त हो आनन्ददायी निज आत्मतत्त्व के अनुरागी हों—

समाधिभावना

आधि, व्याधि एवं उपाधि से पार निजस्वरूप की समझ, पहचान एवं श्रद्धापूर्वक रमणता से उत्पन्न सहज समताभाव ही समाधि है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की सम्यक् श्रद्धा, जीवा-अजीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ अवबोध पूर्वक स्व-पर के सम्यक् भेदविज्ञान से उत्पन्न निजस्वरूप की प्रतीति विश्वास ही इस जीव को कषायादि विभावों से बचाने तथा सम्यक् समता भावों का रसास्वाद कराने में समर्थ है।

ऐसी समता के बल से जीव आनन्दमय जीवन जीने की कला में पारंगत हो, संयोग-वियोगों के स्वरूप को समझता हुआ, अविचलित परिणति में जीता हुआ, जीवन-मरणादि प्रसंगों का मात्र ज्ञाता रहकर मोहोत्पन्न आकुलताओं से बचता हुआ परिस्थितियों का साक्षी ही रहता है।

देह वियोग के प्रसंग को इस साक्षीभाव से जानना ही समाधि है। ज्ञानी जीव मृत्यु-प्रसंग को आयु का अन्त देखता है, न कि जीव का अन्त, जीवन का अन्त। जीव का जीवत्व तो अनादि-अनन्त है। अतः निरन्तर आनन्दोत्पत्ति का प्रसंग बना रहता है।

ऐसा जीव उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था, अशक्य-असाध्य रोगादि के प्रसंग उपस्थित होने पर ऐसी भावना भाता है कि —

“दिन-रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ।

देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ ॥”

मैंने जीवन-काल में अनेक प्रकार के सम्बन्ध जोड़कर अनेक शत्रु-मित्र बनाये हैं। पूर्वकालीन भूलों से तो शत्रु-मित्र का समागम मिला, किन्तु मैंने वर्तमान में नये शत्रु-मित्र बनाए हैं। निजस्वभाव की सम्पूर्ण सुखमयता को भूलकर पर पदार्थों के सम्बन्ध से अपने में पूर्णता का कामना करते हुए राग-द्वेषात्मक शत्रु-मित्रता के अनेक सम्बन्ध जोड़े। अब यह समस्त प्रकार के सम्बन्धों से विरक्ति का अवसर आया है, इसलिए उन सभी के प्रति हृदय में सहज सौम्य क्षमाभाव धरकर तथा उनसे क्षमाभाव धारण की प्रार्थना करके क्रोध-मानादि कषायों से स्वयं को बचाने का भाव उग्रतर होता रहता है। इस देह के पोषण हेतु अब तक विविध प्रकार के व्यंजनों की व्यवस्था का भाव निरन्तर बनाये रखा, किन्तु यह देह तो निरन्तर जर्जरित होने के लिए ही है, ऐसा जानकर यथावसर आहार, दूध, छाछ, गरम

जल आदि का क्रमिक त्याग भाव लाकर हृदय में ऐसी दृढ़ता बनाए रखकर, मेरा लिया हुआ कोई भी नियम न टूटे ऐसी जागरूकता का पुरुषार्थ बना रहे ऐसी— भावना निरन्तर भाने योग्य है।

शरीर के रुग्ण स्वभाव अनुसार दैहिक वेदनाओं के प्रसंग में मेरा चित्त आकुलित, कषायित न हो, जिससे मैं दुर्ध्यान (आर्त-रौद्रध्यान) से बचा रहूँ। निरन्तर अर्हन्त-सिद्ध-साधु के स्वरूप व उनके प्रति विनयावनत रहते हुए, मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य व तप आराधना रह आत्मस्वरूप में मग्नता, आनन्दमयता ही विचारता रहूँ।

निरन्तर साधर्मियों का मुझे संग मिलता रहे, वे मुझे निरन्तर धर्मचर्चा से लाभान्वित करते रहें, मेरा अन्तर पौरुष बढ़ाते रहें व मुझे सावधान रखें कि जिससे मैं विषय-कषायों की दलदल में गाफिल न हो जाऊँ।

मेरा हृदय जीवन की अभिलाषा तथा मरण की चाह रूपी रोग से बचा रहे, मित्रजन-परिवारजन से भी मेरा राग टूटता जाए। पूर्व में भोगे हुए भोग भी मुझे याद न आवें तथा आगामी भव में भी इन्द्रपद-राजपद आदि की चाह न जगे।

इस तरह सर्व संयोग-वियोगों में समदर्शी रहकर स्वस्वभाव के स्मरण-ज्ञान, श्रद्धान व रमणतापूर्वक इस देह के वियोग प्रसंग को मैं सहज समता के भावों में रह, निडर होकर ज्ञाता दृष्टापने रूप अपने को अनुभव करता रहूँ।

समाधि की प्राप्ति के लिए समाधि की भावना बीजभूत उपक्रम है।

प्रत्येक साधर्मी की यही भावना रहती है या रहनी चाहिए— मैं निरन्तर अर्हन्त-सिद्ध-साधु तथा उनके द्वारा प्रणीत जिनधर्म की शरण में रहकर ज्ञानरत रह देह रहित होने का पुरुषार्थ जागृत करता रहूँ।

मोक्षमार्ग

गागर में सागर भर देने वाली हिन्दी भाषा की कविवर पं. दौलतराम जी कृत 'छहढाला' में मोक्ष व मोक्षमार्ग का स्वरूप इस प्रकार उद्घाटित किया गया है—

आत्म कौं हित हैं सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।

आकुलता शिव माँहि न तातैं शिव-मग लाग्यौ चहिए॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो।

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारन सो व्यवहारो॥ 3/1॥

अर्थात् जगज्जंजाल में दुःखपूर्वक भ्रमण करते हुए जीव को दुःख से बचने तथा सुखी होने का स्वरूप तथा उपाय इतना ही है कि—

आत्मा का हित सुख स्वरूप है और वह सुख आकुलता से रहित ही होता है। आकुलता मोक्ष में नहीं है अर्थात् मोक्ष निराकुल स्वरूप है। इसलिए सुखी होने के लिए मोक्षमार्ग में लग जाना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्य रूप मोक्ष का मार्ग है। वह भी निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। जो सत्यार्थ, यथार्थ रूप है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो इस यथार्थ मोक्षमार्ग की प्राप्ति का कारण है, उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि मोक्ष मात्र स्थान विशेष या घटना-विशेष नहीं है। मोक्ष जीव की वह परिणति-अवस्था है, जिसमें जीव निराकुल, स्वाधीन, स्थायी सुख का वेदन करता रहता है और ऐसा सन्तुष्ट रहता है कि वहाँ से पुनरागमन सम्बन्धी विकल्प को भी फुरसत नहीं मिलती। दुःखजनक सम्बन्धों का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, जन्म-जरा-मरण जैसी सार्वकालिक व्याधियों से जिसका कोई वास्ता नहीं रहा, राग-द्वेष-मोह जैसी सर्वांगीण सर्वथा दुःखमयी वृत्तियाँ जहाँ जन्म ही नहीं ले पातीं, बन्धनस्वरूप व बन्धनकारी कर्मों का अभाव हो चुका है। मात्र स्व-स्वरूप साम्राज्य तथा उसके ज्ञान, रमणता द्वारा ऐकान्तिक सुख का भोग ही होता रहता है, ऐसी परम तृप्त दशा का नाम ही मोक्ष है।

जब तक इस जीव को मोक्ष सुखस्वरूप नहीं भासे, तब तक जीव उसकी प्राप्ति का प्रयास भी प्रारम्भ नहीं करता है और तब तक दुःखकारणों में ही सुख प्राप्ति की आकांक्षा रखते हुए निरन्तर दुःखित होता रहता है।

समस्या यह है कि यह जगज्जीव विषय-भोग जनित पराधीन दुःखों में कमी को सुख रूप में कल्पता आया है। इस अज्ञानी जीव को स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन सम्बन्धी विषयों की अनुकूलता में ही सुखपने की बुद्धि है, और अधिक अनुकूलता में ही सच्चे सुख की अभिलाषा है। स्वर्ग सम्बन्धी वैभव और अनुकूलता को अधिक सुखमयी गिनता है। इस कारण मोक्षसुख को स्वर्गसुख से अनन्तगुणा सुखमयी सुनकर तत्सम्बन्धी अधिक अनुकूलता को अनन्तगुणा करके मोक्ष सुख रूप कल्पना किया करता है, परन्तु इस स्वर्गलोक के इन्द्रिय जन्य, कर्मोदय की पराधीनता लिए हुये और विनाशीकता लक्षण काल्पनिक सुख से अनन्तगुणा तो अनन्त दुःख ही होना चाहिए। मोक्ष में ऐसा सुख बिल्कुल नहीं है। मोक्ष में तो अतीन्द्रिय, स्वावलम्बन पूर्वक, अनुपम ज्ञानानन्दमयी स्वसत्ता से उत्पन्न विच्छेदरहित, अविनाशी सुख ही है। वह सुख ही यथार्थ सुख है।

मुक्ति (मोक्ष) का मार्ग ऐसा रमणीय विषय है, जो सुनने, विचारने, समझने वाले को अत्यन्त प्रिय होता है और होना भी चाहिए। इसीलिए सर्वज्ञभगवन्तों की दिव्य देशना से लेकर वीतरागता के आराधक सन्तों की लेखनी भी मात्र इसी मुक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में ही प्रस्फुटित हुई है। अन्य कोई विषय स्वाधीन, स्थायी सुखाभिलाषी

के लिए रमणीय हो भी नहीं सकता है। यदि महापुरुषों का जीवन-चरित्र वर्णन भी करते हैं, तो इसी स्वाधीनता के मार्ग को उन महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कैसे धैर्यपूर्वक अंगीकार किया है, का दर्शन कराया गया है। जीवों के परिणाम, कर्मबन्धन स्वरूप, त्रिलोक रचना आदि का वर्णन भी जीव को जगत से विमुख कराकर स्व-सन्मुखता के लिए ही है। खाना-पीना आदि की क्रिया के बदलाव से लेकर रागादि के परिहार का उपदेश भी आत्म रमणता रूप पुरुषार्थ के लिए ही है, और तत्त्व-द्रव्य व्यवस्था का ज्ञान भी स्वतत्त्वाभ्यासी होने मात्र के लिए ही कराया गया है।

अर्थात् समग्र उपदेश मात्र स्वतत्त्व रसिक, स्वोन्मुख, स्वतत्त्व प्रीति, स्वतत्त्व प्रतीति, स्वतत्त्व विश्वास, स्वतत्त्वज्ञान एवं स्वतत्त्व रमणता रूप चारित्र-ध्यान की सिद्धि के लिए ही है। पर-तत्त्वों का ज्ञान भी 'उनमें मेरी चेतनता नहीं पाई जाती' कहकर निज चेतनरस लेने के लिए ही है।

जहाँ चेतनता नहीं, वहाँ खोजने का प्रयास निराशा के अलावा कुछ नहीं दे सकता है, इसलिए चेतनता-जन्य आनन्द को चेतन में ही खोजने से खोज की सार्थकता और सुख की प्राप्ति का उपाय सफल होता आया है।

आचार्य अकलंक देव ने 'सिद्धिविनिश्चय' में वृत्ति सहित कहा है—

आत्मलाभं विदुर्भोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।
नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥ 7/10 ॥

अर्थात् आत्मस्वरूप के लाभ का नाम मोक्ष है, जो कि जीव को अन्तर्मल का क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है। मोक्ष में न तो आत्मा का अभाव होता है, न ही आत्मा ज्ञानशून्य अचेतन होता है। मोक्ष में आत्मा का ज्ञान निरर्थक भी नहीं होता है; क्योंकि वहाँ भी यह जगत्त्रय को साक्षी भाव से जानता तथा देखता रहता है। जैसे बादलों के हट जाने पर सूर्य अपने स्व-पर प्रकाशकपने को नहीं छोड़ता वरन् अधिक स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है, उसी प्रकार कर्ममल का क्षय हो जाने पर आत्मा अपने स्व-पर प्रकाशकपने को नहीं छोड़ देता।

आचार्य उमास्वामी रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ में सर्वप्रथम सूत्र द्वारा मोक्षमार्ग का स्वरूप निर्धारित किया गया है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ 1/1 ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता हो मोक्षमार्ग है।

औषधि के पूर्णफल की प्राप्ति के लिए जैसे उसका श्रद्धान, ज्ञान व सेवनरूप क्रिया आवश्यक है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों के मेल से उनके फल की प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्र का अभाव होने के कारण ज्ञान मात्र से, ज्ञानपूर्वक

क्रिया रूप अनुष्ठान के अभाव के कारण श्रद्धानमात्र से, और ज्ञान तथा श्रद्धान के अभाव के कारण क्रिया मात्र से मोक्ष नहीं होता, क्योंकि ज्ञान व श्रद्धान रहित क्रिया निष्फल है इसलिए मोक्षमार्ग के तीन पने की कल्पना जाग्रत होती है। कहा भी है—“क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। एक चक्र से रथ नहीं चलता, अतः ज्ञान-क्रिया का संयोग ही कार्यकारी है। जैसे कि दावानल से व्याप्त वन में अन्धा व्यक्ति तो भागता-भागता भी जल जाता है और लँगड़ा व्यक्ति देखते-देखते जल जाता है। यदि अन्धा और लँगड़ा दोनों मिल जाएँ और अन्धे के कन्धों पर लँगड़ा बैठ जाए, तो दोनों का उद्धार हो जाएगा। तब लँगड़ा तो रास्ता बताता हुआ ज्ञान का कार्य करेगा और अन्धा चलता हुआ चारित्र का कार्य करेगा। इस प्रकार दोनों ही वन से बचकर नगर में आ सकते हैं।”

आचार्य अकलंक देव, तत्त्वार्थ राजवार्तिक 1/1/49

कविवर पं. दौलतराम जी ने ‘छहढाला’ में कहा है—

मोक्षमहल की परधम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दरसन धारो भव्य पवित्रा॥
‘दौल’ समझ सुन चेत सयाने काल वृथा मत खोवै।
यह नरभौ फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहीं होवै॥ 3/17 ॥

अर्थात् मोक्षरूपी महल में प्रवेश करने के लिए सर्वप्रथम सोपान पवित्र सम्यग्दर्शन है, इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते हैं। हे भव्य! सबसे पहले इस सम्यग्दर्शन को धारण करो, कविवर दौलतराम जी कहते हैं कि हे चतुर! सुनो, समझो, चेत जाओ। व्यर्थ काल बर्बाद मत करो। क्योंकि यदि यह सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ, तो पुनः मनुष्य भव का मिलना दुर्लभ हो जाएगा।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल स्तम्भ है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो ज्ञान सम्यक् होता है और न चारित्र ही। इसीलिए सम्यग्दर्शन को मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी कहा गया है। सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र में अंक और शून्य का सम्बन्ध है। चाहे जितने भी शून्य हों, अंक के अभाव में उनका कोई महत्त्व नहीं होता। यदि शून्य के पूर्व एक ही अंक हो तो कीमत होती है। अंक उपरान्त शून्य से तो दशगुनी कीमत होती जाती है अर्थात् अंक के साथ शून्य होने पर अंक और शून्य दोनों ही का महत्त्व बढ़ जाता है। सम्यग्दर्शन अंक है और सम्यक् चारित्र शून्य। सम्यग्दर्शन से ही सम्यक् चारित्र का तेज प्रकट होता है। सम्यग्दर्शन रहित चारित्र तो उस अन्ध व्यक्ति की तरह है, जो निरन्तर चलना तो जानता है पर लक्ष्य का पता नहीं है। लक्ष्यविहीन यात्रा, यात्रा नहीं, भटकन है। इसीलिए आचार्य परम्परा ने सम्यग्दर्शन से ही मार्ग का प्रारम्भ कहा है।

सम्यग्दर्शन

विभिन्न दृष्टियों से सम्यग्दर्शन के अनेक लक्षण जिनागम में बताए गये हैं। यथा—

1. परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु पर तीन मूढ़ता, आठ मदों से रहित एवं आठ अंगों युक्त श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभूताम्।

त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ 4 ॥

आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार

2. तत्त्वार्थ की यथार्थ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ 1/2 ॥

आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र

3. स्व-पर का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति ॥ 314, 315

आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार आत्मख्याति टीका

4. आत्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

विशुद्ध-ज्ञानदर्शन-स्वभावे निज-परमात्मनि यत् रुचिरूपं सम्यग्दर्शनम् ॥ 38 ॥

आचार्य जयसेन, समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका

सम्यग्दर्शन के उक्त चारों मुख्य लक्षणों में सर्वांगीण स्वरूप विवेचन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन में समाहित है।

सर्वज्ञता, वीतरागता एवं हितोपदेशिता लक्षण सच्चे देव, पूर्वापर विरोध रहित, आत्महितकारी जिनोपदिष्ट, वीतरागता पोषक सच्चे शास्त्र तथा विषय-कषाय और आरम्भ-परिग्रह रहित, ज्ञान-ध्यान और तप में लीन, नग्न दिगम्बर भुनिराज-सच्चे गुरु का श्रद्धान भी उनके द्वारा गृहीत, उपदिष्ट तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन को प्रसिद्ध करता है।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों में से सारभूत सर्वप्रथम जीवत्व ही प्रयोजनभूत हैं, आश्रय योग्य आराध्य तत्त्व हैं, अन्य सभी तत्त्व ज्ञेय-हेय एवं प्रगट करने योग्य तत्त्व हैं। सभी तत्त्वों का जानने वाला भी जीव ही है। इसलिए आश्रय योग्य स्व-स्थायी तत्त्व परम उपादेय हैं। अजीव-कि जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन आदि चैतन्य निजत्व न पाया जाए, वे मात्र ज्ञेय हैं। (मात्र ज्ञान से जानने में आने वाले ज्ञेय हैं।) राग-द्वेष-मोहादि रूप आस्रव तथा तदनुसारी कर्मबन्ध, उदयादि रूप बन्ध ये

ध्यान, भावना एवं मोक्षमार्ग :: 457

तत्त्वद्वय हेय हैं (छोड़ने योग्य हैं)। आस्रव से रहित निजाश्रित संवर-निर्जरा रूप परिणाम प्रकट करने योग्य उपादेय तथा कर्म से असम्बद्ध, स्वाधीन, स्थायी सुखरूप परिणाम मोक्ष, प्रकट करने योग्य परम उपादेय तत्त्व हैं।

तत्त्व व्यवस्था में आश्रय योग्य निजतत्त्व और बाकी सभी को परतत्त्व रूप जानकर स्व-पर भेदज्ञान रूप सम्यक्त्व लक्षण भी क्रमिक विकास रूप है।

स्व-पर भेदभाव पूर्वक मात्र निजाश्रित परिणति, स्वभाव आश्रित परिणाम, स्वाधीन परिणाम स्वरूप आत्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

मोक्षार्थी जीव का क्रमिक प्रवर्तन सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में आकर, तत्त्व व्यवस्था से परिचित होकर, स्व को आश्रय योग्य और अन्य सभी को उदासीन होने योग्य जानकर मात्र ज्ञान स्वभावी स्वतत्त्व में सन्तुष्टि रूप होता है, तब यह जीव सम्यक्त्व रूप सुख को पाता है।

विरले ही जीव इस सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से अलंकृत हो पाते हैं, जिसकी सामर्थ्य तो जीव मात्र में है, किन्तु कुछ तात्कालिक योग्यताएँ आवश्यक हैं, जिनमें भव्य, संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, विशुद्धतर लेश्या वाला, अन्याय-अनीति-अभक्ष्य सेवन से विरहित जागृत जीव ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का अधिकारी है।

जिन लब्धियों पूर्वक यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वे पाँच हैं—

1. क्षयोपशम—कर्मों के क्षयोपशम से तत्त्व-विचार की शक्ति की उपलब्धता।
2. विशुद्धि—कषायों की मन्दता जन्य स्वपुरुषार्थ के लिए परिणामों की विशुद्धता।
3. देशना—सच्चे-देव-शास्त्र गुरु के समागम से सम्यक् तत्त्व श्रवण-मनन-चिन्तन द्वारा आत्मजागृति के लिए तैयार होना।
4. प्रायोग्य—परिणामों की विशुद्धतावश सत्ता में रहे हुए कर्मों की स्थिति घटकर अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागर मात्र रह जाने रूप तथा प्रतिसमय बँधने वाली कर्म प्रकृतियों का क्षीण हो जाना।
5. करण—परिणामों की उत्तरोत्तर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि, जिसमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप आत्मलक्षी परिणाम कि जिसके फल में स्व संवेदन रूप सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है।

यह सम्यग्दर्शन 'तन्निर्गजनिर्गममाद्वा' अर्थात् निर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का होता है।

1. जब जीव बिना किसी प्रत्यक्ष निमित्त के स्वावलम्बी होता है, वह निर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है।
2. परोपदेश पूर्वक प्रकट होने वाला आत्मलक्ष्मी परिणाम अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

इनमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनबिम्ब दर्शन, वेदनानुभव, देव ऋद्धि दर्शन, जिन

महिमा दर्शन आदि सहयोगी होते हैं।

सराग-वीतराग के भेद से भी सम्यग्दर्शन द्विविध रूप से आगम में वर्णित है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि गुणों से अभिव्यक्त राग अवस्था में होने वाला आत्म-श्रद्धान जिसमें अभी राग-द्वेष रूप चारित्रमोह का मन्द उदय निमित्त होने पर भी दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप अविरति या देशविरति रूप मोक्षमार्ग प्रकट होता है, वह सराग सम्यग्दर्शन है।

जहाँ रागादि विकृत परिणामों से रहित मात्र शुद्धोपयोग रूप परिणति ही होती है कि जिसमें श्रेणी आरोहणपूर्वक केवलज्ञान तक का उद्भव हो जाता है? वह वीतराग सम्यग्दर्शन है। यह वीतराग चारित्र का अविनाभावी होता है।

निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन के रूप में भी सम्यग्दर्शन दो भेद वाला कथित है—

शुद्ध आत्म तत्त्व की यथार्थ प्रतीति रूप श्रद्धानभाव निश्चय सम्यग्दर्शन है और इसके सहयोगी स्व-पर भेदविज्ञान, तत्त्व श्रद्धान एवं आप्त-आगम-तपोभृत (देव-शास्त्र-गुरु) की यथार्थ श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व विरोधी कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, क्षय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन त्रिविध कहा गया है—

अष्ट कर्म रचित जंजाल में दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति रूप तीन तथा चारित्र मोहनीय जन्य अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय चतुष्क के उपशमन पूर्वक उत्पन्न होने वाला निजानन्दी स्वलक्ष्य ही उपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

उक्त दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियाँ तथा चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क के सर्वथा क्षय से उत्पन्न मेरुवत् निष्कम्प, स्वसन्तुष्ट, आत्मावलोकन ही क्षायिक सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह सम्यक्त्व प्राप्ति उपरान्त चिर स्थायी होता है। इसकी उपलब्धि केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में ही सम्भवित होती है।

इस मोहनीय कर्म की दर्शनमोह सम्बन्धी मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व तथा चारित्रमोह सम्बन्धी अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क रूप छह सर्वघाती प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, इन्हीं प्रकृतियों का सदवस्था में उपशम रूप अवस्था तथा देशघाती वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ, परमावगाढ रुचि के भेद से भी सम्यग्दर्शन के दश प्रकार विभक्त किए गये हैं—

1. आज्ञा सम्यक्त्व—वीतराग जिनेन्द्र की आज्ञा मात्र के श्रद्धान से उद्भूत सम्यग्दर्शन।
2. मार्ग सम्यक्त्व—मोक्षमार्ग को कल्याणकारी समझकर उस पर अचल श्रद्धान।
3. उपदेश सम्यक्त्व—तिरेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान।

4. सूत्र सम्यक्त्व—मुनिराजों के चरित्र निरूपक शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान्।
5. बीज सम्यक्त्व—बीज पदों के ज्ञान पूर्वक होने वाला असाधारण उपशमवश श्रद्धान्।
6. संक्षेप सम्यक्त्व—संक्षिप्त तात्त्विक विवेचन के श्रवण से उत्पन्न तत्त्व-श्रद्धान्।
7. विस्तार सम्यक्त्व—अंग-पूर्व के विषय, प्रमाण, नयादि के विस्तृत तत्त्वविवेचनोत्पन्न सम्यक्श्रद्धान्।
8. अर्थ सम्यक्त्व—वचन विस्तार बिना केवल अर्थ ग्रहण से उत्पन्न तत्त्व श्रद्धान्।
9. अवगाढ़ सम्यक्त्व—आचारांगादि द्वादशांग के साथ अंगबाह्य श्रुत-अवगाहन से उत्पन्न दृढ़ श्रद्धान्।
10. परमावगाढ़ सम्यक्त्व—परमावधि या केवलज्ञान-दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाश में जिनकी आत्मा विशुद्ध है, वे परमावगाढ़ रुचि सम्यक्त्व युक्त हैं।

उक्त विविध भौति वर्णित अनेक भेद युक्त सम्यग्दर्शन वास्तव में आत्म विनिश्चित रूप ही है। अस्ति रूप में तो सम्यग्दर्शन में मात्र स्वतत्त्वभूत ज्ञानानन्दमयी अनादि-अनन्त उपयोगमयी, स्वनिर्मित, सहज, प्रकट आत्मतत्त्व का श्रद्धान् ही है।

नास्ति रूप में कर्मों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिरूप अनेक तरह से वर्णन किया ही गया है।

यह सम्यग्दर्शन इन अष्ट अंगों से सुशोभित होता है—

(1) निःशंकित—जिनेन्द्र कथित व्यवस्थित विश्व व्यवस्था को स्वभाव से नियत, स्थायी तथा अवस्था से क्षणिक जान कर और उसमें अपने को अनादि-निधन, ज्ञाता-दृष्टा रूप मानने में निःशंकता पूर्वक इहलोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, भरण, वेदना और अकस्मात् रूप सातों भयों से रहित अविचल आस्था रखना।

(2) निःकांक्षित—शुभ रूप इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी कर्मफलों तथा कुधर्मों की अभिलाषा रहित निज आत्मोत्थ सुखरूपी अमृत रस में सन्तुष्टि ही निःकांक्षितता है।

(3) निर्विचिकित्सा—समस्त राग-द्वेष आदि रूप मलिन विकल्प तरंगों का त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निज शुद्धात्मा में स्थिति के बल से सभी वस्तु धर्मों या स्वभावों में अथवा दुर्गन्धादि विषयों में ग्लानि या जुगुप्सा नहीं करना, निन्दा नहीं करना, द्वेष नहीं करना ही निर्विचिकित्सा अंग है।

(4) अमूढदृष्टि—अन्तरंग और बहिरंग तत्त्व निर्णय के बल से मिथ्यात्व रागादि

शुभ-अशुभ संकल्प विकल्पों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित, विशुद्ध दर्शन-ज्ञान-स्वभावी निजात्मा में निश्चल स्थिति होने से कुदेव में देवबुद्धि, कुधर्म-अधर्म में धर्मबुद्धि तथा कुगुरु में गुरुबुद्धि नहीं होना ही अमूढदृष्टि है।

(5) उपगूहन—जो चेतयिता सिद्धों की, शुद्धात्मा की भक्ति से युक्त है और पर वस्तुओं के सर्वधर्मों को गोपन करने वाला है अर्थात् रागादि भावों से युक्त नहीं होता है। पवित्र जिनधर्म की अज्ञानी असमर्थ जनों के आश्रय से उत्पन्न हुई निन्दा को दूर करता है, वह उपगूहन गुणधारी है।

(6) स्थितिकरण—कषायोदय आदि से धर्मभ्रष्ट होने के कारण मिलने पर भी अपने धर्म से च्युत नहीं होना, निरन्तर मार्ग में स्थापित रहना तथा अन्य को भी पतनोन्मुख देखकर धर्मबुद्धि रखते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य में दृढ़ करना स्थितिकरण अंग है।

(7) वात्सल्य—जिनधर्म और जिनधर्म धारक धर्मात्मा जनों में अन्तरंग प्रीति रखना। जैसे कि गाय के हृदय में तत्काल जन्मे बछड़े के प्रति अकारण अगाध प्रीति होती है, वात्सल्य अंग है।

(8) प्रभावना—विद्या रूपी रथ पर आरूढ़ हुआ, ज्ञान रूपी रथ के चलने के मार्ग में स्वयं भ्रमण करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि है तथा जिन प्रवचन की कीर्ति, विस्तार या वृद्धि करना जिसका जीवन है, वह जिनधर्म प्रभावक जानना चाहिए।

जिनागम में विस्तार से इन अंगों में प्रसिद्ध महापुरुषों का उल्लेख भी पाया जाता है। उनके नाम क्रमशः निम्न हैं, जिनकी कथाओं को 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आदि ग्रन्थों से विस्तृत जानना चाहिए—

(1) अंजन चोर, (2) अनन्तमती, (3) उद्दायन राजा, (4) रानी रेवती, (5) जिनभक्त सेठ, (6) वारिषेण मुनिराज, (7) मुनिराज विष्णुकुमार, (8) मुनिराज वज्रकुमार।

पवित्र सम्यग्दर्शन में सम्भवित दोष पच्चीस कहे गए हैं, जिनके होने पर सम्यग्दर्शन कलंकित होता है अथवा सम्यग्दर्शन हो ही नहीं पाता है—

आठ दोष :

1. शंका—वीतराग जिनोपदिष्ट तत्त्वों में विश्वास न कर उनके प्रति सशंकित रहना।
2. कांक्षा—भौतिक भोगोपभोग एवं ऐहिक सुखों की अपेक्षा रखना।
3. विचिकित्सा—रत्नत्रय के प्रति अनादर रखते हुए धर्मात्मा जनों के उपेक्षित मलिन शरीर को देखकर उनसे ग्लानि, घृणा करना।

4. मूढदृष्टि—सत्य-असत्य का विचार-विवेक किये बिना उन्मार्ग और उन्मार्गियों के प्रति झुकाव होना।
5. अनुपगूहन—आत्म प्रशंसा और पर निन्दा का भाव रखते हुए धर्मात्माजनों के कादाचित्क दोषों को उजागर कर धर्ममार्ग की निन्दा करना।
6. अस्थितिकरण—कपाय व प्रमाद आदि कारणों से धर्म से स्खलित होते हुए स्वयं या अन्य धर्मात्माजनों को धर्म मार्ग में स्थिर करने का प्रयास न करना।
7. अवात्सल्य—साधर्मियों जनों से प्रेम नहीं करना, उनसे मात्सर्य और विद्वेष रखना।
8. अप्रभावना—अपने छोटे श्रद्धान व आचरण प्रवृत्तियों से धर्म मार्ग को कलंकित करना व धर्म मार्ग के प्रचार-प्रसार में सहभागी न बनना।

आठ मद

क्षणिक संयोगों/भौतिक उपलब्धियों में मदहोश होकर घमण्ड में चूर रहना मद कहलाता है। निमित्तों की अपेक्षा से मद आठ प्रकार के हैं—

1. ज्ञानमद—थोड़ा ज्ञान पाकर अपने-आपको बड़ा ज्ञानी समझना और यह मानना कि मुझसे बड़ा ज्ञानी कोई और नहीं है, ज्ञानमद है। यह अज्ञानियों को ही होता है।
2. पूजामद—अपनी पूजा, प्रतिष्ठा या लौकिक सम्मान के गर्व में चूर रहना पूजा मद है।
3. कुलमद—अपने पितृपक्ष की उच्चता का गर्व करना कुलमद है।
4. जातिमद—अपने मातृपक्ष की उच्चतावश अभिमानी रहना जातिमद है।
5. बलमद—शारीरिक बल के कारण अपने को बलवान समझते हुए अन्य सभी को निर्बल समझना, तज्जन्य मद को बलमद कहते हैं।
6. ऋद्धि/ऐश्वर्यमद—धन, वैभव, ऐश्वर्य पाकर या तपोजनित ऋद्धि के बल पर अभिमानी बने रहना ऋद्धि मद है।
7. तपमद—स्वयं को सबसे बड़ा तपस्वी समझते हुए अन्य साधकों को तुच्छ समझना तपमद है।
8. रूपमद—दैहिक सुन्दरता के बल पर अपने को रूपवान मानकर सुन्दरता के घमण्ड में रहना रूपमद है।

तीन मूढ़ता

मूढ़ता का अर्थ है धार्मिक अन्ध विश्वास। आत्महित का विचार किए बिना ही

अन्ध श्रद्धालु बनकर अज्ञानपूर्ण प्रवृत्ति करना मूढ़ता है। मूढ़ता तीन प्रकार की है—

1. देवमूढ़ता—लौकिक फल या वरदान की अभिलाषा से राग-द्वेषादि से मलिन देवी-देवताओं में श्रद्धा, आदर, पूज्य भाव रखना।
2. लोकमूढ़ता—ऐहिक फल की आकांक्षा एवं धर्मबुद्धि से नदी, सागर आदि में स्नान करना, पर्वत से कूदना, अग्नि में प्रवेश करना, पथरों का ढेर लगा कर पूजना इत्यादि का पूज्यभाव।
3. गुरुमूढ़ता—आरम्भ, परिग्रह, हिंसा से युक्त और संसार में दुबोने वाले कार्यों में लीन रागी-द्वेषी साधुओं, गुरुओं की श्रद्धा करना, सत्कार करना।

छह अनायतन

आयतन अर्थात् घर, आवास या आश्रय है। सम्यग्दर्शन के प्रकरण में धर्म के आयतन का अर्थ धर्म का घर, स्थान, आवास, आश्रय है। इसके विपरीत अधर्म, मिथ्यात्व के घर आवास को अनायतन कहते हैं।

अनायतन छह हैं—(1) कुगुरु, (2) कुदेव, (3) कुधर्म, (4) कुगुरु सेवक, (5) कुदेव सेवक, (6) कुधर्म सेवक या आराधक।

ये छहों मिथ्यात्व के पोषक होने से हमारे चित्त की मलिनता और संसार के अभिवर्धक हैं। भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत होकर इनकी पूजा आराधना करना और भक्ति प्रशंसा करना सम्यग्दर्शन के छह अनायतन रूप दोष हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा अद्भुत है कि जिसमें जीव स्वतन्त्र, निश्चिन्त, निर्भय और निराकुल हो जाता है। सम्यग्दर्शन का माहात्म्य गाने के लिए समस्त जिनागम परम्परा ने अपनी संस्तुति एवं अभिव्यक्ति दी है। कतिपय उद्धरण दृष्टव्य हैं—

आचार्य शिवकोटि मुनिराज ने 'भगवती आराधना' में—

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।

तह जाण सुसम्मत्तं णाण चरण वीरिय तवाणं ॥ 735 ॥

दंसणभट्टो भट्टो दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।

सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ 737 ॥

अर्थात् नगर में जिस प्रकार द्वार प्रधान है, मुख में जिस प्रकार चक्षु प्रधान है तथा वृक्ष में जिस प्रकार मूल प्रधान है, उसी प्रकार ज्ञान, चरित्र, वीर्य और तप आराधनाओं में एक सम्यक्त्व ही प्रधान है।

दर्शन भ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट है, क्योंकि दर्शन भ्रष्ट को कभी निर्वाण नहीं होता। चरित्र भ्रष्ट को तो निर्वाण हो सकता है, किन्तु दर्शनभ्रष्ट को कभी नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'मोक्षपाहुड़' में लिखते हैं—

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहीण पुरिसो ण लहेइ तं इच्छियं लाहं॥ 39॥

सम्यग्दर्शन से शुद्ध ही वास्तव में शुद्ध है, क्योंकि दर्शन शुद्ध ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। दर्शन विहीन पुरुष इष्टलाभ अर्थात् मोक्षमुख को प्राप्त नहीं करते।

जह णवि लहदि हु लक्खं रहियो कंडस्स वेज्झय विहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स॥ बोध पाहुड 21॥

जैसे बाण रहित बेधक धनुष के अभ्यास से रहित होता हुआ निशाने को प्राप्त नहीं करता है, वैसे ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्ग के लक्ष्यभूत परमात्म तत्त्व को प्राप्त नहीं करता है।

जह तारायण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहियो तह सम्मतो रिसि सावय दुविहधम्माणं॥ भाव पाहुड 144॥

जैसे ताराओं में चन्द्र और समस्त मृगकुलों (पशुओं) में मृगराज सिंह प्रधान है, उसी प्रकार मुनि और श्रावक दोनों धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है।

आचार्य शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में—

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम्।
तपः श्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सददर्शनं मतम्॥ 54॥

सत्पुरुषों ने सम्यग्दर्शन को चारित्र व ज्ञान का बीज, यम व प्रशम का जीवन, तथा तप व स्वाध्याय का आश्रय माना है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में—

विद्या वृत्तस्य संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ 32॥

जैसे बीज के अभाव में वृक्ष नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की उत्पत्ति नहीं होती। इसी से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र से उत्कृष्ट है।

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्पि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभूताम्॥ 34॥

तीनों कालों और तीनों लोकों में प्राणियों को सम्यग्दर्शन के समान कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है।

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्रुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गं प्रचक्षते ॥ 31 ॥

ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है; क्योंकि वह मोक्षमार्ग में कर्णधार कहा जाता है।

वैदिक वाङ्मय के 'मनुःस्मृति' ग्रन्थ में भी सम्यक्त्व की महिमा इस प्रकार गायी गई है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ 6/74 ॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव कर्मों से नहीं बँधता है और दर्शन से विहीन ही संसार कहा जाता है।

निर्णय स्वरूप में यही जानने योग्य है कि सम्यक्त्व के साथ ही ज्ञान व चारित्र की सार्थकता है। सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान, चारित्र व तप सब निरर्थक हैं। अतः रत्नत्रय में सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन को ही अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके बिना अनन्त संसार शान्त नहीं हो सकता। जबकि मात्र एक बार अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन होने से अनन्त संसार शान्त हो जाता है।

सम्यक् ज्ञान

आचार्य समन्तभद्र विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रन्थ में सम्यक् ज्ञान को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं बिना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ 42 ॥

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित, जैसा का तैसा, सन्देह रहित जानता है, उसको आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं। 'द्रव्य संग्रह' ग्रन्थ में सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी भी लिखते हैं—

संशय विमोह विब्रम विवर्जितं अप्परसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयधेयं तु ॥ 42 ॥

आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थ के स्वरूप को जो संशय, विमोह और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञान से रहित जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है।

जानने वाला ज्ञान जिसका है, उसे जानो, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, यही सम्यग्ज्ञान

की वास्तविकता है। निरूपण (कथन) अपेक्षा से जिनमें ज्ञान नहीं पाया जाता ऐसे अजीव और जिनमें ज्ञान पाया जाता है, ऐसे अन्य जीवों से जो अपने को भिन्न जानता है, वही हितकारी सम्यग्ज्ञान है।

सम्पूर्ण विश्व दो प्रकार के पदार्थों में विभक्त करने योग्य है— (एक) ज्ञाता, (दूसरा) ज्ञेय। ज्ञाता वह है, जो जानता है ज्ञाता को और ज्ञेयों को भी, परन्तु ज्ञेय वे हैं जो जानने वाले की ज्ञान स्वच्छता में जनाते हैं। ज्ञेयों को भी दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

(1) स्वज्ञेय, (2) परज्ञेय। जो स्वयं जानता है और स्वयं अपने को जानता है, वह स्वज्ञेय और जो मात्र ज्ञान की स्वच्छता में जानने में आते हैं, परन्तु जिनमें मेरा ज्ञान पाया नहीं जाता है, वे परज्ञेय हैं। जिस ज्ञान में स्वज्ञेय ही प्रमुख रहा, वह सम्यग्ज्ञान है। इसी सम्यग्ज्ञान को नास्ति से कहें, तो जो ज्ञान परज्ञेयों से विमुख रहा, वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। जो ज्ञान परज्ञेयों के प्रति उन्मुख हुआ, वह विकल्प जाल में उलझा हुआ मिथ्याज्ञान रूप रहता है।

पं. दौलतराम जी ने 'छहढाला' में कहा है—

आप रूप कौं जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है ॥ 3/2

अर्थात् अपने को आप रूप जानने वाली अद्भुत कला का नाम ही सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन-पूर्वक ही होता है।

सम्यग्दर्शन वस्तुतत्त्व के भेदविज्ञानपूर्वक होता है। ज्ञान का उपयोग सम्यग्दर्शन के लिए भी चाहिए और सम्यग्दर्शन उपरान्त आत्म स्थिरता रूप सम्यक् चारित्र के लिए भी।

सम्यग्दर्शन से पूर्व जो ज्ञान का उपयोग होता है, वह भेदज्ञान नाम पाता है और सम्यक् चारित्र के लिए जो आवश्यक है, वह सम्यग्ज्ञान है। इसीलिए सूत्र में सम्यग्ज्ञान को मोक्षमार्ग निरूपण में मध्य स्थान प्राप्त है— “सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।”

आत्मा के अनन्त गुणों में ज्ञान का नाम सर्वप्रथम प्रमुख रूप से आता है। यही वह विशेषता है कि जिससे यह आत्मा अपने लक्षणों रूप प्रसिद्ध होता है और पर से भिन्न रूप में भी प्रसिद्ध होता है, और पर की प्रसिद्धि रूप पर-प्रकाशक-पने भी प्रसिद्ध होता है।

‘बृहन्नयचक्र’ में आचार्य देवसेन स्वापी ने उद्धृत किया है—

णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं।

तम्हा पर छद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं ॥ 284 ॥

जिनेन्द्र भगवान ने निजद्रव्य को जानने के लिए ही अन्य छह द्रव्यों का कथन

किया है, अतः मात्र उन पररूप छह द्रव्यों का जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

स्व-पर का भेद कराने वाले विकल्परूप व्यवहार ज्ञान के द्वारा साध्य निश्चय ज्ञान का कथन करते हैं। जिनागमोपदेश श्रवण-पठन-चिन्तन रूप व्यवहार ज्ञान से षट्द्रव्य आदि का परिज्ञान है और निश्चय से निजनिर्जन शुद्धात्म संवित्ति से उत्पन्न परमानन्द रूप एक लक्षण वाले सुखामृत के रसास्वाद रूप स्व-संवेदन ज्ञान है।

ज्ञान की आराधना को प्रेरित करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' में कहा है—

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहम् ।

व्यसनघनसमीरं विषयशफरजालं ज्ञानमाराधयत्वम् ॥ 7/22

हे भव्य! तू ज्ञान का आराधन कर; क्योंकि ज्ञान पापरूपी तिमिर नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास करने के लिए कमल के समान है, कामरूपी सर्प के कीलने को मन्त्र के समान है, मनरूपी हस्ती को सिंह के समान है, आपदांरूपी मेघों को उड़ाने के लिए पवन के समान है, समस्त तत्त्वों के प्रकाश के लिए दीपक के समान है तथा विषयरूपी मत्स्यों को पकड़ने के लिए जाल के समान है।

ऐसे निज ज्ञान स्वभाव की महिमा से आनन्दित रहते हुए ज्ञानरत रहना ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञान के अंग

सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग निरूपित किए गये हैं—

1. शब्दाचार—मूल ग्रन्थ के वर्ण, पद, वाक्य को शुद्ध पढ़ना।
2. अर्थाचार—अनेकान्त स्वरूप अर्थ को ठीक-ठीक समझना।
3. उभयाचार—अर्थ को ठीक-ठीक समझते हुए पाठादिक शुद्ध पढ़ना।
4. कालाचार—सामायिक के काल में न पढ़कर स्वाध्याय योग्य काल में ही शास्त्र पढ़ना। दिवाह, उत्कापात, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, संध्याकाल आदि में मूल शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए। सामायिक उत्कृष्ट कार्य है। सामायिक को छोड़कर स्वाध्याय नहीं होना चाहिए।
5. विनयाचार—द्रव्य, क्षेत्र आदि की शुद्धि के साथ मन-वचन-काय से शास्त्र का विनय करना।
6. उपधानाचार—शास्त्र के मूल एवं अर्थ का बार-बार स्मरण करना उसे विस्मृत नहीं होने देना, अथवा नियम-विशेष-पूर्वक पठन-पाठन करना उपधानाचार है।
7. बहुमानाचार—ज्ञान के उपकरण एवं गुरुजनों की विनय करना।
8. अनिह्वाचार—जिस शास्त्र या गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है, उनका नाम न

छिपाना।

उक्त आठ अंगों के पालन से सम्यग्ज्ञान पुष्ट एवं परिष्कृत होता है। 'महापुराण' ग्रन्थ में आचार्य जिनसेन एवं आचार्य गुणभद्रस्वामी ने इस सम्यग्ज्ञान की पाँच भावनाएँ भी व्यक्त की हैं—

वाचना पृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्।

सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्याः ज्ञानभावना॥

21 सर्ग/96 श्लोक

शास्त्रों का स्वयं पढ़ना, दूसरों से पूछना, पदार्थ स्वरूप का पुनः पुनः चिन्तन करना, श्लोक आदि कण्ठस्थ करना तथा समीचीन धर्म का उपदेश देना,— ये पाँच ज्ञान की भावनाएँ जाननी चाहिए।

सम्यक् चारित्र

आचार्यवर कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रमाण वाक्य रूप में 'प्रवचनसार' ग्रन्थ के आरम्भ में धर्म को चारित्र स्वरूप कहा है।

चारितं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो ति णिहिट्ठो।

मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥ 7 ॥

अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है, वह साम्य है या समता रूप है, ऐसा कहा है और साम्य मोह-क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है।

'दर्शन पाहुड़' में उपदिष्ट 'धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है' (दंसणमूलो धम्मो) इस लक्षण को पढ़कर जागरूकता के अभाव में अज्ञानता वश भ्रम पैदा होता है कि धर्म सम्यग्दर्शन रूप है या सम्यक्चारित्र रूप है?... किन्तु यदि शब्द-प्रयोग को जागरूकता पूर्वक देखा जाए, तो भ्रम स्वयमेव नष्ट हो जाता है।

दर्शन के साथ प्रयुक्त 'मूल' शब्द नौव रूप धर्म का उद्घोषक है और चारित्र के साथ 'खलु' शब्द 'वास्तव में धर्म है' कह कर निर्देश किया है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाला चारित्र ही सम्यक्चारित्र रूप होता है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, फलागम में से कुछ भी सम्भव नहीं है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी 'तत्त्वार्थ सूत्र' में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' में सम्यग्दर्शन को प्रथम कारण रूप ही प्रस्तुत किया है। सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं और सम्यक्चारित्र को अन्त में रखने का कारण यह है कि वह सम्यक्चारित्र मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् कारण है अर्थात् जैसे सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार सम्यक्चारित्र ही यथार्थ में धर्म है। उसकी आराधना में सब आराधनाएँ

समाविष्ट हैं, किन्तु जगत् दृष्टि का चारित्र धारण कर लेने से ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती। जैसे यदि किसी ने मुनिदीक्षा ले ली। वह मुनिदीक्षा ले लेने मात्र से अपने आपको सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति हुई मान ले, तो यह अज्ञान ही है। इसी से समस्त जिनागम में सम्यक्चारित्र धारण करने से पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक बतलाया है। सम्यग्दर्शन के बिना धारण किया गया जैनाचार भी सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता।

चारित्र धारण से पूर्व यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हम इस चारित्र को क्यों धारण कर रहे हैं। उसका लक्ष्य या उद्देश्य क्या है? धर्म का लक्ष्य तो पंचपरावर्तन रूप दुःखमयी संसार से छुड़ाकर उत्तम, अविनाशी, स्वाधीन सुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है और वह संसार के दुःखों के मूलकारण कर्मबन्धन रूप मोह-अज्ञान भाव को नष्ट किये बिना सम्भव नहीं है। अतः सच्चा, यथार्थ धर्म वही है, जिससे कर्मबन्धन कटते हैं। ऐसी दृष्टि से जो धर्माचरण करता है, वही यथार्थ में धर्मात्मा होता है। ऐसी दृष्टि के लिए मोक्ष का श्रद्धान होना आवश्यक है। यदि मोक्ष का ही श्रद्धान न हो, तो मोक्ष के उद्देश्य से धर्माचरण की भावना कैसे हो सकती है? मोक्ष के श्रद्धान के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान होना आवश्यक है।

जो आत्मा के इस शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा करके उसकी प्राप्ति की भावना से धर्माचरण करता है, वह संसार के विषय-जन्य सुख में उपादेय बुद्धि नहीं रखता है।

स्व-पर पदार्थों के भेद विज्ञान पूर्वक जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व अर्थात् शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने, अनुभव में आने लगता है, वैसे-वैसे ही सहज उपलब्ध रमणीय पंचेन्द्रिय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं।

यदि जीव की विषय-भोगजन्य सुख में उपादेय बुद्धि है अर्थात् वे अच्छे लगते हैं तो यह जीव तो आस्रव-बन्ध को अच्छा समझता है, संसार रुचि वाला है, वह मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं कर रहा है और ऐसी स्थिति में समस्त धर्माचरण संसार की प्राप्ति, वृद्धि एवं दुःखरूप फल का ही कारण है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने 'समयसार' में कहा है—

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।

धम्मं भोग-णिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खर्याणिमित्तं ॥ 275 ॥

अर्थात् वह (अभव्यजीव) भोग के निमित्तरूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसी की प्रतीति करता है। उसी की रुचि करता है और उसी का स्पर्श करता है, परन्तु कर्मक्षय में निमित्त रूप धर्म को नहीं (अर्थात् कर्मक्षय के निमित्त रूप धर्म की न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है, और न ही उसका स्पर्श करता है।)

किन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि धर्म करने से सांसारिक सुख प्राप्त नहीं होता। अरे! जिस धर्म की आराधना से पारमार्थिक मोक्ष-सुख प्राप्त होता है, उससे क्या सांसारिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता? जिस खेती के करने से अन्न प्राप्त होता है, उससे क्या भूसा भी प्राप्त नहीं होगा? प्राप्त तो होगा, किन्तु कोई किसान भूसे की इच्छा से खेती नहीं करता। भूसे की इच्छा किसान को नहीं, अपितु पशुओं को ही होती है, क्योंकि किसान तो यह जानता है कि अन्न की उपज पर भूसा तो स्वयमेव/अनायास ही मिल जाता है। खेती का मुख्य फल अन्न है, भूसा नहीं। उसी प्रकार धर्म पुरुषार्थ का भी मुख्य फल मोक्ष है। इस मोक्ष पुरुषार्थरत जीव के अबुद्धिपूर्वक हिंसादि पापों के तथा क्रोधादि कषायों के अभाव होने की दशा में बिना प्रयास-पुरुषार्थ के उत्कृष्ट पुण्य का संचय स्वयमेव होता रहता है। जिससे अनुकूल लगने वाले सांसारिक सुख स्वयमेव मिलते रहते हैं। ज्ञानी धर्मात्मा इस सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए धर्म नहीं करता। सांसारिक, काल्पनिक सुख की इच्छा मोक्षार्थी जीव को नहीं होती, अपितु संसारवृद्धि इच्छुक जीव को ही होती है।

स्वस्वरूप में रमना सो चारित्र है। स्व समय में अर्थात् स्वभाव में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यह वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होने से धर्म है।

भेद

इस पूज्य सभ्यक् चारित्र को ही निश्चय चारित्र-व्यवहार चारित्र रूप से या अन्तरंग-बहिरंग चारित्र रूप से तथा सराग-वीतराग चारित्र के भेद से दो-दो प्रकार का कहा गया है।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात के रूप में अवस्थागत भेद से पाँच प्रकार का भी वर्णित किया गया है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पंच महाव्रत, ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान निक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन रूप पाँच समिति तथा मन-वचन-काय (इन्द्रिय-मन) की प्रवृत्ति का निग्रह रूप तीन गुप्ति। इस तरह $5+5+3=13$ प्रकार का चारित्र भी आगम में निर्दिष्ट है।

उक्त भेदों में प्रथम निश्चय तथा अन्तरंग रूप चारित्र तो निज आत्माधीन स्थायी, आनन्द भोग रूप परिणाम है, यह विधि रूप या प्रवृत्ति रूप स्वकार्य है। यही करणीय है, इसके होने पर ही जीव चारित्रवन्त होता है और इसके बिना चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं, फिर वृद्धि, स्थिति और फलागम की कल्पना ही बेमानी है।

सामायिक आदि पंचभेद युक्तता का स्वरूप निम्न प्रकार से ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य है—

(1) सामायिक—शत्रु-मित्र व बन्धुवर्ग में, सुख-दुःख में, प्रशंसा-निन्दा में, स्वर्ण-लोहपाषाण में, जीवन-मरण में, संयोग-वियोग में, प्रिय-अप्रिय में, राग-द्वेष के अभाव

रूप समता के परिणामों में सामायिक होती है। आत्म स्वभाव में स्थिरता रूप परिणामों में, सर्व सावध (पाप) योग से निवृत्ति रूप सामायिक होती है। तीनों ही सन्ध्याओं में, या पक्ष और मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग समस्त कषायों का निरोध करना सामायिक है।

(2) छेदोपस्थापना—निर्विकल्प सामायिक संयम की प्रतिज्ञाबद्धता में, जिसमें कि विकल्पों का सेवन नहीं होता, ऐसी दशा में जीव टिक नहीं पाता है, तब व्रत, समिति, गुप्ति रूप छेद के द्वारा पुनः स्वयं को सामायिक में स्थापित करना या विकल्पात्मक चारित्र का नाम छेदोपस्थापना है।

(3) परिहार विशुद्धि—मिथ्यात्व, रागादि विकल्प मलों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके, विशेष रूप से आत्म-शुद्धि अथवा निर्मलता ही परिहार-विशुद्धि है।

(4) सूक्ष्म साम्पराय—स्थूल-सूक्ष्म प्राणियों के वध के परिहार में जो पूरी तरह अप्रमत्त हैं, जागरूक हैं। अत्यन्त निर्वाध, उत्साहशील, अखण्डित चारित्र, जिसने कषाय के विष रूप अंकुरों को खोंट दिया है, सूक्ष्म मोहनीय कर्म के बीज को भी जिसने नाश के मुख में ढकेल दिया है, उस परम सूक्ष्म लोभ वाले साधु के सूक्ष्म साम्पराय होता है।

(5) यथाख्यात—अशुभ रूप मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर 'जैसा निष्कम्प सहज शुद्ध स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है' वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया है, सो यथाख्यात चारित्र है। यथाख्यात चारित्र उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोग केवली तथा अयोगी केवली इन चार गुणस्थानों में होता है।

उक्त रूप से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी एक मोक्षमार्ग द्वारा ही समस्त कर्मजाल रूप दुख का नाश होकर स्वाधीन, अविनाशी, यथार्थ सुख मोक्ष प्रगट होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में संक्षेप में यही बात कही है—

जीवादी सद्व्रतं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।

रायादी परिहरणं चरणं ऐसो हु मोक्ख पवो ॥ 155 ॥

जीव आदि तत्त्व का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन, जीव आदि तत्त्व का ज्ञान सम्यग्ज्ञान एवं रागादि का परिहार रूप सम्यक्चारित्र, यही मोक्ष-पथ, मोक्ष-मार्ग है।

धर्म और विज्ञान

डॉ. नलिन के. शास्त्री

देह में रहकर विदेह की साधना का फलसफा : जैनधर्म-उत्थानिका

जैनधर्म एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिसका उद्देश्य आत्मा का शुद्धिकरण है। यह एक ऐसा धर्म है; जो न तो मिलता है गाँव में, न कहीं जंगल में, न ही पहाड़ों के शिखरों पर, न किसी मठ में, प्रत्युत यह तो स्पन्दित होता है मनुष्य की अन्तरात्मा में। सत्य के सदन में अहिंसा के अवतरण का नाम है जैनधर्म। अचौर्य के आचरण और अपरिग्रह के अनुकरण का नाम है जैनधर्म। अनेकान्तवाद के आकाश में उत्सर्ग की उड़ान का नाम है जैनधर्म। अवैर की अभिव्यक्ति और क्षमा की शक्ति का नाम है जैनधर्म। सहिष्णुता की सात्विकता और संयम के सामर्थ्य का नाम है जैनधर्म। सद्भाव से सरोकार और समता के सूत्रधार का नाम है जैनधर्म। जैनधर्म, समता के सृजन और विषमता के विसर्जन का सृजनात्मक नाम भी है। समत्व की साधना और क्षमत्व की आराधना ही जैनधर्म की चेतना और चिन्तन है। एक वाक्य में कहें, तो जैनधर्म, अहिंसा की आसन्दी- यानी प्रेम और समत्व से, संयम के रत्नत्रयी मार्ग की मोक्षमयी साधना का मार्ग प्रशस्त करता है।

जैनधर्म के विचारों को किसी काल, देश अथवा सम्प्रदाय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। यह प्राणी-मात्र का धर्म है। धर्म का हृदय अनेकान्त है और अनेकान्त का हृदय है समता। समता का अर्थ है परस्पर सहयोग, समन्वय, सद्भावना, सहानुभूति एवं सहजता। साधना की सिद्धि बहिरात्मा के अन्तरात्मा की प्रक्रिया से गुजरकर स्वयं परमात्मा हो जाने में है। देह में रहकर विदेह की साधना का फलसफा यदि कहीं पर रचा बसा है, तो वह है जैनधर्म। शरीर आत्मा का प्रवेश द्वार है। शरीर के रहते हुए आत्मा को मुक्त कराना ही जीवन का सबसे बड़ा स्वार्थ है। अतः शरीर को जानना, इसकी भाषा को समझना, हमें भीतर के अदृश्य धरातलों की (मन, बुद्धि, आत्मा की) गतिविधियों की जानकारी देता है। पास में कौन व्यक्ति बैठा है, थाली में रखा कौन-सा व्यंजन आज नहीं खाना चाहिए, आदि बाहरी परिस्थितियों की सूचना भी शरीर के स्पन्दन देते हैं। शरीर के माध्यम से कौन-सी ऊर्जाएँ बाहर जाती हैं, मन के स्पन्दन

हजारों-हजार मील दूर पहुँचते हैं, आभामण्डल एवं विभिन्न शक्ति-केन्द्रों के माध्यम से कैसे प्राणों को समझना, उनके प्रयोग करना, वाणी (वाक्) के क्षेत्र को ब्रह्म की तरह समझ पाना, इच्छाओं के निर्माण में वाक् के स्पन्दनों की भूमिका जान लेना हमारे गहन स्वार्थ की साधना से परम मुक्ति के परमार्थ की सम्प्राप्ति का क्षेत्र है। विचार, भाषा, अर्थ, वर्ण आदि को जान लेना भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि मौन को जान लेना। व्यक्ति को उसके विचारों से ही जाना जाता है। विचार ही ज्ञान का धरातल है। इनको जाने बिना ज्ञाता और ज्ञेय के साथ एकाकार हो ही नहीं सकते। ज्ञान योग के द्वारा यदि कर्मों का विपाक करना है, तो विचारों की प्रकृति (सत, रज, तम) को जान लेना पहला स्वार्थ है। धर्म का उपयोग इसके बिना न समझेंगे, न ही कर पाएँगे। विचारों की उष्णता को हृदय की शीतलता से साथ समन्वित करना भी सुख का मार्ग है। अहंकार की शक्ति एवं दिशा पर नियन्त्रण भी विचारों की प्रकृति से जुड़ा है।

पृथक् विवेच्य; धर्म और विज्ञान-ज्ञान और सत्य के सन्धान-बिम्ब

विज्ञान एवं अध्यात्म के विवेच्य पृथक् हैं। विज्ञान में ज्ञान पहले, विश्वास बाद में होता है, जबकि धर्म में विश्वास पहले, ज्ञान बाद में आता है। अध्यात्म परमार्थ ज्ञान है, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धित ज्ञान है, इल्मे इलाही है, चिन्मय सत्ता का ज्ञान है। विज्ञान लौकिक जगत का ज्ञान है, भौतिक सत्ता का ज्ञान है, पदार्थ, वस्तु, रसायन, प्रकृति का विश्लेषणात्मक-विवेचनात्मक और सूचनात्मक ज्ञान है। सामान्य धारणा है कि दोनों विपरीतार्थक हैं। भविष्य के लिए यह सोचना है कि दोनों की मूलभूत अवधारणाओं में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है?

आधुनिक विज्ञान करणीय या कारण और प्रभाव के नियम का समर्थन करता है। हरेक प्रभाव का एक मूल या ज्ञात कारण होना चाहिए। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। यह कारण ही कारक का पर्याय है। हर कार्य में कारण-कार्य भाव रहता है। कारक शब्द में शक्ति भी है, ऊष्मा भी है। देने का भाव भी है। वैसे तो कर्म के लिए पहला कारक इच्छा होती है। इच्छा (अवग्रह) के बिना चेष्टा (ईहा) नहीं होती। अवगम से ही मानो स्वीकृति मिल गयी। तब प्रश्न उठता है कि क्या इच्छा का भी कोई कारक होता है। इच्छा पैदा नहीं की जाती। इच्छा का एक कारक होता है; ज्ञान। जिस विषय का ज्ञान नहीं, उसके बारे में इच्छा नहीं उठती। जो उठती है, तब उसका कारक ज्ञान न होकर; प्रारब्ध होता है। गीता में कृष्ण ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय दे तीनों सदा साथ रहते हैं। मूल में तो ज्ञाता की इच्छा ही रहती है। बिना ज्ञाता के ज्ञेय का ज्ञान मानव के लिए हित और अहित दोनों कर सकता है। भारत और पश्चिम के ज्ञान का मूल भेद यही है। हमारा ज्ञान आज भी ज्ञान ही माना जाता है। “एको ज्ञानं ज्ञानम्” इसकी परिभाषा है। ब्रह्माण्ड में सब

चीजों एवं प्राणियों के मूल में एक ही तत्त्व है। इसी का दूसरा पक्ष पश्चिमी प्रयोगात्मक ज्ञान है। इसको विज्ञान कहते हैं, यथा—“विविधं ज्ञानं विज्ञानम्”। विरुद्धं ज्ञानं विज्ञानम्। विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्। अन्तर बस इतना ही है कि हमारे ज्ञान में ज्ञाता है और पश्चिम के ज्ञान में ज्ञाता नहीं है। वह पूर्ण रूप में उपकरणों पर आधारित है। अतः ज्ञान का उपयोग व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करेगा। यही कारण है कि विज्ञान के प्रयोग सही और गलत दोनों दिशाओं में हो रहे हैं। भारतीय ज्ञान विवेक एवं प्रज्ञा पर आधारित है। इसमें किसी का अहित सम्भव ही नहीं है।

यह और-भी अधिक महत्वपूर्ण है कि जैन धर्म-दर्शन, इस कार्य-कारण सम्बन्ध से आत्म-तत्त्व और जीवन-दर्शन की मीमांसा करता है। आइंस्टीन की सापेक्षता के सिद्धान्त के माध्यम से धारणा यह थी कि ब्रह्माण्ड की एक शुरुआत है और यह बाद में गणितज्ञों और हबल दूरबीन से भी पुष्ट किया गया, जिसने ब्रह्माण्ड के विस्तार के सम्बन्ध में, प्रकाश की परिवर्तनशीलता के बारे में बताया और यह प्रमाणित किया कि ब्रह्माण्ड का एक प्रारम्भिक बिन्दु था, जिसको सैद्धांतिक रूप से बड़ा धमाका का नाम दिया गया है। यह घटना कैसे घटित हुई, इसके विवरण के अवलोकन के बारे में कम से कम ऐसा एक संकेत विद्यमान है, जो प्रासंगिक है और इंगित करता है कि ब्रह्माण्ड का एक प्रारम्भिक बिन्दु था और यह अभी भी बढ़ रहा है।

विज्ञान एकत्व की खोज के लक्ष्य को समर्पित है। ज्यों ही विज्ञान की यात्रा पूर्ण एकता तक पहुँच जाएगी, त्यों ही उसकी प्रगति रुक जाएगी; क्योंकि तब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। उदाहरणार्थ—रसायनशास्त्र यदि एक बार उस मूल तत्त्व का पता लगा ले, जिससे और—सब-द्रव्य बन सकते हैं, तो-फिर वह आगे नहीं बढ़ सकेगा। भौतिक शास्त्र जब उस मूल शक्ति का पता लगा लेगा, अन्य शक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति हैं, तब वह रुक जाएगा। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, जब वह उसको खोज लेगा, जो इस परिवर्तनशील जगत् का शाश्वत आधार है, परमात्मा है, अन्य—सब आत्मा जिसकी प्रतीयमान अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार अनेकता और द्वैत में से होते हुए इस परम अद्वैत की प्राप्ति होती है। धर्म इससे आगे नहीं जा सकता। यही समस्त विज्ञानों का चरम लक्ष्य है।

वैज्ञानिकता का धार्मिक प्रागल्भ्य : सामरस्यता का अवबोध

अध्यात्म एवं विज्ञान के बीच सामरस्य का मार्ग स्थापित करने के लिए परम्परागत धर्म की इस मान्यता को छोड़ना पड़ेगा कि यह संसार ईश्वर की इच्छा की परिणति है। हमें विज्ञान की इस दृष्टि को स्वीकार करना होगा कि सृष्टि रचना के उपक्रम में ईश्वर के कर्तव्य की कोई भूमिका नहीं है। सृष्टि-रचना-व्यापार में प्रकृति के नियमों को स्वीकार करना होगा। डार्विन के विकासवाद के आलोक में धर्म की इस सामान्य

मान्यता के प्रति आज के चिन्तकों का विश्वास खण्डित होता जा रहा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने सभी प्राणियों के युगल निर्मित किये थे तथा परमात्मा ने ही मनुष्य को 'ईश्वरीय ज्ञान' प्रदान किया था। जीव के विकास की प्रक्रिया के सूत्र, धर्म की इस पौराणिक मान्यता में भी खोजे जा सकते हैं कि जीव चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद मनुष्य योनि धारण करता है। मानव के विकास के क्रम की मीमांसा, विकासवाद के परिप्रेक्ष्य में, इन धार्मिक अवधारणाओं के साथ भी सम्भव है।

विज्ञान विश्व के पूल में पदार्थ एवं ऊर्जा को ही अधिष्ठित देखता आया है। विज्ञान को अपार्थिव चिन्मय-सत्ता का भी संस्पर्श करना होगा। भविष्य के विज्ञान को अपना यह आग्रह भी छोड़ना होगा कि जड़ पदार्थ से चेतना का आविर्भाव होता है। डार्विन के विकासवाद के इस सिद्धान्त को तो स्वीकार करना सम्भव है कि अवनत कोटि के जीव से उन्नत कोटि के जीव का विकास हुआ है। किन्तु उनका यह सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है कि अजीव से जीव का विकास हुआ। इस धारणा अथवा मान्यता का तार्किक कारण है। जिस वस्तु का जैसा उपादान-कारण होता है, वह उसी रूप में परिणत होता है। चेतन के उपादान अचेतन में नहीं बदल सकते। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते। न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए तथा अजीव जीव बन जाए। पदार्थ के रूपान्तरण से स्मृति एवं बुद्धि के गुणों को उत्पन्न किया जा सकता है; मगर चेतन उत्पन्न नहीं किया जा सकता। चेतना का अध्ययन, अध्यात्म का विषय है।

जानने की जुगत : सत्य का गहन दृष्टि-बोध

जैन आध्यात्मिक विज्ञान में सत्य पर गहन चिन्तन किया गया है, क्योंकि सत्य में ही समस्त गुण-धर्म पर्याय हैं। अवस्थाएँ, क्रिया-प्रतिक्रिया, कर्म-कारण आदि सम्बन्ध सम्भव हैं— 'सद्द्रव्य लक्षणम्', द्रव्य का लक्षण सत् है। संसार शाश्वत है, क्योंकि इसके सभी द्रव्य शाश्वत हैं। आधुनिक विज्ञान में भी यह सिद्ध हो गया है कि कोई भी वस्तु या शक्ति नष्ट नहीं होती, बल्कि उसका रूप परिवर्तित होता है। द्रव्य सत्-स्वरूप है। सत् स्वरूप होने के कारण ही द्रव्य अनादि से अनन्त काल तक रहेगा। द्रव्य के परिवर्तनशील होते हुए भी उसका नाश नहीं होता। सत्य दर्शन ने ही कई कठिन सवालों को सरल बनाया है।

'जानना' चेतना का व्यवच्छेदक गुण है। जीव चेतन है। अजीव अचेतन है। जीव का स्वभाव चैतन्य है। अजीव का स्वभाव जड़त्व अथवा अचैतन्य है। जो जानता है, वह जीवात्मा है। जो नहीं जानता, वह अनात्मा है। जीव आत्मा-सहित है। अजीव में आत्मा नहीं है। जीव सुख-दुःख की अनुभूति करता है। अजीव को सुख-दुःख

की अनुभूति नहीं होती। जो जानता है, वह चेतन है; जो नहीं जानता, वह अचेतन है। स्मृति एवं बुद्धि तथा मस्तिष्क के समस्त व्यापार 'चेतना' नहीं हैं। पदार्थ के रूपान्तरण से स्मृति एवं बुद्धि के गुणों को उत्पन्न किया जा सकता है, मगर चेतना उत्पन्न नहीं की जा सकती। बुद्धि एवं मन की भौत चेतना भी 'स्नायुजाल की बढ़ता' अथवा 'विभिन्न तन्त्रिकाओं का तन्त्र' है, जो अन्ततः अणुओं एवं आणविक क्रियाशीलता का परिणाम है। भविष्योन्मुखी दृष्टि से विचार करने पर यह स्वीकार करना होगा कि दोनों की अपनी-अपनी भिन्न सत्ताएँ हैं।

अजीव अथवा जड़ पदार्थ का रूपान्तरण; ऊर्जा (प्राण), स्मृति, कृत्रिम प्रज्ञा एवं बुद्धि में सम्भव है, किन्तु इसमें चैतन्य नहीं होता। कम्प्यूटर चेतना-युक्त नहीं है। कम्प्यूटर को यह चेतना नहीं होती कि वह है, वह कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर मनुष्य की चेतना से प्रेरित होकर कार्य करता है। उसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। उसे स्व-संवेदन नहीं होता। 'मैं हूँ,' 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ'—शरीर को इस प्रकार के अनुभवों की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार के अनुभवों की जिसे प्रतीति होती है, वह शरीर से भिन्न है। जिसे प्रतीति होती है उसे ही जैनदर्शन आत्मा शब्द से अभिहित करता है। आत्मा में चैतन्य नामक विशेष गुण है; आत्मा में जानने की शक्ति है। आत्मा के द्वारा जीव को अपने अस्तित्व का बोध होता है। ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। आत्मा अमूर्त तत्त्व है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियाँ उसे जान नहीं पातीं। इससे इन्द्रियों की सीमा सिद्ध होती है।

स्रष्टा, सृष्टि और सृजन—स्वयम्भू; न ही कोई सृष्टिकर्ता

दर्शन जीवन का शुद्ध विज्ञान है, जब इस विज्ञान को व्यवहार का रूप दिया जाता है, तो वह धर्म बन जाता है। जैनधर्म संसार का प्राचीनतम धर्म होते हुए भी सम्पूर्णतः वैज्ञानिक दृष्टिवोध से संबलित धर्म है। जैनदर्शन एवं विचारधारा का उद्गम सम्भवतः प्रागैतिहासिक काल से है। यदि जैन साहित्य की उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की अवधारणा को सही मानें, तो इस महान दर्शन का उद्गम अनन्त काल से सिद्ध होता है। अनन्त काल से मानव-जीवन एवं चिन्तन को सही दिशा देने वाले इस धर्म की जड़ें इतनी-गहरी तभी हो सकती हैं, जब मानव के परलोक के साथ-साथ इस दर्शन का प्रभाव उसकी इहलौकिक क्रियाओं में भी परिलक्षित होता हो तथा उसे प्रभावित करता हो। इस दर्शन ने मानव को स्वावलम्बन एवं स्वतन्त्रता की दिशा प्रदान की है; यही कारण है कि आज भी इस अक्षुण्ण तथा अविरल दर्शन का प्रवाह व्यक्ति से परिवार, परिवार से सपाज एवं समाज से ऊपर उठकर देश एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की दिशा में प्रवृत्त है।

भारत भूमि पर अवतरित जैनधर्म के विचार, सृष्टिकर्ता की भूमिका को स्वीकार नहीं करते। वे सृष्टि को स्वयम्भू मानते हैं। वेदान्त के आधार पर स्रष्टा, सृष्टि और सृजन एक ही सच्चिदानन्दधन परमात्मा की लीला है। सृष्टि स्रष्टा का ही स्वरूप है, सृजन उसकी लीला-मात्र है। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि विश्व के अग्रणी भौतिक विज्ञानी स्टीफन हॉकिंग ने वर्ष 1968 में प्रकाशित बहुचर्चित एवं वेस्ट सेलर पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ टाइम' में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं संचालन में निहित जटिल, चेतन एवं सक्रिय सत्ता से दृष्टिगत इसके सृजन में ईश्वर की भूमिका को खारिज नहीं किया जा सकता। 32 वर्ष के पश्चात् अब स्टीफन हॉकिंग ने अपनी नई पुस्तक 'द ग्रांड डिजाइन' में लिखा है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी 'बिग बैंग' की घटना के लिए भौतिक-विज्ञान के गुरुत्वाकर्षण नियम जिम्मेदार हैं। ईश्वर ने यह ब्रह्माण्ड नहीं रचा, बल्कि वास्तव में यह भौतिक विज्ञान के अपरिहार्य नियमों का परिणाम है। 'ए हिस्ट्री ऑफ टाइम' में संसार के बुद्धिजीवी वर्ग को चौंकाने वाले इस लेखक ने अब न्यूटन की इस अवधारणा को खारिज कर दिया है कि ब्रह्माण्ड स्वतःस्फूर्त ढंग से निर्मित होना प्रारम्भ नहीं हुआ था अपितु ईश्वर ने इसे गतिमान बनाया था। कर्म ही अन्ततः रचनाकार है। जैनधर्म के अनुसार ब्रह्माण्ड की रचना किसी व्यक्ति विशेष या सत्ता-विशेष द्वारा नहीं की गयी। यह अनन्त काल से अस्तित्व में है, जिसका न कोई प्रारम्भ और न कोई अन्त सुनिश्चित है।

लोक के शाश्वत रूप की चर्चा को विस्तार देते हुए जैन आचार्यों ने त्रिलोक की अवधारणा पर बल दिया है। इस अवधारणा के अनुसार मध्यलोक के ढाई द्वीप में मनुष्य, तिर्यच एवं देव गण, ढाई द्वीप के अतिरिक्त असंख्यात समुद्रों में देव तथा तिर्यच, ऊर्ध्वलोक में कल्पवासी देवगण तथा अधोलोक में देव एवं नारकी विराजते हैं।

जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों में से भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में षट्काल परिवर्तन के होने का विधान है। पहले से तीसरे काल तक भोगभूमि और चौथे काल से कर्मभूमि की रचना का विधान प्रतिपादित किया गया है। भोगभूमि के समापन पर, तीसरे काल में 14 कुलकर आविर्भूत होते हैं, जो क्रमशः कुल की परम्पराओं के विषय में शिक्षित करते हैं अपने सदुपदेशों के माध्यम से। कर्मभूमि के चौथे काल में 24 माता, 24 पिता, 24 तीर्थकर, 24 कामदेव, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रति-नारायण, 9 बलभद्र, 11 रुद्र, 9 नारद विशिष्ट-पुरुष होते हैं, जो युग को दिशा देते हैं। इस परम्परा में तृतीय काल के अन्त में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का आविर्भाव हुआ था।

जैनधर्म का दर्शन एवं स्वरूप : विज्ञानसम्मत शुद्धोपयोगी दृष्टि

जैनधर्म और दर्शन का उद्देश्य है—आत्मा को प्रकृति के मिश्रण से मुक्त कर, उसको

कैवल्य (पूर्णतः मुक्त एवं पवित्र) की स्थिति में पहुँचना। इस कैवल्य की अवस्था में कर्म के बन्धन टूट जाते हैं और आत्मा अपने को प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी अवस्था को मोक्ष भी कहा जाता है। मोक्ष की इस अवस्था में समस्त दुःख, भय, अभाव एवं कष्ट समाप्त हो जाते हैं और आत्मा स्थायी और अटूट परमानन्द की अवस्था में पहुँच जाता है। मोक्ष के सम्बन्ध में जैनधर्म की यह मान्यता वैदिक मान्यता से भिन्न है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म के साथ पूर्णतः मिलन हो जाता है और आत्मा का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं बचता। जबकि जैनधर्म एवं दर्शन के अनुसार कैवल्य या मोक्ष की अवस्था में भी आत्मा का अपना निजी अस्तित्व एवं स्वरूप बना रहता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावतः निर्मल और प्रज्ञ है। प्रकृति के सम्पर्क के कारण ही यह आत्मा अज्ञानता, माया और कर्म के बन्धन में पड़ जाता है। कैवल्य की प्राप्ति के उपाय हैं—1. सम्यक् दर्शन (तीर्थंकरों के बताए तत्त्वों में पूर्ण श्रद्धा), 2. सम्यक् ज्ञान (शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान) और 3. सम्यक् चारित्र (पूर्ण नैतिक आचरण)।

जैनधर्म बिना किसी बाहरी सहायता के, स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा ही आत्म-कल्याण प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है। जैनधर्म एवं दर्शन ने भारतीय धर्म एवं दर्शन को भी कई प्रकार से प्रभावित किया। आचार-शास्त्र में नैतिक आचरण, विशेषकर अहिंसा को इससे नया बल मिला। जैनदर्शन 'आस्रव' के सिद्धान्त में विश्वास करता है, जिसका अर्थ यह है कि कर्म के संस्कार क्षण-क्षण प्रवाहित हो रहे हैं। कर्म के इन संस्कारों का प्रभाव जीव पर क्षण-क्षण पड़ रहा होता है। संस्कारों के इस प्रभाव से बचने का यही उपाय है कि मनुष्य चित्त-वृत्तियों का निरोध (रोकथाम) करे, मन को विवेक के द्वारा काबू में लाए। योग की समाधि का अवलम्बन और तपश्चर्या में लीन रहना भी जैन दर्शन की मान्यता है।

आत्मज्ञान-प्राप्ति का मार्ग कैवल्य-प्राप्ति की साधना के लिए जैन धर्म एवं दर्शन में, सात सोपानों (सीढ़ियों) का उल्लेख किया गया है। ये सात सोपान ही जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्व हैं। जीव आत्मा है। अजीव वह ठोस द्रव्य (शरीर) है, जिसमें आत्मा निवास करती है। जीवन और अजीव का मिलन ही संसार है। अतएव मोक्ष-साधना का मार्ग यह है कि जीव (आत्मा) को अजीव (पदार्थ) से पृथक् कर दिया जाए। आत्मा और परमात्मा के बीच की माया की दीवार को गिराकर कैवल्य या मोक्ष की स्थिति प्राप्त की जा सकती है, किन्तु जीव-अजीव से बँधा कैसे है? ...इसका उत्तर आस्रव है। विभिन्न कर्मों के करने से जो संस्कार प्रकट होते हैं, उसी के कारण जीव अजीव से बँध जाता है। अतएव इस बन्धन को नष्ट करने का उपाय यह है कि जीव कर्मों से क्षरित (उत्पन्न) होने वाले

संस्कारों से अलिप्त (पृथक्) रहने का प्रयत्न करे। यह प्रक्रिया संवर कहलाती है, पर इतना ही प्रयास पर्याप्त नहीं है। आत्मा को तो पूर्व जन्मों के संस्कार भी घेरे रहते हैं एवं प्रभावित करते हैं। इन पूर्व जन्मों के संस्कारों से मुक्त होने या छूटने की साधना का नाम निर्जरा है।

जीवन रूपी नौका में छेद हैं; जिनसे उसमें पानी भरता जा रहा है। छेदों को बन्द करना ही संवर-साधना है और जीवन रूपी नाव में पहले से ही जो पानी (पूर्व जन्मों के संस्कार) भरा हुआ है, उसे उलीचने का नाम निर्जरा है। संवर और निर्जरा के द्वारा जिसने अपने को आस्रवों (संस्कारों) से मुक्त कर लिया; वही मोक्ष का अधिकारी है। जैनदर्शन में मोक्ष (कैवल्य) की साधना, केवल संन्यासी ही कर सकते हैं। इन संन्यासियों को जैनधर्म में पाँच कोटियों (श्रेणियों) में बाँटा गया है, जिनका समन्वित नाम पंच परमेष्ठी है। ये पंच परमेष्ठी हैं: अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। साधुओं को उपदेश देने वाले उपाध्याय और आचार्य कहलाते हैं। सिद्ध वह हैं; जिन्होंने शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया है और अर्हत् तीर्थंकरों को कहते हैं। अर्हत् तो चौबीस ही हुए हैं, किन्तु सिद्ध कोई भी जीव हो सकता है, जिसकी सांसारिक विषय-वासनाएँ, भोग-विलास की लिप्साएँ छूट गयी हैं। जो सुख-दुःख से ऊपर उठ गया, जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं, वह सिद्ध है। सिद्ध की कोटि परमात्मा की कोटि है। वैदिक दर्शन एवं जैन दर्शन में यह भेद है कि वैदिक धर्म में परमात्मा को मात्र एक ही माना गया है, जबकि जैनधर्म के अनुसार जो भी व्यक्ति सिद्ध हो गया, वह स्वयं परमात्मा है।

अतः उस असीम विश्व-व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए इस कारास्वरूप दुःखमय क्षुद्र व्यक्तित्व का अन्त होना ही चाहिए। जब मैं प्राण स्वरूप से एक हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है; जब मैं आनन्द-स्वरूप हो जाऊँगा, तभी दुःख का अन्त हो सकता है; जब मैं ज्ञान-स्वरूप हो जाऊँगा, तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है, और यह अनिवार्य वैज्ञानिक निष्कर्ष भी है। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रम-मात्र है, वास्तव में यह शरीर एक अविच्छिन्न जड़-सागर में, एक क्षुद्र और सदा परिवर्तित होता रहने वाला पिण्ड है, और दूसरे आत्मा के सम्बन्ध में अद्वैत के अनिवार्य निष्कर्ष की प्रतिष्ठा करता है।

विज्ञान : प्रकृति में व्याप्त तर्क-निष्ठ धर्म-लीला

विज्ञान तो प्रकृति में व्याप्त धर्म का ही अनुसंधान करने में लगा हुआ है। विज्ञान एवं धर्म में विरोध कहाँ है? ...विज्ञान ने नीम को कड़वा और मीठे आम को मीठा पाया, तो विज्ञान ने क्या खोजा? ...उसने नीम के स्वधर्म का पता चलाया है और

उसने मीठे आम के स्वधर्म का भी पता चलाया। विज्ञान ने पता चलाया कि चुम्बक लोहे को खींचता है, तो विज्ञान ने क्या किया? ...विज्ञान ने चुम्बक के भीतर छुपे हुए चुम्बक के स्वधर्म का पता चलाया। विज्ञान ने सर्दी एवं गर्मी के स्वधर्म का पता चलाया। विज्ञान ने इन्द्रधनुष् (या त्रिकोण काँच) में सूर्य की रश्मियों में सात रंगों के समन्वय का पता चलाया, तो विज्ञान ने क्या किया? ...न्यूटन ने कहा कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है और इसीलिए वृक्ष से टूटा फल आकाश की तरफ नहीं जाता, बल्कि पृथ्वी पर गिरता है, तो न्यूटन ने क्या खोज की? न्यूटन ने पृथ्वी के स्वधर्म की खोज की। फ्रायड ने नर-नारी के बीच यौनाकर्षण की खोज की, तो उसने क्या किया? उसने स्त्रीलिंग-पुल्लिंग के सब धर्म का विवेचन किया। विज्ञान ने बबूल के काँटों का और गुलाब के फूलों का अध्ययन किया और दोनों में देखा। विज्ञान ने बबूल के स्वधर्म एवं गुलाब के स्वधर्म का अध्ययन किया तथा उसी को देखा। आयुर्वेद ने हजारों जड़ी-बूटियों एवं धातुओं के औषधि तत्त्वों का अध्ययन किया, तो आयुर्वेद ने हजारों जड़ी-बूटियों तथा विभिन्न धातुओं के सब धर्मों का अध्ययन किया। हम सूर्य को नित्य उगता हुआ भी तथा दिन-भर रोशनी एवं गर्मी देने के बाद शाम को अस्त होता हुआ भी देखते हैं। हम सर्दी में दिन छोटे और रातें बड़ी देखते हैं और गर्मी में दिन बड़े तथा रातें छोटी देखते हैं। हम सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण भी देखते हैं, तो क्या हम विज्ञान को देखते हैं या हम सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी के स्वधर्म को देखते हैं? ...असल में तो हम सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी के स्वधर्म को देखते हैं।

हम देखते हैं कि समुद्र से सूर्य की गर्मी के कारण पानी की भाप बनती है। यही भाप बादलों की शक्ल में ऊपर उठती है और हवा की मदद से स्थल की ओर बढ़ती है। सामने पहाड़ आ जाने पर भाप ऊपर उठती है और ठण्डक पाकर पानी का रूप पुनः ग्रहण करके वर्षा के रूप में बरसती है। इससे नदियाँ बनती हैं, जो धरती के ढाल के सहारे बहकर पानी की पुनः समुद्र में पहुँचा देती हैं। विज्ञानवेत्ता इसमें मात्र विज्ञान नहीं देखेगा, बल्कि इसमें वह पानी की गर्मी पाकर भाप बनने का अन्तर्निहित स्वभाव (अर्थात् धर्म) देखेगा। गर्मी को पाकर पानी का भाप में परिवर्तित होना पानी का धर्म है। ऊपर उठ कर हवा के साथ बादलों की शक्ल में पहाड़ों पर पहुँचना भाप या बादलों का धर्म है और ठण्डक पाकर बादलों का बरसना बादलों का धर्म है। इसके साथ ही पानी का स्वभाव अथवा धर्म है कि वह ढाल के अनुसार बहे और-फिर समुद्र में पहुँच जाए, तो विज्ञान जो-कुछ देखता है, वह सूर्य, पानी, हवा, धरती आदि की एक धर्म लीला ही तो है।

सब से बड़ी समस्या यह है कि हम धर्म को या तो बुद्ध का या महावीर का, या तो मोहम्मद का, या तो जरथुस्त का या नानक का आविष्कार मानते हैं, पर इस

भारी तथा भयानक गलतफहमी से हम जितनी जल्दी मुक्त हो सकें, उतना ही संसार का भला है। धर्म तो उतना ही आदिम, पुरातन एवं सनातन है कि जितनी आदिम, पुरातन या सनातन यह सृष्टि या यह विश्व-रचना है। धर्म इस सृष्टि के हर अवयव में समाया हुआ है और विज्ञान का समस्त अध्ययन तथा उसके समस्त आविष्कार प्रकृति या सृष्टि में व्याप्त धर्म (यानी वस्तु के मौलिक स्वभाव) का ही अनुसंधान हैं तथा उसी का सदुपयोग या दुरुपयोग हैं। यदि प्रकृति अथवा इस भौतिक सृष्टि के हर अवयव में अपना मौलिक नियम (यानी अपना मौलिक धर्म) नहीं पाया जाता, तो विज्ञान का यह सारा ताबूती ढाँचा बिखर जाता। धर्म तो 'स्वयम्भू वैश्विक नियम' (सैल्फबॉर्न कॉस्मिक लॉ) का नाम है। धर्म को न राम ने पैदा किया और न कृष्ण ने। राम और कृष्ण (तथा ये सभी तथाकथित धर्म-प्रवर्तक महामानव) धर्म के विभिन्न टीकाकार अथवा व्याख्याता मात्र हैं, धर्म के जनक या आविष्कारक नहीं हैं। धर्म ने ही अवतारों, मसीहाओं और पैगम्बरों को पैदा किया है न कि अवतारों, मसीहाओं और पैगम्बरों ने धर्म को पैदा किया।

सत्य और ज्ञान : भेद नहीं

भगवान महावीर की देशना में ज्ञान ही सत्ता है। चित्त चैत्य है, यानी सत्य चेतना स्वरूप है। ज्ञान में तर्क का अवसर नहीं रहता है। भगवान महावीर 12 बरस तक सत्य की खोज करते रहे। उन्होंने जाना कि सत्य और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। सत्य जानना है, मानना नहीं। मानना दासता है। अन्य की खोज व मान्यता के प्रति समर्पण है। जानना निज का है, निज का अनुभव है। जीवन का सत्य और गणित अतीव रहस्यपूर्ण है। किसी भी कथन, ग्रन्थ, व्यक्ति या कृतित्व को मानना नहीं होता है। अग्रिम खोज ही स्थगित हो जाती है। मानने में कष्ट नहीं होता है। जानना विज्ञान है, जिसमें खोज निरन्तर है। जैन दृष्टि जानने की है। तीर्थंकर मार्ग दिखाते हैं, बनाते नहीं हैं। वे द्रष्टा, ज्ञाता होकर साक्षी होते हैं। किसी भाषा, विचार, आचार या व्यवहार में वैधते नहीं हैं, बाँधते भी नहीं। हर नया प्रयोग अपने समय में क्रान्ति होकर परिवर्तन लाता है, वही समय के साथ परम्परा बन जाता है। इसलिए जानना, देखना और बोध करना ही जीवन-क्रान्ति है। भगवान महावीर इसी क्रान्ति के प्रणेता हैं। वे कहीं आग्रह नहीं रखते हैं। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त और व्यवहार में 'भी' सूत्र; ऐसी अनुपम देन हैं, जिसमें विवाद, हिंसा या हस्तक्षेप का अवसर ही नहीं रहता है।

चिन्तन के क्षेत्र में 'भी' अनेकान्तिक है। अनेकान्त किसी भी विचार या प्रणाली को नकारता नहीं है और स्वीकारने का आग्रह भी नहीं करता। वह मानता है कि हर 'मैं' और विचार का स्वतन्त्र अस्तित्व है। सब की अपनी जीवन-प्रणाली है, जिससे

वह अलग भी है और जुड़ा हुआ भी है। यह ऐसा जीवन शास्त्र है, जो 'मैं' से 'मैं' के लिए होता है, अधूरेपन को परस्पर पूरता है। 'मैं' से 'मैं' निकलता नहीं है और न वह शून्य होता है। इसी सत्य की खोज निरन्तर बनी रहती है। एक सत्यनिष्ठ, हर स्तर पर 'मैं' के आत्म-भाव को बनाए रखता है। वह जानता है कि 'मैं' किसी 'मैं' से अलग नहीं है। हर 'मैं' वह है, जो वह स्वयं है। हर 'मैं' जीना चाहता है, सुख चाहता है और परस्पर बाँटना चाहता है। वह अविभाज्य है, जैसे सागर में बूँद भी है और स्वयं सागर भी। वह लहरों के साथ उछलती भी है और उसी में रहती भी है। जैन दृष्टि में हर वस्तु अपने स्वभाव में स्थित है। इसलिए जो हो रहा है या हो गया है, वह अपने समय के अनुसार है। महावीर के लिए 'भी' सत्य का प्रयोग रहा है। वे भावों, शब्दों या दावों से अपने को भरते नहीं हैं। महावीर पूरी तरह खाली-खाली रहते हैं, इससे वे भार-विहीन, निर्विकल्प होते हैं। वे जानते हैं, खोजना भी अपने को खो देना है। प्रश्न और उत्तर उनके पास होते नहीं हैं।

एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों को स्वीकार करने वाले सिद्धान्त के निरूपण की पद्धति है स्याद्वाद। अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सम-विषम, वाच्य-अवाच्य ये वस्तु में निश्चित रूप से पाये जाने वाले विकल्प हैं। इन विरोधी युगलों को समझकर स्याद्वाद का स्वाद चखा जा सकता है। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है-

है
 नहीं है
 है और नहीं है
 कहा नहीं जा सकता
 है किन्तु कहा नहीं जा सकता
 नहीं है और कहा नहीं जा सकता
 है, नहीं है और कहा नहीं जा सकता।

जीवन यात्रा है, अन्तहीन यात्रा। अपने अहंकार या आग्रह को लेकर जीवन को मानने की भूल 'मैं' करता है। जीवन कोई गणित नहीं है, इसी से कोई मात्रा नहीं है। जीवन का एक ऐसा विज्ञान है, जो पकड़ में आता नहीं है। जानने के साथ जाना हुआ होकर अतीत हो जाता है, मानना हो जाता है। 'मैं' अपने-आप में बहुत चतुर है। हर समय 'ही' और 'भी' का चक्र बनाकर अपने को ठगता रहता है। 'भी' का प्रयोग सहज होते हुए भी अपने अहंकार के आग्रह को नहीं छोड़ पाता है। 'ही' में सोचना नहीं पड़ता, मानना पड़ता है। अहिंसक-समाज-संरचना के लिए अनेकान्ती होना

पहली और अन्तिम शत है। 'भी' अनेकान्तिक है, सन्तुलित है, इसी से स्वयं मार्ग और स्वयं मंजिल है। सन्तुलन समन्वय है, आग्रह-मुक्त अहम्-शून्यता है। समन्वय में सब का दर्शन, विचार और प्रणाली समझने की तैयारी रहती है। जो समझने के लिए तत्पर नहीं है, उसे समझने का अधिकार नहीं रह जाता है, वह अपनी पात्रता खो देता है।

जैन आगमिक साहित्य : कतिपय विज्ञान-सम्मत अवधारणाएँ

मानव की प्रकृति : एक वस्तु-निष्ठ-चिन्तन

श्रुत परम्परा से उद्भूत आगम साहित्य, द्वादशांग और चौहद पूर्वी के माध्यम से गणित, टोपोलोजी, खगोलशास्त्र, भूगोल, ज्योतिष, पदार्थकण, भौतिकी, जैविकी, पर्यावरण विज्ञान आदि की आधुनिक विज्ञान-सम्मत अवधारणाएँ, सशक्तता के साथ आख्यायित करता है और आचार्यों के वस्तुनिष्ठ प्रज्ञान को रेखांकित करते हुए विस्मय-बोध भी कराता है, उनके अन्तश्चैतन्य की प्रगल्भता के प्रति। जैनदर्शन के अनुसार, ब्रह्माण्ड शाश्वत है। यह दो द्रव्य; अर्थात् जीव और अजीव (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) के संयोग से निर्मित हुआ है। इनमें जीव द्रव्य चेतन है, जिसे 'आत्मा' शब्द से भी अभिहित किया जाता है। शेष पाँचों द्रव्य अजीव हैं, जिन्हें अचेतन, जड़ और अनात्म शब्दों से भी व्यवहृत किया जाता है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और रूप गुणों वाला होने से इन्द्रियों का विषय है, पर आकाश, काल, धर्म और अधर्म के चार अजीव द्रव्य इन्द्रियगोचर नहीं हैं, क्योंकि उनमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप नहीं हैं, पर आगम और अनुमान से उनका अस्तित्व सिद्ध है।

हमारे भीतर दो द्रव्यों का मेल है—शरीर और आत्मा। शरीर अचेतन या जड़ है और आत्मा सचेतन है, ज्ञाता-द्रष्टा है, किन्तु वह स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द-रूप नहीं है। अतः पाँचों इन्द्रियों का विषय नहीं है। ऐसा होने पर भी वह शरीर से भिन्न अपने पृथक् अस्तित्व को मानता है। जैन तत्त्वमीमांसा सात (कभी-कभी नौ, उपश्रेणियाँ मिलाकर) सत्य अथवा मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है, जिन्हें तत्त्व कहा जाता है। यह मानव की प्रकृति और उसका निदान करने का प्रयास है। प्रथम दो सत्यों के अनुसार, यह स्वयंसिद्ध है कि जीव और अजीव का अस्तित्व है। तीसरा सत्य है कि दो पदार्थों, जीव और अजीव के मेल से, जो योग कहलाता है, कर्म द्रव्य; जीव में प्रवाहित होता है। यह जीव से चिपक जाता है और कर्म में बदल जाता है। चौथा सत्य बन्ध का कारक है, जो चेतना (जो जीव के स्वभाव में है) की अभिव्यक्ति को सीमित करता है। पाँचवाँ सत्य बताता है कि नये कर्मों की रोक (संवर), सही चारित्र (सम्यक्चारित्र),

सही दर्शन (सम्यग्दर्शन) एवं सही ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के पालन के माध्यम से आत्म-संयम द्वारा सम्भव है। गहन आत्मसंयम द्वारा मौजूदा कर्मों को भी जलाया जा सकता, इस छोटे सत्य को 'निर्जरा' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। अन्तिम सत्य है कि जब जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त हो जाता है, जो जैन दार्शनिक एवं विज्ञान-केन्द्रित चिन्तन का अभिप्रेत है।

गणितीय अवधारणाएँ

जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने गणित के महत्त्व पर और जोर देते हुए कहा; इस चलाचल जगत् में जो भी वस्तु विद्यमान है, वह बिना गणित के आधार के नहीं समझी जा सकती।

“बहुभिर्विप्रलापैः किं, त्रैलोक्ये सचराचरे।

यद् किंचिद् वस्तु तत्सर्वं, गणितेन बिना न हि।।”

(बहुत प्रलाप करने से क्या लाभ है? ...इस चराचर जगत् में जो-कोई भी वस्तु है वह गणित के बिना नहीं है/उसको गणित के बिना नहीं समझा जा सकता)।

जैनदर्शन में भी आकाश और समय असीम माने गये। इससे बहुत बड़ी संख्याओं और अपरिमित संख्याओं की परिभाषाओं में गहरी रुचि पैदा हुई। रिकरसिव/वापिस आ जाने वाला/सूत्रों के जरिये असीम संख्याएँ बनाई गयीं। अणुयोगद्वारा सूत्र में ऐसा ही किया गया। महावीराचार्य ने 'गणित-सार-संग्रह' जैसे युगान्तरकारी गणितीय ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें उन्होंने लघुत्तम समापवर्त्य निकालने के प्रचलित तरीके का वर्णन किया है। उन्होंने दीर्घवृत्त के अन्दर निर्मित चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र भी निकाला है। इस विषय पर ब्रह्मगुप्त ने भी काम किया था। इनडिटर्मिनेट समीकरणों का हल निकालने की समस्या पर भी 9वीं सदी में इन जैनाचार्यों में काफी रुचि दिखलायी। कई गणितज्ञों ने विभिन्न प्रकार के इन्डिटर्मिनेट समीकरणों का हल निकालने और निकटतम मान निकालने के बारे में सकारात्मक योगदान किया।

महावीराचार्य नौवीं शती के भारत के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् और गणितज्ञ थे। उन्होंने क्रम-चय-संचय (कम्बिनेटोरिक्स) पर बहुत उल्लेखनीय कार्य किये तथा विश्व में सबसे पहले क्रमचयों एवं संचयों (कम्बिनेशन्स) की संख्या निकालने का सामान्यीकृत सूत्र प्रस्तुत किया। वे अमोघवर्ष प्रथम नामक महान राष्ट्रकूट राजा के आश्रय में रहे। उन्होंने 'गणितसारसंग्रह' नामक गणित ग्रन्थ की रचना की, जिसमें बीजगणित एवं ज्यामिति के बहुत से विषयों की चर्चा है। उनके इस ग्रन्थ का पवुलुरि मल्लन् ने तेलुगु में 'सार-संग्रह-गणितम्' नाम से अनुवाद किया। उन्होंने क्रमचय एवं संचय की संख्या के सामान्य सूत्र प्रस्तुत किये। इसके अतिरिक्त उन्होंने डिग्रीवाले समीकरणों हल प्रस्तुत

किये, चक्रोय चतुर्भुज के कई गुणों (कैरेक्टरिस्टिक्स) को प्रकाशित किया, बताया कि ऋणात्मक संख्याओं का वर्गमूल नहीं हो सकता, उन्होंने समान्तर श्रेणी के पदों के वर्ग वाली श्रेणी के पदों का योग निकाला और दीर्घवृत्त की परिधि एवं क्षेत्रफल का अनुभव-जन्य सूत्र (इम्पेरिकल फॉर्मूला) प्रस्तुत भी किया।

नौवीं शताब्दी में आविर्भूत सुप्रसिद्ध दिगम्बर मनीषी महावीराचार्य के अंकगणित के ज्ञान की सराहना श्री डेविड यूजीन स्मिथ ने करते हुए, उनके द्वारा प्रवर्तित पोलीगॉन की अवधारणा को एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक चिन्तन के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। त्रिकोणमिति के क्षेत्र में ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य एवं भास्कराचार्य के अवदानों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए श्री डेविड ने त्रिभुज के क्षेत्रफल के निर्धारण हेतु निष्पादित नियमों में, महावीराचार्य को श्रेष्ठता का अभ्यंकन भी किया है। श्री ई.टी. बेल ने यह भी निष्पत्ति प्रस्तुत की है कि महावीराचार्य द्वारा प्रतिपादित प्रतीक विज्ञान एवं नहिक संख्या के वर्गमूल का निर्धारण नहीं हो पाने की अवधारणा मौलिक है। इसके साथ ही परिक्रमा गणित; जिसमें आठ आधारभूत गणितीय उपक्रम— वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, प्रत्युत्पन्न, भाग, संकलित एवं व्युत्कलित को समाहित करते हैं, करणानुयोग की कर्मसिद्धान्तोन्मुखी अवधारणाओं को परिपुष्ट करते हैं।

जैन गणितज्ञों ने पाँच प्रकार की असीम संख्याएँ बतलायीं :

1. एक दिशा में असीम, 2. दो दिशाओं में असीम, 3. क्षेत्र में असीम, 4. सर्वत्र असीम और, 5. सतत असीम। तीसरी सदी ई.पू. में रचित भागवती सूत्रों में और दूसरी सदी ई.पू. में रचित साधनांग सूत्र में क्रम-परिवर्तन और संयोजन को सूचीबद्ध किया गया है।

जैन समुच्चय सिद्धान्त सम्भवतः जैन ज्ञान मीमांसा के स्याद्वाद के समानान्तर ही उद्भूत हुआ, जिसमें वास्तविकता को सत्य की दशा युगलों और अवस्था परिवर्तन युगलों के रूप में वर्णित किया गया है। अणुयोगद्वारा सूत्र घातांक नियम के बारे में एक विचार देता है और इसे लघुगणक की संकल्पना विकसित करने के लिए उपयोग में लाता है। लाग आधार 2, लाग आधार 3 और लाग आधार 4 के लिए क्रमशः अर्ध आछेद, त्रिक आछेद और चतुराछेद जैसे शब्द प्रयुक्त किए गये हैं। षट्खंडागम में कई समुच्चयों पर लागरिथमिक फंक्शन्स को आधार 2 की क्रिया, उनका वर्ग निकालकर, उनका वर्गमूल निकालकर और सीमित या असीमित घात लगाकर की गयी है। इन क्रियाओं को बार-बार दुहराकर नये समुच्चय बनाये गये हैं। अन्य कृतियों में द्विपद प्रसार में आने वाले गुणकों का संयोजनों की संख्या से सम्बन्ध दिखाया गया है। चूँकि जैन ज्ञान-मीमांसा में वास्तविकता का वर्णन करते समय कुछ अंश तक अनिश्चयता स्वीकार्य है, अतः अनिश्चयात्मक समीकरणों से जूझने में और अपरिमेय संख्याओं का

निकटतम संख्यात्मक मान निकालने में वह सम्भवतः सहायक हुई।

जैन गणित के प्रख्यात विशारद डॉ. एल.सी. जैन के अनुसार जैन गणित की, सेट सिद्धान्त सम्बन्धी अवधारणा के विकास के अनुक्रम में, राशि के समानार्थी रूप में, समूह, पुंज, ओघ, वृन्द, संपत, समुदाय, पिण्ड, अवशेष, अभिन्न तथा सामान्य आदि का उपयोग किया गया है, जो आधुनिक गणितीय चिन्तन के तथ्यों को संस्पर्शित करता है। सेट इकाई की निर्मिति में समय द्वारा तात्कालिक एवं अविभाज्य घटक के रूप में समय की, किसी कण-विशेष द्वारा स्थान-विशेष पर विन्यस्त कण को प्रदेश, अविभाज्य सम्बद्ध भाग को अविभागी प्रतिच्छेद, त्वरित एवं प्रभावी बन्ध को समय-प्रबन्ध आदि द्वारा सम्योद्धित कर, आधुनिक गणितीय अवधारणाओं के समतुल्य चिन्तन का अभिप्रस्तुतीकरण किया गया है। राशियों का सत्तात्मक और रचनात्मक रूप में चिह्नित किया जाना उनके अस्तित्वशील तथा रचनाशील रूप की भी पहचान कराता है।

गणितीय मापन की इकाई को भी जैनाचार्यों ने परिभाषित किया है। पुद्गल के सूक्ष्म किन्तु अविभाज्य अंश को परमाणु की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। अनन्तानन्त परमाणु-समूह का सम्मिलन अवसंज्ञा स्कन्ध की निर्मिति करता है और आठ अवसंज्ञा स्कन्धों का समुच्चय एक संज्ञासंग स्कन्ध के नाम से अभिहित होता है। आठ संज्ञासंग स्कन्धों का समूह एक त्रुटिरेणु और आठ त्रसरेणु मिलकर एक रथरेणु बनाते हैं, जो एक उत्तम भोगभूमि का बालाग्र होता है। आठ उत्तम भोगभूमि के बालाग्र से एक मध्यम भोगभूमि का बालाग्र निर्मित होता है और आठ मध्यम भोगभूमि के बालाग्र से एक जघन्य भोगभूमि का बालाग्र बनता है। आठ जघन्य भोगभूमि के बालाग्र से एक मानवीय कर्मभूमि का बालाग्र बनता है। आठ कर्मभूमि के बालाग्र से एक लींक निर्मित होती है और आठ लींकों से एक जूँ बन जाती है। आठ जूँ एक यव बनाती हैं और आठ यव का एक उत्सेधांगुल बनता है। 500 उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल बनता है, जो अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती का आत्मांगुल है।

अन्य परिमापन की इकाइयों में प्रमुख रूप से अंगुल, बिलस्त, हाथ, गज, धनुष, कोस, योजन, महायोजन और राजू शामिल हैं। 6 अंगुल एक पाद बनाते हैं और बारह अंगुल एक बिलस्त। दो बिलस्त से एक हाथ की माप होती है, दो हाथ एक गज बनाते हैं, दो गज एक धनुष, तो दो हजार धनुष एक कोस की इकाई निर्मित करते हैं। चार कोस से एक छोटा योजन बनता है और दो हजार कोस एक महायोजन का निर्माण करते हैं। असंख्यात महायोजन मिलकर एक राजू बनाते हैं। मध्यलोक के असंख्यात द्वीप व समुद्र एक राजू के विस्तार में समाहित हैं। राजू एक ऐसी ही मापन इकाई है। सात राजू मिलकर एक जग-श्रेणी बनाते हैं; जो एक बड़ी खगोलीय इकाई को ईगित करता है। लोक का चौकोर आकार निरूपित किया गया है तथा उसका माप

एक जग-श्रेणी सदृश्य आख्यायित हुआ है। लोक की ऊँचाई दो जग-श्रेणी, एक जग-श्रेणी अधोलोक तथा एक जग-श्रेणी ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई तथा मध्यलोक की चौड़ाई भी एक जग-श्रेणी निरूपित की गयी है। राजू के सदृश ही योजन भी एक मापन इकाई है, जो रेखीय दूरी के मापन के निमित्त है एवं अंगुल्य तथा पल्य इसके खण्ड हैं। योजन का उपयोग भौगोलिक तथा खगोलीय मापन हेतु किया गया है।

एक पुद्गल का परमाणु आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक गमन करे; वह काल-खण्ड समय कहलाता है। जघन्य-युक्त असंख्यात समय को एक आवली कहते हैं। 24 मिनट की एक-एक घड़ी होती है एवं दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। 60 घड़ी का एक अहोरात्र बनता है और 15 दिनों का एक पक्ष। दो पक्ष मिलकर एक मास बनाते हैं तथा दो मास की एक ऋतु होती है। 6 मास का एक अयन होता है और दो अयनों का एक वर्ष होता है।

काल-सर्वण का उपयोग भी महावीरचार्य ने किया है एवं इसके 6 रूपों— गुणा, भाग, वर्ग, घन, घन-माला, योग को समाहित किया गया है। यावत्-तावत् क्रियाविधि का उपयोग सामान्य समीकरणों को पूरा करने हेतु उसी प्रकार से किया गया है, जिस प्रकार आधुनिक गणित में 'जहाँ तक हो सके या सीमा तक' किया जाता है। पल्य की अवधारणा आंगुल्य, व्यवहार, उद्धर, अद्ध को समाहित कर तात्कालिक सेट का निर्माण करती है, जो अधिकतर बेलनाकार आकृति के गणितीय प्रश्नों का समाधान करती है। इनके अतिरिक्त अर्धछेद, वर्गशलाका, वर्गित, संवर्गित, स्थान, विकल्प, अवैलिक, का जैन शास्त्रकारों द्वारा प्रयोग, आधुनिक गणितीय अवधारणाओं के साथ समतुल्यता उपस्थित करता है। साथ ही अंकगणित एवं ज्यामितीय विज्ञान में आदि, मुख, वदन, प्रभाव का उपयोग प्रगत्यात्मक अनुक्रम के लिए, दया, अन्तर, विशेष, अन्तर-स्पष्टीकरण हेतु एवं सामान्य अनुपात हेतु गुणकर, योग हेतु संकलित धन, योग के वर्गीकरण हेतु आदि, मध्य और उत्तर धन आदि पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया गया है।

9वीं सदी के उत्तरार्ध में श्रीधर ने जो सम्भवतया बंगाल के थे, नाना प्रकार के व्यावहारिक प्रश्नों जैसे अनुपात, विनिमय, साधारण व्याज, मिश्रण, क्रय और विक्रय, गति की दर, वेतन और हौज भरना इत्यादि के लिए गणितीय सूत्र प्रदान किये। कुछ उदाहरणों में तो उनके हल काफी जटिल थे। उनका पाटीगणित एक विकसित गणितीय कृति के रूप में स्वीकृत है। इस पुस्तक के कुछ खण्डों में अंकगणितीय और ज्यामितीय श्रेणियों का वर्णन है, जिसमें भिन्नात्मक संख्याओं या पदों की श्रेणियाँ भी शामिल हैं तथा कुछ सीमित श्रेणियों के योग के सूत्र भी हैं। गणितीय अनुसंधान की यह श्रृंखला 10वीं सदी में बनारस के विजयनन्दी तक चली आयी, जिनकी कृति 'करणतिलक' का अलवरूनी ने अरबी में अनुवाद किया था। महाराष्ट्र के श्रीपति भी इस सदी के

प्रमुख गणितज्ञों में से एक थे।

जैन गणित के आचार्यों को लघुगणक प्रणाली, लागारिथ्मस, आधुनिक युग में उसके प्रवर्तक नैपियर (550-617 ई.) से चार सौ वर्ष पूर्व, ईसा का प्रारम्भिक शताब्दी में ज्ञात थी। केशववर्णी द्वारा रचित गोम्पटसार-जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका को संस्कृत और कन्नड़ आदि दोनों ही भाषाओं में लिखा गया है। इस ग्रन्थ द्वारा जीवकाण्ड के रहस्यों का उद्घाटन कन्नड़-मिश्रित-संस्कृत में किया गया है। इस गणितीय प्रतिपादन में अब्राध गति है; इसमें जो करणसूत्र उन्होंने दिये हैं, वे उनके लौकिक और अलौकिक गणित के ज्ञान को प्रकट करते हैं। इन्होंने अलौकिक गणित सम्बन्धी एक स्वतन्त्र ही अधिकार इसमें दिया है, जो त्रिलोकप्रज्ञप्ति (तिलोयपण्णति) और त्रिलोकसार के आधार पर लिखा गया मालूम होता है। आचार्य अकलंक के लघीयस्त्रय और आचार्य विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थों के विपुल प्रमाण इसमें दिये गये हैं।

खगोलीय, ज्योतिषीय एवं भौगोलिक अवधारणाएँ

करणानुयोग शास्त्रों में भौगोलिक नक्शों द्वारा उत्तर तथा दक्षिणी अंचलों की प्रस्तुति करते हुए नदियों, पर्वतों का समानुपातिक प्रस्तुतीकरण, द्वीपों तथा समुद्रों के वलयों की अवस्थिति का उल्लेख तथा जम्बू द्वीप में समस्त आयामों की प्रस्तुति विशिष्टता के साथ हुई है। नक्शों में प्रस्तुतियाँ सीधी रेखा या गोल आकृति में निरूपित हुई हैं।

एक युग की अवधि पाँच वर्षों की बताई गयी है एवं सूर्य तथा चन्द्र की गतियों का भी आकलन किया गया है। अन्य ग्रहों तथा नक्षत्रों की गतिज अवस्थाओं का सटीक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। दृवराशि तकनीक के आधार पर तिथियों तथा नक्षत्रों की गणना के तरीकों की व्याख्या की गयी है। खगोलीय अवधारणाओं की प्राविधियों की प्रीमांसा करते हुए अयनान्तों एवं विषुव सयानों के विषय में भी पर्याप्त चर्चाएँ की गयी हैं। अयनान्तों के आधार पर छाया की लम्बाई के अनुमापन के आधार पर समयांकन की विधि आख्यात हुई है और चन्द्रमा की विविध कलाओं का अभिज्ञान कर चन्द्र-ग्रहण की अवधि, बारम्बारिता आदि भी विवेचित हुए हैं।

लोक को 343 घन राजू के आकार का निरूपित किया गया है, जिसमें अलोकाकाश की विद्यमानता निरूपित की गयी है।

पदार्थ कणों का चिन्तन एवं विवेचन

जैनधर्म विश्व को शाश्वत, नित्य, अनश्वर और वास्तविक अस्तित्व वाला मानता है। पदार्थों का मूलतः विनाश नहीं होता, बल्कि उसका रूप परिवर्तित होता है। जैनधर्म का भौतिकीय अवबोध पुद्गल के अस्तित्व को महत्वपूर्ण रेखांकित करता है। जैन

अवधारणाओं में व्याप्त पुद्गल, भौतिक विज्ञान के पदार्थ के समतुल्य-सदृश है और द्रव्य के माध्यम से लोक की निर्मिति की व्याख्या करता है। पुद् (फूसन) तथा गल (फिसन) के अन्तःसंयोग या विघटन से लोक की रचना का निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के सन्दर्भ में प्रवृत्त हुआ है। पुद्गल के रूप, गुण तथा पर्याय-आधारित तो होते ही हैं; वे स्थायी, भौतिक, अजीव, उर्जित, व्यापक तथा विस्तृत, दैहिक, मूर्त और परिवर्तनशील भी होते हैं और उनमें कर्म-रूपान्तरण की भी क्षमता होती है। परमाणु अन्तिम एवं अत्यन्त सूक्ष्म तथा अविभाज्य कण होता है।

द्रव्य की परिवर्तनशीलता की विवेचना आदि और अनादि परिणामों की गतिशीलता के साथ प्रस्तुत हुई है। आदि परिणाम रंग, गन्ध, स्वाद, स्पर्श, स्थान, संयोजन, गति, विभाजन, ध्वनि आदि के रूपान्तरण में अनुभूत होती है और अनादि परिणामों की अनुभूति द्रव्यत्व, मूर्तत्व और सत्त्व आदि में प्रकट होती है। द्रव्य की संख्या भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान कालखण्डों में अपरिवर्तनशील होती है एवं यह संस्थान, आकृति, उद्भव-उर्जित तथा क्षय आदि को प्राप्त करती है। पुद्गल विविध आकृतियों को धारण करने में सक्षम होता है और सकल उत्तमता के विविध स्वरूपों को अंगीकृत करने में सक्षम होता है।

सूक्ष्म परमाणुओं की वृहत्तर दुनिया :

जिन्दगी की निर्णायक कहानी : कर्म-सिद्धान्त

जैनधर्म में कर्म के सिद्धान्त पर जोर दिया गया है। जीवन में व्यक्ति अपने कर्मों का परिणाम भुगतता है। यह कर्म मोक्ष का भी हेतु होता है। मुक्ति 'त्रिरत्न' अर्थात् सम्यक् दर्शन या श्रद्धा (सही दृष्टि या विश्वास) सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चरित्र या आचरण (सही आचरण) के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। जैनधर्म में ऐसा माना जाता है कि संसार के प्राणी जो दुःख भोग रहे हैं, उसका कारण है उनका अपना-अपना कर्म। इस कर्म-बन्धन से मुक्त होना ही मोक्ष है। कर्म का जैन-सिद्धान्त में वह अर्थ नहीं है, जिसे कर्तव्य-कर्म कहा जाता है। 'कर्म' नाम के परमाणु होते हैं, जो आत्मा की तरफ निरन्तर खिंचते रहते हैं। इन्हें 'कार्मण वर्गणा' कहा जाता है। कर्म वह है, जो आत्मा का असली स्वभाव प्रकट न होने दे। उसे ढँक दे।

जैनधर्म में कर्म-सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया गया है। मूल कर्म आठ हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। उत्तर प्रकृतियाँ अनेक हैं। जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म वर्गणाएँ भार-हीन होती हैं। कर्म-वर्गणाओं में गुरु और लघु स्पर्श का अभाव है। जैनों ने न केवल तारों की गति

की ही जानकारी दी, अपितु ब्लैक होल-तमस्काय का वर्णन भी किया। पुद्गल के सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप को 'परमाणु' कहते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति और परिणाम के अनुसार वैसे कर्म-परमाणु आत्मा से चिपट जाते हैं और उनमें शक्ति भी आ जाती है। ये कर्म फिर सुख-दुःख देते हैं। जैन कर्म-सिद्धान्त इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से ईश्वरादि पर-कर्तृत्व या सृष्टि-कर्तृत्व के भ्रम को तोड़कर प्रत्येक प्राणी को अपने पुरुषार्थ द्वारा उस अनन्त चतुष्टय (अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-बल और अनन्त-वीर्य) की प्राप्ति का मार्ग सहज और प्रशस्त किया है।

वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का स्वयं स्रष्टा, स्वर्ग-नरक का निर्माता और स्वयं ही बन्धन और मोक्ष को प्राप्त करने वाला है। इसमें ईश्वर आदि किसी अन्य माध्यम को बीच में लाकर उसे कर्तृक मानना घोर मिथ्यात्व बतलाया गया है। इसीलिए 'बुद्धिज्जति उट्ठिज्जा बंधणं परिजाणिया'— आगम का यह वाक्य स्मरणीय है, जिसमें कहा गया है कि बन्धन को समझो और तोड़ो, तुम्हारी अनन्तशक्ति के समक्ष बन्धन की कोई हस्ती नहीं है। यद्यपि जन्म में तो शरीर के साथ ही आया, पर मरण के समय यह स्पष्ट हो जाता है कि देह मात्र रह गयी, आत्मा पृथक् हो गया, चला गया।

कार्य की उत्पत्ति में दो कारण माने जाते हैं—उपादान और निमित्त। निमित्त कारण वह होता है, जो उस उपादान का सहयोगी होता है, पर कारक नहीं। यदि प्रत्येक द्रव्य के परिवर्तन में पर द्रव्य को कर्ता माना जाय, तो वह परिवर्तन स्वाधीन न होगा, किन्तु पराधीन ही जाएगा और ऐसी स्थिति में द्रव्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाएगी। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव द्रव्य की संसार से मुक्ति पराधीन हो जाएगी, जबकि मुक्ति स्वाधीनता का नाम है या ऐसा कहिए कि पराधीनता से छूटने का नाम ही मुक्ति है।

संसार में जीव का बन्धन यद्यपि पर के साथ है, पर उस बन्धन में अपराध उस जीव का स्वयं का है। वह निज के स्वरूप को न जानने की भूल से पर को अपनाता है और वहीं उसका बन्धन है और यह बन्धन ही संसार है। इस बन्धन से छूटने के लिए जब उसे अपनी भूल का ज्ञान होता है, तो वह उस मार्ग से विरक्त होता है। संसारी आत्मा अपने विकारी भावों के कारण कर्म से बँधा है और अपने आत्म-ज्ञान रूप अविकारी भाव से ही कर्मबन्धन से मुक्त होता है; पर संसारी और मुक्त दोनों अवस्थाओं में अपने उन-उन भावों का कर्ता वह स्वयं है, अन्य कोई नहीं। ज्ञानी ज्ञान-भाव का कर्ता है और अज्ञानी अज्ञान-मय भावों का कर्ता है। 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने यही लिखा है—

यं करोति भावमात्मा कर्ता सो भवति तस्य कर्मणः।

ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः॥ -संस्कृत छाया, 126 ॥

अर्थात् जो आत्मा जिस समय जिस भाव को करता है, उस समय उस भाव का कर्ता वही है। ज्ञानी का भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानी का भाव अज्ञानमय होता है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र भी लिखते हैं—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ 67 ॥

कर्ता और कर्म के सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेतु तत् कर्म।

या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ 51 ॥

अर्थात् जो पदार्थ परिवर्तित होता है, वह अपनी परिणति का स्वयं कर्ता है और वह परिणमन उसका कर्म है और परिणति ही उसकी क्रिया है। ये तीनों वस्तुतः एक ही वस्तु में अभिन्न रूप में ही हैं, भिन्न रूप में नहीं।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।

एकस्य परिणतिः स्यात् अनेकमप्येकमेव यतः ॥ 52 ॥

द्रव्य अकेला ही निरन्तर परिणमन करता है, वह परिणमन भी उस एक द्रव्य में ही पाया जाता है और परिणति क्रिया उसी एक में ही होती है, इसलिए सिद्ध है कर्ता, कर्म, क्रिया अनेक होकर भी एक-सत्तात्मक है। तात्पर्य यह है कि हम अपने परिणमन के कर्ता स्वयं हैं, दूसरे के परिणमन के कर्ता नहीं हैं। आगे चलकर आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः

दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।

तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं ब्रजेत्

तत् किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ 55 ॥

अर्थात् संसारी प्राणियों की अनादि काल से ही ऐसी दौड़ लग रही है कि मैं पर को ऐसा कर लूँ। यह मोही अज्ञानी पुरुषों का मिथ्या अहंकार है। जब तक यह टूट न हो, तब तक उसका कर्म-बन्ध नहीं छूटता। इसीलिए वह दुःखी होता है और बन्धन में पड़ता है। इसी को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।

आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ 56 ॥

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है और परद्रव्यों के

भावों का (परिवर्तनों का) कर्ता परद्रव्य ही है। आत्मभाव आत्मा ही है।

एक को दूसरों के सुख-दुःख, जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञानता है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो-फिर स्वयं-कृत शुभाशुभ-कर्म निष्फल सिद्ध होंगे। इस सन्दर्भ में आचार्य अमितांगति का यह कथन स्मरणीय है—

*स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनी, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥*

इस तरह जैन-कर्म-सिद्धान्त दैववाद नहीं, अपितु अध्यात्मवाद है, क्योंकि इसमें दृश्यमान सभी अवस्थाओं को कर्मजन्य कहकर यह प्रतिपादन किया गया है कि 'आत्मा अलग है और कर्मजन्य शरीर अलग है' इस भेद-विज्ञान का सर्वोच्च उपदेष्टा होने के कारण जैन-कर्म-सिद्धान्त अध्यात्मवाद का ही दूसरा नाम सिद्ध होता है।

जैन जैविक चिन्तन

निश्चय नय की दृष्टि से जो चेतन है, प्राण धारण करता है और जीवित है, जीव द्रव्य से अभिहित किया गया है। व्यवहार की दृष्टि से आयु, बल, श्वासोच्छ्वास, एवं इन्द्रिय—इन चार प्राणों से जो जीवित रहता है, उसे जीव-द्रव्य कहते हैं। जीव के मुख्य रूप से दो भेद हैं: संसारी जीव और मुक्त जीव। संसारी जीवों के भी दो भेद बताये गये हैं : त्रस और स्थावर जीव। इन्द्रियों की अपेक्षा से जीवों के पाँच भेद हैं : एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय जीव, त्रि-इन्द्रिय जीव, चतुरिन्द्रिय जीव एवं पंचेन्द्रिय जीव। स्थावर जीव पाँच प्रकार के होते हैं : पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव। चलते-फिरते त्रस जीवों की श्रेणी में दो से पंचेन्द्रिय जीव समाहित हैं। इन्द्रियों के आधार पर यह वर्गीकरण किया जाता है।

जीव की जैविक यात्रा के विविध आयामों की मीमांसा करने के क्रम में चौरासी लाख जैविक जातियों/प्रकारों का अभिलेखन तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यकार ने प्रस्तुत करते हुए सिर्फ जैविक विविधता की आख्या प्रस्तुत की है, प्रत्युत जन्म, जीवन, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि के चक्र की अनन्तता की भी आख्या प्रस्तुत की है— पर्यावरणीय समग्रता के सन्दर्भ में। जैविक रूपों के वैविध्य की चर्चा तब और-विस्मयकारी हो जाती है, जब लुवेन्हाक के सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार के सदियों पहले ही आचार्यों द्वारा सूक्ष्मदर्शियों का विस्तृत- विवरण गहरे-विश्लेषण के साथ उपलब्ध होता है। निगोद की संज्ञा से अभिहित इन सूक्ष्मजीवों के आकार, प्रकार गुणों के विशद वर्णन के अतिरिक्त पृथ्वीकाय, वायुकाय, जलकाय जीवों का भी विस्तृत वर्णन सम्पूर्ण जैविक जगत् के प्रति आचार्यों

के संवेदनशील दृष्टिकोणों एवं गहरे वस्तुनिष्ठ ज्ञान को आख्यायित करता है। स्पर्श, घ्राण, रसना, चक्षु आदि ऐन्द्रिक चैतन्यशीलता के आधार पर जैविक वर्गीकरण को आधुनिक वर्गीकरण पद्धतियों के काफी समीप महसूस किया जा सकता है। जीवों के गुणों की व्याख्या के क्रम में उनकी वय का तथ्यपरक विश्लेषण, चेतनशीलता और प्रजननशीलता का विस्तृत प्रस्तुतीकरण आधुनिक-जीव-वैज्ञानिकों को विस्मित करता है।

प्रकृति-चिन्तन : पर्यावरण-संरक्षण

आत्मिक उत्कर्ष की साधना के अभिक्रम में तृतीय उपक्रम पर्यावरण संरक्षण के भी प्रेरक निमित्त रूपों में आख्यायित हुए हैं। व्रत और नियमों की एक वैज्ञानिक साधना अहिंसक-पथ पर मोक्षमार्गीय साधना के जरिये कर्मों की निर्जरा के क्रम में, प्रत्येक उपक्रम, प्रत्येक आचरण, प्रत्येक प्रवृत्ति— चलने में, उठने-बैठने में, वर्ज्य-पदार्थों के विसर्जन में, जलाशयों में स्नान करने, वस्त्र-प्रक्षालन में, आजीविका के चयन में हिंसा-परिपोषित वाणिज्य-उन्मुख गतिविधियों को स्फूर्त करने में, जीवों को प्रताड़ित करने, बन्धक बनाने या उन्हें कष्ट देकर आर्थिक उपार्जन करने में, या फिर जीवों के घात से जुड़े व्यवसायों से पूर्ण विरति जहाँ आत्मोत्थान के उपक्रमों को संबलित करती है, वहीं प्राकृतिक संरक्षण, धारणीय विकास एवं पारिस्थितिक सन्तुलन को सहजता के साथ सफलतापूर्वक सुनिश्चित भी करती है, पूर्ण सकारात्मकता के साथ।

जैनधर्म ने सर्वाधिक पौधों को अपनाए जाने का सन्देश भी दिया है। सभी 24 तीर्थंकरों के अलग-अलग 24 पौधे हैं। बुद्ध और महावीर सहित अनेक महापुरुषों ने इन वृक्षों के नीचे बैठकर ही निर्वाण या मोक्ष को पाया। जैनधर्म में चैत्यवृक्षों या वनस्थली की परम्परा रही है। चेतना-जागरण में पीपल, अशोक, बरगद आदि वृक्षों का विशेष रेखांकन किया गया है। ये वृक्ष भरपूर ऑक्सीजन देकर व्यक्ति की चेतना को जाग्रत बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसलिए इस तरह के सभी वृक्षों के आस-पास चवूतरा बनाकर उन्हें सुरक्षित कर दिया जाता था, ताकि वहाँ व्यक्ति बैठकर ही शान्ति का अनुभव कर सकता है।

सम्यक्त्व-समन्वित चिन्तन : जैनधर्म की वैज्ञानिक दृष्टि—मुक्ति पथ पर आरोहण

विज्ञान एक सतत अभिक्रिया है और धर्म की चेतना में भी है अभिव्याप्त एक चिन्तन तत्त्व और एक निर्मल तथा शुचितापूर्ण प्रवाह जो ज्ञान की, दर्शन की और आचरण के भी सम्यक्त्व की पवित्र सत्ता को रेखांकित करता है। विशुद्ध ज्ञान वस्तुनिष्ठ

है, अनाग्रही है, अनासक्त है और करता है सत्य का बहुविध संस्पर्श भी। चित्त चैत्य है, यानी सत्य चेतना-स्वरूप है। विज्ञान में तर्क का अवसर रहता है, तो जैनधर्म का वैज्ञानिक दर्शन भी कार्य-कारण सम्बन्ध को रेखांकित करता है। सत्य और ज्ञान भिन्न नहीं, प्रत्युत एक सिक्के के दो पहलू हैं, जिनके सन्धान में विज्ञान भी सन्नद्ध है, तो धर्म की भी वही तो मंजिल है। सत्य जानना है, मानना नहीं। मानना दासता है; अन्य की खोज व मान्यता के प्रति समर्पण है। जानना निज का है, निज का अनुभव करता है— ज्ञाता, द्रष्टा भाव की परिणति।

जीवन का सत्य और गणित अतीव रहस्यपूर्ण है। जानना विज्ञान है, जिसमें खोज निरन्तर है। जैन दृष्टि जानने की है। तीर्थंकर मार्ग दिखाते हैं, बनाते नहीं हैं। वे द्रष्टा-ज्ञाता होकर साक्षी होते हैं। किसी भाषा, विचार, आचार या व्यवहार में बँधते नहीं हैं, बाँधते भी नहीं। हर नया प्रयोग अपने समय में क्रान्ति का स्वरूप अंगीकृत कर परिवर्तन लाता है और बन जाता है; वही, समय के साथ, परम्परा भी। इसलिए, जानना, देखना और बोध करना ही जीवन-क्रान्ति है, वैज्ञानिक दृष्टि के साथ जीवन जीने की कला है। जैन धर्म-दर्शन इसी क्रान्ति का प्रणेता है। वहाँ न व्यक्ति के प्रति आग्रह है और न ही किसी विचार या फिर मत के प्रति दुराग्रह भी। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त और व्यवहार में 'भी' सूत्र ऐसी अनुपम युति है, जिसमें विवाद, हिंसा या हस्तक्षेप का अवसर ही नहीं रहता है और धर्म के वस्तु-स्वभावी स्वरूप की सफल साधना हो जाती है।

दो धाराओं के सम्मिलन का यह मात्र सन्धि-स्थल नहीं, प्रत्युत यह तो है एक समेकित-चिन्तन प्रवाह, जहाँ साधना में रुढ़ तत्त्व नहीं, आडम्बर नहीं, थोपी हुई श्रद्धा नहीं, जोड़ बन गयी आराधना-पद्धति नहीं बल्कि चित्त में प्रवाहित होने वाला पवित्र और निर्मल प्रवाह है सात्विकता का, चैतन्यशीलता का और मुक्ति की साधनाशीलता का भी, सम्यक्त्व के चिन्तन से स्फूर्त रहकर; सदैव।

सन्दर्भ :

1. तत्त्वार्थसूत्र :उमास्वामी; 1994, अ क्लासिक पैनुअल फॉर अंडरस्टैंडिंग द टू नेचर आफ रिएलिटी-नथमल टटिया, हार्पर कॉलिन्स, सैन फ्रांसिस्को
2. द कम्प्लीट वर्क आफ अरिस्तो। टल; जोनाथन वार्नेस (सम.), 1984, प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस
3. द हिडेन हार्ट आफ द कोसमोस: ह्यूमानिती एण्ड द निठ स्टोरी: ब्राइन स्विम्मे; 1996, मैरिकोल, न्यूयॉर्क
4. जैन सूत्र: आचारांग सूत्र एवं कल्पसूत्र: हर्मन जैकोबी, 1984. डोवर, न्यूयॉर्क

5. जैन योग; अ सर्वे ऑफ द मेडिक्ल श्रावकाचार; 1984. आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस
6. साइंटिफिक आइडियास इन जैन कैनेनिकल राइटिंग्स एण्ड ट्रेडीसन्स इन लाइफ थोट एण्ड कल्चर इन इण्डिया: एल.सी. जैन; 2001, पी.एच.आई.पी.यी., नई दिल्ली
7. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा: स्व. डा. नेमिचंद्र शास्त्री; 1976, प्राच्य श्रमण भारती, मेरठ
8. वरैया स्मृति ग्रन्थ: सम. स्व. डा. नेमिचंद्र शास्त्री; 1963. अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्।
9. जैन स्पिरिचुअल एकोलोजी: नलिन के. शास्त्री. 2007, सतीशचंद्र जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली
10. इनवायरनमेंट एण्ड नान-पजेशन: नलिन के. शास्त्री; 2011, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय प्रस्तुति।

गणित

डॉ. अनुपम जैन

किसी काल-विशेष में गणितीय ज्ञान की समृद्धि उस देश की उस काल में सभ्यता की उन्नत अवस्था को व्यक्त करती है। भारत में गणितीय विकास की परम्परा 7-8 हजार वर्ष प्राचीन है। मोइन-जो-दारो की खुदाई में प्राप्त अवशेष तथा वेदों में संख्यासूचक शब्दों, योग, गुणन आदि की संक्रियाओं तथा परवर्ती साहित्य संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों के सन्दर्भ इसके पुष्ट प्रमाण हैं। जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी गणितीय अभिरुचि की यथेष्ट सामग्री उपलब्ध है। श्रमण एवं वैदिक दोनों परम्पराओं के साहित्य में उपलब्ध गणितीय सामग्री को भारतीय गणित की संज्ञा दी जाती है।

जैन आगम ग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं, निर्युक्तियों, भाष्यों तथा जैनाचार्यों द्वारा पारम्परिक ज्ञान के आधार पर रचित ग्रन्थों यथा षट्खण्डागम², कषायप्राभृत³, आचार्य कुन्दकन्द द्वारा रचित पंचास्तिकाय⁴, आचार्य उमास्वामी प्रणीत तत्त्वार्थ सूत्र⁵ एवं उनके टीका साहित्य में निहित गणितीय ज्ञान को जैन गणित की संज्ञा दी जाती है। टीका साहित्य के अतिरिक्त भूल एवं टीका-ग्रन्थों में आगत विषयवस्तु को स्पष्ट करने के भाव से लोकरचना विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति)⁶, तिलोयसार (त्रिलोकसार)⁷, जंबूदीव-पण्णत्ति-संगहो (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह)⁸, लोय विभाग (लोक विभाग)⁹ तथा गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड)¹⁰, लब्धिसार¹¹, क्षपणासार¹², सिद्धान्तसार दीपक¹³, त्रैलोक्य दीपक¹⁴, त्रिलोक दर्पण¹⁵ आदि का भी सृजन किया गया, जो अनेक मौलिक गणितीय संक्रियाओं एवं सूत्रों से समृद्ध हैं।

जैन परम्परा के आचार्यों श्रीधर¹⁶, महावीर¹⁷, सिंहतिलकसूरि¹⁸, राजादित्य¹⁹, ठक्करफेरू²⁰, हेमराज गोदीका²¹ ने लौकिक गणित के विषयों को स्पष्ट करने हेतु स्वतन्त्र गणितीय ग्रन्थों का सृजन किया एवं ये-सब जैन गणित की अमूल्य निधियाँ हैं। 1912 में एम. रंगाचार्य द्वारा महावीराचार्य कृत 'गणित-सार-संग्रह' के प्रकाशन से पूर्व भारतीय गणित की इस महत्त्वपूर्ण शाखा से कोई परिचित नहीं था। प्रो. बी.बी. दत्त द्वारा ही 1929 में 'The Jaina School of Mathematics'²² शीर्षक आलेख के प्रकाशन के माध्यम से भारतीय गणित की इस महत्त्वपूर्ण शाखा के समग्र अध्ययन का पथ प्रशस्त किया गया।

गणित का एक उद्देश्य गणना सम्बन्धी माडल प्रस्तुत करना है, किन्तु महावीराचार्य (850 ई.) 'गणित-सार-संग्रह' में लिखते हैं—

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।

यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन बिना न हि।।७।।^१

और व्यर्थ के प्रलापों से क्या लाभ है ? जो-कुछ इन तीनों लोकों में चराचर वस्तुएँ हैं उनका अस्तित्व गणित से विलग (अलग) नहीं है।

आत्म-कल्याण के प्रधान लक्ष्य को लेकर दीक्षा लेने वाले जैन आचार्यों/मुनियों तथा सुधी स्वाध्यायी विज्ञपुरुषों का लक्ष्य गणित का विकास कभी नहीं रहा, तथापि जैन साहित्य में निम्नांकित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु गणित का साधन के रूप में प्रयोग हुआ।

1. लोक के स्वरूप के विवेचन, तीन लोक एवं उसके विविध खण्डों के आकार, प्रकार, क्षेत्रफल, घनफल आदि प्राप्त करना। इस क्रम में लौकिक गणित के विषय विवेचित हुए।
2. कर्मों की प्रकृतियों के विश्लेषण, भेद-प्रभेद, समस्त जीव राशियों की गणना, आयुष्य, संख्यात-असंख्यात, अनन्त विषयक गणितीय सिद्धान्तों की स्थापना। इसमें लोकोत्तर गणित का विकास हुआ, जिसमें कर्म के निकायों (Systems) का विकास समाविष्ट है।

लौकिक गणित के क्षेत्र में शून्य का प्रयोग एवं दशमिक स्थानमान सूचियों का विकास बहुत महत्वपूर्ण है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य, वाजसनेय कृत वाजसनेयी संहिता तथा तैत्तरीय संहिता में 10^{19} (अर्थात् 20 पदों) तक की सूची मिलती है^२, किन्तु जैनाचार्य महावीर (850 ई.) ने सर्वप्रथम 24 स्थानों की स्थानमान सूची दी, जिसमें अनेक पद नये हैं। तीर्थंकरों की संख्या 24 होने के कारण ही सम्भवतः महावीराचार्य की 24 पदों की सूची बनाने का विचार आया?

एक	10^1
दश	10^2
शत	10^3
सहस्र	10^4
दश सहस्र	10^5
लक्ष	10^6
दश लक्ष	10^7
कोटि	10^8
दश कोटि	10^9
शत् कोटि	10^{10}

अर्बुद	10^{10}
न्यर्बुद	10^{11}
खर्व	10^{12}
महाखर्व	10^{13}
पद्म	10^{14}
महापद्म	10^{15}
छोणी	10^{16}
महाछोणी	10^{17}
शंख	10^{18}
महाशंख	10^{19}
क्षित्या	10^{20}
महाक्षित्या	10^{21}
क्षोभ	10^{22}
महाक्षोभ	10^{23}

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को विषयानुसार विभाजन के क्रम में 4 अनुयोगों में विभाजित किया जाता है²⁵ —

1. प्रथमानुयोग
2. करणानुयोग
3. चरणानुयोग
4. द्रव्यानुयोग

गणित का विषय प्रमुखतः करणानुयोग में पाया जाता है, किन्तु शेष 3 अनुयोगों में भी प्रसंगवश यत्र-तत्र गणितीय विषय आये हैं। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुयोग-विभाजन में गणितानुयोग एक स्वतन्त्र अनुयोग है। अन्य तीन अनुयोग हैं— धर्मकथानुयोग, चरण—करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग।

तिलोयपण्णत्ती, तिलोयसार आदि करणानुयोग के ग्रन्थों में कालमान, क्षेत्रमान एवं द्रव्यमान की अत्यन्त विस्तृत सूचियाँ दी गयी हैं। इन सूचियों में यत्र-तत्र किञ्चित् मतभेद भी हैं, तथापि ये सूचियाँ जैनाचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि एवं विशाल संख्याओं में अभिरुचि व्यक्त करती हैं।

कालमान—करणानुयोग के प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) में आचार्य यतिवृषभ ने निम्न सूची दी है, जो थोड़े-बहुत परिवर्तनों सहित जैन परम्परा के अन्य ग्रन्थों जंबूद्वीव-पण्णत्ति-संगहो, तिलोयसार, हरिवंशपुराण, राजवार्तिक आदि में भी मिलती है, किन्तु जैनेतर-परम्परा में उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परानुसार काल की

सूक्ष्मतम अविभाज्य इकाई समय है। एक परमाणु के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से जाने में लगने वाला काल समय है। यथा—

जघन्य युक्त असंख्यात समय = 1 आवली

संख्यात आवली = 12 उच्छ्वास = $\frac{2880}{3773}$ सेकेण्ड

7 उच्छ्वास = 1 स्तोक = $5\frac{185}{539}$ सेकेण्ड

7 स्तोक = 1 लव = $37\frac{31}{77}$ सेकेण्ड

$38\frac{1}{2}$ लव = 1 नाडी (घड़ी) = 24 मिनट

2 नाडी = 1 मुहूर्त = 48 मिनट

30 मुहूर्त = 1 अहोरात्र

15 अहोरात्र = 1 पक्ष

2 पक्ष = 1 मास

2 मास = 1 ऋतु

3 ऋतु = 1 अयन

2 अयन = 1 वर्ष

5 वर्ष = 1 युग

इसके बाद दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्पराओं में अन्तर है।

दिगम्बर परम्परा

84 लाख वर्ष	= 1 पूर्वांग
84 लाख पूर्वांग	= 1 पूर्व
84 पूर्व	= 1 पूर्वांग
84 लाख पूर्वांग	= 1 पर्व
84 पर्व	= 1 नियुतांग
84 लाख नियुतांग	= 1 नियुत
84 नियुत	= 1 कुमुदांग
84 लाख कुमुदांग	= 1 कुमुद
84 कुमुद	= 1 पद्मांग
84 लाख पद्मांग	= 1 पद्म
84 पद्म	= 1 नलिनांग

श्वेताम्बर परम्परा

84 लाख वर्ष	= 1 पूर्वांग
84 लाख पूर्वांग	= 1 पूर्व
84 लाख पूर्व	= 1 त्रुटितांग
84 लाख त्रुटितांग	= 1 त्रुटित
84 लाख त्रुटित	= 1 अडडांग
84 लाख अडडांग	= 1 अडड
84 लाख अडड	= 1 अववांग
84 लाख अववांग	= 1 अवव
84 लाख अवव	= 1 हूहूकांग
84 लाख हूहूकांग	= 1 हूहूक
84 लाख हूहूक	= 1 उत्पलांग

84 लाख नलिनांग	= 1 नलिन	84 लाख उत्पलांग	= 1 उत्पल
84 नलिन	= 1 कमलांग	84 लाख उत्पल	= 1 पद्मांग
84 लाख कमलांग	= 1 कमल	84 लाख पद्मांग	= 1 पद्म
84 कमल	= 1 त्रुटितांग	84 लाख पद्म	= 1 नलिनांग
84 लाख त्रुटितांग	= 1 त्रुटित	84 लाख नलिनांग	= 1 नलिन
84 त्रुटित	= 1 अट्टांग	84 लाख नलिन	= 1 अर्थनिपुरांग
84 लाख अट्टांग	= 1 अट्ट	84 लाख अर्थनिपुरांग	= 1 अर्थनिपुर
84 अट्ट	= 1 अममांग	84 लाख अर्थनिपुर	= 1 अयुतांग
84 लाख अममांग	= 1 अमम	84 लाख अयुतांग	= 1 अयुत
84 अमम	= 1 हाहांग	84 लाख अयुत	= 1 प्रयुतांग
84 लाख हाहांग	= 1 हाहा	84 लाख प्रयुतांग	= 1 प्रयुत
84 हाहा	= 1 हूहू अंग	84 लाख प्रयुत	= 1 नयुतांग
84 लाख हूहू अंग	= 1 हूहू	84 लाख नयुतांग	= 1 नयुत
84 हूहू	= 1 लतांग	84 लाख नयुत	= 1 चूलिकांग
84 लाख लतांग	= 1 लता	84 लाख चूलिकांग	= 1 चूलिका
84 लता	= 1 महालतांग	84 लाख चूलिका=1 शीर्ष प्रहेलिकांग	
84 लाख महालतांग	= 1 महालता	84 लाख शीर्ष प्रहेलिकांग=1 प्रहेलिका	
84 लाख महालता	= 1 श्रीकल्प		
84 लाख श्रीकल्प	= 1 हस्तप्रहेलित		
84 लाख हस्तप्रहेलित	= 1 अचलात्म		

राशि अचलात्म बहुत बड़ी संख्या है ²⁷ इसका मान $(84)^{31} \times 10^{90}$ वर्ष है। किंचित् भिन्न रूप में श्वेताम्बर परम्परा में भी कालमान की सूची मिलती है, जिसमें उत्कृष्ट संख्यात शीर्ष प्रहेलिका है ²⁸ एवं इसका मान और-भी बड़ा $(8400000)^{28} = 84^{28} \times 10^{140}$ है। इस बारे में श्वेताम्बर-परम्परा की बल्लभी-वाचना एवं माथुरी-वाचना के ग्रन्थों में भी मतभेद है।

इसी प्रकार क्षेत्र की माप हेतु द्रव्य के अविभागी अंश को परमाणु कहा है। जैन परम्परा का परमाणु आधुनिक परमाणु से भिन्न बहुत सूक्ष्म है।

अनन्तान्त परमाणु	= 1 अवसन्नासन्न
8 अवसन्नासन्न	= 1 सन्नासन्न
8 सन्नासन्न	= 1 त्रुटरेणु (व्यवहाराणु)
8 त्रुटरेणु	= 1 त्रसरेणु
8 त्रसरेणु	= 1 रथरेणु
8 रथरेणु	= 1 उत्तम भोगभूमि का बालाग्र

8 उ.भो.भू.बा	= 1 मध्यम भोगभूमि का वालाग्र
8 म.भो.भू.बा	= 1 जघन्य भोगभूमि का वालाग्र
8 ज.भो.भू.बा	= 1 कर्म भोगभूमि का वालाग्र
8 क.भो.भू.बा	= 1 लिखा
8 लिखा	= 1 जूँ
8 जूँ	= 1 यव
8 यव	= 1 उत्सेधांगुल
500 उत्सेधांगुल	= 1 प्रमाणांगुल
24 अंगुल	= 1 हस्त
4 हस्त	= 1 दण्ड/धनुष
2000 धनुष	= 1 कोश
4 कोश	= 1 योजन
500 योजन	= 1 प्रमाण योजन = 4545.45 मील लगभग है।

पात्र इतना ही नहीं, लोकोत्तर गणित के अन्तर्गत जो गणित आता है, उसकी प्रकृति लौकिक गणित से बिल्कुल भिन्न है। उसमें पत्य, सागर, उपमा मान आदि की इकाइयाँ हैं। लोक की रचना में प्रयुक्त इकाई रज्जु (राजु) भी असंख्यात प्रकृति की है, जिसकी सटीक गणना सम्भव नहीं है। केवल अनुमान ही लगाये जा रहे हैं। वैदिक परम्परा में जहाँ ज्यामिति का प्रारम्भिक विकास यज्ञ-वेदिकाओं की रचना हेतु किया गया था, वहीं जैन परम्परा में लोक के विभिन्न भागों के आकार, प्रकार, क्षेत्रफल, आयतन, जीव राशियों की संख्या आदि के ज्ञान हेतु ज्यामिति का विकास हुआ।

जैन परम्परा में गणित के किन-किन प्रकारों की चर्चा है, इसके विषय में जानकारी देने वाली एक गाथा स्थानांगसूत्र में है।

दसविधे संखाणे पण्णत्ते तं जहा!

परिकम्पं ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने (कलासवण्णे) य।

जावंतावति वग्गो धणोय त तह वग्ग वग्गोवि कप्पो य। त।^{११}

इस गाथा में संख्या (गणित) के 10 प्रकारों की चर्चा है। स्थानांगसूत्र के व्याख्याकार अभयदेव सूरि ने सर्वप्रथम इसकी व्याख्या प्रस्तुत की थी। इसके पश्चात् बी.बी. दत्त, एच.आर. कापड़िया, मुकुट बिहारीलाल अग्रवाल, बी.एल. उपाध्याय, एल.सी. जैन आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से इनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

हम यहाँ विभिन्न मतों को सारणीबद्ध कर रहे हैं—

क्र.	शब्द	अभयदेव सूरि का मत	बी.बी. दत्त का मत	आधुनिक मत
1.	परिकर्म	संकलन आदि	अंकगणित के परिकर्म (8)	अंक गणित के आठ मूलभूत परिकर्म
2.	ववहारो	श्रेणी व्यवहार या पाटी गणित	अंकगणित के परिकर्मों पर आधारित प्रश्न	अंक गणित के आठ परिकर्मों पर आधारित प्रश्न
3.	रज्जु	समतल ज्यामिति	रेखा गणित	लोकोत्तर गणित (लोकोत्तर प्रमाण)
4.	रासी	अन्नों की ढेरी	राशियों का आयतन आदि निकालना	समुच्चय सिद्धान्त
5.	कलासवने	भिन्न	भिन्न	भिन्न
6.	जावत्-तावत्	प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन	सरल समीकरण	सरल समीकरण
7.	वगो	वर्ग	वर्ग समीकरण	वर्ग समीकरण
8.	घणो	घन	घन समीकरण	घन समीकरण
9.	वग-वगो	चतुर्थ घात	चतुर्थ घात समीकरण	उच्च घात समीकरण
10.	विकण्यो	क्रकचिका व्यवहार	विकल्प गणित	विकल्प एवं भंग (क्रमचय, संचय)

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि जैन-आगमों में निहित गणितीय विषयों की सूची अत्यन्त व्यापक है और उसमें गणित का बहुत-बड़ा क्षेत्र समाहित है।

जैन गणित की कतिपय मौलिकताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. जैनाचार्यों ने संख्या का प्रारम्भ 2 से किया है, यद्यपि वे गणना की प्रक्रिया 1 से शुरू करते हैं। उनकी दृष्टि में संख्या समूह की बोधक होती है एवं 1 (एक) वस्तु व्यावहारिक दृष्टि से कोई समूह नहीं बनाती^{१०} संख्याएँ ही जब व्यष्टि रूप में गिनती/गणना के काम आती हैं, तब गिनतियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार सर्वाधिक छोटी संख्या जघन्य संख्यात 2 है। ऐसी संख्याएँ जिनके वर्ग में से स्वयं संख्या को घटाने पर संख्या से अधिक शेष बचता है— का एक अन्य वर्ग कृति बनाया गया है संक्षिप्ततः, जो निम्न प्रकार है—

- (i) गिनतियाँ 1, 2, 3, 4, 5,.....
- (ii) संख्याएँ 2, 3, 4, 5, 6,.....
- (iii) कृतियाँ 3, 4, 5, 6, 7,.....

2. जैनाचार्यों ने संख्याओं को व्यक्त करने हेतु अनेक विधियों का प्रयोग किया है। यथा—

- (i) अंकों द्वारा

(ii) अक्षर-संकेतों द्वारा

(iii) शब्द-संकेतों द्वारा

प्रत्येक अंक अथवा संख्या को व्यक्त करने वाले अनेक अक्षर एवं शब्द नियत हैं। इन शब्दों का चयन जैन वाङ्मय से किया जाता है। यथा रत्न 3 के लिए, गति 4 के लिए, इन्द्रियाँ 5 के लिए, द्रव्य 6 के लिए, तत्त्व 7 के लिए, गुणस्थान 14 के लिए, तीर्थंकर 24 के लिए। अक्षरों द्वारा अंकों को लिखने की पद्धति गोम्मटसार में उपलब्ध है।¹

अंकों एवं अक्षरों दोनों के माध्यम से संख्याओं को व्यक्त करने की अनेक विधियों का प्रयोग जैन-ग्रन्थों में मिलता है।

(i) दायीं ओर से बायीं ओर तक प्रत्येक अंक का प्रतिपादन एवं व्युत्क्रम।

(ii) स्थान मान के आधार पर अंकों का प्रतिपादन।

(iii) आदि एवं अन्त के अंकों का उल्लेख कर मध्य के तुल्य अंकों का एक-साथ उल्लेख।

(iv) किसी संख्या के वर्ग या घन के रूप में किसी संख्या को व्यक्त करना।

(v) शब्दों द्वारा अंकों का स्थान-क्रमानुसार उल्लेख।

3. जैनाचार्यों ने समस्त संख्याओं को 3 मुख्य वर्गों एवं पुनः 21 उपवर्गों में विभाजित कर उनमें अन्तर एवं क्रम निर्धारित किया है।

(i) संख्यात—जहाँ तक गणना सम्भव है।

(ii) असंख्यात—गणना से आगे की राशि किन्तु अगणनीय अनन्त से छोटी।

(iii) अनन्त—असंख्यात से बड़ी, किन्तु व्यय होने पर भी अनन्त काल तक न समाप्त होने वाली। पुनः संख्यात को 3, असंख्यात को 9 एवं अनन्त को 9 भेदों में विभाजित कर उनमें सूक्ष्म-अन्तर किया है।¹ अनन्त को स्वरूप एवं प्रकृति के आधार पर 11 भेदों में अलग से भी विभाजित किया गया है।

4. जैन आचार्यों ने बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने हेतु घातांकों के आधुनिक सिद्धान्तों, अल्प-बहुत्व की मौलिक रीति, वर्गित संवर्गित की रीति का प्रयोग किया है। इसके अन्तर्गत 2 का तृतीय वर्गित संवर्गित 256^{256} की विशाल राशि है। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय वर्गित संवर्गित निम्नांकित हैं³²—

$$2^1 = 2^2 \quad \overline{2}^2 = \{2^2\}^{2^1}$$

$$\overline{2}^3 = \left\{ \{2^2\}^{2^2} \right\}^{\left\{ \{2^2\}^{2^2} \right\}} = \left| 4^4 \right|^{4^4} = 256^{256}$$

= $256 \times 256 \times 256 \dots$ बार गुणा करना

= बहुत बड़ी संख्या

5. अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाका के नाम से आधुनिक लघुगुणक (Logarithms) के सिद्धान्तों का प्रयोग तिलोयपण्णती एवं धवला में किया गया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इनके आविष्कार का श्रेय John Napier (1550-1617 A.D.) एवं J. Burgi (1552.1632 A.D.) को देते हैं, जो सम्यक् नहीं है। प्रो. ए.एन.सिंह ने इसे पूर्णतः जैनियों का आविष्कार माना है। 'तिलोयपण्णती' में $\log_2$, $\log_3$ मिलते हैं, किन्तु $\log_{10}$ या $\log_e$ नहीं। धवला टीका में इससे सम्बद्ध अनेक सूत्र भी मिलते हैं। जैसे—

$$\log m.n = \log m + \log n$$

$$\log \frac{m}{n} = \log m - \log n$$

$$\log m^n = n \log m$$

$$\log \log m^n = \log n + \log \log m$$

एवं अन्य अनेक सूत्र दिये हैं।

6. जैन आचार्यों ने विभिन्न गणितीय राशियों, यथा—संख्यात, असंख्यात, अनन्त, शून्य, पत्य, सागर, लोक, जगश्रेणी, अंगुल, धनांगुल तथा गणितीय प्रक्रियाओं—योग अन्तर, गुणन, भाग, अर्द्धच्छेद, वर्गशलाका आदि को व्यक्त करने हेतु अनेक चिन्हों का प्रयोग किया है। इन संकेतों का अर्थ-ग्रहण करना वर्तमान में दुरूह अवश्य है, किन्तु जटिल प्रक्रियाओं को इस माध्यम से अत्यन्त संक्षेप में व्यक्त कर दिया गया है। जो उस समय गणितीय विकास का आधार बनी।

संख्यात	?	जगश्रेणी	-
असंख्यात	α	जगप्रतर	=
अनन्त	ख	धनलोक	$\equiv$

एवं 0, -, +, ' , यो आदि अनेक अंक गणितीय, बीजीय एवं ज्यामितीय संकेत हैं।

7. पूर्णांक संख्याओं के समान ही भिन्नों के विकास में भी जैन आचार्यों का अति-विशिष्ट स्थान है। सूर्यप्रज्ञप्ति (500 ई.पू.) में अनेक प्रकार की जटिल भिन्नों, उनके गुणन, भाग, व्युत्क्रम, विच्छेद आदि के उदाहरण मिलते हैं। परवर्ती ग्रन्थों में भी इनका व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। जम्बूद्वीप

प्रज्ञप्ति, अनुयोग द्वार सूत्र एवं तिलोपपण्णत्ती में करणीगत राशि $\sqrt{a^2 + \epsilon}$ का मान $a + \epsilon / 2a$ प्रयोग किया जाता है। श्रीधर कृत त्रिंशतिका के उपरान्त ध्वला टीका में वित्त भिन्नो का सुन्दर निर्वचन अन्य उदाहरणों सहित उपलब्ध है।³⁴ ये प्रकरण पश्चिम में भारत में विकसित होने के बाद प्रचलित हुए। महावीराचार्य (850 ई.) ने भिन्नो के योग हेतु लघुत्तम समापवर्त्य का नियम (निरुद्ध नाम से)³⁵ तथा किसी भी भिन्न को इकाई अंश वाली भिन्नो अर्थात् एकांशक भिन्नो के पदों में व्यक्त करने के अनेक नियम³⁶ प्रस्तुत किये हैं। ये दोनों महावीराचार्य के मौलिक योगदान हैं।

8. महावीराचार्य (850 ई.) ने सर्वप्रथम ऋणात्मक संख्याओं की प्रकृति में वर्गमूल न होने के कथन के माध्यम से प्राकृतिक संख्याओं में ऋणात्मक संख्याओं के वर्गमूल की उपस्थिति को नकारा। उनके इस प्रयास ने काल्पनिक संख्याओं के विकास का पथ प्रशस्त किया।³⁷
9. क्रमचय एवं संचय का विषय जैन-साहित्य में विशदता के साथ भंग एवं विकल्प शीर्षकों के अन्तर्गत प्राचीन काल से उपलब्ध है। यत्र-तत्र इसको प्रस्तार, परिवर्तन, आलाप की संज्ञा दी गयी है। भगवती सूत्र, स्थानांगसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र (150 ई.पू.—150 ई.) में वस्तुओं में से 1, 2, 3.....वस्तुओं को प्राप्त करने के नियम दिये हैं। यथा—

$${}^n C_1 = n \quad {}^n C_2 = \frac{n(n-1)}{1.2} \quad {}^n C_3 = \frac{n(n-1)(n-2)}{1.2.3}$$

$${}^n P_1 = n \quad {}^n P_2 = n(n-1) \quad {}^n P_3 = n(n-1)(n-2)$$

उपरान्त लिखा है कि इसी प्रकार 5, 6, 7.....10 संख्यात, असंख्यात के सन्दर्भ में इनका मान ज्ञात किया जा सकता है। अनुयोगद्वार-सूत्र की हेमचन्द्रसूरि-कृत टीका से स्पष्ट है कि इसके व्यापक सूत्रों

$${}^n P_r = \frac{n!}{(n-r)!} \text{ का ज्ञान जैनाचार्यों को था।}$$

भाष्यकार जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य (609 A.D.) में भद्रबाहु कृत आवश्यक निर्युक्ति से 2 गाथाएँ उद्धृत की हैं, जिसमें ${}^n P_n = n! = n(n-1)(n-2) \dots 3.2.1$ दिया है।³⁸

महावीराचार्य (850 ई.) ने n वस्तुओं में से r के चयन का व्यापक-सूत्र दिया है।³⁹

$${}^nC_r = \frac{n(n-1)(n-2)\dots\dots\dots\{n-(r-1)\}}{1.2.3.\dots\dots\dots r}$$

$$= \frac{n!}{r!(n-r)!}$$

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत गोम्मतसार में भी भंग संज्ञा से इस विषय का सुन्दर एवं व्यावहारिक विवेचन मिलता है।

10. श्रेणियों के सन्दर्भ में जैनाचार्यों का योगदान अद्वितीय है। तिलोयपण्णत्ती, श्रीधराचार्य की त्रिशतिका, महावीराचार्य कृत गणितसारसंग्रह, त्रिलोकसार आदि 10वीं.श.ई. के पूर्व के ग्रन्थों में एवं ठक्कुर फेरु की गणितसार-कौमुदी में श्रेणियों का व्यापक-प्रयोग उत्कृष्टता के साथ उपलब्ध है, किन्तु इन-सब में महावीराचार्य एवं आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का योगदान सर्वोच्च है।
11. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 14 विशिष्ट अवरोही अनुक्रमों (Divergent Sequences) का सुन्दर विवेचन त्रिलोकसार में प्रस्तुत किया है।¹⁰
12. बीज गणितीय समीकरणों के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन जैन ग्रन्थों स्थानांगसूत्र आदि में समीकरणों के प्रकार आदि का उल्लेख मिलता है, बीजीय राशियों से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध है। भास्कराचार्य के उल्लेखानुसार श्रीधर के अनुपलब्ध ग्रन्थ बीजगणित में द्विघात समीकरण ax^2+bx+c को हल करने की आधुनिक रीति दी है।

चतुराहतवर्गसमैरूपैः	पक्षद्वयं	गुणयेत्
अव्यक्तवर्गरूपैर्युक्तो	पक्षो	ततो मूलम्। ¹¹

यदि समीकरण $ax^2+bx=c$ है, तो

$$4a(ax^2+bx)+b^2=4ac+b^2$$

$$(2ax+b)^2=4ac+b^2$$

$$X = \frac{-b \pm \sqrt{b^2 + 4ac}}{2a}$$

महावीराचार्य ने तो एक घात, द्विघात, त्रिघात एवं बहुघात वाली एक अज्ञात राशि एवं अनेक अज्ञात राशि के समीकरणों तथा युगपत्-समीकरणों को हल करने की विधियाँ रोचक उदाहरणों सहित दी हैं।

13. ज्यामिति में बीजगणित का अनुप्रयोग जैनाचार्यों का वैशिष्ट्य है। स्वेच्छापूर्वक

चयनित सार्थक जन्य बीज राशियों से किसी समकोण की रचना, एक निश्चित भुजा वाले विभिन्न समकोण त्रिभुजों की रचना, निश्चित परिमाप अथवा क्षेत्रफल वाले अनेक समकोण त्रिभुजों की रचना, निश्चित क्षेत्रफल अथवा अनुपात के आयत युगलों की रचना के नियम दिये हैं। वस्तुतः एक निश्चित कर्ण माना C वाले विभिन्न समकोणों की शेष दो भुजाओं के मापों के समूहों का ज्ञान करने हेतु जो तथाकथित Fibonacci Sequence प्रचलित है, वह 1202 A.D. में Fibonacci एवं Vieta (1580 A.D.) द्वारा पुनः आविष्कृत होने के पूर्व 850 ई. में महावीराचार्य द्वारा प्रतिपादित हो चुका था।¹² यथा—

$$C, \left(\frac{m^2 - n^2}{m^2 + n^2} \right) C, \left(\frac{2mn}{m^2 + n^2} \right) C$$

14. आधुनिक बीजगणित (Modern Algebra) के मूलाधार समुच्चय की अभिधारणा ही नहीं अपितु उसके भेद, उपभेद, उदाहरण उन पर संक्रियाएँ, पट्खण्डागम की ध्वला टीका में राशि-नाम से उपलब्ध हैं। राशि यहाँ समुच्चय का ही पर्याय है। एकैकी संगति (One-one Mapping) सुक्रमबद्धी प्रमेय (Well Ordering Theorem) का वहाँ प्रयोग हुआ है। विश्वविख्यात जैन-कर्म-सिद्धान्त का आधुनिक निकाय सिद्धान्त से अद्वितीय साम्य है। वहाँ कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा में जिन पद्धतियों का विवेचन है, वे सब वर्तमान शताब्दी में विकसित निकाय सिद्धान्त (System Theory) के लगभग समकक्ष हैं।¹³

15. स्थानांग सूत्र (ठाण) में संख्यात संख्याओं का वर्तमान की अपेक्षा अधिक विस्तृत वर्गीकरण मिलता है।¹⁴

कृत युग्म	—	$4n+4$	=	4, 8, 12,.....
त्र्योज	—	$4n+3$	=	3, 4, 11,.....
द्वापर युग्म	—	$4n+2$	=	2, 6, 10,.....
कल्योज	—	$4n+1$	=	1, 5, 9, ...
		यहाँ n	=	0, 1, 2, 3,.....

संक्षिप्ततः जैन गणित जैन साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है, जिसके अध्ययन के बिना जैनागमों विशेषतः करणानुयोग के ग्रन्थों को सम्यक् प्रकार से हृदयंगम करना शक्य नहीं है। गणित के क्षेत्र में जैनाचार्यों का योगदान प्रशंसनीय एवं अनेक मौलिकताओं से युक्त है, किन्तु अभी अनेक गणितीय पाण्डुलिपियाँ अप्रकाशित हैं। इसके प्रकाश में आने के बाद ही गणित के क्षेत्र में जैनाचार्यों के योगदान अर्थात् जैन गणित का वृहत्तर पक्ष प्रकाश में आ सकेगा।

सन्दर्भ

1. प्रो. बी.बी. दत्त ने इसे हिन्दू गणित कहा है। उनकी कालजयी रचना History of Hindu Mathematics, vol. 1 & 2, Motilal Banarsidas, Lahore, 1935, 39 Reprint Bhartiya Kala Prakashan, Delhi, 2001 में वैदिक एवं जैन परम्परा के गणित को समाहित किया गया है।
2. पट्टखण्डागम, आचार्य धरसेन, धवला टीका सहित, भाग 1-16, संपा.—डॉ. हीरालाल जैन, द्वितीय संस्करण, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1973 आदि।
3. कषायपाहुड, आचार्य गुणधर, आचार्य यतिवृषभ कृत चूर्णिसूत्रों सहित, भा.दि. जैन संघ, मथुरा, 1968 आदि
4. पंचास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, षष्ठम् संस्करण, 1998
5. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी (उमास्वाति?), विवे.—पं. फूलचन्द शास्त्री सिद्धान्ताचार्य, श्री गणेशवर्णी दि. जैन शोध संस्थान, वाराणसी, 1991
6. तिलोयपण्णति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति), भाग 1-3 अनु. आर्यिका विशुद्धमती, भा. दि. जैन महासभा, कोटा, 1984-90
7. त्रिलोकसार (प्राकृत तिलोयसार), आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, अनु.—आ. विशुद्धमती, आ. शिवसागर ग्रन्थमाला, श्रीमहावीरजी, 1974
8. जम्बूद्वीप-पण्णति-संग्रहो (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह), आ. पदमनन्दि, संपा.—प्रो. हीरालाल जैन एवं आ. ने. उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1958
9. लोक विभाग, आ. सिंहसूर्य कृत, संपा.—प्रो. हीरालाल जैन एवं आ. ने. उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1962
10. गोमटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड), भाग 1-4 संपा, -सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाश चन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1979-80
- 11-12. लब्धिसार-क्षपणासार, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, संपा. - पं. रत्नचन्द्र मुख्तार, आ. शिवसागर ग्रन्थमाला, श्रीमहावीरजी, 1983
13. सिद्धान्तसारदीपक, भट्टारक सकलकीर्ति, टीका-आर्यिका विशुद्धमती, आ. शिवसागर ग्रन्थमाला, श्रीमहावीरजी, 1981
14. त्रैलोक्य दीपक, पं. वामदेव, अप्रकाशित, अमर ग्रन्थालय, इन्दौर, पाण्डुलिपि क्रमांक 293
15. त्रिलोक दर्पण, कवि खड्गसेन, अप्रकाशित, अमर ग्रन्थालय, इन्दौर, पाण्डुलिपि क्रमांक 513
16. पाटी गणित, आचार्य श्रीधर, सम्पादन अनुवाद-कृपा शंकर शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, 1968
- त्रिंशतिका, श्रीधराचार्य, व्याख्याकार—डॉ. सुद्युम्न आचार्य, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2004
- ज्योतिर्ज्ञानविधि-आचार्य श्रीधर, अप्रकाशित, ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भण्डार, उज्जैन पाण्डुलिपि क्रमांक 661
17. गणितसार-संग्रह, महावीराचार्य, अनुवाद प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1963

18. गणिततिलक, श्रीपति, सिंहतिलकसूरि कृत टीका सहित, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, 1937
19. व्यवहारगणित, राजादित्य, सम्पादक—एम. मरिअप्पा भट्ट, मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, 1955
20. गणितसारकौमुदी, ठक्कर फेरु, सम्पादन एवं अंग्रेजी अनुवाद Sakhya मनोहर बुक्स, 2009
21. गणितसार-हेमराज की एक अज्ञात गणितीय पाण्डुलिपि, ज्ञान देशना 1 (1) जनवरी-जून 2008, पृ. 77-84
22. B.B Datta, The Jaina School of Mathematics, B.C.M.S., Calcutta—21 (1929), pp 115-143
23. गणितसार संग्रह, महावीराचार्य, अध्याय-1, श्लोक-16, पृ.-3
24. काजसनेयी संहिता, 17.2 एवं प्राचीन भारतीय गणित, ब.ल. उपाध्याय, पृ. 106
25. रत्नकरंड श्रावकाचार, अध्याय-2, गाथा 43-46, आ. समन्तभद्र, सम्पा.—पन्नालाल बाकलीवाल, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, कलकत्ता, 1952
26. पंचास्तिकाय, गाथा-25 की समय व्याख्या, पृ. 50
27. तिलोपपण्णत्ति, अध्याय-4, गाथा 308
28. विश्व प्रहेलिका, मुनि महेन्द्र कुमार द्वितीय, जवेरी प्रकाशन, मादुंगा, 1969, पृ. 245
29. ठाणं (स्थानांग), अध्याय-7, गाथा-100
30. त्रिलोकसार, गाथा-15
31. तिलोपपण्णत्ती, अध्याय-1, गाथा 310-312
32. धवला, पुस्तक-3, पृ. 20
33. धवला, पुस्तक-3 एवं L.C. Jain, On Some Mathematical Topics of Dhavala Texts, I.J.H.S. (Calcutta) 11 (2), 1976, पृ. 45-46
34. धवला, पुस्तक-3, पृ. 45-46
35. गणित-सार-संग्रह, अध्याय-3, श्लोक 56
36. गणित-सार-संग्रह, अध्याय-1, श्लोक 75-84
37. गणित-सार-संग्रह, अध्याय-1, श्लोक-52
38. विशेषावश्यक भाष्य, वैशाली, गाथा 940, 941, पृ. 248
39. गणित-सार-संग्रह, अध्याय-6 श्लोक-218
40. त्रिलोकसार, गाथा 163-223
41. भास्करीय बीजगणित, वासना व्याख्या सहित, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1997, अव्यक्त वर्ग समीकरण, पृ. 221
42. गणित-सार-संग्रह, अध्याय-7, गाथा 122½
43. अधिक विवरण हेतु देखें,
L.C. Jain, Set theory in Jaina School of Mathematics, I.J.H.S. (Calcutta), 8 (1), 1973, पृ. 1-27
44. ठाणं, अध्याय-4, गाथा 364, पृ. 390

भूगोल

प्राचार्य अभयकुमार जैन

वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु, नन्दीश्वरे यानि च मन्दरेषु।

यावन्ति चैत्यायतनानि लोके, सर्वाणि वन्दे जिनपुंगवानाम्॥

“जैन भूगोल एक स्वगृह का बोध कराने वाला शास्त्र है, एक जीवनदर्शन है, ठोस सत्य है, कल्पना-मात्र नहीं है।”

“लोक परिज्ञान से हमारी अर्न्तदृष्टि खुलती है। हमारे ज्ञान-दर्पण में सब-कुछ साफ-साफ झलकने लगता है। हमारे भटकन के क्षेत्र क्या हैं और उनका स्वरूप क्या है? हमारी लोकयात्रा का भूत-भविष्य-वर्तमान पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। हमें एक जीवन-दर्शन मिलता है, जो हमें आत्मा की ओर ले जाता है। यह हमें हमारे भटकन के क्षेत्रों का बोध कराके अनन्तानन्त की जानकारी देता है।”

“अतः हम जैन भूगोल को जानें और लोकस्वरूप को समझें।... जैनाचार्यों ने लोक का इतना विस्तृत वर्णन शास्त्रों/ग्रन्थों में इसीलिए किया है कि हम उस संचरण मंच को अच्छी तरह जान-समझ लें, जिस पर हम अज्ञानी बने अनादि काल से अभिनय करते आ रहे हैं।”

“ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, स्वर्ग-नरक, द्वीप-समुद्र, सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र आदि जैन भूगोल-खगोल के विवरण हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं, परोक्ष हैं। हमारे इन्द्रिय ज्ञान से नहीं जाने जा सकते। ये पदार्थ दूरार्थ/दूरवर्ती तथा अत्यन्त प्राचीन हैं। सभी केवलीगम्य हैं और केवली/सर्वज्ञ प्राप्त भी हैं। अतः ये हमारी आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास के विषय हैं। जैन भूगोल धर्मध्यान का भी विषय है। ध्यानस्थ श्रमण संस्थानविचय धर्मध्यान में लोक के स्वरूप, विस्तार आदि का चिन्तन किया करते हैं।”

जैन भूगोल का प्रतिपाद्य— जैन भूगोल करणानुयोग का विषय है। इसमें लोक-

अलोक का विभाग, लोक-स्वरूप, युग-परिवर्तन और चारों गतियों के जीवों की स्थिति का निरूपण होता है।' लोक का स्वरूप, स्थिति, भेद, स्वर्ग-नरक, द्वीप-समुद्र, क्षेत्र-कुलाचल, पर्वत-नदी-सरोवर, देव-नारकी, मनुष्य-तिर्यच, काल-परिवर्तन, नरक-स्वर्ग-पटल आदि का सांगोपांग-सविस्तार विवेचन जैन भूगोल का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

जैन-वाङ्मय में भूगोल— आचार्य श्री उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे-चौथे अध्याय में जैन भूगोल-खगोल का संक्षेप में प्रतिपादन है, जिसका विस्तार परवर्ती आचार्यों की टीकाओं में हुआ है। अन्य जैनाचार्यों ने भी जैन भूगोल प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थों का सृजन किया है। इनमें आचार्य यतिवृषभ की तिलोपपण्णती अति-महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीनतम कृति है। सिद्धान्तचक्रवर्ती आ. श्री नेमिचन्द्रकृत त्रिलोकसार दूसरी अनुपम रचना है। इनके सिवाय लोकविभाग—(श्री सिंहसूरिषकृत), जंबूद्वीवपण्णती-संगहो—(श्री पद्मनंदिकृत), जंबूद्वीव-समास—(श्री उमास्वाति कृत), संघायणी—(श्री जिनभद्रकृत), जंबूद्वीव संघायणी—(श्री हरिभद्रकृत), शास्त्रसारसमुच्चय-त्रैलोक्य दर्पण (अभयनन्दी मुनि कृत), भुवनदीपक—(हेमप्रभसूरि कृत) तथा बृहत्क्षेत्र-समास, लोक-विनिश्चय, सूरपण्णति, चंदपण्णति, जम्बूद्वीवपण्णति, लोकस्थिति (संस्कृत) आदि अन्य जैनभूगोल-खगोल प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। जैन पुराणकारों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में लोक-विभाग, भूगोल-खगोल आदि का वर्णन प्रसंगानुसार यथास्थान किया है। त्रिलोकसार भाषा वचनिका (पं. श्री टोडरमल), श्री मोतीलाल सराफकृत-जैनज्योतिर्लोक, आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमति माताजीकृत 'त्रिलोक-भास्कर' हिन्दी की अन्य उपलब्ध रचनाएँ हैं। लोकविज्ञान विषयक ये जैन ग्रन्थ बड़े रोचक व ज्ञान-वर्धक हैं। ये जैन भूगोल-खगोल का याथातथ्य विश्लेषण करते हैं/परिचय देते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि आध्यात्मिक विकास में/मोक्षमार्ग को साधना में लोकविज्ञान को जानने की क्या आवश्यकता/उपयोगिता है? इसे हम क्यों जानें-समझें?

लोकविज्ञान की उपयोगिता—'तीर्थंकर' मासिक के सम्पादक डॉ. नेमिचन्द्र जैन ने अगस्त 1982 के अंक की सम्पादकीय 'लोककथा' में लिखा है—“यह लोक सारे द्रव्यों का संचरण मंच है, जिस पर यह जीव अनादिकाल से अनवरत अभिनय कर रहा है, पर उसे अपने पथ्य और मंच का थोड़ा भी ज्ञान नहीं है। 'लोकपरिज्ञान' से जीव को अन्तर्दृष्टि खुलती है और ज्ञान के दर्पण में सब-कुछ साफ-साफ झलकने लगता है—हमारे भटकने के क्षेत्र क्या हैं और उनका स्वरूप क्या है? हमारी लोकयात्रा का भूत-भविष्य-वर्तमान पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। हमें एक जीवन-दर्शन मिलता है, जो हमें आत्मा की ओर ले जाता है। अतः जैन भूगोल एक स्वर्गह का बोध कराने वाला शास्त्र है, एक जीवन-दर्शन है, ठोस सत्य है, कल्पना-मात्र नहीं है। यह हमें

हमारे भटकन के क्षेत्रों का बोध कराके असीम और अनन्तानन्त की जानकारी देता है, जो हमें भीतर की ओर ले जाता है। अतः हम जैन भूगोल को जानें और लोकस्वरूप को समझें।”

“जैन भूगोल का सम्बन्ध ‘कर्मसिद्धान्त’ से है। कर्म ही हमारी लोक-यात्रा का नियामक तत्त्व है। कर्म ही हमें ऊपर स्वर्ग में ले जाते हैं, ये ही नीचे नरकों में ढकेलते हैं और ये ही हमें बीच में भरमाते हैं तथा ये ही हम अज्ञानियों को संसार-सागर में डुबोते हैं।”

“भूगोल=भू-वलय शब्द से हमारे चक्राकार भ्रमण का दृश्य हमारे सामने उपस्थित होता है। हम आँखों पर पट्टी बाँधे कोल्हू के बैल की तरह घूम रहे हैं। इसीलिए जैनाचार्यों ने लोक का इतना विस्तृत वर्णन शास्त्रों/ग्रन्थों में किया है कि मनुष्य उस संचरण-मंच को अच्छी तरह जान-समझ ले, जिसपर वह अज्ञानी बना निरन्तर अभिनय कर रहा है।”—(तीर्थकर-अगस्त 1982) ‘लोकविज्ञान’ को जानने-समझने की यही आवश्यकता/उपयोगिता है।

जैन भूगोल में लोक-अलोक— जैन भूगोल सृष्टि/लोक, उसका स्वरूप, स्थिति-विस्तार, विभाग और उसके निवासियों की विशद विवेचना करता है। ‘लोक’ शब्द यद्यपि जन, भुवन, अवलोकन, इहलोक-परलोक, सृष्टि आदि अनेक अर्थों का बोधक है² तथापि जैनवाङ्मय में भूगोल के सन्दर्भ में छह द्रव्यों के आधारभूत आकाश को लोक तथा उससे बाहर अनन्त आकाश को अलोक³ कहा गया है। जहाँ जीवादि छह द्रव्य देखे जाते हैं, वह लोक है और लोक के बाहर विस्तृत समस्त अनन्त आकाश ‘अलोक या अलोकाकाश है।’

लोकस्थिति/लोकस्वरूप⁴— अनन्त अलोकाकाश के बीच निराधार सोंके की तरह लोक की स्थिति है। अनन्त-प्रदेशी सर्वाकाश के बहुमध्य भाग में आकाश के बीचों-बीच 343 घनराजू क्षेत्र में असंख्यातप्रदेशी लोक है। निश्चय से यह अकृत्रिम, अनादि, अनधिक, स्वभाव से निष्पन्न, सर्वाकाश के अवयव स्वरूप, अमिट (अचल) अनन्त और नित्य है। इसे किसी ने बनाया नहीं है और न हरि, हर आदि इसे धारण किए हुए हैं।

लोक का आकार⁵— पूर्व-पश्चिम दिशा में लोक का आकार कमर पर दोनों हाथ रखकर पैरों को फैलाकर खड़े हुए पुरुष के आकार-जैसा है। इसका अधोभाग वेत्रासन के समान, मध्यभाग झालर या थाली के समान, और ऊर्ध्वभाग पृदंग के समान दिखाई देता है। यह चौदह राजू ऊँचा है। उत्तर-दक्षिण में नीचे से ऊपर तक सर्वत्र सात राजू विस्तृत है। पूर्व-पश्चिम में नीचे सात राजू चौड़ा है, फिर दोनों ओर से क्रमशः घटते-

घटते सात राजू की ऊँचाई पर मात्र एक राजू चौड़ा है। इसके बाद ऊपर बढ़ते-बढ़ते साढ़े दस योजन की ऊँचाई पर इसकी चौड़ाई 5 राजू हो जाती है। तत्पश्चात् फिर दोनों ओर से घटते-घटते चौदह राजू की ऊँचाई पर इसकी चौड़ाई मात्र एक राजू हो शेष रह जाती है। त्रिलोकरूप क्षेत्र की मोटाई-चौड़ाई-ऊँचाई आदि का वर्णन 'दृष्टिवाद अंग' से निकला है।⁷

त्रसनाली⁸— लोकाकाश के बहुमध्य भाग में बीचों-बीच एक राजू चौड़ी-मोटी और 14 राजू ऊँची पोले बाँस की तरह या वृक्ष में स्थित सार की भाँति सार्थक नामवाली 'त्रसनाली' है। यह त्रसजीवों से भरी हुई है। यद्यपि यहाँ पाँचों प्रकार के स्थावर जीव भी होते हैं, पर त्रसजीवों की प्रधानता के कारण इसे 'त्रसनाली' कहा जाता है। यह त्रसजीवों की सीमा है। इसके बाहर कुछ अपवादों को छोड़कर त्रसजीव नहीं पाये जाते हैं। वहाँ केवल एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का ही सद्भाव होता है। सर्वार्थसिद्धि और तिलोपपण्णती में त्रसनाली की ऊँचाई कुछ कम 13 राजू की बतलाई गयी है।⁹ मारणान्तिक समुदघात, उपवाद तथा केवली समुदघात की अपेक्षा ही त्रसनाली के बाहर त्रसजीवों का सद्भाव सम्भव है, अन्यथा विल्कुल नहीं।

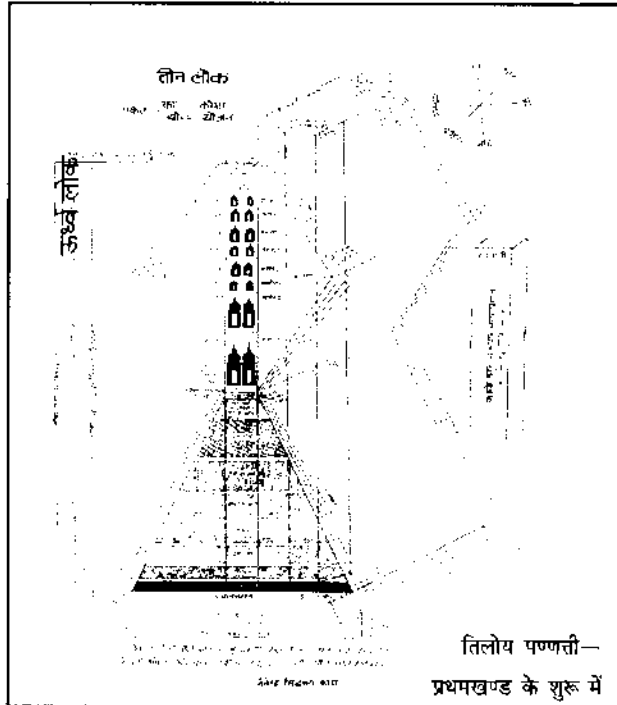
लोकविभाग¹⁰— लोक के 3 भाग हैं— अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक। लोक का निचला भाग 'अधोलोक' है। ऊपर लोकान्त तक का भाग 'ऊर्ध्वलोक' है। इन दोनों लोकों के बीच में बराबर रेखा में तिरछा फैला हुआ लोक के मध्य का भाग 'मध्यलोक' है। तिरछा विस्तार अधिक होने से इसे 'तिर्यक्-लोक' भी कहा जाता है। समूचे लोक को 'त्रिलोक' भी कहते हैं।

वातवलय— यह लोक ऊपर-नीचे चारों ओर से घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलयों से परिवेष्टित है—घिरा हुआ है। ये वातवलय एक प्रकार की वायु के पुंज हैं, जो समस्त लोक को घेरे हुए हैं। गोमूत्र-सदृश-वर्ण वाला घनोदधि, मूँग-सदृश-वर्ण वाला घनवात तथा अनेक वर्ण वाला तनुवातवलय हैं। ये तीनों वृक्ष की छाल के सदृश लोक को घेरे हुए हैं। इनके आधार से ही यह लोक आकाश में ठहरा हुआ है। सबसे पहले यह लोक जलमिश्रित वायु के पुंज घनोदधि-वातवलय से घिरा है। इसे सघन वायुरूप घनवातवलय ने बेढ़ रखा है। इसे तीसरे हल्की वायु के पुंज तनु-वातवलय ने परिवेष्टित कर रखा है। ये सब आकाश के आधार हैं और आकाश अपने आधार से स्थित है, क्योंकि आकाश आधार भी है, आधेय भी है। यह स्व-प्रतिष्ठित है।¹¹ आकाशमात्मप्रतिष्ठं, तस्यैवाधाराधेयत्वात्—सर्वार्थ. 3/1-367

इन वातवलयों की मोटाई लोक के निचले भाग से लेकर एक राजू की ऊँचाई तक बीस-बीस हजार योजन है। इसके ऊपर सातवें नरक से मध्यलोकपर्यन्त दोनों पार्श्वों

में ये तीनों क्रमशः 7, 5, 4 योजन मोटे हैं। मध्यलोक की बाजुओं में ये क्रमशः 5, 4, 3 योजन ही मोटे हैं। मध्यलोक के ऊपर पाँचवें ब्रह्मलोक तक ये क्रमशः 7, 5, 4 योजन मोटे हैं। इसके ऊपर लोकान्त तक ये क्रमशः 5, 4, 3 योजन मोटे रह जाते हैं। लोक-शिखर पर इनकी मोटाई क्रमशः 2 कोश, 1 कोश और कुछ-कम एक कोश (1575 धनुषमात्र) ही शेष रह जाती है।¹²

तीन लोक रचना



अधोलोक

वेत्रासन या आधे मृदंग के समान आकार वाला तथा सात राजू ऊँचा लोक का निचला भाग अधोलोक है। यह नीचे सात राजू और ऊपर मात्र 1 राजू चौड़ा है। इसमें ऊपर से नीचे 6 राजू तक सात नरक भूमियाँ हैं और अन्त के एक राजू क्षेत्र में केवल निगोदिया जीव हैं। यह क्षेत्र 'कल-कल पृथ्वी' कहलाता है। सातों नरक और निगोद अधोलोक/पाताललोक में गर्भित हैं। अधोलोक का घनफल 196 घनराजू है।

अधोलोक में ऊपर से नीचे 6 राजुओं में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा,

धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा नाम की यथार्थ नामों वाली सात नरकभूमियाँ हैं। इनकी प्रभा इनके नामों जैसी ही है। इनके रौढ़िक नाम क्रमशः, धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मधवी और माधवी हैं।¹³ नारकी जीवों के निवास का आधार होने से ये 'नरक या नरक भूमियाँ' कहलाती हैं। ('अहलोए होति णेरइया' [146] कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

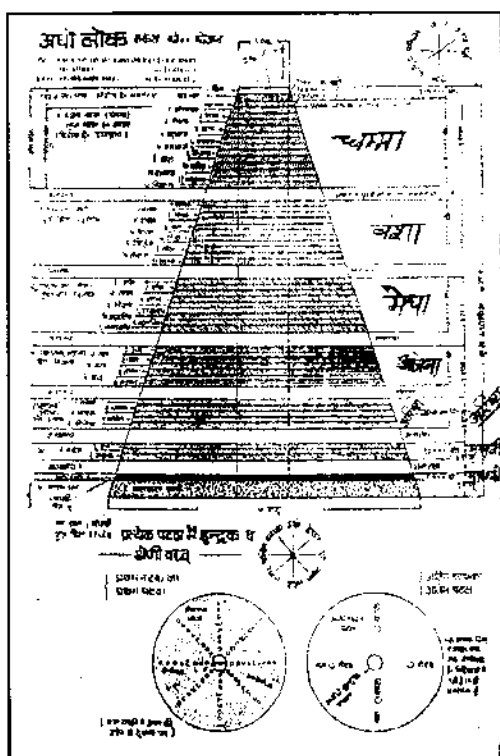
ये सातों नरकभूमियाँ उत्तरोत्तर नीचे-नीचे एक के ऊपर एक रूप से अवस्थित हैं, तिरछे रूप से नहीं और आपस में भिड़कर भी स्थित नहीं हैं, किन्तु एक से दूसरी भूमि के बीच असंख्य योजनों का अन्तर है। ये क्रमशः 180000, 32000, 28000, 24000, 20000, 16000 और 8000 योजन मोटी हैं।¹⁴ इनमें क्रमशः 30 लाख, 25 लाख, 15 लाख, 10 लाख, 3 लाख, 5 कम एक लाख और अन्तिम महातमप्रभा में केवल 5 ही नरक-बिल हैं।¹⁵ पापी जीवों के निवासस्थान बिल कहलाते हैं। ये बिल कुछ गोल, कुछ तिकोण और कुछ अनिश्चित-आकार वाले हैं। बिलों की दीवारें वज्र के समान सघन हैं। ये अत्यन्त दुःखदायी तथा अत्यधिक दुर्गन्धित सामग्री से भरे हैं। इनमें सदा ही अन्धकार छाया रहता है।

चित्राभूमि— अधोलोक में सब से ऊपर चित्राभूमि है। इस पर मध्यलोक की रचना है। यह चित्र-विचित्र वर्णों वाले खनिजों और धातुओं से भरी है। इसी से यह सार्थक/यथार्थ नामवाली 'चित्रा' कही जाती है।¹⁶ यह 1 लाख 80 हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं—1. खरभाग, 2. पंकभाग, 3. अब्बहुल।

खरभाग 16 हजार योजन, पंकभाग 84 हजार योजन तथा अब्बहुलभाग 80 हजार योजन मोटा है। खरभाग के एक-एक हजार मोटे 16 भाग हैं, जो लम्बाई-चौड़ाई में लोक के बराबर विस्तृत हैं।¹⁷

खरभाग में असुरकुमारों को छोड़ शेष 9 प्रकार के भवनवासी देव तथा राक्षसों को छोड़ शेष सात प्रकार के व्यन्तर-देवों के आवास हैं। पंकभाग में असुरकुमार और राक्षस देव रहते हैं। तीसरे अब्बहुल भाग में प्रथम नरक के नारकियों के 30 लाख नरक-बिल हैं। अब्बहुल भाग और शेष नरक भूमियों की जितनी-जितनी मोटाई है, उसमें एक-एक हजार योजन भूमि छोड़कर बाकी मध्यभाग में विविध आकारों वाले नरक-बिल हैं। ये जमीन के भीतर कुएँ के समान पोले हैं। इनमें नारकी जीव अपनी आयु के अन्तिम समय तक नाना प्रकार के दुःख भोगते हुए रहते हैं।

उपपाद/जन्मस्थान—पापी जीव नरकायु का बन्धकर नरकों में जन्म लेते हैं। इनके उपपादस्थान नरकबिलों के ऊपरी भाग में ऊँट आदि के मुख के समान सकरे होते हैं। जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त में सभी पर्याप्तियाँ पूर्णकर उपपाद स्थान से च्युत होकर नरक-भूमियों के तीक्ष्ण शस्त्रों पर गिरकर गेद की भाँति बार-बार ऊपर उछलते और नीचे गिरते हैं और घोर वेदना का अनुभव करते हैं। पहले नरक में $7\frac{13}{16}$ योजन ऊपर उछलते हैं। आगे यह ऊँचाई दूनी-दूनी होती जाती है।¹⁸



नरकपटल— पटल, पत्थर के स्तर-तह के समान होते हैं। इन्हें पाथड़े या मंजिल भी कहते हैं। ये एक के ऊपर एक रूप से अवस्थित हैं। पहले नरक में 13, दूसरे में 11, तीसरे में 9, चौथे में 7, पाँचवें में 5, छठे में 3 और सातवें नरक में केवल एक पटल है। सातों नरकों में कुल 49 पटल हैं।¹⁹

नरकबिल— नारकियों के निवास 'बिल' कहलाते हैं। सातों नरकों के 49 पटलों में कुल 84 लाख नरकबिल हैं। प्रत्येक पटल में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से 3 प्रकार के बिल हैं। पटल के बीचों-बीच का बिल 'इन्द्रकबिल' कहलाता है तथा चारों दिशाओं और विदिशाओं के पंक्तिरूप में स्थित बिल 'श्रेणीबद्धबिल' कहे जाते हैं। श्रेणीबद्ध बिलों के बीच-बीच में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए बिलों को 'प्रकीर्णकबिल' कहते हैं। सभी नरकों में कुल 49 इन्द्रक, 9604 श्रेणीबद्ध तथा 8390347 प्रकीर्णक बिल हैं। इन-सब का योग 84 लाख है।²⁰

क्र.सं.	पुष्करों के युग-नाम और रोहिद्रक नाम	पुष्करों की मोटाई	खिलों-मकों की संख्या	इन्द्रके श्रेणीबद्ध प्रकीर्णक	लेंसों का योग	लेखा		अनु. इन्क्रेट	अवधि	उत्पत्ति-मार्ग	उत्पत्ति-स्थान	आगे पथ में जोर	कितनी उँचाई तक उड़ते हैं
						आवृ.	अवधि						
1.	रत्नप्रभा (धम्म)	180,000 योजन	13	4420	2995567	35 लाख	1	10,500 वर्ष	एक योजन	24	असंख्य जौब	तोषकर भी हो सकते हैं	7 $\frac{13}{16}$ योजन
2	शक्तिप्रभा (केशी)	32,000 योजन	11	2684	2497305	25 लाख	3	1	350 कोस	7 दिन	मरिचप	तोषकर भी हो सकते हैं	5 $\frac{15}{16}$ योजन
3.	बालुकाप्रभा (मंघा)	28,000 योजन	9	1476	1498515	15 लाख	7	3	साधारणप	15 दिन	पथी	तोषकर भी हो सकते हैं	3 $\frac{1}{4}$ योजन
4	धरप्रभा (अजन्ता)	24,000 योजन	7	700	999293	10 लाख	10	7	साधारणप	1 दिन	मणीट	चरपरातीरी हो सकते हैं	1 $\frac{1}{2}$ योजन
5.	पुष्प्रभा (अभिच्छा)	20,000 योजन	5	260	299735	3 लाख	17	10	साधारणप	1 माह	सिंह	संज्ञा महावसी हो सकते हैं	1 $\frac{1}{2}$ योजन
6.	समःप्रभा (मयवी)	16,000 योजन	3	60	99932	5 कम	22	17	कृष्ण साधारणप	4 माह	हरी	देवसंज्ञा हो सकते हैं	250 योजन
7.	मालतीप्रभा (माधवी)	8,000 योजन	1	4		1 लाख	33	22	साधारणप	6 माह	मत्स्य	मध्यस्थभारी हो सकते हैं	500 योजन
	योग		49	9864	8390347	84 लाख							

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं—1. खरभाग, 2. पंकभाग, 3. अब्धुलभाग। खरभाग 16,000 योजन तथा अब्धुलभाग 80,000 योजन मोटा है। पंकभाग में असुरकुमारों के पवन और राक्षसों के आवास हैं। श्रेण भवनवासी और व्यन्तर खरभाग में हैं। अब्धुलभाग और नीचे की सभी भूमियों में नरक हैं।

नारकियों के दुःख²¹—नारकीजीव पूर्वोपार्जित पापकर्मों के फलस्वरूप अपनी आयुपर्यन्त यथावसर क्षेत्र-सम्बन्धी, मानसिक, शारीरिक, असुर-देव-कृत तथा परस्पर उदीरित तीव्र दुःखों को भोगते हैं। वहाँ की भूमि का तीव्र वेदनाकारी स्पर्श, नुकीली दूब, भयानकपर्वत, दुःखदायी यन्त्रों से भरी गुफाएँ, सन्तप्त लौह पुतलियाँ, स्तम्भ, शस्त्र समान असिपत्र-वन, शाल्मली वृक्ष, दुर्गन्धित खून, पीप, कीड़ों से भरी खारी-वैतरिणी-तालाब, कुम्भी पाक, खौलते कड़ाहे, शारीरिक सैकड़ों रोग, शीत-उष्ण बाधाएँ, परस्पर मार-काट, निरन्तर आर्त-रौद्र व क्रूर परिणाम, तीव्र भूख-प्यास की पीड़ाएँ, तीसरे नरक तक असुरकुमार देवों द्वारा दिलाये जाने वाले दुःखों से ये नारकी तीव्र-वेदना का अनुभवन करते रहते हैं। भूख की तीव्र-वेदना होने पर नारकी यहाँ की अत्यन्त दुर्गन्धित अशुभ विषैली मिट्टी खाते हैं। वह भी उन्हें भूख-प्रमाण नहीं मिलती। यह मिट्टी नीचे के नरकों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी अशुभ व विषैली होती जाती है। अन्तिम नरक में 49वें पटल की मिट्टी का एक टुकड़ा यदि इस मध्यलोक की भूमि पर आ जाए, तो वह 24.5 कोश तक के जीवों को मार देगी। शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाने पर भी नारकियों का अकाल-मरण नहीं होता। पारे के कणों के समान वे टुकड़े परस्पर फिर मिल जाते हैं। पलक झपकने भर को भी सुख नहीं मिलता। वे यहाँ सदाकाल दुःख ही दुःख भोगते हैं। (त्रि. सा.—207)

नारकियों की अन्य विशेषताएँ²²— नारकी जीव निरन्तर तिर्यचों की अपेक्षा अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह-वेदना और विक्रिया वाले होते हैं। कषायानुरंजित योग (मन-वचन-काय) की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। छह लेश्याओं में से नरकों में अशुभ से अशुभतम लेश्याएँ होती हैं— पहले-दूसरे नरक में कापोत, तीसरे में ऊपर कापोत नीचे नील, चौथे में नील, पाँचवें में ऊपर नील व नीचे कृष्ण, छठे में कृष्ण और सातवें नरक में परमकृष्ण लेश्या होती है। इनकी द्रव्यलेश्या (शारीरिक वर्ण) आयुपर्यन्त सदा एक-सी रहती है, किन्तु भावलेश्याएँ (परिणाम) अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं।

नारकियों के शरीर भी अत्यन्त विकृत हुंडक संस्थान वाले, बड़े डरावने और बदशक्ल होते हैं। अनेक रोगों से भी घिरे होते हैं। ये अपृथक् विक्रिया करते हैं। अपने ही शरीर को भेड़िया, व्याघ्र, घुग्घू, सर्प, कौआ, बिच्छू, रीछ, गिद्ध, कुत्ता आदि जानवर बना लेते हैं तथा त्रिशूल, अग्नि, बरछी, भालों, मुद्गर आदि के रूप में भी अपने को बना लेते हैं। शरीर वैक्रियिक होते हुए भी सप्त धातुमय होता है। शरीर में मल-मूत्र, पीव आदि सभी बीभत्स सामग्री भरी होती है। आयु पूर्ण होते ही इनका शरीर वायु से आहत मेघपटल या कपूर के समान विलीन हो जाता है। इनकी दाढ़ी-मूँछ नहीं

होती तथा इनके शरीर में निगोदिया जीवों का भी अभाव होता है।

नारकियों की आयु²³— प्रथम नरक में उत्कृष्ट आयु 1 सागर, द्वितीय में 3 सागर, तृतीय में 7 सागर, चतुर्थ में 10 सागर, पाँचवें में 17 सागर, छठे में 22 सागर और सप्तम नरक में उत्कृष्ट आयु 33 सागर है। प्रथम नरक की जघन्य आयु 10 हजार वर्ष है। शेष नरकों की जघन्य आयु पूर्ववर्ती नरक की उत्कृष्ट आयु के बराबर है।

अवगाहना— पहले नरक के नारकियों के शरीर की ऊँचाई 31¼ हाथ है। नीचे के नरकों में यह उत्तरोत्तर दूनी-दूनी होती गयी है।²⁴

अवधिज्ञान²⁵— नरकों में उत्पन्न होते ही पर्याप्तियाँ पूर्ण होने पर भव-प्रत्यय-अवधिज्ञान प्रकट हो जाता है। मिथ्यादृष्टियों का अवधिज्ञान विभंगावधि/कु-अवधि कहलाता है और सम्यग्दृष्टियों का ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। नरकों में इनके क्षेत्र का प्रमाण इस प्रकार है— प्रथम नरक में अवधि के क्षेत्र का प्रमाण 4 कोश (1 योजन) है। आगे के नरकों में आधा-आधा कोश घटता जाता है। सातवें में अवधिज्ञान का क्षेत्र मात्र एक कोश ही रहता है।

नरकों में उत्पत्ति के कारण²⁶— बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह की तीव्र लालसा, हिंसादि क्रूर कर्मों में निरन्तर प्रवर्तन, इन्द्रिय-विषयों में तीव्र आसक्ति, मरते समय तीव्र आर्त-रौद्र क्रूर परिणाम, सप्त व्यसनों में लिप्तता—जैसे क्रूरकर्मों में संलग्न क्रूर स्वभावी जीव नरकायु का बन्ध कर नरकों में जन्म लेते हैं।

निरन्तर उत्पत्ति की अपेक्षा—कोई जीव पहले में 8 बार, दूसरे में 7 बार, तीसरे में 6 बार, चौथे में 5 बार, पाँचवें में 4 बार, छठे में 3 बार और सातवें में दो बार जन्म ले सकता है।²⁷

नरकों में कौन जन्मते हैं? (गति)—सामान्यतः मनुष्य और तिर्यच ही नरकों में जन्म लेते हैं, देव और नारकी नहीं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पहले नरक तक, सरीसृप दूसरे तक, पक्षी तीसरे तक, सर्प चौथे तक, सिंह पाँचवें तक, स्त्री छठे तक और मनुष्य तथा मछली सातवें नरक तक में जन्म ले सकते हैं।²⁸

नरक से निकले जीवों की उत्पत्ति के नियम-(आगति)²⁹—

1. नरक से निकलकर नारकी जीव नियमतः कर्मभूमि के गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्यों में ही जन्म लेते हैं।
2. सातवें का नारकी जीव कर्मभूमिज संज्ञी पर्याप्तक गर्भज तिर्यच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते।
3. तीसरे नरक तक के नारकी निकलकर तीर्थंकर हो सकते हैं।
4. चौथे तक के नारकी मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, ये तीर्थंकर नहीं हो सकते।

5. पाँचवें नरक तक के नारकी देश-संयम और सकल-संयम ग्रहण कर सकते हैं।
6. छठी तक के नारकी निकलकर देश-संयम ग्रहण कर सकते हैं।
7. सातवीं पृथ्वी से निकले नारकी नियमतः मिथ्यादृष्टि तिर्यच ही होते हैं और वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।
8. नरक से निकले नारकी जीव नारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती नहीं होते।
9. नरकों में नारकी अपनी संख्या के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रत्येक समय में उत्पन्न होते हैं और उतने ही मरते हैं।¹⁹

नरकों में उत्कृष्ट रूप से जन्म-मरण का अन्त²⁰— कोई भी यदि प्रथम आदि पृथ्वियों में जन्म-मरण न करे, तो अधिक से अधिक नीचे दर्शाये गये काल तक जन्ममरण नहीं करता—इसके बाद तो नियम से जन्ममरण होगा ही होगा, ऐसा नियम है—

पहली में	दूसरी में	तीसरी में	चौथी में	पाँचवीं में	छठी में	सातवी में
24 मुहूर्त	सात दिनों	एक पक्ष	एक माह	दो माह	चार माह	छह माह

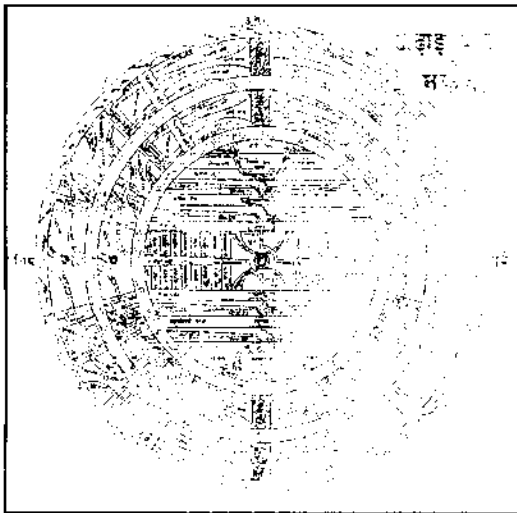
नरकों में सम्यक्त्व उत्पत्ति के कारण²¹—प्रथम 3 नरकों में (1) जाति स्मरण, (2) दुर्वार वेदनानुभवन तथा (3) देवों द्वारा सम्बोधन इस प्रकार ये 3 सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण हैं। शेष पंकप्रभा आदि 4 नरकों में (1) जाति स्मरण, और (2) वेदनानुभवन ये दो ही सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण हैं।

मध्यलोक

लोक का मध्यभाग 'मध्यलोक' है।²² यह अधोलोक के ऊपर चित्रापृथ्वी पर एक राजू लम्बे चौड़े तथा एक लाख 40 योजन ऊँचे क्षेत्र में विस्तृत है। इसमें जम्बूद्वीप को आदि लेकर असंख्यात द्वीपों तथा लवणसमुद्र को आदि लेकर असंख्यात समुद्रों का विस्तार है।

इनका विस्तार अपने पूर्ववर्ती द्वीप समूहों के विस्तार से दूना-दूना है और ये एक-दूसरे को वलयाकार रूप से घेरे हुए हैं।²³ सब द्वीप-समुद्रों के मध्य में एक लाख योजन विस्तृत थाली के आकार-जैसा गोलाकार जम्बूद्वीप है। इसे दो लाख योजन विस्तृत लवणसमुद्र वलयाकार रूप से घेरे हुए है। लवण समुद्र को चार लाख योजन विस्तृत धातकीखण्ड, धातकीखण्ड को 8 लाख योजन विस्तृत कालोदक समुद्र तथा कालोदक समुद्र को 16 लाख योजन विस्तृत पुष्करवर द्वीप चूड़ी के आकार में (वलयरूप में) घेरे हुए है। इस प्रकार अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र एक दूसरे को परिवेष्टित किये हुए हैं। पुष्करवर द्वीप से लेकर आगे के सभी द्वीप-समुद्रों के नाम एक-जैसे हैं अर्थात् जिस नाम का द्वीप है, उसी नाम का समुद्र है। ये सभी शुभनाम वाले हैं तथा तिर्यक् रूप से मध्यलोक में फैले हुए हैं। अतः इसे 'तिर्यक्लोक'

भी कहते हैं। इसमें मनुष्य-तिर्यचों के आवास हैं तथा व्यन्तरों के आवास और ज्योतिष्क देवों के विमान भी हैं।



डाई द्वीप/मनुष्य-क्षेत्र/नर-लोक—जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखंड, कालोदक और आत्मा पुष्करवरद्वीप के रूप में यह डाई द्वीप ही नरलोक/मनुष्यक्षेत्र कहलाता है, क्योंकि इतने ही क्षेत्र में मनुष्य पाये जाते हैं। पुष्करवर द्वीप के बीचों-बीच वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत फैला है, जिससे यह द्वीप दो भागों में विभक्त हो गया है। मनुष्य इस पर्वत को पार नहीं कर सकते। इसी से यह पर्वत मानुषोत्तर कहा जाता है। जम्बूद्वीप से मानुषोत्तर तक विस्तृत डाईद्वीप ही नर-लोक है। यह 45 लाख योजन विस्तृत है तथा चित्रा पृथ्वी के ऊपर त्रसनाली के बहुमध्य भाग में अतिगोलरूप से स्थित है।¹⁴

जम्बूद्वीप³⁵— असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बीच मनुष्य-लोक के बहुमध्य भाग में एक लाख योजन विस्तृत, थाली-जैसा गोलाकार 'जम्बूद्वीप' है। इसके उत्तरकुरुक्षेत्र में अनादि-अनिधन, पृथ्वीकायिक अकृत्रिम, परिवार वृक्षों से युक्त 'जम्बूवृक्ष' है। इससे यह द्वीप 'जम्बूद्वीप' कहलाता है। सभी द्वीपों में यह विशेष विख्यात है। इसके बीचों-बीच सुपेरु-पर्वत स्थित है।

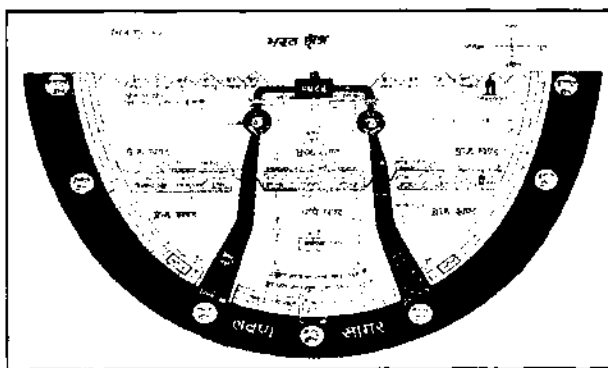
इस द्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्र (वर्ष) हैं।¹⁶ इनको विभक्त करने वाले पूर्व-पश्चिम दिशा में समुद्र तक लम्बे, अनादिकालिक, अनिमित्तक नामों वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि, और शिखरी नाम के छह कुलाचल (पर्वत) हैं।¹⁷ ये क्रमशः 100, 200, 400, 400, 200, 100 योजन ऊँचे हैं।¹⁸ इन पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुंडरीक

और पुंडरीक नाम के 6 सरोवर (हृद) हैं।^{११} इन सरोवरों में पृथ्वीकायिक एक-एक मुख्य कमल अपने परिवार कमलों के साथ सुशोभित हैं। मुख्य कमलों के भवनों में क्रमशः श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं तथा परिवार-कमलों के भवनों में सामानिक तथा पारिषद् जाति के देव रहते हैं।^{१०}

इन सरोवरों से गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा नामक 14 महानदियाँ निकलती हैं।

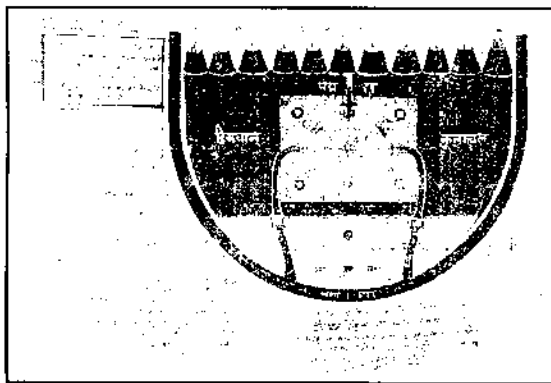
ये नदियाँ भरतादि क्षेत्रों में से दो-दो करके बहती हैं। इन नदी युगलों में से पूर्व-पूर्व की नदी पूर्वी-समुद्र में तथा बाद की नदी पश्चिमी-समुद्र में गिरती है।^{११}

भरतक्षेत्र—जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग में तीन ओर से लवणसमुद्र से घिरा $526\frac{6}{19}$ योजन विस्तृत धनुषाकार 'भरतक्षेत्र' है।^{१२} यह जम्बूद्वीप का 190 वाँ भाग है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा में फैला है। भरतक्षेत्र के बीच में पूर्व-पश्चिम दिशा में रजतमय (सफेद) विजयार्थ पर्वत फैला है।^{१३} विजयार्थ पर्वत और हिमवन् पर्वत के पद्म सरोवर से निकलने वाली गंगा-सिन्धु नदियों के निमित्त से भरतक्षेत्र छह खंडों में विभक्त हो जाता है।^{१४}



पद्म सरोवर से निकलकर गंगा-सिन्धु नदियाँ क्रमशः पर्वतमूल में स्थित गंगाकूट और सिन्धुकूट में गिरती हैं। गंगानदी गंगाकूट से निकलकर दक्षिण की ओर बहती हुई विजयार्थपर्वत के मूल में स्थित खंडप्रपात गुफा से होकर भरतक्षेत्र के दक्षिण भाग में पहुँचती है और सिन्धुनदी सिन्धुकूट से निकलकर दक्षिण की ओर बहती हुई विजयार्थपर्वत की तमिस्रगुफा में से होकर दक्षिणी भरतक्षेत्र में पहुँचती है। यहाँ से ये दोनों नदियाँ दक्षिणी भरतक्षेत्र के आधे भाग तक जाकर गंगानदी पूर्वी-समुद्र की ओर तथा सिन्धुनदी पश्चिमी-समुद्र की ओर मुड़कर अपने-अपने समुद्रों में जा मिलती हैं।^{१५}

दोनों नदियों और विजयार्ध पर्वत से भरतक्षेत्र के 6 खंड हो जाते हैं। विजयार्ध के उत्तर में तीन और दक्षिण में तीन। दक्षिण के तीन खंडों में से एक बीच का खंड आर्यखंड और शेष पाँचों खंड म्लेच्छ-खंड कहलाते हैं। आर्यखंड में नाना भेदों से युक्त काल का तथा धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है। उत्तरी भरत के तीन खंडों के मध्यवर्ती खंड के बहुमध्यभाग में चक्रवर्तियों के मान का मर्दन करने वाला, नाना चक्रवर्तियों के नामों से अंकित नीचे से ऊपर तक सर्वत्र रत्नमय, 100 योजन ऊँचा गोलाकार वृषभगिरि है।¹⁶ दिग्विजय के बाद चक्रवर्ती इस पर अपना नाम और प्रशस्ति लिखता है।



हिमवान् पर्वत— भरतक्षेत्र के आगे उत्तर में भरत क्षेत्र से दूने विस्तार वाला, पूर्व-पश्चिम में समुद्र तक फैला सुवर्णमय 100 योजन ऊँचा हिमवान् पर्वत है। इसपर बीचों-बीच पद्म सरोवर है, जिसके पूर्वी द्वार से गंगानदी, पश्चिमी द्वार से सिन्धुनदी तथा उत्तरी द्वार से रोहितास्या नदी निकलती है। इस पर्वत पर 25-25 योजन ऊँचे ग्यारह कूट हैं।¹⁷ पूर्व के प्रथम कूट पर सिद्धायतन (जिनालय) हैं तथा शेष 10 कूटों पर व्यन्तरदेव और देवियाँ रहती हैं।

हैमवतक्षेत्र— हिमवान् और महाहिमवान् पर्वतों के बीच हैमवत क्षेत्र है। यह भरतक्षेत्र से चौगुना तथा हिमवान् से दूने विस्तार वाला है। इस क्षेत्र के बहुमध्यभाग में श्रद्धावान् नामक नाभिगिरि है। इस क्षेत्र में रोहित और रोहितास्या नदियाँ क्रमशः पूर्व और पश्चिम दिशा में बहती हैं। ये दोनों नाभिगिरि की दो कोस दूर से परिक्रमा करती हुई अपनी-अपनी दिशाओं में मुड़कर समुद्र में मिल जाती हैं। इस क्षेत्र में सदैव सुखमा-दुःखमा-काल-जैसी व्यवस्था रहती है।¹⁸ अतः यह शाश्वत जघन्य भोगभूमि है।

महाहिमवान् पर्वत— हैमवतक्षेत्र के उत्तर में हिमवान् से चौगुना बड़ा रजतमय

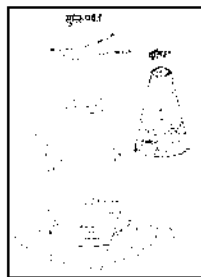
दो-सौ योजन ऊँचा महाहिमवान् पर्वत है। इस पर आठ कूट हैं।¹⁹ पूर्व का कूट सिद्धायतन है। शेष पर व्यन्तर देव-देवियों के निवास हैं। इस पर्वत के मध्य में स्थित महापद्म सरोवर के दक्षिणी द्वार से रोहित नदी निकलकर हैमवत क्षेत्र में तथा उत्तरी द्वार से हरिकान्ता नदी निकल कर हरिक्षेत्र में बहती है।

हरिक्षेत्र— महाहिमवान् और निषध पर्वतों के बीच हैमवत क्षेत्र से चौगुने विस्तार वाला हरिक्षेत्र है। इसके मध्य में विजयवान् नामक नाभिगिरि है। हरित और हरिकान्ता नदियाँ इसकी परिक्रमा करती हुई इस क्षेत्र में बहती हैं। हरित पूर्व-समुद्र में तथा हरिकान्ता पश्चिम-समुद्र में गिरती हैं। यह क्षेत्र शाश्वत मध्यम भोग भूमि है। अतः यहाँ सुषमाकाल-जैसी-व्यवस्था सदा-काल रहती है।⁵⁰

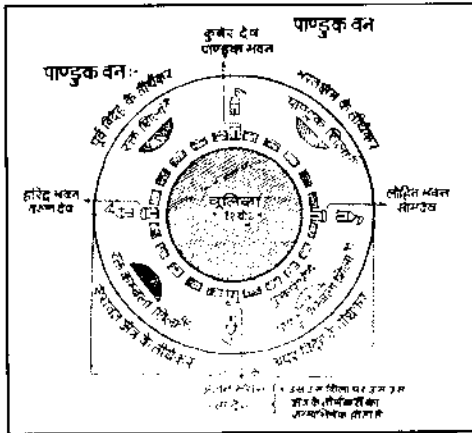
निषधपर्वत— हरिक्षेत्र के उत्तर में तपाये हुए सोने-जैसा 400 योजन ऊँचा निषध पर्वत है। इसके मध्यभाग में स्थित तिगिंछ सरोवर के दक्षिणी द्वार से हरित नदी और उत्तरी द्वार से सीतोदा नदियाँ निकलती हैं। हरित हरिक्षेत्र में और सीतोदा विदेह क्षेत्र में प्रवाहित होती हैं। इस पर्वत पर सौ सौ योजन ऊँचे 9 कूट हैं।⁵¹ पूर्व दिशा का पहला सिद्धायतन है। शेष आठ कूटों पर व्यन्तर देव-देवियों के भवन हैं।

विदेहक्षेत्र— जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती क्षेत्र में निषध और नील पर्वतों के बीच हरिक्षेत्र से चौगुने तथा भरतक्षेत्र से 64 गुने विस्तार वाला 'विदेहक्षेत्र' है। इसके ठीक बीच में लोक की नाभि की तरह सर्वोच्च सुमेरु-पर्वत है। यह मध्य-लोक का मापक है। इस पर्वत के तल से ऊपर चूलिका पर्यन्त तिरछे एक राजू क्षेत्र में मध्य-लोक का विस्तार है। विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा नदियाँ प्रवाहित होती हैं।

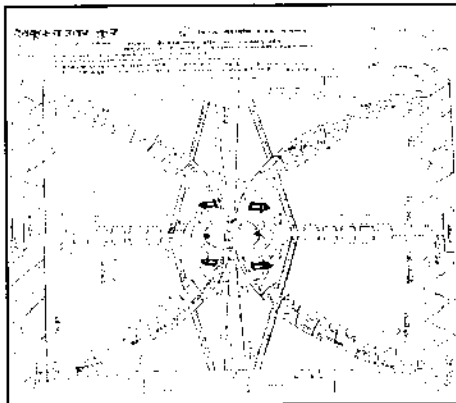
सुमेरुपर्वत— एक लाख 40 योजन ऊँचे इस पर्वत को सुदर्शन मेरु, मन्दराचल, मेरुगिरि भी कहा जाता है। यह भूतल में 10 हजार योजन तथा ऊपर एक हजार योजन चौड़ा है।⁵² गहराई (नींव) भी एक हजार योजन है। इस पर्वत के भूतल प्रदेश में भद्रशाल वन है। भूतल से 500 योजन की ऊँचाई पर पहली कटनी में नन्दन वन है। इससे 62500 योजन की ऊँचाई पर दूसरी कटनी पर सोमनस वन है तथा इसके 36000 योजन ऊपर तीसरी कटनी में पांडुक वन है।⁵³ इन वनों में अनेक वृक्ष हैं।⁵⁴ चारों वनों की प्रत्येक दिशा में एक-एक जिनालय है।⁵⁵ पांडुकवन के मध्य में 40 योजन ऊँची सुमेरु पर्वत की चूलिका है। जो नीचे 12 योजन तथा ऊपर 4 योजन चौड़ी है।⁵⁶



पाण्डुक वन में ईशान आदि विदिशाओं में 100 योजन लम्बी और 50 योजन चौड़ी चार शिलाएँ हैं। ईशान में स्वर्णमय पाण्डुक शिला है, जिस पर भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। आग्नेय में रजतमय पाण्डुकम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, नैऋत्य में न तप्तस्वर्णमय रक्ताशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का तथा वायव्य में रुधिरवर्णा रक्ताकम्बला शिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।¹⁷



देवकुरु-उत्तरकुरु¹⁸— विदेह क्षेत्र में सुमेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु तथा उत्तर में उत्तरकुरु है। देवकुरु पूर्व में सौमनस से तथा पश्चिम में विद्युत्प्रभ गजदन्त पर्वतों से घिरा है तथा उत्तरकुरु पूर्व में माल्यवान से और पश्चिम गन्धमादन गजदन्त पर्वतों से घिरा है।¹⁹ दोनों कुरुक्षेत्रों में उत्तम भोगभूमि होने से सुषमा-सुषमा-काल जैसी वर्तना सदा रहती है।²⁰



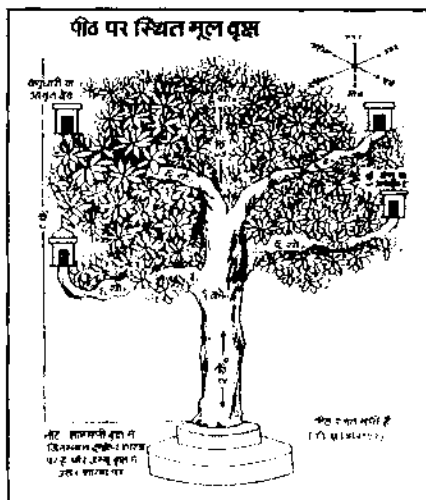
कुलाचल और कूट

क्र.	सर्वा क्रम	गण	कैलाश (गोत्र)	गण को गोत्र (गोत्र)	सका धर्म अन दान (गोत्र)	सका धर्म अन दान (गोत्र)	सका धर्म अन दान (गोत्र)	कूट को सका	कूट को कैलाश (गोत्र)	कूट को धर्म (गोत्र)		
										गण	सका	अन
1	सका	सका	100	25	1052 $\frac{12}{19}$	1447 $\frac{5}{17}$	2493 $\frac{18}{19}$	11	25	25	18 $\frac{3}{4}$	12 $\frac{1}{2}$
2	सका	सका	200	50	4210 $\frac{10}{9}$	57974 $\frac{10}{19}$	53931 $\frac{8}{19}$	8	50	50	37 $\frac{1}{2}$	25
3	सका	सका	400	100	16842 $\frac{2}{19}$	73301 $\frac{17}{19}$	84150 $\frac{9}{19}$	9	100	100	75	52
4	सका	सका	800	200	18842 $\frac{2}{19}$	73301 $\frac{17}{19}$	84150 $\frac{9}{19}$	9	100	100	75	52
5	सका	सका	200	50	4210 $\frac{10}{9}$	57974 $\frac{10}{19}$	53931 $\frac{8}{19}$	8	50	50	37 $\frac{1}{2}$	25
6	सका	सका	100	25	1052 $\frac{12}{19}$	1447 $\frac{5}{17}$	2493 $\frac{18}{19}$	11	25	25	18 $\frac{3}{4}$	12 $\frac{1}{2}$

क्र	कर्म प्रकार	संयोजक कोई है	सरोवर और कमल					देवी और योग्यता				भवन विभाग			संयोजक काम
			सरोवर की			भूख काम की		देविता	योग्यता काम	भूख काम	योग्यता काम	देवी भवन			
			संयोजक (कोई)	कोई (कोई)	संयोजक (कोई)	भूख (कोई)	जल संयोजक (कोई)					लगा (कोई)	देवी (कोई)	जोड़ (कोई)	
1.	पद	विभाग क	1000	500	10	1	12	को	142115	1	142115	1	3/4	1-2	भूख संयोजक
2.	पद	पद विभाग क	2000	1000	20	2	1	को	730230	1	730230	2	1/2	1	भूख संयोजक
3.	विभाग	विभाग क	4000	2000	40	4	2	भूमि	560460	1	560460	4	3	2	भूख संयोजक
4.	विभाग	विभाग क	8000	4000	80	8	2	भूमि	560460	1	560460	4	3	2	भूख संयोजक
5.	पद	विभाग क	2000	1000	20	2	1	भूमि	730230	1	730230	2	1/2	1	भूख संयोजक
6.	विभाग	विभाग क	1000	500	10	1	12	लगा	142115	1	142115	1	3/4	1-2	भूख संयोजक

देवकुरु में सीतोदा नदी के दोनों तटों पर दो यमक-गिरि पर्वत हैं। उत्तरकुरु में भी सीता नदी के दोनों ओर दो यमक-गिरि हैं। ये चारों यमकगिरि एक-एक हजार योजन ऊँचे और गोलाकार हैं। भूमिपर एक हजार और ऊपर पाँच सौ योजन चौड़े हैं।^१ देवकुरु, उत्तरकुरु, पूर्व भद्रशाल और पश्चिम भद्रशाल वनों में सीता-सीतोदा नदियों के मध्य में 5-5 करके कुल 20 सरोवर हैं।^२ इन सरोवरों के दोनों तटों पर 5-5 करके दो सौ कांचन पर्वत हैं। ये सौ-सौ योजन ऊँचे हैं तथा नीचे सौ और ऊपर पचास योजन चौड़े हैं।^३ ये सरोवर सीता-सीतोदा नदियों के प्रवेश और निर्गम द्वारों सहित हैं। देवकुरु उत्तरकुरु तथा पूर्व-पश्चिम भद्रशाल वनों के मध्य में दोनों महानदियों के दोनों तटों पर दो-दो करके सौ-सौ योजन ऊँचे आठ दिगजेंद्र पर्वत भी हैं।^४

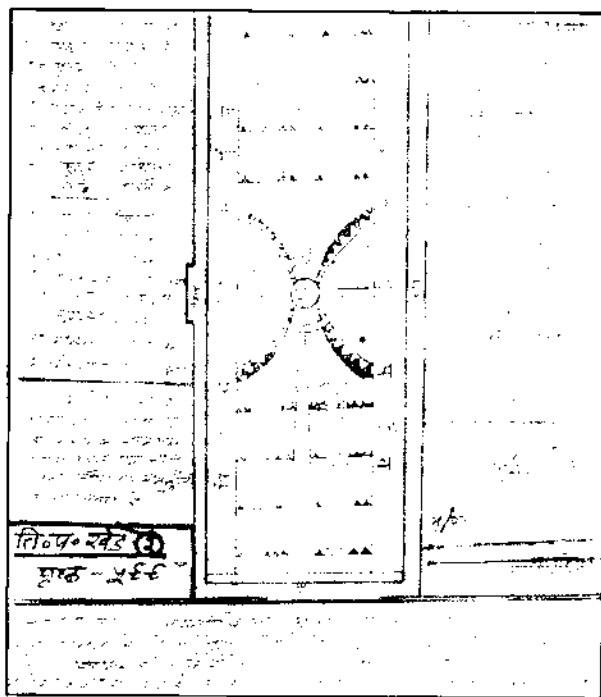
जम्बूवृक्ष और शाल्मली वृक्ष— नील कुलाचल के पास सीतानदी के पूर्वी तट पर सुदर्शन मेरु की ईशान दिशा में उत्तरकुरुक्षेत्र में 500 योजन तल व्यास सहित जम्बूवृक्षस्थली है। इसकी पीठिका पर चार महाशाखाओं वाला पृथ्वी-कायमय जम्बूवृक्ष है। मुख्य वृक्ष सहित इसके परिवार-वृक्षों की कुल संख्या 140120 है।^५ सीतोदानदी के पश्चिमी तट पर निषध पर्वत के पास सुमेरु की नैऋत्य दिशा में देवकुरु क्षेत्र में शाल्मली वृक्षस्थली है, जिसकी पीठिका पर मुख्य शाल्मली वृक्ष है।^६ यह भी 140120 परिवार वृक्षों तथा चार महाशाखाओं सहित है। जम्बूवृक्ष की उत्तरी शाखा पर तथा शाल्मली वृक्ष की दक्षिणी शाखा पर जिन-भवन हैं। शेष शाखाओं पर देवों के आवास हैं।^७



32 विदेह—सुदर्शन मेरु तथा दोनों कुरुक्षेत्रों के कारण सम्पूर्ण विदेह क्षेत्र पूर्व और पश्चिम—दो विदेहों में बँट जाता है। सीता-सीतोदा नदियाँ इनके मध्य से होकर बहती हैं। इससे पूर्व-पश्चिम विदेह भी उत्तर-दक्षिण रूप से दो-दो भागों में विभक्त हो जाते

हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विदेह चार बड़े भागों में बँट जाता है। दो वनवेदियों, 3-3 विभंगा नदियों और चार-चार वक्षार पर्वतों से घिरा होने से प्रत्येक विभाग के आठ-आठ खंड हो जाते हैं। इस तरह सम्पूर्ण विदेह 32 भागों/खंडों में बँट गया है। ये 32 विदेह क्षेत्र या देश कहे जाते हैं, जिनकी 32 ही राजधानियाँ हैं ^{१७} ये राजधानियाँ उत्तर-दक्षिण में 12 योजन तथा पूर्व-पश्चिम में 9 योजन विस्तृत हैं, स्वर्णमय प्राकारों से वेष्टित हैं, अविनश्वर और अकृत्रिम हैं ^{१८}

पूर्वापर विदेह क्षेत्र—32 विदेह



इन 32 विदेहों में प्रत्येक विदेह का विस्तार और रचना भरतक्षेत्र के समान है। बत्तीसों विदेहों में 32 विजयार्थ और 32 वृषभ-गिरि हैं। दक्षिण के 16 विदेहों में गंगा-सिन्धु और विजयार्थ के कारण तथा उत्तर के 16 विदेहों में रक्ता-रक्तोदा और विजयार्थ के कारण प्रत्येक विदेह के छह-छह खंड हो गये हैं, जिनमें 5-5 म्लेच्छ खंड और एक-एक आर्यखंड है।

इन 32 विदेहों में सदा अवसर्पिणी काल के चतुर्थ-काल-जैसी व्यवस्था बनी रहती है। यहाँ वर्षाकाल में 49 दिनों तक काले मेघों द्वारा तथा 84 दिनों तक धवल

मेघों द्वारा मर्यादापूर्वक वर्षा होती है। यहाँ कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सात प्रकार की ईतियाँ और महामारी आदि रोग यहाँ कभी नहीं होते। यहाँ कुदेवों, कुलिंगियों और कुमतियों का अभाव तथा केवली तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों का एवं ऋद्धिधारी साधुओं का सदा सद्भाव बना रहता है।¹⁹

नील-पर्वत— महाविदेह के उत्तर में चार सौ योजन ऊँचा निषध-जैसा विस्तृत वैडूर्यमणिमय नील पर्वत है। इसके ऊपर मध्य में केसरी सरोवर है, जिसके दक्षिणी द्वार से सीता और उत्तरी द्वार से नरकान्ता नदियाँ निकलती हैं, इस पर 9 कूट हैं।²⁰ पूर्व के सिद्धायतन कूट पर जिनालय है। शेष पर देव रहते हैं।

रम्यक-क्षेत्र— नीलपर्वत के उत्तर में और रुक्मी पर्वत के दक्षिण में हरिक्षेत्र के समान विस्तृत 'रम्यक क्षेत्र' है। इसमें नारी और नरकान्ता नदियाँ पद्मवान् नाभिगिरि को घेरती हुई बहती हैं। इस क्षेत्र में शाश्वत मध्यम भोगभूमि है। अतः यहाँ सुषमा-काल-जैसी व्यवस्था सदा रहती है।²¹

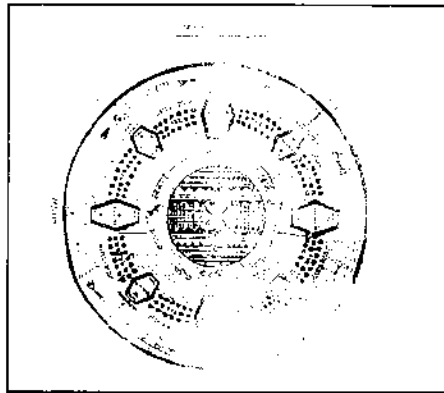
रुक्मिपर्वत— रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रों का विभाजक 200 योजन ऊँचा रजतमय रुक्मी पर्वत है। इस पर महापुंडरीक सरोवर है, जिसके दक्षिणी द्वार से नारी तथा उत्तरी द्वार से रूप्यकूला नदियाँ निकलती हैं। इस पर 9 कूट हैं।²² पूर्व के सिद्धायतन कूट पर जिनमन्दिर है।

हैरण्यवत-क्षेत्र— रुक्मि और शिखरी पर्वतों के बीच स्थित इस क्षेत्र में सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदियाँ गन्धवान् नाभिगिरि को घेरती हुई बहती हैं। यह हैमवतक्षेत्र जितना विस्तृत है। यहाँ शाश्वत जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है।

शिखरी पर्वत—हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रों का विभाजक 100 योजन ऊँचा हेममय शिखरी पर्वत है। इस पर स्थित पुंडरीक सरोवर के दक्षिणी द्वार से सुवर्णकूला, पूर्वी-पश्चिमी द्वारों से क्रमशः रक्ता-रक्तोदा नदियाँ निकलती हैं। इस पर 11 कूट हैं। पूर्वी कूट पर जिनालय है।²³

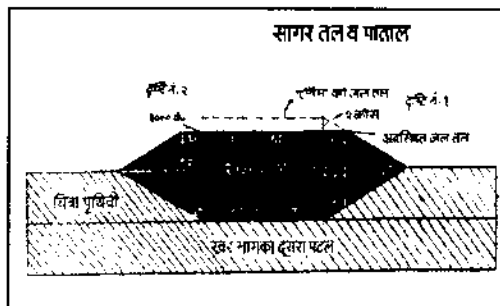
ऐरावत-क्षेत्र—का विवरण भरत-क्षेत्र-जैसा है। इसमें रक्ता, रक्तोदा नदियाँ हैं।

लवण-समुद्र—जम्बूद्वीप को चूड़ी के आकार में वलयाकाररूप से घेरे हुए दो लाख योजन विस्तृत 'लवण-समुद्र' है। इसके जल की सतह का आकार सीधी रखी नाव पर औंधी रखी नाव के आकार-जैसा है। इसका भूव्यास चित्रापृथ्वी की प्रणिधि में (नीचे) दो लाख योजन तथा ऊपर मुखव्यास दस हजार-योजन है।²⁴ लवण-समुद्र के बहुमध्यभाग में चारों ओर दिग्गत चार उत्कृष्ट, विदिग्गत चार मध्यम तथा अन्तर दिग्गत एक हजार जघन्य पाताल (गड्डे-विवर) हैं। कुल एक हजार आठ पाताल हैं। ये-सब रांजन-घड़े के आकार-जैसे हैं।²⁵ इन पातालों के निचले एक तिहाई (1/3) भाग में वायु, उपरिम 1/3 भाग में जल तथा मध्य के 1/3 भाग में जल और वायु दोनों पाये जाते हैं।²⁶



पातालों के मध्यम भागस्थ जल तथा वायु की हानि-वृद्धि होती रहती है। कृष्णपक्ष में जल की हानि और शुक्ल पक्ष में जल की वृद्धि होती है। अमावस्या के दिन समतल जल की ऊँचाई ग्यारह हजार योजन रहती है तथा शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा तक सोलह हजार योजन हो जाती है, फिर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से घटते-घटते अमावस्या को 11 हजार योजन रह जाती है। पातालों के मध्यम भागस्थ जल और वायु का चंचलपना ही शुक्ल-कृष्ण पक्षों में समुद्री-जल की वृद्धि-हानि का कारण है। पातालों के निचले भाग के पवन से प्रेरित होकर मध्यम भाग का जल और वायु वाला भाग चलाचल होता है। फलतः पूर्णिमा को पातालों के निचले दो भागों में पूर्णतः वायु और ऊपरी एक भाग में जल रहता है। अमावस्या को पातालों के ऊपरी दो भागों में जल और निचले एक भाग में वायु रहती है।¹⁸

लवणसमुद्र के आभ्यन्तर और बाह्य तटों के पास चौबीस-चौबीस कुमानुषद्वीप भी हैं; जिनमें कुभोगभूमियाँ हैं। इनमें विचित्र आकृतियों वाले तथा एक पत्थ की आयु वाले मनुष्य/तिर्यच रहते हैं।¹⁹ इनके सिवाय लवणसमुद्र में गोलाकार 8 सूर्यद्वीप, 16 चन्द्रद्वीप तथा गौतम मागध, वस्तनु, प्रभास आदि अन्य अनेक द्वीप भी हैं, जहाँ देवों के आवास हैं।²⁰



लवणसमुद्र में जल की ऊँचाई अधिक होने से सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों का संचार जल के भीतर से ही होता है।^१

धातकी-खंड— लवणसमुद्र को वलयाकाररूप से घेरे हुए चार लाख योजन विस्तृत 'धातकी खंड' है। धातकी वृक्ष (आँवले का पेड़) होने से यह धातकीखंड कहलाता है। इस द्वीप की उत्तर और दक्षिण दिशा में दक्षिणोत्तर लम्बे, चार कूटों से संयुक्त, चार-चार सौ योजन ऊँचे दो इष्वाकार पर्वत हैं। इनसे यह द्वीप (1) पूर्वी धातकी-खंड और (2) पश्चिमी धातकी-खंड—इन दो खंडों में विभक्त हो गया है। इन दोनों खंडों में क्षेत्र, पर्वत, नदी, सरोवर आदि की रचना जम्बूद्वीप के समान है। कुलाचल आदि की गहराई, ऊँचाई तो समान है, पर विस्तार सभी का दूना-दूना है। दोनों खंडों के मेरुओं की ऊँचाई 84-84 हजार योजन है। पूर्वीखंड में विजयमेरु और पश्चिमी खंड में अचल मेरु हैं। इन पर सुदर्शन मेरु की तरह भद्रशाल आदि 4 वन, 3 कटनियाँ तथा जिनालय आदि हैं।^२

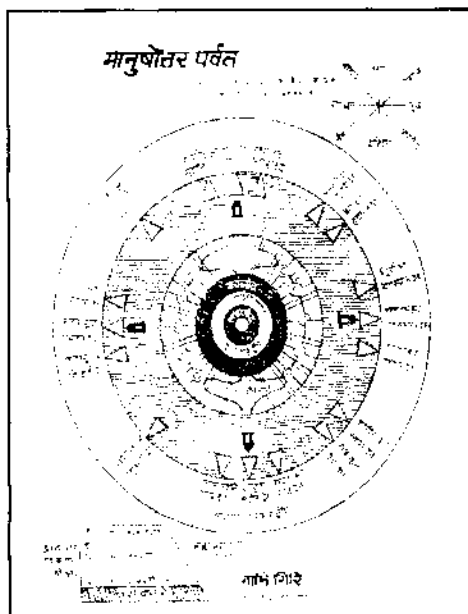
कालोदक-समुद्र^३—धातकीखंड को वलयाकार रूप से घेरे हुए आठ लाख योजन विस्तृत 'कालोदक समुद्र' है। इसमें पाताल नहीं है। यह सर्वत्र एक हजार योजन गहरा है। लवण समुद्र की तरह इस समुद्र में भी आभ्यन्तर और बाह्य तटों के समीप 24-24 कुमानुष द्वीप हैं। इन में कुभोगभूमिया विचित्र आकृति और एक पत्थ की आयुवाले मनुष्य/तिर्यच रहते हैं। कालोदक समुद्र को आदि लेकर आगे के सब समुद्र टांकी से उकेरे गये के समान तटों वाले, एक हजार योजन गहरे और दो वेदिकाओं से वेष्टित हैं।

पुष्करवर-द्वीप—पुष्करवृक्ष से चिह्नित कालोदक समुद्र को वलयाकार रूप से घेरे सोलह लाख योजन विस्तृत 'पुष्करवर द्वीप' है। इसके बीचों-बीच कुंडलाकार 'मानुषोत्तर' पर्वत है। इससे यह द्वीप भीतरी और बाह्य—इन दो भागों में बँट गया है। इसके भीतरी भाग में ही मनुष्य हैं। इस पर्वत को लाँघकर मनुष्य बाहरी भाग में नहीं जा सकते। इसी से यह पर्वत 'मानुषोत्तर' कहलाता है; यथा—“मणुसुत्तरो ति मणुसा मणुसुत्तरलंघ सति परिहीणा”—त्रिलोकसार 323। इसे लाँघने की सामर्थ्य मनुष्यों में नहीं है।

आठ लाख योजन विस्तृत भीतरी पुष्करार्ध द्वीप में धातकी-खंड की ही तरह उत्तर-दक्षिण में एक-एक इष्वाकार पर्वत है, जिनसे यह द्वीप भी पूर्वी और पश्चिमी—इन दो भागों में बँट गया है। इन दोनों ही भागों में जम्बूद्वीप के ही समान क्षेत्र, पर्वत, नदी सरोवर आदि की रचना है। इनका विस्तार धातकी-खंड के कुलाचलादि से दूना-दूना है।^४ यहाँ के पूर्वी भाग में मन्दर-मेरु और पश्चिमी भाग में विद्युन्माली नाम के 84-84 हजार योजन ऊँचे मेरुपर्वत हैं। इन पर भी वन, जिनालय आदि सुमेरु की ही तरह हैं।

मानुषोत्तर पर्वत— पुष्कर-वर-द्वीप के मध्य में कुंडलाकार रूप से स्थित मनुष्यलोक का विभाजक 1721 योजन ऊँचा स्वर्णिम मानुषोत्तर पर्वत है। इसका भीतरी भाग

टंकोत्कोर्ण दीवार की भाँति सीधा है, पर बाहरी भाग ऊपर शिखर से नीचे धरातल की ओर क्रमशः ढालू है—नीचा होता गया है। इस पर्वत में चौदह गुफाएँ हैं, जिनसे पूर्वी-पश्चिमी पुष्करार्ध की गंगा-सिन्धु आदि नदियाँ निकलती हैं। त्रि.सा.गा. 940 के अनुसार इस पर्वत पर 22 कूट हैं। नैऋत्य और वायव्य दिशाओं को छोड़कर शेष 4 दिशाओं और दो विदिशाओं में पंक्तिरूप से 3-3 कूट हैं— $6 \times 3 = 18$ कूट तथा चारों पूर्वादि दिशाओं में मनुष्य-लोक की ओर 1-1 सिद्धायतन है, जिनमें जिनालय हैं। इस तरह $18 + 4 = 22$ कूट पर्वत पर हैं। 18 कूटों पर व्यन्तर देव सपरिवार रहते हैं।⁸⁵ मानुषोत्तर मनुष्यलोक की सीमा का निर्धारक है। इसके भीतर का दो समुद्र और ढाई द्वीपों वाला समस्त क्षेत्र 'ढाईद्वीप या मनुष्यलोक' कहलाता है।⁸⁶ यह 45 लाख योजन विस्तृत है।



सब द्वीपों के मध्य में (1) जम्बूद्वीप है। इसे लवण-समुद्र घेरे है। लवण-समुद्र को (2) धातकी-खंड-द्वीप, धातकी-खंड को कालोदक-समुद्र, कालोदक को (3) पुष्करवर-द्वीप और पुष्करवर को पुष्करोदक समुद्र घेरे हुए है। इसके आगे (4) वारुणीवर, (5) क्षीरवर, (6) घृतवर, (7) क्षौद्रवर, (8) नन्दीश्वर, (9) अरुणवर, (10) अरुणाभासवर, (11) कुंडलवर, (12) शंखवर, (13) रुचकवर, (14) भुजगवर, (15) कुशवर और (16) क्रौंचवर द्वीप हैं, जो अपने-अपने नामों जैसे समुद्रों से घिरे हैं।⁸⁷

इसके आगे असंख्यात द्वीप-समुद्रों को लाँधकर (1) मनःशिला नामक द्वीप है।

इससे आगे क्रमशः (2) हरिताल, (3) सिन्दूर, (4) श्यामक, (5) अंजन, (6) हिंगुलिक, (7) रुप्यवर, (8) स्वर्णवर, (9) वज्रवर, (10) वैदूर्यवर, (11) नागवर, (12) भूतवर, (13) यक्षवर, (14) देववर, (15) अहीन्द्रवर और अन्तिम (16) स्वयंभूरमण द्वीप हैं। ये द्वीप अपने-अपने नामों वाले 16 समुद्रों से संयुक्त होते हुए मध्यलोक के बाहरी भाग में स्थित हैं। क्रौंचवर समुद्र और मनःशिला द्वीप के मध्य में जो असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, वे भी उत्तम नामों वाले हैं।¹⁸ इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों के दो-दो व्यन्तर देव अधिपति माने गये हैं। इनमें प्रथम देव दक्षिण दिशा का और दूसरा देव उत्तर दिशा का अधिपति है।¹⁹

स्वाद-रस—मध्यलोक के इन समुद्रों में लवणसमुद्र के जल का स्वाद नमक जैसा खारा है। वारुणीवर का वारुणी (शराब) जैसा, क्षीरवर का क्षीर (दूध) जैसा और घृतवर के जल का स्वाद घी-जैसा है। कालोदक, पुष्करवर और स्वयंभूरमण समुद्रों का जल सामान्य जल के स्वादवाला है। शेष सभी समुद्रों का जल इक्षुरस (गन्ने के रस)-जैसे स्वाद वाला है।²⁰ किन्हीं के मत में पुष्करवर समुद्र के जल का स्वाद मधुमिश्रित जल-जैसा है।²¹

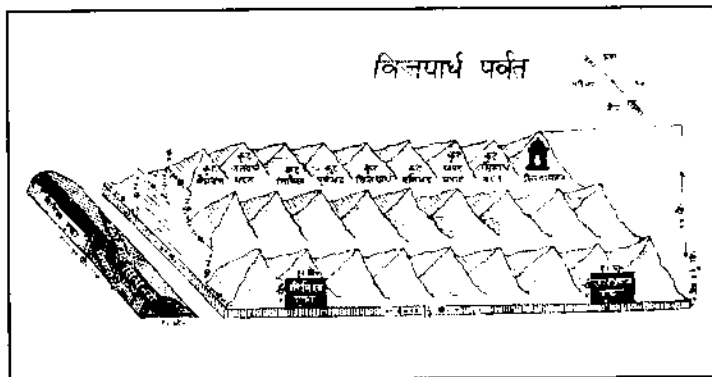
समुद्रों में जलचर—कर्मभूमि से सम्बन्ध होने के कारण लवणसमुद्र, कालोदक और अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव पाये जाते हैं। शेष समुद्र भोगभूमि सम्बन्धी हैं। अतः उनमें जलचर जीव नहीं पाये जाते हैं।²²

द्वीपों में तिर्यच—मानुषोत्तर से स्वयंप्रभ पर्वत मध्यलोक के असंख्यात द्वीपों में जघन्य भोग-भूमिया तिर्यच ही पाये जाते हैं—²³ “वरदो सयंपहोतिय जहण्णभोगावणी तिरिया”—त्रि.सा.—323

कर्मभूमिज तिर्यच—स्वयंप्रभपर्वत के बाहरी भाग में कर्मभूमि की रचना है। उत्कृष्ट अवगाहना वाले त्रस जीव यहीं पाये जाते हैं। असंख्यात देशव्रती तिर्यच भी यहाँ होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव इस तरफ मानुषोत्तर पर्वत तक तथा उस ओर स्वयंप्रभ पर्वत के बाहरी भाग में स्वयंभूरमण समुद्र के अन्त तक पाये जाते हैं।²⁴ उत्कृष्ट अवगाहना वाले त्रस जीव²⁵ एकेन्द्रियों में कमल की लम्बाई एक हजार योजन से कुछ-अधिक है। द्वीन्द्रियों में शंख की 12 योजन लम्बाई है। त्रीन्द्रियों में चींटी की 3/4 योजन अर्थात् 3 कोश, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर के शरीर की लम्बाई 1 योजन = 4 कोश होती है। पंचेन्द्रियों में महामत्स्य के शरीर की लम्बाई एक हजार योजन होती है।

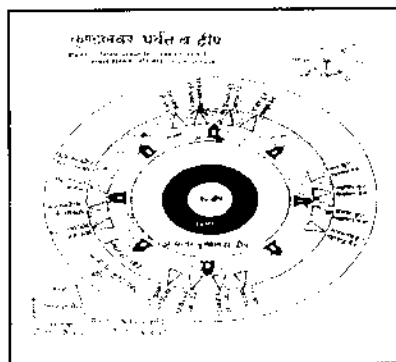
पर्वतविशेष-विजयार्थ—अपने दोनों छोरों (किनारों) से समुद्र को छूने वाला, पूर्व-पश्चिम में लम्बायमान विजयार्थ-पर्वत भरत-क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह 25 योजन ऊँचा, 6¼ योजन गहरा और 50 योजन भूतल पर फैला है। ये रजत-मय (श्वेत-वर्ण) है। इसमें तीन श्रेणियाँ हैं। भूतल से 100 योजन ऊपर इस पर्वत पर 10 योजन विस्तृत, पर्वत-जितनी लम्बी दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। दक्षिणश्रेणी में 50 तथा उत्तरश्रेणी में 60

प्राकारों-गोपुरों से युक्त सर्व-रत्न-मय उज्ज्वल नगरियाँ हैं। इनसे 10 योजन ऊपर आभियोग्य जाति के देवों के मणि-निर्मित भव्य-भवन/प्रासाद हैं। इनसे भी 5 योजन ऊपर 10 योजन विस्तृत पर्वत शिखर पर पूर्णभद्रा श्रेणी है, जहाँ विजयार्ध नामक देव रहता है। इस श्रेणी पर स्वर्णमय 9 कूट हैं। पूर्वी प्रथम कूट सिद्धायतन है, जिस पर जिनालय है। विजयार्ध पर्वत भरतक्षेत्र को उत्तर-दक्षिण दो भागों में बाँटता है।¹⁸

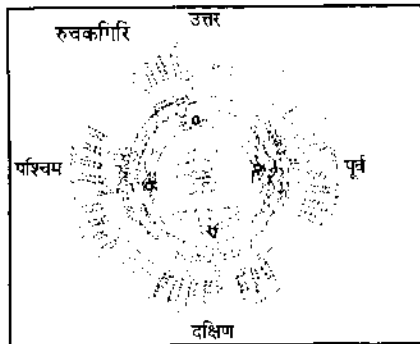


ऐरावत क्षेत्र और 32 विदेहों में भी इसी तरह के विजयार्ध पर्वत उन-उन क्षेत्रों को उत्तर-दक्षिण भागों में विभक्त करते हैं। विदेहों के विजयार्धों पर उत्तर-दक्षिण में 55-55 विद्याधर नगरियाँ हैं।

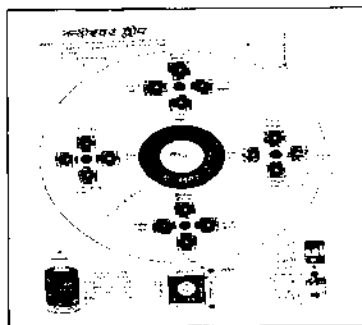
कुंडलगिरि— ग्यारहवें कुंडलवर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तरवत् वलयाकाररूप से अवस्थित 75 हजार योजन ऊँचा स्वर्णमय कुंडलगिरि है। यह मानुषोत्तर पर्वत से दस गुना विस्तृत है। इसके शिखर पर चारों दिशाओं में देवों-सम्बन्धी चार-चार कूट हैं और एक-एक कूट जिनेन्द्र भगवान सम्बन्धी भी है। इस तरह इस पर कुल 20 कूट हैं। चार कूटों पर जिनालय हैं, शेष पर कूटनामधारी देव रहते हैं। कूटों की स्थिति में मत-भिन्नता भी है।¹⁹



रुचकगिरि— 13वें रुचकवर द्वीप के मध्य में बलयाकार रूप से अवस्थित स्वर्णमय रुचकगिरि है। इसकी ऊँचाई नीचे भू-व्यास तथा ऊपर मुख-व्यास 84-84 हजार योजन है। इस पर चारों दिशाओं में पंक्ति रूप से 8-8 कूट हैं। इन कूटों के भीतरी भाग में तीन-तीन कूट और हैं। इस प्रकार कुल 44 कूट हैं। इनमें सबसे भीतरी एक-एक कूट पर जिनभवन हैं। शेष सभी 40 कूटों पर अपने-अपने कार्यों में दक्ष देवियाँ रहती हैं। $8 \times 4 = 32$ कूटों पर स्थित 32 दिक्कुमारियाँ तीर्थंकरों के जन्मकल्याणकों में तीर्थंकर माता की सविनय सेवा करती हैं। यहाँ भी कूटों की संख्या एवं अवस्थिति में मत-भिन्नता है।¹⁰⁰



नन्दीश्वर द्वीप— यह आठवाँ द्वीप है। यह एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख (1638400000) योजन विस्तृत है। इसकी प्रत्येक दिशा के मध्य भाग में 84 हजार योजन लम्बा-चौड़ा और ऊँचा कृष्ण-वर्ण अंजन-गिरि है। इस पर्वत की चारों दिशाओं में एक-एक लाख योजन लम्बी-चौड़ी (चौकोर) टंकोत्कीर्ण ऊपर-नीचे एक जैसी, रत्नमय तटों वाली, एक हजार योजन गहरी, स्वच्छ जल से लबालब भरी, जलचर जीवों से रहित चार-चार बावड़ियाँ हैं। इनके मध्य में दस-दस हजार योजन लम्बे-चौड़े श्वेत-वर्ण दधि-मुख पर्वत हैं। इन बावड़ियों के दो-दो बाहरी कोनों पर एक-एक हजार योजन लम्बे चौड़े और ऊँचे तपाये हुए सोने-जैसे लालवर्ण रति-कर पर्वत हैं। अंजन-गिरि, दधि-मुख और रति-कर—ये सभी खड़े ढोल के समान गोलाकार हैं।



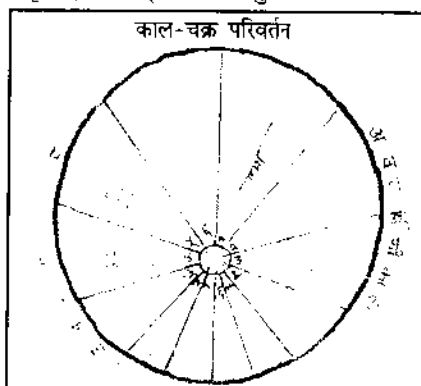
सभी बावड़ियाँ सुरभित पुष्पों के समान हैं तथा इनके चारों ओर एक-एक लाख योजन लम्बे और 50-50 हजार योजन चौड़े पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः अशोक, सप्तच्छद चम्पक और आम्रवृक्षों के वन हैं। ये वन सब ओर से वेदिकाओं-सहित हैं।

इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप की प्रत्येक दिशा में 1 अंजन-गिरि, 4 दधि-मुख, 8 रतिकर पर्वत, 4 बावड़ियाँ और 16 वन हैं। चारों दिशाओं में कुल 52 पर्वत, 16 बावड़ियाँ और 64 वन हैं। चारों दिशाओं के 52 पर्वतों पर ही जिनालय हैं। प्रत्येक जिनालय में 108-108 जिन प्रतिमाएँ हैं। ये दस ताल लक्षणों से भरी हुई देखती-सी, बोलती-सी लगती हैं। पाँच-पाँच सौ धनुष ऊँची हैं। कल्पवासी और भवनत्रिक—(भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क) देवों के इन्द्र अपने-अपने परिवार देवों के साथ वाहनों पर बैठकर हाथों में दिव्य फल-फूल लेकर प्रशस्त आभरणों को धारण कर चामर, सेना, ध्वजा-बाजों से संयुक्त होकर नन्दीश्वर द्वीप जाकर प्रत्येक वर्ष की आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास की अष्टमी से पूर्णिमा तक निरन्तर दो-दो पहर तक प्रदक्षिणा क्रम से महामह पूजाएँ करते हैं।¹⁰¹

आठ अँधेरी पंक्तियाँ—नन्दीश्वर द्वीप के आगे 9 वाँ अरुणद्वीप और उसको घेरे हुए अरुणसागर हैं। यहाँ समुद्र से लेकर ब्रह्मलोक के अन्त तक अन्धकार ही अन्धकार है। अरुणसागर के बाहर मृदंगाकार घनाकार आठ काली पंक्तियाँ फैली हैं। अल्प ऋद्धिधारी इस अन्धकार में दिग्भ्रमित होकर चिरकाल तक भटकते रहते हैं। बड़ी ऋद्धिधारी देवों के साथ ही वे इस समुद्र को लाँघ पाते हैं।¹⁰²

भरत-ऐरावत क्षेत्रों में वृद्धि और हास

भरतैरावतयो-वृद्धिहासौ षट् समयाभ्यामुत्सर्पिव्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ 3/27



भरत और ऐरावत क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्यों के अनुभव, आयु, शरीर-अवगाहना आदि की वृद्धि और हास उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के निमित्त से होते रहते हैं। उत्सर्पिणी में अनुभवादि की वृद्धि होती है और अवसर्पिणी में हास होता है। 120 कोड़ाकोड़ी सागरों का एक कल्पकाल होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरों के होते हैं—

कालों के नाम	स्थिति प्रमाण	आयु आदि में /अन्त में	अवगाहना आदि में /अंत में	शरीर का वर्ण	आहार
1. सुषमा सुषमा	4 कोड़ा कोड़ी सागर	3 पल्य 2 पल्य	3 कोश 2 कोश	उगते-सूर्य-जैसा	3 दिन बाद
2. सुषमा	3 कोड़ा कोड़ी सागर	2 पल्य 1 पल्य	2 कोश 1 कोश	पूर्ण-चन्द्र जैसा	2 दिन बाद
3. सुषमा-दुषमा	2 कोड़ा कोड़ी सागर	1 पल्य 1 पूर्वकोटि	1 कोश 500 धनुष	पियंगु-जैसा	1 दिन बाद
4. दुषमा-सुषमा	42 हजार वर्षकम 1 को	1 पूर्व कोटि 120 वर्ष	500 धनुष 7 हाथ	पाँचों वर्ण	प्रतिदिन एक बार
5. दुषमा	21 हजार वर्ष	120 वर्ष 20 वर्ष	7 हाथ 2 हाथ	कात्ति-हीन 5 वर्ण	बहुत बार
6. दुषमा-दुषमा	21 हजार वर्ष	20 वर्ष 15 वर्ष	2 हाथ 1 हाथ	धूम-वर्ण	बारम्बार

—यह वृद्धि और ह्रास षट्काल परिवर्तन भरत-ऐरावत क्षेत्रों के केवल आर्यखंडों में ही होते हैं, क्योंकि ये अनवस्थित हैं।

अवस्थित भूमियाँ—भरत-ऐरावत के आर्यखंडों के सिवाय शेष भूमियाँ अवस्थित हैं; क्योंकि इनमें षट्काल परिवर्तन नहीं होता।¹⁰³

काल	क्षेत्र ढाईद्वीप के	भोगभूमि	अवगाहना	शरीर का रंग	आयु	आहार
1. सुषमा-सुषमा	5 देव कुरु 5 उत्तर कुरु	उत्तम भोगभूमि	3 कोश- 6 हजार धनुष	सुवर्ण के समान	3 पल्योपम	3 दिन के अन्तर से
2. सुषमा काल	5 हरिक्षेत्र 5 रम्यक्षेत्र	मध्यम भोगभूमि	2 कोश 4 हजार धनुष	शंख के समान	2 पल्योपम	2 दिन के अन्तर से
3. सुषमा-दुषमा	5 हैमवतक्षेत्र 5 हैरण्यवत	जघन्य भोगभूमि	1 कोश 2000 धनुष	नीलकमल के समान	1 पल्योपम	1 दिन के अन्तर से

सुषमा-सुषमा प्रथम काल—ढाईद्वीप के पाँचों देव-कुरु तथा पाँचों उत्तर-कुरु क्षेत्रों में सदा वर्तता है। यहाँ प्रथम-काल-जैसी आयु उत्सेध, सुख आदि की वर्तना सदा रहती है। सुषमा नामक द्वितीय-काल-जैसी वर्तना ढाईद्वीप के पाँचों हरि तथा रम्यक क्षेत्रों में सदा होती रहती है। सुषमा-दुषमा नामक तृतीय काल की वर्तना पाँचों हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों में सदा बनी रहती है। ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियाँ कही जाती हैं। ढाईद्वीप में इस तरह 10 उत्तम, 10 मध्यम और 10 जघन्य कुल 30 शाश्वत भोगभूमियाँ हैं। ये-सभी अवस्थित भूमियाँ हैं।

भोगभूमि वैशिष्ट्य¹⁰⁷—यहाँ की भूमि दर्पण-सदृश स्वच्छ निर्मल कंकड़-पत्थर धूल-धुआँ आग आदि से रहित होती है। यहाँ के सरोवर तथा वावड़ियाँ दूध, इक्षुरस, जल, मधु और घी से भरी होती हैं। यहाँ 2, 3, 4 इन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, जलचर, नपुंसक एवं लब्धयपर्याप्तक जीव नहीं होते। कल्पवृक्षों के प्रकाश से सदा-प्रकाशित रहने के कारण रात-दिन का भेद यहाँ नहीं होता। सर्दी-गर्मी, चोर-शत्रु, रोग-उपद्रव आदि की बाधाएँ तथा प्राकृतिक आपदाएँ भी यहाँ नहीं होतीं। भोगोपभोग की सभी सामग्री 10 प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती रहती है।

यहाँ स्त्री-पुरुष युगलरूप में ही जन्मते हैं और आयु पूर्ण होने के पूर्व युगल सन्तान को जन्म देकर स्वर्गवासी हो जाते हैं। भोगभूमिया जीवों में/मनुष्यों में जाति-कुल, राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक-जैसा भेद नहीं होता। इनमें आपसी वैर-विरोध तथा व्यसन आदि बुराईयाँ भी नहीं होतीं। ये मन्द-कषायी और शान्तिप्रिय होते हैं। यहाँ सिंह आदि तिर्यच भी शाकाहारी और शान्त-चित्त होते हैं। कल्पवृक्षों से शाकाहार प्राप्त करते हैं। यहाँ के मनुष्य-तिर्यचों का वज्रवृषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है।

आयु के 9 माह शेष रहने पर स्त्रियाँ गर्भवती होती हैं और 9 माह बाद युगलिया सन्तान को जन्म देकर स्त्रियाँ जंभाई लेकर और पुरुष छींक लेकर दिवंगत हो जाते हैं। इनका शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है। इनका कदली-घात अकाल-मरण नहीं होता। मरकर नियम से ये देव होते हैं। मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यच मरकर भवनत्रिक में जन्म लेते हैं, पर सम्यग्दृष्टि आयु पूर्ण कर सौधर्म-ईशान स्वर्गों में जन्मते हैं।

भोगभूमि में कौन जन्मते हैं?—मन्दकषायी, सत्यवादी, व्यसनमुक्त, 3 मकार और 5 उदुम्बरफल त्यागी, निरभिमानी, शान्तिप्रिय, गुणानुरागी, सत्पात्रों को दान देनेवाले तथा दान की अनुमोदना करने वाले मनुष्य-तिर्यच भोगभूमियों में जनमते हैं।

अन्य अवस्थित भूमियाँ—ढाईद्वीप के सभी विदेहक्षेत्रों में दुषमा-सुषमा नामक चतुर्थ काल की वर्तना निरन्तर बनी रहती है।¹⁰⁸ इसी से यहाँ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता रहता है। कम से कम बीस तीर्थंकर भगवन्त यहाँ सदा विराजते हैं। यहाँ संख्यात वर्षों की आयुवाले तथा 500 धनुष शरीर की अवगाहना वाले मनुष्य होते हैं। ये प्रतिदिन आहार करते हैं। इनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व-कोटि-प्रमाण तथा जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होती है।

सुषमा-सुषमा आदि तीन कालों में आयु, आहार आदि की वृद्धि-हानि को दर्शाने वाली तालिका पृष्ठ 126 तिलोयपण्णत्ती-खंड (2) गा. 324-427

क्र.	विषय	सुषमासुषमा	सुषमा	सुषमा-दुषमा
1.	भूमि-रचना	उत्तम भोगभूमि	मध्यम भोगभूमि	जघन्य भोगभूमि
2.	काल-प्रमाण	4 कोड़ाकोड़ी सागर	3 कोड़ाकोड़ी सागर	2 कोड़ाकोड़ी सागर
3.	आयु-उत्कृष्ट जघन्य	3 पत्य 2 पत्य	2 पत्य 1 पत्य	1 पत्य 1 समय + 1 पूर्वकोटि
4.	आहार प्रमाण	बेर प्रमाण	वहेड़ा प्रमाण	आँवला-प्रमाण
5.	अवगाहना-उत्कृष्ट जघन्य	6000 धनुष 4000 धनुष	4000 धनुष 2000 धनुष	2000 धनुष 500 धनुष
6.	आहार-अन्तराल	3 दिन बाद	2 दिन बाद	1 दिन बाद
7.	कवलाहार है किन्तु	निहार का अभाव	निहार का अभाव	अभाव
8.	उत्तानशयन आँगूठा चूस	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
9.	उपवेशन (बैठना)	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
10.	अस्थिर-गमन	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
11.	स्थिर-गमन	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
12.	कला-गुण प्राप्ति	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
13.	तारुण्य प्राप्ति	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
14.	सम्यक्त्व-योग्यता	3 दिन पर्यन्त	5 दिन पर्यन्त	7 दिन पर्यन्त
15.	शरीर पृष्ठभाग की हड्डियाँ	256	128	64
16.	संयम	अभाव	अभाव	अभाव
17.	गुणस्थान अपर्याप्त में पर्याप्त में	मिथ्यात्व-सासादन पहले से चार तक	मिथ्यात्व-सासादन पहले से चार तक	मिथ्यात्व-सासादन पहले से चार तक
18.	शरीर की कान्ति	सूर्यप्रभा-सदृश	पूर्ण चन्द्रप्रभा-सदृश	प्रियंगु-फल-सदृश
19.	मरण के बाद शरीर	मेघवत् विलीन	मेघवत् विलीन	मेघवत् विलीन
20.	मरण के बाद गति-मिथ्यादृष्टि सम्यादृष्टि	भवनत्रिक में दूसरे स्वर्ग पर्यन्त	भवनत्रिक में दूसरे स्वर्गपर्यन्त	भवनत्रिक में दूसरे स्वर्ग पर्यन्त

भोगभूमि में उत्पन्न जीवों की वैभव-दर्शक-तालिका

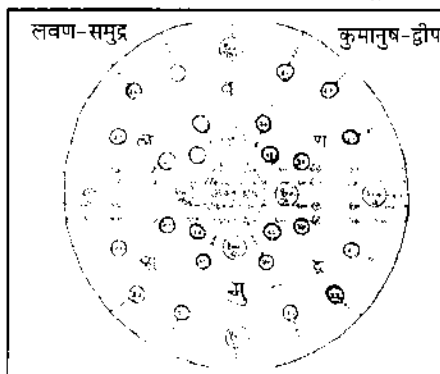
क्र.	नाम	तिलोय पण्णत्ती पृष्ठ 113
1.	भूमि	स्वच्छ, साफ, कीड़ों आदि से रहित, निर्मल-दर्पण-सदृश, पंच वर्ण की। गाथा-324-325
2.	तृण (घास)	पाँच वर्ण की मृदुल, मधुर, सुगन्धित और चार अंगुल-प्रमाण। गाथा-326
3.	वापिकाएँ	जल-जन्तु-रहित और सर्व व्याधियों को नष्ट करने वाले अमृतोपम निर्मल जल से युक्त। गाथा 328-330
4.	प्रासाद	अनेक प्रकार की मृदुल शय्याओं और अनुपम आसनों से युक्त। गा.- 331
5.	पर्वत	स्वर्ण एवं रत्नों के परिणाम स्वरूप तथा कल्पवृक्षों से युक्त और उन्नत। गाथा-332
6.	नदियाँ	उभय तटों पर रत्नमय सीढ़ियों से संयुक्त और अमृत-सदृश उत्तम जल से सहित। गाथा-334
7.	जीव	विकलत्रय एवं असंज्ञी जीवों का तथा रोग, कलह और ईर्ष्या आदि का अभाव। गाथा-335-336
8.	काल	रात-दिन के भेद, अन्धकार गर्मी-सर्दी की बाधा और पापों से रहित। गा.- 337
9.	उत्पत्ति	युगल-उत्पत्ति होती है। अन्य परिवार एवं ग्राम नगरादि से रहित होते हैं। गाथा-338
10.	बल	एक पुरुष में नौ हजार हाथियों के बराबर। गाथा-342-344-345
11.	शरीर	प्रशस्त 32 लक्षण युक्त। कवलाहार करते हुए भी निहार से रहित। गा.- 344
12.	कल्पवृक्ष	10 प्रकार के। गाथा-346
13.	पेय पदार्थ	32 प्रकार के। गाथा-347
14.	वादित्र	नाना प्रकार के। गाथा-348
15.	आहार	16 प्रकार का। (16) व्यंजन-17 प्रकार के। (17) दाल-14 प्रकार की। गा.-351
18.	खाद्य पदार्थ	108 प्रकार के। गाथा-351
19.	स्वाद्य पदार्थ	363 प्रकार के। (21) रस-63 प्रकार के। गाथा-352
21.	भवन	स्वस्तिक एवं नन्दावर्त आदि 16 प्रकार के। गाथा-353
22.	फूल मालाएँ	16000 प्रकार की। गाथा-356
23.	भोग	चक्रवर्ती के भोग से अनन्तगुणै। गाथा-361
24.	भोग-साधन	विक्रिया द्वारा अनेक प्रकार के शरीर बनाते हैं। गाथा-362
25.	आभूषण	पुरुष के 16 प्रकार के और स्त्री के 14 प्रकार के। गाथा-366
26.	कला-गुण	64 कलाओं से युक्त। गाथा-389
27.	संहनन	वज्रवृषभनाराच। गाथा-343
28.	संस्थान	समचतुरस्र शरीर। गाथा-343
29.	मरण	कदली घात रहित।
30.	मरण का कारण	पुरुष का छौंक और स्त्री के जँभाई। गाथा-381

—त्रिलोकसार गाथा-786-791 भी देखें

भरत-ऐरावत क्षेत्रों के सभी म्लेच्छ खंडों में तथा विजयार्ध पर्वतों की श्रेणियों में अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के आदि से अन्त तक आर्यखंडों जैसी आयु, उत्सेध, सुखादि की हानि होती रहती है तथा उत्सर्पिणी के तृतीयकाल जैसी आदि से अन्त तक क्रमिक वृद्धि होती रहती है। यहाँ अवसर्पिणी के 1, 2, 3, 5, 6 तथा उत्सर्पिणी के 1, 2, 4, 5, 6 कालों जैसी वर्तना नहीं होती।¹⁰⁰ अतः ये भी अवस्थित भूमियाँ हैं।

कर्मभूमियाँ¹⁰⁰—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प—इन छह कर्मों द्वारा जहाँ आजीविका अर्जित की जाती है तथा देवपूजा, गुरूप्रासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये 6 प्रशस्त कर्म जहाँ किए जाते हैं। प्रकर्षरूप से पाप और पुण्य कर्मों का उपार्जन जहाँ होता है। वे—सब कर्मभूमियाँ हैं। सातवें नरक तक ले जाने वाले प्रकर्ष-पाप-कर्मों का तथा सर्वार्थसिद्धि तक ले जाने वाले प्रकर्ष-पुण्य-कर्मों का उपार्जन इन्हीं कर्मभूमियों में होता है। मोक्ष हेतु प्रबल पुरुषार्थ/साधना भी इन्हीं में संभव होती है। भरत, ऐरावत तथा विदेह क्षेत्रों के आर्यखंडों में ये कर्मभूमियाँ हैं। दार्द्रीप में 5 भरत, 5 ऐरावत और 5 विदेह—ये 15 कर्मभूमियाँ हैं, पर आर्यखंडों की अपेक्षा इनकी संख्या 170 है। एक-एक विदेह में 32-32 आर्यखंड हैं। पाँचों विदेहक्षेत्रों के 160 तथा 5 भरत और 5 ऐरावत क्षेत्रों के 10 आर्यखंडों को मिलाने पर इनकी कुल संख्या 170 हो जाती है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि षट्काल-परिवर्तन केवल भरत और ऐरावत के आर्यखंडों में ही होता है; क्योंकि ये अनवस्थित क्षेत्र/भूमियाँ हैं। अवस्थित क्षेत्र/भूमियाँ होने के कारण विदेह क्षेत्रों के सभी आर्यखंडों में षट्काल-परिवर्तन नहीं होता। यहाँ हमेशा चतुर्थकाल ही वर्तता रहता है।

कुभोग भूमियाँ¹⁰⁰—“*षण्णवति कुभोगभूमयः*” 1113, शा.सा. समु. लवणसमुद्र और कालोदक समुद्रों के दोनों आन्तरिक और बाह्य तटों के पास 24-24 अन्तर्द्वीप हैं। दोनों समुद्रों के चारों तटों के $24 \times 4 = 96$ अन्तर्द्वीप ही 96 कुभोग भूमियाँ हैं। यहाँ कुत्सितरूप वाले कुमानुष तिर्यच रहते हैं। ये सभी अन्तर्द्वीप मधुर रस वाले फल-फूलों से युक्त कल्पवृक्षों के वनखंडों से तथा जल से परिपूर्ण बावड़ियों सहित हैं।



यहाँ कुमानुष-तिर्यच युगलरूप में जनमते-मरते हैं। इन्हें किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट, व्याधि आदि नहीं होते। ये मन्दकषायी होते हैं। वनों में वृक्षों के नीचे रहकर फल-फूल खाकर शान्तिमय जीवन जीते हैं। कुछ कुमानुष गुफाओं में रहते हैं और मधुर स्वादिष्ट मिट्टी खाते हैं। इनकी आयु एक पल्य की होती है। इनका शरीर एक कोश (2000 धनुष) ऊँचा होता है। ये आयुपर्यन्त उत्तम भोग भोगते हैं। आयु पूर्ण होने पर मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में तथा सम्यग्दृष्टि सौधर्म-ईशान स्वर्गों में जन्म लेते हैं।

कुमानुषों में कौन जनमते हैं— जो दिग. मुनि होकर भी मायाचारी करते हैं। ज्योतिष तथा मन्त्र आदि का प्रयोग कर आहार आदि प्राप्त करते हैं, धन चाहते हैं। ऋद्धि-रस-सात गारवों से तथा आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञाओं से युक्त होते हैं। दूसरों के विवाह कराते हैं, सम्यक्त्व की विराधना करते हैं। अपने दोषों की आलोचना नहीं करते और दूसरों को दोष लगाते हैं। जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि तप तपते हैं, मौन छोड़कर भोजन करते हैं। जो दुर्भावना से, अपवित्रता से, सूतक से, पुष्पवती के संसर्ग से जातिसंकर आदि दोषों से युक्त होते हुए भी सत्पात्रों को दान देते हैं तथा कुपात्रों को दान देने वाले सभी कुभोगभूमियों में कुमानुष-तिर्यच होते हैं।

तिर्यचों की भोगभूमि-व्यवस्था— मानुषोत्तर पर्वत के आगे स्वयंभूरमणद्वीप के मध्य में स्थित स्वयंप्रभपर्वत तक के असंख्यात-द्वीपों में तिर्यचों की जघन्य भोगभूमि व्यवस्था है। यहाँ केवल युगलिया तिर्यच ही उत्पन्न होते हैं। ये एक पल्य की आयुवाले होते हैं तथा जघन्य भोगभूमि के सुखों को भोगते हैं। आयु के अन्त में मरकर भवनत्रिक में जन्म लेते हैं। यदि सम्यक्त्व सहित होते हैं, तो सौधर्म-ईशान स्वर्गों तक भी जन्म धारण करते हैं।¹¹⁰

तिर्यचों की कर्मभूमि-व्यवस्था— स्वयंप्रभ पर्वत से बाहर आधे स्वयंभूरमण द्वीप और सम्पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में तिर्यचों की कर्मभूमि व्यवस्था है। यहाँ के जलचर, थलचर, नभचर तिर्यचों में सम्यक्त्व ग्रहण करने की तथा अणुव्रतों को धारण कर देशव्रती होने की योग्यता है। किन्हीं को जातिस्मरण से और किन्हीं को देवों द्वारा धर्मोपदेश मिलने से सम्यक्त्व हो जाता है। कदाचित् कोई देशव्रती भी बन जाते हैं। यहाँ ऐसे सम्यक्त्वी और देशव्रती तिर्यच असंख्यात हैं, जो आयु पूर्ण कर देवगति पाते हैं। यहाँ पर दुषमा नामक पंचम काल-जैसी वर्तना सदा होती रहती है। उत्कृष्ट अवगाहना के तिर्यच यहीं पाये जाते हैं।¹¹¹

ऊर्ध्वलोक—अधोलोक के ऊपर सात राजू ऊँचा मृदंगाकार ऊर्ध्वलोक है।¹¹² इन सात राजुओं में सुमेरु पर्वत की ऊँचाई बराबर मध्यलोक की ऊँचाई भी शामिल है। ऊर्ध्वलोक में विमानवासी देवों और मुक्तजीवों के अवस्थान हैं।

देवगति नामकर्म का उदय होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से युक्त द्वीप-समुद्र आदि अनेक स्थानों में क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं। वे चार निकाय-समूहविशेष/जातिवाले हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।¹¹³ इनमें भवनवासियों के 10, व्यन्तरों के 8, ज्योतिष्क देवों के 5 तथा 16 स्वर्गों तक के कल्पवासी देवों के 12 भेद होते हैं।¹¹⁴ देवों के उक्त चार निकायों में दस-दस प्रकार के देव होते हैं—(1) इन्द्र, (1) सामानिक, (3) त्रायिस्त्रश, (4) पारिषद्, (5) आत्मरक्ष, (6) लोकपाल, (7) अनीक, (8) प्रकीर्णक, (9) आभियोग्य और (10) किल्चिषिक। इनमें से त्रायिस्त्रश और लोकपाल—ये दो भेद व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में नहीं होते।

(1) अन्य देवों में नहीं पाया जाने वाला अणिमा आदि ऋद्धि-रूप ऐश्वर्य जिनके पाया जाता है, वह 'इन्द्र' होता है। (2) स्थान, आयु, शक्ति, परिवार और भोगोपभोग आदि में जो इन्द्रों के समान होते हैं, परन्तु इन्द्रों के समान आज्ञा तथा ऐश्वर्य नहीं होता, वे 'सामानिक' देव होते हैं। ये पिता, गुरु, उपाध्याय आदि के समान आदरणीय होते हैं। (3) मन्त्री तथा पुरोहित के समान हित चाहने वाले देव 'त्रायिस्त्रश' कहलाते हैं, ये संख्या में तेतीस ही होते हैं। (4) सभ्य, सभासद, मित्र और नर्तकाचार्य के समान देव 'पारिषद्' कहलाते हैं। ये विनोदशील होते हैं। (5) कवच, शस्त्रधारी-अंगरक्षकों की भाँति पीछे खड़े रहने वाले देव 'आत्मरक्ष' होते हैं। यद्यपि इन्द्र को कोई भय नहीं होता, फिर भी विभूति दर्शाने तथा दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए ये देव होते हैं। (6) लोकपाल अर्थरक्षक के समान लोक का पालन व रक्षण करते हैं। (7) पदाति आदि सात प्रकार की सेना के देव 'अनीक' कहलाते हैं। (8) नगरवासी तथा प्रान्तवासी जन के समान 'प्रकीर्णक' देव होते हैं। (9) आभियोग्य देव दासों-जैसे होते हैं, जो विमान आदि खींचने के लिए वाहकरूप से परिणत हो जाते हैं। (10) पापों की बहुलता वाले पापशील अन्तवासी की तरह सीमा के पास रहने वाले देव 'किल्चिषिक' कहलाते हैं।¹¹⁵

भवनवासी— भवनों में रहने का स्वभाव होने से ये 'भवनवासी' कहलाते हैं।¹¹⁶ ये 10 प्रकार के हैं—(1) असुरकुमार, (2) नागकुमार, (3) विद्युत्कुमार, (4) सुपर्णकुमार, (5) अग्निकुमार, (6) वातकुमार, (7) स्तनित कुमार, (8) उदधिकुमार, (9) द्वीपकुमार, (10) दिक्कुमार।¹¹⁷ यद्यपि इन-सब का वय और स्वभाव अवस्थित है, तो भी इनकी वेश-भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीड़ा आदि कुमारों के समान होती है। इस कारण ये सभी 'कुमार' कहलाते हैं।¹¹⁸

रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकबहुल भाग में असुरकुमारों के भवन हैं और खरभाग में शेष 9 प्रकार के भवनवासियों के भवन हैं। भवनवासियों के कुल 7 करोड़ 72 लाख भवन हैं। ये सभी चौकोर सुगन्धित, रमणीक उद्योतरूप तथा इन्द्रियों को सुखदायी हैं। इनमें इतने

ही जिन-भवन हैं तथा 10 प्रकार के चैत्यवृक्ष भी जिन-प्रतिमाओं सहित विद्यमान हैं।

ये भवनवासी अष्टगुण ऋद्धियों के धारी तथा मणिमय आभूषणों से दीप्त होते हैं। पूर्वभ्रव के तप के प्रभाव से आयुपर्यन्त सुखरूप इष्ट-भोग भोगते हैं। रागवश ये देव द्वीप, कुलाचल, भोगभूमि, नन्दनवन, बावड़ी और नदी तटों पर भी क्रीड़ा करते हैं। (ति. प. 3/249) इनका वैक्रियिक शरीर मल-मूत्र और सप्तधातुओं से रहित होता है।

व्यन्तर— अनेक देशान्तरों में इनका निवास होने से ये व्यन्तर कहलाते हैं। नामकर्म के उदय से इनके 8 कुल होते हैं— (1) किन्नर, (2) किम्पुरुष, (3) महोरग, (4) गन्धर्व, (5) यक्ष, (6) राक्षस, (7) भूत और (8) पिशाच। ये देव दिव्य वैक्रियिक शरीरवाले तथा मानसिक आहार करने वाले होते हैं। किन्नर हरितवर्ण, किम्पुरुष धवलवर्ण, महोरग श्यामवर्ण, गन्धर्व हेमवर्ण, यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाच-ये सभी श्यामवर्ण होते हैं। इनके आवासों में जिन-प्रतिमा और मानस्तम्भ-सहित चैत्यवृक्ष भी होते हैं।¹²⁰

जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप-समुद्र लौंघकर चित्रा पृथ्वी के खरभाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास हैं तथा पंकबहुल भाग में राक्षसों के आवास हैं।¹²¹ इनके सिवाय पृथ्वी के ऊपर मध्यलोक के भूमितल पर भी द्वीप, पर्वत, समुद्र, ग्राम, नगर, तिराहा-चौराहा, घर-आँगन, गली, वन, उद्यान, जलाशय, वृक्ष, देवालय आदि में भी ये निवास करते हैं।

ज्योतिष देव— ये पाँच प्रकार के हैं— (1) सूर्य, (2) चन्द्र, (3) ग्रह, (4) नक्षत्र, और (5) प्रकीर्णक तारे।¹²² ये देव प्रकाशमान विमानों में रहते हैं। अतः ज्योतिष्क/ज्योतिषी देव कहलाते हैं। ये मध्यलोक में पृथ्वी के समतल भूभाग से 790 योजन की ऊँचाई से लेकर 900 योजन की ऊँचाई तक 110 योजन मोटे भाग में विद्यमान हैं। ज्योतिषियों का यह पहले तिर्यक् रूप से असंख्यात द्वीप समुद्रों तक घनोदधिवातवल्लय तक फैला है। सबसे नीचे तारे हैं और सबसे ऊपर अन्त में शनि का विमान है।¹²³

ज्योतिष्क देव	तारे	सूर्य	चन्द्रमा	नक्षत्र	बुध	शुक्र	गुरु	मंगल	शनि
भूतल से ऊँचाई	790 योजन	800 योजन	880 योजन	884 योजन	888 योजन	891 योजन	894 योजन	897 योजन	900 योजन

—चित्रा पृथ्वी से ऊपर बुध और शनि के अन्तराल में 888 योजन से 900 योजन के बीच में शेष बचे 83 ग्रहों की नित्य नगरियाँ हैं।¹²⁴

ज्योतिषी देवों के विमान लोहे के अर्धगोले के समान ऊपर समतल और चौड़े तथा नीचे गोलाकार हैं।¹²⁵ इनका प्रकाशित निचला भाग ही हमें दिखता है। राहु का विमान चन्द्रमा के विमान के नीचे तथा केतु का विमान सूर्य विमान के नीचे चार

प्रमाणांगुल के अन्तर से चलता है। गतिविशेष के कारण जिस पूर्णिमा को राहुविमान चन्द्रविमान को आच्छादित करता है, तब चन्द्रग्रहण होता है तथा जिस अमावस्या को केतुविमान सूर्य विमान को आच्छादित करता है तब सूर्यग्रहण होता है। (त्रि. सा. 339-340)

सूर्य और चन्द्रमा के विमानों को 16-16 हजार, ग्रहों के विमान को आठ-आठ हजार, नक्षत्रों के विमान को 4-4 हजार और तारों के विमान को दो-दो हजार वाहक देव लेकर चलते हैं। यद्यपि ज्योतिष्क विमान स्वभावतः सदैव घूमते रहते हैं, तो भी समृद्धि-विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए आभियोग्य देव इन्हें निरन्तर दौते रहते हैं। ये देव सिंह, गज, वृषभ और अश्व का आकार धारण किए रहते हैं।

‘मेरु प्रदक्षिणा-नित्यगतयो नृलोके’। 4/13 त. सूत्र—मनुष्य लोक में ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं। इसके बाहर वे गमन नहीं करते; क्योंकि मनुष्य-लोक के बाहर के ज्योतिष्क विमान स्थिर स्वभाव वाले हैं—‘बहिरवस्थिताः 14/15 त. सूत्र—मनुष्य लोक में ज्योतिषियों के विमान आभियोग्य जाति के देवों से प्रेरित होकर निरन्तर गतिशील रहते हैं, क्योंकि इन देवों का कर्म गति-रूप से ही फलता है। ये सुमेरु पर्वत से 1121 योजन दूर रहकर ही उस पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं।¹²⁶

‘तत्कृतः कालविभागः’ 4/14 त. सूत्र— स्तव, लव, घड़ी, मुहूर्त, पहर, दिन-रात, पक्ष, माह, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि व्यवहार—काल का विभाग गतिशील ज्योतिषी देवों द्वारा किया हुआ है।¹²⁷ इनके गमन के फलस्वरूप ही जगत् में घड़ी-घंटा, दिन-रात आदि का व्यवहार होता है। यह काल-व्यवहार मनुष्य-लोक में ही होता है। इसके बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर-स्वभावी हैं, गमन नहीं करते। अतः काल-व्यवहार नहीं है।

मनुष्यलोक में 132 सूर्य तथा 132 चन्द्रमा हैं—जम्बूद्वीप में दो-दो, लवणसमुद्र में चार-चार, धातकीखंड में 12-12, कालोदधि में 42-42 और पुष्करार्ध में 72-72 सूर्य और चन्द्रमा हैं। ज्योतिषियों में चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र होता है। एक चन्द्र-परिवार में एक सूर्य, 28 नक्षत्र, 88 ग्रह और 66975 कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। एक सूर्य जम्बूद्वीप की परिक्रमा दो दिन-रात में पूरी करता है। इसका परिभ्रमण-क्षेत्र जम्बूद्वीप में 180 योजन तथा लवण-समुद्र में $330\frac{48}{61}$ योजन है। सूर्य-परिभ्रमण की कुल 184 गलियाँ (वीथी) हैं। इनमें दो सूर्य क्रमशः एक-एक गली में घूमते हैं। चन्द्रमा को पूरी परिक्रमा देने में दो दिन-रात से कुछ-अधिक समय लगता है। इसी से चन्द्रोदय के काल में हीनाधिकता होती है।

चन्द्रकलाएँ घटती-बढ़ती क्यों हैं? ...श्री त्रिलोकसार (गाथा-342) के अनुसार

चन्द्र विमान के कुल 16 विभाग हैं। एक-एक दिन में एक-एक भाग कृष्णरूप परिणमन करता है और 15 दिन में वह पूरा कृष्णरूप हो जाता है; फिर अगले प्रतिपदा से प्रत्येक दिन एक-एक भाग श्वेतरूप से परिणमन करता है और 15 दिन में पूर्णमासी तक वह पूरा शुक्लरूप हो जाता है। अन्य आचार्यों के अनुसार अंजनवर्ण राहु का विमान प्रति-दिन एक-एक पथ में 15 कला-पर्यन्त चन्द्र-बिम्ब के एक-एक भाग को आच्छादित करता है, फिर पुनः वही राहु प्रतिपदा से पूर्णिमा तक अपने गमन-विशेष से एक-एक वीथी में एक-एक कला को छोड़ता जाता है। इस कारण चन्द्र-कलाएँ प्रति-पक्ष घटती और बढ़ती रहती हैं।

उत्तरायण-दक्षिणायन-सूर्य का भीतरी प्रथम गली से बाहरी अन्तिम गली की ओर गमन 'दक्षिणायन' कहलाता है और बाहरी अन्तिम वीथी से भीतरी प्रथम वीथी की ओर गमन 'उत्तरायण' कहा जाता है। श्रावणकृष्ण प्रतिपदा को कर्कराशि में रहते हुए सूर्य भीतरी प्रथम गली में गमन करता है, तब दिन 18 मुहूर्त का और रात्रि 12 मुहूर्त की होती है। प्रथम गली से अन्तिम गली की ओर गमन करने पर सूर्य की गति क्रमशः तेज होती जाती है और दिन का प्रमाण घटने और रात्रि का प्रमाण बढ़ने लगता है। माघ कृष्ण प्रतिपदा को मकर राशि में रहते हुए सूर्य अन्तिम गली में भ्रमण करता है। यहाँ पर रात्रि 18 मुहूर्त की और दिन 12 मुहूर्त का होता है। बाहरी परिधि से भीतरी परिधि की ओर सूर्य के गमन करने पर रात्रि घटने और दिन बढ़ने लगता है। सूर्यगति भी क्रमशः मन्द होती जाती है। बाहरी परिधि में सूर्य सिंहवत् तेज चलता है, मध्यम वीथियों में घोड़ेवत् तथा भीतरी वीथियों में हाथीवत् गमन करता है।¹²⁷

भवनत्रिक में कौन जन्म लेते हैं?—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों को भवनत्रिक कहते हैं। जिनमत के विपरीत धर्म का आचरण करने वाले, निदान-सहित तप तपने वाले, आग, जल आदि से मरने वाले, छोटे तप तपने वाले तथा सदोष चारित्र-पालक जीव भवनत्रिक में जन्म लेते हैं।¹²⁸ जो कुतपो द्वारा शरीर को कष्ट देते हैं, सम्यक् तप अंगीकार करके भी विषयासक्त हो जलते रहते हैं, वे-सब विशुद्ध लेश्याओं से देवायु का बन्ध कर बाद में क्रोधादि कषायों द्वारा इस आयु का घात कर सम्यक्त्व से मन हटाकर भवनत्रिकों में जनमते हैं।¹²⁹

वैमानिक देव—*वैमानिकाः* 4/16, त.सूत्र—चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक देव हैं। विमानों में रहने के कारण इन्हें वैमानिक कहा गया है।¹³⁰ यद्यपि ज्योतिषी देव भी विमानों में रहते हैं, तो भी इन चतुर्थ निकाय के देवों में ही वैमानिक संज्ञा रूढ़ है। इनका जन्म विमानों में उपपाद शय्या पर होता है।

इनके विमान 3 प्रकार के हैं—(1) इन्द्रक, (2) श्रेणीबद्ध और (3) प्रकीर्णक। सभी विमानों के मध्य में इन्द्र की भाँति स्थित विमान 'इन्द्रक' कहलाते हैं। मे प्रत्येक

पटल में एक-एक ही होते हैं। इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में पंक्तिरूप से स्थित विमान 'श्रेणीबद्ध' विमान कहलाते हैं। विदिशाओं में फूलों की तरह अक्रम से बिखरे विमान 'प्रकीर्णक' विमान कहे जाते हैं। इन-सब में वैमानिक देव रहते हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च। 4/17, त. सूत्र—वैमानिक देवों के दो भेद हैं—(1) कल्पोपपन्न और (2) कल्पातीत। जहाँ इन्द्र, सामानिक आदि 10 प्रकार के भेदों की कल्पना है, ऐसे 16 स्वर्गों के देव 'कल्पोपपन्न' कहे जाते हैं। जिनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं की जाती, ऐसे 16 स्वर्गों से ऊपर के सभी देव 'कल्पातीत' कहे जाते हैं। 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश और 5 अनुत्तर विमानों के देव 'कल्पातीत' हैं। इनमें कोई छोटा या बड़ा नहीं है। सभी समान/एक-जैसे हैं, अहमिन्द्र हैं।

उपर्युपरि 4/18, त. सूत्र—विमानवासियों के स्वर्ग ऊपर-ऊपर हैं, ज्योतिषी विमानों की तरह तिरछे नहीं हैं तथा व्यन्तरों के आवासों-जैसे अनियमित भी नहीं हैं। यद्यपि स्वर्गों के बीच में असंख्यात करोड़ योजनों का अन्तर है, व्यवधान है, फिर भी दो के बीच में अन्य कोई सजातीय स्वर्ग नहीं है, अतः समीपता के कारण 'ऊपर-ऊपर' कहा गया है।³¹

सौधर्म-ईशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत—इन आठ युगलों में कल्पवासी देव रहते हैं। इनके ऊपर 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश, 5 अनुत्तर विमानों में कल्पातीत देव रहते हैं। सभी स्वर्गों में कुल 63 पटल हैं। भूतल से 99040 योजन ऊपर सुमेरुपर्वत की चूलिका से एक बाल के अन्तर से सौधर्म स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋतुविमान पहला इन्द्रक विमान है। स्वर्गों के अन्तिम 63वें पटल का इन्द्रक विमान सर्वार्थसिद्धि है। दोनों के बीच 61 पटल और हैं।

ईषत्प्राग्भार पृथ्वी और सिद्धशिला— सर्वार्थसिद्धि के ध्वजदंड से बारह योजन ऊपर 'ईषत्प्राग्भार' नामकी आठवीं पृथ्वी है। इसके ठीक मध्य में चाँदी-जैसी सफेद छत्राकार 'सिद्धशिला' है। यह मध्य में आठ योजन मोटी है; फिर क्रमशः घटती हुई दोनों छोरों पर एक-प्रदेश-मात्र रह गयी है। यह सीधे रखे कटोरे के समान या उत्तान धवल छत्र के समान है। इसी को सिद्धक्षेत्र या सिद्धालय कहते हैं। इस सिद्धालय के उपरिम भाग तनुवातवलय में अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस सिद्धालय का व्यास मनुष्यलोक के बराबर 45 लाख योजन है।³²

पाँच पैतल्ला और तीन लखुरे—(1) प्राग्भारभूमि (सिद्धशिला), (2) मनुष्यलोक, (3) प्रथम स्वर्ग का ऋतुविमान, (4) प्रथम नरक का सीमन्तक इन्द्रक बिल, तथा (5) सिद्धालय— ये पाँचों विस्तार की अपेक्षा 45-45 लाख योजन विस्तृत हैं। यही 'पाँच पैतल्ला' कहलाते हैं। (1) सर्वार्थ सिद्धि, (2) जम्बूद्वीप और सातवें नरक

का (3) अप्रतिष्ठान इन्द्रक बिल— ये तीनों एक-एक लाख योजन विस्तृत हैं। इन्हें 'तीन लखुरे' कहा जाता है।¹³³

विमानों का आधार— सौधर्मयुगल के विमानों का आधार जल है। सानत्कुमार युगल वायु पर आधारित है। ब्रह्मादि 8 स्वर्गों के विमानों का आधार जल और वायु दोनों हैं। आनत स्वर्ग से ऊपर के सभी विमान आकाश पर आधारित हैं। वस्तुतः देवविमान नरकबिलों की तरह किसी पृथ्वी पर न होकर अधर में हैं। वहाँ के पुद्गल स्कन्ध ही जलादिरूप से परिणत हुए हैं।¹³⁴

विमानों का वर्ण— प्रथम स्वर्ग-युगल के विमान कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल वर्ण के हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गों के विमान नील, रक्त, पीत, और शुक्लवर्ण हैं। ब्रह्मादि 4 स्वर्गों के विमान रक्त, पीत और शुक्ल वर्ण हैं। शुक्रादि 8 स्वर्गों के विमान पीले और सफेद हैं। इनके ऊपर के सभी विमान शुक्लवर्ण हैं। सर्वार्थसिद्धि-विमान परम शुक्लवर्ण का है।¹³⁵

देवों की उत्पत्ति और शरीर की दिव्यता— पूर्वाचल में सूर्योदय की भाँति देव सुख-रूप उपपाद शय्या पर जनमते हैं। जनमते ही एक अन्तर्मुहूर्त में छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण कर दिव्य वैक्रियिक शरीर धारण कर लेते हैं। उनका शरीर सुख-रूप सुगन्धित दिव्य स्कन्धों से बना होता है। उसमें नख, केश, रोम, चमड़ा, मल-मूत्र, रक्त-मांस आदि सप्त धातुएँ नहीं होतीं। पुण्योदय से उन्हें रोगादि भी नहीं होते। वे 16 वर्षीय कुमार की तरह सदा दिखते हैं। वे मानसिक आहार करते हैं, पर उन्हें नीहार नहीं होता। इनका शरीर निगोदिया जीवों से रहित प्रत्येक शरीर होता है, क्योंकि इनका निगोद जीवों से सम्बन्ध नहीं होता।¹³⁶

देवियों की उत्पत्ति— सभी कल्पवासी वैमानिक देवों की देवियाँ सौधर्म-ईशान स्वर्गों में ही उत्पन्न होती हैं। ऊपर के स्वर्गों के देव अपनी-अपनी नियोगिनी देवियों की उत्पत्ति की अवधिज्ञान से जानकर मूलशरीर सहित अपने विमानों में ले जाते हैं।

देवों के शरीर की ऊँचाई—प्रथम युगल के देव सात हाथ ऊँचे होते हैं। ऊपर के स्वर्गों के देवों के शरीर की ऊँचाई क्रमशः घटती जाती है। ऊपर अनुत्तर विमानों में मात्र एक हाथ ही ऊँचाई रह जाती है। भवनवासी देवों में असुरकुमार 25 धनुष और शेष देव 10 धनुष ऊँचे होते हैं। व्यन्तर देव 10 धनुष और ज्योतिषी देव सात धनुष ऊँचे होते हैं। देव विक्रिया द्वारा अपने शरीर को छोटा या बड़ा अनेक रूपों में बदल सकते हैं। अतः विक्रिया-निर्मित शरीरों की ऊँचाई अनेक प्रकार की होती है।

उच्छ्वास और आहार-ग्रहण— आयु की स्थिति प्रमाण के अनुसार देवों के उच्छ्वास और आहार-ग्रहण की अवधि भिन्न-भिन्न होती है। एक सागर की आयु वाले देव एक पक्ष के अन्तर से श्वास लेते हैं और एक हजार वर्ष के अन्तर से मानसिक आहार

करते हैं। इस तरह जितने सागरों की आयु होती है। उतने पक्षों के बाद वे श्वास लेते हैं और उतने ही हजार वर्षों के बाद वे मानसिक-आहार ग्रहण करते हैं। एक पल्य की आयु वाले देव 5 दिन के अन्तर से आहार और 5 मुहूर्त के अन्तराल से श्वास ग्रहण करते हैं। देवों के मन में आहार का विकल्प होते ही कंठ से अमृत झर जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। यही उनका मानसिक-आहार है।

देवों में कामसेवन/प्रवीचार—‘कायप्रवीचारा आ-ऐशानात्’—4/7 त. सूत्र। भवनत्रिक सहित ऐशान स्वर्ग तक के देव मनुष्यों की तरह शरीर से ही कामसेवन करते हैं। ‘शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः’ —त. सू. 4/7। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गों के देव-देवियाँ परस्पर अंगस्पर्श कर कामसेवन के सुख का अनुभव करते हैं। ब्रह्म से कापिष्ठ स्वर्गों तक के देव-देवियाँ परस्पर सुन्दर रूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। शुक से सहस्रार तक के देव-देवियाँ परस्पर शब्द-श्रवण मात्र से ही सुखानुभव करते हैं। आनत से अच्युत स्वर्गों के देव-देवियाँ मन में एक-दूसरे का विचार आते ही तृप्त हो जाते हैं।¹³⁷ ‘परेऽ प्रवीचाराः’ —त.सू. 4/9। कल्पातीत देव प्रवीचार से रहित होते हैं; क्योंकि उन्हें कामवेदना ही नहीं होती।¹³⁸ 16 स्वर्गों के ऊपर देवियाँ ही नहीं होती। वहाँ सभी देव अहमिन्द्र होते हैं।¹³⁸

वैमानिक देवों का वैशिष्ट्य—वैमानिकों में ऊपर-ऊपर के देवों में स्थिति (आयु), शाप-अनुग्रह की शक्ति (प्रभाव), सुखानुभूति, शरीर तथा वस्त्राभरणों की कान्ति (द्युति), लेश्या की निर्मलता/परिणाम-विशुद्धि, इन्द्रिय और अवधिज्ञान के विषय अधिक-अधिक होते हैं।¹³⁹ शक्ति और प्रभाव ऊपर के देवों में अधिक होते हुए भी इनके उपयोग का अवसर प्रायः इन्हें नहीं आता; क्योंकि ऊपर के देव गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की दृष्टि से हीन-हीन होते हैं अर्थात् ऊपर के देव गमनागमन कम करते हैं, उनके शरीर की ऊँचाई और मूर्च्छा-परिणाम (परिग्रह) भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है। अभिमान भी ऊपर-ऊपर घटता जाता है।¹⁴⁰ जिनेन्द्रों की महापूजा और कल्याणकों के समय सभी अहमिन्द्र अपने ही स्थान पर रहकर मस्तक पर अंजलिपुट रखकर नमन करते हैं।

देवों की अन्य विशेषताएँ—देवों का अकालमरण नहीं होता। इन का शरीर और वस्त्राभूषण दिव्य होते हैं। शरीर सदा युवा और सुगन्धित रहता है। लौकान्तिक देवों को छोड़ 16 स्वर्गों के देवों की अनेक देवियाँ होती हैं, जो अपने शरीर से पृथक् विक्रिया भी कर सकती हैं। देवों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ही होते हैं, नपुंसक नहीं। इन्हें भवप्रत्यय कुअवधि या सु-अवधिज्ञान होता है तथा इनके आठ ऋद्धियाँ भी होती हैं—ये अपने शरीर की छोटा या बड़ा (अणिमा), मेरु की तरह विशाल (महिमा) वज्र की तरह कठोर तथा भारी (गरिमा), रुई की तरह भार-हीन (लघिमा) बना सकते

हैं। ये भूतल पर स्थिर रहकर अँगुली से सूर्य-चाँद का स्पर्श कर सकते हैं (प्राप्ति)। जल की तरह पृथ्वी पर तथा पृथ्वी के समान जल पर चल सकते हैं (प्राकम्य)। इनके सिवाय सारे संसार में प्रभुत्व स्थापित करने की सामर्थ्य (ईशित्व) और जीवों को वश में करने की शक्ति (वशित्व) भी इनमें होती है। देवों में अधन्य आयु 10 हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट आयु 33 सागर होती है।

लौकान्तिक देव— जिनके लोक (संसार) का अन्त आ गया है और जो ब्रह्म-लोक के अन्त में रहते हैं, ऐसे निकट संसारी देव 'लौकान्तिक' देव हैं। मे मनुष्य पर्याय पाकर नियम से मोक्ष जाते हैं।¹⁴¹ ये 14 पूर्वों के पाठी, ज्ञानोपयोगी, संसार से उद्दिग्न, अनित्यादि भावनाओं को भाते वाले, शुक्ल-लेश्या-धारी, अति-विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं। विषय-विरक्त होने से 'देवर्षि' कहे जाते हैं। तीर्थंकरों के दीक्षा-कल्याणकों में उनके वैराग्य की प्रशंसा/अनुमोदना करने हेतु नीचे मनुष्यलोक में आते हैं। ये 5 हाथ ऊँचे होते हैं। इनकी आयु 8 सागरों की होती है।

वैमानिकों में कौन उत्पन्न होते हैं?— संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यच ही वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। मिथ्यादृष्टि 12वें स्वर्ग तक तथा अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती मनुष्य-तिर्यच 16वें अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। 16वें स्वर्ग के ऊपर जिनलिंगधारी मुनिराज ही जन्म लेते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनि भी जिनलिंग के प्रभाव से 9 वें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। 14 पूर्वधारी मुनिराज लान्तव स्वर्ग से नीचे उत्पन्न नहीं होते।¹⁴²

आधुनिक विज्ञान की खोज—आधुनिक विज्ञान ने यन्त्रों/उपकरणों और प्रयोगों के माध्यम से मध्यलोकान्तर्गत अनवस्थित भूमंडल के सीमित रूपमात्र को जाना है, अवस्थित/शाश्वत/स्थिर भूभाग को नहीं जान पाया है। सीमित भूमंडल-द्वीप-महाद्वीप, तरंगयित जलमंडल, वाष्पयुक्त गैसीय वायुमंडल, गतिमान सौर्यमंडल, अस्थिर गरम भूगर्भ तथा अन्तरिक्षान्तर्गत ब्रह्मांड की कल्पना ही आज के विज्ञान की खोज है।

अन्तरिक्ष विज्ञानियों के अनुसार— इस असीम आकाश में अनेक नीहारिकाएँ (गैलेक्सीज) हैं। एक नीहारिका में अनेकों सौर-परिवार हैं और एक सौर-परिवार में एक तारा (सूर्य) चन्द्रमा अनेक ग्रह-उपग्रह तारे तथा उल्का-समूह होते हैं। सौर्य-परिवार का केन्द्र सूर्य होता है। ब्रह्मांड (यूनिवर्स) में ऐसे करोड़ों सौर्य-परिवार हैं। इस तरह असीम आकाश में असंख्य भ्रमणशील गोलाकार पिंड हैं। हमारा सौर्य-परिवार भी किसी नीहारिका के छोर पर आकाशगंगा (Milky way) में स्थित है और अपनी ही परिधि में धीमी गति से गतिमान है।

आधुनिक विज्ञान इस सौर्य-परिवार को लेकर ही सृष्टि/लोक की विवेचना करता है। त्रिलोक की अवधारणा आधुनिक विज्ञान में न होने से ऊर्ध्व लोक (स्वर्गों) और

अधोलोक (नरको) का कथन/उल्लेख इसमें नहीं है। सौर्य-परिवार समन्वित आकाश-गंगा तथा ब्रह्मांड तक ही आज के विज्ञान का 'यूनिवर्स' विस्तृत है, जिसका परिपूर्ण परिचय इन वैज्ञानिकों को नहीं है; क्योंकि आधुनिक विज्ञान भौतिकवादी और प्रयोग पक्षी होने से प्रयोग करके ही किसी तथ्य का निर्धारण करता है। ऊर्ध्वलोक-अधोलोक (स्वर्ग-नरक) प्रयोगसिद्ध तथा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष न होने से विज्ञान इन्हें नहीं मानता। इनके भौतिक साधनों में इस असीम लोकालोक को देखने-जानने-समझने की सामर्थ्य ही नहीं है। आज के विज्ञान ने आज तक जो भी खोजा है, जाना है, वह तो सीमित बुद्धि और इन्द्रिय-जन्य व क्षायोपशमिक ज्ञान का ही प्रति-फल है। सीमित इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान से कतिपय तथ्यों का ही बोध हो पाता है, सम्पूर्ण का नहीं। आधुनिक भूगोल के सारे तथ्य सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं, जबकि जैनभूगोल के सभी तथ्य केवली-प्रत्यक्ष हैं। वैसे भी यन्त्रों से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा योगियों की दृष्टि अधिक विस्तृत और विश्वसनीय होती है। निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण करके आज के वैज्ञानिकों ने जो भूगोल-खगोल सम्बन्धी तथ्य संगृहीत किए हैं, वे अनुमान पर भी आधारित हैं। अतः विवादित भी हैं। आधुनिक भूगोल के तथ्य सीमित हैं, जबकि जैनभूगोल का क्षेत्र और विषय बहुत व्यापक, विस्तृत, हृदयाकर्षक और विस्मयकारी है। जैनभूगोल के मापक आवली, पल्य, सागर, राजू, जगच्छेणी, जगत्प्रतर आदि भी आधुनिक मापकों से भिन्न हैं, अद्भुत और आश्चर्यकारी भी हैं। हमारी भाव-भासना के विषय हैं।

जैनभूगोल की आधुनिक भूगोल से संगति क्यों नहीं?— आधुनिक भूगोल के अध्येताओं की जैनभूगोल असंगत और विस्मयकारी इसलिए लगता है, क्योंकि आधुनिक भूगोल में अनवस्थित/अशाश्वत भूगोल के तथ्य वर्णित हैं, जो सतत परिवर्तनशील रहे हैं। जैन साहित्य में अवस्थित/शाश्वत भूगोल का वर्णन है, जो केवली/सर्वज्ञ-प्राप्त है, जिसमें कल्पों का शतवृत्त समाहित है। अवस्थित/शाश्वतक्षेत्र—जहाँ षट्काल-परिवर्तन नहीं होता, सदा एक-सी वर्तना होती है, वे अवस्थित क्षेत्र हैं। ऊर्ध्वलोक-अधोलोक अवस्थित क्षेत्र हैं। मध्यलोक में भी भोगभूमि, कुभोगभूमि एवं कर्मभूमि के म्लेच्छ खंडों में भी षट्काल-परिवर्तन नहीं होता। अतः ये भी अवस्थित/शाश्वत भूमियाँ हैं। इन सब का विवेचन जैनभूगोल में पाया जाता है, जो आधुनिक भूगोल में नहीं है।

अनवस्थित/अशाश्वत क्षेत्र— भरत और ऐरावत के 5-5 आर्यखंडों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह काल-परिवर्तन होते हैं। तदनुसार हानि-वृद्धि और परिवर्तन होते रहते हैं। अतः ये क्षेत्र अनवस्थित हैं। अवसर्पिणी के अन्त में संवर्तक वायु और 49 दिवसीय कुवृष्टियों से इन आर्यखंडों में प्रलय के फलस्वरूप पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर-चूर हो जाती है तथा उत्सर्पिणी के प्रारम्भ में 49 दिवसीय सुवृष्टियों से इन आर्यखंडों का काया-कल्प हो जाता है। इन आर्यखंडों का धरातल योजन-भर

ऊपर उठ जाता है और गोलाकार दिखने लगता है। अनेक छोटे-छोटे पर्वत और उपसमुद्र भी प्रकट हो जाते हैं। इन आर्यखंडों में आन्तरिक और बाह्य शक्तियों द्वारा धरातलीय स्वरूप निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। जिससे यहाँ का धरातल सदा-काल एक-रूप नहीं रहता। आज के भू-वेत्ताओं ने भी इसे माना है, स्वीकारा है। उनके अनुसार यह दृश्यमान भूमंडल अरबों वर्ष पूर्व एक पेंजिया के रूप में था, जिसमें सभी महाद्वीप जुड़े हुए थे। कालान्तर में आन्तरिक शक्तियों के फलस्वरूप ये अलग-अलग हुए हैं और इनके बीच में महासागर तथा अनेक उपसागर और झीलें बनी हैं। अनेक भूभाग समुद्र में डूब गये, अनेक ऊपर उभर आये हैं। इसी अनवस्थित भूगोल का विवेचन आधुनिक भूगोल करता है। इसी से दोनों में असंगति प्रतीत होती है।

निष्कर्ष—करणानुयोग में प्रतिपादित स्वर्ग-नरक, भूगोल-खगोल विषयक सभी विवरण इन्द्रियज्ञानगम्य न होने से आस्था-विश्वास और श्रद्धा के विषय हैं; क्योंकि स्वर्ग-नरक हमारे प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष हैं। हमारे इन्द्रियज्ञान से नहीं जाने जा सकते। द्वीप-समुद्र आदि पदार्थ/स्थान दूरवर्ती एवं अत्यन्त प्राचीन हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि खगोलीय पिंड भी दूरार्थ हैं, सभी केवलोगम्य हैं। जैनभूगोल धर्मध्यान का विषय है। ध्यानस्थ श्रमण संस्थानविचय धर्मध्यान में इनके स्वरूप विस्तार आदि के विषय में चिन्तन किया करते हैं। जैनाचार्यों ने जैनसाहित्य में जैनभूगोल का इसी से विस्तृत विवेचन किया है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन प्रमुख रूप से निम्नांकित ग्रन्थों पर आधारित हैं—

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. तिलोय-पण्णत्ती—(आ. श्री यत्तिवृषभ), द्वितीय संस्करण, वि. सं. 2050
प्रकाशक—श्री भारतवर्षीय दि. जैन महासभा, लखनऊ
2. त्रिलोकसार—(आ. श्री नेमिचन्द्र सि. च.), प्रथम संस्करण, वी. नि 2501
प्रकाशक—श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी
3. मूलाचार—(आ. श्री वट्टकेर) पाँचवाँ संस्करण, सन् 2004, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 110003
4. जंबूदीव पण्णत्ति-संगहो—(श्री पद्मनन्दि) द्वितीय आवृत्ति, सन् 2004 प्रकाशक—
श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर—7
5. लोकविभाग—(श्री सिंह सूरर्षि), द्वितीय आवृत्ति, सन् 2001, प्रकाशक—श्री
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
6. हरिवंश पुराण—(श्रीमज्जिनसेनाचार्य), छठा संस्करण, सन्—2000, प्रकाशक—
भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली—110003

7. आदिपुराण—(प्रथम भाग) (आ. श्री जिनसेन) , छठा संस्करण, 1998, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली—110003
8. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—(श्री स्वामिकुमार) द्वितीय आवृत्ति, बी. नि. 2504, प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, राजचन्द्र आश्रम, अगास
9. सर्वार्थसिद्धि—(आ. श्री पूज्यपाद), 15वाँ संस्करण, सन् 2009, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली—110003
10. तत्त्वार्थराजवार्तिक—(आ. श्री अकलंक देव), आठवाँ संस्करण, सन् 2008, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली—110003
11. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 3—(क्षु. श्री जिनेन्द्रवर्णी), 5वाँ संस्करण—1997, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली—110003
12. जैन तत्त्वविद्या—(मुनिश्री प्रमाणसागर जी), 10वाँ संस्करण—2008, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली—110003
13. त्रिलोकभास्कर—(आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी), द्वि. संस्करण—1999, प्रकाशक—श्री दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर
14. चरचाशतक—(कविवर श्री दानतराय), द्वितीय आवृत्ति, अप्रैल—1997, प्रकाशक श्रीमती गीतादेवी वीरचंद मित्तल, 48 जूनापीठा, इन्दौर
15. तत्त्वार्थसूत्र निकष-सर्वोदय विद्वत्संगोष्ठी, सतना-सित. 2004, प्रकाशक-सकल दि. जैन समाज, सतना (म.प्र.)
16. तीर्थरक—मासिक जैनभूगोल विशेषांक, अगस्त—1992, सम्पादक-डॉ. नेमिचन्द्र जैन, इन्दौर

सन्दर्भ-संकेत

1. लोकालोकविभक्ते र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ।।44 ।। —रत्नकरण्डश्रा.
2. 'लोको जनेऽपि भुवने स्यादवाप्तु विलोकने' —विश्वलोचन कोश ।
3. 'धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते, सः लोकः' —सर्वार्थसिद्धिः
—दीर्घसंति जल्य अथा जीवादीया स धव्यदे लोओ ।।121 ।। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा
—धम्माधम्मागासा गदिरागादि जीव पोण्णलाणं च ।
जावत्तावल्लोगे आयासमदो परमणंतं ।।5 ।। —त्रिलोकसार
—लोक्यन्तेऽस्मिन्निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्थाः सपर्ययाः ।
इति लोकस्य लोकत्वं निराहुस्तत्त्वदर्शिनः ।।4/13 ।। —आदिपुराण
क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् जीवादि द्रव्यविस्तारः ।
इति क्षेत्रं निराहुस्तं लोकमन्वर्थसंज्ञया ।।4/14 ।। —आदिपुराण
4. सव्वागासमणंतं तस्स य बहुभागमिह भज्झ-दिस — भगामिह ।

- लोगो संखपदेसो जगसेदि-घणप्पमाणो हु । 13 ॥
 लोगो अकिदिमो खलु अणाशणिहिणो सहावणिव्वत्तो ।
 जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो । 14 ॥ — त्रिलोकसार
 — तिलोयपण्णती — पठमो महाधिकार, गाथा — 91-92
 — सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमञ्ज-संतिओ लोओ ।
 सो केण वि णेव कओ णय धरिओ हरि-हरादीहिं । 1115 ॥ — कार्तिकेय.
 — हरिवंश पुराण — 4/1-5 — आदिपुराण — 4/39-42
 — अचल अनादि अनन्त अकृत अनमिट अखंड सब ।
 अमल अजीव अरूप पंच नहिं इक अलोक नभ ।।
 निराकार अविकार अनन्त प्रदेस विराजै ।
 सुद्ध सुगुन अवगाह दसौं दिस अन्त न पाजै ।।
 या मध्य लोक नभ तीन विध अकृत अमिट अनईसरौ ।
 अविचल अनादि अनन्त सब भाख्यौ श्री आदीश्वरौ । 16 ॥ — चरचाशतक
 — किन हू न करौ न धरै को, षट द्रव्यमयी न हरै को ।
 सो लोकमाहिं बिन समता, दुःख सहे जीव नित भ्रमता ।। — छहढाला, दौलतराम
 — लोक अलोक आकाश माहिं धिर निराधार जानो ।
 पुरुष रूप कर कटी धरे षट द्रव्यन सों मानो ।। — मंगतरायकृत
 इसका कोई न करता हरता अमिट अनादि है । — (लोकभावना)
 5. हेदिठम लोयाआरो वेत्तासण-सण्णिहो सहावेण ।
 मज्झिम लोयाआरो उब्बिय-मुर-अद्ध-सारिच्छो । 1137 ॥
 उवरिम लोयाआरो उब्बिय-मुखेण होई सरिसत्तो ।
 संठाणो एदाणं लायाणं एण्हिं, साहेमि । 1138 — ति.प./पढम अधि. ।
 — उब्बिय दलेक्कमुरबद्धय संचय-सण्णिहो हवे लोगो ।
 अद्धदयो मुरबसभो चोदस-रज्जुदओ सव्वो । 16 ॥ — त्रिलोकसार
 — ति. प. 1/149-143, — कार्तिकेयानुप्रेक्षा 118-120 — हरिवंश पु. 4/6-11
 — चौदह राजू उतंग नभ लोक पुरुष संठाण ।
 तामें जीव अनादिहैं भरमत हैं बिन ज्ञान ।। — लोकभावना (12 भावना)
 — पूरब-पच्छिम सातनर्क तलैं राजू सात
 आगैं घटा मध्यलोक राजू एक रहा है ।
 ऊँचै बढि गया ब्रह्मलोक राज पाँच भया
 आगैं घटा अन्त एक राजू से दहा है ।।
 दच्छिन-उत्तर आदि मध्ये अन्त राजू सात
 ऊँचा चौदह राजू षट-द्रव्य भरा लहा है ।
 असंख्यात परदेस मूरतीक कियौ भेस
 करै धरै हरै कौन स्वयंसिद्ध कहा है । 17 ॥
 — अधोलोकवैत्रासन मध्यलोक थाली भन
 ऊरध मृदंग गनि ऐसो ही विसेखिए ।
 कर कटि धारि पाऊं कौं पसारि नराकार

- डेढ़ मुरज आकार अविनासी पेखिए॥
 घर माहि छीकौ जैसै, लोक है अलोक बीचि
 छीके कौ आधार, यह निराधार लेखिए॥ —चरचाशतक-8
6. —राजू, असंख्यात योजनों वाली क्षेत्र मापने की सबसे बड़ी इकाई है।
 7. एदेण पयारेण णिप्पणत्ति-लोय-खेत-दीहत्तं।
 वास उदयं भणामो णिस्संदं दिट्ठि-वादादो॥1/148॥ —तिलोय पण्णत्ती।
 8. —लोय बहुमज्झ देसे रुक्खे सारव्व रज्जुपदर जुदा।
 चोदस-रज्जुत्तंगा तसणाली होदि गुणणामा॥143॥ —त्रिलोकसार
 —एइदिएहिं भरिदो पंच-पयारेहिं सव्वदो लोओ।
 तस-णाडोए वि तसा, ण बहिरा होति सव्वत्थ॥122॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा।
 —ऊखल में छेक वंसनाल लोक त्रसनाली, ऊँचै चौदे चौरी एक राजू त्रस भरी है।
 यामैं त्रस बाहिर थावर आउ बाँधो कहूँ, मरन सौँ अगाऊ गयौ, त्रसचाल करी है॥
 बाहिर थावर कोउत्रास आड बाँधो होउ, मरनसमै कारमान त्रसरीति धरो है।
 केवल समुद्रघात त्रसरूप तहाजात, तीनौ भांति उहां त्रस, जिनवानी खिरी है॥
 —चरचाशतक-10
9. लोय-बहुमज्झ देसे, तरुम्मि सारं व रज्जुपरजुदा।
 तेस रज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसणाली॥2/6॥ —ति. प.
 10. सयलो एसय लोओ णिप्पण्णो सेठि-विंद-माणेण।
 तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिम-मज्झल्ल-उड्ड-भेएण॥1/136॥ —ति. प.
 —मेरुस्स हिट्ठ-भाए सत्त वि रज्जु हव्वेइ अह-लोओ।
 उड्डम्मि उड्डल्लोओ, मेरुसमो मज्झमो लोओ॥120. कार्तिकेयानु-
 —आदिपुराण-चतुर्थपर्व—39-40
11. गोमुत्त-मुग्ग-वण्णा घणोदधी तह घाणाणिलो वाऊ।
 तणुवादो बहु-वण्णो रुक्खस्स तयं व बलय-तियं॥1/271॥ —ति. प.
 पढमो लोयाधरो घणोवही इह घाणाणिलो ततो।
 तप्परदो तणुवादो, अंतम्मि णहं णिआधारं॥1/272॥ —ति. प.
 —गोमुत्त-मुग्ग-णाणा-वण्णाण घणंबु-घण-तणूण हवे।
 वादारुणं बलयतयं रुक्खस्स तयं व लोगस्स॥123॥ —त्रिलोकसार
 —हरिवंशपुराण—4/33-34, आदिपुराण—4/43-44
 —तीनों लोक तीनों वातवलै बेदे सब ओर, वृच्छलाल, अंडजाल तन-वाम देखिए॥8॥ —
 चरचाशतक
12. ति. पण्णत्ती—1/274-276—त्रिलोकसार—124-126—हरिवंश पुराण—4/34-41
 घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः॥3/1॥ तत्त्वार्थसूत्र
 —चरचाशतक—‘तलै वातवलै मौटे...एक भाग मैं निहारने॥15॥
13. रत्न-शर्करा-बालुका-पंक-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो...॥3/1॥ त. सूत्र
 —त्रिलोकसार—144-145—हरिवंश पुराण—4/43-46
14. त्रि. सार—146, 149—ति. पण्णत्ती—2/9, 22—हरिवंश पु. 4/47-48, 57-58
15. त. सूत्र—3/2, त्रि. सार—151—ति. प.—1/27—हरिवंशपुराण—4/73-74

16. ति. पण्णत्ती—2/11-15, 20
17. ति. प. 2/9—त्रिलोकसार—146-148
18. त्रि.सार—179-182
19. त्रि. सार—153
20. ति. प. 2/36-39, 71-72, 94
21. त्रिलोकसार—184-194, 197—ति. प.—2/29-35, 309—हरिवंशपुराण—4/355-368—
तत्त्वार्थसूत्र—3/3, 4, 5 सूत्र
22. "नारका नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः"।13/3।। तत्त्वार्थसूत्र
23. त्रि. सार—198-200—ति. प. 2/203-216—त. सूत्र—4/34, 35, 36 सूत्र —हरिवंश
पुराण—4/249-294—कार्तिकेयानुप्रेक्षा—गाथा-165
24. ति.प. 2/217—त्रि.सा.—201—हरि. पुराण—4/295-339—कार्तिके.—168
25. ति.प. 2/272—त्रि.सार—202—हरिवंशपुराण—4/340
26. 'बह्वर्म्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः' 6/14 त.सू./ति.प. 2/294-302/हरिवंश पु.—4/372
27. ति.प.—2/285-287—हरिवंश पु. 4/375-377—त्रि.सार—205
28. ति.प. 2/290-293—त्रि.सार—203-204 हरिवंश पु. 4/378-382
29. रयणादि नारायणं णियसंखादो असंखभागमिदा।
पडिसमयं जायंते तत्तियमेत्ता य मरंति पुढं।12/289।। ति. पण्णत्ती
30. ति. प. 2/288—त्रि. सार—206—हरिवंश पु. 4/371
31. ति.प. 2/362-364
32. लौ. वि. 1/3—हरिवंश पु. 5/9
33. तत्रैवास्मिन्-नसंखेय-सागर-द्वीप-वेष्टितः।
जम्बूद्वीपः स्थितो वृत्तो जम्बूपादपलक्षितः।15/2।। हरि.पु. तत्त्वार्थसूत्र 3/7, 8 सूत्र
34. तसणाली बहुमज्जे चित्ताअ खिदीअ उवरिमे भागे।
अइवहो मणुवजगो जोयण-पणदाल-लक्ख-विक्खंभो।14/6।। ति. प.
35. तन्मध्ये मेरुनाधिर्वृत्तो योजन-शत-सहस्र-विष्कंभो जम्बूद्वीपः।त. सूत्र 3/9
माणुस-जग-बहुमज्जे विक्खादो होदि जंबुदीओ ति।
एकज्जोयण-लक्खं विक्खंभजुदो सरिस-बट्ठो।14/11।।—ति.प.
—हरिवंशपु.—5/3-लोकविभाग—1/7
36. त. सूत्र—3/10—ति. प. 4/92-93—त्रिलोकसार—564—हरिवंश पु. 5/13-14
37. हिमवं महादिहिमवं णिसहो णीलो य रुम्मि सिहरी य।
मूलोवरि समवासा मणियासा जलणिहिं पुट्ठा।15/5।। त्रि.सार
—ति. प. 4/96, 102—त. सूत्र—3/11—हरिवंश पु. 5/15-16
38. त्रि.सार—566, ति.प. 4/97—त. सूत्र—3/12, 13 सूत्र
39. त्रि.सार—567—त. सूत्र—3/14, 16 सूत्र—हरिवंश पु. 5/120-121
40. त. सूत्र—3/17, 18, 19—त्रि. सार—572—हरिवंश पु. 5/129-130
41. त्रि. सार—578-579—त. सूत्र 3/20, 21, 22—हरिवंश पु. 5/133-135
42. ति. प. 4/103—त्रि.सार—604 हरिवंश पु. 5/17-18 त. सूत्र—3/24, 32
43. ति. प. 4/109-110 हरिवंश पु. 5/20-21

44. ति. षण्णत्ती—4/269-271
45. त्रि.सार—582-597 ति.प. 4/213, 247, 255-267—हरिवंश पु. 8/136-151
46. ति. प. 4/271-274
47. हरिवंश पु. 5/51-55
48. त्रि. सार—882
49. हरिवंश पु. 5/70-73
50. त्रि. सा. 882
51. हरिवंश पु. 5/87-90
52. त्रि.सा. 606-हरिवंश पु. 5/283-285
53. त्रि.सा.—607—हरिवंश पु. 5/288, 290, 295
54. त्रि. सार—608
55. त्रि. सार.—611
56. त्रि.सा. 637—हरिवंश पु. 5/302
57. त्रि.सार—633-634—हरिवंश पु. 5/347—350, 353
58. हरिवंश पु. 5/167
59. त्रि. सार—663-664—हरिवंश पु. 5/211-213
60. त्रि.सा. 882
61. ति.प. 4/2100-2101, 2148-49—त्रि.सार—654-655
62. ति. प. 4/2114-2116—त्रि.सार—656—हरिवंश पु. 5/194-197
63. ति. प. 4/2119-2124—त्रि. सार—659—हरिवंश पु. 5/200-201
64. ति.प. 4/2128-2130 त्रि. सार—661
65. ति.प. 4/2219-2221—त्रि. सार—639—650—हरिवंश पु. 5/172, 177, 186—लो. वि. 1/126, 130-132, 141
66. ति. प. 4/2171—72, 2178-83, 2207—त्रि. सार—651, हरिवंश पु. 187-189—लोक विभाग—1/142—144
67. त्रि. सार—665-669—हरिवंश पु. 5/244-252—लोक विभाग 1/192-197
68. —लोकवि. 1/206-208
69. त्रि.सार—679-680
70. हरिवंश पु. 5/99-101
71. त्रि.सार—882
72. हरिवंश पु. 5/102—104
73. हरिवंश पु. 5/105-108
74. त्रि. सार—882
75. ति. प. 4/2428-2431—लोकवि. 2/2-3—हरिवंश पु.—5/430, 434
76. त्रि. सार—896-897—लो.वि. 2/10-12, 16-17 —ति. प.—4/2438-2439—हरिवंश पु. 5/442-444, 451, 455-456, 458
77. ति. प. 4/2456-2459—लोकवि.—2/13,16-17, त्रि. सार—898, हरिवंश पु. 5/448, 452
78. त्रि.सार—899-900—ति.प. 4/2460-265,—हरिवंश पु. 5/448-449
79. ति. प. —4/2518-2529—त्रि.सार—913-914—लो.वि. 2/33-40

80. त्रि.सार—909-912—ति.प. 4/2498-2515—लो.वि. 2/31-32—हरिवंश पु. 5/469-470
81. त्रि.सार टीका गाथा—901
82. त्रि.सार—925-927—लोक वि. 3/1-5, 20-21
82. ति. प. 4/2567-2618—हरिवंश पु. 5/489-513—‘द्विधातकी खंडे’ 3/33 त. सूत्र
83. ति.प. 4/2762-2780 लोकवि. 3/41-43 हरिवंश पु. 5/562, 567-575
84. ति.प. 4/2788—लो. वि. 3/54-55—हरिवंश पु. 5/562-575 तत्त्वार्थसूत्र 3/34
85. त्रि. सार 937-942—लोक वि. 3/66-67 हरिवंश पु. 5/591-595
—ति. पण्णत्ती—4/2792-96, 2809-2814, 2920-2926
86. “तत्रार्थतृतीयोपसमुदौमनुष्यक्षेत्रम् ॥110॥ शास्त्रसारसमुच्चय
- 87-88. लोकवि.-4/1-2
89. त्रि. सार 965—हरिवंश पु. 5/646—लोकवि.-4/31
90. त्रि. सार-319
91. हरिवंशपु. 5/628-629—लोकवि. 4/13-14
92. त्रि. सार-320—हरिवंश पु. 5/632—लो.वि. 4/15
93. त्रि. सार-323—हरिवंश पु. 5/7, 30-732
94. त्रि. सार-324—हरिवंश पु. 5/730-733
- 95-97. त्रि. सार-325-331
98. लो. वि. 1/17-20, 30, 41-45
99. त्रि. सा. 943-946 लो. वि. 4/60-65 हरिवंश पु. 5/686-697
100. त्रि. सा. 947-960—हरिवंश पु. 5/628-629 लोक वि. 4/68-87
101. त्रि. सा. 966-977, 984-985—हरिवंश पु. 5/647-682 लो. वि. 4/32-54
102. हरिवंश पु. 5/683-685
103. त्रि. सा.-779-781—हरिवंश पु. 5/56-63 त. सूत्र 3/27-28 सर्वार्थ सि. वृत्ति. 418-420
104. त्रि. सार-882
105. त. सू. 3/31 सर्वार्थ सि. वृत्ति 426
106. त्रि. सा. 883
107. त्रि. सा.-786-791—ति.प. 4/324-427—लोक वि. 5/5-34 हरिवंश पु. 7/64-110—
‘त्रिंशत् भोगभूमयः’ ॥112॥ शास्त्रसार समुच्चयः
108. त. सू. 3/37, सवार्थ सि. वृ.-437, त्रि. सा. 882-883, लो. वि. 5/138-144, शा.सा. समु/11
109. त्रि. सा.-913-924, लोक वि. 3/52-53 जंबूदीव प. 10/47-86
110. जंबूदीव प. 11/186-192 हरिवंश पु. 7/115
111. त्रि. सार-324, 884
112. ति.प. 1/138 जंबूदीव प. 11/106, लोक.वि. 1/6
113. सर्वार्थ सि.-443, शा.सा.स./29, त. सूत्र/4/1
114. दशाष्ट-पंच-द्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥4/3॥ त. सूत्र
115. सर्वार्थ सि. वृ. 449, त. रा. वा. 4/4, 1-10
116. भवनेषु बसनशीलाः भवनवासिनः त.रा.वा./4/10/1/2/6
117. त.सू. 4/10

118. कुमारविशेषक्रियादियोगात् कुमाराः —त.रा.वा. 4/10/7/16, सवार्थ सि. वृत्ति-461
119. व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गंधर्व-यक्ष-राक्षस-भूतपिशाचाः 4/11 त. सू., शा.सा.स. 31
120. त्रि.सा. 252-254 लोकवि. 9/47-54
121. सवार्थ सि. वृ. 463
122. त. सू. 4/12 शा. सा. स.-32
- 123-124. त्रि. सा. 332-334-सवार्थ सि. वृ. 465
125. त्रि. सार-336
126. सर्वार्थ सि. वृ. 467
127. सर्वार्थ सि. वृ. 469,-त्रि.सा. 387-388
128. त्रि. सा. 450
129. ति. प. 3/252-253
130. त. रा. वा. 4/16/1
131. त. रा. वा. 4/18/1
132. त्रि. सा. 557-558-हरिवंश पु. 6/126-129
133. हरिवंश पु. 6/89-90
134. जैनतत्त्वविद्या-पृ. 110
135. त. रा. वा. 4/19/8
136. ति. प. 3/211-212
130. त्रि. सा. 550-553-‘देवो आहारो अस्थि णत्थि नीहारो/निक्कुचिया होति-’ बोधपाहुडटीका—
‘देव...पत्तेयसरीरो वुच्चति, एदेसिं णिगोदजीवेहिं सह संबंभाभावो’ धवला/14/5-6-91/
21/8
137. त. सू. 4/8-त. रा. वा. 4/8/5
138. त. सू. 4/9-त. रा. वा. 4/9/1-2, मूलाचार/1139-1144
139. त. सू. 4/36
140. 4/41 त. सूत्र
141. त. सू. 4/24-त. रा. वा. -4/24/1-2
142. त्रि. सार-545-547, मूलाचार-1171-1178 त. सूत्र-6/19, 20, 21

जैनों का भाषा-चिन्तन

वृषभ प्रसाद जैन

जैन परम्परा में भाषा की दार्शनिक दृष्टि भी अपनी एक अलग पहचान रखती है और प्रयोग की विश्लेषण दृष्टि भी। सभी वैदिक दर्शन भाषा के दार्शनिक दृष्टि पर तो भिन्न-भिन्न विचार ही रखते हैं, पर सब की भाषा के प्रयोग को विश्लेषण करने की दृष्टि लगभग एक है। जैनों की भाषा-दृष्टि का चमत्कार यह है कि उनकी भाषा-दृष्टि जहाँ भाषा के दार्शनिक पक्ष को भिन्न प्रकार से देखती है, वहीं भाषा के प्रयोग पक्ष को भी। भाषा के प्रयोग-पक्ष को लेकर चर्चा प्राकृत-संस्कृत आदि के व्याकरण-ग्रंथों में तथा दार्शनिक पक्ष की चर्चा जैन परम्परा के दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलती है।

सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में भाषा के बारे में दो तरह से विचार मिलते हैं— 1. भाषा के जो शास्त्र हैं, वे भाषा के बारे में किस रूप में विचार करते हैं? 2. हमारी ही परम्परा में भाषेतर विषयों के जो शास्त्र हैं, वे भाषा के बारे में किस रूप में विचार करते हैं? यद्यपि पहले बिन्दु पर हमने जैन व्याकरण वाले आलेख में कुछ संक्षिप्त चर्चा हम कर चुके हैं, फिर भी इन दोनों बिन्दुओं पर इस आलेख में विचार करने को कोशिश है, क्योंकि हमारी परम्परा में दोनों तरह से भाषा पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार हुआ है। बल्कि मुझे तो लगता है कि सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन भाषा-मूलक रहा है, इसीलिए तो हमारी परम्परा में उक्ति मिलती है कि "सर्वं खलु भाषया प्रतिभासते"। भाव यह है कि संसार में जो कुछ दिखता है, वह भाषा से ही दिखता है। भाषा से ही संसार की पहचान है व होती है। भाषा न हो, तो संसार की पहचान न हो; इसीलिए तो यह कहने में कोई अतिरंजना न होगी कि भाषा न हो, तो संसार न हो, क्योंकि भाषा ही संसार की वस्तुओं को पहचान देती है। इसीलिए तो वैयाकरणों के भगवान् भर्तृहरि ने संसार की प्रक्रिया का प्रारम्भ शब्द-तत्त्व से माना है और वे वाक्यपदीय में कहते हैं कि

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

भाव यह है कि आदि और अन्तरहित जो अक्षर (अविनाशी) शब्द—तत्त्व है, असल

में वही ब्रह्म है, वही अर्थ रूप से भासित होता है और उसी से जगत् की प्रक्रिया (सृष्टि) चलती है।

शब्द/भाषा के दार्शनिक पक्ष पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि हम जैन दार्शनिकों द्वारा दी गई शब्द की परिभाषाओं पर कुछ विचार करें। इस दृष्टि से हम सबसे पहले सर्वार्थसिद्धि की शब्द की परिभाषा को लेते हैं— “शब्दत इति शब्दः, शब्दनं शब्दः” अर्थात् जो शब्द रूप होता है, वह शब्द है, शब्दन शब्द है। सर्वार्थसिद्धि की इस शब्द की परिभाषा से दो बातें खासकर सामने आती हैं— पहली यह कि शब्द रूपी है अर्थात् रूपवाला होता है और दूसरी यह कि शब्द में ध्वनि रूप क्रिया अवश्य होती है।

इसके बाद हम जैन दार्शनिकों में राजवार्तिककार द्वारा की गई शब्द की परिभाषा को लेते हैं— “शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययति, शप्यते येन शपनमात्रं वा शब्दः” अर्थात् जो अर्थ का आह्वान करता है, अर्थ को कहता है, या जिसके द्वारा अर्थ को कहा जाता है अथवा शपन मात्र शब्द है। राजवार्तिक की शब्द की यह परिभाषा अर्थपरक है, अर्थात् शब्द के उद्देश्य सम्प्रेषण को मूल में रखकर की गयी है। इस परिभाषा से तीन बातें उभरकर आती हैं— शब्द का उद्देश्य अर्थ को / अभिप्राय को सम्प्रेषित करना है, दूसरी कि सम्प्रेषण रूप क्रिया में शब्द कर्म-साधन के रूप में है, तीसरी कि शब्द अपनी पर्याय में क्रियाधर्म वाला है।

जैनदर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में शब्द के पर्याय के रूप में ‘नाम’ परिभाषिक का प्रयोग और मिलता है। जिसके द्वारा अर्थ को जाना जाए अथवा अर्थ को अभिमुख करें, वह नाम कहलाता है। ध्वला में इस नाम को ही परिभाषित करते हुए लिखा गया है— जिस नाम की वाचक रूप से प्रवृत्ति में जो अर्थ अवलम्बन होता है, वह नाम-निबन्धन है, क्योंकि उसके बिना नाम की प्रवृत्ति सम्भव नहीं।

जैनदर्शन कहता है कि शब्द पुद्गल की पर्याय है, इसीलिए जैनदर्शन में शब्द को पुद्गल-जन्य और द्रव्य रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रो. दास गुप्त के अनुसार जैनदर्शन में पुद्गल एक भौतिक पदार्थ है और यह परिमाण-विशेष से युक्त माना गया है और इस पुद्गल की उत्पत्ति परमाणुओं से होती है। ये परमाणु जैनदर्शन में परिमाण-रहित एवं नित्य माने गये हैं। नवीं शती के जैनाचार्य प्रभाचन्द्र ने शब्द को पुद्गल का कार्य मानते हुए उन्हें पुद्गलों में उसी प्रकार आश्रित माना, जैसे कोई भी कार्यद्रव्य अपने कारण द्रव्य में आश्रित रहता है।

गुण की दृष्टि से जैनदर्शन शब्द को सामान्य-विशेषात्मक मानता है। सभी शब्दों में अनुगत रहने वाला उसका रूप शब्दत्व सामान्यात्मक है। शंख शब्द, घंटा शब्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि उसके विशेषात्मक रूप हैं। शब्द की यह सामान्य-विशेषात्मकता जैनदर्शन के अनुसार उसकी पौद्गलिकता का प्रमाण है। पौद्गलिक होने

का अर्थ है शब्द द्रव्य है, परमाणु-जन्य है।

पंचास्तिकाय में उल्लेख है कि शब्द स्कन्ध-जन्य है। स्कन्ध परमाणु-दल का संघात होता है और इन स्कन्धों के आपस में टकराने से/स्पर्शित होने से शब्द उत्पन्न होता है, इसप्रकार यह शब्द नियत रूप से उत्पन्न होने वाला, उत्पाद्य है अर्थात् पुद्गल की पर्याय है। शब्द की यह उत्पत्ति पुद्गल-स्कन्धों के आपस में टकराने से/स्पर्शित होने/संघात और भेद से होती है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने शब्दों की पुद्गल का कार्य मानते हुए उन्हें पुद्गलों में उसीप्रकार माना है, जैसे कि कोई भी कार्य-द्रव्य कारण-द्रव्य में आश्रित रहता है।

जैनदर्शन में पुद्गलास्तिकाय आदि के मूलभूत परमाणु नित्य माने गए हैं। वैशेषिक में पृथिवी, जल, तेज, और वायु के परमाणुओं में जातिभेद माना गया है, परन्तु जाति की दृष्टि से सभी परमाणु एक-जैसे हैं। सभी में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श धर्म पाए जाते हैं। उन एक-विध परमाणुओं से उत्पन्न पदार्थों में भेद का कारण घन-पुतर होना है। शब्द भी इन्हीं एक-विध परमाणुओं के संयोग-विशेष का फल है।

शब्द के द्रव्यत्व की चर्चा करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड में कहते हैं कि तीव्र-शब्द के सुनने से कान का पर्दा विदीर्ण होता हुआ देखा जाता है, इससे शब्द की स्पर्श-गुण-धर्मता सिद्ध होती है। विदारण का कारण अभिघात है और किसी स्पर्शवान् द्रव्य से ही सम्भव है, अस्पर्शी से नहीं। इसीप्रकार शब्द में अल्पत्व, दीर्घत्व एवं महत्त्व परिमाण देखने में आता है। यथा-‘अल्पो शब्दः’ ‘महान् शब्दः’ ‘एक शब्दः’ ‘द्वौ शब्दः’ आदि प्रयोगों में शब्द में संख्या गुण उपलब्ध होता है।

प्रतिकूल दिशा से आने वाली वायु द्वारा शब्द का अभिघात देखा जाता है, इससे शब्द में संयोग गुण की उपलब्धि प्रमाणित होती है, अतः इन गुणों का आश्रय होने से शब्द द्रव्य-रूप है।

गुणाश्रय होने के अतिरिक्त क्रियाश्रित होने से भी शब्द द्रव्यात्मक है। वैशेषिक शब्द को गुण मानने के कारण उसमें क्रिया को स्वीकार नहीं करते। अतः दूरस्थ शब्द के ग्रहणार्थ उन्हें वीचि-तरंग न्याय से अथवा कदम्ब-मुकुल न्याय से शब्द से शब्दतर की उत्पत्ति माननी पड़ती है। जबकि वास्तविकता इससे कहीं भिन्न है।

शब्द की यह उत्पत्ति पुद्गल स्कन्धों के संघात और भेद से होती है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने शब्दों की पुद्गल का कार्य मानते हुए उन्हें पुद्गलों में उसी प्रकार आश्रित माना है, जैसे कि कोई भी कार्य-द्रव्य कारण-द्रव्य में आश्रित रहता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार पुद्गल द्रव्य का सामान्य लक्षण है- रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त होना। पुद्गल के दो भेद हैं—

1. परमाणु
2. स्कन्ध

पंचास्तिकाय में परमाणुओं के सम्बन्ध में कहा गया है— सब स्कन्धों का जो अन्तिम खण्ड है अर्थात् जिसका दूसरा खण्ड नहीं हो सकता, उसे परमाणु जानो। वह परमाणु नित्य है, शब्द-रूप नहीं है, एक प्रदेशी है, अविभागी है और मूर्तिक है— “आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के भी जो प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि खण्ड किए हैं, उससे भी जैनदर्शन की पान्यता पर कोई आघात नहीं होता, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार वह परमाणु है, जो अखण्ड्य हो अर्थात् यदि न्यूट्रोन से भी कोई छोटा खण्ड हो जाए, तो हम न्यूट्रोन की अखण्ड्य नहीं कह पाएँगे, हाँ, यह कहा जा सकता है कि वर्तमान ज्ञान के अनुसार प्रोटोन अखण्ड्य है, पर वस्तुतः वह है तो नहीं”। जिसमें एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श गुण होते हैं, जो शब्द की उत्पत्ति में कारण तो हैं, परन्तु स्वयं शब्द-रूप नहीं है, स्कन्ध से पृथक् है, उसे परमाणु जानो। यद्यपि नित्य है, तथापि स्कन्धों के टूटने से इसकी उत्पत्ति होती है अर्थात् अनेक परमाणुओं का समूह-रूप स्कन्ध जब विघटित होता है, तब विघटित होते-होते उसका अन्त परमाणु रूपों में होता है, इस दृष्टि से परमाणुओं की भी उत्पत्ति मानी गयी है, परन्तु द्रव्य-रूप से तो परमाणु नित्य ही है। यह स्कन्धों का कारण भी है और स्कन्धों के भेद से उत्पन्न होने के कारण कार्य भी। अनेक परमाणुओं के बन्ध से जो धूप में जो कण उड़ते हुए दिखाई देते हैं, वे भी स्कन्ध ही हैं। पुद्गल की परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय है और स्कन्ध-अवस्था विभाव पर्याय। प्रो. एस. एन. दास गुप्त के अनुसार जैनदर्शन में पुद्गल एक भौतिक पदार्थ है और उसे परिमाण-विशेष से युक्त माना गया है। इस पुद्गल की उत्पत्ति परमाणुओं से बताई गयी है। ये परमाणु जैनदर्शन में परिमाण-रहित एवं नित्य माने गये हैं।

जैनदर्शन में शब्द को उत्पाद्य मानने के कारण जो अन्य दर्शनों में इसकी नित्यता स्वीकारी गई है, वह भी खण्डित हो जाती है। मुख्य रूप से यह आकाश का गुण न होकर पुद्गल-द्रव्य का ही विकार है, केवल एक परमाणु या केवल एक स्कन्ध शब्द को उत्पन्न नहीं कर सकता। इससे सिद्ध होता है कि केवल एक परमाणु शब्द-रूप नहीं होता है। जैनों का कहना है कि जैसे वैशेषिक स्वीकारते हैं कि शब्द आकाश का गुण होता है— को सही भान लिया जाए, तो मूर्तिक कर्णेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि अमूर्तिक आकाश का गुण भी अमूर्तिक ही होगा और अमूर्तिक को मूर्तिक इन्द्रिय जान नहीं सकती। आज के वैज्ञानिक भी इस बात को सिद्ध करते हैं कि शब्द वैकुअम रिक्त स्थान में संचरित नहीं होता, यदि शब्द आकाश के द्वारा उत्पाद्य होता या आकाश का गुण होता, तो वह वैकुअम-शून्य अर्थात् रिक्त-स्थान में भी सुना जाता, क्योंकि आकाश तो सर्वत्र विद्यमान है। वैज्ञानिकों को दृष्टि में यह सामान्य अनुभव है कि शब्द का मूल संघर्षण में है। उदाहरणार्थ— स्वर-उत्पादन के समय में स्वरित्र के काँटे, घंटी, पिआनो की तन्त्रियाँ और वाँसुरी की वायु शब्द आदि सभी कम्पायमान स्थिति में होते हैं। शब्द

टकराता भी है, क्योंकि कुएँ में आवाज करने से प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। आज के विज्ञान ने अपने रेडियो, टी.वी. और ग्रामोफोन आदि यन्त्रों से शब्द को पकड़कर और अपने अभीप्सित स्थान में भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोग से सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गल से ही धारण किया जाता है, पुद्गलों से रुकता है, पुद्गलों को रोकता है, पुद्गल कान आदि के पर्दों को फाड़ता है, पौद्गलिक वातावरण में अनुकम्पन पैदा करता है, अतः शब्द पौद्गलिक है। स्कन्धों के परस्पर संयोग, संघर्षण और विभाग से शब्द उत्पन्न होता है, जिह्वा और तालु आदि के संयोग से नानाप्रकार के भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उत्पादन कारण और स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्गलिक हैं। इस प्रकार विज्ञान भी शब्द को आकाश का गुण नहीं मानता। अतः शब्द मूर्तिक और उत्पाद्य है।

शब्द को द्रव्य मानने के हेतुओं को स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि चूँकि तीव्र शब्द के श्रवण से कान के पर्दे का फटना देखा जाता है। इससे शब्द का एक स्पर्श गुण वाला द्रव्य होना सिद्ध होता है। विदारण का कारण अभिघात है और वह किसी स्पर्शवान् द्रव्य का ही हो सकता है। शब्द सहचरित वायु के अभिघात से बाधिर्य की उत्पत्ति उन्हें नहीं जँचती। इसी प्रकार शब्द में अल्पत्व, महत्त्व परिमाण भी देखने में आता है। यथा 'अल्पोऽशब्दः', 'महान् शब्दः' तथा 'एकः शब्दः', 'द्वौ शब्दौ' आदि प्रयोगों में शब्द में संख्या-गुण उपलब्ध होता है।

प्रतिकूल दिशा से आने वाली वायु द्वारा शब्द का अभिघात देखने में आता है। इससे शब्द में वायु-संयोग गुण की उपलब्धि प्रमाणित होती है। अतः इन गुणों का आश्रय होने से शब्द द्रव्य-रूप है।

गुणाश्रय होने के अतिरिक्त क्रियाश्रय होने से भी शब्द द्रव्यात्मक है। वैशेषिक शब्द को गुण मानने के कारण उसमें क्रिया को स्वीकार नहीं करते। अतः दूरस्थ शब्द के ग्रहणार्थ उन्हें वीची-तरंग न्याय से अथवा कदम्ब-मुकुल न्याय से शब्द के शब्दान्तर की उत्पत्ति माननी पड़ती है, परन्तु जैनों को शब्द को द्रव्य मानने के कारण उसमें क्रिया मानना सुतरां अभीष्ट है। इससे जैनों ने नैयायिकों के शब्दज-शब्द के सिद्धान्त को अनावश्यक कहा है।

जैनदर्शन में अन्य द्रव्यों के समान ही शब्द को भी सामान्य विशेषात्मक माना गया है। सभी शब्दों में अनुगत रहने वाला उसका रूप शब्दत्व सामान्यात्मक है। शंख शब्द, घंटा शब्द, पशु शब्द, नारी शब्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि उसके विशेषात्मक रूप हैं। शब्द की यह सामान्य-विशेषात्मकता जैनदर्शन के अनुसार उसकी पौद्गलिकता का ही प्रमाण है।

शब्द केवल शक्ति नहीं है, किन्तु शक्तिमान पुद्गलद्रव्य स्कन्ध है, जो वायु द्वारा

देशान्तर को जाता हुआ आसपास के वातावरण को झनकाता जाता है। यन्त्रों से इसकी गति बढ़ाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहर को सुदूर देश से पकड़ा जा सकता है। वक्ता के तालु आदि के संयोग से उत्पन्न हुआ एक शब्द मुख से बाहर निकलते ही चारों ओर के वातावरण को उसी शब्द रूप में कर देता है। वह स्वयं भी नियत दिशा में जाता है और जाते-जाते शब्द से शब्द, शब्द से शब्द उत्पन्न करता जाता है। शब्द के जाने का अर्थ पर्याय वाले स्कन्ध का जाना है और शब्द को उत्पत्ति का भी अर्थ आसपास के स्कन्धों में शब्द-पर्याय का उत्पन्न होना है। तात्पर्य यह है कि शब्द स्वयं द्रव्य की पर्याय है और इस पर्याय का आधार है पुद्गल-स्कन्ध। पर्याय-रूप-शब्द केवल शक्ति नहीं है, क्योंकि शक्ति निराधार नहीं होती, उसका कोई न कोई आधार अवश्य होता है और इसका आधार है- पुद्गल-द्रव्य।

इसके साथ ही साथ जैनदर्शन की यह भी मान्यता रही है कि सभी शब्द वास्तव में क्रियावाची ही हैं। जातिवाचक अश्वदि शब्द भी क्रियावाचक हैं, क्योंकि आशु अर्थात् शीघ्र गमन करने वाला अश्व कहा जाता है। गुण वाचक शुक्ल, नील आदि शब्द भी क्रियावाचक हैं, क्योंकि शुचि अर्थात् पवित्र होना रूप क्रिया से शुक्ल तथा नील रँगने रूप क्रिया से नील कहा जाता है। देवदत्त आदि यदृच्छ शब्द भी क्रियावाची हैं, क्योंकि देव ही जिस पुरुष को देवे, ऐसे क्रिया रूप अर्थ को धारता हुआ देवदत्त है। इसीप्रकार यज्ञदत्त भी क्रियावाची है। दण्डी, विषाणी आदि संयोगद्रव्यवाची या समवायद्रव्यवाची शब्द भी क्रियावाची ही हैं, क्योंकि दण्ड जिसके पास वर्त रहा है, वह दण्डी और सींग जिसके वर्त रहे हैं, वह विषाणी कहा जाता है। जाति शब्दादि रूप पाँच प्रकार के शब्दों की प्रवृत्ति तो व्यवहार मात्र से होती है।

शब्द के श्रवण और संचार सम्बन्धी नियम

वक्ता बोलने के पूर्व भाषा-परमाणुओं को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और अन्त में उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न यदि मन्द है, तो वह पुद्गल अभिन्न रहकर “जल-तरंग” न्याय से असंख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है, तो वे भिन्न होकर दूसरे असंख्य स्कन्धों को ग्रहण करते-करते अति-सूक्ष्म काल में लोकान्त तक चले जाते हैं।

जब दो स्कन्धों के संघर्ष से कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस-पास के स्कन्धों को अपनी शक्ति के अनुसार शब्दायमान कर देता है अर्थात् उसके निमित्त से उन स्कन्धों में भी शब्द-पर्याय उत्पन्न हो जाती है। जैसे- जलाशय में एक कंकड़ डालने पर

जो प्रथम लहर उत्पन्न होती है, वह अपनी गति/शक्ति से पास के जल को क्रमशः तरंगित करती जाती है और यह बीच-तरंग न्याय किसी न किसी रूप में बहुत दूर तक प्रारम्भ रहता है।

शब्द पुद्गल अपने उत्पत्ति प्रदेश से उछलकर दशों दिशाओं में जाते हुए उत्कृष्ट रूप से लोक के अन्त भाग तक जाते हैं— सब नहीं जाते हैं, थोड़े ही जाते हैं। यथा— शब्द पर्याय से परिणत हुए प्रदेश में अनन्त पुद्गल अवस्थित रहते हैं। (उससे लगे हुए) दूसरे आकाश प्रदेश में उससे अनन्त-गुणे-हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। तीसरे आकाश प्रदेश में उससे लगे हुए अनन्त-गुणे-हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। चौथे आकाश प्रदेश में उससे अनन्त-गुणे-हीन पुद्गल अवस्थित रहते हैं। इस तरह वे अनन्तरोपनिध की अपेक्षा वात-वलय पर्यन्त सब दिशाओं में उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेश के प्रति अनन्तगुणे-हीन होते हुए जाते हैं। ये सब शब्द-पुद्गल एक-समय में ही लोक के अन्त तक जाते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है; किन्तु ऐसा उपदेश है कि कितने ही शब्द पुद्गल कम से कम दो समय लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा लोक के अन्त को प्राप्त होते हैं। इस तरह प्रत्येक समय में शब्द पर्याय से परिणत हुए पुद्गलों के गमन और अवस्थान का कथन करना चाहिए।

हम जो शब्द सुनते हैं, वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता की शब्द-श्रेणियाँ आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलती हैं। ये श्रेणियाँ वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊँची और नीची, छहों दिशाओं में हैं।

हम शब्द की सम-श्रेणी में होते हैं, तो मिश्र शब्द को सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द-द्रव्यों और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यों को सुनते हैं।

यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं, तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं। (प्रज्ञापन, पद 11)

मनुष्य भाषागत समश्रेणिरूप शब्द को यदि सुनता है, तो मिश्र को ही सुनता है और उच्छ्रेणि को प्राप्त हुए शब्द को यदि सुनता है, तो नियम से पर-घात के द्वारा सुनता है। समश्रेणि द्वारा आते हुए शब्द पुद्गलों को पर-घात और अपर-घात रूप से सुनता है। यथा— यदि पर-घात नहीं है, तो बाण के समान ऋजुमति से कर्णछिद्र में प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गलों को सुनता है, क्योंकि समश्रेणि से कर्णछिद्र में प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गलों का श्रवण उपलब्ध होता है। उच्छ्रेणि को प्राप्त हुए शब्द पुनः शराघात के द्वारा ही सुने जाते हैं, अन्यथा उनका सुनना नहीं बन सकता है।

जैनदर्शन में भाषात्मक शब्द और अभाषात्मक शब्द के भेद से शब्द के प्रथमतः दो भेद किये गये हैं। अभाषात्मक शब्द पुनः प्रायोगिक और वैस्त्रसिक के भेद से दो प्रकार का माना गया है। अभाषात्मक प्रायोगिक प्रकार का शब्द भी तत्, वितत, घन और सौधिर के भेद से फिर चार प्रकार का होता है।

धवला में शब्द के छः भेद स्वीकारे गये हैं— तत, वितत, घन, सौषिर, घोष और भाषा।

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार मेघादि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वे वैस्त्रसिक हैं। चमड़े से मढ़े हुए पुष्कर, भेरी और दर्द से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह तत है। तांत वाले वीणा और सुघोष आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह वितत है। ताल, घण्टा और लालन आदि के ताड़ से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह घन है तथा बाँसुरी और शंख आदि के फूँकने से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह सौषिर है।

धवला में वर्णित शब्द-भेदों की व्याख्या में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा कुछ भिन्नता मिलती है, जैसे- वीणा के शब्द की सर्वार्थसिद्धि में वितत कहा गया है, जबकि धवला और पंचास्तिकाय में यह तत माना गया है। भेरी का शब्द सर्वार्थसिद्धि में तत है, जबकि धवला में यह वितत माना गया है।

सर्वार्थसिद्धिकार ने भाषात्मक शब्द के भी दो भेद किए हैं— 1. साक्षर या अक्षरात्मक, 2. अनक्षरात्मक। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जिससे उनके सातिशय ज्ञान का पता चलता है, ऐसे द्विइन्द्रिक आदि जीवों के शब्द अनक्षरात्मक हैं। धवला की अनक्षरात्मक शब्द की परिभाषा में कुछ अन्तर है, इसके अनुसार द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मुख से उत्पन्न हुई भाषा तथा बालक और मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की भाषा भी अनक्षरात्मक भाषा है। पंचास्तिकाय में दिव्यध्वनिरूप शब्दों को भी अनक्षरात्मक माना गया है।

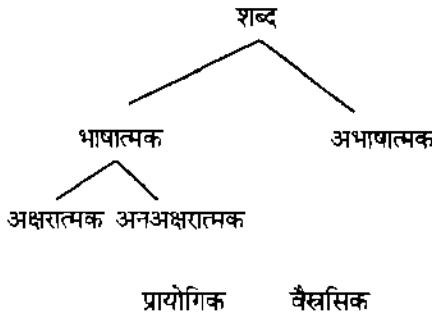
अक्षरात्मक शब्द की परिभाषित करते हुये सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं कि जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं, जिसमें आयों और म्लेच्छों का व्यवहार चलता है, ऐसे संस्कृत शब्द और इसके विपरीत शब्द, ये सब आक्षर-शब्द हैं।

धवलाकार ने उपधान से रहित इन्द्रियों वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की भाषा को अक्षरात्मक कहा है।

द्रव्यसंग्रह की टीका में अक्षरात्मक शब्द की और व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अक्षरात्मक भाषा संस्कृत, प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है।

अक्षरात्मक शब्द की उपर्युक्त तीनों परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि वह ध्वनि समूह, जिसमें अक्षरीय भेद किया जा सके और जो सम्प्रेषण रूप व्यवहार में हेतु है, अक्षरात्मक शब्द है।

भाषा-व्यवहार की दृष्टि से अक्षरात्मक शब्द के भी भगवती-आराधना में नौ भेद किये गये हैं— आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रश्नभाषा, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुलोमा, संशयवचन, अनक्षरवचन।



तत्त वितत घन सौषिर

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

जैन दार्शनिक शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध कहते हैं। परीक्षामुख में वर्णित है कि शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य शक्ति है, उसमें संकेत होने से अर्थात् इस शब्द का वाच्य यह अर्थ है, ऐसा ज्ञान हो जाने से शब्द आदि से पदार्थों का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ में जब कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो शब्द अर्थ का वाचक कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर कषायपाहुडकार देते हैं कि जिस प्रकार से प्रमाण का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि वह अर्थ का वाचक हो जाता है। प्रमाण और अर्थ के स्वभाव से ही ग्राहक और ग्राह्य का सम्बन्ध है, तो शब्द और अर्थ में भी स्वभाव से ही वाचक और वाच्य सम्बन्ध क्यों नहीं मान लेते? और यदि शब्दार्थ में स्वभावतः ही वाच्य-वाचक भाव है, तब फिर पुरुष के या जीव के उच्चारण के प्रयत्न की क्या आवश्यकता? यदि स्वभाव से ही प्रमाण और अर्थ में सम्बन्ध होता, तो इन्द्रिय-व्यापार की व प्रकाश की आवश्यकता क्यों कर पड़ती? अतः प्रमाण और अर्थ की भाँति ही शब्द में भी अर्थ-प्रतिपादन की शक्ति समझनी चाहिए, अथवा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम है अर्थात् यह सम्बन्ध के द्वारा किया हुआ है, अतः पुरुष के व्यापार की आवश्यकता होती है। अतः शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, कषायपाहुड की भी यही मान्यता है।

जैन दार्शनिकों की एक मान्यता यह भी है कि भिन्न-भिन्न शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि यदि शब्दों में भेद है, तो अर्थों में भी अवश्य होना चाहिए। राजवार्तिक के अनुसार शब्द का भेद होने पर अर्थ अर्थात् वाच्य पदार्थ का भेद आवश्यक है। राजवार्तिक के अनुसार जितने शब्द हैं, उतने ही अर्थ हैं। जैन दार्शनिक यह भी कहते हैं कि शब्द का अर्थ देशकालानुसार परिवेश को ध्यान में रखकर

ही करना चाहिए, क्योंकि एक-समय में और एक-परिस्थिति में एक शब्द का अर्थ कुछ होता है और परिस्थिति या समय के बदलते ही उस शब्द का अर्थ भी बदल जाता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों ने शब्द के अवधारणात्मक पक्ष पर ही नहीं, बल्कि उसके दार्शनिक पक्ष पर, उसके अर्थ के साथ होने वाले सम्बन्ध पर, उसके अर्थ-बोध पर एवं उसके स्वरूप पर अपनी अलग पहचान रखते हुए विचार किया है और अपने इसप्रकार के विचार से सम्पूर्ण भारतीय भाषा-शास्त्रीय चिन्तन या भारतीय भाषा-शब्द-चिन्तन को समृद्ध किया है।

व्याकरण

प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

कुछ प्रश्नों के साथ इस आलेख को प्रारम्भ करना चाहता हूँ। पहला प्रश्न यह कि आखिर जैन व्याकरणों या जैन संस्कृत व्याकरण की अलग से बात करने की जरूरत क्या है?... इसी से सम्बद्ध दूसरा प्रश्न और कि यदि जैन संस्कृत व्याकरण या व्याकरणों की बात न की जाए, तो बौद्धिक जगत् की आखिर क्या क्षति होगी या हो रही है, जैसी कि देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों की है?... जैन व्याकरणों या जैन संस्कृत व्याकरण की विषय वस्तु और सामग्री को यदि आप गम्भीर दृष्टि से देखें या विचार करें, तो आपको इन दोनों प्रश्नों के सटीक उत्तर अपने आप मिल जाएँगे। जैन संस्कृत व्याकरण या व्याकरणों के किसी भी पाठ से जब आप गुजरते हैं, तो आप बड़े सहज ही यह महसूसने लगते हैं कि ये जैन संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थ पूरी तरह एक भिन्न भाव-धारा पर लिखे गए ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इनकी भाषा को देखने की दृष्टि भी जैनैतर व्याकरणों से अलग है। इस आलेख में इन बिंदुओं पर हम संक्षेप में ही पाठ आधारित विचार के साथ कुछ बात करना चाहते हैं।

सबसे पहली बात यह कि इन जैन संस्कृत व्याकरणों का प्रारम्भ किसी वैदिक देवता के स्मरण के साथ नहीं हुआ है अर्थात् इनके मंगलाचरणों में किसी न किसी जैन पूज्य पुरुष का स्मरण साक्षात् या परोक्ष रूप में हुआ है। दूसरी बात यह कि इनमें एक ओर जहाँ वैदिक संस्कृत को संरचना को लेकर कोई व्याकरणिक नियम नहीं दिये गए हैं, वहीं इनमें से कुछ में पालि प्राकृत-अपभ्रंश की संरचना के नियमों को समाहित किया गया है और कुछ जैन परम्परा विशेष के परिभाषिकों को भी व्याख्यात किया गया है, जिनकी चर्चा जैनैतर व्याकरणों में लगभग नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इन जैन संस्कृत व्याकरणों की भाव-भूमि भिन्न है। इस आलेख में मैं तीन प्रमुख जैन व्याकरणों यथा— जैनेन्द्र, शाकटायन व कातन्त्र को लेकर इस प्रसंग में कुछ चर्चा करूँगा।

जैनेन्द्र व्याकरण का आरम्भ 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्र से किया गया है। प्रकृत प्रथम सूत्र में सूत्रकर्ता ने जैनदर्शन के मूल मन्त्र अनेकान्त, जो जीव के अभिलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है, से ही प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग के द्वारा शब्दों की सिद्धि को भी प्रदर्शित किया है। इसप्रकार अनेकान्त को ग्रन्थकार ने सभी विद्याओं के मूल में

स्वीकृत किया है।

जैनेन्द्र पंचाध्यायी में जैनेन्द्रकार ने ऋ लृ क् के स्थान पर शब्दार्णव में ऋक् प्रत्याहार ही रखा है, अर्थात् लृ का अन्तर्भाव ऋ में ही कर लिया है। वस्तुतः लौकिक संस्कृत में मूल अर्थात् धातु के रूप में प्रयुक्त लृकार से बनने वाला कोई शब्द है भी नहीं, इसीलिए लृ का उल्लेख पाणिनि की परम्परा की तरह स्वतन्त्र रूप से जैनेन्द्र में नहीं किया गया है।

जैनेन्द्र में कारक-क्रम पाणिनि के ही समान क्रमशः अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म और कर्ता के रूप में है। कारकों में कर्ता, अधिकरण और करण की परिभाषा जैनेन्द्र की पाणिनि के समान ही है। केवल 'आधारोऽधिकरणम्' इस पाणिनि के सूत्र के अधिकरण पद को जो पाणिनि ने नपुंसकलिंग में प्रयुक्त किया है, जैनेन्द्र ने पुल्लिंग में 'अधिकरणः' करके रखा है। आधार की व्याख्या करते हुए महावृत्तिकार लिखते हैं—'यदधीना यस्य स्थितिः, स तस्याधारः' अर्थात् जिसके अधीन जिसकी स्थिति होती है, वह उसका आधार होता है। अपादान, सम्प्रदान एवं कर्म की व्याख्या में जैनेन्द्र ने चमत्कृति की है। अपादान के सन्दर्भ में जहाँ पाणिनि केवल 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' कहते हैं, वहाँ जैनेन्द्र ने 'ध्यपाये ध्रुवमपादानम्' (जै. 1/2/110) कहा है अर्थात् बुद्धिपूर्वक अपाय साध्य में जो ध्रुव है, वह अपादान होता है। महावृत्तिकार ने 'प्राप्तिपूर्वक विश्लेष को अपाय कहा है और बुद्धि के द्वारा किए हुए अपाय को ध्यपाय (धिया अपायः), अविचल अथवा अवधिभूत को ध्रुव माना है।' इस परिभाषा में व्यवहृत जैनेन्द्र के विशिष्ट शब्द या पद ध्यपाय को सार्थकता के लिए महावृत्तिकार का मत है कि पाणिनि के केवल अपाय कथन से 'अधर्माज्जुगुप्सते' आदि में अपादानत्व नहीं घटता, जबकि वस्तुतः व्यवहार में है। प्रेक्षापूर्वक दुःख-हेतु अधर्म है, इसप्रकार की बुद्धि के द्वारा जो सम्प्राप्य है, उससे जो निर्वातित करता है, वहाँ अपादानत्व हुआ। इसप्रकार ध्यपाय पद के रखने से 'चौरैभ्यः बिभेति, अध्ययनात् पराजयते, उपाध्यायादधीते, यवेभ्यो गां वारयति, कूपदन्थं वारयति, अकार्यात्सुतं वारयति' आदि उदाहरणों में प्रयुक्त क्रमशः चौर, अध्ययन, उपाध्याय, यव, कूप और अकार्य इन सभी में अपादानत्व घट जाएगा। इसप्रकार जैनेन्द्र की अपादान परिभाषा में निहित चिन्तन जैनेन्द्र का अपना मौलिक है।

इसीप्रकार सम्प्रदान के विषय में जैनेन्द्र की उक्ति है—'कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्' (1/2/111) अर्थात् कर्म के द्वारा जो उपेय/प्राप्य अर्थ है, वह कारक सम्प्रदान होता है।

'कर्त्र्यम्' (1/2/120) कर्ता के द्वारा, क्रिया के माध्यम से जो आप्य है, उसे पूज्यपाद ने कर्म कहा है—'प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्य विक्रियात्मकम्। कर्तृश्च क्रियया व्याप्यभीप्सितानीप्सितेतरत्।'—महावृत्तिकार अभयनन्दि के द्वारा उद्धृत इस श्लोक के सभी अंशों—प्राप्य, विषयभूत, निर्वर्त्य, विक्रियात्मक, कर्ता की क्रिया के द्वारा व्याप्यता, ईप्सित और अनीप्सित में जैनेन्द्रोक्त लक्षण की व्याप्ति के कारण कर्मत्व सहज घट जाता है, जबकि पाणिनि के लक्षण की गति केवल ईप्सिततम तक ही है।

कारक के इन तीनों लक्षणों में जैनेन्द्र की संक्षेपण प्रवृत्ति के साथ-साथ उसके चिन्तन की मौलिकता के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

जहाँ पाणिनि परम्परा में केवल छः कारक कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ही स्वीकृत हैं, वहाँ जैनेन्द्र (महावृत्ति 1/2/126 के अनुसार) एक हेतु कारक को और उपस्थापित करते हैं। इसप्रकार क्रम के अनुसार जैनेन्द्र में कारकों की स्थिति है— अपादान-1/2/110, सम्प्रदान-1/2/111, करण-1/2/114, अधिकरण-1/2/116, कर्म-1/2/120, कर्ता-1/2/125 और हेतु-1/2/126।

जहाँ पाणिनि ने अदर्शन को लोप माना है, वहाँ जैनेन्द्रकार नाश की 'ख' संज्ञा कहते हैं (जै. 1/1/61)। इससे अभिप्राय यह है कि जहाँ पाणिनि की परम्परा के वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं, वहाँ पाणिनीय वैयाकरणों के इस मत से जैनेन्द्रकार का साम्य नहीं है, वस्तुतः जैनदर्शन में शब्द को पुद्गल का ही अंग माना गया है। अतः वे उसे अजर-अमर कैसे मानें? ... इसलिए वह तो वहाँ अनित्य है और पूज्यपाद जहाँ जैनेन्द्र व्याकरण के प्रणेता हैं, वहीं जैनदर्शन के मूल सूत्र-ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की भी रचना की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है उन्होंने, तो वे भला शब्द को नित्य कैसे स्वीकारें?...सच, उच्चरित होकर नष्ट होना ही पौद्गलिक शब्द की नियति भी है उनके अनुसार।

प्रातिपदिक के लिए जैनेन्द्र में 'मृत्' संज्ञा का व्यवहार हुआ है और मृत् अर्थात् प्रातिपदिक को परिभाषा भी जैनेन्द्रकार की अपनी है—'अधुमृत् (जै.1/1/5)'—'धुवर्जितमर्थवच्छब्दरूपं मृत्संज्ञं भवति-महावृत्तिः' अर्थात् धुवर्जित (धातु से भिन्न) अर्थवान् शब्दरूप मृत्संज्ञक होता है। जबकि पाणिनि अर्थवान् धातुभिन्न प्रत्ययरहित वर्णानुपूर्वी को प्रातिपदिक कहते हैं। वस्तुतः सार्थक वर्णसमुदाय के मूल रूप की प्रातिपदिक और धातु दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं, प्रत्यय तो अर्थ के द्योतन का काम करते हैं, न कि अर्थ के धारण का। अतः 'अप्रत्ययः' पद को (प्रातिपदिक) मृत् को परिभाषा के लिए सूत्र में रखने को कोई आवश्यकता नहीं समझी पूज्यपाद स्वामी ने।

जैनेन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता है संक्षेपणीयता, वैयाकरण देवनन्दि ने इस संक्षेप को प्रवृत्ति को अपनाने में विभिन्न प्रविधियाँ अपनाई हैं, जिनमें से प्रमुख हैं—

1. जैनेन्द्र के रचना-काल के अनुपयोगी प्रकरणों को शास्त्र में न सँजोना, फलतः वैदिक स्वर एवं एकशेष प्रकरण जैनेन्द्र में नहीं हैं।
2. प्रयुक्त इत् संज्ञा के स्थलों को कम करना।
3. सूत्र के पद-क्रम में परिवर्तन। यथा—पाणिनि-आदेः परस्य, जै. परस्यादेः 1/1/51— फलतः एक मात्रा का लाघव और वैयाकरण तो अर्धमात्रा के लाघव को ही पुत्रात्सव मानते हैं, तो एक मात्रा की ह्रस्वता से कितनी प्रसन्नता हुई होगी?..... यह स्वयंसिद्ध है।

4. शास्त्र के अध्यायों का कम करना, फलतः अनुवृत्ति का कार्य पुनः पुनः नहीं करना

पड़ा।

5. प्रयुक्त संज्ञाओं को हस्वीकृत करना। यथा—प्रथमा- वा, बहुवचन-बहु, बहुव्रीहि-बम्।

6. अनेक सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र का प्रयोग। ऐसा करने में ग्रन्थकार ने प्रायः दो, तीन, चार, पाँच सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र तो बनाया ही है, पर जहाँ पाणिनि ने 13 सूत्र बनाए, उन सबके लिए जैनेन्द्र ने केवल एक सूत्र से ही सारा काम किया—*कुस्तुम्बुरु...* (4 B 1116) सूत्रों को भी छोटा किया। यथा— पा. - *तुल्यबलविरोधे परं कार्यम्। जै. स्पष्टपरम्* (1 D 190) पा. *प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्। जै. त्यखे त्याश्रयम्* (1 H 63) पा. *न लुमताङ्ग। जै. नोमता गोः* (1 H 64)

7. सूत्र-संख्या का कम करना तो स्वाभाविक ही था।

8. प्रत्ययों को संख्या घटाना। जैसे- पाणिनि के सम्पूर्ण स्त्री वाचक प्रत्ययों से होने वाले कार्य को केवल आठ स्त्री प्रत्ययों- टाप्, आप्, ड, डाय्, फड्, ऊ, खमू एवं श्य- में ही समाहित कर लिया है।

9. अनेक ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ पाणिनि ने केवल एक सूत्र बनाया है, वहाँ जैनेन्द्र ने दो या अधिक सूत्रों को रखा है, इससे ज्ञातव्य है कि जैनेन्द्रकार की इच्छा सूत्र-पाठ के सरलीकरण की रही ही। यथा— जै. 1/2/16-17 - पा. 1/3/22 जै. 1/4/19-20-21 पा. 2/3/10

इसप्रकार हम देखते हैं कि-पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्रानुशासन में जहाँ पूर्वप्रचलित सामग्री की बहुशः रक्षा की है, वहीं संक्षेपणीयता को, स्वकालीन संस्कृति को, धर्म को, दर्शन को, अनेक नवीन स्थितियों-विशेषताओं को, नए-नए नियमों को, नई शब्द-सिद्धि-प्रक्रिया को एवं सूत्रों में गुन्थित अभिनव भाषा-चिन्तन को भी समेटा है, अंकित किया है।

अब शाकटायन के प्रसंग से चर्चा आगे बढ़ाते हैं। शाकटायन को सबसे बड़ी विशेषता अपने ग्रन्थ में स्वराध्याय के प्रतिपादन की है, जिसका इस दृष्टि से उल्लेख न पाणिनि के द्वारा ही और न चान्द्र ने ही किया है।

पाणिनि के मत में शब्द से पूर्व अर्थात् सुबन्त से पूर्व प्रत्यय नहीं होते, जबकि शाकटायन ने एक स्थान पर इस पूर्व की परम्परा को हटाते हुए सुबन्त शब्द से पूर्व प्रत्यय 'बहु' के लिए उपदेश किया है। सुपः *प्राग्बहुर्वा।* (3/4/68) *विभाषा सुपो बहु च पुरस्तात्* अष्ट।।

शाकटायन शब्दानुशासन में अनेक प्रत्यय नवीन भी प्रयुक्त हुए हैं। यथा—त्रप्, एद्गुस्, हिं, टेन्यण्, कृत्वस्, त्रा, सात्, कट्य, टनण्, खन्नु, ल, स्न, कार, रूप्य, आहण्, णिहन्, चुद्गन्, शाकिन्, शाकद्।

प्रत्यय की व्याख्या भी शाकटायन की अपनी है। वे कहते हैं— शङ्घ्यर्थ से भिन्न

विहित वर्ण समुदाय प्रत्यय है। (प्रत्ययः कृतोऽषष्ठ्याः। 1/1/41)

भाषाविज्ञान या शब्दशास्त्र की इकाई वाक्य को भी शाकटायन ने मौलिक रूप से परिभाषित किया है। साक्षात् अथवा परम्परा से अप्रयुज्यमान तिङन्त का विशेषण प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान तिङन्त के साथ वाक्य होता है। (तिङ् वाक्यम् 1/1/61)

पद की इकाई धातु की व्याख्या भी शाकटायन की अपनी मौलिक है। क्रिया की प्रवृत्ति जिस वर्ण अथवा शब्द के द्वारा अभिधेय हो, वह धातु है। (क्रियार्थो धातुः (1/1/22)।

शाकटायन शब्दानुशासन की एक विशेषता संक्षेपीकरण भी है। संक्षेपीकरण को बरतने में शाकटायन ने इत् संज्ञा के स्थलों को बहुत कम कर दिया है; परिणामतः सूत्र भी कम बनाने पड़े हैं और प्रत्यय भी छोटे अर्थात् संक्षिप्त हो गए हैं।

जहाँ पाणिनि व जैनेन्द्र ने अनेक स्त्री प्रत्यय बनाए, वहाँ शाकटायन ने सम्पूर्ण स्त्री प्रत्ययों के स्थान पर अपने शास्त्र में केवल दो आइ व डी प्रत्यय ही प्रयुक्त किए हैं।

शाकटायन ने वैदिक वाङ्मय के लिए अपने व्याकरण में नियम नहीं प्रतिपादित किए हैं, अस्तु इससे भी कई सौ सूत्रों का प्रयोग कम हुआ है।

इस संक्षिप्तता की प्रविधि में शाकटायन ने सूत्रों को भी संक्षिप्त किया है। जहाँ पाणिनि, चान्द्र व कातन्त्र अनेक पदों वाले सूत्रों का व्यवहार करते हैं, वहाँ शाकटायन ने केवल मात्र एक पद वाले अनेक सूत्र हो बनाए हैं अथवा सूत्रों की निर्माण की प्रक्रिया को ही संक्षिप्त किया है। यहाँ प्रस्तुत शाकटायन की सूत्रात्मक संक्षिप्ति को निम्न सूत्रों की तुलना करने पर प्रत्यक्ष कर सकेंगे। यथा—

पाणिनि	शाकटायन
आदिरन्त्येन सहेता।	सात्मेतत् 1/1/1
तपरः तत्कालस्य।	तेयान् 1/1/3
स्थानिवदादेशोऽनलविधौ।	स्थानीवानलाश्रये 1/1/50
सुप्तिङन्तं पदम्।	सुङ्पदम् 1/1/62

अनेकशः पाणिनि के एक से अधिक सूत्रों को शाकटायन ने एक सूत्र में ही संक्षिप्त किया है। यथा—

पाणिनि	शाकटायन
ढे ढे लोपः।	

रोरि।

द्वौ द्वि 1/1/31 दोनों के स्थान पर एक सूत्र ही

कहीं-कहीं शाकटायन ने सम्पूर्ण प्रकरण को एक सूत्र में हो संकलित कर लिया है।

जैसे समस्त इत् संज्ञा विधायक सूत्रों की विधि को एक ही सूत्र 'अप्रयोगीत्' (1/1/5)

संक्षेपीकरण की प्रक्रिया में शाकटायन ने प्रत्यय एवं आगमों को भी संक्षिप्त किया

है। यथा—

पाणिनि	शाकटायन
काम्यच्	काम्य
यत्	य
ल्युट्	अन
अनीयर्	अनीय
शत्	अत्

भारतीय व्याकरण के परिदृश्य को ध्यान से देखें, तो एक बात साफ उभरकर आती है कि यहाँ के व्याकरण ग्रन्थों को दो वर्ग में रखा जा सकता है— (1) वे ग्रन्थ, जिनमें प्रत्याहार/माहेश्वर सूत्रों जैसी संकल्पना ही नहीं है या उसे स्थान नहीं दिया गया; (2) इस वर्ग में वे ग्रन्थ आते हैं, जिन्होंने प्रत्याहार/माहेश्वर सूत्रों के आधार पर व्याकरण शास्त्र का पुरस्सरण किया। कातन्त्र प्रत्याहार सूत्रों/माहेश्वर सूत्रों के बिना लिखा गया व्याकरण है। अब मैं कातन्त्र के सन्दर्भ से यहाँ बात करना चाहता हूँ।

आज कातन्त्र के स्वरूप को लेकर यह चर्चा कुछ लोग करने लगे हैं कि इस व्याकरण का उद्देश्य कम समय में संस्कृत व्याकरण की जानकारी/दक्षता उपलब्ध करा देना मात्र है, क्योंकि पाणिनीय व्याकरण को पढ़कर दक्षता पाने में लगभग बारह वर्ष लगते हैं/थे; इसलिए यह व्याकरण पाणिनि के व्याकरण का केवल संक्षिप्त रूप भर है, पर मुझे यह मान्यता समीचीन नहीं लगती है। इसके दो प्रमुख कारण हैं— (1) भारतीय परम्परा में कोई वस्तु या विचार केवल इसलिए रचा जाता हो या रची गई हो कि उसे पहले से केवल छोटा करना है—इसके उदाहरण सामान्यतः हमें नहीं मिलते हैं, क्योंकि हमारी पूरी परम्परा जहाँ एक ओर विचार के मूल उत्सव प्रकृति को रेखांकित करती है, वहीं दूसरी ओर उसकी पल्लवन पद्धति को, इसलिए हमारे यहाँ कोई भी रचना केवल संक्षेपण के लिए नहीं होती; (2) हमारे यहाँ कोई भी रचना भिन्न रूप में तब रची जाती है कि जब यह पड़ताल हो चुकी होती है कि निश्चित समय-अवधि में पहली रचना ठीक तरह से पूरी बात नहीं कह पाती और तत्सन्दर्भित परिस्थिति में रचनाकार को लगता है कि उपलब्ध रचना में पल्लवित विचार समुचित नहीं हैं या हम उक्त पल्लवित विचार से भिन्न दृष्टि रखते हैं, फलतः हमारे लिए अपने विचार-पुरस्सरण के लिए एक नयी रचना अपरिहार्य है। यहाँ इस आलेख में प्रयोजनीयता पर चर्चा तीन दृष्टियों से करना अपेक्षित है— (1) कातन्त्र आखिर कातन्त्रकार के द्वारा क्यों रचा गया?... (2) कातन्त्र में ऐसा क्या है, जो अन्यो से भिन्न है?... (3) कातन्त्र पर अब आज बात करने की जरूरत क्यों है?...

कातन्त्र के सम्पूर्ण साहित्य में जो सन्दर्भ मिलते हैं, उनसे तीन बातें उभरकर आती हैं— (1) कातन्त्र ऐन्द्र परम्परा का व्याकरण है तथा हो सकता है कि उसका संक्षिप्त रूप भी हो; (2) कातन्त्र कालापक व्याकरण का संक्षिप्त रूप है और वह पाणिनि से पूर्ववर्ती

कलापी परम्परा पर आधारित है (प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पृ.66-67); (3) कातन्त्र का अपर नाम कालापक है, उसके पठन-पाठन की परम्परा गाँव-गाँव में थी (ग्रामे-ग्रामे कालापकम्-पतञ्जलि महाभाष्य, 4/3/109); प्रो. बेल्वल्कर तो यहाँ तक कहते हैं कि कातन्त्र जितना लोक-विश्रुत था, उतना अन्य शास्त्र नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि उसके पठन-पाठन की परम्परा भारत के बाहर भी थी (युधिष्ठिर मीमांसक, पृ.326), बल्कि एक बात और कि ऐन्द्र-कालापक-कातन्त्र ने सम्पूर्ण भारत के व्याकरण-चिन्तन को प्रभावित किया—यही कारण है कि स्वयं पाणिनि सम्प्रदाय में जिन पूर्व व्याकरण परम्पराओं का उल्लेख है, उनमें कालापक भी है। प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी पालि के काच्चायन व्याकरण को पूरी तरह कातन्त्र से प्रभावित मानते हैं (काच्चायन की भूमिका, पृ. 38), डॉ. बर्नल ने तोलकाप्यम् को भी इस परम्परा से प्रभावित माना है (प्रो. बेल्वल्कर, पृ. 9)। प्रो. बेल्वल्कर ने ही एक उद्धरण देते हुए यह बात कही कि यह कालाप व्याकरण, जो छन्दशास्त्र में अर्थात् वेदादि के पारायण में लीन हैं, अल्प बुद्धि वाले हैं, अन्य शास्त्रों के अध्ययन में रत हैं, व्यापारी हैं, कृषि आदि कार्यों में लगे हैं, इतना ही नहीं, बल्कि जो लोक-कल्याण की यात्राओं में संलग्न हैं, ईश्वरवादी हैं, व्याधियों से घिरे हैं तथा आलस्य से युक्त हैं, ऐसे जनों को शीघ्र बोध कराने के लिए रचा गया है। (छन्दसः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तरताश्च ये। वणिक् सस्यादिसंस्कृताः लोकयात्रादिषु स्थिताः। ईश्वराः व्याधिनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये। तेषां क्षिप्रप्रबोधार्थमनेकार्थं कालापकम्।।—प्रो. बेल्वल्कर, पृ. 68, रामसागर मिश्र, पृ. 10)। इन उल्लिखित प्रयोजनों के अतिरिक्त मुझे लगता है कि हमारी सम्पूर्ण परम्परा वाचिक रही है, अतः व्याकरण की भी वाचिक ही रही होगी, महाभाष्य में प्रयुक्त आह्निक आदि शब्द इस बात की ओर संकेत भी देते हैं कि एक दिन में पढ़ाया जाने वाला या चर्चा किया जाने वाला पाठ आह्निक है। चूँकि 'इन्द्रेण प्रोक्तम् ऐन्द्रम्' की व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्र द्वारा कहे हुए रूप में होने के कारण ऐन्द्र व्याकरण वाचिक रूप में चलता रहा, यह परम्परा भारत के या भारत के आसपास के किसी एक क्षेत्र में ही रही होगी—ऐसा भी नहीं है, बल्कि यह सम्पूर्ण भारत व आस-पास के लम्बे भू-भाग में प्रचलित रही, जिसकी पुष्टि कातन्त्र के बहुविध-बांग्ला व कश्मीरी आदि पाठों से होती है, यथा-‘ते वर्गाः पच पच पच (रूपमाला), ते वर्गा पच पचशः (न्यास 1/1/10)’ यह स्थिति सामान्यतः पाणिनि की परम्परा की नहीं है। इसप्रकार के पाठ यह संकेत देते हैं कि कातन्त्र का प्रयोग-फलक बहुत विस्तीर्ण था और इसीलिए इसके प्रयोक्ताओं के बीच में बहुपाठ प्रचलित थे। ...और जब अन्य शास्त्रों की तरह ऐन्द्र की वाचिक परम्परा क्षीण होती नजर आई, तब कातन्त्रकार ने उस परम्परा को पूर्णतन्त्र का रूप देते हुए कातन्त्र रच दिया, पर उसमें दो सम्भावनाएँ विशेष हैं— (1) लोक में प्रचलित विस्तीर्ण परम्परा का हिस्सा होने के कारण यह अपने आप में सहज व सरल रूप में रच गया, (2) व्याकरण-गृहीताओं को सरलता से समझ में आ जाये—इसका विशेष

ध्यान रखते हुए रचनाकार ने ऐसे सहज रूप में कातन्त्र की रचना की। ध्यान से रचना के वैचारिक/दार्शनिक पक्ष पर विचार करें, तो यह बात भी स्पष्ट रूप में उभर कर आती है कि कातन्त्र सहज, सरल और छोटा तन्त्र होते हुए भी वैचारिक रूप में बड़ी समृद्ध एवं पुष्ट रचना है।

भाषा का आधार वाक्य होता है और वाक्य का आधार पद और पद के बिना भाषा की गति नहीं होती है, अर्थात् भाषा का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। इसलिए भाषा के प्रयोजन की सिद्धि का साक्षात् कारण पद है। पाणिनीय परम्परा शब्द में या पद में ही जोड़े जाने वाले योजक प्रत्ययों के आधार पर पद के निर्माण की बात करती है, अर्थात् पद की पहचान योजक विभक्ति प्रत्ययों के आधार पर ही पाणिनि परम्परा में सम्भव है। इसीलिए तो वहाँ पद की परिभाषा देते हुए आचार्य पाणिनि कहते हैं कि 'सुसिद्धन्तम् पदम्' पर यह परिभाषा कातन्त्रकार की मान्य नहीं है और वे कहते हैं कि 'पूर्वपरयोरर्थोलब्धौ पदम्'। इस परिभाषा को ध्यान से देखें तो यह बात स्पष्ट दिखती है कि शर्ववर्मा की दृष्टि पद की सिद्धि में भी भाषा के चरम लक्ष्य अर्थोपलब्धि पर रही है। वे उन शब्दों को पद मानने को तैयार नहीं, जिनमें केवल योजक विभक्ति प्रत्यय लगे हों और प्रकृति से युक्त हों, पर अर्थोपलब्धि न करा रहे हों। उन्हें तो ध्वनियों की वह संगठित राशि ही पद के रूप में स्वीकार है, जो अर्थोपलब्धि कराती है अर्थात् साक्षात् अर्थ-बोध का कारण है, इसलिए वे ऐसी ध्वनियों के समूहों को पद के रूप में नहीं स्वीकारते, जो सूक्ति व पद से युक्त तो हों, पर सार्थक अर्थ लिए न हों। इसके साथ ही साथ उनके मत में ऐसी ध्वनियों का समूह भी पद होने की अर्हता नहीं रखता, जो केवल प्रकृति के साथ जुड़ने की सम्भाव्यता के कारण जुड़ा हो, वस्तुतः वह भाषा में स्वीकार न हो। भाव यह है कि कातन्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि सब प्रकृतियों के साथ सब प्रत्यय नहीं जोड़े जा सकते। किस प्रकृति के साथ कौन-सा प्रत्यय जुड़ेगा - इसकी संगति भाषा में बहुत महत्वपूर्ण है; यह दो रूपों में होती है- एक तो किस प्रत्यय के साथ कौन-सी प्रकृति आती है इस दृष्टि से, और दूसरी किस प्रकृति के साथ कौन-सा प्रत्यय जुड़ा है इस दृष्टि से, पर ये दोनों दृष्टियाँ सीधे नियन्त्रित होती हैं अर्थोपलब्धि से। इस पूरे के पूरे भाषायी दर्शन को कातन्त्रकार सिर्फ एक सूत्र से रख देते हैं और उनकी इस दृष्टि को लेकर ही हमें भाषा में निरन्तर यह परीक्षण करते रहना चाहिए कि ध्वनियों का वह समूह ही पद हो सकता है, जो अर्थोपलब्धि का साधन हो; जो अर्थोपलब्धि का साधन नहीं है, वह पद नहीं हो सकता।

कातन्त्र में ध्वनियों के जिस स्वरूप की चर्चा मिलती है, वह स्वरूप भी पाणिनीय परम्परा के ठीक समान नहीं है, यथा- इ, उ, ए, नृ, म् ध्वनियाँ पाणिनीय परम्परा में नासिक्य कही गयी हैं, जबकि कातन्त्रकार इन्हें अनुनासिक कहते हैं। सूत्र है— 'अनुनासिका ङणनमाः' 1/1/13। इससे स्पष्ट है कि दोनों परम्पराओं में इन ध्वनियों को एक-जैसा नहीं माना गया। यदि इन ध्वनियों के भौतिक उच्चारण को भी देखा जाय, तो भी यह बात

साफ लगती है कि ये ध्वनियाँ केवल नासिक्य नहीं हो सकतीं; क्योंकि इनके उच्चारण में नासिका और मुख दोनों विवरों का प्रयोग होता है। चूँकि दोनों विवरों का प्रयोग होता है, अतः इनका यथार्थ उच्चारण अनुनासिक हो है। अब सबाल उठता है कि इस अनुनासिक को व्यञ्जन माना जाय या स्वर? पाणिनीय परम्परा में अनुनासिक ध्वनियाँ स्वर मानी गयी हैं, जबकि कातन्त्रकार इन्हें 'कादीनि व्यञ्जनानि' तथा 'ते वर्गाः पच पचाः' कहकर इन्हें व्यञ्जन ही मानते हैं। इन ध्वनियों के दोनों परम्परावर्ती उल्लेखों को ध्यान से देखा जाय तो तीन स्थितियाँ उभरकर आती हैं - पहली स्थिति में कातन्त्रकार इन ध्वनियों को अनुनासिक रूप में सुन रहे थे, इसलिए इनका स्वरूप उन्होंने अनुनासिक ही कहा, जो पाणिनीय मत के अनुसार स्वर का एक भेद है। हमें भाषा में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ स्वर ध्वनियाँ कालक्रम में व्यञ्जन रूप में परिवर्तित होती देखी गयी हैं, पर जहाँ ये व्यञ्जन रूप में परिवर्तित हैं, वहाँ ये व्यञ्जन के प्रमुख आधार अभिलक्षणों से ही सम्पन्न हैं, स्वरों के आधार अभिलक्षणों से नहीं। इससे ऐसा लगता है कि कातन्त्रकार इन ध्वनियों की प्रकृति के अनुसार इनके स्वरूप को अनुनासिक के गुण से युक्त ही पाते हैं, पर वे वर्गीकरण की दृष्टि से इन्हें व्यञ्जन के साथ रख देते हैं, जबकि पाणिनि इन्हें व्यञ्जन रूप ही देखते हैं और व्यञ्जन रूप से ही वर्गीकृत करते हैं। दूसरी स्थिति यह है कि कातन्त्रकार के समय इन ध्वनियों की स्थिति स्पष्ट नहीं थी, इसलिए उच्चारण के स्तर पर उन्होंने इन्हें अनुनासिक कहा और वर्गीकरण के स्तर पर व्यञ्जन। तीसरी स्थिति यह है कि पाणिनीय परम्परा इन ध्वनियों का जो नासिक्य उच्चारण कह रही है, वह वस्तुतः सम्भव नहीं, पर भाषाई-व्यवस्था की दृष्टि से ये ध्वनियाँ व्यञ्जन तो हैं, पर इन्हें अनुनासिक ही माना जाना चाहिए, जैसा कि कातन्त्रकार का मत है या उनकी प्रस्तुति है।

लोक, भाषा और अर्थ इन तीनों सन्दर्भों से भाषा और व्याकरण जुड़े हुए हैं और ये तीनों परस्पर सम्पृक्त हैं। यथार्थ घटना घटती है, उसका प्रत्यक्ष होकर प्रयोक्ता को बोध होता है और उस बोध से भाषिक शब्द जन्म लेता है; ऐसी ही दूसरी स्थिति में भाषिक शब्द से अर्थ-बोध होता है और वह अर्थ-बोध लोक में विद्यमान वस्तु की ओर संकेत करता है; तीसरी स्थिति में मस्तिष्क में विद्यमान बहुत सारे अर्थों में से एक अर्थ को कहने के लिए वक्ता चुनता है और तदनुसार उस अर्थ की वाचिक ध्वनि का उच्चारण कर यथार्थ जगत् में विद्यमान वस्तु की ओर संकेत करता है— इन तीनों स्थितियों के परिदृश्य में भाषा और व्याकरण घूमता है। भाष्यकार पतंजलि अपने भाष्य में— 'लोकतः' तथा 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः' का प्रयोग कर स्पष्ट संकेत देते हैं कि शब्दों के अर्थ के निर्धारण का निकष लोक है, जबकि कातन्त्रकार इससे और आगे जाते हैं और वे कहते हैं कि 'लोकोपचाराद् ग्रहण-सिद्धिः' 1/1/23। इससे स्पष्ट है कि लोकव्यवहार से ही जिस वस्तु की ओर संकेतन होता है, उसके ग्रहण की सिद्धि होती है और इसप्रकार वे अपने शास्त्र को केवल साक्षात् अर्थ की ही सम्भाव्यता तक सीमित नहीं

करते, बल्कि शब्द की ध्वन्यात्मक शक्ति के द्वारा बोध्य यथार्थ जगत् की जो वस्तु है, उस तक ले जाते हैं और उनके टीकाकार तो यह भी कहते हैं कि वस्तुतः अर्थ के प्रयोग में और शब्द के प्रयोग में सबसे बड़ा प्रमाण यदि कोई है, तो वह है लोक-व्यवहार। भाव यह है कि शास्त्र से कोई शब्द न भी बन रहा हो और लोक-व्यवहार में वह प्रचलित हो, तो उसे हमें स्वीकार लेना चाहिए और शास्त्र की उसे सिद्ध करने के नियम खोजने चाहिए तथा अन्ततः यदि शास्त्र में नियम न हों, तो उसे नियम देने चाहिए; जबकि भाष्यकार शब्द के अर्थ-निर्धारण में लोक को तो प्रमाण मानते हैं, पर शब्द के प्रयोग को पूरी तरह लोकाश्रित नहीं छोड़ते, इसीलिए तो वहाँ उल्लेख मिलता है कि 'एकोशब्दः सम्यग्ज्ञातः... कामधुक् भवति' अर्थात् धार्मिक क्रियाओं में शब्द के जिस रूप की स्वीकृति शास्त्र में है, ठीक उसी रूप में प्रयोग करने पर ही उस धार्मिक क्रिया के लक्ष्य की प्राप्ति होती है और इसप्रकार वे शब्द-साधन को पूरी तरह शास्त्र-आधारित मानकर ही चलते हैं।

पाणिनि परम्परा जहाँ अव्ययीभाव समास करने के लिए अनेक सूत्रों का विधान करती है, वहीं कातन्त्रकार केवल एक सूत्र से वह काम कर लेते हैं। वह सूत्र है— 'पूर्व वाच्यं भवेद् यस्य, सोऽव्ययीभाव इश्यते'। यद्यपि पाणिनीय परम्परा में भी यह माना जाता है कि अव्ययीभाव समास में पूर्वपद प्रधान होता है, पर इसका उल्लेख सूत्र में नहीं मिलता, जबकि कातन्त्र में वह उल्लेख ही अव्ययीभाव का केन्द्र है। पूर्व शब्द-रूप वाच्य रूप से प्रधान जहाँ ही, वहाँ अव्ययीभाव समास होता है और उसके प्रतिपाद्य अर्थ में वाचकत्व होने पर भी अर्थ की प्रधानता की दृष्टि से ही शब्द को प्रधानता की बात कही गई है; इसीलिए उनका सूत्र है कि— 'पूर्व वाच्यं भवेद्यस्य सोऽव्ययीभाव इश्यते'।

कातन्त्रकार की कारक की धारणाएँ भी अपने में विशिष्ट हैं और उनको देखने से लगता है कि उनके पीछे एक पूरी की पूरी भिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमि काम करती है। उदाहरण के लिए कर्ता को ही लें— कर्ता की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि जो क्रिया करता है, वह कर्ता है— *यः करोति स कर्ता*। भाव यह है कि जो क्रिया को करने वाला है, वह कातन्त्र के अनुसार कर्ता है, उससे भिन्न कर्ता नहीं हो सकता, जबकि पाणिनीय परम्परा कर्ता को स्वतन्त्र मानती है, इसीलिए वहाँ सूत्र है— *स्वतन्त्रः कर्ता*। कातन्त्रकार भी कर्ता को स्वतन्त्र मानते हैं, पर उसे निष्क्रिय नहीं। वह क्रिया को करने वाला है अर्थात् कातन्त्रकार वेदान्तियों से इस बात पर भिन्न हैं कि वहाँ प्रत्येक जीव स्वतन्त्र होते हुए भी कुछ कर नहीं सकता, जो कुछ क्रिया उसके द्वारा होती है, ईश्वर-इच्छा से होती है। यह कातन्त्रकार को स्वीकार नहीं है। इसीप्रकार जो किया जाता है, वह कर्म है। भाव यह है कि जैन मान्यता के अनुसार कोई भी कर्म किसी व्यक्ति के साथ बिना किये हुए नहीं जुड़ता है, इसीलिए उसे क्रिया का फल माना गया है। इसीलिए वहाँ परिभाषा दी गयी है— '*यत् क्रियते तत् कर्म*' जबकि पाणिनीय परम्परा में कर्ता के ईप्सिततम को कर्म माना गया है— '*कर्तुरीप्सिततमं कर्म*'। भाव यह है कि पाणिनीय परम्परा जगत् के कर्ता के रूप में

ईश्वर को देखती है और उस ईश्वर को जिस क्रिया विशेष के द्वारा जो कर्म सम्पन्न कराना होता है, वह वह करता है, जबकि शर्ववर्मा की परम्परा से साफ दिखता है कि कर्ता जो क्रिया करता है, उसका फल कर्म है अर्थात् कर्म प्रत्येक क्रिया का फल है। बिना क्रिया के कर्म की स्थिति नहीं है। मुक्तात्मा जब सांसारिक क्रियाओं से मुक्त हो जाती है, परिणामस्वरूप वह कर्म से निष्कलंक हो जाती है। ऐसे ही करण की परिभाषा करते हुए कातन्त्रकार कहते हैं कि जिसके द्वारा क्रिया की जाय, वह करण है, जबकि पाणिनि कहते हैं कि 'साधकतमं करणम्' क्रिया-सिद्धि में जो प्रकृष्ट उपकारक होता है, वह करण कहलाता है और क्रिया ईश्वर-इच्छा से होती है, तो भाव यह हुआ कि ईश्वर-इच्छा रूप क्रिया के सम्पादन में जो भी जीव लगते हैं, वे ही प्रकृष्ट उपकारक होते हैं, जबकि यह बात शर्ववर्मा नहीं मान पाते, क्योंकि वे प्रत्येक क्रिया को प्रत्येक जीवरूप कर्ता के अधीन देखते हैं और उस क्रिया के सम्पादन में होने वाली जो भी वस्तु या क्रिया माध्यम बनती है, उसे वे करण कहते हैं, यथा— 'येन क्रियते तत् करणम्'। सम्प्रदान के विषय में भी पाणिनि की मान्यता है— दानभूत कर्म के द्वारा जो अभिप्रेत होता है, वह सम्प्रदान-संज्ञक कहलाता है तथा उनकी परम्परा यह भी मानती है, क्रिया के द्वारा जो अभिप्रेत होता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। ईश्वर-इच्छा हुई गाय को दान देने की, अब प्रश्न उठता है कि गाय किसे दी जाए?... गाय रूप दान कर्म का अभिप्रेत हुआ ब्राह्मण, इसलिए ब्राह्मण सम्प्रदान कहलाया। इसीतरह कोई नारी शयन-क्रिया ईश्वर-इच्छा से पति के लिए करती है, तो शयन-क्रिया का अभिप्रेत हुआ पति, इसलिए पति सम्प्रदान है। ये स्थितियाँ कातन्त्रकार को ठीक नहीं लगती। वे कहते हैं, जिसे कुछ देने की इच्छा हो या जिसे कुछ रुचिकर लगता हो अथवा जो धारण करता ही, कातन्त्रकार की दृष्टि में वह सम्प्रदान-संज्ञक होता है। इससे लगता है कि कातन्त्रकार की परिभाषा भी यद्यपि अभिप्रायार्थक है, पर वह ईश्वर-इच्छा केन्द्रित नहीं है। अपादान की परिभाषा पाणिनीय परम्परा में 'ध्रुवमपाये अपादानम्' अपायक्रिया होने पर अर्थात् अलग होने पर जो ध्रुव रहे, उस कारक में अपादान संज्ञा होती है, क्योंकि कातन्त्रकार कहते हैं कि— 'यतोऽपैति भयमादत्ते तदपादानम्' जिससे दूर होता है, डरता है और ग्रहण करता है, वह कारक अपादान संज्ञा वाला होता है। यद्यपि पाणिनि की परिभाषा में स्वेच्छा से अपाय-क्रिया या रक्षा-क्रिया होती है। कातन्त्र में इसतरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके साथ ही कातन्त्रकार ने अपादान की प्रक्रिया को सरल बनाया है, इसीलिए अपादान संज्ञक पंचमी का सर्वनाम में प्रयोग करके एक ही पद से अपाय, भय और रक्षा - तीनों क्रियाओं के स्रोत को अपादान में रखा गया है, जबकि पाणिनि परम्परा में इसके लिए तीन भिन्न स्रोत हैं। अधिकरण को परिभाषा पाणिनि और कातन्त्र में लगभग समान-सी है। पाणिनि की प्रक्रिया में अधिकरण के लिए कहा गया है— 'आधारोऽधिकरणम्'। क्रिया की सिद्धि में जो आधार है, उस कारक की अधिकरण संज्ञा होती है। ऐसे ही कातन्त्रकार कहते हैं कि 'य आधारस्तदधिकरणम्' जो

आधार है, उस कारक को अधिकरण कहते हैं और दोनों प्रक्रियाएँ क्रिया के तीन भेद ही मानती हैं— एक औपश्लेषिक, दूसरा वैषयिक, तीसरा अभिव्यापक। पाणिनि परम्परा में कारकों के क्रम में सबसे पहले अपादान, फिर सम्प्रदान और इसके बाद करण और तब अधिकरण, उसके बाद कर्म और कर्ता। कातन्त्र की सूत्रपाठी प्रक्रिया में करण से अधिकरण को पहले रखा गया है। इससे स्पष्ट लगता है कि कातन्त्र की दृष्टि में क्रिया की सम्पन्नता में अधिकरण की स्थिति पहले होती है, करण की बाद में। इसप्रकार सम्पूर्ण कारकीय परिदृश्य की देखें, तो कातन्त्र में क्रिया के निष्पादन में सबसे पहले अपादान आता है, जहाँ से वस्तुतः क्रिया का आरम्भ होता है; तदनन्तर सम्प्रदान आता है, जिसके लिए क्रिया हो रही है और बाद में अधिकरण आता है, जो आधार रूप है अर्थात् क्रिया का आधार रूप अधिकरण ही कातन्त्रकार का अभीष्ट है और उसके बाद जिससे क्रिया होनी है, वह करण सम्मुख होता है और तदनन्तर कर्म और कर्ता। पाणिनि की दृष्टि में करण अधिक महत्वपूर्ण क्रिया-निष्पादक है, जबकि कातन्त्रकार की दृष्टि में करण और अधिकरण दोनों की महत्ता है, पर अधिकरण की महत्ता प्रथमतः इसलिए है, क्योंकि वही वह आधार प्रस्तुत करता है, जिस पर क्रिया को निष्पन्न होना है, जबकि करण क्रिया को निष्पन्न करने का साधन बनता है। वस्तुतः अपादान और सम्प्रदान की स्थिति यद्यपि इन दोनों की सत्ता क्रिया के निष्पन्न होने से वैचारिक अधिक है। क्रिया वस्तुतः गति पाती है अधिकरण के अनन्तर और पूर्ण होती है कर्ता की अभीप्सित क्रिया वाले कर्ता की विवक्षा के पूर्ण होने पर, इसीलिए यह क्रम आचार्यों ने कारक के विचार करते समय उपस्थित किया है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि जैन संस्कृत व्याकरणों में ऐसी बहुशः सामग्री है, जो जैनैतर संस्कृत व्याकरणों में नहीं है और उस सामग्री से एक भिन्न भारतीय भाषिक विचार-सरणि के दर्शन होते हैं तथा कई बार पाणिनि व्याकरण की तुलना में भाषा सीखने में कम समय व कम श्रम भी लगता है और भिन्न विचार-सरणि व भिन्न व्याकरणिक प्रक्रिया के दर्शन होते हैं, अतः यदि इस सामग्री को अध्ययन-अध्यापन से दूर रखा गया, तो निश्चित रूप से हम संस्कृत व्याकरण-परम्परा के एक महत्वपूर्ण अंश से वंचित रह जाएँगे और समग्र भारतीय व्याकरण परम्परा से परिचित न हो पाएँगे।

कोश-परम्परा एवं साहित्य

डॉ. कमलेश जैन

जैन सन्तों तथा अन्य ग्रन्थकारों ने भारतीय विद्या की विविध विधाओं को अत्यधिक समृद्ध किया है। कोश या शब्दकोश निर्माण के क्षेत्र में भी उनका योगदान कम महत्व का नहीं है। भारतीय वाङ्मय में शब्दकोशों की एक सुदीर्घ एवं विशाल परम्परा मिलती है और लगभग एक हजार से भी अधिक शब्दकोशों की अब तक रचना हो चुकी है। ये शब्दकोश भारत की विभिन्न भाषाओं में मिलते हैं।

कोश एक सन्दर्भ-ग्रन्थ के समान होता है, जिसमें शब्दरूपों का परिचय, उच्चारण, व्याकरणनिर्देश, व्युत्पत्ति, व्याख्या, पर्याय, लिंग, अर्थ, वाक्य-विन्यास तथा शब्दों का वर्णादि क्रम से संयोजन किया जाता है। कोश की आवश्यकता इसलिए भी पड़ती है कि उसमें अर्थ का अनुशासन किया जाता है, इसलिए किसी शब्द-विशेष के निश्चित अर्थबोध के लिए कोश का पठन-पाठन जरूरी होता है। कुछ टीकाकारों के अनुसार, व्याकरण प्रामाणिक होते हुए भी कोश विशेष बलवान् होता है। उनके मत से जिस शब्द की सिद्धि किसी व्याकरण के वचन से नहीं होती हो, उसके साधुत्व का बोध मात्र कोश से किया जा सकता है।

कोश व्यावहारिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग माना गया है। भारतवर्ष में कोशों का अस्तित्व भी ढाई हजार वर्ष से अधिक पुराना है और यह भी सत्य है कि उसके पहले भी भारतीय परम्परा प्राचीन काल में मौखिक चलती थी। अतः यह कहना बहुत कठिन है कि कोश की यह परम्परा कब से प्रारम्भ हुई; परन्तु भाषिक शब्दों का अविच्छिन्न अंग होने से कोश को उतना हो प्राचीन मानना चाहिए जितनी कि भाषा।

जैन साहित्य के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में युग-विशेष के अनुरूप साहित्य सृजन की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। इसलिए इस कथन में कुछ सचाई भी है कि 'प्राकृत जैनों की भाषा है' परन्तु जैन ग्रन्थकारों ने भारतवर्ष की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में साहित्य रचना की और इसीलिए विभिन्न भाषाओं में उनके द्वारा लिखे गये शब्दकोश आदि आज भी उपलब्ध होते हैं।

कोश एवं उसका महत्त्व—कोश शब्दादिसंग्रह के अनुसार शब्दों का संग्रह कोष या कोश कहलाता है। कोश में विशेष क्रम से शब्दों का संग्रह होता है तथा उसके अध्ययन से शब्दों की प्रकृति, विभिन्न अवयवों एवं अर्थों का ज्ञान होता है। इस तरह शब्दकोश की प्रकृति एकार्थक, पर्यायार्थक, या निरुक्तिमूलक शब्दों का संग्रह हो सकती है, पर सब का अभिप्राय शब्द और अर्थ का ज्ञान ही होता है। जिस प्रकार शरीर में श्रोत्र-इन्द्रिय की महत्ता है, उसी प्रकार अर्थज्ञान के लिए कोश की आवश्यकता होती है। इसीलिए निरुक्त (कोश विशेष) को वेद-पुरुष का श्रोत्र कहा गया है—*निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते* कोश से शब्दों के निश्चित अर्थ का बोध होता है। अर्थज्ञान के बिना व्यक्ति मात्र शब्दरूप भार का वाहक होता है, उसके फल का अधिकारी नहीं बन पाता।

स्पष्टतः शब्द के अर्थग्रहण में शब्दकोश की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। शब्दों में संकेतग्रहण की योग्यता कोश-साहित्य के द्वारा ही प्रतीत होती है। इसीलिए कोश की महत्ता स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे राजाओं या राष्ट्रों का कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता और कोश के बिना शासन-सूत्र के संचालन में बहुत कठिनाई होती है, उसी प्रकार विद्वानों को भी शब्द-कोश के बिना अर्थ-ग्रहण में कठिनाई होती है—

कोशस्यैव महीपानां कोशस्य विदुषामपि।

उपयोगो महानेष क्लेशस्तेन विना भवेत्॥

जैन कोशादि कहने का औचित्य—जब कोश-व्याकरण आदि सर्वोपयोगी और सार्वजनीन साहित्य है, तब उसके साथ जैन, बौद्ध या वैदिक जैसी साम्प्रदायिकता की छाप कहाँ तक उचित है? ...साहित्य में साम्प्रदायिक भेद क्यों? ...इसका समाधान यह है कि—(1) प्रत्येक दर्शन के अपने कुछ विचार एवं मान्यताएँ होती हैं और इन मान्यताओं के अनुसार उसकी शब्दावली भी कुछ अंशों तक साम्प्रदायिक वातावरण से प्रभावित रहती है, अतः इन शब्दों का तात्त्विक अर्थ उस सम्प्रदाय के अभ्यासी ही समझ पाते हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन के प्रकाश में शब्दों के अर्थों का विवेचन जैन कोशों में ही सम्भव है। (2) प्रत्येक दर्शनप्रस्थान या परम्परा में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दों का गठन या संयोजन किया जाता है। अतः पुरानी या प्रचलित शब्दावली उनके भावों की अभिव्यंजना में सफल नहीं हो पाती। अतएव साम्प्रदायिक कोशकार उपर्युक्त प्रकार की शब्दावलियों का चयन करते हैं। जैन-परम्परा के वर्गणा, जिन, अर्हत्, नाभिज आदि सैकड़ों शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची अमरकोश, बैजयन्ती, मेदिनी, विश्वप्रकाश आदि कोशों में नहीं हैं। अतः जैन कोशकारों ने साधारणीकरण के आधार पर ऐसे कोशों का निर्माण किया, जो सब के लिए समान रूप से उपयोगी हो सकते हैं। (3)

साम्प्रदायिक कोशों का एक उद्देश्य यह भी है कि अपने सम्प्रदाय में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, संकलन और प्रतिपादन हो जाये। (4) साम्प्रदायिक ग्रन्थों में आये व्यक्तियों के नाम, वस्तुओं के नाम तथा भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आगमिक शब्दावलियों के अर्थों का निरूपण भी साम्प्रदायिक कोशों में ही सम्भव है। (5) प्रत्येक धर्म या परम्परा का किसी एक भाषा विशेष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिए भाषा-विशेष सम्प्रदाय-विशेष के धर्मग्रन्थों की भाषा मान ली जाती है। जैसे—वैदिक धर्म के लिए संस्कृत, बौद्धधर्म के लिए पालि और जैनधर्म के लिए प्राकृत। अतः साम्प्रदायिक कोशकार अपने-अपने धर्म ग्रन्थों में व्यवहृत भाषा के कोश ग्रन्थ भी लिखते हैं। यही कारण है कि जैन कोशकारों ने संस्कृत के कोश ग्रन्थों के साथ-साथ प्राकृत और देशी भाषाओं में भी कोश-ग्रन्थों की रचना की है।

जैन कोश साहित्य का उद्भव और विकास— जैन मान्यतानुसार, तीर्थंकरकृत द्वादशांगवाणी (12 विभागों में वर्गीकृत प्रवचन विशेष) के अन्तर्गत सभी प्रकार का जैन साहित्य सन्निविष्ट हो जाता है, इसलिए कोश विषयक साहित्य भी सत्यप्रवादपूर्व और विद्यानुवाद की पाँच सौ महाविद्याओं में एक अक्षर-विद्या में समाहित है। प्रारम्भ में द्वादश-अंग, चतुर्दशपूर्वों के भाष्य, चूर्णियाँ, वृत्तियाँ तथा विभिन्न प्रकार की टीकाएँ ही कोश-साहित्य का कार्य करती रही हैं। कालान्तर में जब चूर्णियों, भाष्यों आदि से शब्दार्थों की पूर्णतः जानकारी नहीं हो सकी, तो शब्दकोशों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्राप्त उल्लेखों/संकेतों के अनुसार स्पष्ट होता है कि जैनपरम्परा में लिखे गये अनेक कोश-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि सर्वप्रथम कौन-सा जैन कोश लिखा गया। इस विषय में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री का निम्न कथन समुचित प्रतीत होता है—“उपलब्ध जैन कोश साहित्य में धनञ्जय कवि की नाममाला ही सबसे प्राचीन कोश है। यद्यपि ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी में कोश का स्वरूप निश्चित हो चुका था। संघदासगणि की वसुदेवहिंडी की ‘चत्तारि अट्ट’ वाली गाथा के 14 अर्थ किए गये हैं। ये नाना अर्थ ही अनेकार्थ कोश की बुनियाद हैं। जैनों में प्रचलित द्विसन्धान, चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान—जैसे अनेकार्थक काव्यों की परम्परा इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जैनों में कोश-साहित्य का सृजन भाष्य और वृत्तियों के पश्चात् काल में ही हुआ होगा। अनेकार्थक साहित्य तभी लिखा जाता है, जब कोशों में शब्दों के विभिन्न अर्थ निश्चित कर लिए जाते हैं। एक-एक श्लोक के सौ-सौ अर्थों की अभिव्यंजना करना साधारण बात नहीं है।”

यहाँ पर जैन कोशकारों द्वारा रचित/सम्पादित संस्कृत, प्राकृत तथा संस्कृत-प्राकृत मिश्र, देशी एवं अपभ्रंश विषयक विभिन्न कोशों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया

जा रहा है।

नाममाला अपरनाम धनञ्जयनाममाला—महाकवि धनञ्जय (813ई.) के तीन कोश उपलब्ध हैं—1. नाममाला, 2. अनेकार्थनाममाला, और 3. अनेकार्थ निघंटु। इन्होंने विषापहार और द्विसन्धानकाव्य भी लिखे हैं। इनके सन्धान-काव्यों की अनेक कवियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। नाममाला के अन्त में प्राप्त पद्य से ज्ञात होता है कि कवि धनञ्जय की लोक में द्विसन्धान-कवि के रूप में कीर्ति व्याप्त थी—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।

द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अर्थात् भट्ट अकलंकदेव का प्रमाणशास्त्र, पूज्यपाद देवन्दि का लक्षण (व्याकरण) शास्त्र और द्विसन्धानकवि का काव्य, ये तीनों अपूर्व रत्नत्रय हैं। वादिराजसूरि ने अपने पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में द्विसन्धान काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि धनञ्जय द्वारा कहे गये अनेक सन्धान (अर्थ भेद) वाले और हृदय-स्पर्शी वचन कानों को ही प्रिय क्यों लगेंगे, जबकि अर्जुन के द्वारा छोड़े जाने वाले अनेक लक्ष्यों के भेदक मर्मभेदी बाण कर्ण को प्रिय नहीं लगते।—

अनेक भेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।

बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्यैव प्रियाः कथम्॥

नाममाला— सरल और सुन्दर शैली में लिखा गया एक संस्कृत-कोश है। इसमें व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले सभी पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। इसमें कवि ने 200 श्लोकों में संस्कृत की शब्दावली का चयन किया है और गागर में सागर भरने की युक्ति चरितार्थ की है। इस कोश में किसी एक शब्द से अन्य शब्द बनाने की प्रक्रिया बताई गयी है, जो अपने-आप में निराली है। किसी अन्य कोश में यह पद्धति दिखाई नहीं देती। इस पद्धति का बड़ा लाभ यह है कि एक प्रकार के पर्यायवाची शब्दों के ज्ञान से दूसरे प्रकार के पर्यायवाची शब्दों का ज्ञान सहजतया हो जाता है। जैसे- पृथ्वी के नामों के आगे 'धर' या धर के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से वृक्ष के नाम हो जाते हैं। इसी प्रकार जल शब्द के आगे 'स्वामिन्' आदि शब्द जोड़ देने से मछली के नाम, वृक्ष शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से बन्दर के नाम, जल शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'प्रद' शब्द जोड़ देने से 'बादल' के नाम, 'उद्भव' शब्द जोड़ देने पर 'कमल' के नाम, एवं 'धर' जोड़ देने से समुद्र के नाम बन जाते हैं।

इस प्रकार महाकवि धनञ्जय ने अपनी इस वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इस कोश को

अधिक उपयोगी तथा लोकप्रिय बनाया है। कोश में कुल 1700 संस्कृत शब्दों के अर्थ दिये गए हैं।

नाममाला कोश पर अमर कीर्तिकृत (समय 15वीं शती) भाष्य भी उपलब्ध होता है। इसमें नाममाला के समस्त शब्दों की व्युत्पत्तियों की गयी हैं। इन व्युत्पत्तियों से शब्दों का सांस्कृतिक-इतिहास प्रस्तुत करने में बहुत सहायता मिलती है।

अनेकार्थ-नाममाला— यह भी महाकवि धनञ्जय की रचना है। इसमें एक शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। कोश में मात्र 46 पद्य हैं। मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने कहा है कि कवियों की हितकामना की दृष्टि से गम्भीर, सुन्दर, विचित्र और व्यापक अर्थ को प्रकट करने वाले कुछ शब्दों का निरूपण करता हूँ—

गम्भीरं रुचिरं चित्रं विस्तीर्णार्थप्रकाशकम्।

शाब्दं मनाक् प्रवक्ष्यामि कवीनां हितकाम्यया॥

इस कोश में अद्य, अज, अंजन, अक्ष, आदि, अनन्त, अन्त, शब्द, अर्क, इति कदली, कम्बु, केतन, कीलाल, कैवल्य, कोटि, क्षीर आदि सौ शब्दों के विभिन्न अर्थों का संकलन किया गया है।

अनेकार्थ निघंटु— इसकी रचना भी महाकवि धनञ्जय ने की है। इस कोश में 238 शब्दों के विभिन्न अर्थों का संकलन किया गया है। इसमें श्लोकों की कुल संख्या 154 है, जिनमें एक-एक शब्द के तीन-तीन, चार-चार अर्थ बतलाये गये हैं।

पाइयलच्छीनाममाला (प्राकृतलक्ष्मीनाममाला)— यह प्राकृतभाषा का प्रथम उपलब्ध कोशग्रन्थ है। इसके रचयिता कवि धनपाल हैं। इस कोश की रचना विक्रमसंवत् 1029 में धारानगरी में हुई थी। इससे पूर्व निघंटु, अमरकोश, हलायुध आदि अनेक संस्कृत के कोश-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी।

पाइयलच्छीनाममाला में शब्दों का चयन अकारादि क्रम से न करके विषय, समय, स्थान आदि के आधार पर किया गया है। जैसे—प्रथम 1 से 7 गाथाओं में विभिन्न देव पर्यायों का उल्लेख है। 10वीं गाथा में कमल शब्द के पर्यायों का निरूपण है। कमल भौरा का प्रिय है, अतः 11वीं गाथा में भौरा के ग्यारह नाम बताए गये हैं।

इस कोश में कुल 279 गाथाएँ हैं। प्रथम गाथा में मंगलाचरण तथा ग्रन्थ के अन्त में चार गाथाओं में कवि ने अपना परिचय दिया है। शेष 274 गाथाओं में 998 शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। इसमें तीन प्रकार के शब्दों का संग्रह है—तत्सम, तद्भव एवं देश्य। इनमें संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्दों तथा देशी शब्दों का संकलन है। जैसे कि भ्रमर शब्दों के पर्यायवाची देते हुए लिखा है—

फुल्लंधुआ रसाऊभिंगा भसला या महुअरा अलिबो।
इंदिदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा।।

अर्थात् फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, भसल, महुअर, अलि, इंदिदिर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भमर, ये 11 नाम भ्रमर के हैं। इन ग्यारह नामों में फुल्लंधुय, रसाऊ, भसल, इंदिदिर और धुअगाय ये पाँच शब्द देशी हैं। ऐसे तो फुल्लंधुअ की व्युत्पत्ति पुष्पन्धय और रसाऊ की रसायुत् से की जा सकती है और पुष्पन्धय का अर्थ भी पुष्परस का पान करने वाला भ्रमर होगा, किन्तु ये दोनों शब्द देशी ही हैं।

इस कोश में 'सुन्दर' शब्द के पर्यायवाचियों में 'लट्ठ' शब्द का प्रयोग मिलता है, यह भी देशी शब्द है। इसमें कुछ ऐसे भी देशी शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग आज भी लोकभाषाओं में होता है। जैसे—अलस या आलस के पर्यायवाचियों में एक 'मट्ठ' शब्द आया है। ब्रज भाषा में आज भी इस शब्द का प्रयोग 'आलसी' के अर्थ में होता है। इसी प्रकार नूतन पल्लवों के लिए कुंपल शब्द मिलता है। यह शब्द भी ब्रज, भोजपुरी और खड़ी बोली— इन तीनों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इस कोश में अनेक ऐसे देशी शब्द संगृहीत हैं, जिनका प्रयोग आज भी आर्य भाषाओं में देखा जाता है। कोश के अन्त में प्रत्ययों के अर्थ बतलाए गये हैं। 'इर' प्रत्यय को स्वभावसूचक और इल्ल, इन्न, आल प्रत्यय को मत्वर्थक बताया गया है। इस तरह कोशकार ने इस कोश को सब तरह से उपयोगी बनाने का प्रयास किया है।

कोशकार धनपाल के बाद हेमचन्द्रसूरि (ईसवी 1088-1172) का स्थान आता है। इन्होंने साहित्य, व्याकरण, काव्य, कोश, छन्द आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कीं। राजा सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल इनकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित थे। उनके अगाध पांडित्य के कारण उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' जैसा विरुद दिया गया। इनके चार कोश-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—1. अभिधानचिन्तामणि, 2. अनेकार्थसंग्रह, 3. निघंटु और 4. देशीनाममाला। इनमें प्रथम तीन संस्कृत के कोश हैं और चौथा देशी शब्दों का कोश है। निघंटु का विषय वनस्पति-शास्त्र है।

अभिधानचिन्तामणि— जैन परम्परा में इस कोश का विशेष महत्त्व है। संस्कृत के जैन कोशों में यही एक ऐसा कोश है, जिसमें जैनधर्म-दर्शन सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। इसमें तीर्थंकरों के नाम, प्रत्येक तीर्थंकर के पर्यायवाची शब्द, तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, तीर्थंकरों के अतिशयों की नामावलि, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालीन चौबीसी, गणधरों के नाम, तीर्थंकरों के ध्वजचिह्न, अन्तिम केवली, श्रुतकेवली, तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ, जैन आम्नाय द्वारा समस्त देवगति, तिर्यञ्चगति के जीवों का वर्णन किया गया है।

चतुर्थकांड में पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और वनस्पति कायिक जीव-पर्याय का विस्तृत निरूपण है। द्वीन्द्रिय जीवों की नामावलि चार श्लोकों में दी गयी है और त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों की नामावली भी पूरे विस्तार के साथ 20 श्लोकों में वर्णित है। यहाँ त्रस और स्थावरों के पर्यायवाची शब्दों का विस्तार इतना अधिक है कि संस्कृत भाषा के किसी भी कोश में पर्यायवाची शब्दों का उतना वर्णन नहीं मिलता।

अभिधानचिन्तामणि एक पद्यमय कोश है, इसमें कुल छह कांड हैं। पहला कांड देवाधिदेव नाम का है, इसमें 96 पद्य हैं। दूसरे देवकांड में 250 पद्य हैं। तीसरे भर्त्यकांड में 598 पद्य हैं। चौथे भूमिकांड में 423 पद्य हैं। पाँचवें नारक कांड में 6 पद्य हैं एवं छठे सामान्य कांड में 179 पद्य हैं। इस तरह कोश में कुल 1542 पद्य हैं।

इस कोश के प्रारम्भ में ही कोशकार ने रुढ़, यौगिक और मिश्र शब्दों के पर्यायवाची शब्द लिखने की प्रतिज्ञा की है। सम्बन्धों में स्व-स्वामि-भाव, जन्य-जनक-भाव, कार्य-कारक-भाव, भोज्य-भोजक-भाव, पति-कलत्र-भाव, वाह्य-वाहक-भाव, ज्ञाति-सम्बन्ध, आश्रयाश्रयिभाव एवं वध्य-वधकभाव को ग्रहण किया गया है और इन्हीं सम्बन्धों के अनुसार पर्याय शब्दों का कथन किया है। तत्पश्चात् अन्यान्य व्युत्पत्तिजन्य पर्यायों का प्रतिपादन किया गया है।

अभिधानचिन्तामणि में कई मौलिकताएँ पायी जाती हैं। पहली मौलिकता यह है कि हेमचन्द्र ने धनञ्जय के समान शब्दयोग (मूल शब्द में दूसरा शब्द जोड़कर) से अनेक पर्यायवाची शब्दों को बनाने का विधान किया है, परन्तु पद्धति में 'कविरुद्ध्या ज्ञेयोदाहरणावली' के अनुसार उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया गया है, जो कवि-सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। जैसे—पतिवाचक शब्दों में कान्ता, प्रियतमा, वधू, प्रणयिनी एवं निभा शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पत्नी के नाम और कलत्र वाचक शब्दों में वर, रमण, प्रणयी एवं प्रिय शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पति-वाचक शब्द बन जाते हैं। गौरी के पर्यायवाची शब्द बनाने के लिए शिव शब्द में उक्त शब्द जोड़ने पर शिव-कान्ता, शिव-प्रियतमा, शिव-वधू, शिव-प्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं। इस कोश की एक विशेषता यह है कि इसमें पर्यायवाची शब्दों की संख्या बहुत है।

अनेकार्थक संग्रह— अभिधानचिन्तामणि में जहाँ हेमचन्द्र ने एक शब्द के अनेक पर्यायवाची बताए हैं, वहाँ इस कोश में एक शब्द के अनेक अर्थों का संकलन किया है। प्रकृत कोश की शैली भी अभिधान-चिन्तामणि की ही है। ग्रन्थ में सात कांड हैं, जिनके कुल 1931 श्लोक हैं। पहले एकस्वर कांड में 160 श्लोक, दूसरे द्विस्वरकांड में 608 श्लोक हैं। तीसरे त्रिस्वरकांड में 814 श्लोक हैं। चौथे चतुःस्वर कांड में 359

श्लोक हैं। पंचम पञ्चस्वर कांड में 57 श्लोक हैं। छठे षट्स्वरकांड में 7 श्लोक हैं तथा सातवें अव्ययकांड में 68 श्लोक हैं। इस कोश का मेदिनी और विश्वप्रकाश कोश पर बहुत प्रभाव पाया जाता है।

निघंटु शेष— यह एक वनस्पति कोश है। हेमचन्द्रकृत इस कोश में छः कांड हैं। प्रथम वृक्षकांड में 181 श्लोक हैं। द्वितीय गुल्मकांड में 105 श्लोक हैं। तृतीय लताकांड में 44 श्लोक हैं। चतुर्थ शाककांड में 34 श्लोक हैं। पंचम तृणकांड में 17 श्लोक हैं और षष्ठ धान्यकांड में 15 श्लोक हैं। निघंटु की कुल श्लोक संख्या 396 है। वैद्यक शास्त्र के लिए इस कोश की बहुत उपयोगिता है। अनेकार्थ संग्रह के टीकाकार के अनुसार, निघंटु लिखने के समय हेमचन्द्र के समक्ष धन्वन्तरि निघंटु, राजकोश निघंटु, सरस्वती निघंटु आदि औषधिकोश विद्यमान थे। हेमचन्द्र ने उक्त सभी कोशों का मन्थन कर नया निघंटु तैयार किया है। डॉ. बुल्नर ने इसे एक श्रेष्ठ वनस्पति कोश (Botanical Dictionary) कहा है।

देशीनाममाला— प्राकृत देशी शब्दों के ज्ञान के लिए यह प्रथम कोश है। इस कोश की रचना का प्रयोजन बताते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है कि इसकी रचना सिद्धहेमशब्दानुशासन के अष्टम अध्यायगत प्राकृत भाषाओं के व्याकरण की पूर्ति हेतु की गयी है—

इय रयणावलिणामो देहीसद्वाण-संगहो एसो।
वायरण सेसलेसो रइयो सिरिहेमचन्दमुणिवइणा ॥ (8.77)

दूसरी बात यह है कि दुर्बोध एवं दुःसन्दर्भित शब्दों के अर्थज्ञान के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है (1.3)।

देशीनाममाला के दो और नाम मिलते हैं—देसीसद्संगहो और रयणावलि। सामान्यतः प्राकृत भाषा में तीन प्रकार के शब्द पाये जाते हैं—(1) तत्सम अर्थात् संस्कृत के समान, (2) तद्भव अर्थात् संस्कृत से विकृत होकर आये, और (3) देशज अर्थात् व्याकरण आदि संस्कारों से रहित, केवल परम्परा-प्रसिद्ध शब्द। इस कोश में देशज या देश्य शब्दों का ही संकलन है। कोशकार के अनुसार, जो शब्द न व्याकरण से सिद्ध हो, न संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध हो और न लक्षणा शक्ति से सिद्ध हो, उसे देशी कहते हैं (1.4)। देशीनाममाला में सभी शब्द देशी नहीं हैं। इसमें संकलित शब्दों की कुल संख्या 3978 है, जिनमें तत्सम 100, संशययुक्त तद्भव 528, गर्भिततद्भव 1850, और अव्युत्पादित (देशी) शब्द 1500 हैं।

वर्णक्रम से लिखे गये इस कोश में आठ अध्याय हैं और कुल 783 गाथाएँ हैं। जैसे धनपालकवि की पाइयलच्छीनाममाला प्राकृत के आरम्भिक अभ्यासियों के लिए

उपयोगी है, उसी तरह यह नाममाला प्रौढ़ विद्वानों के लिए भी उपयोगी है।

देशीनाममाला में मराठी, कन्नड़, गुजराती, ब्रज और अवधी भाषा के कई शब्द पाये जाते हैं। अतः प्राकृत भाषा के साथ-साथ अन्य प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के शब्दों को अवगत करने के लिए यह कोश बहुत उपयोगी है।

वस्तुकोश— यह कोश वररुचि, हलायुध, शाश्वत, अमरसिंह आदि के कोशों को देखकर बनाया गया है। इसके रचयिता नागवर्म द्वितीय हैं। इस कोश में कन्नड़ भाषा में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत शब्दों का अर्थ पद्यमय रूप से किया गया है। इसका रचना काल 1139-1149 ईसवी है। संस्कृत-कन्नड़ का यह सबसे बड़ा कोश माना जाता है।

लिङ्गानुशासन— यह भी हेमचन्द्र प्रणीत एक लघु अभिधानकोश है। इसमें 138 श्लोक हैं। इसके सात विभाग हैं। पहले पुलिंगाधिकार में 17, दूसरे स्त्रीलिंगाधिकार में 33, तीसरे नपुंसकलिंगाधिकार में 24, चौथे पुंस्त्रीलिंगाधिकार में 12, पाँचवें पुनपुंसकलिंगाधिकार में 36, छठे स्त्रीनपुंसकलिंगाधिकार में 5 तथा स्वतस्त्रिलिंगाधिकार में मात्र 6 श्लोक हैं, अन्त में ५ श्लोक और-भी हैं। उसके बाद 38 श्लोकों में निबद्ध 'एकाक्षर कोश' भी है, जिसमें केवल एक अक्षर वाले शब्दों के विविध अर्थों का उल्लेख किया गया है।

विश्वलोचनकोश— श्रीधरसेन कृत इस कोश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका दूसरा नाम मुक्तावलि कोश भी है। इसका रचना काल १४वीं शती है। यह कोश विद्यार्थियों एवं प्रौढ़विद्वानों को समान उपयोगी है। अनेक ग्रन्थों में इसके उद्धरण मिलते हैं। इस कोश में 245 श्लोक हैं। इनमें स्वरवर्ण और ककार आदि के क्रम से शब्दों का संकलन किया गया है। सम्पादक के अनुसार, "संस्कृत में कई नानार्थ कोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं कि कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थों को बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरों में प्रायः इससे कम ही बतलाया है।

नाममाला शिलोच्छ— जिनदेवसूरि ने अभिधानचिन्तामणि के पूरक के रूप में विक्रम संवत् 1433 में इसकी रचना की थी। इसमें 149 श्लोक हैं।

शेषनाममाला— हेमचन्द्र कृत यह कोश पाँच खंडों में विभक्त है। कुल श्लोक संख्या 208 है। पहले देवाधिकांड में 2, दूसरे कांड में 90, तीसरे कांड में 65, व चौथे कांड में 40 और पाँचवें नारक कांड में 2 तथा 9 अन्य श्लोक हैं। यह लोक-प्रचलित शब्दावली का एक सुन्दर संग्रह दिखाई देता है।

अनेकार्थ ध्वनिमंजरी— यह एक लघुकाय रचना है। इसके रचयिता कोई जैन मुनि हैं। इसमें कुल 224 श्लोक व तीन परिच्छेद हैं। प्रथम श्लोकाधिकार में 104,

द्वितीय अर्द्धश्लोकाधिकार परिच्छेद में 87 और तृतीय पदाधिकार परिच्छेद में 33 श्लोक हैं। यह एक अनेकार्थक कोश है। इसके प्रथम परिच्छेद में एक श्लोक में एक शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख है। दूसरे परिच्छेद में मात्र आधे श्लोक में ही शब्द का अर्थ वर्णित है और तृतीय परिच्छेद में चौथाई श्लोक में एक शब्द के अनेक अर्थ निबद्ध हैं। साथ ही कुछ नवीन शब्दों का संकलन भी इस कोश में मिलता है।

द्विरूपकोश निघंटु— यह हर्ष कवि कृत कोश अद्यावधि अप्रकाशित है। कोश में कुल 230 श्लोक हैं। अनुमानतः यह किसी जैन कवि की रचना है। इसकी ताडपत्रीय प्रति दि.जैन मठ चित्तामूर में सुरक्षित है।

एकाक्षरनाममाला— यह 115 श्लोकों की लघु रचना है। इसके रचयिता जैनमुनि विश्वशम्भु हैं। इसमें वर्णादिक्रम से एक-एक वर्ण का अलग-अलग अर्थ बताया गया है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध एवं प्राचीन संस्कृत, प्राकृत एवं देशी कोश साहित्य के अतिरिक्त कुछ ऐसे कोशों की सूचनाएँ मिलती हैं। इनमें एक एकाक्षर नाममाला के लेखक जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र हैं। इसमें एक-एक अक्षर का वर्णमाला क्रम से अर्थ बतलाया गया है। दूसरी रचना राजशेखर के शिष्य सुधाकैलाशकृत है; इसमें मात्र 50 पद्य हैं; जिनमें वर्णमाला क्रम से एक-एक वर्ण का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। एक अन्य एकाक्षर नाममाला धनञ्जय की नाममाला में अमरकीर्ति-कृत भाष्य के साथ प्रकाशित है। इसमें कुल 19 श्लोक हैं। रचना साधारण है। स्वरविशिष्ट एक-एक अक्षर का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तम देवकृत त्रिकांडशेष, हारावली और एकाक्षर कोश के भी उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि ये रचनाएँ अभी तक अप्राप्त हैं।

रामचन्द्रकृत 'देश्य-निदेश-निघंटु' और विमलसूरिरचित 'देश्य शब्द समुच्चय' भी उपयोगी हैं। संवत् 1640 में विमलसूरि ने देशीनाममाला के शब्दों का सार लेकर अकारादिक्रम से देश्यनिदेशनिघंटु की रचना की। पुण्यरत्नसूरिकृत द्व्यक्षरकोश, असगकविकृत नानार्थ कोश, रामचन्द्रकृत नानार्थसंग्रह एवं हर्षकीर्तिरचित नाममाला की गणना भी उपयोगी कोशों में की जाती है।

शब्दप्रभेदानाममाला अथवा शब्द-भेद-प्रकाश की रचना महेश्वर कवि ने की है। इसका एक प्रचलित नाम विश्वप्रकाश भी है। खरतरगच्छीय भानुकेस के शिष्य जिनविमल ने इसकी वृत्ति संवत् 1654 में लिखी। साधुकीर्ति उपाध्याय के शिष्य साधुसुन्दर गणि ने शब्दरत्नाकर की रचना की है। इस कोश में 6 कांड और 1011 श्लोक हैं। तपागच्छीय सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने नामसंग्रहकोश की रचना की है। हर्षकीर्ति सूरि की लघुनाममाला भी भाषा और साहित्य के अभ्यासी को उपयोगी कृतियाँ हैं। धनमित्र रचित एक निघंटु की सूचना भी मिलती है। अनेकार्थ कोश की सूचना मदन पराजय

के कर्ता के नाम से मिलती है। इनके अलावा अमरकोश की कई जैनटीकाएँ भी मिलती हैं, जिनमें आशाधर कृत क्रियाकलाप टीका महत्वपूर्ण है।

संस्कृत, प्राकृत भाषा के कोशों के अतिरिक्त जैनाचार्यों/कोशकारों ने कन्नड़, हिन्दी आदि भाषाओं में भी कोशों की रचना की है। कवि बनारसीदास ने संवत् 1670 में विजयादशमी के दिन अपने मित्र नरोत्तम के अनुरोध पर हिन्दी नाममाला रची। इस रचना का प्रमुख आधार धनञ्जयनाममाला है, परन्तु यह पद्यानुवाद मात्र नहीं है। कवि ने दूसरे कई कोशग्रन्थों का अध्ययन कर इसे सब तरह से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। इसमें कुल 175 पद्य हैं, जिनमें 350 विषयों के नामों का सुन्दर प्रतिपादन है।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण— यह पं. दामोदर कृत 12वीं शती की रचना है। इसमें देश्य शब्दों का संग्रह किया गया है। यह रचना तत्कालीन लोकबोली का सम्यक् परिचय देती है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम प्रयोगप्रकाश भी है।

उक्तिरत्नाकर— इसके रचयिता सुन्दरगणि हैं। इसकी रचना 17वीं शती में हुई। इसमें देश्यभाषा के सभी प्रकार के उक्ति-मूलक प्रयोगों का संग्रह है। देश्य भाषा के संस्कृतरूप जानने के लिए भी यह अत्यन्त उपयोगी है। उक्तिरत्नाकर का एक अन्य नाम औक्तिक पद है।

उपर्युक्त संस्कृत, प्राकृत एवं देश्य कोश ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक युग में भी विविध कोश ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इन आधुनिक कोशों का प्रारम्भ उन्नीसवीं शती से माना जा सकता है। यद्यपि इन कोशों की रचना-शैली का आधार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्मित कोश रहे हैं, तथापि भारतीय कोशकारों द्वारा आवश्यकता के अनुसार यथोचित परिवर्तन-परिवर्धन भी होते रहे हैं। पिछली दो शताब्दियों में जैन सन्तों एवं अन्य विद्वानों द्वारा जैनदर्शन, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं अन्य क्षेत्रों में विभिन्न कोशों का निर्माण किया गया है।

अभिधानराजेन्द्रकोश— इस कोश का निर्माण श्री विजय राजेन्द्र सूरि ने किया। इसमें अकारादि क्रम से प्राकृत शब्द, संस्कृत रूप, तदनन्तर व्युत्पत्ति, लिंगनिर्देश उसके बाद उसका अर्थ दिया गया है। कोश की श्लोक संख्या 450000 परिमाण है, जिनमें 60000 प्राकृत शब्दों का संकलन/व्याख्यान है। कोश के कुल 10560 पृष्ठ हैं, जो सात भागों में विभाजित हैं। अपने विशाल आकार-प्रकार के कारण इसे महाकोश भी कहा गया है। प्रकाशक जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम ने इसके सात भाग इसवी सन् 1910 से 1925 तक छापे हैं। इस कोश की अपनी उपयोगिता एवं महत्ता है। कोशकार ने इसमें प्राकृत जैन आगम, वृत्ति, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि आदि में उल्लिखित सिद्धान्त, इतिहास, शिल्प, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि का संग्रह किया है। इस कोश की अपनी सीमा भी है। इसमें मात्र अर्धमागधी प्राकृत जैन आगमों का उपयोग

किया गया है। साथ ही यह एक उद्धरण-कोश जैसा बन गया है। इसलिए विद्वानों ने इसकी आलोचना भी की है।

पाइयसदंबुहि (प्राकृत शब्दाम्बुधि) — इसके रचयिता विजयराजेन्द्रसूरि हैं। रचनाकाल 1899 ईसवी है। अभिधानराजेन्द्र के लगभग एक दशक बाद इसका सम्पादन हुआ था। यह शब्दकोश अभिधान राजेन्द्र का ही लघु संस्करण है। सम्भवतः यह अप्रकाशित है।

अर्धमागधी कोश — इस कोश के रचयिता मुनि रतनचन्द्र शतावधानी हैं। यह कोश मूलतः गुजराती में लिखा गया था और इसका हिन्दी एवं अँग्रेजी रूपान्तर अन्य विद्वानों ने किया था। कोश के चार भागों में पहला भाग सन् 1923 में, दूसरा भाग सन् 1927 में, तीसरा भाग सन् 1929 में तथा चौथा भाग सन् 1932 में प्रकाश में आया। कोश के कुल 3600 पृष्ठ हैं। प्राकृत कोश की विशेषता यह है कि इसमें सभी मूल उद्धरण दिये गए हैं। ये उद्धरण संक्षिप्त होने पर भी उपयोगी हैं। इस कोश में विशेषावश्यक भाष्य, पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। साथ ही प्रत्येक शब्द के साथ उसका व्याकरण भी है। प्रत्येक भाग में कुछ चित्रों का भी संयोजन है।

अर्धमागधी कोश का एक अन्य नाम An Illustrated Ardha-Magadhi Dictionary भी है। इसका प्रकाशन S.S. Jain Conference इन्दौर द्वारा हुआ। कोश के परिशिष्ट के रूप में इसका पाँचवाँ भाग भी सन् 1838 में निकला। इसमें अर्धमागधी, देशी तथा महाराष्ट्री शब्दों का संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अँग्रेजी भाषाओं के अनुवाद के साथ प्रकाशन हुआ; परन्तु उनका व्याकरण यहाँ नहीं दिया गया है। यह भाग भी लगभग 900 पृष्ठों का है। मुनि श्री का यह श्रम छात्रों, अध्यापकों तथा शोधकर्ताओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है।

पाइयसदमहण्णवो (प्राकृतशब्दमहार्णवः) — यह प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण एवं उपयोगी कोश है। कोश के निर्माता पं. हरगोविन्द त्रिविक्रमचन्द्र सेठ हैं। श्री सेठ कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा के प्राध्यापक थे। अकेले एक व्यक्ति द्वारा 14 वर्षों के कठोर परिश्रम से यह प्रामाणिक कोश बनाया गया। सम्पादक के अनुसार, इसमें प्राकृत के विविध भेदों और विषयों के जैन-जैनतर साहित्य के यथेष्ट शब्दों का संकलन, आवश्यक अवतरणों से युक्त, शुद्ध एवं प्रामाणिक रीति से किया गया है। कोश के निर्माण में लगभग 300 ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। प्रायः प्रत्येक शब्द के साथ सम्बद्ध ग्रन्थ का प्रमाण दिया गया है। एक शब्द के जितने सम्भावित अर्थ ही सकते हैं, उनका कोश में समावेश किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त प्रायः सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं, तथापि यह कोश प्राकृत भाषा मात्र के लिए उपयोगी है। सन् 1928 में जब इसका प्रथम संस्करण निकला था, तब तक

बहुत कम प्राकृत साहित्य प्रकाश में आ पाया था, कई ग्रन्थों का विधिवत् सम्पादन भी नहीं हुआ था, अतएव अद्यतन संस्करण निकालने की आवश्यकता है।

पुरातन जैन वाक्य-सूची— यह एक विशेष प्रकार का कोश-ग्रन्थ है। इसके सम्पादक पं. जुगल किशोर मुख्तार हैं। इस कोश में 64 मूल ग्रन्थों के पद्य या वाक्य अकारादि क्रम से संयोजित हैं। साथ ही इसमें 48 टीकादि व्याख्यात्मक ग्रन्थों में उद्धृत प्राकृत पद्य भी संगृहीत हैं। इस तरह इस कोश में 25352 प्राकृत पद्यों की अनुक्रमणिका है। कोश के आधारभूत ग्रन्थ प्रायः दिगम्बर परम्परा के हैं। सन् 1950 में वीर सेवा मन्दिर से इसका प्रकाशन हुआ। प्रारम्भ में 168 पृष्ठों की महत्वपूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें सम्पादक ने उपयुक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के समय व योगदान पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। जैनविद्या के शोधकर्ताओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह— यह भी एक विशिष्ट कोश है। इसका प्रकाशन दो भागों में वीर सेवा मन्दिर से हुआ। प्रथम भाग का प्रकाशन सन् 1954 में पं. परमानन्द शास्त्री के सहयोग से पं. जुगलकिशोर मुख्तार के सम्पादकत्व में हुआ। इसमें प्राकृत, संस्कृत भाषाओं के 171 ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संकलन है। इन प्रशस्तियों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इनमें संघ, गण, गच्छ, वंश, गुरु-परम्परा, स्थान, समय आदि का विवरण मिलता है। इस भाग में कुछ परिशिष्ट दिए गये हैं, जिनमें प्रशस्ति में आये भौगोलिक नामों, संघों, गणों, गच्छों, स्थानों, राजाओं, राजमन्त्रियों, विद्वानों, आचार्यों, भट्टारकों तथा श्रावक-श्राविकाओं के नामों की सूची आदि अकारादिक्रम से संयोजित की गयी है। प्रथम भाग के लिए पं. परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना (पृष्ठ 1-113) अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रशस्तिसंग्रह के द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् 1963 में वीर सेवा मन्दिर, देहली से हुआ। इसमें विशेषकर अपभ्रंश ग्रन्थों की 122 प्रशस्तियाँ संकलित हैं। ये प्रशस्तियाँ साहित्य और इतिहास के साथ ही सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों पर गहरा प्रकाश डालती हैं। इसकी अधिकांश प्रशस्तियाँ अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों से ली गयीं हैं। ग्रन्थ में कुछ परिशिष्ट हैं, जिनमें भौगोलिक, ग्राम, नगर, नाम, संघ, गण, गच्छ, राजा आदि को अकारादि क्रम से रखा गया है। सम्पादक पं. परमानन्द शास्त्री की 150 पृष्ठीय प्रस्तावना बहुत उपयोगी है।

प्रशस्ति-संग्रह— इसका सम्पादक पं. के. भुजबली शास्त्री द्वारा किया गया। वि. सं. 1909 में जैन सिद्धान्त भवन, आरा से इसका प्रकाशन हुआ। इसमें 39 ग्रन्थकारों द्वारा लिखित प्रशस्तियाँ और साथ में उनका संक्षिप्त सारांश हिन्दी में दिया गया है।

जैन जेम डिक्शनरी (Jain Gem Dictionary)— इसका सम्पादन जुगमन्थरलाल जैन (जे. एल. जैनी) ने किया था। सन् 1919 में आरा से इसका प्रकाशन हुआ। जैन

धर्म-दर्शन को अँग्रेजी माध्यम में प्रस्तुत करने में श्री जैनी का महत्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय योगदान है।

जैन पारिभाषिकों को समझने के लिए यह एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस कोश का उद्देश्य एक ही जैन पारिभाषिक के विभिन्न अनुवादों में भिन्न-भिन्न अँग्रेजी पर्यायों से बचाव करके एकरूपता पैदा करना है और जैन-जैनेतर पाठकों के मन में सम्भावित दुविधा या भ्रान्ति का निवारण करना है। इसका मूल आधार पं. गोपालदास बरैयाकृत जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मानी जाती है।

बृहज्जैन शब्दार्णव— यह कोश वी.एल.जैन और शीतलप्रसाद जैन ने तैयार किया था। इसका सन् 1924 और 1934 में दो भागों में प्रकाशन किया गया।

जैन कवको— यह एक लघु कोश है। इसके लेखक बलभी छगनलाल हैं। इसका प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ था। इस कोश में प्राकृत शब्दों का गुजराती में अनुवाद किया गया है।

इंग्लिश प्राकृत डिक्शनरी— इसकी रचना एच.आर. कापडिया ने की थी। सन् 1941 में सूरत से इसका प्रकाशन हुआ था।

अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश— इस कोश का निर्माण आनन्दसागर सूरि द्वारा किया गया। सन् 1954 में इसका पहला भाग सूरत से प्रकाशित हुआ। इस कोश में जैन सैद्धान्तिक शब्दों को संक्षेप में विश्लेषित किया गया है। बाद में इसके तीन भाग और प्रकाशित हुए।

लेश्याकोश— इस कोश के सम्पादक मोहनलाल वांठिया और श्रीचन्द चोरड़िया हैं। सन् 1966 में कलकत्ता से इसका प्रकाशन हुआ। इसमें सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण पद्धति से 100 वर्गों में विभाजित किया गया है और आवश्यकता के अनुसार उसे यत्र-तत्र परिवर्तित भी किया गया है। मूल विषयों में से अनेक विषयों के उपविषयों की सूची भी इसमें दी गयी है। ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण के तीन आधार हैं— 1. पाठों का मिलान, 2. विषय के उपविषयों का वर्गीकरण तथा 3. हिन्दी अनुवाद। मूल पाठ को स्पष्ट करने के लिए टीकाकारों का आधार लिया गया है। यद्यपि इस संकलन को श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों तक सीमित रखा गया है, तथापि सम्पादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के कार्य में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति आदि व्याख्याओं तथा सिद्धान्त-ग्रन्थों का यथोचित उपयोग हुआ है। कोश में 43 ग्रन्थों का उपयोग हुआ है। सम्पादक ने दिगम्बर-सम्प्रदाय-गत ग्रन्थों के आधार पर स्वतन्त्र लेश्याकोश प्रकाशित करने का सुझाव दिया है।

विद्वद् विनोदिनी— इसका संकलन एवं सम्पादन भागचन्द्र जैन भास्कर ने किया है। इसमें संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती साहित्य में उपलब्ध प्रहेलिकाओं

का संग्रह किया गया है। इसका प्रकाशन अमोल जैन ज्ञानालय, धूलियाँ से सन् 1968 में हुआ।

क्रियाकोश— इस ग्रन्थ के भी सम्पादक मोहनलाल बांठिया और श्री चन्द चोरड़िया हैं। सन् 1969 में जैनदर्शन समिति कलकत्ता ने इसका प्रकाशन किया है। इस कोश का संकलन भी दशमलव वर्गीकरण के आधार पर किया गया है और उनके उपविषयों की एक लम्बी सूची है। क्रिया के साथ कर्म विषयक सूचनाएँ भी इसमें दी गयी हैं। लेश्या-कोश के समान इसके सम्पादन के भी तीन आधार हैं। क्रिया कोश में 45 श्वेताम्बर आगमों का उपयोग हुआ है। कुछ दिगम्बर परम्परा के आगमों का भी उपयोग हुआ है।

जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश— इस कोश के रचयिता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी हैं। कोश का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ ने चार भागों में सन् 1970 से 1973 के बीच किया। इसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचारशास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक व पौराणिक व्यक्ति, राजवंश, आगम, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक व दार्शनिक सम्प्रदाय आदि से सम्बद्ध लगभग 6000 शब्द तथा 2100 विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। कोश की सामग्री संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखित लगभग 100 प्राचीन ग्रन्थों से ली गयी है। मूलसन्दर्भ एवं उद्धरण के साथ-साथ हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। कोश में आवश्यक रेखाचित्र तथा सारणियाँ दी गयी हैं, जिससे विषय और-अधिक स्पष्ट हो गया है। विषय, प्रस्तुति और मुद्रण की दृष्टि से यह कोश सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। कोश में अधिकतर दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों का उपयोग हुआ है।

कोश के परिशिष्ट के रूप में पाँचवाँ भाग भी निकला है। इसमें चारों भागों के शब्दों-विषयों का सन्दर्भ सहित विस्तृत विवरण दिया गया है।

ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रापर नेम्स— इस कोश का सम्पादन मोहनलाल मेहता और के. आर. चन्द्र ने मिलकर किया। सन् 1972 में एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, अहमदाबाद ने इसे दो भागों में प्रकाशित किया है। यह कोश जैन साहित्य विशेषतया अर्धमागधी (श्वेताम्बर) आगमों में उल्लिखित व्यक्तिगत नामों के सन्दर्भ में प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य को लेकर ऐसा एक कोश नितान्त अपेक्षित है।

जैन लक्षणावली— यह एक जैन पारिभाषिक-कोश है। इसका सम्पादन बालचन्द्र शास्त्री ने किया। इस कोश में लगभग 400 दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों से उन शब्दों का संकलन किया गया है, जो पारिभाषिक हैं, अर्थात् जिनकी कुछ न कुछ परिभाषा उपलब्ध होती है। जैनदर्शन के सन्दर्भ में यह एक-मात्र ऐसा परिभाषा-

कोश है, जिसमें एक ही स्थान पर विकासक्रम की दृष्टि से परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। साथ ही प्रत्येक शब्द के साथ विशेष परिभाषाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमसंख्या के साथ दिया गया है।

आकारादिक्रम से तीन भागों में विभक्त कोश का प्रकाशन क्रमशः ईस्वी 1972, 1975 एवं 1981 हुआ।

आगम शब्द कोश— (प्राकृत)—भाग-1, जैन विश्वभारती लाडनूँ द्वारा सन् 1980 में इस कोश का प्रकाशन हुआ। इसमें आचारांगादि 11 आगमों में आये शब्दों का संग्रह है। साथ ही उन-उन आगमों का स्थान-निर्देश इसमें किया गया है।

जैन बिब्लियोग्राफी : यूनिवर्सल एन्सायक्लोपीडिया ऑफ जैन रेफरेन्स— जैन सन्दर्भों की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कोश (विश्वकोश) है। मूलतः इस कोश की योजना एवं सामग्री का संकलन सन् 1945 में बाबू छोटेलाल जी ने किया था। बाद में इसका संशोधन एवं सम्पादन आ.ने. उपाध्ये द्वारा किया गया और 1982 में इसका द्वितीय संशोधित संस्करण निकला। इस कोश में देश-विदेश में प्रकाशित ग्रन्थों और पत्रिकाओं से ऐसे सन्दर्भों को विषयानुसार एकत्रित किया गया है, जिनमें जैनधर्म एवं संस्कृति से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की सामग्री प्रकाशित है। कोशगत सामग्री को आठ विभागों में बाँटा गया है।

यह कोश दो भागों में विभक्त है। दोनों भागों की प्रविष्टियाँ 2916 हैं। कुल पृष्ठ संख्या 1918 है। पहला भाग 1044 पृष्ठों में पूरा होता है। शेष पृष्ठ दूसरे भाग के हैं। निःसन्देह यह कोश भारतीय, विशेषतः जैन संस्कृति से सम्बद्ध शोधकार्य हेतु उपयोगी सन्दर्भ-ग्रन्थ है। इसे अद्यतन करने की आवश्यकता है।

निरुक्त-कोश— (प्राकृत)—अर्धमागधी आगमों में प्रयुक्त प्राकृत शब्दों का अर्थ जानने के लिए यह कोश अधिक उपयोगी है। कोश के सम्पादन-निर्देशक आचार्य महाप्रज्ञ हैं। ई. सन् 1984 में इसे जैनविश्वभारती, लाडनूँ ने प्रकाशित किया है।

देशी शब्द-कोश— हेमचन्द्रसूरि प्रणीत देशीनाममाला के देश्य शब्दों के अर्थज्ञान के लिए उत्तम रचना है। इस कोश का सम्पादन निर्देशन आचार्य महाप्रज्ञ ने किया है। ई. सन् 1988 में जैनविश्व भारती, लाडनूँ से इसका प्रकाशन हुआ है। 439 पृष्ठीय इस कोश में लगभग 10,000 शब्द सन्दर्भ-सहित संगृहीत हैं।

अपभ्रंश हिन्दी कोश— अपभ्रंश जैन साहित्य की प्रमुख भाषाओं में एक है, परन्तु अपभ्रंश का कोई स्वतन्त्र कोश नहीं मिलता। प्राकृत कोशों से ही इसका काम चलाया जाता है। वस्तुतः प्राकृत कोश से अपभ्रंश कोश की पूर्ति होती नहीं है।

अपभ्रंश के क्षेत्र में सम्भवतः यह एक पहला स्वतन्त्र कोश है। इसके सम्पादक डॉ. नरेशकुमार हैं। 869 पृष्ठीय इस कोश में 23000 शब्द विश्लेषित हैं। इस कोश

में मूल अपभ्रंश शब्द, संस्कृत रूप, व्युत्पत्ति, अर्थ और अपेक्षित सन्दर्भ आदि प्रामाणिकता से प्रस्तुत किये गए हैं। इसका प्रथम संस्करण 1987 ई. में प्रकाशित हुआ। द्वितीय संशोधित एवं विस्तृत संस्करण सन् 1999 ई. में निकला। इस कोश का प्रकाशन डी.के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., नयी दिल्ली द्वारा हुआ है।

सामान्यतः यह माना जाता है कि प्राकृत के कोशों से ही अपभ्रंश के अध्ययन में सहायता मिल जाती है, परन्तु कई विद्वानों का यह सघन अनुभव है कि अपभ्रंश के सैकड़ों ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ प्राकृत के शब्द से अलग है। अतः अपभ्रंश भाषा के स्वतन्त्र कोश की अपेक्षा निरन्तर बनी रही। इस प्रकाशन से उक्त कमी की एक हद तक पूर्ति हो गयी है।

डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन शास्त्री भी अपभ्रंश कोश हेतु कार्य कर रहे थे; परन्तु उनके दिवंगत हो जाने पर वह कार्य कहाँ, किस स्थिति में है? उसे प्रकाश में आना चाहिए।

प्राकृत हिन्दी कोश— यह पाइयसद्महण्णवो का एक संक्षिप्त और अपेक्षकृत लघुकाय संस्करण है। इसका सम्पादन डॉ. के. आर. चन्द्र ने किया है। इसमें बृहत्काय पाइयसद्महण्णवो के अधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण शब्दों का संकलन है। ईस्वी सन् 1987 में प्राकृत जैन विकास फंड, अहमदाबाद ने इसका प्रकाशन किया।

डिक्शनरी ऑफ प्राकृत लैंग्वेज— यह एक महत्त्वाकांक्षी विशाल योजना है। भंडारकर शोध संस्थान, पूना द्वारा लगभग 2 दशक पूर्व यह कार्य प्रारम्भ हुआ था। बहुत समय तक प्रो. घाटगे के कुशल निर्देशन में यह कार्य चला। अब तक इस कोश के 1800 (अ से ऊ वर्ण तक) पृष्ठ प्रकाशित हो चुके हैं। इस कोश में प्राकृत शब्दों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कुन्दकुन्द कोश— यह एक लघुकाय जेबी कोश है। इसके सम्पादक डॉ. उदयचन्द्र जैन उदयपुर हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को आधार बनाकर इसकी रचना की गयी है। जैन परम्परा में सम्भवतः यह प्रथम कोश है, जिसमें किसी एक आचार्य/लेखक की कृतियों को आधार बनाया गया है। इस कोश का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन साहित्य संरक्षण समिति, विवेकविहार दिल्ली द्वारा वीर निर्वाण संवत् 2517 (ई. 1991) में हुआ।

प्राकृत हिन्दी शब्दकोश— इस कोश के सम्पादक भी डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर हैं। यह कोश दो भागों में प्रकाशित है। इस कोश में विविध साहित्य से शब्दों का चयन करके उन्हें संयोजित किया गया है। विशेषकर शौरसेनी प्राकृत के शब्दों को देखने-समझने की दृष्टि से यह कोश उपयोगी है। इसका प्रकाशन सन् 2005 में न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली ने किया है।

सुधासागर हिन्दी इंग्लिश डिक्शनरी— इसके सम्पादक डॉ. रमेशचन्द्र जैन,

बिजनौर हैं। यह एक पारिभाषिक कोश है। इसमें प्रत्येक पारिभाषिक का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। ऋषभदेव जैन ग्रन्थमाला, सांगानेर, जयपुर से इसका प्रकाशन हुआ है।

मूलाचार वसुनन्दि पारिभाषिक कोश— इसमें मूलाचार की वसुनन्दिकृत व्याख्या के आधार पर पारिभाषिकों की व्याख्या दी गयी है। इस कोश के सम्पादक भी डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर हैं। इनके द्वारा षट्खंडागम-ध्वला-जीवट्टाण कोश के रूप में एक अन्य पारिभाषिक-कोश का कार्य प्रगति पर है।

जैन उद्धरण कोश— यह एक विशेषप्रकार का कोश है। इसमें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के व्याख्यात्मक साहित्य से उद्धरणों का चयन एवं संकलन कर उन्हें अकारादि क्रम से संयोजित किया गया है। मूलतः यह कार्य बी.एल. इस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, दिल्ली की शोध एवं प्रकाशन योजना से सम्बद्ध है। इस कोश की सामग्री का संकलन एवं सम्पादन प्रकृत आलेख के लेखक ने स्वयं किया है। उक्त कोश को तीन या चार भागों में प्रकाशित करने का प्रस्ताव है। इसका पहला भाग सन् 2003 में बी.एल.आई. एवं एम.एल.बी.डी. द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसमें ईसवी चौथी शती से 9वीं शती तक के व्याख्यात्मक साहित्य से लगभग 11000 उद्धरणों का संयोजन है। दूसरा भाग भी सन् 2010 में इसी संस्थान से प्रकाशित हो चुका है। इसमें ईसवी 10-12 शती के साहित्य से लगभग 12000 उद्धरणों का संकलन है। कोश का तीसरा भाग मुद्रणाधीन है। यह कोश ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें जैन परम्परा के व्याख्यात्मक साहित्य में उद्धृत वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के प्राप्त व अप्राप्त ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों के उद्धरण संयोजित हैं।

भिक्षु आगम विषय कोश— इस कोश में आगम के विषयों को संगृहीत किया गया है। इसका प्रथम भाग ई. सन् 1996 में जैन विश्वभारती से प्रकाशित हुआ। जिसमें अर्धमागधी (श्वेताम्बर) परम्परा में मान्य पाँच आगमों— आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार तथा इनके व्याख्या ग्रन्थों के आधार पर विषयों का व्याख्यान मूल-सन्दर्भ तथा हिन्दी अनुवाद सहित किया गया है। इस कोश के दूसरे भागों में आचारचूला, निशीथ, दशा, कल्प और व्यवहार तथा इनके व्याख्या-ग्रन्थों के आधार पर विषयों का विश्लेषण है। विशेषता यह है कि उनका मूल पाठ एवं हिन्दी अनुवाद साथ में है। इस भाग का प्रकाशन ई. 2005 में हुआ। आगे का कार्य प्रगति पर है। यह एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी कोश है।

जैन पारिभाषिक शब्दकोश— इसका प्रकाशन जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ से सन् 2009 में हुआ है। इसकी विशेषता यह है कि इस कोश में श्वेताम्बर

और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का उपयोग हुआ है। यह शब्दकोश का हिन्दी संस्करण है। इसका संस्करण भी प्रकाशित हुआ है। इस कोश में पारिभाषिक, उसका मूलपाठ, एवं हिन्दी अनुवाद दिया गया है। यह एक महत्वपूर्ण कोश है।

अहिंसा विश्वकोश— इसके सम्पादक नन्दकिशोर आचार्य हैं। प्रकाशक प्राकृत भारती अकादमी जयपुर एवं भंवरलाल-कांताबाई जैन मल्टी पर्पज फाउंडेशन, जलगाँव है। इसका प्रथम संस्करण 2010 ई० है। इस विश्वकोश में विभिन्न धर्मों और दर्शनों में विकसित अहिंसा के सिद्धान्त हैं। इसमें अहिंसा के विभिन्न आयाम प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ पर अपरिग्रह विश्वकोश पर कार्य चल रहा है।

मुनि दीपसागरकृत आगम सद्दकोसो, जिनेश्वर सूरि कृत कथाकोशप्रकरण, जिनरत्नकोश भा-1, जैन क्रियाकोश, नानार्थोदय सागर कोश— घासीलाल जी कृत, आर्यिका चन्दनामती कृत भगवान महावीर हिन्दी अँग्रेजी जैनशब्दकोश, आर्यिका विशुद्धमती कृत-रत्नत्रय पारिभाषिक कोश, Encyclopaedia of Jainism-P.C. Nahar, K.C. Ghosal, Encyclopaedia of Jainis-Nagendra Kumar Singh. मुनि राकेश कुमार कृत जैन योग पारिभाषिक शब्दकोश, पुद्गल कोश-बाँठियाकृत, वर्धमान जीवन कोश-बाँठियाकृत, योगकोश भाग 1-2, एकार्थक कोश, जैन आगम वनस्पति कोश, जैन आगम प्राणी कोश, जैन आगम वाद्य कोश आदि भी हैं। ये कोश प्रत्यक्षतः देख नहीं पाने से उनके विशेष परिचय नहीं दिये जा रहे हैं।

जैन पुराणकोश— जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी द्वारा सन् 1993 में इसका प्रकाशन हुआ। इसमें 12609 नाम संकलित हैं। इसमें पारिभाषिक तथा संज्ञा शब्दों का व्याख्यासहित संकलन किया गया है। इस कोश का आधार पद्मपुराण, महापुराण, हरिवंश पुराण, पांडव पुराण और वीरवर्धमान चरित ये पाँच पुराण हैं।

इस प्रकार जैन सन्तों एवं अन्य ग्रन्थकारों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, देशी तथा आधुनिक भाषाओं के प्राचीन व आधुनिक कोशादि ग्रन्थों का यह संक्षिप्त विवरण है। वर्तमान में भी अनेक विद्वानों, संस्थानों द्वारा जैन-दर्शन-विषयक कोशों एवं विश्वकोशों पर कार्य चल रहे हैं।

इस आलेख में यह दृष्टि और प्रयत्न रहा है कि जैन परम्परा से सम्बद्ध किसी भी प्रकाशित-अप्रकाशित, उपलब्ध-अनुपलब्ध कोश ग्रन्थ का न्यून या अधिक परिचय एक स्थान पर मिल जाये।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में कोश प्रणयन की एक विस्तृत शृंखला है, जिससे भारतीय वाङ्मय समृद्ध एवं गौरवशाली बना है। जैन सन्तों, विद्वानों ने भारत की विभिन्न भाषाओं में विविध प्रकार के कोशों का निर्माण करके विविध

अपेक्षाओं/आवश्यकताओं की पूर्ति की है। कोश-लेखन की यह परम्परा प्राचीन काल से आज तक न्यूनाधिक रूप में निरन्तर गतिमान है।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा—आचार्य श्री मधवा निर्वाण शताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदार शहर, राजस्थान, द्वितीय संस्करण, सन् 1993।
2. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, प्रथमखंड, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, ईस्वी सन् 1982 (जैन कोश साहित्य, पृष्ठ 177-190)।
3. प्राकृत साहित्य और भारतीय परम्पराएँ, प्राकृत अध्ययन ग्रन्थमाला 1, ईस्वी सन् 2010, (प्राकृत कोश साहित्य परम्परा, पृष्ठ 389-403)।
4. अपभ्रंश हिन्दी कोश, सम्पादक-नरेश कुमार, प्रकाशक-मुद्रक-डी.के.प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., नई दिल्ली, ई. सन् 1999
5. प्राकृत हिन्दी शब्दकोश, सम्पादक-उदयचन्द्र जैन, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली 'अ' से 'न', प्रथम भाग ई. 2005, ('प' से 'ह' भाग 2) ई. 2005
6. वृहद् संस्कृत हिन्दी शब्द कोश, भाग 1-3, सम्पादक-उदयचन्द्र जैन, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2006
7. जैन पारिभाषिक शब्दकोश (हिन्दी संस्करण) मुख्य सम्पादक-युवाचार्य महाश्रमण, सम्पा. साध्वी विश्रुत विभा. जैन विश्व भारती, लाङ्गून, ई. सन् 2009
8. अहिंसा विश्वकोश, सम्पादक-नन्दकिशोर आचार्य, प्राकृत भारती पुष्प 284, जयपुर, सन् 2010

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र

डॉ. कमलेश कुमार जैन

संस्कृत अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में जैनधर्म के अनुयायी संस्कृतज्ञों की सेवा विशेष महत्त्व रखती है। सम्प्रदायगत भेद के होते हुए भी जैन-आचार्यों ने दर्शनादि दूसरे विषयों के अनुरूप अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी चिन्तन में पूर्णरूपेण साधिकार योगदान किया है और यही कारण है कि उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनके मनन के बिना संस्कृत अलंकारशास्त्रों की पूर्णता और व्यापकता का ज्ञान सम्भव नहीं है। इन आचार्यों ने प्रतिष्ठित अलंकार-सम्बन्धी सिद्धान्तों का मौलिक ढंग से विवेचन किया है और काव्य के सभी उपादानों पर विचार प्रस्तुत किये हैं। अतः संस्कृत अलंकारशास्त्र में जैनाचार्यों की देन महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीनतम आचार्य भरतमुनि के नाट्य सम्प्रदाय, भामह तथा उद्भट के अलंकार सम्प्रदाय, दण्डी और वामन के गुण-रीति सम्प्रदाय तथा अन्तिम ध्वनिकार के ध्वनि-सम्प्रदाय आदि अलंकार-शास्त्र के यही प्रमुख प्रस्थान अर्थात् सम्प्रदाय हैं। यद्यपि जैनाचार्यों (आलंकारिकों) ने किसी नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ नहीं किया, फिर भी इन सभी सम्प्रदायों की मान्यताओं का पूर्णांग मूल्यांकन उनके ग्रन्थों की अद्वितीय विलक्षणता है।

यहाँ सभी जैन-आलंकारिकों का कालानुक्रमिक परिचय तथा उनकी कृतियों का उल्लेख करते हुए अलंकारशास्त्र में उनके योगदान को रेखांकित किया जा रहा है।

काल की दृष्टि से प्रथम आचार्य आर्यरक्षित ईसा की प्रथम शताब्दी के विद्वान हैं और अन्तिम आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ईसा की सोलहवीं शती के हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई टीकाकार हुए हैं, जिनकी परम्परा अठारहवीं शती तक मिलती है। इन आचार्यों में आर्यरक्षित विशुद्ध आलंकारिक नहीं हैं, फिर भी उनका समावेश इसलिए किया गया है कि इनकी कृति में प्रसंगवश अलंकारशास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। प्रसंग के भिन्न होने पर भी उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्य साहित्य के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। अतः उनका विवेचन वांछनीय है। इस परम्परा में दूसरे हैं 'अलंकार-दम्पण' के रचयिता अज्ञातनामा आचार्य। प्राकृत-भाषा में निबद्ध होने पर भी 'अलंकार-

दम्पण' का विशेष महत्व है, क्योंकि इसमें अलंकार-सम्बन्धी विवेचन संस्कृत की ही परम्परा के अनुसार किया गया है।

प्रथम शती के आर्यरक्षित और एकादश शती के अलंकारदम्पणकार के अनन्तर हम वाग्भट-प्रथम से शुरू होने वाले जैन आलंकारिकों की परम्परा में प्रवेश करते हैं। यह परम्परा द्वादश शताब्दी से अविच्छिन्न चलती है।

परिचयात्मक विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व यह उल्लेखनीय है कि धर्म की दृष्टि से सम्प्रदाय-भेद के होते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार-सम्प्रदाय के अधिकारी प्रवक्ता हैं और सबने अलंकार-शास्त्र के सभी प्रतिपाद्य तत्त्वों पर गम्भीर तथा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुए संस्कृत अलंकार-साहित्य को परिपुष्ट किया है।

आर्यरक्षित

आर्यरक्षित की गणना एक विशिष्ट युग-प्रधान आचार्य के रूप में की जाती है। इनका जन्म वीर-निर्वाण संवत् 522 में, दीक्षा (22 वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण संवत् 544 (ई. सन् 17) में, युगप्रधान पद (62 वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण संवत् 584 (ई. सन् 57) में तथा स्वर्गवास (75 वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण संवत् 597 (ई. सन् 70) में माना जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार आर्यरक्षित का स्वर्गवास वीर-निर्वाण संवत् 584 (ई. सन् 57) में हुआ था।¹ इनके पिता का नाम सोमदेव था, जो मालवान्तर्गत दशपुर (मन्दसौर) के राजा उदयन के पुरोहित थे तथा माता का नाम रुद्रसोमा था।² अलंकार शास्त्र पर एक रचना अनुयोग द्वार-सूत्र प्राप्त है।

अनुयोगद्वार-सूत्र : जैन-परम्परा में आगम-साहित्य का विशेष महत्व है। यह आगम-साहित्य अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के रूप में दो प्रकार है। अंग-बाह्य आगमों में एक है अनुयोगद्वार-सूत्र, जो प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। इसे चूलिका-सूत्र भी कहते हैं।

अनुयोगद्वार-सूत्र में अनुयोग के चार द्वार—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय पर विचार किया गया है। उपक्रम के द्वितीय भेद नाम निरूपण के प्रसंग में एक-नाम, द्विनाम, त्रिनाम आदि क्रमशः दस नामों तक उतनी-उतनी संख्या वाले विषयों का प्रतिपादन है। नौ नामों के अन्तर्गत रसों का विवेचन किया गया है। रसों के नाम हैं—वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त।

इसी प्रकार अनुगम के अन्तर्गत अलीक, उपघातजनक, निरर्थक, छल आदि बत्तीस दोषों का उल्लेख किया गया है।

अलंकार-दम्पणकार

‘अलंकार-दम्पण’ के कर्ता का नाम अज्ञात है। तथापि इसके प्रारम्भिक मंगलाचरण³

में लेखक ने श्रुतदेवता को नमस्कार किया है, अतः इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी रचना किसी जैनाचार्य ने की होगी।^१ श्री अगरचन्द्र जी नाहटा के एक लेख^२ से ज्ञात होता है कि जैसलमेर के बृहद् ज्ञान भण्डार की ताड़पत्रीय प्रति में 'अलंकार-दम्पण' के अतिरिक्त काव्यादर्श और उद्भटालंकार लघु-वृत्ति भी लिखी है, काव्यादर्श के अन्त में प्रति का लेखन-काल 'संवत् 1161 भाद्रपदे' लिखा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना संवत् 1161 के पूर्व की होगी। उक्त श्रीयुत नाहटा जी ने भैवरलाल नाहटा के अलंकार-दम्पण के अनुवाद के प्रारम्भ में (भूमिका स्वरूप) प्रस्तुत ग्रन्थ के अलंकार सम्बन्धी विवरण को ध्यान में रखते हुए इसका निर्माण काल 8वीं से 11वीं शताब्दी माना है।^३ जैनाचार्य-प्रणीत संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रायः सभी अलंकारशास्त्र संवत् 1161 के पश्चात् रचे गये हैं। अतः पूर्ववर्ती होने से 'अलंकार-दम्पण' की महत्ता स्वयंसिद्ध है।

अलंकार-दम्पण : प्राकृत भाषा में निबद्ध यह एक मात्र कृति है। इसमें केवल 134 गाथाएँ हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध अलंकारों से है। इसमें कुछ ऐसे नवीन अलंकारों का समावेश किया गया है, जो इसके पूर्व रचित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। इसीलिए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचन्द्र नाहटा ने लिखा है कि इस ग्रन्थ में निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षा-यमक अलंकार अन्य लक्षण ग्रन्थों में प्राप्त नहीं हैं। ये अलंकार नवीन निर्मित हैं, या किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र का अनुसरण हैं, निश्चित नहीं कहा जा सकता। फिर भी उपमा आदि के महत्त्वपूर्ण विवेचन से प्रस्तुत ग्रन्थ की मौलिकता अक्षुण्ण है।

वाग्भट-प्रथम

वाग्भटालंकार के यशस्वी प्रणेता वाग्भट-प्रथम और आचार्य हेमचन्द्र, ये दोनों समकालीन आचार्य होते हुए भी काल की दृष्टि से वाग्भट-प्रथम हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु वाग्भट-प्रथम की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, इसलिए कुछ विद्वानों ने आचार्य हेमचन्द्र को पूर्व में स्थान दिया है और वाग्भट-प्रथम को बाद में। काव्यानुशासन के रचयिता वाग्भट को अभिनव-वाग्भट अथवा वाग्भट-द्वितीय के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने नेमिनिर्वाण-काव्य के कर्ता वाग्भट को वाग्भट-प्रथम कहा है; किन्तु आधुनिक विद्वान् सामान्यतः वाग्भटालंकार के कर्ता को वाग्भट-प्रथम और काव्यानुशासन के कर्ता को वाग्भट-द्वितीय मानते हैं।

आचार्य वाग्भट का प्राकृत नाम बाहड तथा पिता का नाम सोम था। यह एक कुशल कवि और किसी (जयसिंह राजा के) राज्य के महामात्य थे। प्रभावक-चरित में बाहड

के स्थान पर थाहड का प्रयोग किया गया है। इनको प्रभावक चरित के अन्य कई स्थलों पर भी थाहड नाम से अभिहित किया गया है।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने समुच्चयालंकार के उदाहरण में निम्न तीन रत्नों का उल्लेख किया है—(1) अणहिल्लपाटनपुर नामक नगर, (2) राजा कर्णदेव के सुपुत्र-राजा जयसिंह और (3) श्रीकलश नामक हाथी।⁹ इससे यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य वाग्भट-प्रथम चालुक्यवंशीय कर्णदेव के पुत्र राजा जयसिंह के समकालीन थे। राजा जयसिंह का राज्य काल वि.सं. 1150 से 1199 (1093 ई. से 1143 ई.) तक माना जाता है।¹⁰ अतः वाग्भट-प्रथम का भी यही काल प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि प्रभावक-चरित के इस कथन से भी होती है कि वि. सं. 1178 में मुनिचन्द्रसूरि के समाधिमरण होने के एक वर्ष पश्चात् देवसूरि के द्वारा थाहड (वाग्भट) ने मूर्ति-प्रतिष्ठा कराई।¹¹ तात्पर्य यह कि उस समय वाग्भट विद्यमान थे। अतः वाग्भट का समय उक्त राजा जयसिंह का ही काल युक्ति-युक्त मालूम होता है। अब तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार उनका एक मात्र अलंकार ग्रन्थ 'वाग्भटालंकार' ही प्राप्त है।

वाग्भटालंकार : 'वाग्भटालंकार' एक बहुचर्चित कृति है। इसकी संस्कृत टीकाएँ जैन विद्वानों के अतिरिक्त जैनतर विद्वानों द्वारा भी लिखी गयी हैं। पाँच परिच्छेदों में विभाजित वाग्भटालंकार पर लिखी गयी उपलब्ध एवं अनुपलब्ध कुल टीकाओं की संख्या लगभग 17 है। इतनी अधिक टीकाओं से ही इस ग्रन्थ की महत्ता सिद्ध हो जाती है।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। उनकी साहित्य-साधना अत्यन्त विशाल और व्यापक है। जीवन को संस्कृत, संवर्द्धित और संचालित करने वाले जितने पहलू हैं, उन-सब पर उन्होंने अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलायी है। उनकी साहित्य सेवा को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' जैसी उपाधि से विभूषित किया है।¹⁰

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम सं. 1145 में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि को धुंधुका नामक नगर (गुजरात) के मोढ वंश में हुआ था। उनका बाल्यावस्था का नाम चांगदेव था तथा उनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार बालक चांगदेव का धीरे-धीरे विकास होने लगा। उसे बचपन से ही धर्म-गुरुओं के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः उन्होंने आठ वर्ष की अल्पायु में ही अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्र से दीक्षा ग्रहण कर ली थी। दीक्षा के पश्चात् उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया।¹¹

सोमचन्द्र ने थोड़े ही समय में तर्क-साहित्य आदि सभी विद्याओं में अनन्य प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। तत्पश्चात् उन्होंने अपने गुरु के साथ विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया और अपने शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान में काफी वृद्धि की। विक्रम संवत् 1166 में 21 वर्ष की अल्पायु में ही मुनि सोमचन्द्र को उनके गुरु ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके हेमचन्द्र नाम दिया।¹² जिसके कारण उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनकी मृत्यु वि.सं. 1229 में हुई थी।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, दर्शन, पुराण, इतिहास आदि विविध विषयों पर सफलतापूर्वक साहित्य सृजन किया है। शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्रव्याश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, द्वात्रिंशतिकाएँ, अभिधान-चिन्तामणि तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित— ये उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र एक साथ कवि, कथाकार, इतिहासकार एवं आलोचक थे। वे सफल और समर्थ साहित्यकार के रूप में प्रख्यात हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् डॉ. पिटर्स ने उनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों को देखकर उन्हें 'ज्ञानमहोदधि'¹³—जैसी उपाधि से अलंकृत किया है।

काव्यानुशासन : आचार्य हेमचन्द्र का यह अलंकार-विषयक एकमात्र ग्रन्थ है। इसकी रचना वि.सं. 1196 के लगभग हुई है।¹⁴ इसमें सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। काव्यप्रकाश के पश्चात् रचे गये प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनव-भारती, काव्यमीमांसा और काव्यप्रकाश से लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। इससे कुछ विद्वान् इसे संग्रह-ग्रन्थ की कोटि में मानते हैं। आचार्य मम्मट ने कुल 67 अलंकारों का उल्लेख किया है, किन्तु हेमचन्द्र ने मात्र 29 अलंकारों का उल्लेख कर शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है। मम्मट ने जिस अलंकार को अप्रस्तुतप्रशंसा नाम दिया है, उसे हेमचन्द्र ने 'अन्योक्ति' नाम से अभिहित किया है। मम्मट काव्यप्रकाश को 10 उल्लासों में विभक्त करके भी उतना विषय नहीं दे पाये हैं, जितना हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के केवल 8 अध्यायों में प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही हेमचन्द्र ने अलंकार-शास्त्र में सर्वप्रथम नाट्य-विषयक तत्त्वों का समावेश कर एक नवीन परम्परा का प्रणयन किया है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि ने भी किया है।

काव्यानुशासन में तीन भाग पाये जाते हैं— (1) सूत्र, (2) अलंकारचूडामणि नामक वृत्ति और (3) विवेक नामक टीका। इन तीनों के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ही हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र

रामचन्द्र और गुणचन्द्र का नाम प्रायः साथ-साथ लिया जाता है। इन विद्वानों के

माता-पिता और वंश इत्यादि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि ये दोनों विद्वान् सतीर्थ थे। आचार्य रामचन्द्र ने अपने अनेक ग्रन्थों में अपने को आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है।¹⁵ ये उनके पट्टधर शिष्य थे। एक बार तत्कालीन गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि आपके पट्ट के योग्य गुणवान् शिष्य कौन हैं? इसके उत्तर में हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का नाम लिया था।¹⁶

रामचन्द्र अपनी असाधारण-प्रतिभा एवं कवि-कर्म-कुशलता के कारण 'कविकटारमल्ल' की सम्मानित उपाधि से अलंकृत थे। यह उपाधि उन्हें सिद्धराज जयसिंह ने प्रसन्न होकर प्रदान की थी।

महाकवि रामचन्द्र समस्यापूर्ति करने में भी चतुर थे। एक बार वाराणसी से विश्वेश्वर कविपत्तन नामक नगर आये थे तथा वे आचार्य हेमचन्द्र की सभा में गये। वहाँ राजा कुमारपाल भी विद्यमान थे। विश्वेश्वर ने कुमारपाल को आशीर्वाद देते हुए कहा— 'पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्रहन्'। चूँकि राजा जैन थे, अतः उन्हें कृष्ण द्वारा अपनी रक्षा की बात अच्छी नहीं लगी। अतः उन्होंने क्रोध-भरी दृष्टि से देखा। तभी रामचन्द्र ने उक्त श्लोकार्द्ध की पूर्ति के रूप में 'षड्दर्शनपशुग्रामं चारयत् जैनगोचरे' यह कहकर राजा को प्रसन्न कर दिया।¹⁷

आचार्य रामचन्द्र की विद्वत्ता का परिचय उनकी स्व-लिखित कृतियों में भी मिलता है। 'रघुविलास' में उन्होंने अपने को 'विद्यात्रयीचणम्' कहा है।¹⁸ इसी प्रकार नाट्यदर्पण-विवृति की प्रारम्भिक प्रशस्ति में 'त्रैविद्यवेदिनः' तथा अन्तिम प्रशस्ति में व्याकरण-न्याय और साहित्य का ज्ञाता कहा है।¹⁹

'प्रभावकचरित' और 'उपदेशतरंगिणी' से यह ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह समकालीन थे तथा उस समय तक रामचन्द्र अपनी असाधारण-प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। आचार्य रामचन्द्र का साहित्यिक-काल वि.सं. 1193 से 1233 के मध्य रहा है।

महाकवि रामचन्द्र प्रबन्ध-शतकर्ता के नाम से विख्यात हैं। उन्होंने अपने नाट्यदर्पण में स्वरचित 11 रूपकों का उल्लेख किया है। इसकी सूचना प्रायः 'अस्मदुपज्ञे-इत्यादि पदों से दी गयी है, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं— (1) सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, (2) नलविलास-नाटक, (3) रघुविलास-नाटक, (4) यादवाभ्युदय, (5) राघवाभ्युदय, (6) रोहिणीमृगांकप्रकरण, (7) निर्भयभीम-व्यायोग, (8) कौमुदीमित्राणन्दप्रकरण, (9) सुधा-कलश, (10) मल्लिकामकरन्द-प्रकरण और (11) वनमाला-नाटिका। कुमार बिहार शतक, द्रव्यालंकार और यदुविलास आदि—ये उनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं। इसके अलावा कुछ छोटे-छोटे स्तव भी पाये जाते हैं। इस प्रकार उनके उपलब्ध

ग्रन्थों की कुल संख्या डॉ. के.एच. त्रिवेदी ने 47 स्वीकार की है।^{१०}
 नाट्यदर्पण : यह नाट्य विषयक प्रामाणिक एवं मौलिक ग्रन्थ है। इसमें महाकवि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक नवीन तथ्यों का समावेश किया है। आचार्य भरत से लेकर धनंजय तक चली आ रही नाट्यशास्त्र की अक्षुण्ण परम्परा का युक्ति-पूर्ण विवेचन करते हुए आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्वाचार्य स्वीकृत नाटिका के साथ प्रकरणिका नाम की एक नवीन विधा का संयोजन कर द्वादश-रूपकों की स्थापना की है। इसी प्रकार रस की सुख-दुःखात्मकता स्वीकार करना— इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। नाट्यदर्पण में नौ रसों के अतिरिक्त तृष्णा, आर्द्रता, आसक्ति, अरति और सन्तोष की स्थायीभाव मानकर क्रमशः लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख और सुख-रस की भी सम्भावना की गयी है। इसमें शान्त-रस का स्थायीभाव शम स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। कारिका रूप में निबद्ध किसी भी गूढ़ विषय को अपनी स्वोपज्ञ विवृति में इतने स्पष्ट और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है कि साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को भी विषय समझने में कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता है। इसीलिए इस ग्रन्थ की कतिपय विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि नाट्य विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में 'नाट्यदर्पण' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृंखला है, जो धनंजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोड़ती है। इसमें अनेक विषय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तों से विलक्षण हैं, जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप। इसके अतिरिक्त आचार्य उपाध्याय ने प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण इसका ऐतिहासिक मूल्य भी स्वीकार किया है। इन सब विशेषताओं के कारण नाट्यदर्पण अनुपम एवं उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो भाग पाये जाते हैं—प्रथम कारिकाबद्ध मूलग्रन्थ और द्वितीय उसके ऊपर लिखी गयी स्वोपज्ञ विवृति। कारिकाओं में ग्रन्थ का लाक्षणिक भाग निबद्ध है तथा विवृति में तद्विषयक उदाहरण एवं कारिका का स्पष्टीकरण। यह ग्रन्थ चार विवेकों में विभाजित किया गया है।

नरेन्द्रप्रभसूरि

नरेन्द्रप्रभसूरि हर्षपुरीय गच्छ-परम्परा के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम नरचन्द्रसूरि और दादा-गुरु का नाम देवप्रभसूरि था।^{११} गुरु नरचन्द्रसूरि न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे, जिसकी पुष्टि उक्त विषयों पर लिखे गये उनके ग्रन्थों और टिप्पणियों से होती है।

गुरु के आदेशानुसार नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'अलंकार-महोदधि' नामक ग्रन्थ की रचना

की थी। इसका लेखन काल वि.सं. 1280 (ई. सन् 1223) है तथा इसकी स्वोपज्ञ टीका का लेखन काल वि.सं. 1282 (ई. सन् 1225) है। अतः नरेन्द्रप्रभसूरि का समय विक्रम की 13वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।

राजशेखर-सूरि ने न्यायकन्दली-पंजिका में नरेन्द्रप्रभसूरि की दो रचनाओं का उल्लेख किया है—अलंकार-महोदधि और कांकुत्स्थ-केलि। इसके अतिरिक्त विवेक-पादप और विवेक-कलिका नामक दो सुभाषित-संग्रह तथा दो वस्तुपाल प्रशस्ति-काव्य भी पाये जाते हैं। साथ ही गिरिनार के वस्तुपाल के एक शिलालेख के श्लोक भी नरेन्द्रप्रभसूरि रचित हैं।¹²

अलंकार-महोदधि : यह एक अलंकार-विषयक ग्रन्थ है। नरेन्द्रप्रभसूरि द्वारा रचे गये ग्रन्थों में यह सर्वोच्च है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश की छाया प्रतीत होती है। अतः डॉ. भोगीलाल सांडेसरा का यह कथन उचित ही है कि 'अलंकार-महोदधि' का सारा तीसरा तरंग काव्य-प्रकाश के चौथे अध्याय का एक लम्बा और सरलीकृत संस्करण है।¹³ उनके अनुसार अलंकार-महोदधि काव्यप्रकाश—जैसे दुरुह ग्रन्थों की अपेक्षा सरल है; जिसकी पुष्टि अलंकार-महोदधि के रचने में कारणभूत महामात्य वस्तुपाल के निवेदन से भी होती है।¹⁴ इसके साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ पर काव्यप्रकाश की अपेक्षा हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है, क्योंकि कवि-शिक्षा प्रसंग में काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ अलंकार-चूडामणि नामक टीका का एक सम्पूर्ण अंश ही प्रायः उद्धृत कर दिया गया है।¹⁵ लेकिन इसके साथ ही अलंकार-महोदधि में कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो उसे काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन से पृथक् सिद्ध करती हैं। उदाहरणार्थ काव्यप्रकाश में 61 अर्थालंकारों का समावेश किया गया है और काव्यानुशासन में मात्र 35 का; किन्तु अलंकार महोदधि में 70 अर्थालंकारों का समावेश किया गया है। इसी प्रकार काव्यप्रकाश में कुल मिलाकर 603 उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जबकि अलंकार-महोदधि में 982 इत्यादि। उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य कई विशेषताएँ रहने के बावजूद लेखक ने इसकी मौलिकता का दावा नहीं किया है, जो निरभिमानता की दृष्टि से उपयुक्त भी है। इसमें यत्र-तत्र भरत, भामह और आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ तरंगों में विभाजित है।

अमरचन्द्रसूरि

काव्यकल्पलता आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि अमरचन्द्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य और वायङ्गच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि के शिष्य थे।¹⁶ इनकी 'बालभारत' नामक कृति से ज्ञात होता है कि ये साधु होने से पूर्व कदाचित् (वायङ्ग) ब्राह्मण थे।

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र :: 609

इस सम्बन्ध में डॉ. भोगीलाल सांडेसरा ने लिखा है कि 'यह भी असम्भव प्रतीत नहीं होता कि वह ब्राह्मण ही था; क्योंकि जैन साधु होने के बावजूद उसने अपने 'बालभारत' ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में व्यास की और उसी ग्रन्थ की प्रशस्ति में वायुओं के देव वायु (पवनदेव) की स्तुति की है।'²⁶

अमरचन्द्रसूरि अपनी काव्य-कला के कारण अनेक उपाधियों से विभूषित थे। उनकी एक सुप्रसिद्ध कृति 'पद्मानन्द' महाकाव्य है, जिसमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र-चित्रण किया गया है। इसका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

इनकी रचनाओं पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अमरचन्द्रसूरि काव्य, व्याकरण, छन्द, अलंकार और कला आदि विविध विषयों के प्रौढ़ विद्वान् थे। इनका आशुकवित्व इनकी कविता-चातुरी का द्योतक है। डॉ. श्यामसुन्दर दीक्षित और डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी आदि विद्वानों ने इनके ग्रन्थों की संख्या 13 स्वीकार की है;²⁷ जिनके नाम निम्न प्रकार हैं— 1. बालभारत, 2. पद्मानन्दमहाकाव्य, 3. काव्यकल्पलता-वृत्ति, 4. काव्यकल्पलता या कविशिक्षा, 5. चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षिप्तचरितानि, 6. सुकृत संकीर्तन के प्रत्येक सर्ग के चार श्लोक, 7. स्यादिशब्दसमुच्चय (व्याकरण), 8. काव्यकल्पलता-परिमल, 9. छन्दोरत्नावली, 10. अलंकार-बोध, 11. कलाकलाप, 12. काव्यकल्पलतामंजरी और 13. पुक्तावली।

काव्यकल्पलता-वृत्ति : आचार्य अमरचन्द्रसूरि ने अपने कलागुरु अरिसिंहकृत कविता-रहस्य को ध्यान में रखकर कुछ अरिसिंह रचित सूत्रों और कुछ स्वरचित सूत्रों को लेकर काव्यकल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की है। अतः मूल सूत्रों का नाम काव्यकल्पलता है, पुनः उन सूत्रों पर अमरचन्द्रसूरि ने कविशिक्षा नामक वृत्ति लिखी है, जो अब काव्यकल्पलता वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

अमरचन्द्रसूरि के परवर्ती आचार्य देवेश्वर (14वीं शताब्दी का आरम्भ) ने अपने ग्रन्थ कवि-कल्पलता के लिए अमरचन्द्रसूरि की काव्यकल्पलता को ही आदर्श माना है तथा उसमें से बहुत से नियमों तथा लक्षणों का अक्षरशः ग्रहण किया गया है। कालान्तर में काव्यकल्पलता के ऊपर अनेक टीकाएँ रची गयी हैं।²⁸ इससे यह सिद्ध होता है कि विद्वत्समाज में भी काव्यकल्पलता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

इस ग्रन्थ में अमरचन्द्रसूरि ने कवि-पद के अभिलाषियों को प्रारम्भ होने वाली कठिनाईयों से बचने के लिए कवि-शिक्षा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। ये छन्द को काव्य का मूल मानते हैं। अतः छन्द-रचना की प्रक्रिया का विभिन्न प्रकार से विवेचन है तथा छन्दों में प्रयुक्त होने वाले अनेक प्रकार के सहस्रों शब्दों का संकलन किया

गया है, जो छन्दःकोश के अभाव की पूर्ति करता है। अतः इस ग्रन्थ के अध्ययन से कवियों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ छन्दसिद्धि, शब्दसिद्धि, श्लेषसिद्धि और अर्थसिद्धि नामक चार प्रतानों में विभक्त है। पुनः प्रत्येक के उपविभाग किये गये हैं, जो स्तवक कहलाते हैं। प्रत्येक प्रतान में क्रमशः 5,4,5, और 7 स्तवक हैं, जिनकी कुल संख्या 21 है।

विनयचन्द्रसूरि

विभिन्न कालों में विनयचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं^{१०} किन्तु प्रस्तुत स्थल में जिन आचार्य का कथन किया जा रहा है, वे काव्यशिक्षा के रचयिता आचार्य विनयचन्द्रसूरि हैं। ये चन्द्रगच्छीय आचार्य और रविप्रभसूरि के शिष्य थे। ये संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् थे तथा काव्यशास्त्र उनका प्रिय विषय था। काव्यशिक्षा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विनयचन्द्रसूरि न केवल अलंकारशास्त्र के ही ज्ञाता थे, अपितु व्याकरण, कोश आदि पर भी उनका समान अधिकार था।

डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने उनका साहित्यिक काल सं. 1286 से लेकर सं. 1345 तक स्वीकार किया है।

डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री ने काव्यशिक्षा और मल्लिस्वामी (नाथ) चरित इन दो को ही आचार्य विनयचन्द्रसूरि की रचनाएँ स्वीकृत की हैं, जो 'विनय शब्दांकित' हैं^{१०} किन्तु इनके अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित और कालिकाचार्यकथा (प्राकृत) भी उनकी रचनाएँ प्रतीत होती हैं, क्योंकि पार्श्वनाथचरित 'विनय शब्दांकित' महाकाव्य है^{११} अतः यह कृति भी उक्त लेखक की होनी चाहिए तथा कालिकाचार्यकथा (प्राकृत) की रचना सं. 1286 में हुई है^{१२} यह काल काव्यशिक्षाकार विनयचन्द्रसूरि का है। अतः यह कृति भी उक्त कवि की होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार विनयचन्द्रसूरि की चार कृतियाँ तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं—काव्यशिक्षा, मल्लिस्वामीचरित, पार्श्वनाथचरित और कालिकाचार्यकथा (प्राकृत)। इनके अतिरिक्त जब तक कोई पुष्ट आधार नहीं मिल जाते हैं, तब तक अन्य कृतियों अथवा अन्य काल से आचार्य विनयचन्द्रसूरि का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है।

काव्यशिक्षा : प्रस्तुत रचना आचार्य विनयचन्द्रसूरि की संगृहीत कृति है। इसमें कवि ने काव्यरचना हेतु कवि के लिए आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी है। ग्रन्थकार का दावा हो अथवा नहीं, किन्तु निष्पक्ष समालोचक की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी प्रस्तुत ग्रन्थ की सहायता से पद्य रचना कर सकता है। इसके अध्ययन से कई ऐतिहासिक एवं भौगोलिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। इसीलिए डॉ. भोगीलाल सांडेसरा ने लिखा है

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र :: 611

कि विनयचन्द्र की कवि (काव्य) शिक्षा इसलिए विशेष उपयोगी है कि उसमें इतिहास, भूगोल और मध्यकालीन भारत की साहित्यिक स्थिति की अनेक सूचनाएँ मिलती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, जिनमें कालिदास, बाण, भवभूति और हेमचन्द्र आदि के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। यह छः परिच्छेदों में विभक्त है।

विजयवर्णी

विजयवर्णी दिगम्बर जैन मुनि विजयकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने राजा कामिराज की प्रार्थना पर शृंगारार्णव चन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें इन्होंने कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि गुणवर्मा का नामोल्लेख किया है। गुणवर्मा का समय ई. सन् 1225 (वि.सं. 1282) के लगभग माना जाता है।³³ अतः विजयवर्णी का समय ईसा की 13वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना समीचीन होगा।

विजयवर्णी द्वारा रचित अलंकार-विषयक शृंगारार्णव-चन्द्रिका नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु उक्त ग्रन्थ के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विजयवर्णी एक राजमान्य महाकवि थे। सम्भव है कि इन्होंने अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया हो, किन्तु इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न होने से निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

शृंगारार्णवचन्द्रिका : इसमें विजयवर्णी ने कुछ ऐसे विषयों का भी समावेश किया है, जिनका उल्लेख अलंकारशास्त्रों में प्रायः कम ही मिलता है। जैसे वर्ण-गण-फल निर्णय आदि। जिस प्रकार एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण और रसगंगाधर में कवियों ने स्वरचित पद्यों का प्रयोग किया है, उसी प्रकार विजयवर्णी ने 'शृंगारार्णवचन्द्रिका' में सभी उदाहरण स्व-रचित प्रस्तुत किये हैं। ये सभी उदाहरण कवि ने अपने आश्रयदाता गंगवंशीय राजा कामिराज की स्तुति में लिखे हैं, अतः इस ग्रन्थ का अपर नाम 'कामिराज स्तुति' ग्रन्थ कहा जाये, तो अत्युक्ति न होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभक्त है।

अजितसेन

जैन परम्परा में अजितसेन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आलंकारिक दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन आचार्य थे।³⁴ अलंकारशास्त्र पर रचित उनकी 'अलंकार-चिन्तामणि' नामक कृति इस बात का सबल प्रमाण है कि उन्हें अलंकार-शास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान था।

यद्यपि आलंकारिक अजितसेन को गुरु-परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट

उल्लेख नहीं मिलता है तथापि आधुनिक शोध-मर्मज्ञों का कथन ध्यान देने योग्य है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है कि अजितसेन यतीश्वर दक्षिणदेशान्तर्गत तुलुव प्रदेश के निवासी सेनगण-पोगरिगच्छ के मुनि, संभवतया पार्श्वसेन (ज्ञात तिथि 1154 ई.) के प्रशिष्य और पद्यसेन (ज्ञात तिथि 1271 ई.) के गुरु महासेन के सधर्मा या गुरु थे।¹⁵ डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने भी अजितसेन के सेनसंघ के आचार्य होने की पुष्टि की है।¹⁶ उनकी इस मान्यता का हेतु शृंगारमंजरी का अन्तिम भाग है।

आचार्य अजितसेन का लेखनकाल लगभग विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्य भाग (ई. 1293 के लगभग) है। यही समय पं. अमृतलाल शास्त्री को भी अभीष्ट है।¹⁷

अजितसेन की सामान्यतः दो रचनाएँ मानी जाती हैं—(1) अलंकारचिन्तामणि और (2) शृंगारमंजरी। ये दोनों अलंकार-विषयक हैं। इनके अतिरिक्त डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने वृत्तवाद, छन्दःप्रकाश और श्रुतबोध—इन तीन ग्रन्थों के कर्ता के रूप में भी प्रस्तुत अजितसेन की सम्भावना व्यक्त की है।¹⁸ लेकिन किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में कुछ भी कहना उचित प्रतीत नहीं होता है। 'शृंगारमंजरी' अद्यावधि अप्रकाशित है। अलंकार-चिन्तामणि : अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत जिन विषयों का कथन किया जाता है, उन सभी विषयों का समावेश प्रस्तुत ग्रन्थ 'अलंकार चिन्तामणि' में किया गया है। कहीं-कहीं इस ग्रन्थ की भाषा इतनी सरल है कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इसके मर्म को समझ सकता है। किसी भी व्यक्ति को कवि बनने के लिए प्रारम्भ में किसी सामान्य विषय को लेकर पद्य-रचना करने का निर्देश दिया गया है, उसका निम्नलिखित उदाहरण देखिए कितना सरल है!—

शय्योत्थितः कृतस्नानो वराक्षतसमन्वितः।

गत्वा देवार्चनं कृत्वा श्रुत्वा शास्त्रं गृहं गतः।।¹⁹

प्रस्तुत पद्य में एक श्रावक के दैनिक जीवन का स्वाभाविक एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया गया है।

अलंकारों के लिए तो यह ग्रन्थ अलंकार-चिन्तामणि सिद्ध होता है। इसके अधिकांश भाग अर्थात् सम्पूर्ण पाँच परिच्छेदों में से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ में अलंकारों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, शेष प्रथम और पंचम में अन्य विषयों का समावेश है।

जिन अलंकार-शास्त्रों में स्व-रचित उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं, उनकी संख्या अल्प है। अतः अधिकांश अलंकार-विषयक ग्रन्थों में उदाहरणों का चयन अन्य कवियों के ग्रन्थों से किया गया है। इसमें आलंकारिकों ने प्रायः एक ही सरणी का अनुसरण किया है अर्थात् अपने ग्रन्थों में उन्हीं चुने-चुनाये उदाहरणों को स्थान दिया है, जो

परम्परा से प्राप्त हैं, किन्तु अलंकार-चिन्तामणि में प्रायः नवीन उदाहरणों का चयन किया गया है, जो लेखक के अथक परिश्रम के द्योतक हैं। सभी उदाहरण पुराणों और स्तोत्रों से गृहीत होने के कारण लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ को स्तोत्रग्रन्थ की संज्ञा से विभूषित किया है।¹⁰ इसमें अन्य आचार्यों के मतों को भी यत्र-तत्र स्थान दिया गया है।

वाग्भट-द्वितीय

वाग्भट-द्वितीय का समय विक्रम की 14वीं शताब्दी है। ये मेदपाट (मेवाड़) निवासी नेमिकुमार के पुत्र और मवकलप तथा महादेवी के पौत्र थे।¹¹ इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्रीराहड था, जिनके प्रति वाग्भट को अगाध श्रद्धा थी।¹² इनके पिता नेमिकुमार ने अपने द्वारा उपार्जित द्रव्य से राहडपुर में उत्तुंग शिखर वाला भगवान् नेमिनाथ एवं नलोटकपुर में 22 देवकुलिकाओं से युक्त आदिनाथ का मन्दिर बनवाया था।¹³

आचार्य वाग्भट-द्वितीय ने अनेक नवीन और सुन्दर नाटकों एवं महाकाव्यों के अतिरिक्त छन्द तथा अलंकार-विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है।¹⁴ काव्यानुशासन के अतिरिक्त उनकी दो अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं— (1) ऋषभदेवचरित महाकाव्य और (2) छन्दोऽनुशासन। जिनका उल्लेख काव्यानुशासन (पृ. 15, 20 क्रमशः) में मिलता है। इनका विषय-विवेचन नाम से ही स्पष्ट है।

काव्यानुशासन : काव्यानुशासन महाकवि वाग्भट-द्वितीय का अलंकार-विषयक ग्रन्थ है। इसकी रचना सूत्र-शैली में की गयी है। इस पर उन्होंने अलंकार-तिलक नामक स्वोपज्ञवृत्ति की भी रचना की है, जिससे विषय को समझने में सहायता मिलती है। इस पर हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन की छाया स्पष्ट प्रतीत होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है।

मण्डन-मन्त्री

मण्डन का नाम प्रायः पण्डन-मन्त्री के रूप में जाना जाता है। ये श्रीमाल वंश में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम वाहड़ और पितामह का नाम झांझड़ था। ये बहुत ही प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् और राजनीतिज्ञ थे। श्रीपन्त कुल में उत्पन्न होने के कारण उनमें लक्ष्मी एवं सरस्वती का अभूतपूर्व मेल था। ये उदार और दयालु प्रकृति के थे। अल्पवय में ही मण्डन पालवा में माण्डवगढ़ के बादशाह होशंग के कृपापात्र बन गये थे और कालान्तर में उनके प्रमुख मन्त्री बने। सम्राट होशंग इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध थे। राजकार्य के अतिरिक्त बचे समय को पण्डन विद्वत्-सभाओं में ही व्यतीत करते थे। ये प्रत्येक विद्वान् और कवि का बहुत सम्मान करते थे तथा उनको भोजन-वस्त्र एवं योग्य पारितोषिक आदि देकर उनका उत्साहवर्धन करते थे। मण्डन संगीत के विशेष प्रेमी थे। इसके अतिरिक्त वे ज्योतिष, छन्द, अलंकार, न्याय, व्याकरण आदि अन्य विद्याओं

में भी निपुण थे। मण्डन की विद्वत्सभा में कई विद्वान् एवं कुशल कवि स्थायी रूप से रहते थे, जिनका समस्त व्यय वह स्वयं वहन करते थे। मण्डन के द्वारा लिखे एवं लिखावाये गये ग्रन्थों की प्रतियों में प्रदत्त प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि मण्डन विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक जीवित थे।¹⁵

मण्डन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें से निम्न ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं—(1) कादम्बरी दर्पण, (2) चम्पूमण्डन, (3) चन्द्रविजयप्रबन्ध, (4) अलंकारमण्डन, (5) काव्यमण्डन, (6) शृंगारमण्डन, (7) संगीतमण्डन, (8) उपसर्ग-मण्डन, (9) सारस्वतमण्डन और (10) कविकल्पद्रुम।

अलंकारमण्डन : प्रस्तुत कृति मण्डन मन्त्री की अलंकार-विषयक रचना है। इसमें उन्होंने अलंकार-शास्त्रीय विषयों का समावेश किया है, जो नाम से ही स्पष्ट है। 'अलंकार-मण्डन' पाँच परिच्छेदों में विभाजित है।

भावदेवसूरि

आचार्य भावदेवसूरि प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे। उनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इन्होंने पार्श्वनाथ-चरित की रचना वि.सं. 1412 में श्रीपत्तन नामक नगर में की थी, जिसका उल्लेख पार्श्वनाथ-चरित की प्रशस्ति में किया गया है।¹⁶ भावदेवसूरि के गुरु का नाम जिनदेवसूरि था। मे कालिकाचार्य सन्तानीय खंडिल्लगच्छ की परम्परा के आचार्य थे।

आचार्य भावदेवसूरि ने अलंकार-विषयक 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के अतिरिक्त और कितने तथा कौन-कौन से ग्रन्थों की रचना की है, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि इन ग्रन्थों में परस्पर एक-दूसरे का कहीं भी उल्लेख नहीं है, किन्तु 'पार्श्वनाथ-चरित' जइदिणचरिया (यति-दिनचर्या) और 'कालिकाचार्यकथा' नामक ग्रन्थों में कालिकाचार्य-सन्तानीय भावदेवसूरि का स्पष्ट नामोल्लेख किया गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता प्रस्तुत भावदेवसूरि ही होंगे। उपर्युक्त समय-निर्धारण उनके 'पार्श्वनाथ-चरित' के आधार पर किया गया है।

काव्यालंकारसार-संग्रह : आचार्य भावदेवसूरि विरचित 'काव्यालंकारसार-संग्रह' नामक ग्रन्थ संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण है। इसमें आचार्य भावदेवसूरि ने प्राचीन ग्रन्थों से सारभूत तत्त्वों को ग्रहण कर संगृहीत किया है।¹⁷ यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है।

पद्मसुन्दरगणि

श्वेताम्बर जैन विद्वान् पं. पद्मसुन्दरगणि नागौरी तपागच्छ के प्रसिद्ध भट्टारक यति थे। इनके गुरु का नाम पद्ममेरु और प्रगुरु का नाम आनन्दमेरु था। पद्मसुन्दरगणि को मुगल बादशाह अकबर की सभा में बहु-सम्मान प्राप्त था। उनकी परम्परा के परवर्ती

भट्टारक यति 'हर्षकीर्तिसूरि' की 'धातुतरंगिणी' के पाठ से ज्ञात होता है कि उन्होंने बादशाह अकबर की सभा में किसी महापण्डित को पराजित किया था, जिसके सम्मान स्वरूप उन्हें बादशाह अकबर की ओर से रेशमी वस्त्र, पालकी और ग्राम आदि भेंट में प्राप्त हुए थे। वे जोधपुर के हिन्दू नरेश मालवदेव द्वारा भी सम्मानित थे।⁴⁸ इतना ही नहीं इनके गुरु पद्ममेरु और प्रगुरु आनन्दमेरु को क्रमशः अकबर के पिता हुमायूँ और पितामह बाबर की राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

पद्मसुन्दरगणि ने 'अकबरसाहि-शृंगार-दर्पण' की रचना वि.सं. 1626 के आसपास की है तथा श्वेताम्बराचार्य हीरविजय की बादशाह अकबर से भेंट वि.सं. 1639 में हुई थी, उस समय पद्मसुन्दरगणि का स्वर्गवास हो चुका था।⁴⁹ अतः पद्मसुन्दरगणि का समय विक्रम की 17वीं (ईसा की 16वीं का उत्तरार्द्ध) शताब्दी मानना उपयुक्त होगा।

पद्मसुन्दरगणि ने साहित्य, नाटक, कोष, अलंकार, ज्योतिष और स्तोत्र विषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् रायमल्ल से उनकी प्रगाढ़ मैत्री थी। इसलिए उन्होंने कुछ ग्रन्थों की रचना रायमल्ल के अनुरोध पर भी की है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—रायमल्लाभ्युदयकाव्य, यदुसुन्दर महाकाव्य, पार्श्वनाथचरित, जम्बूचरित, राजप्रश्नीय नाट्यपदभञ्जिका, परमतव्यवच्छेदस्याद्वादद्वात्रिंशिका, प्रमाणसुन्दर, सारस्वतस्वरूपमाला, सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव, हायन-सुन्दर, षड्भाषागर्भितनेमिस्तव, वरमंगलिकास्तोत्र, भारतीस्तोत्र, भविष्यदत्तचरित और ज्ञान-चन्द्रोदय नाटक, आदि। डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इनकी केवल दो ही रचनाओं का उल्लेख किया है—भविष्यदत्त-चरित और रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य।⁵⁰ जबकि पं. नाथूराम प्रेमी⁵¹ और डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी⁵² ने इनकी अन्य कृतियों का भी सप्रमाण उल्लेख किया है।

अकबरसाहिशृंगारदर्पण : प्रस्तुत अलंकारशास्त्र-विषयक ग्रन्थ मुगल बादशाह अकबर की प्रशंसा में रचा गया है। इसके प्रत्येक उल्लास के अन्त में अकबर प्रशस्ति-पद्यों की रचना की गयी है। अकबरसाहिशृंगारदर्पण की तुलना दशरूपक और नाट्यदर्पण से की जा सकती है, क्योंकि इसमें नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। चार उल्लासों में विभाजित इस ग्रन्थ में कुल 345 पद्य हैं।

सिद्धिचन्द्रगणि

ये अपने समय के महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। ये तापगच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्रगणि के शिष्य थे। भानुचन्द्रगणि और सिद्धिचन्द्रगणि को मुगल बादशाह अकबर के दरबार में समान रूप से सम्मान प्राप्त था। सिद्धिचन्द्रगणि शतावधानी थे। उनके

प्रयोग देखकर बादशाह अकबर ने 'खुशफहम' (तीक्ष्ण बुद्धि) की मानप्रद उपाधि प्रदान की थी⁵³, जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचित प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से होती है।⁵⁴ इन प्रशस्तियों से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने प्रभाव के द्वारा शत्रुंजय तीर्थ पर लगे हुए कर को माफ कराया था तथा सिद्धाचल पर्वत पर मन्दिर-निर्माण-कार्य में बाधक राजकीय निषेधाज्ञा को भी हटवाया था।⁵⁵

सिद्धिचन्द्रगणि अपने गुरु भानुचन्द्रगणि के अनेक साहित्यिक अनुष्ठानों में सहयोगी थे।⁵⁶ बाणभट्ट रचित कादम्बरी पर अपने गुरु के साथ लिखी गयी, इनकी टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस टीका के अध्ययन से इनके कोश विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ये छह शास्त्रों के ज्ञाता तथा फारसी के अभ्येता थे।⁵⁷

सिद्धिचन्द्रगणि ने धातुमंजरी नामक ग्रन्थ की रचना वि.सं. 1650 (ई. सन् 1593)⁵⁸ और काव्यप्रकाश-खण्डन की रचना वि.सं. 1703 (ई. सन् 1646)⁵⁹ में की थी तथा वासवदत्ता की टीका संवत् 1722 (ई. सन् 1665) में की थी। अतः इनका साहित्यिक-काल उक्त तिथियों के मध्य मानना होगा। इतना लम्बा साहित्यिक काल इनके दीर्घजीवी होने का पुष्ट प्रमाण है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि सिद्धिचन्द्रगणि एक महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। इन्हें व्याकरण-न्याय और साहित्य-शास्त्र का ठोस ज्ञान था, जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचे गये साहित्य से होती है। सूक्ति-रत्नाकर इनके गहन अध्ययन और पाण्डित्य का द्योतक है। उनके द्वारा विरचित अद्यावधि ज्ञात ग्रन्थों की संख्या 19 है, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—कादम्बरी उत्तरार्द्ध टीका, शोभनस्तुति टीका, वृद्धप्रस्तावोक्ति-रत्नाकर, भानुचन्द्र-चरित, भक्तामरस्तोत्र-वृत्ति, तर्कभाषा-टीका, जिनशतक-टीका, वासवदत्ता-टीका, काव्यप्रकाश-खण्डन, अनेकार्थोपसर्ग-वृत्ति, धातुमंजरी, आख्यातवाद-टीका, प्राकृतसुभाषित-संग्रह, सूक्तिरत्नाकर, मंगलवाद, सप्तस्मरणवृत्ति, लेखलिखनपद्धति और संक्षिप्त-कादम्बरी-कथानक।⁶⁰ इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश-खण्डन में काव्य-प्रकाश पर लिखी गयी गुरु नामक बृहद् टीका का भी उल्लेख मिलता है।⁶¹

काव्यप्रकाशखण्डन : आचार्य मम्मट विरचित काव्यप्रकाश का सीधा-सीधा अर्थ लगाना ही दुष्कर है, पुनः उसका खण्डन करना तो और-भी अतिदुष्कर है, किन्तु आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ने काव्यप्रकाश का खण्डन कर अपनी प्रखर बुद्धि का मेरुदण्ड स्थापित किया है। इन्होंने काव्यप्रकाश के उन्हीं स्थलों का खण्डन किया है, जिनमें उनकी असहमति थी। प्रस्तुत रचना के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मुनि जिनविजय ने लिखा है कि—'महाकवि मम्मट ने काव्य-रचना विषयक जो विस्तृत विवेचन अपने विशद ग्रन्थ में किया है, उसमें से किसी लक्षण, किसी उदाहरण, किसी प्रतिपादन एवं किसी निरसन सम्बन्धी उल्लेख को सिद्धिचन्द्रगणि ने ठीक नहीं माना है और इसलिए उन्होंने अपने मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत रचना का निर्माण किया।'⁶² अतः इस

ग्रन्थ के अध्ययन से उनकी नवीन मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है और वैराग्य की झलक भी दृष्टिगोचर होती है।

‘काव्यप्रकाश-खण्डन’ काव्यप्रकाश की तरह दस उल्लासों में विभक्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने अन्य अनेक विषयों के साथ ही लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी सम्यक् विवेचन किया है, जिससे उनके इहलोक विषयक ज्ञान की भी पुष्टि होती है।

सन्दर्भ

1. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग-2, पृ. 590.
2. प्रभावक चरित-आर्यरक्षितचरित, पृ. 9-18.
आर्यरक्षित का जीवन चरित प्रभावक चरित के पूर्व रचित ग्रन्थों-आवश्यक चूर्ण और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति आदि में भी पाया जाता है।
3. सुन्दरपञ्च विष्णुणां विमलालंकारेहिसरीरं।
सुहृदेविअं च कव्वं च पणविअ पवरण्णइदं।।।।।
4. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-5, पृ. 99.
5. प्राकृत भाषा का एकमात्र आलंकारिक ग्रन्थ अलंकार दर्पण—गुरुदेव श्रीरत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ, पृ. 394-398.
6. ‘प्राकृत भाषा का एकमात्र अलंकारशास्त्रः अलंकारदर्पण’।—मरुधरकेशरी पुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित, चतुर्थ खण्ड, पृ. 429.
7. अणहिल्लपाटलं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च जगतीह रत्नानि।। —वाग्भटालंकार, 4/132.
8. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 328.
गणेश त्र्यंबक देशपांडे ने वाग्भट का लेखन काल ईस्वी सन् 1122 से 1156 माना है।
—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ. 135.
9. शतैकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमार्कतः।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः।।
आराधनाविधिश्चेष्टं कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः।।
वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स धाहडो कारयन्मुदा।। —प्रभावकचरित, वादिदेवसूरिचरित, 71-73.
10. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (एम. चिन्टरनिस्), वाल्यूम सेकेण्ड, पृ. 282.
11. प्रभावकचरित, हेमचन्द्रसूरिचरित, श्लोक-34.
12. कुमारपाल प्रतिबोध, हेमचन्द्रजन्मादिवर्णन, पृ. 21.
13. हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, पृ. 4.
14. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-5, पृ. 100.
15. शब्द-प्रमाण-साहित्य छन्दोलक्ष्मविधायिनाम्।
श्री हेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नमः॥ — हिन्दी नाट्य-दर्पण, विवृति, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य-1. सूत्रधार-दत्तः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं नलविलासाभिधानमाद्यं

रूपकपभिनेतुमादेशः । — नलविलास, पृ. 1.

श्रीमदाचार्यश्रीहेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबन्धशतकर्तुर्महाकवेः रामचन्द्रस्य भूयांसः प्रबन्धाः । — निर्भयभीम व्यायोग, पृ. 1.

16. आह श्रीहेमचन्द्रस्य न कोऽप्येवं हि चिन्तकः ।

आद्योप्यभूदिलापालः सत्पात्राभोधिचन्द्रमाः ॥

सज्ज्ञानमहिमस्थैर्य मुनीनां किं न जायते ।

कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥

अस्त्यामुष्यायणो रामचन्द्राख्यः कृतशेखरः ।

प्राप्तरूपः प्राप्तारूपः संघे विश्वकलानिधिः ॥ — वही, पृ. 131-133.

17. प्रबन्ध-चिन्तामणि, कुमारपालादिप्रबन्ध, पृ. 89.

18. पंचप्रबन्धमिषपंचमुखानकेन विद्वन्मनः सदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः ।

विद्यात्रयीषणमचुम्बितकाव्यतन्द्रं कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ॥ — नलविलासनाटक, प्रस्तावना, पृ. 33.

19. प्राणाः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।

त्रैविद्यवेदितोऽप्यमै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥ — प्रारम्भिक प्रशस्ति, 9.

शब्दलक्ष्म-प्रभालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-कृतश्रमः ।

वारिविलासस्त्रिमार्गो नो प्रवाह इव जाह्नवः ॥ — अन्तिम प्रशस्ति, 4.

20. दी नाट्यदर्पण ऑफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्रः ए क्रिटिकल स्टडी, पृ. 221-222, नलविलास के संपा, जी.के. गोन्डेकर एवं नाट्यदर्पण के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने उक्त ग्रन्थों की भूमिका में रामचन्द्र के ज्ञात ग्रन्थों की कुल संख्या 39 मानी है ।

21. अलंकारमहोदधि, प्रारम्भिक प्रशस्ति, 1/6.

22. तस्य गुरोः प्रियशिष्यः प्रभुनरेन्द्रप्रथः प्रभावाढ्यः ।

योऽलंकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिं च ॥

— महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, विभाग-2, अध्याय-5, पृ. 104-106

23. वही, विभाग-3, अध्याय-14, पृ. 225.

24. द्रष्टव्य-अलंकार-महोदधि, प्रारम्भिक प्रशस्ति, 1/17-18.

25. तुलना कीजिए—अलंकार-महोदधि, 1/10 की टीका और काव्यानुशासन, 1/10 की स्वोपज्ञ अलंकार-चूड़ामणि टीका में ।

26. महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, पृ. 90.

27. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ. 255 एवं जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 77, 514.

28. द्रष्टव्य-संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ. 240.

29. धम्मकखणाय कोस (धर्माख्यान कोश) के टीकाकार, वि.सं. 1166 — जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 253.

चूनडीरास, निर्झरपंचमीकहारास और कल्याणरास के रचयिता अपभ्रंश कवि (ई. 12वीं शती)—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-4, पृ. 191.

कालिकाचार्य कथा (प्राकृत) के रचयिता एवं रविप्रभ के शिष्य (सं. 1286)—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 210.

कालिकाचार्य कथा (संस्कृत) के रचयिता एवं रत्नसिंहसूरि के शिष्य (14वीं शती), वही,

आलंकारिक और अलंकारशास्त्र :: 619

पृ. 211.

आदिनाथ चरित्र के रचयिता (वि.सं 1474), जिनरत्नकोश, पृ. 28.

30. काव्यशिक्षा, भूमिका, पृ. 10.
31. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 121.
32. वही, पृ. 210.
33. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड-4, पृ. 309.
34. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-5, पृ. 122.
35. जैन-सन्देश (शोधक 2), 18 दिसम्बर, 1958, पृ. 79.
36. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-4, पृ. 31.
37. महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल, 1963, पृ. 95.
38. जैन सन्देश (शोधक 2), 18 दिसम्बर, 1958, पृ. 79.
39. अलंकार-चिन्तामणि, 1/5.
40. अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिसुभाषितम्।
पुण्यपुरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥ —अलंकार चिन्तामणि, 1/5.
- 41-44. काव्यानुशासन, वाग्भट, अलंकारतिलक-वृत्ति
45. श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मन्त्रीमण्डन और उनका गौरवशाली वंश', पृ. 128. 134.
46. पार्श्वनाथ-चरित, प्रशस्ति
47. आचार्यभावदेवेन प्राच्यशास्त्रमहोदधेः।
आदाय साररत्नानि कृतो अलंकार-संग्रहः ॥ —काव्यालंकार सार-संग्रह, 8/8.
48. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृ. 395 का सन्दर्भ
49. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 396.
50. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड-4, पृ. 83.
51. द्रष्टव्य-जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 396-397.
52. द्रष्टव्य-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 67.
53. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. 554.
54. कादम्बरी-टीका उत्तरार्द्ध की अन्तिम प्रशस्ति
55. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. 554.
56. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 219.
57. कर्ता शतावधानानां विजेतोन्मत्तवादिनाम्।
वेत्ता षडपि शास्त्राणामध्येता फारसीयपि ॥ —(भक्तामरस्तोत्रवृत्ति), भानुचन्द्रगणिचरित,
पृ. 59.
58. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-5, पृ. 45.
59. संवत् 1703 वर्षे आश्विन शुदि 5 गुरो लिखितम्। —काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ. 101।
भानुचन्द्रगणि चरित संगृहीत काव्यप्रकाश खण्डन की प्रशस्ति में लेखनकाल संवत् 1722
लिखा है।
—भानुचन्द्रगणि चरित, पृ. 62.
60. भानुचन्द्रगणिचरित, इन्स्टीट्यूशन, पृ. 71-74.
61. अस्माकृतबृहद्दीकातो अवसेयः (पृ. 3) गुरुनाम्ना बृहद्दीकातः, पृ. 94.
62. काव्यप्रकाश-खण्डन-किञ्चित् प्रास्ताविक, पृ. 3.

आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा

आचार्य राजकुमार जैन

बहुत ही कम लोग इस तथ्य को जानते हैं कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य से आयुर्वेद का निकट सम्बन्ध है, उसी प्रकार जैन साहित्य और जैनधर्म से भी आयुर्वेद का निकटतम सम्बन्ध है। जैन साहित्य से आयुर्वेद की निकटता का अनुमान इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि जैन वाङ्मय में अन्य विषयों की भाँति आयुर्वेद शास्त्र या वैद्यक विषय की प्रामाणिकता भी प्रतिपादित है। जैनागम में वैद्यक (आयुर्वेद) विषय को भी जिनागम के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। यह एक महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य तथ्य है, कि जैनागम में केवल उसी शास्त्र, विषय या आगम की प्रामाणिकता स्वीकृत की गयी है जो सर्वज्ञ द्वारा कथित या सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव के वचनों पर आधारित एवं प्रतिपादित है। सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी विषय का जैन आगम में कोई स्थान या महत्त्व नहीं है।

जैनधर्म में ऐसे सभी शास्त्रों को श्रुत कहा जाता है, जो सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव के वचनों के आधार पर रचित होते हैं या जिनमें जिनेन्द्र देव के वचन साक्षात् निबद्ध हों। वर्तमान में धार्मिक ग्रन्थों के रूप में, आचारशास्त्र के रूप में, नीतिशास्त्र के रूप में, गणितशास्त्र, ज्योतिष ग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ, आयुर्वेद ग्रन्थ आदि के रूप में जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह-सब जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की उपदेश परम्परा से सम्बद्ध है। भगवान महावीर की दिव्यध्वनि को अवधारण करने वाले उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान महावीर के उपदेशों को धारण कर उसे बारह अंग और चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया था। यह सम्पूर्ण साहित्य द्वादशांग श्रुत कहलाता है। इस द्वादशांग श्रुत के पारगामी श्रुतकेवली कहलाते हैं। जैनधर्म के अनुसार ज्ञान के धारकों में दो प्रकार के ज्ञानी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं, जो प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्षज्ञान के धारक होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवलज्ञानी और परोक्ष ज्ञानियों में श्रुतकेवली महत्त्वपूर्ण हैं। केवलज्ञानी समस्त चराचर जगत् को प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं तथा श्रुतकेवली शास्त्र में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्ट जानते हैं।

द्वादशांग श्रुत में बारहवाँ जो दृष्टिवाद नाम का अंग है, उसके पाँच भेदों के

अन्तर्गत एक पूर्वगत नाम का जो भेद है, उसके भी चौदह भेद हैं। पूर्वगत के उन चौदह भेदों में बारहवाँ भेद 'प्राणावाय' के नाम से कहा गया है। इस प्राणावाय पूर्व के अन्तर्गत ही अष्टांग आयुर्वेद का कथन है। जैनाचार्यों के अनुसार यह प्राणावाय पूर्व ही वैद्यक शास्त्र या आयुर्वेद विद्या का मूल है। इस प्राणावाय पूर्व के अनुसार अथवा इसके आधार पर ही परवर्ती आचार्यों ने वैद्यक सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों की रचना की। श्री वीरसेनाचार्य ने 'कसायपाहुड' की जयध्वला टीका में द्वादशांग श्रुत के अन्तर्गत 'प्राणावाय पूर्व' की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

“प्राणावायपवादो दसविहपाणाणं हाणि—बड़्ढीओ वण्णेदि। होदु आउअपाणस्स हाणी आहारणिरोहादिसमुब्भूदकयलीघादेण, ण पुन वड्ढी, अहिणवदिठदिबंधवड्ढीए विणा उक्कइढणाए टिठदिसंतवइढीए अभावादो। ण एस दोसो, अट्ठहि आगारिसाहि आउअं बंधमाणजीवाणमाउअपाणस्स बड्ढिदंसणादो। करितुरय-णरायि-संबंद्धमंठगमाउवेयं भणदित्ति वुत्तं होदि। वुच्चदे-शालाक्यं कायचिकित्सा भूततंत्रं शलयमगदतंत्रं रसायनतंत्रं बालरक्षा बीजवर्द्धनमिति आयुर्वेदस्य अष्टांगानि।”

अर्थात् प्राणावायप्रवाद नाम का पूर्व दस प्रकार के प्राणों की हानि और वृद्धि का वर्णन करता है (पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्रकार के प्राण होते हैं)। आहार निरोध आदि कारणों से उत्पन्न हुए कदलीघात मरण के निमित्त से भले ही आयु प्राण की हानि हो जावे, परन्तु आयु प्राण की वृद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि नवीन स्थितिवन्ध की वृद्धि हुए बिना उत्कर्षण के द्वारा केवल सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति की वृद्धि नहीं हो सकती है, यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि आठ अपकर्षों के द्वारा आयुर्कर्म का बन्ध करने वाले जीवों के आयुप्राण की वृद्धि देखी जाती है। यह (प्राणावायप्रवाद पूर्व) हाथी, घोड़ा, मनुष्य आदि से सम्बन्ध रखने वाले अष्टांग आयुर्वेद का कथन है। आयुर्वेद के आठ अंग कौन से हैं? बतलाते हैं—शालाक्य, कायचिकित्सा, भूततन्त्र, शल्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र, बालरक्षा और बीजवर्धन ये आयुर्वेद के आठ अंग हैं।

राजवार्तिक में प्राणावाय का स्वरूप निम्न प्रकार से उल्लिखित है—

“कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितः तत्प्राणावायम्।”²

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तद्गत दोष और चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद का वर्णन विस्तारपूर्वक हो, पृथ्वी आदि महाभूतों की क्रिया, विषैले प्राणियों और उनके विष की चिकित्सा आदि तथा प्राण-अपान का विभाग जिसमें विस्तारपूर्वक वर्णित हो, वह “प्राणावाय” है।

आशय का ऐसा ही कथन गोम्मटसार (जीवकाण्ड) की कर्नाटक वृत्ति में निम्न प्रकार से किया गया है—

“प्राणानामावादः प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावादं द्वादशं पूर्वं मनु। कायचिकित्सा-
द्यष्टांगमायुर्वेदमं भूतिकर्मजांगुलिकप्रक्रमं ईलापिंगलसुषुम्नादिबहुप्रकार प्राणापानविभागं
दशप्राणं-लुपकारकापकारक द्रव्यंगलुमं गत्याद्यनुसारदिवर्णिसुगुमल्लि द्विलक्षगुणित
पंचाशदुत्तरषट्शतपदंगलुत्रयोदशकोटिगलपुवं बुदर्थ । 13 को 130000000 ।”³

जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत छाया-प्राणानां आवादः प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावायं द्वादशं
पूर्व, तच्च कायचिकित्साद्यष्टांगमायुर्वेद भूतिकर्मजांगुलिकप्रक्रमं इलापिंगलासुषुम्नादिबहुप्रकार
प्राणापानविभागं दशप्राणानां उपकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण वर्णयति । तत्र द्विलक्षगुणित
पंचाशदुत्तरषट्छतानि पदानि त्रयोदशकोटय इत्यर्थ : 13 को ।⁴

अर्थात् प्राणों का आवाद-कथन जिसमें है, वह प्राणावाद नामक बारहवाँ पूर्व है।
वह कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, जननकर्म, जांगुलिकप्रक्रम, ईडा-पिंगला-सुषुम्नादि
अनेक प्रकार के प्राण-अपान (श्वासोच्छ्वास) के विभाग तथा दस प्राणों के उपकारक
अपकारक द्रव्य का गति आदि के अनुसार वर्णन करता है। उसमें दो लाख से गुणित
छह सौ पचास अर्थात् तेरह करोड़ पद हैं।

द्वादशांग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावाय पूर्व नामक अंग मूलतः अर्धमागधी भाषा
में लिपिबद्ध है। इस प्राणावाय पूर्व के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने विभिन्न
वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय पूर्व के आधार
पर ही कल्याणकारक नाम के वैद्यक ग्रन्थ की रचना की। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य
श्री ने अपने कल्याणकारक नामक ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर किया है। इसके अतिरिक्त
ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है—

सर्वार्थाधिकमागधीविलसद् भाषापरिशेषोज्ज्वल-

प्राणावायमहागमादवितथं संग्रह्य संक्षेपतः ।

उग्रादित्यगुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं

शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ॥⁵

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करने वाली अर्धमागधी भाषा में जो अत्यन्त
सुन्दर प्राणावाय नामक महागम (महाशास्त्र) है, उसे यथावत् संक्षेप रूप से संग्रह कर
उग्रादित्य गुरु ने उत्तमोत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थानभूत इस (कल्याणकारक) शास्त्र
की संस्कृत भाषा में रचना की। इन दोनों (प्राणावाय और कल्याणकारक) में यही अन्तर है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार आयुर्वेद के आठ अंग होते हैं। स्थानांग में भी
आयुर्वेद के आठ अंगों की चर्चा की गयी है। यथा—

“अट्टविधे आउवेदे पण्णते तं जहा — कुमारभिच्च कायतिगिच्छा सालाली
सल्लहत्ता जंगोली भूतवेज्जा खारतंते रसायणे ।”⁶

अर्थात् अष्टविध आयुर्वेद का वर्णन किया जाता है। यथा—कौमारभृत्य, कायचिकित्सा,

आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा :: 623

शालाक्य, शल्यहर्ता (शल्यतन्त्र), जंगोली (अगदतन्त्र), भूतविद्या, क्षारतन्त्र (वाजीकरण) और रसायन। आयुर्वेद शास्त्र में भी आठ अंगों का ही निर्देश किया गया है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार—“तद्यथा—शल्यं शालाक्यं कायचिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्यमगदतन्त्रं रसायनतन्त्रंवाजीकरणतन्त्रमिति।” अर्थात् शल्यतन्त्र, शालाक्य तन्त्र, कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, भूतविद्या, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण ये आठ अंग आयुर्वेद के होते हैं।¹

इस प्रकार द्वादशांग में आयुर्वेद का प्रतिपादन होने से जैनधर्म में आयुर्वेद की प्रामाणिकता स्पष्ट है। अब यहाँ यह विचारणीय है कि इसे अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत रखा जाय या अंगबाह्य के अन्तर्गत, क्योंकि आचार्यों के अनुसार श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है : 1. अंगप्रविष्ट और 2. अंगबाह्य। द्वादशांग का वर्णन अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत किया गया है, जिसमें दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग और उसके भेद-प्रभेद भी समाविष्ट हैं। कुछ विद्वानों का यह भी अभिमत है कि वर्तमान में दृष्टिवादांग पूर्णतः लुप्त हो चुका है, उसका कोई भी भेद किसी भी रूप में विद्यमान नहीं है। अतः तद्विषयक जो ग्रन्थ आजकल मिलते हैं, वे सर्वज्ञ के साक्षात् वचन न होकर उनके वचनों को आधार बनाकर रचित ग्रन्थों पर आधारित हैं। आयुर्वेद, जिसे प्राणावाय की संज्ञा दी गयी है, पर भी यह बात लागू होती है। ऐसी स्थिति में उसे अंगप्रविष्ट श्रुत मानना उचित नहीं है, किन्तु यह तर्क समीचीन प्रतीत नहीं होता। आज भी बारहवें दृष्टिवाद अंग का कुछ भाग उपलब्ध है। शास्त्रकारों आचार्यों ने पहले ही अंगप्रविष्ट श्रुत के बारह और अंगबाह्य श्रुत के चौदह भेद बतलाए हैं। इनमें कोई भी परिवर्तन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। अतः आयुर्वेद या प्राणावाय को अंगबाह्य में गिनना तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।

अनुयोग के अन्तर्गत

जैन सिद्धान्तों या जैन मान्यताओं के अवलम्बनपूर्वक जैनाचार्यों के द्वारा जो भी ग्रन्थ रचे गये हैं, उस सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है। यथा—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिन शास्त्रों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र (जीवन-प्रसंगों) का विस्तार-पूर्वक वर्णन हो वह प्रथमानुयोग है, जिस शास्त्र में गुणस्थान, मार्गणा आदि रूप जीव का, कर्मों का तथा त्रिलोक आदि का निरूपण ही वह करणानुयोग है, जिस शास्त्र में श्रावक (गृहस्थ) एवं श्रमण (मुनि) धर्म के आचरण का निरूपण विस्तारपूर्वक हो वह चरणानुयोग है तथा जिस शास्त्र में षट्द्रव्य, सप्त तत्त्व आदि सैद्धान्तिक विषयों तथा स्व-पर-भेद-विज्ञान आदि विषय का समीचीन निरूपण किया गया हो, वह द्रव्यानुयोग है। इस चतुर्विध अनुयोग में आयुर्वेद विषय का कथन किसके अन्तर्गत किया गया है? इस

पर विचार अपेक्षित है।

इन चार अनुयोगों के अन्तर्गत तत्तत् विषयक ग्रन्थों का परिगणन किया गया है, किन्तु जैनाचार्यों ने इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया कि प्राणावायु पूर्व (आयुर्वेद) विषय का अवलम्बन कर रचित ग्रन्थों का परिगणन किस अनुयोग के अन्तर्गत किया जाये?.... जबकि स्वामी समन्तभद्र, पूज्यपाद आदि मनीषी और उद्भट जैनाचार्यों के द्वारा आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर ग्रन्थ रचना की गयी है। द्वादशांगान्तर्गत प्राणावायु पूर्व का परिगणन और इस विषय को अधिकृत कर जैन विद्वानों द्वारा ग्रन्थ-रचना से इस विषय की प्रामाणिकता असन्दिग्ध रूप से प्रतिपादित होती है। ऐसी स्थिति में किसी अनुयोग के अन्तर्गत इसका परिगणन नहीं किया जाना कुछ विस्मयकारक ही माना जा सकता है।

इस विषय पर जब गम्भीरतापूर्वक अध्ययन और मनन किया गया, तो सहज ही यह तथ्य उद्घाटित हुआ कि जैन मुनियों, विद्वानों एवं मनीषी आचार्यों ने प्राणावायु पूर्व (आयुर्वेद) पर आधारित जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उनमें से अनेक ग्रन्थों में सर्वांग पूर्ण आयुर्वेद का प्रतिपादन है। उन ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद मात्र चिकित्सा-शास्त्र ही नहीं है, अपितु इसमें आहारगत पथ्य व्यवस्था तथा सामान्य आहार-विहार के नियमों का व्यापक रूप से प्रतिपादन है। किस प्रकार के आहार-विहार का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर कैसे पड़ता है और किस प्रकृति वाले मनुष्य के लिए कौन-सा आहार-विहार हितकर और कौन-सा अहितकर है? इसकी विस्तृत विवक्षा की गयी है। मनुष्य को प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर कौन-कौन सी क्रियाएँ दैनिक रूप से करना चाहिए, अर्चन, पूजन, वन्दन, आहारचर्या, विश्राम आदि का विवेचन विस्तारपूर्वक दिनचर्या प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है। इसी प्रकार रात्रिचर्या के अन्तर्गत शयन आदि निशाकालीन चर्या के नियम बतलाये गये हैं कि स्वस्थ और रोगी व्यक्ति को कब-कब किस प्रकार और कितनी निद्रा लेनी चाहिए? तथा दिन में सोने से क्या हानि या गुण होते हैं? इत्यादि विषयों पर युक्तियुक्त रूप से विचार किया गया है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य के आचरण की शुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है और इसके लिए सात्विक आहार-सेवन का निर्देश किया गया है। आचरण की शुद्धता हेतु दूषित मनोभावों के परित्याग का निर्देश करते हुए संयमपूर्वक जीवन-यापन, अहिंसा का परिपालन आयुर्वेद शास्त्र करता है। श्री उग्रदित्याचार्य द्वारा प्रणीत कल्याणकारक ग्रन्थ जो सम्पूर्णतः आयुर्वेद विषय को ही उल्लिखित करता है, में मद्य, मांस, मधु का सेवन वर्जित करते हुए किसी भी रूप में इनके सेवन का उल्लेख नहीं है। यह इस ग्रन्थ की मौलिक विशेषता है। यह ग्रन्थ यथार्थतः जैन दृष्टिकोण और जिन-मार्ग का अनुसरण करते हुए रचा गया है। मनुष्य के आचरण-सम्बन्धी अन्यान्य विषय इसमें

प्रतिपादित हैं। मनुष्य के व्यक्तिगत दैनिक आचरण का प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर किस प्रकार पड़ता है और मिथ्या या अहित आचरण किस प्रकार रोगोत्पत्ति का मूल कारण है तथा व्याधितावस्था में उपवास, अहित द्रव्यों के सेवन से विरति, उबाले हुए जल का सेवन, औषधि एवं पथ्य सेवन हेतु नियत काल का निर्देश आदि समस्त विषय मनुष्य के आचरण से सम्बन्धित हैं और यही आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य है।

आयुर्वेद या वैद्यक विद्या में चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अतिरिक्त आहार-चर्या एवं आचरण-सम्बन्धी विषयों की प्रमुखता दी गयी है। रोगोपचार हेतु भी पथ्य के अन्तर्गत आहार सम्बन्धी नियमों तथा आचरण-सम्बन्धी अन्यान्य सावधानियों की समीचीन व्यवस्था की गयी है। जैसे ज्वर में लंघन (उपवास) का निर्देश, उष्णोदक सेवन का विधान, विश्राम आदि का निर्देश। कास-श्वास में दही, केला, उड़द की दाल का निषेध, आयास, अध्वगमन, दिवाशयन आदि का निषेध तथा लघु और उष्ण-गुण-प्रधान आहार सेवन का विधान। इसी प्रकार अन्य सभी व्याधियों में हिताहित विवेक पूर्वक पथ्यापथ्य का विधान बतलाया गया है। सभी प्रकार की आहार-चर्या तथा मनुष्य द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ मनुष्य के आचरण की ही अंग हैं। अतः उन्हें द्विविध आचरण के अन्तर्गत माना जा सकता है—हिताचरण और अहिताचरण। इस प्रकार यह आयुर्वेदशास्त्र भी एक प्रकार का आचार-शास्त्र ही है।

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को चार अनुयोगों में विभाजित करने की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आयुर्वेद शास्त्र को चरणानुयोग के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। चरणानुयोग में सभी प्रकार का आचार (आचार-विहार, आचरण आदि) उल्लिखित है। अतः आयुर्वेद में आचरण—सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से वह भी चरणानुयोग के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए।

इस प्रकार जैन धर्मानुसार आयुर्वेद भी अन्य शास्त्र या विद्याओं की भाँति द्वादशांग श्रुत के अन्तर्गत विवक्षित है। द्वादशांग श्रुत चूँकि तीर्थंकर की वाणी द्वारा उद्घाटित है, तद्वत् आयुर्वेद भी तीर्थंकर की वाणी द्वारा उद्भूत है। इसका प्रतिपादन श्री उग्रादित्याचार्य ने निम्न प्रकार से किया है—

दिव्यध्वनि-प्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।

पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपंचमष्टार्थनिर्मलधियो मुनयोऽधिगमुः॥

एवं जिनान्तर-निबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम्।

स्वायम्भुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षात् श्रुतदलैः श्रुतकेवलिभ्यः॥^४

अर्थात् इस प्रकार की भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा प्रकटित (आयुर्वेद सम्बन्धी) समस्त (चार प्रकार के) तत्त्वों को साक्षात् गणधर परमेष्ठी ने जान लिया। तदनन्तर गणधरों द्वारा निरूपित वस्तु स्वरूप को निर्मल मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञानको

धारण करने वाले योगियों ने जान लिया। इस प्रकार यह सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र ऋषभनाथ तीर्थंकर के बाद अजितनाथ, सम्भवनाथ आदि चतुर्विंशति (महावीर) तीर्थंकर पर्यन्त अनवरत रूप से चला आया है। (अर्थात् चौबीसों तीर्थंकरों ने इसका प्रतिपादन किया है।) यह अत्यन्त विस्तृत है, दोष-रहित है तथा गम्भीर विवेचन से युक्त है। तीर्थंकरों के मुखारविन्द से स्वयं प्रकट होने के कारण 'स्वायम्भुव' (स्वयम्भू) है। अनादिकाल से चले आने के कारण (बीजांकुर न्याय से) सनातन है और गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुत केवलियों के मुख से अल्पांग ज्ञानी या अंगांग ज्ञानी मुनियों के द्वारा साक्षात् सुना हुआ है। अभिप्राय यह है कि श्रुतकेवलियों ने अन्य मुनियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया।

इस प्रकार श्री उग्रादित्याचार्य के उक्त कथन से यह सुस्पष्ट है कि यह आयुर्वेद-शास्त्र त्रिलोक-हितार्थी तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित होने से जिनागम है। उनसे गणधर, प्रतिगणधरों ने इसे ग्रहण किया और प्रतिगणधरों/श्रुतकेवलियों एवं उनके पश्चाद्वर्ती अन्य मुनियों ने यथाक्रम से उसे जाना। इसी क्रम में जिन मुनियों जैनाचार्यों ने आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर वैद्यक ग्रन्थों की रचना की है, उनका क्रमानुसार वर्णन निम्न प्रकार है—

श्री समन्तभद्र (ई. चतुर्थ शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी)

दक्षिण की दिगम्बर-आचार्य-परम्परा में समन्तभद्र का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। ये प्रसिद्ध वादी, न्याय-व्याकरण-वैद्यक-सिद्धान्त में निष्णात और दार्शनिक थे। ये पूज्यपाद से पूर्ववर्ती थे। कर्नाटक में इस महान् तार्किक का अवतरण न केवल जैन इतिहास में किन्तु समस्त-दार्शनिक साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय युगप्रवर्तक रूप से माना जाता है। भद्रबाहु, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्यों को दक्षिण के प्रसिद्ध द्रविड़ संघ के नन्दिसंघ का बताया जाता है। 'आप्तमीमांसा' की एक हस्तप्रति के अनुसार समन्तभद्र उरगपुर (वर्तमान उरैयूर, तमिलनाडु) के राजकुमार थे। 'जिनस्तुतिशतक' के एक पद्य से ज्ञात होता है कि इनका मूल नाम शान्तिवर्मा था।

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथमन्दिर में लगे 'मल्लिषेण प्रशस्ति' शिलालेख (सन् 1128) में कहा गया है कि इनको 'भस्मकव्याधि' हुई थी, जिस पर इन्होंने विजय पायी थी, पद्मावती देवी से उदात्तपद प्राप्त किया था, अपने मन्त्रों से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट की थी। कलिकाल में इन्होंने जैनधर्म को प्रशस्त बनाया, सब तरफ से कल्याणकारी होने के कारण (भद्रं समन्ताद्) ये 'समन्तभद्र' कहलाये—

'वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावति देवता

दत्तोदात्तपदः स्वमन्त्रवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः।

आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा :: 627

आचार्यः स समन्तभद्रगणभृद् येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्ताद् मुहुः॥^१

प्रभाचन्द्र के 'कथाकोश' में भी कहा गया है कि समन्तभद्र ने अपनी 'भस्मक' व्याधि के शमन के लिए वेश बदलकर अनेक स्थानों पर भ्रमण किया। अन्त में वाराणसी के शिव मन्दिर में विपुल नैवेद्य से उनका रोग दूर हुआ। वहाँ के राजा ने उनको शिव को प्रणाम करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' की रचना की। उसी समय 'चन्द्रप्रभस्तुति' के पठन के समय शिवलिंग से भगवान् चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई। श्रवणबेलगोल के उक्त शिलालेख के अनुसार बाद में उन्होंने पाटलिपुत्र, मालव, सिन्धु, टक्क (पंजाब), कांची, विदिशा, और करहाटक (कर्हाड, महाराष्ट्र) में वादों में विजय प्राप्त कर जैनमत को प्रतिष्ठित किया।

उन्होंने जैन साहित्य में संस्कृत के उपयोग को पुरस्कृत किया। तार्किक दृष्टि से जैनमत को प्रतिष्ठापित किया।

'आप्तमीमांसा' या 'देवागमस्तोत्र' इनकी 'युगप्रवर्तक' रचनाएँ हैं। इसमें महावीर के उपदेशों का तर्कभूमि पर प्रतिपादन करते हुए 'स्याद्वाद' का सर्वप्रथम विस्तार से वर्णन किया गया है। 'युक्त्यनुशासन' में विविध एकान्तवादों को दोषयुक्त प्रमाणित करते हुए 'अनेकान्त' वाद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया था। 'स्वयम्भूस्तोत्र' और जिनस्तुतिशतक में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। 'रत्नकरण्ड' में श्रावकों के लिए सम्यक् 'दर्शन', 'ज्ञान' और 'चारित्र' के रूप में गृहस्थों के धर्माचरण का विस्तार से स्पष्टीकरण किया गया है। समन्तभद्र का साहित्य विस्तृत नहीं है, परन्तु मौलिक होने से बहुत प्रतिष्ठित है।

इसका काल वीर नि.सं. की दसवीं शती (373 से 473 ई.) माना जाता है। कुछ विद्वान् ई. दूसरी या तीसरी शती मानते हैं। ऐसी मान्यता है कि समन्तभद्र कर्नाटक के कारवार जिले के होन्नावार ताल्लुके (तहसील) के गेरसप्पा के समीप 'हेडल्लि' में पीठ बनाकर निवास करते थे। इस स्थान को संगीतपुर भी कहते हैं। कन्नड़ भाषा में 'हाड्ड' का अर्थ संगीत और 'हाल्ली' का अर्थ नगर या पुर है। अतः हाडल्लि का संस्कृत नाम संगीतपुर है। यहाँ चन्द्रगिरि और इन्द्रगिरि नामक दो पर्वत हैं। इन पर समन्तभद्र तपश्चरण करते थे। गेरसप्पा के जंगल में अब भी शिलानिर्मित चतुर्मुख मन्दिर, ज्वालामालिनी मन्दिर और पार्श्वनाथ का जैन चैत्यालय है। वहाँ दूरी तक प्राचीन खण्डहर, मूर्तियाँ आदि मिलते हैं, जिससे वहाँ विशाल बस्ती होना प्रमाणित होता है। ऐसी किंवदन्ती है कि यहाँ जंगल में एक 'सिद्धरसकूप' है। कलियुग में धर्मसंकट पैदा होने पर इस रसकूप का उपयोग होगा। 'सर्वाजन' नामक अंजन आँख में आँजने से इस कूप को देखा जा सकता है। इस अंजन का प्रयोग समन्तभद्र के 'पुष्पायुर्वेद'

ग्रन्थ में दिया गया है—अंजन के निर्माण हेतु पुष्प भी इसी वन में मिलते हैं।

समन्तभद्र वैद्यक और रसविद्या में भी निपुण थे। उनके अनेक रसयोग प्रचलित हैं। समन्तभद्र से पूर्व भी अनेक जैन मुनियों ने वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी। समन्तभद्र ने अपने 'सिद्धान्तरसायनकल्प' ग्रन्थ में लिखा है—

'श्रीमदभल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जं' ¹⁰

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—'रसेन्द्र जैनागमसूत्रबद्ध'॥

इससे जैन आगम में पूर्व से अनेक वैद्यक व रसवाद सम्बन्धी ग्रन्थ विद्यमान होना प्रमाणित होता है। वे सब रचनाएँ अब कालकवलित हो चुकी हैं। समन्तभद्र भी अच्छे चिकित्सक थे। उनके निम्न वैद्यक ग्रन्थों का पता चलता है, वर्तमान में ये ग्रन्थ अलभ्य हैं—

1. अष्टांग-संग्रह
2. सिद्धान्तरसायनकल्प

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार इसमें अठारह हजार श्लोक होना बताया जाता है, परन्तु अब इसके कुछ वचन इधर-उधर विकीर्ण रूप से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इनको एकत्रित करने पर उन श्लोकों की संख्या भी दो-तीन हजार तक पहुँच जाती है।

इसमें आयुर्वेद के आठ अंगों—काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शल्य, दंष्ट्रा, जरा और विष का विवेचन था।

यह ग्रन्थ जैन आयुर्वेद के ग्रन्थों में अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसमें जैन सिद्धान्तानुसार विषयों का विवेचन है।

श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ कल्याणकारक की रचना श्री समन्तभद्र द्वारा रचित अष्टांग युक्त ग्रन्थ सम्भवतः अष्टांग-संग्रह के आधार पर की थी, जैसा कि उनके निम्न कथन से स्पष्ट है—

अष्टांगमप्याखिलत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्।

संक्षेपतोनिगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥'

अर्थात् श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा अत्यन्त विस्तारपूर्वक वाणी विभव से विशेषतः सम्पूर्ण अष्टांगयुक्त आयुर्वेद शास्त्र का कथन किया गया था। उसे ही अपनी शक्ति के अनुसार संक्षिप्त रूप से समस्त पदार्थों से युक्त यह कल्याणकारक मेरे द्वारा कहा गया है।

इसके अतिरिक्त आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित एक अन्य ग्रन्थ 'सिद्धान्तरसायनकल्प' की चर्चा श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने निम्न प्रकार से की है—

आचार्य समन्तभद्र हर-एक विषय में अद्वितीय विद्वत्ता को धारण करने वाले हुए। आपने न्याय, सिद्धान्त के विषय में जिस प्रकार प्रौढ़ प्रभुत्व को प्राप्त किया था, उसी प्रकार आयुर्वेद के विषय में भी अद्वितीय विद्वत्ता को प्राप्त किया था। आपके द्वारा सिद्धान्त रसायनकल्प नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना अठारह हजार श्लोक परिमित की गयी थी, परन्तु आज वह कीटों का भक्ष्य बन गया है। कहीं-कहीं पर उसके कुछ श्लोक मिलते हैं, जिनका संग्रह करने पर 2-3 हजार श्लोक सहज संगृहीत हो सकते हैं। अहिंसा-धर्मप्रेमी आचार्य ने अपने ग्रन्थ में औषधयोग में पूर्ण अहिंसा-धर्म का ही समर्थन किया है। इसके अलावा आपके रचित ग्रन्थ में जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग एवं संकेत भी तदनुकूल दिये गये हैं। इसलिए अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर अर्थ करना पड़ता है। उदाहरणार्थ 'रत्नत्रयौषध' का उल्लेख ग्रन्थ में आया है। इसका अर्थ वज्रदि रत्नत्रयों के द्वारा निर्मित औषधि ऐसा अर्थ सर्वसामान्य दृष्टि से प्रतीत होता है, किन्तु वैसा नहीं है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय के नाम से जाना जाता है। वे जिस प्रकार मिथ्या दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप त्रिदोषों का नाश करते हैं, उसी प्रकार रस, गन्धक व पाषाण इन त्रिधातुओं का अमृतीकरण कर तैयार होने वाला रसायन वात, पित्त व कफ रूपी त्रिदोष को दूर करता है। अतएव उस रसायन का नाम 'रत्नत्रयौषध' रखा गया है।

इसी प्रकार औषधि निर्माण के प्रमाण में भी जैनमत प्रक्रिया के अनुसार ही संकेत संख्याओं का विधान किया है। जैसे रससिन्दूर को तैयार करने के लिए कहा गया है कि "सूतं केसरि गन्धकं मृग नवासारं द्रुमं इत्यादि। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि यह प्रमाण किस प्रकार लिया हुआ है? इसे समझने के लिए जैनधर्म की कुछ मूल बातों का ज्ञान आवश्यक है। जैसे जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर का एक चिह्न होता है, जिसे लांछन कहते हैं। जैसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चिह्न वृषभ या बैल है तथा चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का चिह्न सिंह है। उसके अनुसार जिन तीर्थंकरों के चिह्न से प्रमाण का उल्लेख किया जाय उतनी ही संख्या में प्रमाण का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ, ऊपर के वाक्य में 'सूतं केसरि' पद आया है। यहाँ केसरि (सिंह) चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का चिह्न है, अतः केसरि शब्द से 24 संख्या का ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार 'गन्धक मृग' यहाँ मृग सोलहवें तीर्थंकर का चिह्न होने से 16 संख्या का ग्रहण करना चाहिए। अभिप्रेतार्थ यह हुआ कि पारद 24 भाग प्रमाण और गन्धक 16 भाग प्रमाण इत्यादि प्रकार से अर्थ ग्रहण करना चाहिए। समन्तभद्र के ग्रन्थ में सर्वत्र इसी प्रकार के सांकेतिक व. पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।¹²

पुष्पायुर्वेद

आचार्य समन्तभद्र ने इसमें 18000 प्रकार के पराग-रहित पुष्पों से निर्मित रसायनौषधि—प्रयोगों के विषय में बताया है। वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने लिखा है—“इस पुष्पायुर्वेद ग्रन्थ में क्रि.पू.3 रे शतमान की कर्णाटक की लिपि उपलब्ध होती है, जो-कि बहुत मुश्किल से वाँचने में आती है। इतिहास संशोधकों के लिए यह एक अपूर्व व उपयोगी विषय है। अठारह हजार जाति के केवल पुष्पों का ही जिसमें कथन हो, उस ग्रन्थ का महत्त्व कितना होगा यह भी पाठक विचार करें। अभी तक पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के सिवाय और किसी ने भी नहीं किया है। आयुर्वेद संसार में यह एक अद्भुत चीज है।”¹³

इनके विस्तृत परिचय के लिए जैनाचार्यों का इतिहास देखना चाहिए। श्री समन्तभद्र और उनके ग्रन्थ ‘सिद्धान्तरसायनकल्प’ में निहित प्रयोगों और उनकी निर्माण—प्रक्रिया से स्पष्ट है कि रसविद्या का पर्याप्त विकास विक्रम की द्वितीय शताब्दी में दक्षिण भारत में हो चुका था। किन्तु आयुर्वेद के वर्तमान रसशास्त्र के अध्येताओं एवं विद्वानों को इसकी जानकारी नहीं होने से रसशास्त्र के विकास का यह काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक अन्धकारावृत रहा।

श्रीपूज्यपाद (देवनन्दि) (464-524 ई.)

श्री पूज्यपाद स्वामी ने ‘कल्याणकारक’ नामक वैद्यक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस तथ्य की पुष्टि कर्नाटक (कन्नड़) भाषा एवं संस्कृति के मनीषी विद्वान जैनाचार्य जगद्दल सोमनाथ ने भी की है। उन्होंने भी पूज्यपाद स्वामी द्वारा लिखित कल्याणकारक ग्रन्थ का कर्नाटक भाषा में भाषानुवाद कर उसे कन्नड़ लिपि में लिप्यन्तरित किया था। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ कितना महत्वपूर्ण रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडश ज्वर-चिकित्सा-निरूपण आदि अष्टांग से संयुक्त हैं। कन्नड़ भाषा के वैद्यक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वाधिक प्राचीन एवं व्यवस्थित है। पूज्यपाद स्वामी और उनके कल्याणकारक ग्रन्थ की चर्चा करते हुए एक स्थान पर आचार्य जगद्दल सोमनाथ ने स्पष्ट किया है—

सुकरं तानेने पूज्यपाददमुनिगल मुंपेलद कल्याणकारकम्
वाहटसिद्धसारचरकाद्युत्कृष्टतमं सदगुणाधिकमं
वर्जित मद्यमांसमधुव कणीरंदिं लोकरक्षकमा
चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेल्दनिं तलितयिं।।¹⁴

आचार्य विजयण्ण उपाध्याय द्वारा लिखित (संकलित) ‘सार-संग्रह’ नामक एक आयुर्वेद (प्राणवाय) की परम्परा :: 631

ग्रन्थ की प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरा में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में जो मंगलाचरण दिया गया है, उसमें बड़े स्पष्ट रूप से पूज्यपाद द्वारा कथित कल्याणकारक ग्रन्थ का उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद स्वामी ने 'कल्याणकारक' नामक एक ग्रन्थ का निर्माण किया था। 'सार-संग्रह' में विहित मंगलाचरण निम्न प्रकार है—

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।

कल्याणकारको ग्रन्थः पूज्यपादेन भाषितः॥

सर्वलोकोपकारार्थं कथ्यते सारसंग्रहः॥

पूज्यपाद द्वारा लिखित आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनमें से कुछ निम्न हैं—रत्नाकरौषध योग ग्रन्थ, भैषज्यगुणार्णव, वैद्यसार, निदानमुक्तावलि, मदनकामरत्न, विद्याविनोद, पूज्यपाद-वैद्यक, वैद्यकशास्त्र, नाडीपरीक्षा आदि।

योगरत्नाकर में पूज्यपाद के नाम से अनेक रसयोगों को उद्धृत किया गया है, जिससे पूज्यपाद द्वारा रचित किसी विशाल रसग्रन्थ होने का संकेत मिलता है। इसी प्रकार 'वसवराजीयम्' नामक ग्रन्थ में भी पूज्यपाद के नाम से अनेक रसयोग उद्धृत किये गये हैं। जैसे—भ्रमणादि वातरोग में गन्धक रसायन योग के अन्त में लिखा है—

अशीति वातरोगांश्च ह्यर्शास्यष्टविधानि च।

मनुष्याणां हितार्थाय पूज्यपादेन निर्मितः॥

इसी प्रकार कालाग्नि रुद्ररस के पाठ में भी पूज्यपाद के नाम का उल्लेख निम्न प्रकार से है—

अशीति वातजान् रोगान् गुल्मं च ग्रहणीगदान्।

रसः कालाग्निरुद्रोऽयं पूज्यपादविनिर्मितः॥

इसके अतिरिक्त वातादि रोग में त्रिकटुकादि नस्य के पाठ में—पूज्यपादकृतो योगो नराणां हितकाम्यया, ज्वरांकुशरस के पाठ में—पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वरगजांकुशः, चण्डभानुरसे—नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः, शोफमुद्गर रसे—शोफमुद्गर नामाऽयं पूज्यपादेन निर्मितः।

पात्रकेसरि या पात्रस्वामी (छठी शती)

इनके विषय में कहा जाता है कि ये दक्षिण के अहिच्छत्रनगर के राजपुरोहित थे। ये समन्तभद्र की आप्तमीमांसा को पढ़कर अत्यन्त प्रभावित हुए और इन्होंने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। ये दिगम्बर थे। बौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु के लक्षण का खण्डन करने के लिए इन्होंने पद्मावती देवी की कृपा से 'त्रिलक्षणकदर्शन' नामक ग्रन्थ लिखा

था। जैन शिलालेख संग्रह, आरा 1.5.103 के अनुसार श्रवणबेलगोला के मल्लिषेणप्रशस्ति (सन् 128) में इस प्रसंग का निम्न उल्लेख मिलता है—

‘महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावतीसहायात्त्रिलक्षणकदर्शनं कर्तुम्॥’

उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ ‘कल्याणकारक’ में शल्यतन्त्रं पात्र स्वामी प्रोक्तम् (क. का. 20/85) इत्यादि वाक्य द्वारा इनके द्वारा रचित शल्यतन्त्र नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इनका काल वीरनिर्वाण की ग्यारहवीं शती (5वीं-6वीं शती ई.) माना जाता है।

सिद्धसेन

यह दक्षिण के प्राचीन प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य थे, जिन्होंने ‘अगदतन्त्र’ (विष) और ‘भूतविद्या’ (उग्रग्रहशमन) पर ग्रन्थ लिखा था। यह अब अप्राप्य है।

श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ ‘कल्याणकारक’ (प. 20/85) में इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

‘विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।’ अतः इनका काल 8वीं शती से पूर्व का प्रमाणित होता है। इनके काल व स्थान का विशेष परिचय नहीं मिलता है।

मेघनाद

यह दक्षिण की दिगम्बर परम्परा के आचार्य और वैद्यक के विद्वान् थे। इनके द्वारा विरचित ‘बालवैद्य’ (कौमारभृत्य बालचिकित्सा) का उल्लेख उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ कल्याणकारक (पं. 20/85) में इस प्रकार किया है—‘मेघनादैः शिशूनां वैद्यं’। अतः इनका काल 8वीं शती से पूर्व का ज्ञात होता है।

सिंहनाद (सिंहसेन)

इनके नाम का पाठान्तर ‘सिंहसेन’ मिलता है। इन्होंने ‘बाजीकरण’ और ‘रसायन’ पर चिकित्साग्रन्थ लिखा था।

श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ कल्याण कारक (प. 20/85) में इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—‘वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः।’

वृष्य—बाजीकरण। दिव्यामृत—दीर्घायु देने वाला शास्त्र-रसायनतन्त्र। इनका काल 8वीं शती से पूर्व का प्रमाणित होता है।

दशरथमुनि

यह दक्षिण के दिगम्बर पुनि थे। इन्होंने 'कायचिकित्सा' पर कोई ग्रन्थ लिखा था। यह वर्तमान में अप्राप्त है।

श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत कल्याणकारक (पृ. 20/85) में इनका पूर्वाचार्य के रूप में उल्लेख किया गया है—काये सा चिकित्सा दशरथगुरुभिः'।

सम्भवतः ये उग्रादित्य के गुरु रहे हों। उनके अन्य गुरु, जिनका कल्याणकारक में दो तीन स्थानों पर उल्लेख है, का नाम श्रीनन्दि था। 'आदिपुराण' के कर्ता जिनसेन के दशरथगुरु सतीर्थ (सहपाठी, गुरुभाई) थे। इनके गुरु आचार्य वीरसेन (षट्खण्डागम पर 'धवला' और कषायप्राभृत पर 'जयधवला' टीका के रचयिता) थे। ये मूलसंघ के पंचास्तूपान्वय के आचार्य थे। जिनसेन और दशरथगुरु के प्रसिद्ध शिष्य गुणभद्र हुए। उत्तरपुराण की प्रशस्ति (श्लोक सं. 11-13) में आचार्य गुणभद्र ने लिखा है—'जिस प्रकार चन्द्रमा का सधर्मी सूर्य होता है, उसी प्रकार जिनसेन के सधर्मी या सतीर्थ दशरथ गुरु थे। जो-कि संसार के पदार्थों का अवलोकन कराने के लिए अद्वितीय नेत्र थे। इनकी वाणी से जगत् का स्वरूप अवगत किया जाता था।'

गोम्मटदेव मुनि

यह दक्षिण भारत के दिगम्बर आचार्य थे। इनका 'मेरुतन्त्र' या 'मेरुदण्डतन्त्र' नामक वैद्यग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इसके प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में पूज्यपाद का सम्मानपूर्वक नामोल्लेख किया गया है। गोम्मट देव ने 'मेरुतन्त्र' नामक वैद्य ग्रन्थ में पूज्यपाद को अपना गुरु बतलाते हुए उनके वैद्यामृत नामक ग्रन्थ का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है—

सिद्धान्तस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्र पाणिन्य च।

कल्प व्याकरणाय ते भगवते देव्यालिया राधिया॥

श्री जैनेन्द्र वचस्सुधारसवरैः वैद्यामृतो धार्यते।

श्री पादास्य सदा नमोऽस्तु गुरवे श्री पूज्यपादौ मुनेः॥

यह ग्रन्थ कन्नड भाषा में रहा होगा। अब यह उपलब्ध नहीं है।

अतः ये पूज्यपाद से परवर्ती हैं। जैन सिद्धा. भवन आरा (बिहार) से प्रकाशित 'सारसंग्रह' में गोम्मटदेवकृत 'नाडीपरीक्षा और ज्वरनिदान आदि को उद्धृत किया गया है। गोम्मटदेव मुनि ने मेरुदण्ड तन्त्र नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था, जिसमें आयुर्वेदीय चिकित्सा सम्बन्धी रसयोगों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में लेखक ने श्रीपूज्यपाद स्वामी का आदरपूर्वक स्मरण एवं उल्लेख किया है। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। श्रीवर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने 'कल्याणकारक ग्रन्थ के अपने सम्पादकीय वक्तव्य में

पृष्ठ 39 पर इसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त श्री विजयगुण उपाध्याय द्वारा रचित सारसंग्रह (अपरनाम) अकलंक संहिता में पृष्ठ 33 से गोम्पटदेव मुनि के 'मेरुदण्ड तन्त्र' के नाड़ी परीक्षा, ज्वर निदान आदि अनेक प्रकरण संकलित हैं। इससे स्पष्ट है कि गोम्पटदेव मुनि द्वारा रचित यह ग्रन्थ पूर्व में विद्यमान था।

कल्याणकारक और उसका कर्ता उग्रादित्याचार्य

दक्षिण के जैनाचार्यों द्वारा रचित 'आयुर्वेद' या 'प्राणावाय' के उपलब्ध ग्रन्थों में उग्रादित्याचार्य द्वारा रचित 'कल्याणकारक' सबसे प्राचीन, मुख्य, सम्पूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। प्राणावाय की प्राचीन जैन परम्परा का दिग्दर्शन हमें एकमात्र इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यही नहीं, इसका अन्य दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। ईसवी आठवीं शताब्दी में प्रचलित चिकित्सा-प्रयोगों और रसौषधियों से भिन्न और सर्वथा नवीन प्रयोग हमें इस ग्रन्थ में देखने को मिलते हैं।

सबसे पहले 1922 में नरसिंहाचार्य ने अपनी पुरतत्त्व सम्बन्धी रिपोर्ट में इस ग्रन्थ के महत्त्व और विषयवस्तु के वैशिष्ट्य पर निम्नांकित पंक्तियों में प्रकाश डाला था, तब से अब तक इस पर पर्याप्त ऊहापोह किया गया है।

"Another manuscript of some interest is the medical work 'kalyanakaraka of Ugraditya, a jaina author, who was a contemporary of the Rastrakuta King Amoghvarsha I and of the eastern Chalulya king kali vishnuvardhan V. The work opens with the state meat that the science of medicine is divided into two parts, namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in sanskrit prose on the uselessness of a flesh diet. said to have been delivered by the author at the court of Amoghvarsha, where many learned men and doctors had assembled."

(Mysore Archaeological Report, 1922 page 23)

अर्थात् "अन्य महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ उग्रादित्य का चिकित्साशास्त्र पर 'कल्याण-कारक' नामक रचना है। यह विद्वान् जैन लेखक और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम तथा पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम का समकालीन था। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा गया है कि चिकित्सा विज्ञान दो भागों में बँटा हुआ है, जिनके नाम हैं— 'प्रतिबन्धक चिकित्सा' और 'प्रतिकारात्मक चिकित्सा' तथा इस ग्रन्थ के अन्त में संस्कृत गद्य में मांसाहार की निरर्थकता के सम्बन्ध में विस्तृत सम्भाषण दिया गया है जो बताया जाता है कि अमोघवर्ष की राजसभा में लेखक ने प्रस्तुत किया था, जहाँ पर अनेक विद्वान और चिकित्सक एकत्रित थे।

आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा :: 635

ग्रन्थकार परिचय—ग्रन्थ ‘कल्याणकारक’ में कर्ता का नाम उग्रादित्य दिया हुआ है। उनके माता-पिता और मूल निवास आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। परिग्रह का त्याग करने वाले जैन साधु के लिए अपने वंश का परिचय देने का विशेष आग्रह और आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। हाँ, गुरु का और अपने विद्यापीठ का परिचय विस्तार से उग्रादित्य ने लिखा है।

गुरु—उग्रादित्य ने अपने गुरु का नाम ‘श्रीनन्दि’ बताया है। वह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र (प्राणावाय) के ज्ञाता थे। उनसे उग्रादित्य ने प्राणावाय में वर्णित दोषों, दोषज उग्रोगों और उनकी चिकित्सा आदि का सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर इस ग्रन्थ कल्याणकारक में प्रतिपादन किया है।” इससे ज्ञात होता है कि श्रीनन्दि उस काल में ‘प्राणावाय’ के महान विद्वान और प्रसिद्ध आचार्य थे।

श्रीनन्दि को ‘विष्णुराज’ नामक राजा द्वारा विशेष रूप से सम्मान प्राप्त था। ‘कल्याणकारक’ में लिखा है—“महाराजा विष्णुराज के मुकुट की माल से जिनके चरणयुगल शोभित हैं अर्थात् जिनके चरणकमल में विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणों से युक्त हैं और उनसे ही मेरा उद्धार हुआ है।”

“उनकी आज्ञा से नाना प्रकार के औषधि-दान की सिद्धि के लिए (अर्थात् चिकित्सा की सफलता के लिए) और सज्जन वैद्यों के वात्सल्य प्रदर्शनरूपी तप की पूर्ति के लिए जिनमत (जैनागम) के उद्भूत और लोक में ‘कल्याणकारक’ के नाम से प्रसिद्ध इस शास्त्र को मैंने बनाया।”

निवासस्थान और काल—उग्रादित्य की निवास भूमि ‘रामगिरि’ थी, जहाँ उन्होंने श्रीनन्दि गुरु से विद्याध्ययन तथा ‘कल्याणकारक’ ग्रन्थ की रचना की थी। कल्याणकारक में लिखा है—

“वैंगीशत्रिकलिंगदशजननप्रस्तुत्यसानूकटः प्रोद्यद्वृक्षलताविताननितरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः ।
सर्वे मन्दिर कंदरोपगुहाचैत्यालयालंकृते रम्ये रामगिरौ मया विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥”¹⁵

“स्थानं रामगिरिगिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रद” (क.का.पृ. 21, श्लोक 3)

‘रामगिरि’ की स्थिति के विषय में विवाद है। श्री नाथूराम प्रेमी का मत है कि छत्तीसगढ़ महाकौशल क्षेत्र के सरगुजा स्टेट का रामगढ़ ही यह रामगिरि रहा होगा। यहाँ गुहा, मन्दिर और चैत्यालय हैं तथा उग्रादित्य के समय यहाँ सिद्ध और विद्याधर विचरण करते रहे होंगे।” स्वयं ग्रन्थकार की प्रशस्ति के आधार पर—“यह कल्याणकारक नामक ग्रन्थ अनेक अलंकारों से युक्त है, सुन्दर शब्दों से ग्रथित है, सुनने में सुखकर है, अपने हित की कामना करने वालों की प्रार्थना पर निर्मित है, प्राणियों के प्राण, आयु, सत्त्व, वीर्य, बल को उत्पन्न करने वाला और स्वास्थ्य का कारणभूत है।” “पूर्व के गणधरादि द्वारा प्रतिपादित ‘प्राणावाय’ के महान शास्त्र रूपी निधि से उद्भूत है।” अच्छी युक्तियों या विचारों से युक्त है। जिनेन्द्र भगवान (तीर्थंकर) द्वारा प्रतिपादित

है। ऐसे शास्त्र को प्राप्त कर मनुष्य सुख प्राप्त करता है।

“जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यह शास्त्र विभिन्न छन्दों (वृत्तों) में रचित प्रमाण, नय और निक्षेपों का विचार कर सार्थक रूप से ‘दो हजार पाँच सौ तैरासी छन्दों’ में रचा या है और जब तक सूर्य, चन्द्र और तारे मौजूद हैं, तब तक प्राणियों के लिए सुखसाधक बना रहेगा।”

‘प्राणावाय’ का प्रतिपादक होने का प्रमाण देते हुए उग्रादित्य ने कल्याणकारक में प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में लिखा है—

“जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं, जिसके इहलोक और परलोक के लिए प्रयोजनभूत अर्थात् साधनरूपी दो सुन्दर तट हैं, ऐसे जिनेन्द्र के मुख से बाहर निकले हुए शास्त्ररूपी सागर की एक बून्द के समान यह शास्त्र (ग्रन्थ) है। यह जगत् का एक मात्र हितसाधक है (अतः इसका नाम ‘कल्याणकारक’ है)।

‘कल्याणकारक’ के प्रारम्भिक भाग (प्रथम परिच्छेद के आरम्भ के दस पद्यों में) आचार्य उग्रादित्य ने मर्त्यलोक के लिए जिनेन्द्र के मुख से आयुर्वेद (प्राणावाय) के प्रकटित होने का कथानक इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। उनके समयसरण में भरत चक्रवर्ती आदि ने पहुँच कर लोगों के रोगों को दूर करने और स्वास्थ्यरक्षण का उपाय पूछा। तब प्रमुख गणधरों को उपदेश देते हुए भगवान् ऋषभदेव के मुख से सरस शारदादेवी बाहर प्रकटित हुई। उनकी वाणी में पहले पुरुष, रोग, औषध और काल—इस प्रकार सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र के चार भेद बतलाते हुए इन वस्तुचतुष्टयों के लक्षण, भेद, प्रभेद आदि सब बातों को बताया गया। इन सब तत्त्वों को साक्षात् रूप से ‘गणधर’ ने समझा। गणधरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र को निर्मल मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले योगियों ने जाना।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र ऋषभनाथ तीर्थंकर के बाद महावीरपर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों तक अविरल चला आया। यह अत्यन्त विस्तृत है, दोषरहित है, गम्भीर वस्तु—विवेचन से युक्त है। तीर्थंकर के मुख से निकला हुआ यह ज्ञान ‘स्वयंभू’ है और अनादिकाल से चला आने के कारण ‘सनातन’ है। गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियों के मुख से अल्पांग ज्ञानी या अंगांग ज्ञानी चार मुनियों के द्वारा साक्षात् सुना हुआ है अर्थात् श्रुतकेवलियों ने अन्य मुनियों को इस ज्ञान को दिया था।”

इस प्रकार प्राणावाय (आयुर्वेद) सम्बन्धी ज्ञान मूलतः तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित है, अतः यह ‘आगम’ है। उनसे इसे गणधर, प्रतिगणधरों ने, उनसे श्रुतकेवली और उनसे बाद में होने वाले अन्य मुनियों ने क्रमशः प्राप्त किया।

इस तरह परम्परा से चले आ रहे इस शास्त्र की सामग्री को गुरु श्रीनन्दि से सीखकर उग्रादित्य ने ‘कल्याणकारक’ ग्रन्थ की रचना की। अतः कल्याणकारक परम्परागत ज्ञान के आधार पर रचित शास्त्र है।”

ग्रन्थगत विशेषताएँ

प्राणावाय-परम्परा का उल्लेख करने वाला यह एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध है। सम्भवतः इसके पूर्व और पश्चात् का एतद्विषयक साहित्य कालकवलित हो चुका है। इसमें 'प्राणावाय' की दिगम्बर-सम्मत परम्परा दी गयी है। अपने पूर्वाचार्यों के रूप में तथा जिन ग्रन्थों को आधारभूत स्वीकार किया गया है, उनके प्रणेताओं के रूप में उग्रादित्य ने जिन मुनियों और आचार्यों का उल्लेख किया है, वे सभी दिगम्बर परम्परा के हैं। अतः यह निश्चित रूप से कह सकना सम्भव नहीं है कि इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर परम्परा और उसके आचार्य कौन थे?... फिर भी ग्रन्थ की प्राचीनता (8 वीं शती में निर्माण होना) और रचनाशैली व विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए कल्याणकारक का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे निम्न हैं—

1. ग्रन्थ के उपक्रम भाग में आयुर्वेद के अवतरण अर्थात् मर्त्यलोक में आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा का जो निरूपण किया गया है, वह सर्वथा नवीन है। इस प्रकार के अवतरण सम्बन्धी कथानक आयुर्वेद के अन्य प्रचलित एवं आर्ष शास्त्र-ग्रन्थों जैसे चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, काश्यपसंहिता, अष्टांगसंग्रह आदि में प्राप्त नहीं होते। कल्याणकारक का वर्णन 'प्राणावाय' परम्परा का सूचक है अर्थात् 'प्राणावाय' संज्ञक आगम का अवतरण तीर्थकरों की वाणी में होकर जनसामान्य तक पहुँचा—इस ऐतिहासिक परम्परा का इनमें वर्णन है।

'प्राणावाय' परम्परा में ज्ञान का मूल तीर्थकरों की वाणी को माना गया है। यह परम्परा इस प्रकार चलती है—

तीर्थकरों की वाणी (आगम)

|

गणधर और प्रतिगणधर

|

श्रुतकेवली

|

बाद में ऋषि - मुनि

2. कल्याणकारक में कहीं भी चिकित्सा में मद्य, मांस और मधु का प्रयोग नहीं बताया गया है। जैन मतानुसार ये तीनों वस्तुएँ असेव्य हैं : मांस और मधु के प्रयोग में जीव-हिंसा का विचार भी किया जाता है। मद्य जीवन के लिए

अशुचिकर, मादक और अशोभनीय माना जाता है। आसव अरिष्ट का प्रयोग तो कल्याणकारक में आता है, जैसे—प्रमेहरोगाधिकार में आमलकारिष्ट आदि। आयुर्वेद के प्राचीन संहिता ग्रन्थों में मद्य, मांस और मधु का भरपूर व्यवहार किया गया है। चरक आदि में मांस और मांसरास से सम्बन्धित अनेक चिकित्साप्रयोग दिये गये हैं। मद्य को अग्निदीप्तिकर और आशुप्रभावशाली मानते हुए अनेक रोगों में इनका विधान किया गया है। राजयक्ष्मा जैसे रोगों में तो मांस और मद्य की विपुल गुणकारिता स्वीकार की गयी है। मधु अनुपान और सहपान के रूप में अनेक औषधियों के साथ प्रयुक्त होता है तथा मधूदक, मध्वासव आदि का पानार्थ व्यवहार वर्णित है।

3. चिकित्सा में वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों के प्रयोग वर्णित हैं। वानस्पतिक द्रव्यों से निर्मित स्वरस, क्वाथ, कल्क, चूर्ण, वटी, आसव—अरिष्ट, घृत और तेल की कल्पनाएँ दी गयी हैं। क्षार निर्माण और क्षार का स्थानीय और आभ्यन्तर प्रयोग भी बताया गया है। अग्निकर्म, सिरावेध और जलौकावचारण का विधान भी है। अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यों का औषधीय प्रयोग कल्याणकारक में मिलता है।
4. यदि इस ग्रन्थ का रचनाकाल 8वीं शती सही है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रस (पारद) और रसकर्म (पारद का मूच्छन, मारण और बन्ध, इस प्रकार विविध कर्म, रससंस्कार, रस-प्रयोग) का प्राचीनतम प्रामाणिक उल्लेख हमें इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस पर एक स्वतन्त्र अध्याय ग्रन्थ के 'उत्तरतन्त्र' में 24वाँ परिच्छेद 'रसरसायनविध्यधिकार' के नाम से दिया गया है। कुल 56 पद्यों में पारद सम्बन्धी 'रसशास्त्रीय' समस्त विधान वर्णित है।
5. जैन सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए कल्याणकारक में सब रोगों का कारण पूर्वकृत 'कर्म' माना गया है।

श्री विजयण्ण उपाध्याय कृत 'सारसंग्रह'

इस ग्रन्थ की एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरा में विद्यमान है, जिसका ग्रन्थ नं. 255 ख है। इस ग्रन्थ का उल्लेख श्री पं. के. भुजबली शास्त्री द्वारा सम्पादित (लिखित) प्रशस्ति संग्रह तथा जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-6, किरण-2 में प्रशस्ति संग्रह के अन्तर्गत किया गया है। श्री पं. के. भुजबली शास्त्री द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार यह ग्रन्थ राजकीय प्राच्य पुस्तकागार, मैसूर से लिपिबद्ध कराया गया है। वहाँ की मुद्रित ग्रन्थ तालिका में ग्रन्थ का नाम 'अकलंक संहिता' और कर्ता का नाम अकलंक भट्ट लिखा मिलता है। किन्तु इसका कोई आधार नजर नहीं आता है। ग्रन्थ

में उल्लिखित निम्न श्लोकों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का नाम 'सारसंग्रह' है और इसके कर्ता श्रीमद्विजयण्णोपाध्याय हैं—

नमः श्री वर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
 कल्याणकारको ग्रन्थ पूज्यपादेन भाषितः॥
 सर्वलोकोपकारार्थं कथ्यते सारसंग्रहः।
 श्रीमद्वाग्भटसुश्रुतादिविमल श्री वैद्यशास्त्रार्णवे।
 भास्वतसुसारसंग्रहमहाभामान्विते संग्रहे॥
 मन्त्रज्ञैरपरपलात्यसद्विजयण्णोपाध्यायसन्निर्मिते।
 ग्रन्थेऽस्मिन्मधुपाकसारविचये पूर्णो भवेन्मंगलम्॥

आयुर्वेदाचार्य श्री पं. विमल कुमार जैन का भी कहना है कि बुन्देलखण्ड में भी मुझे इसकी एक दो प्रतियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं और उन प्रतियों में इसका नाम 'सारसंग्रह' ही मिलता है। बल्कि उन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त देखकर बतलाया है कि इसमें पृष्ठ 1 से 5 तक समन्तभद्र के रस-प्रकरण सम्बन्धी कुछ पद्य, पृष्ठ 6 से 32 तक पूज्यपादोक्त रस, चूर्ण, नाडी-परीक्षा एवं ज्वर निदान आदि कुछ भाग हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकरण में सुश्रुत, वाग्भट, हारीत मुनि एवं रुद्रदेव आदि वैद्याचार्यों के भी मत मिलते हैं। इस ग्रन्थ के पृष्ठ 3 से उद्धृत कर जो मंगलाचरण ऊपर दिया गया है, वह श्री समन्तभद्राचार्य के 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में विहित मंगलाचरण के पद्य का ही पूर्वार्ध है। इसका केवल उत्तरार्ध ग्रन्थ के संग्रहकर्ता विजयण्ण द्वारा कृत है।

इस ग्रन्थ में प्रशस्ति भाग नहीं होने से इसका काल निर्धारण सम्भव नहीं है। लेखक ने न तो स्वयं के विषय में कुछ लिखा है और न ही ग्रन्थ-निर्माण के समय आदि के विषय में उल्लेख किया है। इससे इसके समय का निश्चय करने में कठिनाई है। फिर भी जिन आचार्यों को इस ग्रन्थ में उद्धृत किया गया है, उनके बाद ही इस ग्रन्थ का निर्माण (संग्रह) हुआ होगा, यह स्पष्ट है।

श्री अनन्तदेव सूरिकृत रस-चिन्तामणि

यह ग्रन्थ संवत् 1967 शके 1982 में श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ था। जो अब अनुपलब्ध है। इसकी प्रतियाँ अब भी यत्र तत्र पुस्तकालयों में मिल जाती हैं। इसकी भाषा टीका राजवैद्य पं. मुरलीधर शर्मा द्वारा की गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में वे लिखते हैं कि रस-चिकित्सा के ग्रन्थ बहुत हैं, परन्तु कुष्ठ अर्श आदि महाव्याधियों को नष्ट करने में जैसे सहज और चमत्कारी अद्भुत सिद्ध-प्रयोग इस रस चिन्तामणि में हैं, वैसे किसी भी ग्रन्थ में नहीं देखे जाते। इसके अतिरिक्त धातुक्रिया भी इसमें बहुत चमत्कारी लिखी है और वेध विधि (धातुरंजन) के जो प्रयोग इसमें

लिखे हैं, वे तो भाग्य ही से किसी को सिद्ध होते होंगे। न अब पहले का समय है, न अब उसके उपकरण हैं, न क्रिया है। इससे वे सिद्ध न भी हों तो आश्चर्य नहीं। इसी से हर-एक मनुष्य को इसी ओर विशेष ध्यान न देकर इस ग्रन्थ के अन्य चमत्कारी सिद्ध प्रयोगों से लाभ उठाना उचित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ग्यारह स्तबकों, जो अध्याय के द्योतक हैं, में विभाजित है। इसमें आद्योपान्त कुल श्लोक संख्या 1682 है।

ग्रन्थ के प्रथम स्तबक में मंगलाचरण एवं निर्देश के पश्चात् 20 प्रकार की रस-भस्म-विधि वर्णित है। अनन्तर खेचरी गुटिका और गंधक ग्रास विधि का उल्लेख है। इसमें श्लोकों का प्रमाण 120 है। द्वितीय स्तबक रसक्रिया प्रकरण के नाम से उल्लिखित है, जिसमें 17 योगों की निर्माण-विधि एवं उनके गुण-धर्म का उल्लेख है। इसमें कुल श्लोक संख्या 142 है। तृतीय स्तबक में 21 रसयोगों की निर्माण विधि 98 श्लोकों में प्रतिपादित है। चतुर्थ स्तबक में 128 श्लोकों में 24 योगों का उल्लेख है। पंचम स्तबक में रसमर्दन, स्वेदन, मूर्च्छन, अधःपातन, ऊर्ध्वपातन, नियामन, निरोधन आदि क्रिया विधियाँ तथा द्रव्यों की सत्त्वपातन आदि 31 विधियाँ वर्णित हैं। इनमें कुल श्लोक 162 हैं। षष्ठ स्तबक में स्वर्णकरण की 8 और रौप्यकरण की 11 विधियाँ वर्णित हैं। इसके श्लोकों का परिमाण 145 है। सप्तम स्तबक में विभिन्न महत्त्वपूर्ण 18 रस-योगों का वर्णन है, जो 213 श्लोकों के अन्तर्गत प्रतिपादित है। अष्टम स्तबक में विभिन्न 16 रसयोग हैं, और श्लोकों का प्रमाण 182 है। नवम स्तबक में 198 श्लोकों में 41 योगों का वर्णन किया गया है। दशम स्तबक में 45 श्लोक में 13 योग बतलाए गये हैं। एकादश स्तबक में कुल श्लोक 138 हैं, जिसमें 33 योगों का उल्लेख है।

श्री गुणाकर कृत योगरत्नमालावृत्ति

आयुर्वेद में रस-चिकित्सा के प्रवर्तक रससिद्ध आचार्य नागार्जुन ने योगरत्नमाला नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ पर गुणाकर ने एक वृत्ति लिखी है, जो गुणाकर विवृत्ति के नाम से विख्यात है। श्री गुणाकर श्वेताम्बर जैन विद्वान् थे और उनकी विद्वत्ता की पर्याप्त छाप उनके द्वारा रचित विवृत्ति पर पड़ी है। वे एक सुयोग्य वैद्य एवं सिद्धहस्त चिकित्सक भी थे। अपने चिकित्सा कार्य में रसयोगों का प्रयोग वे अधिकतर करते थे। पिटर्सन रिपोर्ट 2, एपेण्डिक्स पृ. 330 और रिपोर्ट 4, पृ. 26 पर दी गयी जानकारी के अनुसार नागार्जुन ने योगरत्नमाला नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। उस पर गुणाकर सूरि ने वि.सं. 1296 में वृत्ति लिखी है। इसके अनुसार यह रचना तेरहवीं शताब्दी की प्रमाणित होती है। इस वृत्ति का उल्लेख 'ए चैकलिस्ट ऑफ संस्कृत मेडिकल मेनुस्क्रिप्ट इन इण्डिया' में क्रं. संख्या 1057 पर किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि इस वृत्ति की एक प्रति भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान, पूना में 175 पर उपलब्ध है।

श्री मेरुतंग सूरि द्वारा रसाध्याय पर कृत टीका

यह ग्रन्थ आचार्य कंकालीय द्वारा रचित है, जो एक जैन विद्वान हैं। इस ग्रन्थ पर जैन विद्वान श्री मेरुतंग सूरि (मेरुतंग जैन) द्वारा विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी गयी है। श्री मेरुतंग सूरि अंकाला गच्छ के श्री महेन्द्रप्रभ सूरि के शिष्य थे। इस ग्रन्थ को 'श्री जिनरत्नकोश' में पृष्ठ 328 पर उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार श्री मेरुतंग सूरि द्वारा इस पर सं. 1443 में टीका लिखी गयी थी। श्री प्रियव्रत शर्मा ने इस ग्रन्थ को अपने आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास नामक ग्रन्थ में उद्धृत किया है। उनके अनुसार श्री मेरुतंग जैन ने इस पर 1386 ई. सन् में टीका लिखी थी। यह ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है, किन्तु वर्तमान में अप्राप्य है।

सोमप्रभाचार्य कृत 'रस-प्रयोग'

'रस-प्रयोग' नाम के ग्रन्थ का उल्लेख श्री अम्बालाल पी. शाह ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 5 में किया है, किन्तु उसमें विस्तृत विवरण नहीं दिया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता श्री सोमप्रभाचार्य हैं। ग्रन्थकर्ता के विषय में भी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

'श्री जिनरत्नकोश' में भी यह ग्रन्थ उद्धृत है, जिसके अनुसार चिकित्सा विषय पर यह ग्रन्थ सोमप्रभाचार्य द्वारा लिखित है। श्रीजिनरत्नकोश के अनुसार यह ग्रन्थ सोमप्रभाचार्य द्वारा लिखित है। श्री जिन रत्नकोश के अनुसार यह ग्रन्थ 'A list of manuscript in the Jain Bhandar at Humbacchakatte, Distt. Shimoga, Mysore' में क्र. संख्या 125 पर उल्लिखित है। इसी आधार पर इसे 'श्रीजिनरत्नकोश' में उद्धृत है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की प्रति हम्बुक्का कट्टे जिला—शिवमोगा (मैसूर) के जैन भण्डार में विद्यमान है।

माणिक्यदेव कृत 'रसावतार'

यह ग्रन्थ माणिक्यदेव द्वारा रचित है। कहीं-कहीं ग्रन्थकर्ता का नाम माणिक्यचन्द्र उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता दोनों के विषय में कोई विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं होने से इस पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं है। इस ग्रन्थ का उल्लेख आयुर्वेद के इतिहासज्ञों ने भी अपनी कृतियों में किया है। 'रसयोगसागर' नामक एक ग्रन्थ में इस ग्रन्थ के अनेक योग उद्धृत हैं। 'श्रीजिनरत्नकोश' में भी पृ. 328 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख है। इसकी एक प्रति श्री यादव श्री त्रिकम जी आचार्य के पास भी थी, जो उन्होंने श्री हरिप्रसन्न जी शास्त्री को अपने ग्रन्थ 'रसयोगसागर' के निर्माणार्थ दी थी, जो बाद में कार्य पूरा होने के पश्चात् लौटा दी गयी थी, किन्तु उसके पश्चात् उसका कोई अता-पता नहीं है।

हर्षकीर्तिसूरि कृत 'योग चिन्तामणि'

चिकित्सायोग के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता भिषग्वर जैनाचार्य श्री हर्षकीर्तिसूरि हैं। इस ग्रन्थ का निर्माण अन्य पूर्ववर्ती वैद्यक ग्रन्थों से सार ग्रहण कर संस्कृत भाषा में किया गया है। अतः इसका अपर नाम 'वैद्यकसारसंग्रह' भी है। इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका दी गयी है, उसमें भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यथा—“इति श्री भट्टारक श्री हर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिन्तामणौ वैद्यकसारसंग्रहे गुटिकाधिकारस्तृतीयः” इस पुष्पिका से यह भी ध्वनित होता है कि इनका पूरा नाम भट्टारक श्री हर्षकीर्ति उपाध्याय था। चतुर्थ अध्याय के अन्त में उल्लिखित पुष्पिका से उनके गच्छ पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पुष्पिका निम्न प्रकार है—
“श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छीय श्री हर्षकीर्त्युपाध्यायसंकलिते योगचिन्तामणौ वैद्यकसारसंग्रह क्वाथाधिकारश्चतुर्थः।” इसके अनुसार ये नागपुरीय तपागच्छ से सम्बन्धित थे। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इन्हें नागपुर तथा गच्छ स्थान का निवासी बतलाया है, जो ठीक नहीं है। वस्तुतः जैन साधुओं का पृथक्-पृथक् गच्छ होता है, जिससे वे सम्बन्धित रहते थे, न कि एक स्थान के निवासी थे। क्योंकि जैन साधु किसी एक स्थान पर सतत निवास नहीं करते हैं। वर्षाकाल को छोड़कर वे स्थान-स्थान विहार करते रहते हैं। अतः उन्हें किसी स्थान विशेष का निवासी नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थकर्ता ने प्रस्तुत ग्रन्थ को 'सारसंग्रह' कहते हुए इसमें सात अध्याय होने का उल्लेख किया है—

पाकचूर्णगुटी क्वाथघृततैलाः समिश्रकाः।

अध्यायाः सप्त वक्ष्यन्ते ग्रन्थेऽस्मिन् सारसंग्रहे॥

अर्थात् प्रस्तुत 'सारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में पाकाधिकार, चूर्णाधिकार, गुटिकाधिकार, क्वाथाधिकार, घृताधिकार, तैलाधिकार और मिश्राधिकार ये सात अध्याय कहे गये हैं।

ऋद्धिसार या रामऋद्धिसार (रामलाल) 20वीं शती

यह खरतरगच्छीय क्षेमकीर्ति शाखा के कुशलनिधान के शिष्य थे। ये बहुत अच्छे चिकित्सक थे। इनके द्वारा लिखे हुए कई ग्रन्थ हैं। सब ग्रन्थ उन्होंने स्वयं प्रकाशित किये थे। 'दादाजी की पूजा' (सं. 1953, बीकानेर) इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। यह बीकानेर के निवासी थे। इनके अधिकांश ग्रन्थ सं. 1930 से 67 के मध्य के हैं।

इनका लिखा हुआ 'वैद्यदीपक' नामक वैद्यकग्रन्थ है। यह मुद्रित है। सन्तान-चिन्तामणि, गुणविलास, स्वप्नसामुद्रिकशास्त्र, शकुनशास्त्र भी विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ।

मुनि कान्तिसागर

यह खरतरगच्छीय 'जिनकीर्तिरत्नसूरिशाखा' के जिनकृपाचंदसूरि के शिष्य उ. सुखसागर के शिष्य थे। आपका हिन्दी, राजस्थानी साहित्य पर अच्छा अधिकार था। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुरातत्व, कला और आयुर्वेद तथा ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान था। यह अच्छे चिकित्सक व रसायनज्ञ थे। 'खण्डहरों का वैभव', 'खोज की पगडण्डियाँ, जैन धातु प्रतिमा लेख, श्रमणसंस्कृति और कला, सईकी-एक अध्ययन आदि उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रन्थ हैं। 'एकलिंगजी का इतिहास' अप्रकाशित है।

आयुर्वेद साहित्य पर भी आपने कुछ लेख लिखे हैं—'आयुर्वेद का अज्ञात साहित्य' (मिश्रीमल अभिनन्दनग्रन्थ, पृ. 300-317) आदि।

कन्नड के जैन आयुर्वेद-ग्रन्थकार मारसिंह (961-974)

यह कर्णाटक का गंगवंशीय राजा था। इसने 961-964 ई. तक राज्य किया। यह बहुत प्रतापी, प्रतिभासम्पन्न और समृद्धिवान राजा था। जैनधर्म के उत्थान में उसने पर्याप्त योगदान दिया था। उसने जीवन के परवर्ती काल में राज्य त्याग कर बंकापुर में अजितसेन भट्टारक के समीप सल्लेखना धारणा की थी।

कुडलूर के दानपत्र में मारसिंह को व्याकरण, तर्क, दर्शन और साहित्य का विद्वान होने के साथ 'अश्वविद्या' और 'गजविद्या' में भी निपुण बताया गया है। अश्वविद्या और गजविद्या में अश्वों की चिकित्सा व गजों की चिकित्सा का भी उल्लेख कुछ विद्वानों के अनुसार कहा जाता है।

परन्तु उसका अश्व या गज चिकित्सा पर कोई वैद्यकग्रन्थ प्राप्त नहीं होता।

कीर्तिवर्मा (1125 ई.)

यह कर्णाटक का चालुक्य राजा था। यह जैन धर्मानुयायी था। इसने 1125 ई. में कन्नड़ भाषा में 'गोवैद्य (क)' ग्रन्थ लिखा है।

यह ग्रन्थ कर्नाटकी भाषा (कन्नडी) में है। कन्नड़ में आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने वालों में इसका नाम सर्वप्रथम है।

कीर्तिवर्मा के पिता का नाम राजा त्रैलोक्यमल्ल, अग्रज का नाम राजा विक्रमांक और गुरु का नाम देवचन्द्र मुनि था। ये चालुक्य वंशी थे। त्रैलोक्यमल्ल का शासनकाल ई. 1042 से 1068 और इनके बड़े भाई का शासनकाल ई. 1076 से 1126 तक रहा। अतः कीर्तिवर्मा का काल 1125 ई. प्रमाणित होता है। कहा जाता है कि त्रैलोक्यमल्ल की केतली देवी नामक एक रानी जैन मतानुयायी थी, जिसने कुछ जैन मन्दिर भी बनवाए

थे। कीर्तिवर्मा सम्भवतया इसी का पुत्र था।

कीर्तिवर्मा ने अपने लिए कवि कीर्तिचन्द्र, कन्दर्पमूर्ति, सम्यक्तरत्नाकर, बुध भव्यबान्धव, वैद्यरत्न, कविताब्धिचन्द्रम्, कीर्तिविलास आदि विशेषण प्रयुक्त किये हैं।

अहिंसावादी जैनधर्म में प्राणिमात्र पर दया की भावना से मनुष्येतर वैद्यक पर भी ग्रन्थ रचना हुई थी। इसमें गोवैद्यक का प्रमुख स्थान है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। इसमें गोव्याधियों की निदान सहित औषध, मन्त्र आदि के द्वारा विस्तार से चिकित्सा का प्रतिपादन है।

सोमनाथ कवि (1140 ई.)

यह जैन धर्मानुयायी और जगद्दल का सामन्त था। विचित्रकवि उसकी उपाधि थी। यह कर्णाटक का निवासी था। इसने 1140 ई. के लगभग पूज्यपादकृत संस्कृत के 'कल्याणकारक' का कन्नड़ी भाषा में अनुवाद किया था। सोमनाथकृत यह ग्रन्थ 'कर्णाटक कल्याणकारक' कहलाता है। इसकी कर्णाटक में आज भी बहुत प्रसिद्धि है। इसमें पीठिका-प्रकरण, परिभाषाप्रकरण, षोडशञ्चर-चिकित्सा-निरूपण-प्रकरण आदि अष्टांग आयुर्वेद चिकित्सा दी गयी है। पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ में मद्य, मांस और मधु का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध बताया है। सोमनाथ ने कन्नड़ी कल्याणकारक में लिखा है— 'सुकरं तानेने पूज्यपाद-मुनिगल् मुंपेलद् कल्याणकारकम् वाहटसिद्धसारचरकाद्युत्कृष्टम् सद्गुणाधिक वर्जितमद्य-मांसमधुवं कर्णटादिलोकरं क्षयमा चित्रमदागे चित्रकवि सोमं पेलदनिं तलितियं।

स्वयं सोमनाथ ने लिखा है कि उसके इस ग्रन्थ का संशोधन समनोबाण और अभयचन्द्र सिद्धाति ने किया है। ग्रन्थारम्भ में माधवचन्द्र की स्तुति है, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोल के 1125 ई. के शिलालेख नं. 384 में हुआ है। अतः सोमनाथ का काल 1140 ई. के लगभग निर्धारित किया जाता है।

अमृतनन्दि (13वीं शती)

यह दक्षिण के दिगम्बर आचार्य थे। इन्होंने जैन दृष्टि से वनस्पति-नामों के पारिभाषिक अर्थों को बताने के लिए 'निघण्टु-कोष' की रचना की थी। यह कोष अत्यन्त विस्तृत है। इसमें 22000 शब्द हैं। यह प्रारम्भ से सकार (स.सा.) तक ही प्राप्त है, शेष भाग सम्भवतः ग्रन्थकार द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सका हो। इसमें वनस्पतियों के नाम जैन परिभाषाओं के अनुसार सूचित किये गये हैं। जैसे—

अभव्यः	—	हंसपादि	मुनिखजूरिका	—	राजखजूर
अहिरत्रा	—	वृश्चिकालि	वर्धमाना	—	मधुरमातुलुंग

अनन्त	—	सुवर्ण	वर्धमानः	—	श्वेतैरण्डः
ऋषभ	—	पाठे की लता	वीतरागः	—	आप्रः
ऋषभा	—	आमलक			

यह कोष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री को इसकी हस्तप्रति बैंगलोर में वैद्य पं. यल्लप्पा शास्त्री के पास देखने को मिली थी।

अमृतनन्दी कन्नड़ प्रान्त के निवासी थे। इनका कन्नड़ में 'अलंकारसंग्रह' या 'अलंकारसार' नामक ग्रन्थ भी मिलता है। इसकी रचना मन्व राजा के आग्रह से इस संग्रहात्मक ग्रन्थ के रूप में की गयी थी। मन्व भूपति का काल 1299 ई. (संवत् 1355) के लगभग माना जाता है। अतः अमृतनन्दि का काल 13वीं शती प्रमाणित होता है।

मंगराज या मंगरस प्रथम (1360 ई.)

'विजयनगर' के हिन्दू साम्राज्य के आरम्भिक काल में 'राजा हरिहरराय' के समय में 'मंगराज प्रथम' नामक कन्नड़ी जैन कवि ने वि.सं. 1416 (1360 ई.) में 'खगेन्द्रमणि-दर्पण' नामक वैद्यकग्रन्थ की रचना की थी। यह कन्नड़ी (कर्नाटक भाषा) में बहुत विस्तृत ग्रन्थ है। यह विष-चिकित्सा सम्बन्धी उत्तम ग्रन्थ है। इसमें स्थावरविषों की क्रिया और उनकी चिकित्सा का वर्णन है। ग्रन्थ में लेखक ने अपने को 'पूज्यपाद' का शिष्य बताया है और लिखा है—स्थायरविषों सम्बन्धी यह सामग्री उसने 'पूज्यपादीय' ग्रन्थ से संगृहीत की है।

मंगराज का ही नाम 'मंगरस' था। इसने अपने को होयसल राज्य के अन्तर्गत मुगुलिपुर का राजा और पूज्यपाद का शिष्य बताया है। इसकी पत्नी का नाम कामलता था और इसकी तीन सन्तानें थीं। यह कन्नड़ साहित्य के चम्पूयुग का महत्त्वपूर्ण कवि था।

इसने विजयनगर के राजा हरिहर की प्रशंसा की है, अतः मंगराज उसका समकालीन था। इसकी 'सुललित-कवि-पिकवसंत', 'विभुवंशललाम' आदि अनेक उपाधियाँ हैं।

मंगराज ने लिखा है कि जनता के निवेदन पर उसने सर्वजनोपयोगी इस वैद्यकग्रन्थ की रचना की है। इसमें औषधियों के साथ मन्त्र-तन्त्र भी दिये हैं। ग्रन्थकार लिखता है—औषधियों से आरोग्य, आरोग्य से देह, देह से ज्ञान, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मैं औषधि शास्त्र का वर्णन करता हूँ। इस ग्रन्थ में स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विषों की चिकित्सा बतलाई गयी है।

यह ग्रन्थ शास्त्रीय शैली में लिखा गया है, अतः इसमें काव्यचमत्कार भी विद्यमान है। इसकी शैली ललित और सुन्दर है। इसका प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास के द्वारा कन्नड़ सीरीज के अन्तर्गत सन् 1942 में किया गया है।

श्रीधरदेव (1500 ई.)

यह दिगम्बर जैन पण्डित था। इनका 'जगदेक महामन्त्रवादि' विशेषण मिलता है। यह विजयनगर राज्य का निवासी था। इसने 1500 ई. में 'वैद्यामृत' की रचना की है। इसमें 24 अधिकार हैं। यह कन्नड़ी भाषा में है।

बाचरस (1500 ई.)

यह दिगम्बर जैन विद्वान् था। यह विजयनगर के हिन्दू राज्य का निवासी था। इसने 1500 ई. में 'अश्ववैद्य' की रचना की थी। इसमें अश्वों (घोड़ों) की चिकित्सा का वर्णन है। यह कन्नड़ी भाषा में है।

पद्मरस (1527 ई.)

मैसूर नरेश चामराज के आदेश से 'पभण्ण पण्डित' या 'पभरस' ने 1527 ई. में 'हयसारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें घोड़ों की चिकित्सा का वर्णन है।

पद्मरस भट्टाकलंक का शिष्य था। यह दिगम्बर जैन था। पद्मरस जैनशास्त्रों का उच्चकोटि का विद्वान् था।

मंगराज या मंगरस (द्वितीय)

इसका रचित 'मंगराजनिघण्टु' ग्रन्थ है। यह अप्रकाशित है।

मंगराज या मंगरस (तृतीय)

कन्नड़ साहित्य में विभिन्न कालों में होने वाले तीन मंगरस माने जाते हैं—

1. मंगरस प्रथम — 'खगेन्द्रमणिदर्पण' का कर्ता
2. मंगरस द्वितीय — 'मंगराजनिघण्टु' का कर्ता
3. मंगरस तृतीय — 'सूपशास्त्र' आदि ग्रन्थों का कर्ता

मंगरस तृतीय का काल 16वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। यह क्षत्रिय था। इसका पिता चेंगाल्व सचिवकुलोद्भव कल्लहल्लिका विजयभूपाल था, जो वीरमोघ भी था। माता का नाम देविले और गुरु का नाम चिक्कप्रभेन्दु दिया है। इसकी प्रभुराज, प्रभुकुल और रत्नदीप-उपाधियाँ थीं। सूपशास्त्र के अलावा इसके जलनृप-काव्य, नेमिजिनेशसंगति, श्रीपालचरिते, प्रभंजनचरिते और सम्यक्त्वकौमुदी ग्रन्थ हैं।

'सूपशास्त्र' पाकशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। यह कन्नड़ भाषा में 'वार्धक षट्पदि' नामक छन्द में 356 पद्यों में पूर्ण हुआ है। यह विष्टपाक, पानक, कलमन्नपाक, शाकपाक आदि पाकशास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में इन ग्रन्थों का उल्लेख है। मंगरस के अनुसार पाकशास्त्र स्त्रियों के लिए अत्यन्त प्रिय और उपयोगी है। रसनेन्द्रियतुष्टि से ही लौकिक और पारलौकिक सुख मिलता है।

मंगरस का सूपशास्त्र ग्रन्थ प्राच्य संशोधनालय, मानसगंगोत्री, मैसूर से प्रकाशित हो चुका है।

साल्व (16वीं शती, उत्तरार्ध)

यह बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न जैन कन्नड़ कवि था। इसके पिता का नाम धर्मचन्द्र और गुरु का नाम श्रुतकीर्ति था। इसका काल 16वीं शती का मध्य या उत्तरार्ध माना जाता है।

इसके कन्नड़ भाषा में रचित अनेक ग्रन्थ हैं—भारत, शारदाविलास, रसरत्नाकर, वैद्यसांगत्य। भारत की रचना कवि ने अपने आश्रयदाता राजा साल्वमल्ल या साल्वदेव की प्रेरणा से 'भाभिनी षट्पदि' छन्द में की थी। इस ग्रन्थ का अन्य नाम 'नेमीश्वर-चरिते' भी है। यह धार्मिक कथा ग्रन्थ है। शारदाविलास में ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन है। रसरत्नाकर में अलंकारशास्त्र का निरूपण है और नौ रसों का विस्तार से वर्णन है। 'वैद्यसांगत्य' एक उत्तम वैद्यक ग्रन्थ है। 'सांगत्य' कन्नड़ काव्य के छन्द-विशेष का नाम है।

यहाँ जैनाचार्यों द्वारा रचित कतिपय आयुर्वेदीय ग्रन्थों का उल्लेख नातिसंक्षेप-विस्तार रूप से किया गया है, जिससे जैन आयुर्वेद की परम्परा और आयुर्वेद के विकास एवं आयुर्वेद साहित्य निर्माण में जैनाचार्यों के योगदान पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

सन्दर्भ सूची

1. जयधवला सहित कसायपाहुड भाग 1, पेज्ज दोस बिहति गाथा-115
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/120, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
3. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 366
4. वही-जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका
5. कल्याणकारक अ. 25, श्लोक 54 सम्पादक, श्रीवर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर
6. स्थानांग, सूत्र 611
7. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, 1/7, हिन्दी व्याख्या—अनिदेव गुप्त, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
8. कल्याणकारक पृ. 4, श्लोक 9-10
9. जैन शिलालेख संग्रह भाग-1, पृ. 102
10. कल्याणकारक—सम्पादकीय वक्तव्य पृ. 37
11. कल्याणकारक पृ. 555, श्लोक 86
12. कल्याणकारक—सम्पादकीय पृ. 36
13. कल्याणकारक—सम्पादकीय पृ. 37-38
14. कल्याणकारक—सम्पादकीय पृ. 40
15. कल्याणकारक—पृ. 555, श्लोक 87

ज्योतिष : स्वरूप और विकास

आलोक जयपति

जैनाचार्यों ने ज्योतिष के क्षेत्र में निम्न प्रकार योगदान देकर भारतीय ज्ञान, भारतीय साहित्य और भारतीय मनीषा की श्रीवृद्धि में अपनी भूमिका निभायी है—

1. वैचारिक रूप में जैनाचार्यों की प्रमुख मान्यता अन्य भारतीय ज्योतिष चिन्तकों से इस बिन्दु पर अलग है कि वे मानते हैं कि ज्योतिष ज्ञान जीव के लिए कारक नहीं, सूचक है। हाँ, जीव ज्योतिष ज्ञान की सूचना को लेकर अपने क्रियमाण कर्मों की दिशा बदलकर या सम्यक् राह पर चलकर अपनी भवितव्यता को बदल सकता है।
2. जैनाचार्य मनुष्य के जीवन में आने वाली परेशानियों के निराकरण के निमित्त ग्रह-पूजा को महत्व नहीं देते, वे कहते हैं कि जितेन्द्र की भक्ति/पूजा से दुष्ट ग्रह स्वयमेव शान्त होते हैं और जीवन सुखमय होता है।
3. पूजा, दीक्षा व ग्रह-कर्म आदि सभी के लिए जैनाचार्य भी मुहूर्त विज्ञान को महत्व देते हैं।
4. जैनाचार्य नक्षत्रों की संख्या 28 मानते हैं।
5. जैनाचार्यों ने केवल जैन ज्योतिष के विकास में ही योगदान नहीं दिया, बल्कि भारतीय ज्योतिष के विकास में भी योगदान दिया है।

मनुष्य की सोचने-समझने की योग्यता ने मनुष्य को 'क्यों' और 'कैसे' के सवाल उठाये। इसके फलस्वरूप वह अपने वर्तमान और भविष्यकाल के विषय की जानकारी के लिए हमेशा से उत्सुक बना रहा है। मानव मन की नयी वस्तुओं के विषय में जानने की प्रबल इच्छा हर समय बनी रहती है। जैसे पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार की घट रही घटनाएँ। सूर्य प्रतिदिन पूर्व दिशा में क्यों उदित होता है? ऋतुएँ क्रमानुसार क्यों आती हैं या आकाशमण्डल में ग्रह क्यों भ्रमण करते हैं? इत्यादि।

इसी दिशा में जब मनुष्य का ध्यान आकाश-मण्डल की तरफ गया, तो प्रथम मनुष्य

को सूर्य, चन्द्र तथा तारों को जानने की प्रबल इच्छा जाग्रत हुई।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि मानव की उपर्युक्त जिज्ञासा ने ही उसे ज्योतिषशास्त्र के गम्भीर रहस्योद्घाटन के लिए प्रवृत्त किया।

ज्योतिषशास्त्र परिभाषा

“ज्योतिषां सूर्यादिग्रहणबोधकं शास्त्रम्”

अर्थात् सूर्य आदि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है।

ज्योतिषशास्त्र हमें सौरमण्डल में स्थित ग्रह, नक्षत्र आदि का, पृथ्वी पर घट रही घटनाओं का, आपस में समन्वय का ज्ञान कराता है।

विद्वानों का मत है कि इस शास्त्र की उत्पत्ति कब हुई?—यह कहना अभी अनिश्चित है। हाँ, इसका विकास, इसके शास्त्रीय नियमों में संशोधन और परिवर्द्धन प्राचीन काल से आज तक निरन्तर होते चले आये हैं।

ज्योतिष और इसका विकास

ज्योतिष के संक्षेप में तीन भेद— होरा, सिद्धान्त और संहिता और विस्तार में पाँच भेद—होरा, सिद्धान्त, संहिता, प्रश्न और शकुन हैं। यदि हम इन पाँच भेदों की परिभाषा का विराट् विश्लेषण करें तो मनोविज्ञान जीवविज्ञान, पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान, चिकित्साविज्ञान इत्यादि भी ज्योतिष-शास्त्र में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस शास्त्र की परिभाषा भारतवर्ष में समय-समय पर विभिन्न रूपों में मानी जाती रही है। सुदूर काल में केवल ज्योतिः पदार्थों—ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि के स्वरूप विज्ञान को ही ज्योतिष कहा जाता था। उस समय सैद्धान्तिक गणित का बोध इस शास्त्र में नहीं होता था, क्योंकि उस काल में केवल दृष्टि-पर्यवेक्षण द्वारा नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करना ही अभिप्रेत था।

ब्राह्मण और आरण्यकों के समय में यह परिभाषा और विकसित हुई तथा इस काल में नक्षत्रों की आकृति, स्वरूप, गुण, एवं प्रभाव का परिज्ञान प्राप्त करना ज्योतिष माना जाने लगा। आदिकाल में नक्षत्रों के शुभाशुभ फलानुसार कार्यों का विवेचन तथा ऋतु, अयन, दिनमान, लग्न आदि के शुभाशुभ अनुसार विधायक कार्यों को करने का ज्ञान प्राप्त करना भी इस शास्त्र की परिभाषा में परिगणित हो गया।

सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक, वेदांग-ज्योतिष आदि ग्रन्थों के बाद ही ज्योतिष के गणित और फलित,—ये दो भेद स्पष्ट हुए थे।

यह भाषा यहीं सीमित नहीं रही, ज्ञानोन्नति के साथ-साथ विकसित हुई। राशि

और ग्रहों के स्वरूप, रंग, दिशा, तत्त्व, धातु आदि के विवेचन भी इसके अन्तर्गत आ गये।

आदिकाल के अन्त में ज्योतिष के होरा, गणित या सिद्धान्त और फलित ये तीनों भेद स्वतन्त्र रूप से माने जाने लगे।

ग्रहों की स्थिति, अयनांश, पात आदि गणित ज्योतिष के अन्तर्गत, जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति के अनुसार व्यक्ति के फलाफल का निरूपण होरा ज्योतिष के अन्तर्गत तथा शुभाशुभ समय का निर्णय, विधायक, यज्ञ-यगादि कार्यों के करने के लिए समय और स्थान का निर्धारण फलित ज्योतिष का विषय माना गया।

पूर्वमध्यकाल² की अन्तिम शताब्दियों में सिद्धान्त ज्योतिष के स्वरूप में भी विकास हुआ, लेकिन खगोलीय निरीक्षण और ग्रहवेध की परिपाटी के कम हो जाने से गणित के कल्पना जाल द्वारा ग्रहों के स्थानों का निश्चय करना सिद्धान्त ज्योतिष के अन्तर्गत आ गया तथा पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ में ज्योतिष का अर्थ स्कन्धत्रय-होरा, सिद्धान्त और संहिता के रूप में ग्रहण किया गया, परन्तु इस युग के मध्य में संशोधन देखे और आगे जाकर यह पंचरूपात्मक—होरा, गणित या सिद्धान्त, संहिता, प्रश्न और शकुन रूप हो गया।

ज्योतिष का उद्भव-स्थान और काल

योगविज्ञान भारतीय आचार्यों की विभूति माना जाता है। यहाँ के ऋषियों ने योगाभ्यास द्वारा अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से शरीर के भीतर ही सौरमण्डल के दर्शन किये और अपना निरीक्षण कर आकाशीय सौरमण्डल की व्यवस्था की। अंकविद्या³ जो इस शास्त्र का प्राण है, उसका आरम्भ भी भारत में हुआ।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति नामक पुस्तक में श्री ओझा जी ने लिखा है—“भारत ने अन्य देशवासियों को जो अनेक बातें सिखायीं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व अंकविद्या का है। संसार-भर में गणित, ज्योतिष विज्ञान की आज जो उन्नति पाई जाती है, उसका मूल कारण वर्तमान अंक क्रम है, जिसमें 1 से 9 तक के अंक और शून्य—इन 10 चिह्नों में अंकविद्या का सारा काम चल रहा है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया।” इस उदाहरण से स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में भारतीय-ऋषि खगोल और ज्योतिषशास्त्र से परिचित थे।

ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि आज से कम से कम 28000 वर्ष पहले भारतीयों ने खगोल और ज्योतिषशास्त्र का मन्थन किया था। वे आकाश चमकते हुए नक्षत्रपुंज, शशिपुंज, देवतापुंज, आकाशगंगा, निहारिका आदि के नाम, रूप, रंग, आकृति से पूर्णतया परिचित थे।

कौन-सा नक्षत्र ज्योतिपूर्ण है, नभोमण्डल में ग्रहों के संचार से आकर्षण कैसे होता

है?...तथा ग्रहों का प्रभाव पृथ्वी स्थित प्राणियों पर कैसे पड़ता है? इत्यादि बातों का वेदों में वर्णन है।

जैनग्रन्थ सूर्यप्रज्ञप्ति, गर्गसंहिता, ज्योतिष्करण्डक इत्यादि में ज्योतिषशास्त्र की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया गया है। जैन ज्योतिष के विद्वान गर्ग, ऋषिपुत्र और कालकाचार्य ने परम्परागत शशिचक्र का निरूपण किया है।

मानव-जीवन और भारतीय ज्योतिष

समस्त भारतीय ज्ञान की पृष्ठभूमि दर्शनशास्त्र है, यही कारण है कि भारत अन्य प्रकार के ज्ञान को दार्शनिक मापदण्ड द्वारा मापता है। इसी अटल सिद्धान्त के अनुसार वह ज्योतिष को भी इसी दृष्टिकोण से देखता है।

भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा अमर है, इसका कभी नाश नहीं होता है। अध्ययन शास्त्र का कथन है कि दृश्य सृष्टि केवल नाम, रूप और कर्म नहीं है, किन्तु इस नामरूपक आवरण के लिए आधारभूत एक अरूपी, स्वतन्त्र और अविनाशी आत्म-तत्त्व है तथा प्राणिमात्र के शरीर में रहनेवाला यह तत्त्व नित्य एवं चैतन्य है, केवल कर्मबन्ध के कारण वह परतन्त्र और विनाशीक दिखलाई पड़ता है।

वैदिक दर्शनों में कर्म के—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद माने गये हैं।

संचित कर्म—किसी के द्वारा वर्तमान क्षण तक किया गया, जो कर्म है—चाहे वह इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्मों में, यह-सब संचित कहलाता है।

अनेक जन्म-जन्मान्तरों के संचित-कर्मों को एक-साथ भोगना सम्भव नहीं है; क्योंकि इनसे मिलनेवाले परिणामस्वरूप फल परस्पर-विरोधी हैं, अतः इन्हें एक के बाद एक भोगना पड़ता है।

प्रारब्ध कर्म—संचित में से जितने कर्मों के फल को पहले भोगना शुरू होता है, उतने को ही प्रारब्ध कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि संचित अर्थात् समस्त जन्म-जन्मान्तर के संग्रह में से एक छोटे से भेद को प्रारब्ध कहते हैं।

क्रियमाण कर्म—जो कर्म अभी हो रहा है या जो अभी किया जा रहा है, वह क्रियमाण कर्म है।

इस प्रकार इन तीन कर्मों के कारण आत्मा अनेक जन्मों/पर्यायों को धारण कर संस्कार अर्जन करता चला आ रहा है।

आत्मा के साथ अनादिकालीन कर्म-प्रवाह के कारण लिंगशरीर, कार्माण शरीर और भौतिक स्थूल-शरीर का सम्बन्ध है।

जब एक स्थान से आत्मा इस भौतिक शरीर का त्याग करता है, तो लिंग-शरीर

उसे अन्य स्थूल शरीर की प्राप्ति में सहायक होता है।

इस स्थूल भौतिक शरीर में विशेषता यह है कि इसमें प्रवेश करते ही आत्मा-जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की निश्चित स्मृति को खो देता है।

इसलिए ज्योतिर्विदों ने प्राकृतिक ज्योतिष के आधार पर कहा है कि यह आत्मा मनुष्य के वर्तमान स्थूल शरीर में रहते हुए भी एक से अधिक जगत् के साथ सम्बन्ध रखता है।

मानव का भौतिक शरीर प्रधानतः ज्योतिः, मानसिक और पौद्गलिक इन तीनों उपशरीरों में विभक्त है।

यह ज्योतिः उपशरीर (Astral's body) द्वारा नक्षत्र जगत्; मानसिक शरीर द्वारा मानसिक जगत् से और पौद्गलिक उपशरीर द्वारा भौतिक जगत् से सम्बद्ध है। अतः मानव प्रत्येक जगत् से प्रभावित होता है तथा अपने भाव, क्रिया द्वारा प्रत्येक जगत् को प्रभावित करता है।

उसके वर्तमान शरीर में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक शक्तियों का धारक आत्मा सर्वत्र व्यापक है तथा शरीर प्रमाण रहने पर भी अपने चैतन्य क्रियाओं द्वारा विभिन्न जगत्ओं में अपना कार्य करता है।

मनोवैज्ञानिकों ने आत्मा की इस क्रिया की विशेषता के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व को बाह्य और आन्तरिक दो भागों में विभक्त किया है।

बाह्य व्यक्तित्व वह है, जिसने भौतिक शरीर के रूप में अवतार लिया है।

आन्तरिक व्यक्तित्व वह है, जो अनेक बाह्य व्यक्तित्वों की स्मृतियों, अनुभवों और प्रवृत्तियों का संश्लेषण अपने में रखता है।

बाह्य और आन्तरिक इन दोनों व्यक्तित्व सम्बन्धी चेतना के ज्योतिष में विचार, अनुभव और क्रिया ये तीन रूप माने गये हैं। बाह्य व्यक्तित्व के तीन रूप आन्तरिक व्यक्तित्व के इन तीनों रूप से सम्बद्ध हैं, पर आन्तरिक व्यक्तित्व के तीन रूप अपनी निजी विशेषता और शक्ति रखते हैं, जिससे मनुष्य के भौतिक (क्रिया), मानसिक (अनुभव) और आध्यात्मिक (विचार) इन तीनों जगत्ओं का संचालन होता है।

मनुष्य का अन्तःकरण इन तीनों व्यक्तित्व के उक्त तीनों रूपों को मिलाने का कार्य करता है।

दूसरे दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ये तीनों रूप एक मौलिक अवस्था में आकर्षण और विकर्षण की प्रवृत्ति द्वारा अन्तःकरण की सहायता से सन्तुलित रूप को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि आकर्षण की प्रवृत्ति बाह्य व्यक्तित्व को और विकर्षण की प्रवृत्ति आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करती है और इन दोनों के बीच में रहनेवाला अन्तःकरण

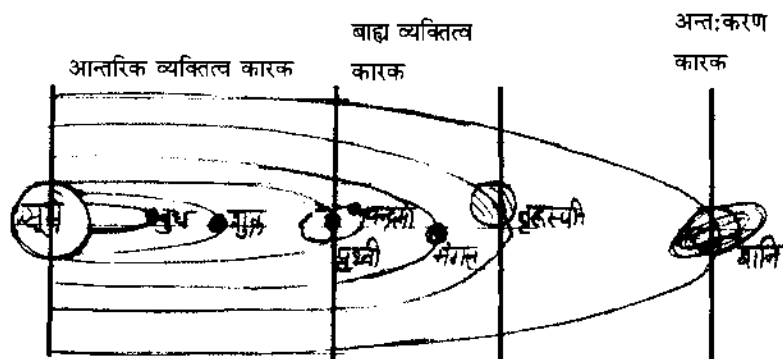
इन्हें सन्तुलन प्रदान करता है। मनुष्य की उन्नति और अवनति इस सन्तुलन के पलड़े पर ही निर्भर है।

मानव-जीवन के बाह्य व्यक्तित्व के तीन रूप और आन्तरिक व्यक्तित्व के तीन रूप तथा एक अन्तःकरण—इन सात के प्रतीक सौर-जगत् में रहनेवाले सात ग्रह—सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि माने गये हैं। उपर्युक्त सात रूप सब प्राणियों के एक से नहीं होते हैं, क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों के संचित, प्रारब्ध कर्म विभिन्न प्रकार के हैं, अतः प्रतीक रूप ग्रह अपने-अपने प्रतिरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की बातें प्रकट करते हैं।

प्रतिरूपों की सच्ची अवस्था बीजगणित की अव्यक्तमान कल्पना द्वारा निष्पन्न अंकों के समान प्रकट हो जाती है।

भारतीय दर्शन में भी “यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे” का सिद्धान्त प्राचीन काल से प्रचलित है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक सौर-जगत् में सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के भ्रमण के नियम कारण हैं, वे ही नियम प्राणिमात्र के शरीर में स्थित सौर-जगत् के ग्रहों के भ्रमण करने में भी काम करते हैं। अतः आकाश-स्थित ग्रह शरीर-स्थित ग्रहों के प्रतीक हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि सौर-जगत् के साथ ग्रह मानव जीवन के विभिन्न अवयवों के प्रतीक हैं। इन सातों ग्रहों के क्रिया-फल द्वारा ही जीवन का संचालन होता है।



बाह्य व्यक्तित्व कारक—बृहस्पति, मंगल, चन्द्रमा

आन्तरिक व्यक्तित्व कारक—शुक्र, बुध, सूर्य

अन्तःकरण कारक—शनि

आचार्य वराहमिहिर के सिद्धान्तों को मनन करने से ज्ञात होता है कि शरीरचक्र ही ग्रह-कक्षावृत है। इस कक्षावृत के द्वादश भाव मस्तक, मुख, वक्षस्थल, हृदय, उदर, कटि, वस्ति, लिंग, जंघा, घुटना, पिण्डली और पैर क्रमशः मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन संज्ञक हैं। इन बारह राशियों में भ्रमण करनेवाले ग्रहों में आत्मा रवि, मन चन्द्रमा, धैर्य मंगल, वाणी बुध, विवेक गुरु, वीर्य शुक्र और संवेदन शनि हैं।

तात्पर्य यह है कि वराहमिहिराचार्य ने सात ग्रह और बारह राशियों की स्थिति देहधारी प्राणी के भीतर ही बतलायी है। इस शरीर स्थित सौरचक्र का भ्रमण आकाशस्थित सौरमण्डल के आधार पर ही होता है।

ज्योतिषशास्त्र व्यक्त सौरजगत् के ग्रहों की स्थिति, गति आदि को प्रकट करता है, इसलिए इस शास्त्र द्वारा निरूपित फलों का मानव-जीवन से सम्बन्ध है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रयोगशाला के अभाव में अपने दिव्य योगबल द्वारा आभ्यन्तर सौर-जगत् का पूर्ण दर्शन कर आकाशमण्डलीय सौर-जगत् के नियम निर्धारित किये थे, उन्होंने अपने शरीरस्थ सूर्य की गति निश्चित की थी। इसी कारण ज्योतिष के फलाफल का विवेचन आज भी विज्ञान-सम्मत माना जाता है।

ज्योतिष और जैन परम्परा

जैन परम्परा बतलाती है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में जब मनुष्य को सर्वप्रथम सूर्य और चन्द्रमा दिखलाई पड़े, तो वे इनसे सशक्त हुए और अपनी उत्कण्ठा शान्त करने के लिए उक्त प्रतिश्रुति नामक कुलकर मनु के पास गये। उक्त मनु ने ही सौर-जगत् सम्बन्धी सारी जानकारीयों बतलायीं और ये ही सौर-जगत् की ज्ञातव्य बातें ज्योतिषशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

मूलभूत सौर-जगत् के सिद्धान्तों के आधार पर गणित और फलित ज्योतिष का विकास प्रतिश्रुति मनु के सहस्रों वर्ष के बाद हुआ तथा ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर भावी फलाफलों का निरूपण भी उसी समय से होने लगा।

जैन ज्योतिष का विकास

जैनागम की दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र का विकास विद्यानुवादांग और परिक्रमों से हुआ है। समस्त गणित-सिद्धान्त ज्योतिष परिक्रमों में अंकित हैं और अष्टांगनिमित्त का विवेचन विद्यानुवादांग में किया है।

यद्वखण्डागम धवला टीका में पन्द्रह प्रकार के मुहूर्त आये हैं। मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है, किन्तु पूर्व परम्परा से श्लोकों को उन्होंने उद्धृत

किया है। अतः मुहूर्त-चर्चा जैन परम्परा में पर्याप्त प्राचीन है।

‘प्रश्नव्याकरण’ में नक्षत्रों के फलों का विशेष ढंग से निरूपण करने के लिए कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन का वर्णन किया है। यह वर्णन-प्रणाली संहिता शास्त्र के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस वर्णन का प्रयोजन उस महीने के फलादेश से सम्बन्ध रखता है। इस ग्रन्थ में ऋतु, अयन, मास, पक्ष, नक्षत्र और तिथि सम्बन्धी चर्चाएँ भी उपलब्ध हैं। समवायांग में नक्षत्रों की ताराएँ, उनके दिशा-द्वार आदि का वर्णन है।^१ ठाणांग में चन्द्रमा के साथ स्पर्शयोग करने वाले नक्षत्रों का कथन किया है। अष्टांग निमित्त-ज्ञान की चर्चाएँ भी आगम-ग्रन्थों में मिलती हैं। गणित और फलित ज्योतिष की अनेक मौलिक बातों का संग्रह आगम-ग्रन्थों में है।

फुटकर ज्योतिष-चर्चा के अलावा सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक, अंगविज्जा, गणिविज्जा, मण्डलप्रवेश, गणितसारसंग्रह, गणितसूत्र, व्यवहार गणित, जैनगणितसूत्र, सिद्धान्तशिरोमणि-त्रैवेद्य मुनि, गणितशास्त्र, गणितसार, जोइसार, पंचाङ्गनयनविधि, इष्टतिथिसारणी, लोकविजययन्त्र, पंचाङ्गतत्त्व, केवलज्ञान होरा, अयज्ञानतिलक, आयसद्याव प्रकरण, रिडुसमुच्चय, अर्धकाण्ड, ज्योतिषप्रकाश, जातकतिलक, नक्षत्रचूडामणि आदि सैकड़ों ग्रन्थ जैन ज्योतिष से सम्बन्धित आज उपलब्ध हैं।

विषय-विचार की दृष्टि से जैन ज्योतिष को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक गणित और दूसरा फलित।

गणित-ज्योतिष—सैद्धान्तिक दृष्टि से गणित का महत्वपूर्ण स्थान है; ग्रहों की गति, स्थिति, वक्रा, मार्गी, मध्यफल, मन्दफल, सूक्ष्मफल, कुज्या, प्रिज्या, बाण, चाप, परिधिफल एवं केन्द्रफल आदि का प्रतिपादन बिना गणित ज्योतिष के नहीं हो सकता है। आकाशमण्डल में विकीर्णता तारिकाओं का ग्रहों के साथ कब, कैसा सम्बन्ध होता है, इसका ज्ञान भी गणित-प्रक्रिया से संभव है। जैनाचार्यों ने गणित ज्योतिष सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन करने के लिए पाटीगणित, रेखागणित, बीजगणित, त्रिकोणमिति, गोलीयरेखागणित, चापीय एवं वक्रीय त्रिकोणमिति, प्रतिभागणित, शृगोन्नतिगणित, पंचाङ्गनिर्माण गणित, जन्मपत्रनिर्माण गणित, ग्रहयुति, उदयास्त सम्बन्धी गणित एवं यन्त्रादि साधन सम्बन्धी गणित का प्रतिपादन किया है।

फलित ज्योतिष— इसमें ग्रहों के अनुसार फलों का निरूपण किया जाता है। प्रधानतया इसमें ग्रह, नक्षत्रादि की गति या संचार आदि को देखकर प्राणियों की भावी दशा, कल्याण-अकल्याण आदि का वर्णन होता है।

जैनाचार्यों ने फलित सिद्धान्त का परिज्ञान करने के लिए फुटकर चर्चाओं के अतिरिक्त वर्षवोध, ग्रहभाव प्रकाश, बेड़ाजातक, प्रश्नशतक, प्रश्न चतुर्विंशतिका, लग्नविचार, ज्योतिषरत्नाकर प्रभृति ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं।

फलित विषय के विस्तार में अष्टांग-निमित्तज्ञान भी शामिल है और प्रधानतः यही निमित्तज्ञान संहिता विषय के अन्तर्गत आता है। जैन दृष्टि में संहिता ग्रन्थों में अष्टांग निमित्त के साथ आयुर्वेद और क्रियाकाण्ड को भी स्थान दिया है। ऋषिपुत्र, माघनन्दी, अकलंक, भट्टवसरि आदि के नाम संहिता-ग्रन्थों के प्रणेता के रूप से प्रसिद्ध हैं। प्रश्नशास्त्र और सामुद्रिक-शास्त्र का समावेश भी संहिता-शास्त्र में किया है।

अतः फलित शास्त्र में होराशास्त्र, संहिताशास्त्र, मुहूर्तशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, स्वप्नशास्त्र एवं निमित्तशास्त्र आदि हैं।

होरा का अर्थ है— लग्न और जातक-शास्त्र। इसकी उत्पत्ति अहोरात्र शब्द से है। आदि शब्द 'अ' और अन्तिम शब्द 'त्र' का लोप कर देने से 'होरा' शब्द बनता है। लग्न पर से शुभ-अशुभ फल का ज्ञान कराना होरा-शास्त्र का काम है। इसमें जातक के जन्म के समय के नक्षत्र, तिथि, योग, करण आदि का फल अति-उत्तमता के साथ बताया जाता है। जैनाचार्यों ने इसमें ग्रह एवं वर्णस्वभाव, गुण, आकार आदि बातों का प्रतिपादन किया है। जन्म-कुण्डली का फल बताना इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

आचार्य श्रीधर ने यह भी बतलाया है कि आकाश स्थित शशि और ग्रहों के बिम्बों में स्वाभाविक शुभ और अशुभपना मौजूद है, किन्तु उनमें परस्पर साहचर्यादि तात्कालिक सम्बन्ध से फल-विशेष शुभ और अशुभ रूप में परिणत हो जाता है, जिसका प्रभाव पृथ्वीस्थित प्राणियों पर भी पूर्णरूप से पड़ता है।

इस शास्त्र में देह, द्रव्य (धनभाव), पराक्रम, सुख, सुत (सन्तान), शत्रु, कलत्र, आयु, भाग्य, राज्यपद (कर्म), लाभ और व्यय इन बारह भावों का वर्णन रहता है। इस शास्त्र में लग्न और लग्नेश को प्राथमिकता दी गयी है। ये-जब जातक को जन्म-कुण्डली में अच्छे हों, तो अशुभ सम्भावना घट जाती है।

जैसे यदि लग्न तथा लग्नेश बलवान हो, तो परिस्थितियाँ विपरीत होने पर भी जातक उन परिस्थितियों को अपने अनुरूप बनाने में सक्षम होता है तथा शरीर, सुख एवं आयु आदि की कमी नहीं होती। यदि लग्न अथवा लग्नेश को स्थिति विरुद्ध है, तो जातक को सब तरह से शुभ कर्मों में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। लग्न के सहायक लग्न को मिलाकर 12 भाव हैं, क्योंकि आचार्यों ने जन्मकुण्डली (भचक्र) को जातक का पूर्ण शरीर माना है। यदि जन्मकुण्डली में 12 भावों में कोई भाव बिगाड़ जाये, तो जातक को उस भाव से सम्बन्धित सुख का अभाव रहता है।

अतएव लग्न-लग्नेश, भाग्य-भाग्येश, पंचम-पंचमेश, सुख-सुखेश, अष्टम-अष्टेश आदि भाव-भावेश तथा सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों की स्थिति तथा ग्रह स्फुट में वक्रा, मार्गी, भावोद्धारक चक्र, द्रेष्काणचक्र, कुण्डली और नवांश कुण्डली आदि का विचार इस शास्त्र में जैनाचार्यों ने विस्तार से किया है।

संहिता—इस शास्त्र में भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलोपक, ग्रहोपकरण

ज्योतिष : स्वरूप और विकास :: 657

इष्टिकाद्वार, ग्रहारम्भ, ग्रहप्रवेश, जलाशय, उल्कापात एवं ग्रहों के उदयास्त का फल आदि अनेक बातों का वर्णन रहता है।

जैन आचार्यों ने संहिता ग्रन्थों में प्रतिमा-निर्माण विधि एवं प्रतिष्ठा आदि का भी विधान लिखा है। यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र आदि का विधान भी इस शास्त्र में है। फलित विषय के विस्तार में अष्टांग-निमित्त-ज्ञान भी शामिल है और प्रधानतः यही निमित्त-ज्ञान-संहिता विषय के अन्दर आता है। जैन दृष्टि में संहिता ग्रन्थों में अष्टांग निमित्त के साथ आयुर्वेद को भी स्थान दिया है।

अष्टांगनिमित्त— जिन लक्षणों को देखकर भूत और भविष्यत् में घटित हुई और होने वाली घटनाओं का निरूपण किया जाता है, उन्हें निमित्त कहते हैं। न्यायशास्त्र में दो प्रकार के निमित्त माने गये हैं— कारक और सूचक। 'कारक' वह निमित्त है, जो किसी वस्तु को सम्पन्न करने में सहायक होते हैं। जैसे घड़े के लिए कुम्हार निमित्त है और पट के लिए जुलाहा। जुलाहे और कुम्हार की सहायता के बिना पट और घट रूप कार्य का बनना सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकार का निमित्त 'सूचक' है। इनसे किसी वस्तु या कार्य की सूचना मिलती है, जैसे सिग्नल की बत्ती हरी हो जाने या झुक जाने से गाड़ी आने की सूचना। जैन ज्योतिषशास्त्र में सूचकनिमित्त की विशेषताओं पर विचार किया गया है।

संहिताशास्त्र मानता है कि प्रत्येक घटना के घटित होने से पहले प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। इन प्राकृतिक विकारों की पहचान से व्यक्ति भावी शुभ-अशुभ घटनाओं को सरलतापूर्वक जान सकता है।

ग्रह नक्षत्रादि की गतिविधि का भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालीन क्रियाओं के साथ कार्य-कारण का भाव-सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इन अव्यभिचारित कार्य-कारण भाव से भूत, भविष्यत् की घटनाओं का अनुमान किया है और इस अनुमान ज्ञान को अव्यभिचारी माना है। न्यायशास्त्र भी मानता है कि सुपरीक्षित अव्यभिचारी कार्य-कारण भाव से ज्ञात घटनाएँ निर्दोष होती हैं। उत्पादक सामग्री के सदोष होने से ही अनुमान सदोष होता है। अनुमान की अव्यभिचारिता सुपरीक्षित निर्दोष उत्पादक सामग्री पर निर्भर है।

अतः ग्रह या अन्य प्राकृतिक कारण किसी व्यक्ति का इष्ट-अनिष्ट सम्पादन नहीं करते, बल्कि इष्ट या अनिष्ट रूप में घटित होने वाली भावी घटनाओं की सूचना देते हैं। संक्षेप में यह कर्म-फल के अभिव्यंजक हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठ कर्म तथा मोहनीय के दर्शन और चारित्र-मोह भेदों के कारण कर्मों के प्रधान नौ भेद जैनागम में बताये गये हैं। प्रधान नौ ग्रह इन्हीं कर्मों के फलों की सूचना देते हैं।

ग्रहों के आधार पर व्यक्ति के बन्ध, उदय और सत्त्व की कर्मप्रवृत्तियों का विवेचन भी किया जा सकता है।

अतः ज्योतिषशास्त्र में अव्यभिचारी सूचक निमित्त का विवेचन किया गया है। इन्हीं सूचक निमित्तों के संहिताग्रन्थों में आठ भेद किये गये हैं, वे हैं—

व्यंजन, अंग, स्वर, भौम, छिन्न, अन्तरिक्ष, लक्षण एवं स्वप्न।

व्यंजननिमित्त ज्ञान— तिल, मस्सा, चट्टा आदि को देखकर शुभाशुभ का निरूपण करना व्यंजन-निमित्त-ज्ञान है। जैसे साधारणतः पुरुष के शरीर में दाहिनी ओर तिल, मस्सा, चट्टा शुभ समझा जाता है और नारी के शरीर में इन्हीं व्यंजनों का बायीं ओर होना शुभ है, दाहिने पैर में तिल होने से व्यक्ति ज्ञानी होता है, आदि।

अंगनिमित्तज्ञान— हाथ, पाँव, ललाट, मस्तक और वक्षःस्थल आदि शरीर के अंगों को देखकर शुभाशुभ फल का निरूपण करना अंग-निमित्त है। जैसे—नासिका, नेत्र, दन्त, ललाट, मस्तक और वक्षःस्थल ये छः अवयव उन्नत होने से मनुष्य सुलक्षण-युक्त होता है, जिस व्यक्ति की जिह्वा इतनी लम्बी हो, जो नाक का अग्रभाग स्पर्श कर ले, तो वह योगी व मुमुक्षु होता है।

मस्तक पर विचार करते समय बताया गया है कि मस्तक के सम्बन्ध में चार बातें विचारणीय हैं—बनावट, नसजाल, विस्तार और आभा। बनावट से विचार, विद्या और धार्मिकता के माप का पता चलता है।

मस्तक के नसजाल से विद्या-विचार और प्रतिभा का परिज्ञान होता है। विचारशील, व्यक्तियों के माथे पर सिकुड़न और ग्रन्थियाँ देखी जाती हैं। रेखाविहीन चिकना-मस्तक प्रमाद, अज्ञान और लापरवाही का सूचक है।

विस्तार में मस्तक की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई सम्मिलित है।

मस्तक की आभा का वही महत्त्व है, जो किसी सुन्दर बने मकान में रँगई, पुताई का होता है।

ओठों पर विचार करते समय कहा गया है कि मोटे ओठों वाला व्यक्ति मूर्ख, दुराग्रही और दुराचारी होता है। छोटे मुँह में अधिक पतले ओठ कंजूसी, दरिद्रता और चिन्ता के सूचक हैं। सरस, सुन्दर और आभा-युक्त पतले ओठ होने पर व्यक्ति विद्वान्, धनी, सुखी और प्रिय होता है।

अंगनिमित्तज्ञान में शरीर के समस्त अंगों की बनावट, रूप-रंग तथा उनके स्पर्श का भी विवेचन किया गया है।

स्वरनिमित्तज्ञान—चेतन प्राणियों के और अचेतन वस्तुओं के शब्द सुनकर शुभाशुभ का निरूपण करना स्वरनिमित्त कहलाता है। पौदकी का 'चिलिचिलि' इस प्रकार का शब्द सुनाई पड़े, तो लाभ की सूचना समझनी चाहिए। 'चिकुचिकु' इस प्रकार का शब्द

सुनाई पड़े, तो बुलाने के लिए सूचना समझनी चाहिए। पोदकी की 'कीतुकीतु' शब्द कामनासिद्धि का सूचक है।

इस निमित्त में काक, उल्लू, बिल्ली, कुत्ता आदि के शब्दों का विशेष रूप से विचार किया जाता है।

मुरगा, हाथी, मोर और भृगाल क्रूर शब्द करें, तो अनेक प्रकार के भय, मधुर शब्द करने से इष्ट-लाभ तथा अति-मधुर शब्द करने से धनादि का शीघ्र लाभ होता है। कबूतर और तोते का रुदन सर्वथा अशुभकारक माना जाता है।

गाय, बैल, बकरी, भैंस इनकी मधुर, कोमल, कर्कश एवं मध्यम ध्वनियों के अनुसार फलादेशों का निरूपण किया है।

रोंने की ध्वनि तथा हँसने की ध्वनि सभी पशु-पक्षियों की अशुभ मानी गयी है।

भौमनिमित्त ज्ञान— भूमि के रंग, चिकनाहट, रूखेपन आदि के द्वारा शुभाशुभत्व अवगत करना भौम-निमित्त कहलाता है। इस निमित्त में गृह-निर्माणयोग्य भूमि, देवालय-निर्माणयोग्य भूमि, जलाशय-निर्माणयोग्य भूमि आदि बातों की जानकारी प्राप्त की जाती है। भूमि के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श द्वारा उसके शुभाशुभत्व को जाना जाता है।

भूमि के नीचे जल का विचार करते समय बताया गया है कि जिस स्थान की मिट्टी पाण्डु और पीत वर्ण की हो तथा उसमें से शहद-जैसी गन्ध निकलती हो, वहाँ जल निकलता है। नीलकमल के रंग की मिट्टी हो, वहाँ खारे जल का स्रोत मिलता है।

किसी भी मकान में कहाँ अस्थि है और कहाँ पर धन-धान्यादि है, इसकी जानकारी भी भूमि-गणित के अनुसार की जाती है। ज्योतिषशास्त्र के विषयों में ऐसे कई प्रकार के गणित हैं, जो भूमि के नीचे की वस्तुओं पर प्रकाश डालते हैं। बताया गया है कि जिस स्थान की मिट्टी हाथी के मद के समान गन्ध वाली हो या कमल के समान गन्ध वाली हो और जहाँ प्रायः कोयल आया-जाया करती हो, और गोहद ने अपना निवास बनाया हो, इस प्रकार की भूमि में नीचे स्वर्णादि द्रव्य रहते हैं।

दूध के समान गन्ध वाली भूमि के नीचे रजत; मधु और पृथ्वी के समान गन्ध वाली भूमि के नीचे रजत और ताम्र; कबूतर की बीट के समान गन्ध वाली भूमि के नीचे पत्थर और जल के समान गन्धवाली भूमि के नीचे अस्थियाँ मिलती हैं।

छिन्ननिमित्तज्ञान— वस्त्र, शस्त्र, आसन और छत्रादि को छिदा हुआ देखकर शुभाशुभ का फल कहना छिन्न-निमित्त-ज्ञान के अन्तर्गत है। बताया गया है कि नये वस्त्र, आसन, शैया, शस्त्र, जूता आदि के नौ भाग करके विचार करना चाहिए। वस्त्रों के कोणों के चार भागों में देवता, पाशान्त-मूल भाग के दो भागों में मनुष्य और मध्य के तीन भागों में राक्षस बसते हैं। नया वस्त्र या उपर्युक्त नयी वस्तुओं में स्याही, गोबर, कीचड़ आदि लग जाये, उपर्युक्त वस्तुएँ जल जायें, फट जायें, कट जायें, तो अशुभ फल समझना चाहिए। राक्षस के भागों में वस्त्र में छेद हो जाये, तो वस्त्र के स्वामी को रोग या

मृत्यु होती है। मनुष्य भागों में छेद हो जाने पर पुत्र-जन्म होता है तथा वैभवशाली पदार्थों की प्राप्ति होती है। देवताओं के भागों में छेद होने पर धन, ऐश्वर्य, वैभव, सम्मान एवं भोगों की प्राप्ति होती है। देवता, मनुष्य और राक्षस इन तीनों भागों में छेद हो जाने पर अत्यन्त अनिष्ट होता है।

नये वस्त्रों में कुर्ता, टोपी, कमीज, कोट आदि ऊपर पहने जाने वाले वस्त्रों का विचार प्रमुख रूप से करना चाहिए तथा शुभाशुभ फल ऊपरी वस्त्रों के जलने-कटने का विशेष होता है। सब से अधिक निकृष्ट टोपी का जलना या फटना कहा गया है।

अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान— ग्रह-नक्षत्रों के उदय या अस्त द्वारा शुभाशुभ का निरूपण करना अन्तरिक्ष निमित्त है। शुक्र, बुध, मंगल, गुरु और शनि इन पाँच ग्रहों के उदयास्त द्वारा ही शुभाशुभ फल का निरूपण किया जाता है। यतः सूर्य और चन्द्रमा का उदयास्त प्रतिदिन होता है, अतएव शुभाशुभ फल के लिए इन ग्रहों के उदयास्त विचार की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

इस निमित्त ज्ञान द्वारा प्राकृतिक एवं राजनीतिक आपदा का शुभाशुभ फल कहा जाता है।

लक्षणनिमित्तज्ञान— स्वस्तिक, कलश, शंख, चक्र आदि चिह्नों के द्वारा एवं हस्त, मस्तक और पद-तल की रेखाओं द्वारा शुभाशुभ का निरूपण करना लक्षण-निमित्त है। यह ज्ञान सामुद्रिक शास्त्र के अन्तर्गत आता है।

करलक्षण में बताया गया है कि मनुष्य लाभ-हानि, सुख-दुख, जीवन-मरण, जय-पराजय, एवं स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य रेखाओं के बल से प्राप्त करता है। पुरुषों के लक्षण दाहिने हाथ से और स्त्रियों के बाएँ हाथ की रेखाओं से अवगत करने चाहिए।

हस्तसंजीवन में आचार्य मेघविजयगणि ने बताया है कि सब अंगों में हाथ श्रेष्ठ है, क्योंकि सभी कार्य हाथ द्वारा किये जाते हैं। हाथ में जन्मपत्री की तरह ग्रहों का अवस्थान बताया है।

तर्जनी मूल में बृहस्पति का स्थान, मध्यमा अँगुली के मूल देश में शनि का स्थान, अनामिका के मूल देश में रवि स्थान, कनिष्ठा के मूलदेश में बुध स्थान तथा बृहद्-अंगुष्ठ के मूल शुक्र-स्थान है। मंगल के दो स्थान बताए गये हैं—1. तर्जनी और बृहद्गुलि के बीच में पितृरेखा के समाप्ति स्थान के नीचे और 2. बुध के स्थान के नीचे तथा चन्द्र के स्थान के ऊपर आयुरेखा और पितृरेखा के नीचेवाले स्थान से बताया गया है।

रेखाओं के वर्ण का फल बतलाते हुए जैनाचार्यों ने लिखा है कि रेखाओं के रक्तवर्ण होने से मनुष्य आमोदप्रिय, सदाचारी और उग्र स्वभाव का होता है। यदि रक्तवर्ण में काली-आभा मालूम पड़े, तो प्रतिहिंसापरायण, शठ और क्रोधी होता है।

इस शास्त्र में प्रधान रूप से आयुरेखा, मातृरेखा, पितृरेखा एवं समयनिर्णय रेखा,

ज्योतिष : स्वरूप और विकास :: 661

ऊर्ध्वरेखा, अन्तःकरण रेखा, स्त्रीरेखा, सन्तानरेखा, समुद्रयात्रा रेखा या मणिबन्ध रेखा आदि रेखाओं का विचार किया गया है। सभी ग्रहों के पर्वत भी सामुद्रिक शास्त्र में बतलाये गये हैं। इनके फल का विश्लेषण बहुत सुन्दर ढंग से जैनाचार्यों ने किया है।

प्रश्ननिमित्तज्ञान शास्त्र— प्रश्नशास्त्र निमित्त-ज्ञान का एक प्रधान अंग रहा है। इसमें धातु, मूल, जीव, नष्ट, मुष्टि, लाभ, हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन, जन्म, कर्म, सेना-गमन, नदियों की बाढ़, अवृष्टि, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, फसल, जय-पराजय, लाभ-हानि, विद्यासिद्धि, विवाह, सन्तानलाभ, यश प्राप्ति एवं जीवन के विभिन्न प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

जैनाचार्यों ने अष्टांगनिमित्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। भद्रबाहुसंहिता इस विषय का एक प्रमुख ग्रन्थ है।

प्रश्नशास्त्र निमित्त-शास्त्र का वह अंग है, जिसमें बिना किसी गणित क्रिया के त्रिकाल की बातें बताई जाती हैं।

प्रश्ननिमित्त का विचार तीन प्रकार से किया जाता है— प्रश्नाक्षर-सिद्धान्त, प्रश्नलग्न-सिद्धान्त और स्वरविज्ञान सिद्धान्त।

प्रश्नाक्षर-सिद्धान्त का आधार मनोविज्ञान है; यतः बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार की विभिन्न परिस्थितियों के अधीन मानव-मन की भीतरी तह में जैसी भावनाएँ छिपी रहती हैं, वैसे ही प्रश्नाक्षर निकलते हैं। अतः प्रश्नाक्षरों के निमित्त को लेकर फलादेश का विचार किया जाता है। 'केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि' प्रश्नाक्षर-सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ है। दो-चार ग्रन्थों में प्रश्न की प्रणाली प्रश्न-लग्न के अनुसार मिलती है। यदि लग्न या लग्नेश बली हुए और स्वसम्बन्धी ग्रहों की दृष्टि हुई तो कार्य की सिद्धि और इसके विपरीत में असिद्धि होती है।

चन्द्रोन्मीलन प्रश्न में चर्या, चेष्टा एवं हाव-भाव आदि से प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। जैसे हँसते हुए प्रश्न पूछने से कार्य सिद्ध होता है और उदासीन रूप से प्रश्न करने पर कार्य असिद्ध रहता है। वास्तव में जैन प्रश्नशास्त्र बहुत उन्नत है। ज्योतिष के अंगों में जितना अधिक यह शास्त्र विकसित हुआ है, उतना दूसरा शास्त्र नहीं।

स्वप्ननिमित्तज्ञान— जैन मान्यता में स्वप्न संचित-कर्मों के अनुसार घटित होने वाले शुभाशुभ फल के द्योतक बताये गये हैं। स्वप्नशास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट अवगत होता है कि कर्मबद्ध प्राणिमात्र की क्रियाएँ सांसारिक जीवों को उसके भूत और भावि जीवन की सूचना देती हैं।

स्वप्न का अन्तरंग कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय के क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति के जितना अधिक इन कर्मों का क्षयोपशम होगा, उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। तीव्रकर्मों

के उदयवाले व्यक्तियों के स्वप्न निरर्थक एवं सारहीन होते हैं। इसका मुख्य कारण जैनाचार्यों ने यही बताया है कि सुषुप्तावस्था में भी आत्मा तो जाग्रत रहती है, केवल इन्द्रियों और मन की शक्ति विश्राम करने के लिए सुषुप्त-सी हो जाती है। जिसके उपर्युक्त कर्मों का क्षयोपशम है, उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रियाँ और मन-सम्बन्धी-चेतना या ज्ञानावस्था अधिक रहती है। इसलिए ज्ञान की उज्ज्वलता से निद्रित अवस्था में जो कुछ देखते हैं, उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावि जीवन से है। इसी कारण स्वप्नशास्त्रियों ने स्वप्न को भूत, वर्तमान और भावि जीवन का द्योतक बतलाया है।

उपलब्ध जैन ज्योतिष में स्वप्नशास्त्र अपना विशेष स्थान रखता है। जहाँ जैनाचार्यों ने जीवन में घटनेवाली अनेक घटनाओं के इष्टानिष्ट कारणों का विश्लेषण किया है, वहाँ स्वप्न के द्वारा भावि-जीवन की उन्नति और अवनति का विश्लेषण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण ढंग से किया है। यों तो प्राचीन वैदिक धर्मावलम्बी ज्योतिषशास्त्रियों ने भी इस विषय में पर्याप्त लिखा है, पर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वप्न-शास्त्र में कई विशेषताएँ हैं।

वैदिक ज्योतिषशास्त्रियों ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, इसलिए स्वप्न को ईश्वर-प्रेरित इच्छाओं का फल बताया है। वराहमिहिर, बृहस्पति और पौलस्त्य आदि विख्यात गणकों ने ईश्वर की प्रेरणा को ही स्वप्न में प्रधान कारण माना है। फलाफल के विवेचन में दस-पाँच स्थलों में भिन्नता मिलेगी।

जैनस्वप्नशास्त्र में प्रधानतया सात प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं—

1. दृष्ट- जो कुछ जागृत-अवस्था में देखा हो, उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाए।
2. श्रुत- सोने से पहले कभी किसी से सुना हो, उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाए।
3. अनुभूत- जिसका जागृत-अवस्था में किसी भाँति अनुभव किया हो, उसी को स्वप्न में देखे।
4. प्रार्थित- जिसकी जागृत-अवस्था में प्रार्थना-इच्छा की हो, उसी को स्वप्न में देखे।
5. कल्पित- जिसकी जागृत-अवस्था में कल्पना की गयी हो, उसी को स्वप्न में देखे।
6. भाविक- जो कभी न देखा हो या सुना हो, पर जो भविष्य में होनेवाला हो, उसे स्वप्न में देखे।
7. वात, पित्त और कफ इनके विकृत हो जाने से देखा जाए।

इन सात प्रकार के स्वप्नों में से केवल भाविक स्वप्न का फल सत्य होता है। फलित जैन ज्योतिषशास्त्र शक संवत् की 5वीं शताब्दी में अत्यन्त पल्लवित और

पुष्पित था। इस काल में होनेवाले वराहमिहिर-जैसे प्रसिद्ध गणक ने सिद्धसेन और देवस्वामी का स्मरण किया है तथा दो चार योगों में मतभेद दिखलाया है तथा इसी शताब्दी के कल्याणवर्मा ने कनकाचार्य का उल्लेख किया है। यह कनकाचार्य भी जैन गणक प्रतीत होते हैं। इन जैनाचार्यों के ग्रन्थों का पता अद्यावधि नहीं लग पाया है, पर इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि ये जैन गणक ज्योतिषशास्त्र के महान प्रवर्तकों में से थे। संहिताशास्त्र के रचयिताओं में वामदेव का नाम भी बड़े गौरव के साथ लिया गया है। वह वामदेव लोकशास्त्र के वेत्ता, गणितज्ञ एवं संहिताशास्त्र में धुरीण कहे गये हैं। इस प्रकार फलित जैन ज्योतिष विकासशील रहा है।

संकलन आभार

1. विशेष जानने के लिए देखें : 'स्वप्न और उसका फल' जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-11, किरण 1
2. भारतीय ज्योतिष- डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य
3. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि-डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य
4. भद्रबाहुसंहिता- डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

दिव्यध्वनि : कम्प्यूटर विज्ञान

प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

भगवज्जिनेन्द्र को जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, तदनन्तर समवसरण में उनके सर्वांग से एक विचित्र गर्जना रूप ऊँकारमय ध्वनि खिरती है, जिसे दिव्यध्वनि कहा जाता है। यद्यपि यह मान्यता बहुत साफ नहीं है, तथापि हरिवंशपुराण में (3/16-38) दिव्यध्वनि को प्रातिहार्यों में तथा सर्वमागधी भाषा को देवकृत अतिशयों में गिना गया है, जबकि तिलोयपण्णत्ति में यह उल्लेख मिलता है कि अठारह महाभाषाओं तथा सात सौ क्षुद्र भाषाओं से युक्त दिव्यध्वनि केवलज्ञान के ग्यारह अतिशयों में से एक है (ति.प. 4/899-906), जो भी हो, यहाँ यह प्रश्न विवेच्य नहीं है कि दिव्यध्वनि प्रातिहार्यों का अंग है अथवा केवलज्ञान के अतिशयों का?... अथवा केवलज्ञान होने पर होने वाले देवकृत अतिशयों का?... पर इस बिन्दु पर सभी आचार्य एक-मत हैं कि अर्हन्त भगवान के उपदेश देने की सभा समवसरण के परकोटे में सभी आगम्यमान यथा- तिर्यच, मनुष्य व देव आदि जीव निश्चित प्रकोष्ठ में ही भगवज्जिनेन्द्र की अमृतवाणी से कर्णों को तृप्त करने के लिए बैठते हैं और वहाँ बैठकर सभी अपनी-अपनी भाषा में परिणम्यमान वाणी में अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान भी श्री गणधर देव के माध्यम से पाते हैं और सब की समष्टि रूप में एक-जैसी ही, पर वस्तुतः प्रत्येक की अलग-अलग यह अनुभूति होती है कि भगवज्जिनेन्द्र हमारी भाषा में हम को ही लक्ष्य कर कह रहे हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि यह सब को कहने के माध्यम श्री गणधर देव ही बनते हैं (परोवदेसेण बिना अक्खरणक्खरसरूपासेसभासम् तर कुसलो समवसरणजणमेतरूवधारितणेण अम्हम्हाणम् भाषाहि अम्हम्हाणं चेव कहदि ति सव्वेसिं पच्च उप्पायओ समवसरणजणसोदिंदिएसु सगमुहविणिग्गयाणेय भासाणं संकरेण पवेसस्स विणवारओ गणहरदेवो गंथकत्तारो - धवला 9/4, 1, 44/128/6)। इस बिन्दु पर भी जैन परम्परा के सभी आचार्य एक-मत हैं कि केवलज्ञान से अलंकृत भगवत् जिनेन्द्र निखिल ब्रह्माण्ड के ज्ञान के निधान हैं, इसीलिए तो कोई भी भव्य जीव अपनी किसी भी शंका का निराकरण/समाधान समवसरण में पाता है। कम्प्यूटर के विकास के मूल में वैज्ञानिकों का प्रारम्भ से लेकर निरन्तर यह

दिव्यध्वनि : कम्प्यूटर विज्ञान :: 665

बहुत स्पष्ट लक्ष्य रहा है कि 'हम कम्प्यूटर को एक ऐसे ज्ञानस्रोत के रूप में विकसित करके रहेंगे/करेंगे, जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड की सकल जानकारी इस रूप में रख दी जाएगी' और इसी दिशा में संगणक-वैज्ञानिक निरन्तर गतिशील रहे हैं तथा कुछ अंशों में लक्ष्य की प्राप्ति भी उन्होंने की है। इसीलिए कम्प्यूटरविज्ञान में डाटाबेस से ऊपर उठकर एक और महत्वपूर्ण धारणा Knowledge Base ज्ञानस्रोत की बहुत तेजी से नये रूप में उभरकर आयी है। अब प्रश्न उठता है कि इस लक्ष्य की परिकल्पना का विचार कम्प्यूटर के वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में कैसे उभरा सच पूछिए तो यह बात बहुत स्पष्ट है कि पश्चिमी जगत् वैचारिक रूप में उतना समृद्ध नहीं है, जितना कि भारत। इसका कारण बहुत स्पष्ट है कि उनकी साहित्य-संस्कृति की परम्परा उतनी समृद्ध नहीं है, जितनी कि भारत की। एक और कारण है कि आज की तथाकथित अपने को आधुनिक कहलाने वाली पीढ़ी का सबसे बड़ा दोष है कि Computer Science के लोग जिससे लेते हैं, उसके प्रति मन से कृतज्ञता ज्ञापित भी नहीं करना चाहते हैं। इसीलिए सामान्यतः वे दातार को स्मरण ही नहीं करते हैं और यदि कहीं भूल से स्मरण करना पड़ जाए, तो केवल वाचिक-स्तर पर धन्यवाद देकर अलग हो जाते हैं। एक कारण और है कि हम तथाकथित आधुनिक कहे जाने वाले लोग पूर्वाग्रह के साथ परम्परा की सारी मान्यताओं को रूढ़ि या दकियानूसी मानकर चलते हैं, इसलिए उनमें यदि कोई बात महत्व की है भी, तो उसे महत्वपूर्ण मानने में अपनी हेठी मानते हैं। यही इन संगणक-वैज्ञानिकों के साथ हुआ; अन्यथा समवसरण में विद्यमान केवलज्ञानी जिनेन्द्र के स्वरूप को धारणा के ठीक समान लक्ष्य को धारणा बिना जैन परम्परा के नामोल्लेख के नहीं पनपती। खुले मस्तिष्क से यहाँ यह सम्भावना भी व्यक्त करते हैं कि जिन लोगों के वैचारिक सम्पर्क से संगणक-वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में यह विचार विकसित हुआ कि उन्होंने अपने वैचारिक आदान-प्रदान में संगणक-वैज्ञानिकों को इस धारणा के साथ जैन परम्परा का बोध न कराया हो, यदि ऐसा है तो हजारों वर्षों से इस परम्परा को सुरक्षित रखने वाले शास्त्र हमारे सम्मुख हैं, आज ही हम उन्हें स्वीकार कर लें।

यहीं मैं सम्प्रेषणविज्ञान (Communication Science) की बात और करना चाहता हूँ कि सम्प्रेषणविज्ञान की यह प्रमुख मान्यता है कि सम्प्रेषण अव्यवस्था में नहीं होता, सम्प्रेषण की अपनी व्यवस्था होती है, या सम्प्रेषण के लिए व्यवस्था आवश्यक है। यह व्यवस्था होती है ग्रहीता-सापेक्ष, "Whom to Address" सापेक्ष। मान लीजिए कि आपको कोई बात पहुँचानी है उन दश लोगों तक, जो भिन्न-भिन्न प्रमुख भाषाओं के जानकार हैं, तो क्या उन्हें एक-साथ एक-कक्ष में सम्बोधा जा सकेगा? ... नहीं, यह सम्भव नहीं। भिन्न-भिन्न प्रमुख भाषाओं के हमें भिन्न-भिन्न वर्ग बनाने होंगे और तब हम सम्बोधन का कार्य प्रारम्भ करेंगे। यही यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्येक वर्ग के ग्रहीताओं

(Recipient) को केन्द्र में रखकर हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के Port विकसित करने होंगे, जो एक ही स्रोत-सामग्री को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिवर्तित करने में सक्षम होने चाहिए। इसीलिए आज का संगणकविज्ञान सम्प्रेषणविज्ञान का अंग है और सम्प्रेषणविज्ञान की सम्प्रेषणीयता का लक्ष्य व्यवस्था में ही पूरा होता है। ठीक इसी सम्प्रेषणीय व्यवस्था को लक्ष्य में रखकर समवसरण के परकोटे में विभिन्न भाषिक वर्गों के लिए विभिन्न प्रकोष्ठों की व्यवस्था में ही भगवत् जिनेन्द्र की वाणी खिरती है, उसके बाहर/समवसरण के बाहर नहीं।

आज से लगभग सौ साल पहले समवसरण-सभा की इस धारणा को तथाकथित वैज्ञानिक आँख से देखने वाले या विचार करने वाले लोगों के द्वारा कपोल-कल्पना माना जाता था और टिप्पणी की जाती थी कि कहीं यह भी सम्भव है कि जहाँ वक्ता एक भाषा में बोल रहा हो और भिन्न-भिन्न भाषाओं के ग्रहीता अपनी-अपनी भाषा में उस कथन को सुन रहे हों, जैसी कि मान्यता है कि “जिनेन्द्र के सर्वांग से निगदित वाणी को सब अपनी-अपनी भाषा में सुन रहे होते हैं”—आज संगणक-वैज्ञानिकों ने उपर्युक्त सोच रखने वाले लोगों को मशीनी अनुवाद की धारणा देकर चुनौती ही नहीं दी है, बल्कि उन्हें एक करारा उत्तर भी दिया है। मशीनी अनुवाद के मूल में यह परिकल्पना है कि जिस दिन हम पूरी तरह मशीनी अनुवाद का तन्त्र विकसित कर लेंगे, उस दिन कोई भी संगणक (मशीन) उपलब्ध होगी, तो भी मशीन हमें किसी भी स्रोतभाषा से अपेक्षित लक्ष्यभाषा में उसका अनूदित रूप स्वतः उपलब्ध करा देगी। हमने अब तक मशीनी अनुवाद के जो तन्त्र विकसित किये हैं, उनमें इस दिशा में हमें बहुत-अंशों में सफलता भी मिली है। अब आगे हम मशीनी अनुवाद के वर्तमान में उपलब्ध तन्त्रों की कुछ मान्यताओं को लेकर इस चर्चा को कुछ-और आगे बढ़ाएँगे।

सामान्य भाषा-प्रयोक्ता के भाषा-प्रयोग के पीछे उसके मन की, उसकी विवक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बल्कि यँ कहा जा सकता है कि विवक्षा के बिना भाषा मूर्त रूप ही नहीं ले सकती, यह भाषा-प्रयोक्ता के मन की विवक्षा ही है कि वह उसे भाषा-प्रयोग तक पहुँचाती है, इसलिए यहाँ तक कहा जाता है कि मन को विवक्षा के बिना भाषा-व्यवहार सम्भव ही नहीं है। भाषा-प्रयोग की यह प्रकृति एक लम्बे समय से मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में कार्य कर रहे संगणक-वैज्ञानिकों के लिए समस्या बनी रही है और है कि भाषा-प्रयोग को कम्प्यूटर से सम्भव बनाने के लिये मानव-मन को, उसकी विवक्षा को कम्प्यूटर में कैसे ढाला जाए?...इस समस्या पर कार्य करनेवाला संगणक-वैज्ञानिकों का एक वर्ग अब यह मानकर चल रहा है कि संगणक से भाषायी संसाधन (Language Processing) के लिए कम्प्यूटर में मन को ढालने (Impleament) की जरूरत ही नहीं है, वहीं दूसरा वर्ग मन को ढालने की बात की दिशा में आगे बढ़ने का

प्रयास कर रहा है। यहीं दिव्यध्वनि की यह मान्यता बड़े महत्त्व की है व उद्भरणीय है कि दिव्यध्वनि के लिए मन या विवक्षा का होना आवश्यक नहीं है। इसीलिए तो महापुराण में यह उल्लेख मिलता है कि —“ भगवान् की वह वाणी बोलने की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी” (विवक्षणामन्तरेणास्य विविक्तासीत् सरस्वती-महापुराण 24/84, 1/186)। मन के अभाव के सम्बन्ध में धवला में यह उल्लेख मिलता है कि उपचार से मन के द्वारा सत्य और अनुभय इन दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान किया गया है। (असतो मनसः कथं वचनद्वितय समुत्पत्तिरिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।—धवला 1/1, 1.50/284/2) तथा अर्हन्तपरमेष्ठि में मन के अभाव होने पर मन के कार्य रूप वचन की संभाव्यता के सन्दर्भ में धवला की मान्यता है कि वचन मन के कार्य नहीं हैं, बल्कि ज्ञान के कार्य हैं। (तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।—धवला, 1/1, 1.112/368/3) इसीलिए यह आवश्यक है कि मशीनी अनुवाद की दिशा में कार्य कर रहे संगणक-वैज्ञानिकों को संगणक में मन को ढालने का प्रयास न करते हुए ज्ञानस्रोत के रूप में उसे विकसित करना चाहिए। अब यहाँ एक शंका और मन में उठती है कि जब सामान्य भाषायी प्रयोग में मन की भूमिका है, तो मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया में मन को क्यों न जोड़ा जाए? ... इसका समाधान यह है कि मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया में निवेश्य सामग्री (Inputable Material) के रूप में भाषायी प्रयोग, जो अनूदित होना है, स्वयंप्राप्त होता है, जबकि सामान्य भाषायी सृजन में विचार या घटना निवेश्य सामग्री के रूप में प्राप्त होती है, और विचार या घटना को भाषायी रूप देने के लिए विवक्षा तथा मन की आवश्यकता होती है, जबकि मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया यान्त्रिक है, दूसरे- मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया के अनन्तर अनूदित रूप में प्राप्त होने वाले वचन ज्ञान का विषय बने वचनों का परिणाम होंगे, न कि मन का विषय हुए विचार या घटना का परिणाम, अतः यह स्पष्ट है कि मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया में मन या विवक्षा की अपेक्षा नहीं है।

दिव्यध्वनि और संगणक-विज्ञान के कुछ समतुल्य बिन्दु और हैं कि जिस प्रकार समुचित दीक्षित गणधर के बिना दिव्यध्वनि नहीं खिरती है और गणधर महाराज द्विभाषिये का काम करते हैं, ठीक वैसे ही संगणक के अनुप्रयोगों को सम्पादित करने के लिए हमें समुचित दीक्षित प्राकलनकर्ता (Programmer) की अपरिहार्य आवश्यकता होती है और वह समुचित दीक्षित प्राकलनकर्ता सामान्य प्रयोक्ताओं की आवश्यकताओं के सम्पादनार्थ माध्यम का कार्य करता है। जिसप्रकार दिव्यध्वनि अक्षर और अनक्षर उभय रूप होती है (अक्खराणक्खरप्पिया। -कषायपाहुड 1/1/516/126/2) ठीक उसी प्रकार कम्प्यूटर की भाषा को विकसित करने के लिए इसके स्वरूप को अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक भी माना गया है। जिस प्रकार दिव्यध्वनि का प्रगटना विशिष्ट समय व

अवस्थादि में होता है, उसी प्रकार संगणक के समुचित प्रयोग के लिए संगणक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विशिष्ट समय व विशिष्ट परिस्थितियों का ध्यान रखा जाये। जिस प्रकार दिव्यध्वनि के विषय में यह मान्यता है कि वह स्वयं अर्थ रूप न होकर, अर्थ-निरूपक होती है। इसलिए इसमें नानाप्रकार के हेतुओं के द्वारा भव्य जीवों की शंका समाधान के लिए निरूपण किया जाता है। (पाणाविहहेदूहिं दिव्यझुणी भणइ भव्वाणं।-तिलोयपण्णत्ति 4/905) ठीक वैसे ही संगणकीय भाषाएँ स्वयं अर्थ-रूप नहीं होती हैं और मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया में संगणक-वैज्ञानिकों का एक वर्ग यह भी मानता है कि अनुवाद की प्रक्रिया में हमें अर्थ के संसाधन की बात नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अर्थ का स्थान/आश्रय सांसारिक जीवों का/मनुष्यों का मस्तिष्क ही है या हो सकता है, कोई यन्त्र या मशीन नहीं ! इसलिए अर्थ की मशीन से संसाधित करने का व्यर्थ का दबाव मशीन पर नहीं डाला जाना चाहिए। जिसप्रकार के भव्यजीवों के शंका निवारणार्थ साधन बनी अभाषात्मक दिव्यध्वनि भव्यजीवों का विषय बनकर सामान्य-भाषात्मक हो जाती है, ठीक उसी प्रकार प्राकलन की भाषाएँ (Programming Languages) सामान्य भाषा की व्यवस्था को अपने में न संजोये-हुए अभाषात्मक होते हुए भी भाषायी संसाधन का माध्यम होने के कारण भाषात्मकता से जुड़ी रहती हैं। जिस प्रकार भव्य जीव अपनी शंकाओं के निवारणार्थ अनन्त ज्ञान के भण्डार पर आधृत दिव्यध्वनि की शरण लेते हैं, ठीक उसी प्रकार आज के युग के संगणक-वैज्ञानिकों की यह मूल परिकल्पना रही है कि जब हम पूरी तरह ज्ञानस्रोत विकसित कर लेंगे, जिसे जिज्ञासा होगी, वह मानव अपनी शंकाओं के समाधान के लिए संगणक के अनन्त ज्ञानकोष की शरण लेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज के संगणक-विज्ञान व मशीनी अनुवाद की अधिकांश मान्यताएँ दिव्यध्वनि के मूल सोच पर आधारित हैं, या यों कहें कि इसके विकास में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दिव्यध्वनि के सोच की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यहीं यह भी महत्वपूर्ण अनुसन्धेय है कि संगणक-वैज्ञानिकों को अपने संगणकीय तन्त्र को विकसित करने के लिए दिव्यध्वनि के स्वरूप को और-सूक्ष्म तथा विशद रूप में विवेचित करते हुए अपने वैज्ञानिक विकास का आधार बनाना चाहिए।

प्रतीक दर्शन

एलाचार्य प्रज्ञसागर मुनि

अनादिकाल से धर्म और दर्शन के साथ प्रतीकों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जिसके फलस्वरूप स्थापत्य कला, चित्रकला पाण्डुलिपियों तथा शिलालेखों में भी प्रतीकों को पर्याप्त स्थान मिला। धर्म भावना प्रधान होता है, उसे अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकों का अवलम्बन एक प्रबल साधन है। शास्त्र वचन है कि साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। प्रतीक रूप साधन से किसी वर्ग विशेष का ही ज्ञान नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण संस्कृति व सभ्यता का सम्यग्ज्ञान होता है। जैन संस्कृति में अनेक प्रतीक प्रतिबिम्बित हैं, जो अपने आप में अनेक धार्मिक रहस्यों व प्राचीन संस्कृति को सपाहित किए हुये हैं।

जैनधर्म में प्रतीकों के माध्यम से चेतन तत्त्व को जड़ से ऊपर उठाने एवं आत्मतत्त्व प्रदान करने की कला का प्रतिपादन किया है। ये तदाकार प्रतीक अतदाकार होने के लिए निमित्त हैं उपादान जागृत करने के लिए। अतदाकार प्रतीक भावनात्मक तथा तदाकार प्रतीक चित्रात्मक होते हैं। चित्र चारित्रवर्द्धक, ज्ञानवर्द्धक, पुण्यवर्द्धक, उत्साहवर्द्धक एवं सम्यग्दर्शनवर्द्धक होते हैं। जैनाचार्य चित्रों के महत्त्व को इस प्रकार कहते हैं—

‘कलानां प्रवरं चित्रं, धर्म-कामर्थ-मोक्षदम्।

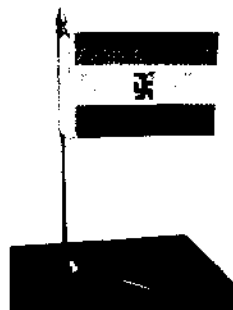
मागल्यं प्रथमं चैतद्, गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥’

चित्र-कला की श्रेष्ठता (रमणीयता) का सूचक यह चित्र घर में जहाँ भी सद्भाव स्थापित किया जाता है, उससे परम मंगल होता है और उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ भी प्राप्त होते हैं।

जैनधर्म में तदाकार प्रतीकों की संख्या अनेक है जैसे— समवसरण, मानस्तम्भ, चैत्यालय, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, चैत्यवृक्ष, पंचपरमेष्ठी, नन्दीश्वरद्वीप, सुमेरुपर्वत, तीनलोक, अष्ट प्रातिहार्य, अष्टमंगल द्रव्य, सोलह स्वप्न, स्वस्तिक, जैन प्रतीक, श्रीवत्स, बीजाक्षर, पंचरंगी ध्वज, विधान मंडप, श्रीमंडप, धर्मचक्र तथा लांछन आदि।

जैन ध्वज, जैन प्रतीक एवं जैनधर्म से सम्बन्धित अन्य प्रतीकों का संक्षिप्त परिचय-विवरण इस प्रकार है—

जैनध्वज— यह ध्वज आकार में आयताकार है तथा इसकी लम्बाई व चौड़ाई का अनुपात 3.2 है। इस ध्वज में पाँच रंग हैं— लाल, पीला, सफेद, हरा और नीला (काला)। लाल, पीले, हरे, नीले रंग की पट्टियाँ चौड़ाई में समान हैं तथा सफेद रंग की पट्टी अन्य रंगों की पट्टी से चौड़ाई में दुगुनी होती है। ध्वज के बीच में जो स्वस्तिक है, उसका रंग केसरिया है। जैन समाज के इस सर्वमान्य ध्वज में पाँच रंगों को अपनाया गया है जो पंच-परमेष्ठी के प्रतीक हैं। ध्वज में श्वेत रंग-अर्हन्त परमेष्ठी (घातिया कर्म का नाश करने पर शुद्ध निर्मलता का प्रतीक)। लाल रंग-सिद्ध परमेष्ठी (अघातिया कर्म की निर्जरा का प्रतीक)। पीला रंग-आचार्य परमेष्ठी (शिष्यों के प्रति वात्सल्य का प्रतीक)। हरा रंग-उपाध्याय परमेष्ठी (प्रेम-विश्वास-आप्तता का प्रतीक)। नीला रंग-साधु परमेष्ठी (साधना में लीन होने का और मुक्ति की ओर कदम बढ़ाने का प्रतीक)। —ये पाँच रंग, पंच अणुव्रत एवं पंच महाव्रतों के प्रतीक रूप में भी सफेद रंग अहिंसा, लाल रंग सत्य, पीला रंग अचौर्य, हरा रंग ब्रह्मचर्य, नीला रंग अपरिग्रह का द्योतक माना जाता है। ध्वज के मध्य में स्वस्तिक को अपनाया गया है जो चतुर्गति का प्रतीक है। यथा—



‘नरसुरतिर्यङ्गनारकयोनिषु परिभ्रमति जीवलोकोऽयम्।
कुशला स्वस्तिकरचनेतीव निदर्शयति धीराणाम्॥’



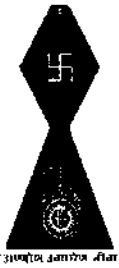
अर्थात् यह जीव इस लोक में मनुष्य, देव, तिर्यच तथा नारक योनियों (चतुर्गति) में परिभ्रमण करता रहता है, मानो इसी को स्वस्तिक की कुशल रचना व्यक्त करती है।

स्वस्तिक चिह्न जैनधर्म का आदि चिह्न है जिसे सदा मांगलिक कार्यों में प्रयोग किया जाता है। इतिहास की दृष्टि से मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में स्थित तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति पर बने हुए सात सर्प-फणों में से एक पर अंकित है। स्वस्तिक का चिह्न मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन में भी अनेक मुहरों पर प्राप्त हुआ है। विद्वानों का मत है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व की सिन्धु सभ्यता में स्वस्तिक-पूजा प्रचलित थी। जो कि प्राचीनता का द्योतक है।

स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु हैं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को दर्शाते हैं। यथा—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 1/1



तीन रत्न के ऊपर अर्धचन्द्र—जीव के मोक्ष या निर्वाण की कल्पना की गई है अर्थात् सिद्धशिला की लक्षित करता है। जीव स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। नारकी जीव धर्म से देवता बन सकता है और रत्नत्रय को धारण कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अर्धचन्द्र के ऊपर जो बिन्दु है, वह उत्तम सुख का प्रतीक है। यथा— *बिन्दुः स्यादुत्तमं सुखम्।*

जैन संस्कृति में स्वस्तिक का विशेष महत्त्व है और इसलिए इसे ध्वज के बीच में रखा गया है। चतुर्गति संसार के परिभ्रमण का कारण है, इससे ऊपर उठकर अहिंसा को आचरण में और अर्हन्त को हृदय में धारण कर हम निर्वाण को प्राप्त कर सकें।

जैन प्रतीक-प्रतीक में भी स्वस्तिक को त्रिलोक के आकार पुरुषाकार में अपनाया गया है, जिसका जैन शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान है और यह सर्वथा मंगलकारी है। स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु रत्नत्रय के द्योतक हैं, जो रत्नत्रय को दर्शाते हैं। रत्नत्रय के ऊपर अर्धचन्द्र सिद्धशिला को लक्षित करता है। स्वस्तिक के नीचे जो हाथ का चिह्न दिया गया है, वह अभय का बोध देता है तथा हाथ में भी जो चक्र दिया गया है, वह त्रिलोकनाथ धर्मचक्र के अधिनायक भगवान् आदि पुरुष वृषभनाथ तीर्थंकर के अधर्म पर विजय का तथा धर्म प्रभावना का द्योतक है। निःस्पृह प्रभु ने सूर्य के समान नाना देशों में व्याप्त अज्ञानान्धकार के निवारणार्थ विचरण किया। अतिशयों से सम्पन्न भगवान् वृषभदेव ने जहाँ विहार किया, वहाँ सुख-शान्ति का प्रसार रहा, क्योंकि प्रभु के मंगल-विहार प्रदेश में रोग, ग्रहपीड़ा, भय तथा शोक की आशंका के लिए भी स्थान नहीं था। यथा—

त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः।

प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकाः॥

आचार्य जिनसेन, महापुराण, 25/244

अथ पुण्यैः समाकृष्टो भव्यानां निःस्पृहः प्रभुः।

देशे-देशे तमश्छेतुं व्यचरद् भानुमानिव॥

यत्रातिशयसम्पन्नो विजहार जिनेश्वरः।

तत्र रोगग्रहातंकशोकशंकापि दुर्लभा॥

धर्मशर्माभ्युदय, 21/166, 173

तीर्थंकर वृषभदेव से महावीर पर्यन्त तक का धर्मचक्र जगत् में जयवन्त होकर प्रवर्तित हो रहा है। इस धर्मचक्र का सम्यग्दर्शन रूप मध्य तुम्ब (केन्द्र) है। आचारांगादिक द्वादशांग उसके आरे (आरा) हैं। पंच महाव्रत आदि रूप उसके नेमि (धुरा) हैं। तप रूप उसका आधार है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव का धर्मचक्र अष्टकर्मों को जीतकर परम विजय को प्राप्त होता है। यथा—

सम्महंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिं दाणं ।

वयणेमियं जगे जयदि धम्मचक्कं तवोधारं ॥

भगवती आराधना, 7/1865



जैनशासन में धर्मचक्र के विविध रूप मिलते हैं। शास्त्रों में धर्मचक्र के इन रूपों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। शिवकोटि आचार्य की 'भगवती आराधना' में बारह आरे वाले धर्मचक्र की चर्चा मिलती है। ये बारह आरे जिनवाणी के द्वादशांग के प्रतीक हैं। चौबीस आरे वाला धर्मचक्र चौबीस तीर्थकरों का प्रतीक है। षोडश आरे वाला धर्मचक्र भी प्राचीन प्रतिमाओं के साथ मिलता है। षोडश कारण भावनाओं से तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होता है।

महाकवि असग ने 'वर्द्धमानचरित' में सूर्य की भाँति भास्वर सहस्र किरणों वाले धर्मचक्र का वर्णन किया है, जो तीर्थकरों के आगे-आगे चलता है। इनके अतिरिक्त प्राचीन कलाकृतियों में जिनबिम्बों के ऊपर तथा चरणों में भी धर्मचक्र मिलते हैं, जिनकी पूजा करते हुए श्रावकगण दिखाए गये हैं। हमने चौबीस तीर्थकरों के प्रतीक 24 आरे वाले धर्मचक्र को स्वीकार किया है।

चक्र के बीचों-बीच में जो ॐ लिखा हुआ है वह पंच-परमेष्ठी का प्रतीक है। प्रतीक के नीचे जो प्राकृत भाषा में अथवा संस्कृत भाषा में क्रमशः 'अण्णोण उवयारेण जीवा' अथवा 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' वाक्य दिया है, इसका तात्पर्य है जीवों पर परस्पर उपकार करना।

प्रतीक में जैनदर्शन का यह सूत्र युग-युग से सम्पूर्ण जगत को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। प्रतीक जिस सुन्दर ढंग से बन पड़ा है, उससे समूचे जैन शासन की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। यह प्रतीक अनादिकालीन तीनलोक के आकार का बोध कराता हुआ कहता है कि चतुर्गति में भ्रमण करती हुई आत्मा अहिंसा धर्म को अपनाकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सचमुच में यह प्रतीक हमें संसार से ऊपर उठकर मोक्ष के प्रति प्रयत्नशील होने का मार्गदर्शन करता है।

जैन ध्वज एवं जैन प्रतीक का विकास भगवान् महावीर स्वामी के 2500वें निर्वाण महोत्सव के समय जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों के प्रमुख लोगों की उपस्थिति में हुआ।

श्रीवत्स- जैनधर्म एवं कला में श्रीवत्स का महत्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म में श्रीवत्स को मांगलिक चिह्न के साथ महापुरुषों के लांछन के रूप में भी मान्यता दी गयी है। श्रीवत्स पुण्यात्माओं का शारीरिक लक्षण है। तीर्थकरों के वक्षस्थल पर रहने वाला चिह्न है, उनके वात्सल्य का द्योतक है। जैन तीर्थकर प्रतिमाओं में प्रायः सभी मूर्तियों में श्रीवत्स का अंकन चतुर्दलीय पुष्प चतुष्कोणिक विभिन्न आकार में उत्कीर्ण किए जाते हैं, विभिन्नता

प्रतीक दर्शन :: 673

होते हुए उनकी प्रतीकात्मक भावना एक समान है।

अष्ट प्रातिहार्य

जिनेन्द्र भगवान् की समवसरण स्थली में अनेक मंगल द्रव्य रूपी सम्पदाएँ सुशोभित रहती हैं। उन्हीं में अष्ट प्रातिहार्य मंगल के प्रतीक हैं।

अशोक वृक्ष— जिन वृक्षों के नीचे भगवान् तीर्थंकर की केवलज्ञान हुआ था, वे ही अशोक वृक्ष हैं। अशोक वृक्ष सुख व शान्ति के प्रतीक हैं, जिसके नीचे आकर सारे शोक दूर हो जाते हैं।



सिंहासन— अशोक वृक्ष के समीप तीर्थंकर का विशाल सिंहासन शोभायमान होता है। सिंहासन श्रेष्ठता का प्रतीक है।

तीन छत्र— तीर्थंकरों के मस्तकों के ऊपर तीन छत्र शोभायमान होते हैं। यह त्रिलोकवर्ती प्रभुता के जीवन्त प्रतीक हैं।

भामण्डल— जिनेन्द्र भगवान् के आत्म प्रकाश का द्योतक है। यह करोड़ों सूर्यों के

सदृश उज्ज्वल तीर्थंकरों का प्रभामण्डल जयवन्तता का प्रतीक है।

दिव्यध्वनि— यह महादिव्य-ध्वनि सर्वभाषामयता की प्रतीक है।

पुष्प वृष्टि— पुष्प वृष्टि की आनन्द व मंगल का प्रतीक माना है।

चौंसठ चमर— जैन आगम में जिनेन्द्र भगवान् के 64 चमर कहे गये हैं और ये ही चमर चक्रवर्ती से लेकर राजा पर्यन्त आधे-आधे होते हैं। चक्रवर्ती के बत्तीस, अर्धचक्र की सोलह, मण्डलेश्वर के आठ, अर्धमण्डलेश्वर के चार, महाराज के दो और राजा के एक चमर होता है। अतः चमर प्रभुता के प्रतीक माने गये हैं।

दुन्दुभिनाद— यह सर्वलोकव्यापी कीर्ति का प्रतीक है।

अष्ट मंगल द्रव्य

जैनधर्म में मंगल चिह्नों की नामावली में अष्ट मंगल द्रव्य का विशिष्ट स्थान है। तीर्थंकर भगवान् के जन्म के समय दिक्कुमारियाँ इन्हीं अष्ट मंगल द्रव्यों को लेकर इन्द्राणी के आगे-आगे चलती हैं। भगवान् की समवसरण स्थली में भी चारों दिशाओं में गोपुर द्वारों पर यह रखे जाते हैं। यह भी संख्या में आठ है। यथा—

भिङ्गार-कलस-दप्पण-चामर-धय-वियण-छत्त-सुपइडा।

अदुत्तर-सय-संखा, पतेक्कं मंगला तेसुं॥

भिङ्गार, कलश, दर्पण, चंवर, ध्वजा, बीजना, छत्र और सुप्रसिद्ध (ठोना) ये आठ

मंगल द्रव्य हैं।

कलश— कलश सृजन, सौभाग्य एवं पूर्णता का द्योतक है।

छत्र— श्रेष्ठता का प्रतीक है। जिनेन्द्र भगवान की तीन लोक में प्रभुता को दर्शाता है।

ध्वजा— भगवान के तीनों लोक के स्वामित्व को प्रकट करती है।

दर्पण— आत्मदर्शन का प्रतीक है।

व्यजन (पंखा)— शीतलता का प्रतीक है।

चमर— चमर भगवान के अद्वितीय जगत के प्रभुत्व को सूचित करता है।

झारी— एक प्रकार का घट जिसमें पवित्र जल रहता है, जिससे जिनेन्द्र भगवान् के चरण धोये जाते हैं व अभिषेक किया जाता है। यह पवित्रता का द्योतक है।

सुप्रसिद्ध (ठोना)— यह भगवान् की त्रिलोक-पूज्यता का प्रतीक है।

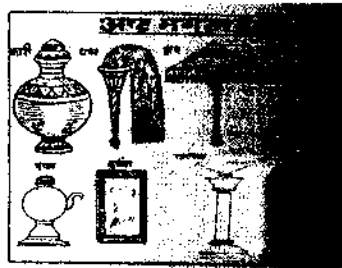
बीजाक्षर

श्री— शक्ति का प्रतीक है। श्री बीजाक्षर एक प्रकार का प्रतिष्ठा पद है और प्रतिष्ठा के अनुकूल श्री 105, 108, 1008 आदि संख्याओं के साथ प्रयोग में आता है। भगवत्त्व के समान 'श्री' तत्त्वतः भी विभु है। यन्त्रों में भी श्री को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। श्री मोक्ष लक्ष्मी का भी प्रतीक है। भगवान् जिनेन्द्र की पूजन थाली में श्री बीजाक्षर श्रेय का प्रतीक है।

ह्रीं— बीजाक्षर कल्याणवाचक है। यह चौबीस तीर्थंकर का प्रतीक रूप है। ह्रीं में - ह- सूर्य शक्ति का बीज है 'र' अग्निबीज शक्तिप्रस्फोटक, समस्त प्रधान बीजों का जनक है। 'ई' अमृतबीज का प्रतीक है ज्ञानवर्धक है। 'म' शब्द सिद्धिदायक और पारलौकिक सिद्धियों का प्रदाता है। ह्रीं को सभी तीर्थंकरों के नामाक्षरों का वाचक कहा गया है। ह्रीं बीजाक्षर के चन्द्र में चन्द्रप्रभु व पुष्पदन्त भगवान् स्थापित हैं चन्द्रबिन्दु में नेमिनाथ व मुनिसुव्रत नाथ, ह्रीं की कला में पद्मप्रभु 'ई' की मात्रा में सुपार्श्वनाथ व पार्श्वनाथ प्रतिष्ठित हैं। 'ह' में अन्य सोलह तीर्थंकर भगवान् प्रतिविम्बित होते हैं। ह्रीं के समान कलों को लक्ष्मी प्राप्ति वाचक, क्षीं को शान्तिवाचक, क्ष्वीं को भोग वाचक, 'प्री' स्तम्भ वाचक प्रतीक हैं। यह समस्त बीजाक्षर अन्तःकरण और वृत्ति की शुद्ध प्रेरणा के प्रतीक हैं।

मानस्तम्भ

समवसरण रचना का ही यह एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। यह तीर्थंकर की महत्ता का प्रतीक है। मानस्तम्भ की ऊँचाई देखकर मिथ्यादृष्टि लोगों का अभिमान नष्ट हो जाता है।





मानस्तम्भों की ऊँचाई तीर्थंकरों की ऊँचाई से बारह गुना होती है। मानस्तम्भ खंडों में विभाजित होता है। जैन मन्दिर के सम्मुख विशाल स्तम्भ बनवाने की प्रथा मध्यकालीन भारत में रही है। जैन वास्तुकला का यह प्रमुख अंग है। मन्दिर के सामने पूर्व या उत्तर दिशा में मन्दिर की ऊँचाई से सवा या डेढ़ ऊँचाई के बनाये जाते हैं। इनको स्थापित करने का मुख्य प्रयोजन यही है कि इनके दर्शन से मनुष्य अभिमान से रहित हो जाए व उनके मन में धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो।

सुप्रतिष्ठा (स्वस्तिक) — स्वस्तिक से मंगल भावना का प्रतीक है शुभ कार्य का द्योतक है।

स्वप्न

जैन शास्त्रों में शुभ और अशुभ स्वप्नों का बहुल मात्रा में वर्णन मिलता है। 24 तीर्थंकरों की माताओं को शुभ स्वप्न आये एवं भगवान् ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत तथा आचार्य भद्रबाहु के शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को अशुभ स्वप्न आये। सर्वप्रथम भगवान् आदिनाथ की माता द्वारा देखे गये स्वप्न इनका विवरण इस प्रकार है—

गजेन्द्रभवदाताङ्गं वृषभं दुन्दुभिस्वनम्।

सिंहमुल्लङ्घिताद्रव्यग्रं लक्ष्मीं स्नाप्यां सुरद्विपैः॥

दामिनीं लम्बमाने खे शीतांशुं द्योतिताम्बरम्।

प्रोद्यत्तमब्जिनीबन्धुं बन्धुरं ज्ञषयुग्मकम्॥

कलसावमृतापूर्णो सरः स्वच्छम्बु साम्बुजम्।

वाराशिं क्षुभितावर्तं सैहं भासुरमासनम्॥

विमानमापतत् स्वर्गाद् भुवो भवनमुद्भवत्।

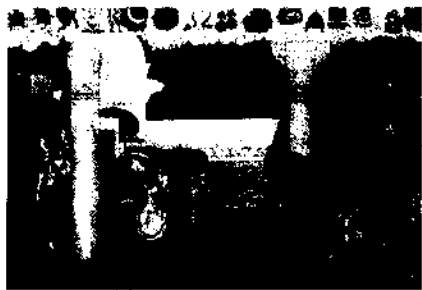
रत्नराशिं स्फुरद्रश्मिं ज्वलनं प्रज्वलद्द्युतिम्॥

आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 12/148.151

स्वच्छ और सफेद शरीर धारण करनेवाला ऐरावत हाथी, दुन्दुभि के समान शब्द करता हुआ बैल, पहाड़ की चोटी को उल्लंघन करनेवाला सिंह, देवों के हाथियों द्वारा नहलायी गयी लक्ष्मी, आकाश में लटकती हुई दो मालाएँ, आकाश को प्रकाशमान करता हुआ चन्द्रमा, उदय होता हुआ सूर्य, मनोहर मछलियों का युगल, जल से भरे हुए दो कलश, स्वच्छ जल और कमलों से सहित सरोवर, क्षुभित और भँवर से युक्त समुद्र, देदीप्यमान सिंहासन, स्वर्ग से आता हुआ विमान, पृथिवी से प्रकट होता हुआ नागेन्द्र का भवन, प्रकाशमान किरणों से शोभित रत्नों की राशि और जलती हुई देदीप्यमान अग्नि।

अवधिज्ञान के द्वारा जिन्होंने स्वप्नों का उत्तम फल जान लिया है, ऐसा राजा नाभिराय मरुदेवी के लिए स्वप्नों का फल कहने लगे।

हे देवि, सुन, हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम बैल देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा। सिंह के देखने से वह अनन्त बल से युक्त होगा, मालाओं के देखने से समीचीन धर्म के तीर्थ (आम्नाय) का चलानेवाला होगा, लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों के



द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा। पूर्ण चन्द्रमा के देखने से समस्त लोगों को आनन्द देनेवाला होगा, सूर्य के देखने से देदीप्यमान प्रभा का धारक होगा, दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा, मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा। सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा, समुद्र के देखने से केवली होगा, सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा, नागेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञान रूपी लोचनों से सहित होगा। चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी इन्धन को जलानेवाला होगा तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है, उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भ में भगवान् वृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे।

अब, भरतचक्रवर्ती द्वारा देखे गये स्वप्नों का विवरण इस प्रकार है—

सिंहो मृगेन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत्।

छग्गा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोगिनः॥

शाखामृगा द्विपस्कन्धमारूढाः कौशिकाः खगैः।

विहितोपद्रवा ध्वाङ्क्षै प्रथमाश्च प्रमोदिनः॥

शुष्कमध्यं तडागं च पर्यन्तप्रचुरोदकम्।

पाशुधूसरितो रत्नराशिः श्वार्थभुगर्हितः॥

तारुण्यशाली वृषभः शीतांशुः परिवेषयुक्।

मिथोऽङ्गीकृतसाङ्गत्यौ पुङ्गवौ सङ्गलच्छिद्यौ॥

रविराशावधूरत्नवतंसोऽब्दैस्तिरोहितः।

संशुष्कस्तरुच्छत्रयो जीर्णपर्णसमुच्चयः॥

षोडशैतेऽद्य यामिन्यां दृष्टाः स्वप्ना विदां वर।

फलविप्रतिपत्तिं मे तद्गतां त्वमपाकुरु॥

आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 41/36.41

- (1) सिंह, (2) सिंह का बच्चा, (3) हाथी के भार को धारण करनेवाला घोड़ा, (4) वृक्ष, लता और झाड़ियों के सूखे पत्ते खाने वाले बकरे, (5) हाथी के स्कन्ध पर बैठे

हुए वानर, (6) कौआ आदि पक्षियों के द्वारा उपद्रव किए हुये उलूक, (7) आनन्द करते हुए भूत, (8) जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और किनारों पर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाब, (9) धूलि से धूसरित रत्नों की राशि, (10) जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्य को खानेवाला कुत्ता, (11) जवान बैल, (12) मंडल से युक्त चन्द्रमा, (13) जो परस्पर में मिल रहे हैं और जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल, (14) जो दिशारूपी स्त्रीरत्नों के-से बने हुए आभूषण के समान है तथा जो मेघों से आच्छादित हो रहा है ऐसा सूर्य, (15) छाया रहित सूखा वृक्ष और (16) पुराने पत्तों का समूह।

हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ! आज मैंने रात्रि के समय ये सोलह स्वप्न देखे हैं। हे नाथ, इनके फल के विषय में जो मुझे सन्देह है, उसे दूर कर दीजिए। ऐसा भरत चक्रवर्ती ने आदिनाथ भगवान् से कहा। आदिनाथ भगवान् अपने दिव्यज्ञान से इस प्रकार कहते हैं— तूने जो स्वप्न में इस पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत के शिखर पर चढ़े तेईस सिंह देखे हैं उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामी को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। तदनन्तर दूसरे स्वप्न में अकेले सिंह के बच्चे के पीछे चलते हुए हरिणों का समूह देखने से यह प्रकट होता है कि श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करनेवाले बहुत-से कुलिंगी हो जावेंगे। बड़े हाथी के उठने योग्य बोझ से जिसकी पीठ झुक गयी है, ऐसे घोड़े के देखने से यह मालूम होता है कि पंचमकाल के साधु तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। कोई मूलगुण और उत्तरगुणों के पालने करने की प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करने में आलसी हो जायेंगे, कोई उन्हें मूल से ही भंग कर देंगे और कोई उनमें मन्दता या उदासीनता को प्राप्त हो जायेंगे। सूखे पत्ते खानेवाले बकरों का समूह देखने से यह मालूम होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे। गजेन्द्र के कन्धे पर चढ़े हुए वानरों के देखने से जान पड़ता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जाएँगे और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे। कौवों के द्वारा उलूक को त्रास दिया जाना देखने से प्रकट होता है कि मनुष्य धर्म की इच्छा से जैनमुनियों को छोड़कर अन्य मत के साधुओं के समीप जायेंगे। नाचते हुए बहुत-से भूतों के देखने से मालूम होता है कि प्रजा के लोग मिथ्यात्व आदि कारणों से व्यन्तरों को देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे। जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है, ऐसे तालाब के चारों ओर पानी भरा हुआ देखने से प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्ड से हटकर प्रयत्नवासी-म्लेच्छ खंडों में हो रह जायेगा। धूलि से मलिन हुए रत्नों की राशि के देखने से यह जान पड़ता है कि पंचमकाल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे। आदर-सत्कार से जिसकी पूजा की गयी है, ऐसे कुत्ते को नैवेद्य खाते हुए देखने से मालूम होता है कि व्रतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान सत्कार पाएँगे। ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में उहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं। परिमण्डल

से घिरे हुए चन्द्रमा के देखने से यह जान पड़ता है कि पंचमकाल के मुनियों में अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान नहीं होगा। परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के देखने से यह सूचित होता है कि पंचमकाल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे। मेघों के आवरण से रुके हुए सूर्य के देखने से यह मालूम होता है कि पंचमकाल में प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होगा। सूखा वृक्ष देखने से सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जायेगा और जीर्ण पत्तों के देखने से मालूम होता है कि महाऔषधियों का रस नष्ट हो जाएगा। ऐसा फल देनेवाले इन स्वप्नों को तू दूर-विपाकी अर्थात् बहुत समय बाद फल देनेवाले समझ, इसलिए इनसे इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पंचमकाल में होगा।

आदिपुराण, 41/63.80

इसी प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त के स्वप्न भी कुछ मिलते-जुलते हैं—

एकदाऽसौ विशानाथः प्रसुप्तः सुखनिद्रया ।

निशायाः पश्चिमे यामे वातपित्तकफातिगः ॥

इमान् षोडश दुःस्वप्नान् ददर्शाऽऽश्चर्यकारकान् ।

कल्पपादपशाखाया भङ्गमस्तमनं रवेः ॥

तृतीयं तितउप्रक्षमुद्यन्द विधुमण्डलम् ।

तुरीयं फणिनं स्वप्ने फणद्वादशमण्डितम् ॥

विमानं नाकिनां कम्प्रं व्यगुटन्तं विभासुरम् ।

कमलं तु कचारस्थ नृत्यन्तं भूतवृन्दकम् ॥

खद्योतोद्योतभद्राक्षीत्प्रान्ते तुच्छजलं सरः ।

मध्ये शुष्कं हेमपात्रे शुनः क्षीरान्नभक्षणम् ॥

ज्ञास्त्रामृतं गजारूढमब्धिं कूलप्रलोपनम् ।

बाह्यमानं तथावत्सैभूरिभारभूतं रथम् ॥

राजपुत्रं मयारूढं रजसा पिहितं पुनः ।

रजराशिं कनत्कान्तिं युद्धं चासितदन्तिनोः ॥

आचार्यश्री रत्ननन्दी, श्री भद्रबाहुचरित्र, 10.17

किसी समय महाराज चन्द्रगुप्त सुखनिद्रा में वात-पित्त-कफ आदि रहित (नीरोग अवस्था में) सोए हुये थे, उस समय रात्रि के पिछले पहर में आश्चर्यजनक नीचे लिखे सोलह छोटे स्वप्न देखे। वे ये हैं—

(1) कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, (2) सूर्य का अस्त होना, (3) चालीन के समान छिद्र सहित चन्द्रमण्डल का उदय, (4) बारह फणवाला सर्प, (5) पीछे लौटा हुआ देवताओं का मनोहर विमान, (6) अपवित्र स्थान पर उत्पन्न हुआ विकसित कमल, (7) नृत्य करता हुआ भूतों का परिकर, (8) खद्योत का प्रकाश, (9) अन्त में थोड़े से

जल का भरा हुआ तथा बीच में सुखा हुआ सरोवर, (10) सुवर्ण के भाजन में श्वान का खीर खाना, (11) हाथी पर चढ़ा हुआ बन्दर, (12) समुद्र की मर्यादा छोड़ना, (13) छोटे-छोटे बच्चों से धारण किया हुआ और बहुत भार से युक्त रथ, (14) ऊँट पर चढ़ा हुआ तथा धूलि से आच्छादित राजपुत्र, (15) देदीप्यमान कान्तिमुक्त रत्नराशि तथा (16) काले हाथियों का युद्ध।

आचार्य भद्रबाहु ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को उनके द्वारा देखे गये स्वप्नों के फलों को इस प्रकार बताया—

1. कल्पवृक्ष की शाखा का भंग देखने से अब आगे कोई राजा जिन भगवान के कहे हुये संयम का ग्रहण नहीं करेंगे।

2. सूर्य का अस्त होना देखना—पंचम काल में केवलज्ञानियों का अभाव बताता है।

3. चन्द्रमंडल का बहुत छिद्रयुक्त देखना—पंचम कलिकाल में जिनमत के अनेक मतों का प्रादुर्भाव कहता है।

4. बारह फणयुक्त सर्पराज के देखने से बारह वर्ष पर्यन्त अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा।

5. देवताओं के विमान को उल्टा जाता हुआ देखने से पंचमकाल में देवता विद्याधर तथा चारणमुनि नहीं आएंगे।

6. छोटे स्थान में कमल उत्पन्न हुआ जो देखा है, उससे बहुधा हीन-जाति के लोग जिनधर्म धारण करेंगे, किन्तु क्षत्रिय आदि उत्तम कुल-सम्भूत मनुष्य नहीं करेंगे।

7. आश्चर्यजनक जो भूतों का नृत्य देखा है, उससे मालूम होता है कि मनुष्य नीच देवों में अधिक श्रद्धा के धारक होंगे।

8. खद्योत का उद्योत देखने से जिनसूत्र के उपदेश करनेवाले भी मनुष्य मिथ्यात्व से युक्त होंगे और जिनधर्म भी कहीं-कहीं रहेगा।

9. जल रहित तथा कहीं थोड़े जल से भरे हुए सरोवर के देखने से जहाँ तीर्थंकर भगवान् के कल्याणादि हुये ऐसे तीर्थस्थानों में कामदेव के मद का छेदन करनेवाला उत्तम जिनधर्म नाश को प्राप्त होगा तथा कहीं दक्षिणादि देश में कुछ रहेगा भी।

10. सुवर्ण के भाजन में कुत्ते ने खीर खायी है, उससे मालूम होता है कि लक्ष्मी का प्रायः नीच पुरुष उपभोग करेंगे और कुलीन पुरुषों को दुष्प्राप्य होगी।

11. ऊँचे हाथी पर बन्दर बैठा हुआ देखने से नीच कुल में पैदा होने वाले लोग रज्य करेंगे, क्षत्रिय लोग राज्य रहित होंगे।

12. मर्यादा का उल्लंघन किये हुए समुद्र के देखने से प्रजा की समस्त लक्ष्मी राजा लोक ग्रहण करेंगे तथा न्याय-मार्ग के उल्लंघन करने वाले होंगे।

13. बछड़ों से नह किये हुए रथ के देखने से बहुधा लोग तारुण्य अवस्था में संयम ग्रहण करेंगे, किन्तु शक्ति के घट जाने से वृद्ध अवस्था में धारण नहीं कर सकेंगे।

14. ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र के देखने से ज्ञात होता है कि— राजा लोग निर्मल धर्म को छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे।

15. धूलि से आच्छादित रत्नराशि के देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लगेंगे।

16. तथा काले हाथियों का युद्ध देखने से मेघ मनोभिलषित नहीं बरसेंगे।

राजन! इस प्रकार स्वर्णों का जैसा फल है, मैंने तुमसे कहा। राजा भी स्वर्णों का फल सुनकर संसार से भयभीत होकर विरक्त-चित्त हुआ।

पंचवर्ण

वर्णस्वरूप— पाँच वर्णों (रंग) का शास्त्रों में अनेक स्थानों में वर्णन मिलता है। वर्ण शब्द का अनेकों अर्थों में प्रयोग किया जाता है। यथा—

‘वर्णशब्दः क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति। अक्षरवाची क्वचिद्व्यथा सिद्धो वर्णसमाम्नायः इति। क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रेव वर्णानामधिकार इति।’

आचार्य शिवकोटि, भगवती आराधना, 47/160/1

—वर्ण शब्द के अनेक अर्थ हैं। वर्ण-शुक्लादिक वर्ण जैसे सफेद रंग को लाओ। वर्ण शब्द का अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है, जैसे वर्णों का समुदाय अनादिकाल से है। वर्ण शब्द का अर्थ ब्राह्मण आदिक ऐसा भी है।

जैनाचार्यों ने ‘वर्ण’ शब्द को निरुक्ति इस प्रकार की है—

‘वर्ण्यत इति वर्णः’

आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 2/20/178/1

—जो देखा जाता है, वह वर्ण है।

वर्ण भेद

‘स पंचविधः कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात्’

आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 5/23/294/2

काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वर्ण पाँच प्रकार का है। और भी—

‘श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसंज्ञाः पंचवर्णाः’

आचार्य ब्रह्मदेव सूरि, बृहद् द्रव्यसंग्रह, 7, पृष्ठ 19

पंचवर्ण का महत्त्व

जैनधर्म में पाँच वर्णों का अत्यधिक महत्त्व है। प्रत्येक मांगलिक व धार्मिक कार्यों में पाँच वर्णों से निर्मित वस्तु का प्रयोग किया जाता है। संक्षेप रूप से हम पंचवर्ण का महत्त्व इसप्रकार समझ सकते हैं—

जैन परम्परा में पंचवर्णात्मक प्रतीक का प्रयोग पंचपरमेष्ठी, समवसरण, ध्वज, मयूरपिच्छी, स्याद्वाद, स्वर्गों के प्रासाद आदि के अर्थ में हुआ है—

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु— ये पाँच परमेष्ठी होते हैं, इनका वर्ण

प्रतीक दर्शन :: 681

क्रमशः पंच रंग का होता है। यथा—

“स्फटिकश्चेत-रक्तं च पीत-श्याम-निभं तथा।
एतत्पंचपरमेष्ठी पंचवर्ण-यथाक्रमम्॥”

मानसार, 55/44

स्फटिक के समान श्वेत, लाल, पीत, श्याम (हरा) और नीला (काला) —ये पाँच वर्ण क्रमशः पंचपरमेष्ठी के सूचक हैं।

पंचवर्ण में समवसरण— जैन तीर्थंकरों की प्रवचन सभा को समवसरण कहते हैं। यहाँ पर तीन गतियों (देव, मनुष्य व तिर्यच) के भव्य जीवों को भेदभाव रहित समान शरण मिलती है। यह बारह सभाओं में विभाजित तथा पंचवर्ण का होता है। यथा—

‘पंचवर्ण-रयणहिं समूहहिं सुविचित सहमंडवहिं’

महाकवि बुध श्रीधर, पासणाहचरित, सौंध 8/8/140

अर्थात् पंचवर्ण के रत्न समूहों से सुविचित्र सभामंडप।

५५

पंचवर्ण में जैनशासन ध्वज— यह ध्वज आकार में आयताकार है तथा इसकी लम्बाई व चौड़ाई का अनुपात 3-2 है। इस ध्वज में पाँच रंग हैं— लाल, पीला, सफेद, हरा और नीला (काला)। लाल, पीले, हरे, नीले रंग की पट्टियाँ चौड़ाई में समान हैं तथा सफेद रंग की पट्टी अन्य रंगों की पट्टी से चौड़ाई में दुगुनी होती है। ध्वज के बीच में जो स्वस्तिक है, उसका रंग केसरिया है। जैन समाज के इस सर्वमान्य ध्वज में पाँच रंगों को अपनाया गया है जो पंच-परमेष्ठी के प्रतीक हैं। ध्वज में श्वेत रंग-अर्हन्त परमेष्ठी (घातिया कर्म का नाश करने पर शुद्ध निर्मलता का प्रतीक)। लाल रंग-सिद्ध परमेष्ठी (अघातिया कर्म की निर्जरा का प्रतीक)। पीला रंग-आचार्य परमेष्ठी (शिष्यों के प्रति वात्सल्य का प्रतीक)। हरा रंग-उपाध्याय परमेष्ठी (प्रेम-विश्वास-आप्तता का प्रतीक)। नीला रंग-साधु परमेष्ठी (साधना में लीन होने का और मुक्ति की ओर कदम बढ़ाने का प्रतीक)। —ये पाँच रंग, पंच अणुव्रत एवं पंच महाव्रतों के प्रतीक रूप में भी सफेद रंग अहिंसा, लाल रंग सत्य, पीला रंग अचौर्य, हरा रंग ब्रह्मचर्य, नीला रंग अपरिग्रह का द्योतक माना जाता है। ध्वज के मध्य में स्वस्तिक को अपनाया गया है, जो चतुर्गति का प्रतीक है।

‘पंचवर्णा पवित्रा विचित्रा धया’

पुष्पदन्त महाकवि, महापुराण, 24-12-2, पृष्ठ 122

पंचरंगी पवित्र विचित्र ध्वज है।

‘विजयापंचवर्णाभा पंचवर्णमिदं ध्वजम्’

प्रतिष्ठातिलक, 5-10 एवं आशाधरसूरि, प्रतिष्ठासारोद्धार, 3-209

पाँच वर्णों की आभा से युक्त विजया देवी पाँच वर्णों से युक्त ध्वजा को हाथ में धारण करती है।

‘मालाहरिकमलांबरगरुडेभगवेशचक्राशिखिहंसैः।

उपलक्षितध्वजानि न्यसामि दशदिक्षु पंचवर्णानि॥’

नेमिचन्द्रदेव, प्रतिष्ठातिलक, ध्वज-पूजन-विधि, 1, पृष्ठ 118

मालाहरि यह श्लोक बोल कर दस ध्वजाओं की दस दिशाओं में स्थापना करें। दस ध्वजाओं पर क्रम से इस प्रकार चिह्न होते हैं- माला, सिंह, कमल, वस्त्र, गरुड़, हाथी, बैल, चकवा, मोर, हंस। मे ध्वजाएँ पंचवर्ण वाली होती हैं।

पंचवर्ण में दिगम्बर मुनि की मयूरपिच्छि- दिगम्बर जैन मुनि के करकमल में सदा मयूरपिच्छी होती है। वे इसके बिना कहीं आ-जा नहीं सकते हैं। यह मयूरपंख पाँच गुणों से सम्पन्न एवं पाँच वर्ण वाला होता है। यथा—

‘रजसेदाणमग्रहणं सद्भवसुकुमालदा लघुत्वं च।

जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलेहणं पसंसंति॥’

मूलाराधना, 98



इस प्रकार पिच्छि पंचगुण विभूषित है। मूलाराधना में पिच्छि के अन्य पाँच गुण बताते हुए कहा है कि रज और स्वेद का अग्रहण, मृदुता, सुकुमारता और लघुत्व (हल्कापन) जिस पिच्छि में ये पंचगुण विद्यमान हों, उस प्रतिलेखन-उपकरण की प्रशंसनीयता असन्दिग्ध है।

‘छत्रार्थं चामरार्थं च रक्षार्थं सर्वदेहिनाम्।

यन्त्रमन्त्रप्रसिद्धयर्थं पंचैते पिच्छिस्तक्षणम्॥’

मन्त्रलक्षणशास्त्र

मन्त्रलक्षण शास्त्र कहता है कि पिच्छि आवश्यकता होने पर छत्र भी है और चामर भी, यन्त्र और मन्त्र की प्रसिद्धि (सिद्धि) के लिए भी इसका व्यवहार किया जाता है और सम्पूर्ण प्राणियों को रक्षा के लिए तो है ही।

‘मयूरपिच्छं मृदुपंचवर्णं।

मिथ्यात्वनाशं मदसिंहराजम्॥’

पंचवर्ण की ध्वजा एवं साहू नट्टल— 11वीं शताब्दी में राजा अनंगपाल के प्रधानमन्त्री साहू नट्टल ने तीर्थंकर वृषभदेव का मन्दिर बनवाया था और उसमें पंचवर्ण को ध्वजा

फहरायी थी। यथा—

‘काराविवि णाहेयहो णिकेउ, पविइण्णु पंचवण्णं सुकेउ’

विबुध श्रीधरकृत, पासणाहचरित, 1/9/11

“येनाराध्य विशुद्ध-धीरमतिना देवाधिदेवं जिनम्।

सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः संतोषिता बान्धवाः ॥

जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनों प्रतिष्ठां तथा।

स श्रीमान्विदितः सदैव विजयात्पृथ्वीतले नट्टला ॥”

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग 2, पृष्ठ 85

श्री अनंगपाल राजा के प्रधानमन्त्री श्री नट्टल साहू ने तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) का एक शिखरबद्ध मन्दिर बनवाया और मूर्ति की पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा कराकर उस मन्दिर में विराजमान करवायी। (इस मन्दिर पर पंचवर्णी महाध्वजा फहरा रही थी)। मन्दिर में प्रवेश कर उन साहू नट्टल ने मन से तीर्थंकर-प्रतिमा को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। वे साहू नट्टल सदैव विजयी हों।

पंचवर्णी ध्वजगीत- जब भी कभी धार्मिक व मांगलिक कार्यक्रम होते हैं, तो उसमें सर्वप्रथम पंचरंगी ध्वजा को फहराया जाता है। तत्पश्चात् ध्वज गीत गाया जाता है।

पंचवर्ण का फल—

वर्ण स्वस्थता व प्रसन्नता के भी प्रतीक होते हैं। जिस प्रकार वर्तमान में रंगों के द्वारा बीमारी दूर की जा रही है, उसीप्रकार जैनग्रन्थों में लिखा है कि यदि पाँच वर्णों का ध्यान किया जाए तो उससे अनेक प्रकार लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। पंचवर्ण का फल इसप्रकार है—

“शान्तौ श्वेतं जये श्यामं, भद्रे रक्तमभये हरित्।

पीतं धनादिसंलाभे, पंचवर्णं तु सिद्धये ॥”

उमास्वामि-श्रावकाचार, 138, पृष्ठ 55

1. श्वेतवर्ण शान्ति का प्रतीक है।
2. श्यामवर्ण विजय का सूचक है।
3. रक्तवर्ण कल्याण का कारक है।
4. हरितवर्ण अभय को दर्शाता है।
5. पीतवर्ण धनादि के लाभ का दर्शक है।

इसप्रकार पाँचों वर्ण सिद्धि के कारण हैं।

संक्षेप में, प्रतीक परम्परा विचार करें तो यह बात स्पष्ट होती है कि जैन-जीवन प्रतीकों से/प्रतीकात्मकता से भरा है। प्रतीकात्मकता जीवन्तता का आधार है और यह प्रतीकात्मकता जैनों के आदिकाल से लेकर वर्तमान तक विकसित होती आयी है। जैनों ने अपनी प्रतीकात्मकता का प्रयोग तन्त्र, मन्त्र, पूजा पद्धति, यन्त्र, कलाओं एवं ध्यान आदि

सभी प्रसंगों में किया है। लेश्याओं की चर्चा भी प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करती है। यह जैन प्रतीकात्मकता जहाँ सहज ही वस्तु तत्त्व की ओर ले जाती है, वहीं भेदकता को दिखाने में भी साफ संकेत करती है। जैनों की प्रतीकात्मकता जहाँ भारतीय प्रतीक परम्परा को समृद्ध करती है वहीं अपनी अलग पहचान बनाये हुए भी है।

मूर्तिकला

(कलात्मक एवं सामाजिक सन्दर्भ और वैशिष्ट्य)

प्रो. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

भारतीय कला तत्त्वतः धर्म के माध्यम से जीवन की पूर्त अभिव्यक्ति है। कला के विभिन्न माध्यमों में अनेकशः धार्मिक आस्था और उसके प्रतीक आराध्य देवों को पूर्त अभिव्यक्ति प्रदान की गयी। काल एवं क्षेत्र के सन्दर्भ में सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय और जीवन शैली में होने वाले वैचारिक तथा सामाजिक परिवर्तनों एवं विकास से शिल्प की विषयवस्तु में भी परिवर्तन हुए। वस्तुतः विभिन्न धर्मों एवं समकालीन जीवन से सम्बन्धित कला ही अपने समष्टिरूप में भारतीय कला है। शैली की दृष्टि से किसी काल विशेष की कला में भिन्नता नहीं होती, उनकी स्वरूपगत भिन्नता उनके धार्मिक कलेवर और विषयवस्तु यानी देवमूर्तियों के लक्षणों के सन्दर्भ में ही देखी जा सकती है। शिल्पी या रूपकार केवल कला-धर्म ही होता था। जैनधर्म श्रमण-परम्परा का एक प्रधान धर्म रहा है। यद्यपि जैनधर्म पर विद्वानों ने विस्तार से कार्य किया है, तथापि जैनधर्म के सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष संवाहिनी जैनकला पर यथेष्ट कार्य नहीं हुआ है।

स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र तीनों ही विधाओं में जैनकला धर्म एवं दर्शन के वैशिष्ट्य को समाहित कर पौर्य काल से निरन्तरता में विकसित हुई। साथ ही जैनकला में भारतीय संस्कृति एवं कला का समष्टिरूप भी अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें उदारता और परस्परता दोनों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। वीतरागी तीर्थंकरों (जिनो), बाहुबली एवं भरत मुनि की मूर्तियों में जैनधर्म के त्याग और साधना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई है, जिसे जन-जन तक सम्प्रेषित करना ही धर्म और कला का मूल उद्देश्य रहा है। प्रस्तुत लेख में हम जैन मूर्तियों की प्रारम्भ से लेकर 14वीं-15वीं शती ई. के मध्य की विकास-यात्रा और साथ ही जैन मूर्तिकला के निजी एवं अखिल भारतीय वैशिष्ट्य की विवेचना करने का प्रयास करेंगे।

भारतीय इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में कुछ ही शासकों, सामन्तों एवं सेनापतियों ने जैनधर्म को प्रश्रय दिया था। इनमें मौर्य (चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्प्रति, चौथी—तीसरी शती ई.पू.), चेदि (खारवेल, पहली शती ई.पू.), गुप्त (रामगुप्त,



चौथी शती ई. का उत्तरार्ध), प्रतिहार (नागभट्ट द्वितीय, नौवीं शती ई.), चौलुक्य (कुमारपाल, विमल, पृथ्वीपाल, तेजपाल, 12वीं-13वीं शती ई.), होयसल (विष्णुवर्धन की रानी शान्तला, 12वीं शती ई.), गंग (राचमल्ल के सामन्त एवं सेनापति चामुण्डराय, 10वीं शती ई.) तथा राष्ट्रकूट (अमोघवर्ष, नौवीं शती ई.) शासक और उनके शासनाधिकारी मुख्य हैं। वस्तुतः समकालीन धार्मिक परम्पराओं के साथ परस्परपूर्ण उदार सम्बन्धों के कारण भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों के शासकों (पाल शासकों के अतिरिक्त) ने जैन धर्म के प्रति आदर का भाव रखा और जैनकला के विकास के लिए शासकीय समर्थन के साथ ही श्रेष्ठ एवं समाज के समृद्धजनों द्वारा जैन कला को दिये जाने वाले संरक्षण को भी प्रोत्साहित किया। खजुराहो के पार्श्वनाथ (मूलतः आदिनाथ) मन्दिर (954 ई.) के निर्माणकर्ता व्यापारी पाहिल का चन्देल शासक धंग द्वारा सम्मान किया जाना,—ऐसा ही एक विशिष्ट उदाहरण है। अनेक कलाकेन्द्रों पर वैदिक-पौराणिक (ब्राह्मण) एवं जैनधर्म से सम्बन्धित मन्दिरों तथा मूर्तियों का साथ-साथ निर्माण एवं विकास तथा उन्हें प्राप्त बहुविध संरक्षण भारत की समन्वय-सद्भाव की संस्कृति की राष्ट्रीय चेतना और

वैशिष्ट्य के साक्षी हैं। ओसियां, खजुराहो, मथुरा, देवगढ़, एलोरा, बादामी, अयहोल ऐसे ही कुछ पुरास्थल हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से अपेक्षाकृत कम शासकीय समर्थन के बावजूद व्यापारियों, व्यवसायियों एवं व्यापक लोक समर्थन के कारण जैनधर्म एवं कला ने अभूतपूर्व उन्नति की। यही कारण था कि बिना विशेष राजकीय समर्थन के कई स्वतन्त्र एवं लम्बी कालावधि वाले जैन कलाकेन्द्र भी विकसित हुए, जिनमें मथुरा (उ.प्र. 150 ई. पू. से 1032 ई.), देवगढ़ (ललितपुर, उ.प्र., छठी से 16वीं शती ई.) खण्डगिरि गुहा (उड़ीसा, 11वीं-12वीं शती ई.) देलवाडा (माउण्ट आबू, राजस्थान 1035 से 13वीं शती ई.) तथा कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात, 11वीं-13वीं शती ई.) कुछ मुख्य जैनपुरास्थल हैं। जैनधर्म और कला को जैनेतर शासकों एवं लोकसमर्थन मिलने के चार कारण थे : प्रथम— भारतीय शासकों की धर्मसहिष्णुनीति; द्वितीय— जैनधर्म का अन्य धर्मों के प्रति आदर और समन्वय का भाव; तृतीय— जैनधर्म की व्यापारियों-व्यवसायियों एवं सामान्य जनों के मध्य विशेष लोकप्रियता; चतुर्थ— नारी जगत का विशेष समर्थन एवं सहयोग। जैनधर्म एवं कला के विकास में महिलाओं का योगदान अग्रणी रहा है, जिसके प्रारम्भिक अभिलेखीय प्रमाण कुषाणकाल से ही मिलने लगते हैं। मथुरा के कुषाणकालीन जैन मूर्तिलेखों में श्रेष्ठिन्, सार्थवाह, गन्धिक, सुवर्णकार, वर्धकिन् (बढ़ई), लौहकर्मक, प्रातारिक (नाविक), वेश्या, नर्तकी एवं विदेशी मूल की महिलाओं के प्रचुर उल्लेख हैं।¹ ओसियां, खजुराहो, जालोर एवं अन्य अनेक मध्ययुगीन जैन पुरा-स्थलों के मूर्तिलेखों से उपर्युक्त चार बातों की पुष्टि होती है।²

जैनधर्म में मूर्ति-निर्माण एवं पूजन की प्राचीनता पर विचार करना भी यहाँ प्रासंगिक है। भारत की प्राचीनतम सभ्यता सैन्धव सभ्यता है, जिसका काल लगभग 2300 ई.पू. से 1750 ई.पू. है। सैन्धव सभ्यता के प्रारम्भिक अवशेष मुख्यतः हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुए हैं। मोहनजोदड़ो से हमें पाँच ऐसी पुहरें मिली हैं, जिन पर कायोत्सर्ग-मुद्रा जैसी मुद्रा में दोनों हाथ नीचे लटकाकर खड़ी पुरुष आकृतियाँ बनी हैं। हड़प्पा से एक नग्न पुरुष आकृति (कबन्ध) भी मिली है।³ ये सिन्धु सभ्यता से प्राप्त ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें आकृतियों की नग्नता और उनकी मुद्रा (कायोत्सर्ग जैसी) परवर्ती जिन मूर्तियों का स्मरण कराते हैं,⁴ किन्तु सैन्धव सभ्यता की लिपि को पूरी तरह पढ़े जाने तक इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना समीचीन नहीं होगा।

प्रामाणिक तौर पर प्राचीनतम ज्ञात तीर्थंकर (या जिन) मूर्ति मौर्यकाल की है। यह मूर्ति पटना के समीप लोहानीपुर (चित्र सं. 1) से मिली है और सम्प्रति पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।⁵ मूर्ति का दिगम्बरत्व और कायोत्सर्ग-मुद्रा इसके जिनमूर्ति होने के निश्चयात्मक प्रमाण हैं। ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग-मुद्रा केवल जिनों के निरूपण में ही व्यक्त हुई है। इस मूर्ति के सिर, भुजा और जानु का भाग खण्डित है। मूर्ति पर मौर्ययुगीन



चमकदार आलेप काल-निर्धारण में सहायक है। लोहानीपुर से शुंगकाल या कुछ बाद की एक अन्य जिनमूर्ति भी मिली है, जिसमें नीचे लटकती दोनों भुजाएँ भी सुरक्षित हैं।^१ जैन परम्परा के अनुसार जैनधर्म को लगभग सभी समर्थ मौर्य शासकों का समर्थन प्राप्त था। चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्मानुयायी होना तथा जीवन के अन्तिम वर्षों में भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत जाना सुविदित है।^२ अशोक ने भी निर्ग्रन्थों एवं आजीविकों को दान दिये थे।^३ सम्प्रति को भी जैनधर्म का अनुयायी कहा गया है।^४ उदयगिरि (पुरी, उड़ीसा) स्थित हाथीगुम्फा के पहली शती ई. पूर्व के खारवेल के लेख में भी कलिंग जिन (-प्रतिमा) का उल्लेख आया है। लेख में उल्लेख है कि कलिंग की जिस जिन(-प्रतिमा) को नन्दराज तिवससत वर्ष पूर्व कलिंग से मगध ले गया था,

उसे खारवेल पुनः वापस ले आया। 'तिवससत' शब्द का अर्थ अधिकांश विद्वान 300 वर्ष मानते हैं।^५ अतः खारवेल के लेख के आधार पर भी जिनमूर्ति की प्राचीनता चौथी शती ई.पू. तक आती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण मौर्यकाल में निश्चित रूप से जैनधर्म में मूर्ति निर्माण एवं पूजन की विद्यमानता की सूचना देते हैं। लोहानीपुर की जिनमूर्ति को भारतीय परम्परा में आराध्य देवों की प्राचीनतम मूर्ति होने का भी गौरव प्राप्त है।

मौर्यकाल में जिनमूर्ति-निर्माण की जो परम्परा प्रारम्भ हुई, उसका आगे की शताब्दियों में पल्लवन और पुष्पन हुआ। लगभग पहली शती ई. पूर्व की कायेत्सर्ग-मुद्रा में खड़ी पार्श्वनाथ की दो निर्वस्त्र कांस्य मूर्तियाँ मिली हैं। प्रथम उदाहरण (निश्चित प्राप्ति स्थल ज्ञात नहीं है) छत्रपति शिवाजी संग्रहालय, मुम्बई में हैं। चौसा (भोजपुर, बिहार) से प्राप्त दूसरा उदाहरण पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।^६ इन मूर्तियों में पार्श्वनाथ के सिर पर सर्पफणों (पाँच या सात) के छत्र हैं। मथुरा से लगभग दूसरी पहली शती ई.पू. से जैन आयागपटों (पूजा शिलापट्ट) के उदाहरण मिले हैं। आयागपट उस संक्रमण काल की शिल्प-साग्री है, जब उपास्यदेवों का पूजन प्रतीक और मान व रूप में साथ-

साथ हो रहा था।¹² इन आयागपटों पर जैन प्रतीकों¹³ के साथ ही मानव रूप में जिन मूर्ति भी उत्कीर्ण है। दूसरी-पहली शती ई.पू. के एक आयागपट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे. 253) पर मध्य में सात सर्पफणों के छत्र से युक्त पार्श्वनाथ की ध्यानस्थ मूर्ति उत्कीर्ण है। ध्यानमुद्रा में तीर्थंकर की यह प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति है।

मथुरा से ल. 150 ई.पू. से 11वीं शती ई. के मध्य की प्रभूत जैन मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ आरम्भ से मध्य युग (11वीं शती ई.) तक की जैन प्रतिमाओं की विकास शृंखला को प्रदर्शित करती हैं। शुंग-कुषाण काल में मथुरा में सर्वप्रथम जिनों के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न का उत्कीर्णन और जिनों का ध्यान-मुद्रा में निरूपण प्रारम्भ हुआ। ज्ञातव्य है कि जिन-मूर्तियाँ सर्वदा कायोत्सर्ग और ध्यान-मुद्राओं में ही निरूपित हुईं। मथुरा में कुषाण-काल में ऋषभनाथ, सम्भवनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की स्वतन्त्र मूर्तियाँ, ऋषभनाथ और महावीर के जीवन-दृश्य, आयागपट, जिन चौमुखी तथा सरस्वती एवं नैगमेषी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं। राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे. 616) में सुरक्षित एक पट्ट पर महावीर के गर्भापहरण का दृश्य है।¹⁴ राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे. 354) के ही एक अन्य पट्ट पर इन्द्र सभा की नर्तकी नीलांजना को ऋषभनाथ की सभा में नृत्य करते हुए दिखाया गया है। ज्ञातव्य है कि नीलांजना के नृत्य के कारण ही ऋषभनाथ को वैराग्यभाव उत्पन्न हुआ था।¹⁵

गुप्तकाल में जैन पुरास्थलों का विस्तार हुआ और मथुरा एवं चौसा के अतिरिक्त राजगीर, विदिशा, नचना, दुर्जनपुर, वाराणसी, कहौम, उदयगिरि एवं अकोटा से भी जैन मूर्तियाँ मिली हैं। इस काल में केवल जिनों की स्वतन्त्र एवं जिन चौमुखी मूर्तियाँ ही बनीं। इनमें ऋषभनाथ, अजितनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त,¹⁶ नेमिनाथ, पार्श्वनाथ (चित्र सं. 4) एवं महावीर (चित्र सं. 5) का निरूपण हुआ है। श्वेताम्बर जिन मूर्तियों (अकोटा) के स्पष्ट प्रमाण भी गुप्तकाल से ही मिलते हैं। जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी का रूपायन भी गुप्तकाल में प्रारम्भ हुआ, जिसके उदाहरण राजगीर (पाँचवीं शती ई.) अकोटा एवं वाराणसी (छठी शती ई.) से मिले हैं।

10वीं से 12वीं शती ई. के मध्य जैन प्रतिमा-लक्षण-विषयक ग्रन्थ एवं शिल्प-सामग्री विपुलता और विविधता में उपलब्ध है। सर्वाधिक जैन मन्दिर और फलतः उन पर प्रभूत संख्या में मूर्तियाँ भी इसी काल में बनीं। गुजरात और राजस्थान में श्वेताम्बर एवं अन्य क्षेत्रों में दिगम्बर सम्प्रदाय के मन्दिरों एवं मूर्तियों की प्रधानता रही है। गुजरात और राजस्थान के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों में 24 देवकुलिकाओं को संयुक्त कर उनमें 24 जिनों की मूर्तियाँ स्थापित करने की परम्परा लोकप्रिय हुई। श्वेताम्बर स्थलों की तुलना में दिगम्बर स्थलों पर जिनों की अधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं, जिनमें स्वतन्त्र तथा द्वितीर्थी, त्रितीर्थी एवं चौमुखी (चित्र सं. 6) मूर्तियाँ हैं।



दिगम्बर स्थलों पर जिनमूर्तियों में नवग्रह, बाहुवली एवं पारम्परिक यक्ष-यक्षी के अतिरिक्त चक्रेश्वरी, अम्बिका यक्षियों एवं लक्ष्मी-जैसी देवियों को भी जिन मूर्ति-परिकर में निरूपित किया गया। श्वेताम्बर स्थलों पर जिनमूर्तियों में लांछनों के स्थान पर पीठिका लेखों में उनके नामोल्लेख की परम्परा लोकप्रिय थी। जिनों के जीवनदृश्यों एवं समवसरणों के उदाहरण भी मुख्यतः श्वेताम्बर स्थलों पर ही सुलभ हैं। 11वीं से 13वीं शती ई. के मध्य के ये उदाहरण ओसियां, कुम्भारिया, माउण्ट आबू (विमल बसही, लूण बसही) एवं जालोर से मिले हैं।

श्वेताम्बर स्थलों पर जिनों के बाद 16 महाविद्याओं और दिगम्बर स्थलों पर यक्ष-यक्षियों का रूपायन ही सर्वाधिक लोकप्रिय था। 16 महाविद्याओं में रोहिणी, वज्रांकुशी, वज्रशृङ्खला, अप्रतिचक्रा, अच्छुप्ता एवं वैरोट्या की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ मिली हैं। शान्तिदेवी, ब्रह्मशान्ति यक्ष, जीवन्तस्वामी महावीर, गणेश एवं 24 जिनों के माता-पिता के सामूहिक अंकन भी श्वेताम्बर स्थलों पर ही लोकप्रिय थे। सरस्वती, बलराम, कृष्ण, अष्टदिक्पाल, नवग्रह एवं क्षेत्रपाल आदि की मूर्तियाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के जैन पुरास्थलों पर समान रूप से उत्कीर्ण हुईं।

जैन युगलों (तीर्थंकरों के माता-पिता), राम-सीता एवं रोहिणी, पनोवेगा, गौरी, गांधारी यक्षियों और गरुड़ यक्ष की मूर्तियाँ केवल दिगम्बर-पुरास्थलों पर ही मिली हैं। दिगम्बर स्थलों पर परम्परा में अवर्णित प्रकार की भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। द्वितीय और तृतीय जिन मूर्तियों का अंकन और देवगढ़ से प्राप्त दो उदाहरणों में तृतीय

मूर्तिकला :: 691

मूर्तियों में जिनों के साथ समान आकार वाली सरस्वती और बाहुबली आकृतियों का अंकन, बाहुबली और अम्बिका की दो मूर्तियों (देवगढ़, खजुराहो) में यक्ष-यक्षी का निरूपण तथा ऋषभनाथ (चित्र सं. 2) की कुछ मूर्तियों (देवगढ़, खजुराहो) में पारम्परिक यक्ष-यक्षी, गोमुख-चक्रेश्वरी के साथ ही अम्बिका, लक्ष्मी, सरस्वती का अंकन इस कोटि के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर स्थलों की शिल्प-सामग्री के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुरुष देवों की तुलना में देवियों की आकृतियाँ बहुत अधिक संख्या में उकेरी गयीं। जैनकला में देवियों की विशेष लोकप्रियता तान्त्रिक प्रभाव का परिणाम हो सकती है। देवियों (यक्षी एवं महाविद्या) की प्रभूत संख्या में उकेरी स्वतन्त्र मूर्तियाँ जैन परम्परा में शक्तिपूजन की विशेष लोकप्रियता का भी संकेत देती हैं।

तान्त्रिक प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से कतिपय सन्दर्भों की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी यहाँ उपयुक्त होगा। खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर (950-70 ई.) की भित्ति पर चारों तरफ शक्तियों के साथ आलिंगन-मुद्रा में ब्राह्मण देवों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि, कुबेर, राम, बलराम और कामदेव की शक्ति-सहित आलिंगन मूर्तियाँ हैं, जो स्पष्टतः खजुराहो के वैदिक-पौराणिक परम्परा के मन्दिरों का प्रभाव है। इसी मन्दिर के उत्तरी और दक्षिणी शिखर एवं गर्भगृह के शिखर पर काम-क्रिया में रत तीन युगल भी आमूर्तित हैं। काम शिल्प और आपत्तिजनक स्थिति में जैन साधुओं के कुछ अंकन देवगढ़ एवं खजुराहो के जैन मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर भी द्रष्टव्य हैं। छत्तीसगढ़ के आंग स्थित जैन मन्दिर (भाण्ड देउल, 11वीं शती ई.) पर भी काम-शिल्प विषयक कई मूर्तियाँ हैं। उपर्युक्त दिगम्बर स्थलों के अतिरिक्त नाडलाई (पाली, राजस्थान) के शान्तिनाथ मन्दिर (श्वेताम्बर) के अधिष्ठान पर भी काम-क्रिया में रत कई युगलों का अंकन हुआ है। यद्यपि जैन मन्दिरों पर देवताओं की शक्ति सहित आलिंगन मूर्तियाँ एवं काम-शिल्प पर उत्कीर्णन परम्परा-सम्मत नहीं है, तथापि जैन धर्म में समय के अनुरूप कुछ आवश्यक परिवर्तन भी होते रहे हैं। मध्य युग तान्त्रिक प्रभाव का युग था। फलतः जैनधर्म में भी उस प्रभाव को किंचित् नियन्त्रण के साथ स्वीकार किया गया, जिसे कला में भी उपर्युक्त स्थलों पर अभिव्यक्ति मिली, पर इस प्रभाव को उद्दाम नहीं होने दिया, जैसाकि खजुराहो, मोढ़रा और उड़ीसा के वैदिक-पौराणिक परम्परा के मन्दिरों पर काम-शिल्प के उद्दाम अंकों में देखा जा सकता है।

जैन ग्रन्थ हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत, 783 ई.) में एक स्थल पर उल्लेख है कि श्रेष्ठ कामदत्त ने एक जिन मन्दिर का निर्माण करवाया और सम्पूर्ण प्रजा के कौतुक के लिए इस मन्दिर में कामदेव और रति की भी मूर्ति बनवायी। ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि जिन मन्दिर कामदेव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था और कौतुकवश आये लोगों

को जिनधर्म की प्राप्ति का कारण भी था।¹⁷ जिन मूर्तियों के पूजन के साथ ग्रन्थ में रति और कामदेव की मूर्तियों के पूजन का भी उल्लेख है।¹⁸ जैन हरिवंशपुराण का उल्लेख स्पष्टतः कामशिल्प के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अभिष्ट को प्रकट करता है, जो जैनकला का वैशिष्ट्य भी रहा है। इसी पृष्ठभूमि में मध्यप्रदेश में खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर (ल. 950-70 ई.) एवं कर्नाटक में जिननाथपुर (हसन) स्थित शान्तिनाथ मन्दिर (12वीं शती ई.) पर पंचपुष्पशर एवं इक्षुधनु से युक्त कामदेव की स्वतन्त्र एवं शक्तिसहित मूर्तियाँ बाह्य भित्ति पर उकेरी गयीं।

आठवीं से 12वीं-13वीं शती ई. के मध्य के जैन ग्रन्थों (पादलिप्तसूरि कृत निर्वाणकलिका—ल. 900 ई. हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—12वीं शती ई. का उत्तरार्ध एवं जिनसेन और गुणभद्र कृत महापुराण (आदिपुराण एवं उत्तरपुराण), आठवीं-नौवीं शती ई., वसुनन्दी कृत प्रतिष्ठा-सार-संग्रह-12वीं शती ई., आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार-13वीं शती ई. का पूर्वार्ध जैसे श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थ) में जैन देवकुल और जिनों तथा अन्य देवों के स्वतन्त्र लक्षणों का उल्लेख हुआ है। पूर्ण विकसित जैन-देव-कुल में 24 जिनों एवं अन्य 39 शलाकापुरुषों¹⁹ के अतिरिक्त, 24 यक्ष-यक्षी, 16 महाविद्याएँ, अष्ट-दिक्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, गणेश, श्री लक्ष्मी एवं सरस्वती, ब्रह्मशान्ति यक्ष, कपर्दि यक्ष, बाहुबली, 64 योगिनी, शान्तिदेवी, जिनों के माता-पिता एवं पंचपरमेष्ठी सम्मिलित हैं। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जैन-देव-कुल का विकास बाह्य दृष्टि से समरूप रहा है। केवल देवताओं के नामों एवं कभी-कभी उनकी लाक्षणिक विशेषताओं के सन्दर्भ में ही दोनों परम्पराओं में भिन्नता दृष्टिगत होती है। महावीर के गर्भापहरण, जीवन्तस्वामी महावीर की मूर्ति- परम्परा एवं मल्लिनाथ के नारी तीर्थंकर होने के उल्लेख केवल श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही वर्णित हैं, इसी कारण उनके मूर्त उदाहरण भी केवल श्वेताम्बर स्थलों पर ही उपलब्ध हैं।

मूर्ति-लक्षण की दृष्टि से लगभग नौवीं-10वीं शती ई. तक जिन मूर्तियाँ पूर्णतः विकसित रूप से उकेरी जाने लगीं; पूर्ण विकसित जिन मूर्तियों में लांछनों, यक्ष-यक्षी एवं अष्टप्रातिहार्यों के साथ ही लघ्वाकार जिन मूर्तियों, नवग्रहों, सरस्वती, लक्ष्मी, गजाकृतियों, धर्मचक्र, विद्याओं को भी दर्शाया गया है। सिंहासन के मध्य में पद्म से युक्त शान्तिदेवी, गजों तथा मृगों एवं कलशधारी गोमुख तथा वीणा और वेणुवादन करती आकृतियों का अंकन केवल पश्चिम भारत के श्वेताम्बर-स्थलों पर ही लोकप्रिय था। श्वेताम्बर ग्रन्थ वास्तुविद्या (विश्वकर्मा कृत, 12वीं शती ई. का प्रारम्भ) के 'जिनपरिकरलक्षण' (22.10-12, 33-39) में इन विशेषताओं का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 11वीं से 13वीं शती ई. के मध्य श्वेताम्बर स्थलों पर ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के जीवनदृश्यों का भी मन्दिरों की दीवारों और चँदोवा पर विशद अंकन हुआ, जिसके उदाहरण, ओसियाँ की देवकुलिकाओं,

कुम्भारिया के शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों, जालोर के पार्श्वनाथ मन्दिर और माउण्ट आबू के विमल बसही और लूण वसही में द्रष्टव्य हैं। इनमें जिनों के पंचकल्याणकों (गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण-शयन के स्थान पर ध्यानस्थरूप में) एवं कुछ अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाया गया है, जिनमें भरत और बाहुबली के युद्ध, शान्तिनाथ के पूर्वजन्म में कपोत की प्राणरक्षा की कथा, नेमिनाथ के विवाह और वैराग्य, मुनिसुव्रत के जीवन की अश्ववबोध और शकुनिका विहार की कथाएँ तथा पार्श्वनाथ और महावीर के पूर्वजन्म की कथाएँ और तपस्या के समय उपस्थित उपसर्गों के दृश्यांकन मुख्य हैं।

दिगम्बर-स्थलों पर मध्ययुग में नेमिनाथ के साथ देवगढ़ (चित्र सं. 3) और मथुरा के उदाहरणों में उनके चचेरे भाई बलराम और वासुदेव कृष्ण, पार्श्वनाथ के साथ सर्पफणों के छत्र वाले चामरधारी धरणेन्द्र यक्ष एवं छत्रधारिणी पद्मावती यक्षी तथा जिन मूर्तियों के परिकर में बाहुबली, क्षेत्रपाल, सरस्वती, लक्ष्मी आदि के अंकन विशेषतः उल्लेखनीय और क्षेत्रीय वैशिष्ट्य के रूप में द्रष्टव्य हैं। लगभग 10वीं शती ई. में जिन मूर्तियों के परिकर में 23 या 24 छोटी जिनमूर्तियों का अंकन भी प्रारम्भ हुआ। बंगाल की जिन मूर्तियों में परिकर की जिन-आकृतियाँ अधिकांशतः लांछन से भी युक्त हैं।

जिन चौमुखी या सर्वतोभद्रिका जिन मूर्तियों का उत्कीर्णन पहली शती ई. में मथुरा में प्रारम्भ हुआ और आगे की शताब्दियों में सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय था। कुषाण मूर्तिलेखों में आये 'प्रतिमा सर्वतोभद्रिका' या 'सर्वतोभद्र प्रतिमा' का अर्थ है, वह प्रतिमा, जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी है।¹⁰ कुषाण चौमुखी मूर्तियों में चार दिशाओं में कायोत्सर्ग-मुद्रा में चार अलग-अलग जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जिन चौमुखी की धारणा को विद्वानों ने जिन समवसरण की प्रारम्भिक कल्पना पर आधारित और उसमें हुए विकास का सूचक माना है।¹¹ परन्तु इस बात को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं।¹² समवसरण ऐसी देवनिर्मित सभा है, जहाँ कैवल्य-प्राप्ति के बाद प्रत्येक जिन अपना प्रथम उपदेश देते हैं। समवसरण तीन प्राचीरों वाला देवनिर्मित भवन है, जिसमें



सबसे ऊपरी भाग में जिन-आकृति ध्यान-मुद्रा में (पूर्वाभिमुख) विराजमान होती है। सभी दिशाओं के श्रोता जिन का दर्शन कर सकें, इस उद्देश्य से व्यन्तर देवों ने अन्य तीन दिशाओं में भी उसी जिन की तीन भव्य प्रतिमाएँ स्थापित कीं। यह उल्लेख सर्वप्रथम आठवीं-नौवीं शती ई. के जैन ग्रन्थों में आया है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में चार दिशाओं में चार जिनों की अलग-अलग मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कुषाणकालीन जिन चौमुखी मूर्ति में चार अलग-अलग जिनों के उत्कीर्णन को समवसरण की मूल अवधारणा से प्रभावित और उसमें हुए विकास का सूचक कतई नहीं माना जा सकता है। आठवीं-नौवीं शती ई. के ग्रन्थों में भी समवसरण में किसी एक ही जिन के होने तथा उसी जिन की तीन मूर्तियों के स्थापित किये जाने का उल्लेख मिलता है, जबकि कुषाणकालीन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों का निरूपण अभीष्ट था। सर्वप्रथम लगभग नौवीं शती ई. से ही चौमुखी मूर्ति में समवसरण की धारणा के अनुरूप एक ही जिन की चार मूर्तियाँ बननी प्रारम्भ हुई (चित्र सं. 6)। मथुरा की 1023 ई. की चौमुखी मूर्ति के लेख में उल्लेख है कि यह महावीर की जिन-चौमुखी है। समवसरण में जिन सदैव ध्यान-मुद्रा में आसीन होते हैं, जबकि कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों में जिन सदैव कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं। इस प्रकार जहाँ हमें समकालीन जैन ग्रन्थों में चौमुखी मूर्ति की कल्पना का निश्चित आधार नहीं प्राप्त होता है, वहीं तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती शिल्प में ऐसे एक मुख और बहुमुखी शिवलिंग एवं यक्षमूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे जिन चौमुखी की धारणा के प्रभावित रहे होने की सम्भावना हो सकती है।¹³ जिन चौमुखी पर स्वस्तिक और मौर्य शासक अशोक के सारनाथ सिंह-शीर्ष-स्तम्भ का भी प्रभाव असम्भव नहीं है।¹⁴ चार अलग-अलग जिनों (ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर) का अंकन करने वाली कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों को संयुक्त या संघात मूर्तियों की कोटि में भी रखा जा सकता है। ज्ञातव्य है कि वैदिक-पौराणिक परम्परा में भी कुषाण काल में ही अर्धनारीश्वर मूर्ति के रूप में संयुक्त मूर्तियों का उकेरन प्रारम्भ हुआ।

लगभग 10वीं शती ई. में चतुर्विंशति जिन-पट्टों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। 11वीं शती ई. का एक विशिष्ट चतुर्विंशति जिन-पट्ट देवगढ़ के साहू जैन संग्रहालय में है। इसमें जिनों के साथ अष्टप्रातिहार्यों, लांछनों एवं यक्ष-यक्षी का अंकन हुआ है।

भवगतीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, अन्तगङ्गदसाओ एवं पउमचरिय जैसे प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में यक्ष-यक्षी के प्रचुर उल्लेख हैं।¹⁵ इनमें माणिभद्र, पूर्णभद्र और बहुपुत्रिका यक्षी की सर्वाधिक चर्चा है। जिनों से संश्लिष्ट प्राचीनतम यक्ष-यक्षी सर्वानुभूति (या कुबेर) और अम्बिका की अवधारणा प्राचीन परम्परा के माणिभद्र-पूर्णभद्र यक्षों और बहुपुत्रिका यक्षी से प्रभावित हैं, जो क्रमशः धन-समृद्धि के देवता कुबेर और मातृदेवी की पूर्व परम्परा से सम्बन्धित है। लगभग छठी-सातवीं शती ई. में जिनों के शासन और उपासक

देवों के रूप में जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी का रूपायन प्रारम्भ हुआ, जिसका सबसे प्रारम्भिक उदाहरण (छठी शती ई.) अकोटा (गुजरात) से मिला है। हरिवंशपुराण (66.43-45) के अनुसार यक्ष-यक्षी या शासन देवता सर्वदा वीतरागी तीर्थंकरों के समीप रहते हैं और जिनभक्तों की भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। साथ ही भूत, पिशाच, ग्रह, रोग आदि के प्रकोप को भी शान्त करते हैं। यक्ष-यक्षियों का अंकन जिनमूर्तियों के सिंहासन या पीठिका पर क्रमशः दाहिने और बाएँ छोरों पर किया गया। जिनमूर्तियों में यक्ष-यक्षी का रूपायन जैनकला में जैनधर्म-दर्शन के दो भावभूमि को सम्पूक्त रूप में व्यक्त करता है। वीतरागी जिन आध्यात्मिक उत्कर्ष के श्रेष्ठ स्तर की प्रेरणा देते हैं, जबकि यक्ष-यक्षी भक्तों की भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं।

लगभग छठी से नौवीं शती तक के ग्रन्थों में केवल यक्षराज (सर्वानुभूति), धरणेन्द्र, चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावती की ही कुछ लाक्षणिक विशेषताओं के उल्लेख मिलते हैं। 24 जिनों के यक्ष-यक्षी की सम्पूर्ण सूची लगभग आठवीं-नौवीं शती ई. में निर्धारित हुई (कहावली, तिलोयपण्णति और प्रवचनसारोद्धार)²⁶। जबकि उनकी स्वतन्त्र लाक्षणिक विशेषताएँ 11वीं-12वीं शती ई. में नियत हुई, जिनके उल्लेख निर्वाणकलिका, त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित्र, प्रतिष्ठासारसंग्रह, एवं परवर्ती प्रतिष्ठासारोद्धार, प्रतिष्ठातिलकम् जैसे शिल्पशास्त्रों में हैं।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं की सूचियों में मातंग, यक्षेश्वर एवं ईश्वर यक्षों तथा नरदत्ता, मानवी, अच्युता एवं कुछ अन्य यक्षियों के नामोल्लेख एक से अधिक जिनों के साथ किये गये हैं। भृकुटी का यक्ष और यक्षी दोनों के रूप में उल्लेख है। 24 यक्ष और यक्षियों में से कई के नाम एवं उनकी लाक्षणिक विशेषताएँ वैदिक-पौराणिक और कभी-कभी बौद्ध देवताओं से मेल खाती हैं। वैदिक-पौराणिक देवों से प्रभावित यक्ष-यक्षी तीन कोटि में विभाज्य हैं। पहली कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी हैं, जिनके मूल देवता आपस में किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं हैं। अधिकांश यक्ष-यक्षी इसी कोटि के हैं। दूसरी कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी हैं, जो मूल रूप से आपस में भी सम्बन्धित हैं, जैसे श्रेयांसनाथ के ईश्वर यक्ष और गौरी यक्षी। तीसरी कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं, जिनमें यक्ष एक और यक्षी दूसरे स्वतन्त्र सम्प्रदाय के देवता के समान हैं।

लगभग छठी शती ई. में सर्वप्रथम सर्वानुभूति एवं अम्बिका को अकोटा में मूर्त अभिव्यक्ति मिली। इसके बाद धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ बनीं। लगभग 10वीं शती ई. में अन्य यक्ष-यक्षियों की भी मूर्तियाँ बनने लगीं। छठी शती ई. में जिन मूर्तियों की पीठिका पर और लगभग नौवीं शती ई. में स्वतन्त्र मूर्तियों के रूप में यक्ष-यक्षियों का निरूपण प्रारम्भ हुआ। छठी से नौवीं शती ई. के मध्य की ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं कुछ अन्य जिनों की मूर्तियों में यक्ष-यक्षी मुख्यतः सर्वानुभूति (कुबेर) एवं अम्बिका ही हैं। 10वीं शती ई. से सर्वानुभूति एवं अम्बिका के स्थान

पर पारम्परिक या स्वतन्त्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी का जिनों के साथ निरूपण प्रारम्भ हुआ, जिसके अनेक उदाहरण देवगढ़, ग्यारसपुर, खजुराहो, एलोरा, श्रवणबेलगोल, राज्य संग्रहालय, लखनऊ एवं अन्य स्थानों पर हैं। ऋषभनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के साथ क्रमशः गोमुख-चक्रेश्वरी, सर्वानुभूति-अम्बिका तथा धरणेन्द्र-पद्मावती यक्ष-यक्षी का नियमित निरूपण ही जैनकला में सर्वाधिक लोकप्रिय था। यक्षियों में चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती (चित्र सं. 9-10) की ही सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ जैन पुरास्थलों पर बनी।

शलाकापुरुषों में से केवल बलराम, कृष्ण, राम और भरत (चक्रवर्ती-रूप में न होकर मुनि-रूप में) की ही मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं। 10वीं-11वीं शती ई. की बलराम और वासुदेव कृष्ण के अंकन के उदाहरण देवगढ़ (चित्र सं. 3), खजुराहो, मथुरा और माउण्ट आबू से मिले हैं। बलराम खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर (950-70 ई.) की भित्ति पर स्वतन्त्र रूप में और नेमिनाथ मूर्ति परिकर में वासुदेव कृष्ण के साथ मथुरा और देवगढ़ के उदाहरणों में रूपायित हुए हैं।

श्री लक्ष्मी और सरस्वती के उल्लेख प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में हैं। सरस्वती का अंकन कुषाण काल में (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. 24, 132 ई.) और श्री लक्ष्मी का अंकन 10वीं शती ई. में हुआ। भारत में सरस्वती की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति भी जैन परम्परा की कुषाण कालीन सरस्वती मूर्ति है। सरस्वती और लक्ष्मी (श्री) की मनोज्ञ मूर्तियाँ मथुरा के अतिरिक्त देवगढ़, खजुराहो, विमल वसही (चित्र सं. 8), लूण वसही और श्रवणबेलगोल से मिली हैं। पुस्तकधारिणी सरस्वती की कलात्मक दृष्टि से सुन्दरतम मूर्तियाँ बीकानेर के समीप पल्लू से मिली हैं। 10वीं शती ई. से 14 या 16 मांगलिक स्वप्न समूह में भी श्री (लक्ष्मी) का गजलक्ष्मी रूप में अंकन देवगढ़, खजुराहो एवं कुम्भारिया के जैन मन्दिरों के प्रवेशद्वारों के मेहराबों पर देखा जा सकता है। समृद्धि की देवी लक्ष्मी और ज्ञान की देवी सरस्वती के पूजन और मूर्ति निर्माण की परम्परा अखिल भारतीय परम्परा का वैशिष्ट्य है। जिसे जैनधर्म और कला में भी जीवन के दो मुख्य और अनिवार्य तत्त्वों का रूपांकन मानना चाहिए।

10वीं से 12वीं शती ई. के मध्य शान्तिदेवी, गणेश (गजमुख, मोदकपात्र युक्त), इन्द्र, ब्रह्मशान्ति एवं कपर्दि यक्षों की मूर्तियाँ भी जैन पुरास्थलों पर बनीं। जैन परम्परा में गणेश के लक्षण पूर्णतः वैदिक-पौराणिक परम्परा से प्रभावित हैं। गणेश की स्वतन्त्र मूर्तियाँ ओसिया (जोधपुर, राजस्थान) की 11वीं शती ई. की जैन देवकुलिकाओं, कुम्भारिया के नेमिनाथ मन्दिर (12 शती ई.) और नडलई के जैन मन्दिर पर उकेरी हैं। ब्रह्मशान्ति एवं कपर्दि यक्षों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ गुजरात के श्वेताम्बर मन्दिरों पर उत्कीर्ण हैं, जिनके स्वरूप क्रमशः ब्रह्मा और शिव का स्मरण कराते हैं।²⁷

जिनों और यक्ष-यक्षियों के बाद महाविद्याओं की जैन देवकुल में सर्वाधिक प्रतिष्ठा

मिली। स्थानांगसूत्र, सूत्रकृतांग, नायाधम्मकहाओ और पउमचरिय जैसे प्रारम्भिक एवं हरिवंशपुराण, वसुदेवहिण्डी, आदिपुराण और त्रिषष्टिशलाकापुरुष जैसे परवर्ती ग्रन्थों (छठी से 12वीं शती ई.) में विद्याओं के अनेक उल्लेख हैं।¹⁸ जैन ग्रन्थों में वर्णित अनेक विद्याओं में से 16 प्रमुख विद्याओं को लेकर लगभग नौवीं शती ई. में 16 महाविद्याओं की सूची नियत हुई और नौवीं से 12वीं शती ई. के मध्य इन्हीं 16 विद्यादेवियों के स्वतन्त्र लक्षण निर्धारित हुए। शिल्प में भी तदनुरूप इनकी मूर्तियाँ बनीं। विद्याओं की प्राचीनतम मूर्तियाँ ओसियाँ के महावीर मन्दिर (ल. आठवीं शती ई.) से मिली हैं। नौवीं से 13वीं शती ई. के मध्य गुजरात और राजस्थान के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों (कुम्भारिया, देलवाड़ा तारंगा, जालोर) में विद्याओं की अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई। 16 महाविद्याओं के सामूहिक शिल्पांकन के उदाहरण क्रमशः कुम्भारिया के शान्तिनाथ मन्दिर (11वीं शती ई.), आबू के विमल वसही (दो उदाहरण : रंगमण्डप और देवकुलिका 41, 12वीं शती ई.) एवं लूण वसही (रंगमण्डप, 1230 ई.) से मिले हैं। दिगम्बर पुरास्थलों पर विद्यादेवियों के रूपायन का एकमात्र उदाहरण खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर (11वीं शती ई.) की बाह्य भित्ति की वीथिकाओं में उत्कीर्ण है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली को उनकी गहन साधना और त्याग के कारण विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के ग्रन्थों में भरत और बाहुबली के युद्ध और बाहुबली की कठोर तपश्चर्या के विस्तृत उल्लेख हैं। सुनन्दा पुत्र बाहुबली को दक्षिण भारतीय परम्परा में 'गोम्मट या गोम्पटेश्वर' नाम से जाना जाता है। केवली होते हुए भी बाहुबली को जैन कला में साधना, त्याग और अहिंसा का प्रतीक होने के कारण जिनों के समान प्रतिष्ठा मिली। अग्रज भरत चक्रवर्ती पर विजय के अन्तिम क्षणों में सब-कुछ त्यागने का निर्णय लेकर साधना के मार्ग पर चलने वाले बाहुबली को जैनकला में श्रद्धा का शीर्षस्थ स्थान प्रदान किया गया, फलतः विशालतम मूर्तियाँ बाहुबली की बनीं। शिल्प में बाहुबली का दिगम्बर स्थलों पर सर्वाधिक अंकन मिलता है और उसमें भी कर्नाटक के दिगम्बर स्थलों पर। दिगम्बर स्थलों पर छठी-सातवीं शती ई. में बाहुबली का निरूपण प्रारम्भ हो गया, जिसके उदाहरण वादामी एवं अयहोल की गुफा मूर्तियों के रूप में मिलते हैं।

दोनों ही परम्पराओं की मूर्तियों में बाहुबली को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। श्वेताम्बर स्थलों पर बाहुबली धोती पहने दिखाये गये हैं, जबकि दिगम्बर स्थलों पर निर्वस्त्र हैं। बाहुबली की मूर्तियों में सामान्यतया हाथों और पैरों में लता-वल्लरियाँ लिपटी हैं, साथ ही शरीर पर सर्प, वृश्चिक और छिपकली आदि का भी अंकन देवगढ़ एवं खजुराहो की मूर्तियों में हुआ है। एलोरा, श्रवणबेलगोल (चित्र सं. 7), कारकल, वेणूर की मूर्तियों में समीप ही वाल्मीक से निकलते सर्पों का उकेरन हुआ है। ये विशेषताएँ बाहुबली की गहन तपस्या के भाव को मूर्तमान करती हैं। श्रवणबेलगोल

(हसन, कर्नाटक) की 58 फीट ऊँची गोम्मटेश्वर बाहुबली की महाप्रमाण शैलोत्कीर्ण मूर्ति गहन साधना और त्याग का जीवन्त प्रतीक है। यह मूर्ति जैनकला के साथ ही भारतीय कला का भी अप्रतिम उदाहरण है। प्रकृति और विषधर जीवों के साहचर्य में बाहुबली की निश्चल साधना सहृदय मनुष्य और प्रकृति के सह-अस्तित्व का वर्तमान के सन्दर्भ में अनुकरणीय उदाहरण भी है।

देवगढ़, सिरोन, खजुराहो एवं बिल्हारी की दिगम्बर परम्परा की मूर्तियों में आदिपुराण (खण्ड 2, 36.183) और हरिवंशपुराण (11.101) के विवरणों के अनुरूप दोनों पार्श्वों में सर्वालंकृत सुदर्शना दो विद्याधरियों को बाहुबली के शरीर से लिपटी माधवी-लताओं को हटाते हुए दिखाया गया है। खजुराहो और देवगढ़ की दो बाहुबली मूर्तियों (12वीं शती ई.) में जिन के समान ही उनके साथ अष्ट-प्रतिहार्य सहित यक्ष-यक्षी को भी निरूपित किया गया है।¹⁹ देवगढ़ की 11वीं शती ई. की एक त्रितीर्थी मूर्ति में एक ही पीठिका पर दो जिनों के साथ समान आकार-प्रकार वाली तीसरी मूर्ति बाहुबली की है। ये मूर्तियाँ जैनकला का वैशिष्ट्य प्रकट करती हैं, जिसमें तीर्थंकर न होते हुए भी त्याग-साधना का श्रेष्ठ प्रतीक होने के कारण बाहुबली को जिनों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की गयी²⁰।

त्याग, साधना और अहिंसा का श्रेयस् —मार्ग जैन कला में सर्वदा दृढ़ता और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत हुआ है। इसका उदाहरण न केवल बुद्ध एवं वैदिक-पौराणिक परम्परा के शिव, विष्णु, शक्ति जैसे देवी-देवताओं की मूर्तियों में प्रदर्शित अभय एवं वरद-मुद्रा के स्थान पर वीतरागी तीर्थंकरों की आध्यात्मिक साधना की मुद्राओं (ध्यान एवं कायोत्सर्ग) और कायोत्सर्ग-मुद्रा में बनी लता-वल्लरियों से वेष्टित बाहुबली की मूर्तियों में द्रष्टव्य है, वरन् भरत मुनि की मूर्तियों से भी यही भाव व्यक्त हुआ है। ध्यातव्य है कि भरत की मूर्ति चक्रवर्ती शासक के रूप में नहीं बनी। भरत ने जब चक्रवर्ती पद का त्याग कर दीक्षा ली और साधना के मार्ग पर चले, तभी उपास्यदेव बने और इसी कारण जैन कला में भरत की मूर्तियाँ मुनि रूप में बनीं, जो जैनकला का वैशिष्ट्य होने के साथ ही भारतीय कला एवं चिन्तन का भी विलक्षण उदाहरण है। देवगढ़ (उ.प्र.), शत्रुंजय (गुजरात) एवं श्रवणबेलगोल (कर्नाटक) से प्राप्त मूर्तियों में भरत मुनि को कायोत्सर्ग-मुद्रा में साधनारत दिखाया गया है और उनकी मूर्ति की पीठिका पर चक्रवर्ती पद के अभिलक्षण, जिनका दीक्षा के पूर्व भरत ने त्याग किया था, उत्कीर्ण हैं। इनमें नवनिधियों (कुबेर सहित नवघट) एवं 14 रत्नों (खड्ग, खेटक, अश्व, गज आदि; महापुराण, खण्ड एक, भाग दो, 37, 73-74; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, 1.4.708-712) का अंकन एक चक्रवर्ती के भौतिक जगत् को सत्ता और समृद्धि के सम्पूर्ण त्याग को व्यक्त करता है। ऐसे त्याग के बाद ही भारतीय परम्परा में कोई भी उपास्य या आराध्यदेव के रूप में प्रतिष्ठित होता है। भारतीय संस्कृति के मर्म का इससे

अधिक सटीक अंकन और क्या हो सकता है, इस प्रकार जैन कला में बाहुबली एवं भरतमुनि की मूर्तियाँ भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की जीवन्त अभिव्यक्ति हैं।

जैनकला में स्थापत्य एवं मूर्ति दोनों ही विधाओं में कलात्मक सौन्दर्य के साथ ही अर्धपूर्ण दार्शनिक चिन्तन का भाव भी सर्वत्र प्रत्यक्ष हुआ है। भारतीय स्थापत्य की परम्परा में जैन मन्दिर भी प्रतीकात्मक रूप से सूक्ष्म-जगत् की अभिव्यक्ति का माध्यम रहे हैं, जिन पर चराचर जगत् की समवेत उपस्थिति भारतीय चिन्तन के समष्टि भाव को उजागर करती हैं। जैन मन्दिरों पर एक ओर वीतरागी तीर्थकरों और त्याग एवं साधना के प्रतीक बाहुबली की मूर्तियाँ उकेरी गयीं, तो दूसरी ओर वैदिक-पौराणिक परम्परा के राम, वासुदेव-कृष्ण, बलराम, शिव, विष्णु, ब्रह्मा और कामदेव का शिल्पांकन हुआ, जो जैनचिन्तन के समन्वय-भाव को मूर्तमान करते हैं। तीर्थकर की मूर्तियों में लांछन के रूप में पशु-पक्षी जगत और शीर्ष भाग में सांकेतिक रूप से अशोक-वृक्ष की उपस्थिति तथा कायोत्सर्ग में साधनारत बाहुबली के साथ शरीर पर लता-वल्लरियों एवं सर्प तथा वृश्चिक आदि का अंकन जैनकला में वनस्पति और पशु जगत् यानी पर्यावरण के महत्त्व के प्रति समझ और सरोकार को उजागर करता है। तीर्थकरों एवं बाहुबली की मूर्तियों में अलौकिक एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, जो उपासकों को शान्ति की प्रेरणा देते हैं। बृहत्संहिता, मानसार एवं अन्य ग्रन्थों में तीर्थकर मूर्तियों के 'रूपवान, मनोहर एवं सुरूप' होने का भी उल्लेख हुआ है। ऐसा भी नहीं था कि जैनकला में शृंगार या भौतिक जगत् के सौन्दर्य को महत्त्व ही नहीं दिया गया। जैनकला में यक्ष-यक्षी, विद्यादेवियों और अप्सराओं, नृत्यांगनाओं तथा शृंगार एवं प्रसाधिकाओं और काम-शिल्प के उकेरन में लौकिक सौन्दर्य को अनुभूति के यथार्थ धरातल पर व्यक्त किया गया है, जिसमें किसी का भी मन मोह लेने की शक्ति है और जो श्रावक-श्राविका या गृहस्थ जीवन के भौतिक अनुराग की व्यावहारिक अनिवार्यता को रेखांकित करते हैं।¹ वस्तुतः जैनकला में आध्यात्मिक और लौकिक सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय व्यक्त हुआ है, जो जैनकला का वैशिष्ट्य होने के साथ ही भारतीय कला की मूलधारा की भी अभिव्यक्ति है। यही विशेषता जैनकला की लोक-व्याप्ति का आधार भी रही है।

सन्दर्भ

1. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 1, कोलकाता, 1892, लेख सं. 1, 2, 7, 21, 29; खण्ड 2, कोलकाता, 1894, लेख सं. 5, 16, 18, 39.
2. डॉ.आर. भण्डारकर, आर्किअलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, 1908-09; कोलकाता, 1912, पृ. 108; पी.सी. नाहर, जैन इन्फ्रीफ़ेन्स, भाग-1, कोलकाता, 1918 पृ. 192-94; एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड-11, पृ. 52-54; विजयमूर्ति (सं.), जैन शिलालेख

- संग्रह, भाग-3, बम्बई, 1957, पृ. 79, 108; परमानन्द जैन शास्त्री, "मध्य भारत का जैनपुरातत्त्व", अनेकान्त, वर्ष 19, अंक 1-2, पृ. 57.
3. द्रष्टव्य, जान मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, खण्ड-1, लन्दन, 1931, फलक 12, चित्र, 13, 14, 18, 19, 22 पृ. 45 फलक 10.
 4. आर.पो. चन्दा, "सिन्धु फाइव थारुखण्ड इसस एगो", माडर्न रिव्यू, सं. 52, अंक. 2, अगस्त 1932, पृ. 151-160; टी.एन. रामचन्द्रन, "हड़प्पा एण्ड जैनियम (हिन्दी अनुवाद)", अनेकान्त, वर्ष 14, जनवरी, 1957, पृ. 157-161, यू.पी. शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, वाराणसी, 1956, पृ 3-4.
 5. द्रष्टव्य के.पी. जायसवाल, 'जैन इमेजेज ऑव मौर्य पीरियड', जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड 23, भाग 1, 1937, पृ. 130-32; ए. बनर्जी एवं शास्त्री "मौर्यन स्कल्पचर्स फ्राम लोहानीपुर, पटना", जर्नल ऑफ बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड 26, भाग 2, 1940, पृ. 120-24
 6. के.पी. जायसवाल, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 131
 7. द्रष्टव्य आर.के. मुखर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य ऐन्ड हिज टाइम्स, दिल्ली, 1966, पृ. 39-41
 8. आर.के. मुखर्जी, अशोक, दिल्ली, 1974, पृ. 54-55
 9. परिशिष्टपूर्व, 9.54; रोमिला, थापर, अशोक एण्ड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्यज, आक्सफोर्ड, 1963, पृ. 187
 10. डी.सी. सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड 1, कोलकाता, 1965 पृ. 213-21
 11. यू.पी. शाह, "ऐन अर्ली ब्रोज इमेज ऑव पार्श्वनाथ इन दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, मुम्बई", बुलेटिन प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, वेस्टर्न इण्डिया, अंक 3, 1952-53, पृ. 63-65; ए.के. प्रसाद, "जैन ब्रोजेज इन दि पटना म्यूजियम", महावीर जैन विद्यालय गोलडेन जुबिली वाल्यूम, मुम्बई, 1968, पृ. 275-80
 12. आर.सी. शर्मा, "प्रि कनिष्क बुद्धिस्ट आइकनोग्राफी एट मथुरा", आर्किअलॉजिकल कांग्रेस एण्ड सेमिनार पेपर्स, नागपुर 1972, पृ. 193-94
 13. श्रीवत्स, धर्मचक्र, स्वस्तिक, मत्स्ययुगल, त्रिरत्न।
 14. जी. व्यूर, "स्पेसिमेन्स ऑव जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा", एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-1, कोलकाता, 1894, पृ. 314-18
 15. पउमचरिय, 3-122, 26
 16. आर.सी. अग्रवाल, "न्यूली डिस्कवर्ड स्कल्पचर्स फ्राम विदिशा," जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, खण्ड 18, अंक 3 मार्च, 1969, पृ. 252-53
 17. हरिवंशपुराण, 29.1-5 (सं. पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थांक 27, वाराणसी, 1962, पृ. 378।
 18. हरिवंशपुराण, 29.9-10
 19. 63 शताकापुरुषों की सूची में 24 जिनों के अतिरिक्त 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं।
 20. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 2, कोलकाता, 1894, पृ. 202-203, 210
 21. द्रष्टव्य, यू.पी. शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, वाराणसी, 1955, पृ. 94-95; सुधोन डे, "चौमुखी ए सिम्बॉलिक जैन आर्ट", जैन जर्नल, खण्ड 6, अंक 1, जुलाई 1971, पृ. 27; बी.एन.

- श्रीवास्तव, “सम इन्टरेस्टिंग स्कल्पचर्स इन दि स्टेट म्यूजियम, लखनऊ”, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक 9, जून 1972, पृ. 45
22. द्रष्टव्य मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, “सर्वतोभद्रिका जिन मूर्तियाँ या जिन चौमुखी” सम्बोधि, खण्ड 8, अंक 1-4, अप्रैल 79-जनवरी 80, पृ. 1-7
23. पी.के. अग्रवाल, “दि ट्रिपल यक्ष स्टैचू फ्राम राजघाट”, छवि, (सं. आनन्द कृष्ण) वाराणसी 1971, पृ. 340-42
24. यो.एस. अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी पृ. 336 व 343
25. यू.पी. शाह, “यक्षज वरशिप इन अर्ली लिटरेचर”, जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, खण्ड 3, अंक 1, सितम्बर, 1953, पृ. 61-62
26. जैन ग्रन्थों के आधार पर 24 यक्ष एवं यक्षियों के नाम निम्नलिखित हैं : गोमुख-चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा), महायक्ष-अजिता (रोहिणी), त्रिमुख-दुरितारि (प्रज्ञप्ति), यक्षेश्वर (या ईश्वर)—कालिका (या वज्रमूखला), तुम्बरु (या तुम्बर), महाकाली (पुरुषदत्ता), कुसुम (या पुष्प), अच्युता (या मनोवैगा), मातंग (या वरनन्दि), शान्ता (या काली), विजय (या श्याम), भृकुटी (या ज्वालामालिनी), अजित-सुतारा (या महाकाली), ब्रह्म-अशोका (या मानवी), ईश्वर-मानवी (या गौरी), कुमार-चण्डा (या गान्धारी), षण्मुख (चतुर्मुख), विदिता (या वैरोटी), पाताल-अंकुशा (या अनन्तमती), किन्नर-कन्दर्पा (या मानसी), गरुड-निर्वाणी (या महामानवी), गन्धर्व-बला (या जया), यक्षेन्द्र (या खेन्द्र), धारणी (या तारावती), कुबेर (या यक्षेश), वैरोद्या (या अपराजिता), वरुण-नरदत्ता (बहुरूपिणी), भृकुटी-गंधारी (या चामुण्डा), गोमेध-अम्बिका (आम्ना या कुष्माडिनी), पार्ष्व (या धरण), पद्मावती एवं मातंग—सिद्धायिका (या सिद्धायिनी) ।
27. यू.पी. शाह, “ब्रह्मशान्ति एण्ड कपर्दि यक्षज”, जर्नल एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, खण्ड 7, अंक 1, मार्च 1958, पृ. 59-72
28. द्रष्टव्य, यू.पी. शाह, “आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज”, जर्नल इण्डियन सोसायटी ऑव ओरियण्टल आर्ट, खण्ड 15, 1947, पृ. 114-77; मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी “दि आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन महाविद्याज ऐज रिप्रेजेंटेटिव इन दि सीलिंग ऑव दि शान्तिनाथ टेम्पल, कुम्भारिया”, सम्बोधि (अहमदाबाद), खण्ड 1, अंक 3, अक्टूबर 1973, पृ. 15-22
29. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, सागरमल जैन तथा मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबली, वाराणसी, 1981
30. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, एवं शान्ति स्वरूप सिन्हा, जैन कला तीर्थ : देवगढ़, वाराणसी, 2002 ई.
31. पू.नि., पृ. 109-112
32. मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी एवं शान्ति स्वरूप सिन्हा, जैन आर्ट एण्ड ऐस्थेटिक्स, नई दिल्ली, 2011, पृ. 178-199

संगीत

प्रो. वृषभप्रसाद जैन

सम्पूर्ण भारतीय संगीत में नाद को प्राण माना गया है। जैन संगीत-शास्त्रकार भी संगीत के प्राण के रूप में नाद को ही मानते हैं, पर खास बात यह है कि ये इसे आकाश या शब्द का गुण न मानकर पुद्गल का गुण मानते हैं और पुद्गलों को परमाणु-रूप में देखते हैं। जो गुण सहित पूरी तरह गल जाए तथा जो पूरणधर्म से भी युक्त हो, उसे पुद्गल माना गया है। जैन साहित्य में नाद कला का आकार आधे चन्द्रमा के जैसा माना गया है और वह आधा चन्द्रमा सफेद रंग वाला है तथा उस अर्द्धचन्द्र पर लगने वाला बिन्दु नीले रंग का है।

नादश्चन्द्रसमाकारो बिन्दुनीलसमप्रभः ॥२॥

—ऋषिमंडलस्तोत्र

यह नाद किसी और के द्वारा सुशोभित नहीं होता, बल्कि वह स्वयं सुशोभित होता है, इसीलिए यह नाद-स्वर कहलाता है। यह नाद-स्वर ही गाए और सुने जाने वाले पद का आधार है और वह पद अर्थ को सम्प्रेषित करता है। संगीत को सभी विधाओं में भी इस नाद का ही मूल-आधार है। इस नाद के (संगीत के) मधुर आस्वादन से परितृप्त होकर देवगण सुखपूर्वक जीवन जीते हैं। यह नाद परमपद देने वाला है और इससे परमदेव जिनेश्वर की आराधना की जाती है।

सम्पूर्ण भारतीय परम्परा यह मानती है कि मनुष्य को मनुष्यता व देवों के देवत्व के साथ संगीत भीतर तक जुड़ा है। जैन परम्परा में संगीत का उल्लेख हमें निम्न रूपों में मिलता है—

1. संगीत-शास्त्र के मूल ग्रन्थों के रूप में;
2. साहित्य के ग्रन्थों में जिन काव्य-रूपों का प्रयोग हुआ है, सांगीतिक प्रयोग के रूप में उन काव्य-रूपों में राग-रागिनियों के उल्लेख के साथ;
3. मन्दिर और राजमहलों को दीवारों पर अंकित मुद्राओं के रूप में;
4. जैनधर्म से जुड़े हुए सांस्कृतिक उत्सवों में।

इन सभी रूपों में जैन संगीत का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि जैन-संगीत शान्त, निर्वेद एवं भक्ति-प्रधान है। भाव यह है कि वहाँ शृंगार भी रूप-दर्शन या प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि वात्सल्य में या भक्ति में रमने के लिए है; ठीक वैसे ही युद्ध युद्ध के लिए

नहीं, शान्ति की स्थापना के लिए है। शास्त्र एवं प्रयोग दोनों दृष्टियों से जैन संगीत की भारतीय साहित्य और कला जगत् को महत्त्वपूर्ण देन है। शास्त्र की दृष्टि से तीन रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं— 1. आचार्य पार्श्वदेव का 'संगीत-समयसार', 2. आचार्य सुधाकलश का 'संगीत-सारोपनिषद्-सार', तथा 3. मंडन का 'संगीत-मंडन'। संगीत के उपर्युक्त तीनों शास्त्रीय-सन्दर्भों के अतिरिक्त आगम, दर्शन एवं साहित्य आदि के जैन ग्रन्थों में भी संगीत के महत्त्वपूर्ण उद्धरण व उल्लेख मिलते हैं। रायपसेणीय सुत में भगवान महावीर स्वामी की वन्दना करते हुए आचार्य सूर्याभदेव ने बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटकों का उल्लेख किया है। कल्पसूत्र टीका व कलिका पुराण में चौसठ कलाओं का वर्णन है तथा इन्हें महिला गुण कहा गया है। उबवाइस सूत्र में चम्पा नगरी का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ नटों, नर्तकों, संगीतज्ञों तथा लास्य नृत्य करने वाली नर्तकियों का आवागमन होता रहता था। ऐसा ही उल्लेख औपपत्तिक सूत्र में भी है। राजप्रश्नीय आगम में महावीर स्वामी के जीवन-चरित को नृत्य-प्रधान नाट्य के रूप में अभिनीत किये जाने का उल्लेख है।

जैन आगमों में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, कौशाम्बी और मिथिला आदि भारत के प्राचीन नगरों तथा वहाँ के नागरीय जीवन का विस्तार से वर्णन है। इन वर्णनों में अनेक प्रकार की कलाओं, विद्याओं और मनोरंजनों का भी उल्लेख है। उबवाइस सूत्र में लिखा है कि चम्पानगरी में नटों, नर्तकों, लास्य नृत्य करने वाली नर्तकियों और तानपुरा वीणा आदि वाद्यों के बजाने वाले कलाकारों का आना-जाना लगा रहता था।

ठाणांग सुत, रायपसेणीय तथा कल्पसूत्र में, अनुयोगद्वार-सूत्र में संगीत-संबन्धी सामग्री काफी मात्रा में उल्लिखित है। स्वर, गीत, मूर्च्छना आदि गन्धर्व के विषयों का सूत्र-बद्ध विवरण वहाँ है। यह भी उल्लेख है कि संगीत अथवा गन्धर्व-शास्त्र उन विषयों में से है, जिनका परिवर्तन भगवान महावीर के द्वारा हुआ। इन विषयों का सैद्धान्तिक विवेचन प्राचीन ग्रन्थों में है। जैन परम्परा के अनुसार पूर्व ग्रन्थ जैनों की प्राचीनतम परम्परा के वाहक हैं तथा यह परम्परा भगवान महावीर तक पहुँचती है। जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राचीन ललित कलाओं के अन्तर्गत जिन 72 अथवा 64 कलाओं की गणना पाई जाती है, इनका अध्ययन क्षत्रियों तथा महिलाओं के द्वारा किया जाता था। लौकिक विधाओं तथा कलाओं के अन्तर्गत गाथा, आख्यान तथा कथाओं की शिक्षा इस युग में पारम्परिक रूप से प्रदान की जाती रही है। रायपसेणीय के अनुसार आचार्यों के तीन वर्ग थे— 1. कलायारिय अर्थात् कलाचार्य, 2. सिम्पायरिय अर्थात् शिल्पाचार्य, तथा 3. धम्मायरिय अर्थात् धर्माचार्य। आचार्यों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। संगीत-कुशल गणिकाओं का राजसभा में सम्मान किया जाता था। चम्पा नगरी की गणिकाएँ संगीत तथा वैषिकी कलाओं में पारंगत बतायी गयी हैं, और इन्हें राजकोष से पर्याप्त वेतन प्रदान किया जाता था। गणिकाओं के अतिरिक्त नृत्य का व्यवसाय करने वाला निट्टयाव

अर्थात् नर्तकियों का विशिष्ट वर्ग था। होली-जैसे उत्सवों पर निम्न जाति के व्यक्ति नगर मार्गों पर समूह-गान नृत्यादि करते थे।। उत्तराध्ययन की टीका में वाराणसी के दो मातंगपुत्रों की कथा आई है, जो गायक तथा नर्तकों की टोलियाँ बनाकर सारे नगर में घूमते-फिरते थे।

भारतीय जनता का लौकिक व्यवहार सदैव धर्म से अनुप्राणित रहा है। संगीतकला भी धार्मिक अभिव्यंजना से अटूटी न रह सकी। जैन आगमों का जन-जन में प्रचार करने के लिए चलित नामक गीतों का उपयोग किया जाता था। महावीर के जीवन-दर्शन सम्बन्धी नाटकों का अभिनय किया जाता था, ऐसे भी कुछ उल्लेख हैं कि जिसमें जैन मुनि भी भूमिकाभिनय करते थे। पिंडनिज्जुति में पाटलिपुत्र में अभिनीत रघुवाल नामक नाटक का उल्लेख है, जिसका अभिनय आशाढभूह नामक जैनमुनि ने किया था। नृत्य नाट्य के अन्तर्गत द्रुय (द्रुत), विलम्बिय (विलम्बित), द्रुयविलम्बिय (द्रुत-विलम्बित) अन्निय (अचित्त), आरमद्र, पसारिय, भन्तसभान्त, उत्पयपवत इत्यादि अंगों का उल्लेख जैन ग्रन्थों से प्राप्त होता है। इनमें से कुछ नृत्यालयों के, कुछ अभिनय-प्रकारों के तथा कुछ नृत्य-प्रकारों के निदर्शक प्रतीत होते हैं।

जैन ग्रन्थों में वाद्य

वियाहपण्णट्ठित्त, रायापसेणीय, जीवाभिगम, जंबुदीवपण्णत्ति, अनुयोगसूत्र आदि ग्रन्थों में संगीत के तत्कालीन प्राचीन वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। रायपसेणीय सुत्त सं. 64 में तुरीय अर्थात् तूर्य के अन्तर्गत निम्न वाद्यों का उल्लेख मिलता है— 1. संख (शंख), 2. सिंग (शुंग), 3. शंखिया, 4. खरमुही, 5. पेया, 6. पीरिपिरिया, 7. पणव, 8. पडह (पटह) 9. भम्मा अथवा ढक्का, 10. होरम्भा अथवा महाढक्का, 11. भेरी, 12. झल्लरी, 13. दुन्दुहि अर्थात् दुन्दुभि, 14. मुरय् अर्थात् मुरज, 15. मुइंग अर्थात् मृदंग, 16. नन्दीमुइंग अर्थात् नन्दी मृदंग, 17. आलिंग अर्थात् आलिंग्य, 18. कुटुम्ब अथवा कस्तुम्ब, 19. गोमुही अर्थात् गोमुखी, 20. मद्दल अर्थात् मर्दल, 21. वीणा, 22. विपंची, 23. वल्लकी, 24. महती, 25. कच्छभी अथवा कच्छपी, 26. चित्तवीणा अर्थात् चित्रावीणा, 27. बद्धीसा अथवा चर्चसा, 28. सुघोशा, 29. नन्दीघोशा, 30. भामरी अर्थात् भ्रमरी, 31. छम्भामरी, 32. परवायणी अर्थात् परिवादिनी, 33. तूणा अर्थात् तुर्ण, 34. तुम्बवीणा, 35. आमोट अर्थात् आमोद, 36. झंझा, 37. नकुल, 38. मुगण्ड अर्थात् मुकुन्द, 39. हुडुकी अर्थात् हुडुका, 40. विचिक्की, 41. करडा अथवा करटी, 42. डिंडिम, 43. किणिय अर्थात् किणित, 44. कडम्ब अथवा कन्डा, 45. इडरिया अर्थात् दर्दरक, 46. डडुरगा अर्थात् दर्दरिका, 47. कलसिया अर्थात् कलशिका, 48. मड्डय, 49. तल, 50. ताल, 51. कंसताल अर्थात् कांस्यताल, 52. रिंगिरिसिया अथवा सुसभारिका, 53. लट्टिया, 54. मगरिका अथवा मंगरिया, 55. सुंसुमारिका अथवा शुशुमारिका, 56. वंस अर्थात् वंशा,

संगीत :: 705

57. वेडु अथवा वेणु, 58. वाली, 59. परिल्ली अथवा परिली, 60. वड्डगा अथवा बड्डका। वृहत्कल्प की भाष्यपीठिका में निम्न बारह वाद्यों के नाम आए हैं— 1. भम्मा, 2. मुकुन्द, 3. पदल, 4. बडम्बन अथवा कडव, 5. सल्लरी 6. हुडुक, 7. कंसाल, 8. काहल, 9. तलिमा, 10. वंस, 11. पणव, 12. संख। हरिभद्र की ई. 11 की आवश्यक वृत्ति में निम्न चर्मवाद्यों का उल्लेख है— भम्मा, मुकुन्द, करटिका, तलिमा इत्यादि। सूयगडंग में निम्न दो वाद्यों का उल्लेख है— 1. कुक्षय वीणा 2. वणुपलासीय वाद्य। इनमें से दूसरा वाद्य वंश के काष्ठ से निर्मित किया जाता था और वाम हस्त में पकड़कर फूत्कार के सहारे दक्षिण हाथ की अंगुलियों से बजाया जाता था। वृहत्कल्प भाष्य में कान्हवासुदेव की चतुर्विध भेरी का उल्लेख है— 1. कोमुदिका, 2. संगामिया, 3. दुम्भुइया, 4. असिवोपसमिनी। इन भेरियों को अलौकिक गुणों से युक्त माना जाता था। असिवोपसमिनी के बजाए जाने पर रोग निवारण होता है, ऐसी लौकिक मान्यता थी। इन भेरियों का निर्माण प्रायः चन्दन के काष्ठ से किया जाता था, शंख का उपयोग पर्यटक साधु महात्माओं के द्वारा किया जाता था। गंगातीर निवास करने वाले वानप्रस्थ तावस अर्थात् तापस शंखधमग तथा कूलधमग कहलाते थे। लौकिक मान्यता में शंख, भेरी तथा नन्दीतूर का वादन शुभाशंसक माना जाता था। भेरी वाद्य का उपयोग जनता को किसी घटना की सूचना देने के लिए लोकोत्सवों पर तथा युद्ध के अवसर पर किया जाता था।

जैन काल में ब्राह्मणों के महत्त्व को कम करने तथा वर्णाश्रमों के बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न किया जाने लगा। फलस्वरूप संगीत पर ब्राह्मणों का जो एक-मात्र अधिकार था, वह अब सर्व-साधारण के हाथों में पहुँच गया। शूद्र एवं अन्य पिछड़े वर्ग के लोगों में भी कलात्मक चेतना का आविर्भाव होने लगा। संगीत की नींव महावीर स्वामी के सिद्धान्तों लगभग 600 वर्ष ई.पू. के सिद्धान्तों यथा—सत्यता, पावनता, सुन्दरता, अहिंसा और अस्तेय पर रखी गई। इसप्रकार संगीत के धरातल को पुनः ऊँचा बनाया गया।

इस युग में वीणा का प्रचार प्रगतिपूर्ण था। वीणा के द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया गया। परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, नकुली, कच्छपि इत्यादि प्राचीन वीणाएँ प्रचार में थीं। इस काल में राज्य की ओर से संगीत की प्रतियोगिताएँ भी प्रारंभ की गई थीं, जिनमें भाग लेने के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं था। विजेताओं को पुरस्कृत भी किया जाता था।

ऐसा भी उल्लेख है कि जैन युग में संगीत ने अपने पुराने जातीय बन्धन को तोड़ दिया था। वह सब के लिए साधना का मुख्य विषय बन गया था। उन पिछड़े समझे जाने वाले वर्ग के लोगों ने जो अब तक संगीत के ज्ञान से वंचित रखे जाते थे, पूरा लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया था।

पशु की तृप्ति जैसे आहार लेने और पानी पीने मात्र से हो जाती है, मनुष्य की तृप्ति उतने से नहीं होती है और यदि उतने से होती होती, तो मनुष्य भी पशु से ऊपर न उठा

हुआ होता। भाव यह है कि मनुष्य भी पशुवत् ही रहा होता। इसीलिए नीतिशतक में कहा गया— साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। इसीलिए लोक में मान्यता है कि जो सूक्ति सुनकर, गीत में बहकर अथवा बालकों की चेष्टाएँ देखकर द्रवित नहीं होता, वह या-तो मुक्त-महात्मा है या पशु है, कुल मिलाकर भाव यह है कि संगीत की ध्वनि ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है और इसीलिए उसे भीतर तक प्रभावित करती है, आन्दोलित करती है। महाकवि जन्म ने अपने अनन्तनाथ काव्य में लिखा है कि संगीत से पत्थर पिघल जाता है, भयंकर सर्प भी स्वर-लहरी में तन्मय होकर बड़े सौम्य भाव से सिर डुलाने लगता है; पुरुष पल्लव-अधिकता से विकसित होने लगते हैं; पशु मोहित मुग्ध हो जाते हैं और लगातार रोने वाला बालक शान्त हो जाता है, बादल बरसने लगते हैं। इसलिए हे भगवन्! क्या संगीतात्मक प्रार्थना मुझे आत्मा में तन्मय कर आप-सदृश नहीं बना सकती। “कल्लु करगुवदु। उग्रफणि सोल्लुवदु। वणभरं पल्लिविपुदु। एरलिसिलकुवदु पशु मो हिपदु। निल्लदे अलुव एले पसुले। संतसव ने दुवदु। मुगिलो सर्दु भले गरेवदु। सल्ललिते संगीतरस के यत्र निन्तते भाडनंत जिनेन्द्र”। भाव यह है कि जहाँ जैनधर्म में नर से नारायण बनने की बात आत्म-साधना से की गयी है, वहीं इस आत्म-साधना के माध्यम के रूप में जैन संगीताचार्यों ने संगीत को भी माना है और इसीलिए इस तरह के भाव कवि जन्म ने अपने काव्य में व्यक्त किए हैं।

जैन संगीत मानता है कि प्रभु की स्तुति के पद श्लोकमय, छन्दमय या भजन के रूप में मिलते हैं। उन्हें भक्त जब गाता है, तो तन्मय हो जाता है। कुल मिलाकर भजन की गायन रूप भक्ति में तन्मयता की अनुभूति होती है। विविध रागों में गाये हुए पद मन में शान्ति उत्पन्न करते हैं और अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार संगीत भक्ति में सहायक है और यही कारण है कि आचार्यों ने ओंकार को परम संगीत कहा है। यह ओंकार जहाँ ईश्वर का वाचक है, वहीं ईश्वर के माध्यम पंच-परमेष्ठि का वाचक भी है और पंच-परमेष्ठि के रूप में विराजमान मूल आत्मा का वाचक है। इसलिए ओंकार की आराधना परम संगीत की आराधना है, संगीतमय आत्मा की आराधना है। नाभि केन्द्र से उठने वाला ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में किया गया ओंकार-रूप-उच्चारण जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप तीनों शक्तियों का वाचक बनता है, वहीं पंचाक्षरी ओंकार पंच-परमेष्ठि के संगीत में बहाकर सराबोर करने वाले अध्यात्म-सरोवर में डुबकी लगाने वाला बन जाता है। आचार्य विद्यानन्दजी कहते हैं कि भक्ति के लिए तन्मयता और तन्मयता के लिए नाद-सौन्दर्य आवश्यक है, नाद-सौन्दर्य की भावना संगीत को जन्म देती है। कैसा अद्भुत विचार है जैनाचार्य का! वीणा की झनकार, वेणुकी स्वर-माधुरी, मृदंग, मुरज, पर्णव, दर्दुर, पुष्कर आदि अनेक वाद्य प्राणों में एकीभाव उत्पन्न करते हैं, एकीभाव से ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान की सिद्धि से मन, वचन काय एकनिष्ठ होकर समाधि का अनुभव करते हैं। वीर, शृंगार और शान्त रस की अनुभूति को संगीत से सौ-गुना

किया जा सकता है। संगीत से चार व्यक्तियों में गोष्ठीबन्ध होता है। वे मिलकर गाते हैं, तन्मयता अनुभव करते हैं। रणभेरी को सुनकर वीरों के भुजदंड फडक उठते थे, पर वही भेरी कायरों को भयाक्रान्त करती थी, -यह है संगीत-विद्या का सौन्दर्य।

आचार्य पार्श्वदेव अपने 'संगीत-समयसार' में कहते हैं कि संगीत के स्वर-शास्त्र में सात स्वर माने गये हैं और उनमें प्रथम स्वर का नामकरण आदि-तीर्थकर के नाम पर आधारित है, इसीलिए वहाँ सात स्वरों की गणना ऋषभ से की गई। जैसे युग के आदि में ऋषभ से पदार्थों के ज्ञान का वर्णन हुआ है, वैसे ही संगीत के स्वरों में ऋषभ को प्राथमिकता दी गयी। इसलिए जैन संगीत सप्तस्वरों में ऋषभ को पहला स्वर मानता है, क्योंकि ऋषभ स्वर की उत्पत्ति में वे ही मूल कारण हैं, जो तीर्थकर ऋषभदेव के पिता नाभि के रूप में दिखाई देते हैं। इसलिए ही उन्होंने कहा कि नाभि से समुदित जो वायु है, वह वायु कण्ठ तथा शीर्ष भाग से समाहत होता है और जब समाहत होता है, तब ऋषभ स्वर की उत्पत्ति होती है। यह इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य भी है कि ऋषभदेव की उत्पत्ति आदि-मनु नाभि से हुई थी। यथा-

“नाभेस्समुदितः वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः। ऋषभं विनदेद् यस्मात्तस्माद् ऋषभ ईरितः॥”

नादोत्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए आचार्य पार्श्वदेव कहते हैं कि स्वर, गीत, वाद्य और ताल इन चारों की उत्पत्ति नाद के बिना नहीं हो सकती, इसप्रकार सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः नादात्मक है और इसीलिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन तीनों ही देवों को नादात्मक माना गया है। नाद के उत्पन्न होने की विधि यह है कि नाभि में ब्रह्म-स्थान है, नाद ब्रह्म-स्थान में वास करता है, जिसे ब्रह्म-ग्रन्थि भी कहा जाता है और उस ब्रह्म-ग्रन्थि के केन्द्र में प्राण स्थित हैं। उस केन्द्रस्थ प्राण से अग्नि की उत्पत्ति होती है, पर जब अग्नि और मरुत का संयोग हो जाता है, तब नाद उत्पन्न होता है। नाद के 'न' और 'द' ये दोनों अक्षर क्रमशः प्राण-मरुत और प्राणाग्नि के वाचक हैं।

“नादोत्पत्तिः यथाशास्त्रमिदानीमभिधीयते। स्वरो गीतं च वाद्यं च तालश्चेति चतुष्टयम्॥

न सिद्ध्यति बिना नादं तस्मान्नादात्मकं जगत्। नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वराः॥

नाभौ यद् ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मग्रन्थिश्च यो मतः। प्राणस्तन्मध्यवर्तोऽस्यादग्नेः प्राणात् समुद्भवः॥

अग्निमारुतयोर्योगाद्भवेन्नादस्य सम्भवः। नकारः प्राण इत्युक्तो दकारो वह्निरुच्यते॥

अर्थोऽयं नादशब्दस्य संक्षेपात् परिकीर्तितः। स च पंचविधो नादो मतंग-मुनि-सम्मतः॥

आचार्य पार्श्वदेव तो यह भी कहते हैं कि नाद के पाँच भेद हैं, (मुझे लगता है कि कि ये पाँच भेद ही पंचाक्षरी ओंकार को ओर संकेत करते हों) ये भेद हैं- अतिसूक्ष्म,

सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृत्रिम। नाभि में अतिसूक्ष्म, हृदय में सूक्ष्म, कंठ में पुष्ट, सिर में अपुष्ट और मुख में कृत्रिम-नाद निवास करता है। कुछ विद्वानों के मत में शिर में अपुष्ट के स्थान पर अव्यक्त नाद का उल्लेख है, परन्तु हम उसे नहीं मानते; क्योंकि वह उत्पन्न नहीं है, तो उसकी सत्ता कैसे?... अर्थात् उन्हें शिर में अव्यक्त नाद की स्थिति स्वीकार नहीं। वे आगे कहते हैं कि नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है और नाद से सम्पूर्ण वाङ्मय अर्थात् वाग-विस्तार की उत्पत्ति होती है।

आचार्य सुधाकलश का कथन है— “ताना, नाता, नता, नन्ता, तेन, तेन्नक, तन्नक, प्रत्येक स्वर में सात-सात तान हैं।” उनके मूल शब्द हैं—

“तन्न तेन्ना यदुच्यन्ते तानास्ते स्वरसंस्थिताः।

आलपितश्रुतिसंस्थानव्ययपकर्तार एव ते॥

ताना-नाता-नता-नन्ता-तन्न-तेन्नक-तन्नकाः।

विज्ञेयास्ते क्रमात् तानाः सप्त सप्त स्वरे स्वरे॥”

ध्रुवपद/ध्रुपद गायकों की परम्परा में ये बोल आज भी आलाप के आधार हैं।

आचार्य बृहस्पति संगीत-समयसार की अपनी भूमिका में कहते हैं कि विमलमति युक्त साधक एवं शान्तचित्त प्राचीन जैन आचार्यों ने भी संगीत को श्रुतिपदविषय (गुरु-शिष्य-परम्परा के अनुसार शिक्षा का विषय) बनाया था, उनमें से एक, आचार्य पार्श्वदेव ने कुछ ऐसे तत्त्वों की व्याख्या की है, जो अन्य आचार्यों के द्वारा अनुक्त हैं, महात्मा श्री पार्श्वदेव अपने गुण-गण के कारण प्रसिद्ध हैं। वे आगे लिखते हैं कि संगीत-समयसार में आचार्य पार्श्वदेव ने भरत, मतंग, दत्तिल, कोहल, आंजनेय, तुम्बुरु, भोज, कश्यप और याज्ञिक जैसी सभी अजैन महाविभूतियों के मत को सादर माना है, परन्तु उन्होंने जैन दृष्टिकोण के अनुसार शब्द को ‘अनित्य’ और ‘अव्यापक’ कहकर कोहल के मत का प्रचण्ड खण्डन किया है।

‘भक्ति के अंगूर और संगीत-समयसार’ नामक कृति में तीर्थंकर मासिकी के सम्पादक डॉ. नेमिचन्द जी कहते हैं—“जैन संगीत की अपनी मौलिक परम्परा है। ललितकलाओं के क्षेत्र में जैनाचार्यों ने जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उससे सम्बन्धित तथ्य उत्तरोत्तर सामने आ रहे हैं। इधर हुए अनुसंधानों ने स्थिति को और स्पष्ट व और प्रामाणिक बना दिया है।... जैनाचार्य संगीत-मर्मो इतने थे कि उन्होंने आत्म-विद्या के सन्दर्भ में दिगम्बर जैन मुनियों की विविध मुद्राओं के बड़े कलात्मक वर्णन किए हैं। संगीत-समयसार में उन्होंने अपनी अद्वितीय कला-प्रतिभा के कारण संगीत की सूक्ष्मताओं की बड़ी सुन्दर विवेचना की है। जैनाचार्यों की विशेषता यह है कि उन्होंने तपश्चर्या को भी कला के पारस से छूकर स्वर्ण बनाया। जब एक अपरिग्रही कला का आलम्बन लेता है, तो कला अपने उदात्त-व्यक्तित्व को बड़ी विलक्षण मुद्राओं में प्रस्तुत करती है। संगीत के इस

शास्त्रीय वैभव को आचार्य श्री पार्श्वदेव के द्वारा रचित संगीत-समयसार में आसानी से देखा जा सकता है। जैनाचार्यों ने भेद-विज्ञान और सम्यग्ज्ञान-कला के माध्यम से मुक्ति-जैसी दुर्लभ निधि को सहज ही उपलब्ध किया है। इस प्रकार जैन अध्यात्म-विद्या का क्षेत्र कला-विरहित-क्षेत्र नहीं है। आत्म-विद्या के क्षेत्र में कला की कई अभिनव मुद्राएँ व्यक्त हुई हैं। आत्मा के खोजियों ने कला को एक उदात्त और उत्तम खोज कहा है। जैन संगीत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

नाद संगीत का प्राण है। यह नाद शब्द संस्कृत धातुपाठ की नद् धातु से निष्पन्न होता है। इसका मूल अर्थ अव्यक्त शब्द है। अव्यक्त और व्यक्त ध्वनि के दो रूप हैं। कुछ विद्वान् व्यक्त और अव्यक्त के मिश्रित रूप व्यक्ताव्यक्त को ध्वनि के तीसरे भेद के रूप में स्वीकार करते हैं।...पर मुझे तो लगता है कि संगीत का विषय केवल व्यक्त-नाद ही नहीं, अव्यक्त-नाद भी है। मुझे तो यह भी लगता है कि संगीत में व्यक्त नाद के माध्यम से की जाने वाली आराधना के द्वारा अर्थात् ध्वनियों की आराधना के द्वारा अव्यक्त अनहद नाद को निरन्तर पाने का यत्न होता है, यह यत्न ही नादाराधना है। भाव यह है कि संगीत में केवल व्यक्त ध्वनि का ही अध्ययन नहीं होता है या होना चाहिए, बल्कि अव्यक्त ध्वनियों का भी अध्ययन होना चाहिए और संगीत को व्यक्ताव्यक्त ध्वनि का पर्याय माना जाना चाहिए।

इस नाद का मूल-स्थान मनुष्य के शरीर में नाभि-स्थान को, नाभि-सरोवर को, ब्रह्म-सरोवर को, नाभि-हृद् को माना गया। भाव यह है कि इस नाभि-स्थान को ही, नाभि-सरोवर, तथा नाभि-हृद् कहा गया। इस नाभि-सरोवर में दिव्य कमल उत्पन्न होता है, उस पर ब्रह्मा का आसन परिकल्पित है। ब्रह्मा का स्वरूप चतुर्मुख है, उनकी संज्ञा प्रजापति है। वही सृष्टि के सर्वप्रथम छन्दोगायी हैं। शब्द-ब्रह्मा को नद कहा गया और उसी नद से उत्पन्न वाक् को नाद कहा गया। इसीलिए ब्रह्मा को नाद का उद्गाता भी कहा गया और इसीलिए यह भी कहा गया कि वही श्रुति अथवा श्रुत का गायन करते हैं। यह श्रुत शब्दावच्छिन्न है, अतएव उत्पन्नध्वंशी है, पुद्गलधर्मा है, परन्तु इस भावश्रुत का अर्थ विषयावच्छिन्न है, अनादिनिधन व नित्य है। इसीलिए नाद को उपासना ब्रह्मा की उपासना है, क्योंकि उससे तन्मयता उत्पन्न होती है और तन्मयता से जीव आत्मस्थ होता है। ओंकार को नाद अर्थात् ब्रह्मा का सर्वोच्च गान माना गया है और इस ओंकार को बिन्दु से युक्त माना गया है। बिन्दु सृष्टि का परम-रहस्य है। इस ओंकार का ही योगी नित्य ध्यान करते हैं, क्योंकि यह ओंकार काम और मोक्ष दोनों का देने वाला है, नाद की प्रतिकृति है। आचार्य विद्यानन्द जी कहते हैं कि नाद स्फोटजन्मा है और यह स्फोट व्यष्टि-रूप भी है, समष्टि-रूप भी। व्यष्टि-नाद से उठकर साधक समष्टि-नाद को सुनने का यत्न भी करते हैं और सुनने में यह भी आया है कि उन्हें अनाहत नाद या अनहद नाद के रूप में विराट् आत्म-सत्ता में गूँजने वाले इस अपार्थिव नाद को सुनने का सौभाग्य मिलता है। योगिजन

ने इस अनहद नाद का अनुभव वर्णन करते हुए लिखते हैं कि यह सर्वप्रथम समुद्र-गर्जन, मेघ-स्तनित, भेरी-रव, और झड़ीर ध्वनि के समान सुनाई देता है। मध्य में मृदल, शंख, घंटा और काहल से उत्पन्न ध्वनि के समान शब्द की प्रतीति होती है और अन्त में किंकणि, वंशी, भ्रमर और वीणा के निक्वाण-जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस प्रकार नाना प्रकार के शब्द देह के भीतर ही सुनाई देते हैं। इस अनहद नाद के सुनने में तन्मय हुआ योगी साधक संसार के समस्त पौद्गलिक विषयों से अपने को सहज विमुक्त पाता है। जिस प्रकार पुष्प के मकरन्द रस का पान करने वाला भ्रमर उस पुष्प के गन्ध की अपेक्षा नहीं करता अथवा जैसे घास चरती हुई गाय को यव-समष्टि की देने वाली गोपाली के हाथों में रची हुई मेंहदी नहीं दिखती अथवा आहार ग्रहण करते हुए श्रमण-मुनि जिस प्रकार आहार देने वाले के मणि-कण्ठाभरणों से निरपेक्ष रहते हैं, वैसे ही शुद्ध-नाद में रमा चित्त विषयों की आकांक्षा नहीं करता। इस अनहद नाद को निरन्तर सुनते रहने से अपेक्षित ध्यान में एकाग्रता, निराकुलता और शान्ति का अनुभव होता है।

जैन संगीत यह कहता है कि जरा यह चिन्तन करें कि कंठ, ओष्ठ, मूर्धा, तालु आदि प्रदेशों से उच्चरित होने वाली अक्षरात्मक ध्वनि कंठ से पहले कहाँ थी?... उत्तर मिलेगा हृदय प्रदेश में। हृदय से पहले कहाँ थी? कृकृ उत्तर मिलेगा मूलाधार में या मूलाधार स्थित अग्नि वायु में और उससे पूर्व मन में और मन से पहले बुद्धि में और सबसे पहले आत्मा में। अनुसन्धान की वीथियों में प्रवेश करता हुआ चेतन अन्त में आत्मा को ही पा लेता है, यही नादोपासना का चरम प्रयोजन है। इस प्रकार जैनाचार्य विद्यानन्द जी तो यहाँ तक कहते हैं कि यह भी साफ है कि नाद को आरम्भिक साधना शब्द, गीत, लय, ताल, वाद्य आदि की अपेक्षा करती है। सोऽहं के पाठ की घोखना पड़ता है या उसका अनुनाद करना पड़ता है; परन्तु नाद के स्थूल रूप से सूक्ष्म को ओर चलते-चलते शब्द आदि का परिधान निष्प्रयोजन हो जाता है और तब यह नाद निर्ग्रन्थ अथवा दिगम्बर अथवा यथाजातरूपधर हो जाता है। शिशिर ऋतु में वृक्षों के पत्तों की तरह इसके बाह्य उपकरण झर जाते हैं। शब्द-समुच्चय की निर्जरा हो जाती है और शुद्ध ओंकारमय नाद शेष रह जाता है और इस अवस्था में सम्पूर्ण पर-समयों का अन्त होता है, विशुद्ध स्व-समय की प्राप्ति होती है। यहाँ आने पर यह संगीत, यह नादोपासना समयसार का सार्थक विशेषण अर्जित कर लेती है। इसीलिए नाद का मूल-अनुसन्धान या मूल-प्रयोजन आत्म-सन्निधि या आत्म-संवित् है। इसीलिए यह समयसार है, योगियों के द्वारा ध्येय है। जो नाद स्वयं सुशोभित होता है, वह स्वर कहलाता है। स्वर का अधिकरण पद है और वह अर्थ का प्रतिपादक है यथा— *‘स्वयं यो राजते नादः स्वरः स परिकीर्तितः। पदं स्वराधिकरणमर्थस्य प्रतिपादकम्।’* और विशुद्ध-नाद का प्रभाव आश्चर्यजनक है। यह नाद परम-पद की देने वाला है। इससे परमदेव जिनेश्वर की आराधना होती है और केवल आराधना ही नहीं होती है, बल्कि परम-पद की प्राप्ति भी होती है। ऐसे उत्तम प्रभाव का

धारक विशुद्ध-नाद शुद्ध सत्त्व सज्जनों के पवित्र शरीर में उत्पन्न होता है। इस उत्तम नाद की जय हो।

जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत संगीत-समयसार की पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन युग में जैन साधुओं को विविध कलाओं का विशिष्ट ज्ञान था और इन्होंने इनका मनन-चिन्तन एवं आलोडन करने के बाद मौलिक विश्लेषण किया था। साथ ही उन्हें काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र के गूढ़ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों एवं उनके प्रयोग का अद्भुत परिज्ञान था।

इधर 20वीं सदी में श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ ने सन 1970 में 'सुसंगीत जैन पत्रिका' का प्रकाशन किया। इसमें जैन संगीत को लेकर बड़ी मौलिक और खोजपूर्ण सामग्री है। वास्तव में जैन संगीत को लेकर इतना अच्छा संकलन अब तक देखने में नहीं आया। इसके कई लेख अनुसन्धान को निधि हैं— ऐसा तीर्थंकर के सम्पादक डॉ. नेमिचन्द्र जी मानते हैं।

डॉ. श्रीमती हेम भटनागर ने शृंगार युग में संगीत-काव्य विषय पर अपने शोध-प्रबन्ध में निष्कर्ष रूप में जैन राग-मालाओं को चर्चा की है। उनका कथन है कि जैन मुनि संगीत का ज्ञान भी अधिक मात्रा में रखते थे। ऐसा उनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से विदित होता है। जैसे मुनियों में राग-मालाएँ लिखने का बड़ा प्रचार था। कवि अपने तीर्थंकर का यश वर्णन करते समय राग तथा रागिनियों में बाँधकर काव्य-रचना करते थे, इस प्रकार जैन कवियों की संगीत-प्रियता असन्दिग्ध है।

कुल मिलाकर उपर्युक्त चर्चा से तथ्य ये उभरकर आते हैं कि जैनाचार्यों ने जहाँ भारतीय-संगीत के सिद्धान्त-पक्ष को संगीत-समयसार व संगीतोपनिषत्सारोद्धार आदि रचनाएँ रचकर समृद्ध किया, वहीं विभिन्न राग-रागिनियों में नये प्रयोगों को लाकर प्रयोग-पक्ष को भी नयी दिशाएँ दीं। सबसे बड़ी बात यह है कि जैन संगीत के इन महारथियों ने संगीत के विश्व-पटल पर अपनी अलग पहचान रखते हुए भी अपनी समन्वयात्मक दृष्टि से भारतीय-संगीत को श्री-वृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जिनमन्दिर एवं गृह-वास्तु

पं. सनतकुमार विनोद कुमार जैन

तीनों लोकों में जिन-मन्दिर की स्थिति अनादिकाल से है। जो रत्नचूर्ण, स्वर्ण, रजत, ईट, पत्थर व काष्ठ आदि से निर्मित बताए गये हैं तथा जिनमें भगवत् सर्वज्ञ, वीतराग की प्रतिमाएँ रहती हैं, वे चैत्यालय अर्थात् जिनमन्दिर हैं।^१ ये दो प्रकार के हैं—1. कृत्रिम जिनालय, 2. अकृत्रिम जिनालय।

कृत्रिम जिनालय

जो देव, विद्याधर और मनुष्यों द्वारा बनवाए जाते हैं, ये कृत्रिम चैत्यालय मनुष्यलोक में ही होते हैं।

अकृत्रिम जिनालय

जो किसी के द्वारा बनवाए गये नहीं होते हैं, प्राकृतिक, शाश्वत और अनादि-अनिधन होते हैं। ये अकृत्रिम चैत्यालय चारों प्रकार के देवों के भवन, प्रासाद व विमानों तथा स्थल-स्थल पर तीनों लोकों में विद्यमान हैं। मध्यलोक के तेरहद्वीपों में स्थित जिनचैत्यालय हैं।^२ भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों आदि सभी के आवासीय परिसर में अकृत्रिम जिनालय हैं।^३ इन सब की संख्या असंख्यात है।^४ अकृत्रिम जिनालयों का विस्तार उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। उत्कृष्ट अवगाहना सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी, पचहत्तर योजन ऊँची हैं।^५ अकृत्रिम जिनालय शाश्वत हैं। कृत्रिम जिनालय भरतक्षेत्र, ऐरावतक्षेत्र में काल-परिवर्तन के कारण परिवर्तनीय हैं।

भरतक्षेत्र में जिनमन्दिरों की ऐतिहासिकता

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र यें अवसर्पिणी काल के सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल के चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष शेष रहने पर^६ इन्द्र की आज्ञा से उत्साही देवों ने अयोध्या नगरी को बनाया था।^७ कालान्तर में इन्द्र ने सर्वप्रथम

जिनमन्दिर एवं गृह-वास्तु :: 713

मांगलिक कार्य करके अयोध्यापुरी के बीच में जिनमन्दिर की रचना की थी।^१ प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान के जन्म के पहले ही नगर, भवन एवं दीक्षाग्रहण के पूर्व देवकृत कृत्रिम जिनालय का निर्माण हो गया था। मनुष्यकृत कृत्रिम जिनालय सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर भूत, भविष्य और वर्तमान के अर्हन्त तीर्थंकरों के अलग-अलग जिनमन्दिरों के रूप में बनवाये थे।^१ अतः लगभग एक कोड़ा-कोड़ी सागर पूर्व मनुष्यों द्वारा कृत्रिम जिनालयों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। तदुपरान्त चक्रवर्ती, बलभद्र, महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, मुकुटबद्ध राजा, श्रावक एवं समाज द्वारा नगर, उपनगर, तीर्थक्षेत्रों आदि में मन्दिर-निर्माण अनेक प्रकार से हुआ। जैसे—गुफामन्दिर, भौहरे मन्दिर, उपनगर, तीर्थक्षेत्रों आदि पर मन्दिर-निर्माण अनेक प्रकार से हुआ। जैसे—गुफामन्दिर, भौहरे मन्दिर, बाबनजिनालय, मेरुमन्दिर, समवसरण मन्दिर, चौबीसी जिनालय, गृह चैत्यालय आदि। 160 ईस्वी^{१०} पूर्व कुरुवंश के राजा खारवेल ने गुफामन्दिर का निर्माण कलिंगदेश में करवाया, जो समकालीन मन्दिरों में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है।

वास्तु और जैनागम

वास्तु-विद्या तीर्थंकर भगवान के मुखकमल से निर्गत, गणधरदेव द्वारा रचित बारह अंगों और चौदह पूर्व में ही समाहित है। द्वादशांग के बारहवें अंग के पाँच अधिकार हैं—

1. परिकर्म, 2. सूत्र, 3. प्रथमानुयोग, 4. पूर्वगत, 5. चूलिका।

चूलिका के पाँच भेद हैं—1. जलगता, 2. स्थलगता, 3. मायागता, 4. रूपगता, 5. आकाशगता। इनमें स्थलगता चूलिका 20989200 पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण आदि तथा वास्तु-विद्या एवं भूमि-सम्बन्धी शुभ व अशुभ कारणों का वर्णन करती है।^{११} वास्तुविद्या प्राचीनतम विद्या है, इसकी विषयवस्तु जैनागम साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त होती है। भगवान् आदिनाथ ने अपने पुत्रों को अनेक शास्त्रों का अध्ययन कराया था, उसमें अनन्तविजय नामक पुत्र को चित्रकला के शास्त्र एवं सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया था। इस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे।^{१२} कल्पवृक्षों के समाप्त होने पर आजीविका हेतु भगवान् आदिनाथ ने लोगों को विदेहक्षेत्र की परम्परानुसार षट्कर्म करने का उपदेश दिया था। उसमें शिल्पकर्म द्वारा मन्दिर और गृह बनाने का उपदेश दिया था।^{१२ए} जैनागम में वास्तु-विज्ञान का वर्णन अनादि-काल से प्राप्त है।

मन्दिर-वास्तु

जैनागम साहित्य में अकृत्रिम जिनालयों के विस्तार का कथन है। यह-सब वास्तुशास्त्र

के अनुरूप ही है। चैत्यालय की लम्बाई से आधी चौड़ाई तथा दोनों के योग से आधी ऊँचाई है। उसी प्रकार द्वारों की ऊँचाई से आधी चौड़ाई है।¹³ तीर्थंकर की धर्म-सभा समवसरण है, इसमें देव, विद्याधर, मनुष्य एवं तिर्यंच सभी उपदेश सुनते हैं। इसकी रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर करता है। समवसरण का निर्माण वास्तुशास्त्र के अनुरूप ही होता है। जिस प्रकार वास्तुशास्त्र में गृहस्वामी के हाथ से नाप कर उसका विस्तार ग्रहण किया जाता है और शुभाशुभ के अनुसार भवन, मन्दिर आदि का निर्माण किया जाता है; उसी प्रकार जिन तीर्थंकर का समवसरण होता है। उन्हीं तीर्थंकर के शरीर की अवगाहना के अनुसार समवसरण की रचना होती है, जैसे—समवसरण में प्रथम भूलिशाल कोट एवं वेदियों की ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई से चौगुनी होती है। चैत्यप्रासाद भूमि, मन्दिरों एवं मन्दिरों के अन्तराल में पाँच भवन हैं, उनकी ऊँचाई, भूमियों के प्रवेश-द्वार पर नाट्य-शालाओं, चैत्य-वृक्षों, ध्वज-स्तम्भों, सिद्धार्थ-वृक्षों, क्रीडाशालाओं, प्रासाद, स्तूप एवं बारह सभाओं के कोठों की ऊँचाई, तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई से बारह-गुणी होती है। सीढ़ियों की ऊँचाई, चौड़ाई एवं वापिकाओं की लम्बाई, चौड़ाई बराबर होती है।¹⁴ प्रतिष्ठाग्रन्थों में सुख को चाहने वालों को वास्तुशास्त्रानुसार ही मन्दिर एवं प्रतिमा के निर्माण कराने का निर्देश है, एवं भूमि के शुभाशुभ लक्षण और भूमि-परीक्षा के अनेक प्रकार दिये हैं।¹⁵ वर्तमान में वास्तु के सभी मानोन्मान जैनधर्म की त्रैलोक्य सम्बन्धि अकृत्रिम जिनालयों की मान्यताओं से प्रभावित हैं, ऐसा डॉ. हीरालाल जी का मत है।

मन्दिर निर्माण-विधि—

प्रतिष्ठापाठ में मन्दिर-निर्माण की तीन विधियाँ कही हैं—

1. मन्दिर-निर्माण के लिए वर्गाकार भूमि के पच्चीस अंश प्रमाण भागकर मध्य के नव अंश में मध्य भाग में अर्हन्त की स्थापना करे, दोनों पार्श्वभाग में सिद्ध और उपाध्याय, ऊर्ध्वभाग में आचार्य और अन्य स्थानों में आगम, निर्वाणक्षेत्र, साधु, मण्डलविधान का स्थान एवं सामग्री का स्थान बनाना चाहिए। पूर्वोत्तर द्वार या दक्षिण द्वार, पूर्वदिशा में नृत्यसंगीत का स्थान, उत्तर में स्वाध्याय-कक्ष, पश्चिम भाग में भण्डार, दक्षिण में विद्या-शाला एवं चारों तरफ प्रदक्षिणा भूमि बनाकर यन्त्र की तरह मन्दिर निर्माण करना।¹⁶
2. पूर्व उत्तर में बड़ा द्वार, दक्षिण में छोटा द्वार मध्यभाग में देवच्छद की वेदी, उसमें एक सौ आठ गर्भगृह, इनमें जिनबिम्ब, चारों तरफ प्रदक्षिणा, आगे प्रेक्षागृह, आस्थान-मण्डप पीछे पुष्करिणी वापिका निर्माण कर अकृत्रिम जिनालय की तरह रचना करना चाहिए।¹⁷
3. पूर्वोत्तर या उत्तर में एक ही द्वार, बीच में चौक, महाशान्तिकादि मण्डल

के आगे जिनबिम्ब की स्थापना, अलग स्थान-सूचक वेदी, तीन कटनी ऊपर अण्डाकार शिखर उसमें ध्वजा, किंकिणी एवं शिखर के ऊपरी भाग में जिनेन्द्र-बिम्ब शोभायमान कर प्रदक्षिणा और सरस्वती-भण्डार की रचना करना चाहिए।

ये मन्दिर दो खण्ड, तीन खण्ड, चार खण्ड आदि के बनाएँ, किन्तु शिखर, ध्वजा आदि ऊपर के खण्ड में बनावें। मन्दिर-निर्माण वास्तुशास्त्र के विपरीत बनाये जाने पर अनर्थ का योग बनता है।¹⁸

चैत्यालयों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. सामान्य चैत्यालय, 2. गृह-चैत्यालय

1. सामान्य चैत्यालय—वे चैत्यालय हैं, जो नगर, ग्राम, तीर्थ-क्षेत्र, नदी, पर्वत आदि पर बनाये जाते हैं, ये कृत्रिम और अकृत्रिम होते हैं। अकृत्रिम जिनालय तीनों लोकों में 85697481 हैं एवं कृत्रिम जिनालय असंख्यात होते हैं।

2. गृह-चैत्यालय—वे चैत्यालय हैं, जो देव, विद्याधर और मनुष्यों के निवास-स्थानों में होते हैं। अकृत्रिम गृह-चैत्यालय चारों प्रकार के देवों के भवनों, आवासों, विमानों में शाश्वत एवं असंख्यात होते हैं।¹⁹ कृत्रिमचैत्यालय विद्याधर और मनुष्यों के गृहों में होते हैं, जिनेन्द्र-भक्त सेठ के सतखण्डा भवन के ऊपर पार्श्वनाथ भगवान का गृह-चैत्यालय था।²⁰ बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ भगवान् के शासन काल में सप्त ऋषियों ने अंगुष्ठप्रमाण जिनप्रतिमा अपने घरों में स्थापन करने का उपदेश दिया था।²¹ गृह-चैत्यालय एवं प्रतिमा पूर्व या उत्तरमुखी करना श्रेष्ठ है। गृह में प्रवेश करते हुए वाम भाग की ओर शल्य रहित डेढ़ हाथ ऊँची भूमि पर देवस्थान बनाना चाहिए, नीची भूमि पर बनाने से वह सन्तान के साथ निचली-निचली अवस्था को प्राप्त होता जाएगा अर्थात् उसकी उन्नति बाधित हो जाएगी—ऐसा शास्त्रोलेख है।²² गृह-चैत्यालय में पुष्पक विमान आकार सदृश लकड़ी का गृह मन्दिर बनाना चाहिए। उपपीठ, पीठ और उसके ऊपर समचौरस फर्श आदि बनाना चाहिए। चारों कोणों पर चार स्तम्भ, चारों दिशाओं में चार द्वार, चार तोरण, चारों ओर छज्जा और कनेर के पुष्प जैसा पाँच शिखर (एक मध्य में गुम्बज उसके चारों कोनों पर एक-एक गुमटी) करना चाहिए। एक द्वार, दो द्वार अथवा तीन द्वार वाला और एक शिखर वाला भी बना सकते हैं। गर्भगृह सम चौरस और गर्भगृह के विस्तार से सवाई ऊँचाई होना चाहिए। गृह-चैत्यालय के शिखर पर ध्वजदण्ड कभी भी नहीं रखना चाहिए।²³

स्तूप

जैन वास्तुकला के क्षेत्र में स्तूप का स्थान सर्वप्रथम रहा प्रतीत होता है। वस्तुतः जैन पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार भी मानवीय सभ्यता के इतिहास में मनुष्य द्वारा निर्मित

सर्वप्रथम वह स्तूप था, जिसका हस्तिनापुर में राजा श्रेयांस ने वर्षोपवासी आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को इक्षुरस का आहार देने के उपलक्ष्य में पारणा-स्थल पर निर्माण कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में जिस विशाल जैन स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं, परम्परानुश्रुति उसे मूलतः देवों द्वारा निर्मित-हुआ बताती है। यह जैन स्तूप भारत देश का सर्वप्राचीन ज्ञान-स्तूप है। स्तूप का निर्माण-काल ईसापूर्व 600 से कुछ पूर्व ही है। तक्षशिला के निकट सिकरप एवं मथुरा में जैनस्तूप थे। अकबर के शासनकाल में आगरा के साहू टोडर ने मथुरा के 514 स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया था।¹⁴

गुहा-मन्दिर

तीसरी-चौथी शती ईस्वी से गुहा-मन्दिर अस्तित्व में आये। 5वीं से 12वीं शती-पर्यन्त गुहा-स्थापत्य का स्वर्ण-युग था। शोलापुर के निकट धाराशिव की गुफाएँ अत्यन्त विशाल हैं। तिन्नेवली जिले में स्थित कुलुमुलु के गुहा-मन्दिर सुन्दर हैं। 8वीं, 10वीं शती ई. में राष्ट्रकूट युग में मे ज्ञान-केन्द्र रहे हैं। उड़ीसा में खण्डगिरि-उदयगिरि के गुहा-मन्दिर, बिहार के राजगिरि की सोनभण्डार आदि गुफाएँ, मध्य प्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि की गुफाएँ, कर्नाटक में श्रवणवेलगोलस्थ चन्द्रगिरि की, सौराष्ट्र में जूनागढ़ की, महाराष्ट्र में बादामी अजन्ता, एलोरा, ऐहोल, पटनी, नासिक, अंकई, धाराशिव (तेरापुर) आदि की तथा तमिलनाडु में कुलुमुलु एवं सित्तनवासल की उत्खनित गुफाएँ अथवा गुहा-मन्दिर जैनगुहा-स्थापत्य के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।¹⁵

मन्दिर की आवश्यकता

सुख का मूल कारण सम्यग्दर्शन है। यह मोक्ष का प्रथम सोपान है। इसे प्राप्त करने का एक कारण देव-दर्शन है।¹⁶ मन्दिर के अभाव में देवदर्शन नहीं हो सकता है, अतः श्रावक भगवान् की वीतराग मुद्रा के दर्शन से आत्म-शुद्धिपूर्वक अपना कल्याण करते हैं। श्रावकों को अपने धन का उपयोग जिनागम में कहे गये जिनबिम्ब, जिनालय, जिनयात्रा, जिनप्रतिष्ठा, दान, पूजा और शास्त्र-लेखनादि सप्त क्षेत्रों में करने का निर्देश है।¹⁷ इसमें जिनबिम्ब और जिनालय बनवाने का कथन है। जो जिनमन्दिर बनवाते हैं, वे सभी पुण्य करते हैं। जिनबिम्ब से शोभायमान जिनमन्दिर मुनिराजों द्वारा वन्दनीय होते हैं। इनके दर्शन-वन्दन से भव्यजीवों के भव-रूपी ताप नष्ट हो जाते हैं।^{17a} नवदेवताओं में जिनचैत्यालय देव के रूप में पूज्यता को प्राप्त हैं।

जिनचैत्यालय होने से भव्यजीव अभिषेक, महोत्सव, घण्टा, चामर, ध्वजा आदि के दान से निरन्तर पुण्य-लाभ करते हैं।¹⁸ मन्दिर होने से धार्मिक उत्सव में धार्मिक लोगों के एकत्र होने से धर्म का प्रचार होता है। धर्म के विषय में उत्साह बढ़ता है। पापों का प्रक्षालन होता है। पंचमकाल में श्रमणों के आश्रय-स्थल और धर्मायतन

जिनमन्दिर न हों, तो उनसे होने वाले सत्कार्य नहीं हो सकते हैं अर्थात् जिनमन्दिर-रहित ग्राम में श्रावक को नहीं रहना चाहिए।^{१०} आचार्यों ने श्रावकों को जिनमन्दिर बनवाने का निर्देश दिया है। जिनमन्दिर बनवाने से होने वाले पुण्य-लाभ के बारे में उल्लेख है कि जो मनुष्य धनिया पत्र के बराबर जिनभवन और सरसों बराबर जिन प्रतिमा बनवाता है, वह तीर्थकर पद प्राप्त करने के योग्य पुण्य करता है और जिन्होंने विशाल जिन-भवन बनवाये उनके पुण्य का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है।^{१०} इस कलिकाल में जिनमन्दिर, मुनिजनों का अवस्थान और दान यही धर्म है। इन तीनों का मूलकारण श्रावक है। मोक्षमार्ग एवं आत्म कल्याण हेतु श्रावक को प्रतिदिन छह आवश्यक करने को कहा है। जिनमें पूजा प्रथम आवश्यक है। पूजा के लिए जिनमन्दिर अत्यन्त आवश्यक है।^{११}

वसतिका

गृहस्थ को अपना अन्त समय जानकर अपने घर या जिनालय में सल्लेखना धारण करने का निर्देश है।^{११} उसके लिए स्थान के शुभाशुभ का जैनागम में विस्तृत वर्णन है। जो स्थान वृक्ष-पत्र-रहित हों, तथा जहाँ कण्टक भरे न हों, वज्रपात न हुआ हो, सूखे वृक्ष न हों, कटुक-रस वाले न हों, दावानल से जल न गये हों, रुद्रदेव का मन्दिर, पत्थरों और ईंटों का ढेर न हो; तृण, काष्ठ और पत्रों से भरा स्थान, श्मशान, टूटे पात्र, खण्डहर चामुण्डा आदि रौद्र देवों के स्थान नीचजनों का स्थान एवं अन्य प्रकार से अप्रशस्त न हों। ऐसे स्थानों पर क्षपक को निराकुलता नहीं होती है। अर्हन्त या सिद्धों का मन्दिर, समुद्र के समीप, कमलों के सरोवर के निकट, जहाँ दूध वाले वृक्ष हों, पुष्प फलों से भरे हों, उद्यान में स्थित भवन हो; तोरण-प्रासाद-नागों, यक्षों का स्थान हो या अन्य सुन्दर स्थान समाधि के लिए प्रशस्त है।^{११} क्षपक की वसतिका, गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख, हाथीदाँत आदि का काम करने वालों का स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट, और राजमार्ग के समीप का स्थान चारणशाला, पत्थर का काम करने वाले, कलाल, आरा चीरने वालों का स्थान, जलाशय, मालाकार का स्थान, आदि स्थानों में नहीं होना चाहिए।

जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट-सहित हों, गाँव के बाहर जहाँ बच्चे, बूढ़े और चार प्रकार का संध जा सकता हो, ऐसी वसतिका उद्यान, घर, गुफा, या शून्य घर में होनी चाहिए।

संस्तर

संस्तर चार प्रकार के कहे गए हैं—

१. भूमि संस्तर

718 :: जैनधर्म परिचय

2. शिला संस्तर
3. फलक संस्तर
4. तृण संस्तर।

1. भूमि-संस्तर कठोर हो, ऊँची-नीची न हो, सम हो, छिद्र-रहित हो, चींटी आदि से रहित हो, क्षपक के शरीर के बराबर हो, गोली न हो, मजबूत हो, गुप्त हो, प्रकाश-सहित हो, वही भूमि प्रशस्त-संस्तर-रूप होती है।

2. शिला-संस्तर आग से, कूटने से, घिसने से, प्रासुक हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओर से जीव-रहित, समतल एवं प्रकाश-युक्त होना चाहिए।

3. फलक-संस्तर सब ओर से भूमि से लगा हो, विस्तीर्ण हो, हल्का हो, उठाने लाने, ले जाने में सुविधा हो। अचल हो, शब्द न करता हो, जन्तु रहित, छिद्र-रहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो,—ऐसा संस्तर श्रेष्ठ होता है।¹¹⁸

4. तृण संस्तर गाँठ-रहित तृणों से बना हो, तृणों के मध्य में छिद्र न हो, टूटे तृण न लगे हों, मृदु स्पर्श वाला हो, जन्तु रहित हो, सुख पूर्वक शुद्धि करने योग्य हो और कोमल हो, ऐसा तृण-संस्तर होना चाहिए।

निषीधिका

जहाँ क्षपक के शरीर को स्थापित किया जाता है, उस स्थान को निषीधिका कहते हैं। निषीधिका एकान्त स्थान में हो, जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकें, नगर आदि से न अति-दूर और न अति-निकट होना चाहिए। विस्तीर्ण हो, प्रासुक हो तथा अति-दृढ़ हो, चींटियों, छिद्रों से रहित, प्रकाश वाली, समभूमि हो, गोली एवं जन्तु-रहित होना चाहिए। निषीधिका क्षपक के स्थान से नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम दिशा में होना चाहिए।¹¹⁹

गृह-वास्तु

गृह और मन्दिर का अविनाभावी सम्बन्ध है। जिसकी भीत लकड़ियों से, छप्पर बाँस और तृण से बनता है, वह गृह है।¹²⁰ इसे वास्तु कहते हैं। पं. आशाधर जी ने दीवारों और बाँस के छप्पर को गृह नहीं, अपितु स्त्री अर्थात् कुलपत्नी को गृह कहा है। इससे हो श्रावक और श्रमण-धर्म की परम्परा चलती है।¹²¹ सुख-समृद्धि के लिए श्रावक को अपना घर वास्तुशास्त्रानुसार बनाना चाहिए, क्योंकि प्रकृति से सामंजस्य बनाकर रखना स्वस्थ और सुखी जीवन के लिए आवश्यक है।

वास्तुशास्त्र इसी सामंजस्य को बनाने एवं बनाये रखने के बारे में दिशा-निर्देश करता है। श्रावक को अपने घर की पूर्व दिशा में श्री-गृह, आग्नेय में रसोई, दक्षिण में शयन, नैऋत्य में आयुध, पश्चिम में भोजन-क्रिया, वायव्य में धन-संग्रह, उत्तर में जल स्थान

जिनमन्दिर एवं गृह-वास्तु :: 719

एवं ईशान में देवगृह बनाना चाहिए।^{१५}

शुभ गृह—जिस गृह में वेध आदि दोष नहीं हैं, बहुत द्वार नहीं हैं, देवता की पूजा होती है, अतिथि का आदर होता है। लाल रंग का परदा लगा हो, अच्छी तरह साफ-सफाई होती हो, जहाँ छोटे-बड़े भाई आदि की अच्छी तरह व्यवस्था/प्रतिष्ठा हो, जहाँ सूर्य की किरणें प्रवेश नहीं करती हों, दीपक सदा जलता रहता हो, रोगी पुरुषों का पोषण होता है, थके हुए मनुष्यों की वैयावृत्ति होती हो, उस घर में लक्ष्मी निवास करती है। ऐसा घर शुभ होता है।

अशुभ गृह—देवकुल के समीप घर होने से दुःख होते हैं। चौराहे पर होने से अर्थ-हानि, धूर्त, मदिरा पान करने वालों के घर के समीप घर होने से पुत्र और धन-क्षय, जिस घर में अनार, केला, बेरी और बिजौरा होते हैं, वे वृक्ष घर का मूल से विनाश कर देते हैं। पीपल के वृक्ष से सदा भय रहता है। वट वृक्ष से राजजनित पीड़ा होती है। ऊमर वृक्ष से नेत्रपीड़ा, दूध वाले वृक्ष से धननाश, कांटे वाले वृक्ष से शत्रु भय रहता है। इन वृक्षों की लकड़ी का भी त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार के गृह अशुभ होते हैं। ये सदा दुःख के कारण होते हैं। ऐसे गृहों में निवास करनेवाले सदा दुःखी रहते हैं। अतः वास्तु शास्त्र के आधार से दोषों का निराकरण करना चाहिए।^{१६}

वास्तु की वैज्ञानिकता

वास्तु प्रकृति के अनुकूल निर्माण का विज्ञान है, जिससे प्रकृति की पोषणकारी शक्ति प्राप्त कर मानव उत्तरोत्तर विकास करता है। वास्तु में व्यक्ति की प्रकृति (नैसर्गिक स्वभाव) के अनुरूप किस प्रकार, किस अनुपात में, किस दिशा में, कैसा निर्माण किया जाए, जो उसके विकास में सहायक हो, इसका वर्णन है। वास्तु विज्ञान मनुष्य व उसके चारों ओर व्याप्त वातावरण का अध्ययन करता है, और उसे मनुष्य की शक्ति एवं मानसिक स्थिति के अनुसार बनाने में सहायता करता है। वास्तु यानि भूमि-भवन से जुड़ा एक ऐसा विज्ञान, जिसमें पर्यावरण में व्याप्त ऊर्जाओं के समुचित उपयोग द्वारा सुखद व स्वस्थ जीवन के लिए विस्तृत व्याख्या मिलती है। वास्तुशास्त्र प्राकृतिक नियमों पर आधारित है, प्राकृतिक शक्तियों का सन्तुलन इसका आधार है।^{१७}

मन्दिरों के निर्माण में वास्तु शिल्पकारों ने अपनी बुद्धिमत्ता का भरपूर उपयोग किया। प्राचीन परम्पराओं एवं शास्त्रों के आधार पर निर्मित मन्दिरों ने भारत के सांस्कृतिक गौरव को स्थापित किया।

मन्दिर का पहलूपूर्ण पहलू उसका ऊर्जामय वातावरण है। मन्दिर की आकृति एवं वहाँ निरन्तर मन्त्रों के पाठ की ध्वनि का परावर्तन आराधक को ऊर्जा प्रदान करता है। जब हम पापमय स्थानों में जाते हैं, तो स्वाभाविक रूप से हमारे मन में पाप करने के कु-विचार आते हैं। मन्दिर में इसके विपरीत आराध्य प्रभु के प्रति विनय, श्रद्धा

तथा शरणागत —जैसे भाव उत्पन्न होते हैं। मन्दिर का शान्त ऊर्जामय वातावरण मन को चंचल गति को स्थिरता देता है। अनायास ही हमारे मन में भगवान् की भक्ति, अनुराग तथा उनके गुण-ग्रहण करने की भावना होती है।

कर्मोदय और वास्तुशास्त्र

क्षेत्र, काल, भव और पुद्गल का निमित्त पाकर कर्मों का उदय होता है। इन कर्म-निमित्तों का प्रभाव कर्मोदय को प्रभावित करता है। कर्मोदय में वास्तु (गृह) भी निमित्त बनता है। हम हमेशा अशुभ निमित्त हटाते हैं और शुभ निमित्त जुटाते हैं। अशुभ वास्तु कर्मोदय में अशुभ निमित्त बनता है, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।¹⁷ उदासीन, प्रेरक निमित्त, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी कारणों को कार्योत्पत्ति में कारण मानना चाहिए।¹⁸ समवसरण में अशुभ कर्म प्रकृतियाँ शुभ रूप, नरकों में शुभ प्रकृतियाँ अशुभ रूप एवं स्वर्गादिक में अशुभ प्रकृतियाँ शुभ रूप संक्रमित होकर उदय में आती हैं, अतः क्षेत्रादि का प्रभाव मन पर पड़ता है, ये भावों को शुद्धाशुद्ध करते हैं एवं कर्मोदय भी बाहरी परिवेश से प्रभावित होता है अर्थात् वास्तुशास्त्रानुकूल गृहों का निर्माण कर उनमें रहने वालों के मन को विशुद्ध बनाने में साधक बनाया जा सकता है, क्योंकि कार्यों को कारण ही बनाते हैं और कारणों में पड़ी हुई सामर्थ्य निमित्त कार्यों का उपजा देती हैं।¹⁹ कर्मों के उदय बदले जा सकते हैं। कर्मों में संक्रमण, विसंयोजन, उदीरण, प्रदेशोदय हो जाते हैं। मध्य में ही आयु का अपवर्तन हो सकता है, पुण्य कर्म पाप बन जाता है, पाप भी पुण्य रूप हो सकता है। जैसे—कारण मिलेंगे, वैसे ही कार्य होंगे। निमित्त-नैमित्तिक कर्मों की शक्ति अचिन्त्य है।²⁰ उदय के लक्षण में यानी कर्मों के फल देने में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को निमित्त कारण स्वीकार किया है।²¹ कर्मोदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से होता है, अतः निमित्तों में परिवर्तन कर कर्मोदय में परिवर्तन किया जा सकता है। जैसे लोभ उत्पन्न करने वाली सामग्री का सान्निध्य टालकर और निर्लोभ की प्रेरणा देने वाले निमित्तों का आश्रय लेकर लोभ के उदय को टाला जा सकता है।²² वर्तमान में प्राप्त सामग्री को मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रतिकूल से अनुकूल करता है, जबकि विपरीत पुरुषार्थ से अनुकूलता भी प्रतिकूलता में परिवर्तित हो जाती है। वास्तु-विज्ञान में ऐसी ही पुरुषार्थ क्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। जिससे यह ज्ञात होता है कि उपलब्ध वास्तु-संरचना हमारे लिए हितकर है अथवा नहीं। यह भी जानना आवश्यक है कि वास्तु में प्रतिकूल-संरचना को कैसे अनुकूल किया जाए। कर्मफलानुसार प्राप्त वास्तु-संरचनाओं को विज्ञान-सम्मत, वास्तुशास्त्र से पुरुषार्थपूर्वक अपने अनुकूल बनाकर जीवन सुखी कैसे बनाएँ?²³

विकल कारण से कार्य नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण अविकल कारणों से कार्य उपजता है। क्षेत्र निमित्त से नरकों में पर-पीड़ा पहुँचाने के विचार होते रहते हैं। तीर्थस्थान,

मन्दिर, बाजार, नाटकगृह इत्यादि में शुभ-अशुभ भाव होते रहते हैं, अर्थात् प्रतिकूल गृहों में भी शुभभाव नहीं हो पाते, निरन्तर कलह, विवाद, विषाद आदि के परिणाम होते हैं, जो कर्मों के संक्रमण के कारण बनते हैं। इससे गृहों का निर्माण वास्तुशास्त्रानुकूल होना चाहिए। जो मन्दिर वास्तुशास्त्रानुकूल नहीं बने होते हैं, उनमें पूजादि करने पर मन स्थिर नहीं हो पाता, पदाधिकारी कलह करते रहते हैं।

जिनमन्दिर और गृह की शाश्वत अनादि परम्परा में भरत, ऐरावत क्षेत्र की उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल की परिवर्तनीय अवस्थाओं में भी गृह और मन्दिर की अधुण परम्परा रही है। जैनागम में जहाँ मन्दिर और गृह के वास्तु का उल्लेख है, वहीं गृहस्थ एवं मुनियों के अन्त-समय में सल्लेखना, समाधि और शव-विसर्जन हेतु वसतिका, संस्तर, एवं निषीधिका के वास्तु का भी कथन है। इनके निर्माण का मानोन्मान अकृत्रिम चैत्यालय एवं विदेह क्षेत्रादि की शाश्वत कर्मभूमियों में गृहादिकों के मान को प्रमुख रखा गया है। वास्तुशास्त्र के प्रतिकूल निर्माणादि करने के विपरीत परिणामों का भी जैनागम में उल्लेख है। भरतक्षेत्र की परिवर्तनीय कर्मभूमि के प्रारम्भ में कुलकरो के मार्गदर्शन में गृहादिकों का निर्माण होता है। इस कर्मभूमि के प्रारम्भ में कुलकरो एवं प्रथम तीर्थंकर ने भी गृह, मन्दिर आदि की संरचना, अवधिज्ञान के द्वारा विदेहक्षेत्र आदि की व्यवस्था के अनुसार निर्देश दिये थे एवं वास्तु, ज्योतिष, कला, शिल्प, नृत्य, गीत, गणितशास्त्र आदि लोकोपकारी विद्याओं का उपदेश दिया था।¹⁴ मे-सब जैनागम द्वादशांग के अंग हैं। इनके अनुसार ही कार्य करना अर्थात् वास्तुशास्त्रानुसार ही गृह-मन्दिर आदि का निर्माण करना श्रेयस्करो है। वास्तु-विद्या लोकोपकारी विद्या है, इसका अपना महत्त्व है। अनेक आचार्यों ने वास्तुविद्या के उल्लंघन न करने का निर्देश दिया है।

सन्दर्भ

1. दृषद्विष्टका काष्ठादिरचिते श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतराग प्रतिमाधिष्ठितं चैत्यगृहम् । —बोधपाहुड टीका 8, 76, 13
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 2 पृ. 300 शुल्लक जेनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1990
3. तिलोपपण्णत्ति सत्तमो महाहियारो गाथा 114 पृष्ठ 269 श्री यतिवृषभाचार्य टीका 105 आर्यिका विशुद्धमति माताजी प्रकाशक-प्रकाशन विभाग श्रीभारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा 1984
4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 303, 304
5. त्रिलोकसार, नरतिर्यङ्लोकाधिका, पृष्ठ 749 श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, व्याख्याकार— श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव, हिन्दीटीका 105 आर्यिका विशुद्धमति माताजी प्रकाशक—साहित्य भारती प्रकाशन गन्धौर सोनीपत हरियाणा
6. आदिपुराण, सर्ग 12, पृष्ठ 264, आचार्यजिनसेन, सम्पादक, अनुवादक—पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, 1993, चतुर्थ संस्करण
7. आदिपुराण (आचार्य जिनसेन), सर्ग 12, पृष्ठ 255
8. आदिपुराण (आचार्य जिनसेन), सर्ग 16, पृष्ठ 359

9. प्रतिष्ठा पाठ (आचार्य जयसेन), श्लोक 17, पृष्ठ 6, वसुविन्दु अपरनाम आचार्य जयसेन, प्रकाशक-हीराचन्द्र नेमीचन्द्र दोशी सोलापुर, वीर निर्वाण संवत् 2452
10. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ ?
11. धवला पुस्तक 1 पृष्ठ 113, भ. पुष्पदन्त भूतवली, श्री वीरसेन स्वामी कृत धवला टीका, प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सन् 1980
12. आदिपुराण, भाग 1, (आचार्य जिनसेन), सर्ग 16, श्लोक 122 पृष्ठ 357
- 12ए. आदिपुराण, भाग 1, (आचार्य जिनसेन), सर्ग 16, श्लोक 182 पृष्ठ 362
13. त्रिलोकसार नरतिर्यग्लोकाधिकार पृष्ठ 749 गाथा 978
14. त्रिलोकसार नरतिर्यग्लोकाधिकार पृष्ठ 732 से 862
15. प्रतिष्ठासरोद्धार, पृष्ठ 2, श्लोक 17, पं. आशाधर, अनुवादक—पं. मनोहरलाल शास्त्री, प्रकाशक—जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, विक्रम संवत् 1974
16. प्रतिष्ठा पाठ (आचार्य जयसेन) श्लोक 134से 136 पृष्ठ 33
17. प्रतिष्ठा पाठ (आचार्य जयसेन) श्लोक 137 पृष्ठ 34
18. प्रतिष्ठा पाठ (आचार्य जयसेन) श्लोक 138 से 141 पृष्ठ 34, 35
19. ज्ञानपीठ-पूजांजलि, पृष्ठ 4, 5। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दसवाँ संस्करण, सन् 1997 मंगलाष्टक-ज्योतिर्व्यन्तर भावनामरगृहे....
20. रत्नकरण्ड श्रावकाचार अध्याय 1, श्लोक 20, पृष्ठ 52, स्वामी समन्तभद्राचार्य, संस्कृत टीका—श्री प्रभाचन्द्राचार्य, हिन्दी टीका—पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक-वीतराग वाणी ट्रस्ट टीकमगढ़ म. प्र.
21. पद्मपुराण सर्ग 92 श्लोक 76 श्री रविषेणाचार्य, सम्पादक-अनुवादक—नं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् 1978
22. श्रावकाचार, संग्रह, भाग 3, उमास्वामी श्रावकाचार श्लोक 98, 99, पृष्ठ 160
23. वास्तुसार 3, प्रासाद प्रकरण परम जैन चन्द्रांगज ठक्कुर फेरु, अनुवादक और सम्पादक—पं. भगवानदास जैन, प्रकाशक—आचार्य ज्ञानसागर विमर्श केन्द्र व्यावर, राजस्थान, श्लोक 63 से 68 पृष्ठ 149, 150
24. युग-युग में जैन धर्म, पृष्ठ 56, डा. ज्योतिप्रसाद जैन प्रकाशक—प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर,
25. युग-युग में जैन धर्म पृष्ठ 58
26. धवला पुस्तक 6, 1, 9, 9, 10, 430
27. श्रावकाचार-संग्रह, भाग 2, धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार, श्लोक 217, पृष्ठ 484, सम्पादक, अनुवादक पं. हीरालाल जैन शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर-2 सन् 2001
- 27ए. ज्ञानपीठ—पूजांजलि, पृष्ठ 8-9, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दसवाँ संस्करण सन् 1997 दृष्टाष्टकस्तोत्रम्—दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारी.....
28. श्रावकाचार-संग्रह, भाग 2, धर्मसंग्रह श्रावकाचार, श्लोक 81-82, पृष्ठ 159
29. श्रावकाचार-संग्रह, भाग 2, सागर धर्माभूत श्लोक 37 पृष्ठ 12
30. श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक 481-482, पृ. 475
श्रावकाचार-संग्रह, भाग 3, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, श्लोक 22, पृष्ठ 438
31. श्रावकाचार-संग्रह, भाग 3, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, श्लोक 6-7, पृष्ठ 427

जिनमन्दिर एवं गृह-वास्तु :: 723

- 31अ. श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक 271, पृष्ठ 451
- 31ब. भगवती आराधना, विजयोदयी टीका गाथा 557 से 561
- 31स. भगवती आराधना, विजयोदयी टीका गाथा 632 से 642
- 31द. भगवती आराधना, विजयोदयी टीका गाथा 1962 से 1964 पृष्ठ 766, 67
आचार्य शिवकोटि रचित प्रकाशक—श्री एम.एस. जैन (अध्यक्ष) श्री निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति 2008
32. धवला 14, 5-6, 41, 39, 3
33. श्रावकाचार-संग्रह भाग 2 सागर धर्माभूत श्लोक 59 पृष्ठ 16
34. श्रावकाचार-संग्रह भाग 3 उमास्वामी श्रावकाचार श्लोक 112, 113 पृष्ठ 162
35. श्रावकाचार-संग्रह भाग 4 कुन्दकुन्द श्रावकाचार श्लोक 94, 97, 102, 105 पृष्ठ 81, 82
36. वास्तु विज्ञान, संकलन सम्पादन—पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन, प्रकाशक—देवेन्द्रकुमार अभिषेककुमार जैन बिजलीवाले 1/6001 कबूलनगर शाहदरा दिल्ली
37. राजवार्तिक अध्याय 8 सूत्र 3 पृष्ठ 454
प्रकाशक—दुलीचन्द्र बाकलीवाल यूनिवर्सल एजेन्सीज, देरगाँव आसाम
38. कौन्देय कौमदी, पृष्ठ 46, पं. माणिकचन्द्रजी कौन्देय का व्यक्तित्व-कृतित्व प्रकाशक—
1008 चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र प्रबन्ध समिति देहरा तिजारा मार्च 2005
39. कौन्देय कौमदी पृष्ठ 57
40. कौन्देय कौमदी पृष्ठ 78
41. कौन्देय कौमदी पृष्ठ 83
42. जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार-नय-एक अनुशीलन, पृ. 160, डॉ. रतनचन्द्र जैन भोपाल
प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी, सन् 1997
43. वास्तु चिन्तामणी, आचार्य देवनन्दी जी महाराज, पृष्ठ 4, प्रकाशक—श्री प्रज्ञाश्रमण दिगम्बर
जैन संस्कृति न्यास, नागपुर, सन् 1998
44. आदिपुराण, सर्ग 16, श्लोक 125, पृष्ठ 357

वास्तु

डॉ. राजेन्द्र जैन

जैन मान्यतानुसार वास्तु—

वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वस्' धातु से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, निवास की भूमि । "प्रकृति और मानव में सही सम्बन्ध स्थापित करने की स्थापत्य-कला का नाम वास्तु है" वास्तुकला के सिद्धान्त प्राकृतिक परिस्थितियों एवं भौगोलिक स्थिति के अनुसार निर्मित हुए हैं । वास्तु एक व्यवस्था है, जो सूर्य की किरणों, चुम्बकीय तरंगों एवं गुरुत्वीय आकर्षण के अनुसार कार्य करती है। वास्तु भूमि और भवन से जुड़ा एक ऐसा विज्ञान है, जिसमें वातावरण में व्याप्त ऊर्जाओं के समुचित उपयोग द्वारा सुखद व स्वस्थ जीवन के लिए विस्तृत व्याख्या मिलती है ।

समूची सृष्टि ऊर्जा के संवहन-चक्र से चलती है, यहाँ तक कि मानव का शरीर भी ऊर्जा के वशीभूत है। इसी प्रकार जमीन, बँगले, फसलें, कारखाने, विद्या केन्द्र, औद्योगिक प्रतिष्ठान पर, उस जमीन की ऊर्जा-संवहन का सुख-कारक या दुःख-कारक प्रभाव पड़ता है। इन ऊर्जाओं का परीक्षण एवं दिशागत ऊर्जा के ज्ञान का नाम है वास्तु और इस शिल्पकला के शिल्पी को "वास्तुकार" का नाम दिया गया है।

जब हम एक चुम्बक की पर्यावरण में घुमाते हैं, तो उसमें विद्युत् तरंगें पैदा होती हैं, ठीक इसी प्रकार पृथ्वी भी चुम्बक प्रतीक है, चुम्बक घुमाने पर पर्यावरण में चुम्बकीय क्षेत्र निर्मित होता है, जो कि मानव शरीर पर सुखकारक व दुःखकारक असर डालता है । प्राकृतिक ऊर्जाएँ गृहों की गति द्वारा प्राप्त होती हैं । ये ऊर्जाएँ दो प्रकार की होती हैं—

1. ब्रह्माण्डीय ऊर्जा (Cosmic Energy)
2. भूगर्भीय ऊर्जा (Geopathic Energy)

प्रत्येक गृह का अपना ऊर्जा-पुंज होता है, इसका सीधा प्रभाव मानव-

जीवन पर पड़ता है। भूगर्भ में अनेक गैस, ठोस, द्रव खनिजों का भण्डार है।

जीवन पर पड़ता है। भूगर्भ में अनेक गैस, ठोस, द्रव खनिजों का भण्डार है।

जिनमें निर्मित ऊर्जा चट्टानों के बीच की दरारों से एवं जमीन के अन्दर बहने वाली

जलधाराओं से पृथ्वी की ऊपरी सतह पर आती है, जिसका प्रभाव पृथ्वी पर निर्मित भूखण्ड, भवनों तथा कारखानों पर पड़ता है, इस ऊर्जा को भूगर्भीय ऊर्जा कहते हैं।

जैन सिद्धान्त के अनुसार तीर्थंकर भगवन्त के मुखकमल से निर्गत गणधर देव द्वारा रचित 12 अंग एवं चौदह पूर्व में से दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के पाँच भेद में स्थलगता के अन्तर्गत वास्तु-विद्या एवं तन्त्र-मन्त्र का वर्णन है, जिसके 2,09,89,200 पद हैं। भगवान् आदिनाथ की अयोध्या नगरी भी देवों ने वास्तु के अनुसार ही बसायी थी, जिसमें जाति, वर्ण-व्यवस्था एवं दिशा के अनुसार नगर को बसाया गया था।

चक्रवर्ती के 14 रत्नों में एक रत्न स्थपति (भूमि और मकान बनाने की कला) था। जब भगवान् योगनिरोध क्रिया करते हैं, तब मुख सिर्फ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर करते हैं। भगवान् आदिनाथ ने अपने पुत्र अनन्तवीर्य को वास्तु का ज्ञान दिया था, तभी से यह विद्या प्रचलित है। अनादिकाल से मनुष्यों एवं देवों द्वारा जिनमन्दिर एवं समवसरण की रचना होती रही है, जिसका उल्लेख तिलोपपण्ती, त्रिलोकसार, जम्बूदीव संग्रहो आदि प्राचीन ग्रन्थों में है। जिससे सिद्ध होता है कि जबसे सृष्टि है, जैन धर्म है, तभी से वास्तु-विद्या है।

वास्तु को प्रभावित करने वाले मूल-घटक :-

मूलतः वास्तु एवं वास्तु को चार घटक प्रभावित करते हैं :-

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव।

द्रव्य वास्तु से अभिप्राय है कि भूमि क्रय करने में व्यय की जाने वाली राशि की गुणवत्ता। गुणवत्ता से तात्पर्य है, निर्माण में उपयोग होने वाली पूँजी। जैसे कत्लखाने, चमड़ा व्यापार, पेस्ट्रीसाईड फेक्ट्री आदि हिंसात्मक तरीके से कमाया गया द्रव्य शुभ कार्यों (जैसे- धर्मयतन, सन्त-निवास तथा आवास आदि के लिए भी) में लगाने पर अशुभ फलदायी होता है।

क्षेत्र वास्तु से अभिप्राय भूमि के गुणधर्म से है। जिस क्षेत्र का चयन करने जा रहे हैं, वह भूमि पौर्वरफल है या नहीं, उसमें कोई नकारात्मक ऊर्जा या शल्य तो नहीं है। सामान्य शब्दों में भूमि की दशा का वास्तविक ज्ञान करना ही क्षेत्र वास्तु है।

काल वास्तु से अभिप्राय है, चयनित भूमि पर कार्य शुभारम्भ करने का शुभ मुहूर्त। यूँ तो समुद्र में विद्यमान सीप में पानी की बूँद सदैव ही गिरती है, परन्तु स्वाति नक्षत्र में गिरी हुई बूँद मोती का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार शुभ मुहूर्त में किया गया कार्य सदैव ही निर्विघ्न और शुभ फलदायी होता है।

भाव वास्तु से अभिप्राय है, शिल्पी के निर्माण करते वक्त भावों की प्रधानता। अगर निर्माण करने वाले शिल्पी के भाव शुद्ध हों और वह सन्तुष्ट ही, तो कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। अतः शिलान्यास के समय सर्वप्रथम शिल्पी का टीकाकरण वस्त्र और मुद्रा के द्वारा करना चाहिए।

वास्तु व वस्तु (Building Material)—भवन वास्तु के निर्माण में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री पर सूर्य-किरणों का सीधा प्रभाव पड़ता है। जैसे—प्राचीन काल में मिट्टी के मकान बनाये जाते थे, जो-कि सर्वश्रेष्ठ होते थे, कारण यह है कि मिट्टी आर्द्रता को अवशोषित कर वाष्पीकृत कर देती है तथा वायु के सम्पर्क में आकर वायु में उपस्थित विभिन्न रोगाणुओं को समाप्त करती है एवं तापमान उचित बना रहता है, जिससे निवास-कर्ता का मन शान्त रहता है, जो-कि धर्म-आराधना में सहायक है।

घर की छत, फ्लोर, दीवार में कोटा स्टोन, सैण्ड स्टोन एवं सिरेमिक टाइल्स का प्रयोग कर सकते हैं। भूलकर भी घर में ग्रेनाइट, मार्बल, काला पत्थर आदि का प्रयोग ना करें, क्योंकि यह सूर्य की लाभकारी किरणों को भी हानिकारक किरणों में परिवर्तित कर देते हैं।

वे घर (पक्के मकान) जिनमें काँक्रीट, सीमेन्ट प्लास्टर, पेन्ट, चार्निश तथा पी.वी.सी. आदि का भरपूर प्रयोग होता है, वे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। जिन भवनों (कच्चे मकान) में पत्थर, मिट्टी, ईट, रेत, चूना, मार्टर, लकड़ी आदि का प्रयोग होता है, वे भवन सौर एवं ब्रह्माण्डीय ऊर्जाओं के सुचालक होते हैं तथा नकारात्मक ऊर्जाओं को निष्कासित कर देते हैं। प्राचीन किले, मन्दिर, पाषाण (सैण्डस्टोन) से निर्मित किये जाते थे, जिसके पीछे मुख्य तथ्य यह था कि, पाषाण में बारीक-बारीक (अदृश्य) छिद्र होते हैं, जो-कि सूर्य की ऊर्जा को अन्दर तक पहुँचाने में सक्षम होते हैं। भवन की दीर्घायु हेतु इन पाषाणों को इस तरह से समायोजित किया जाता था कि एक नर और दूसरा मादा पत्थर आपस में मिलाकर लगाये जाते थे। आकर्षण के सिद्धान्त के कारण ये हजारों वर्ष तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

रंग— विभिन्न रंगों का हमारे तन-मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। रंगों का चयन व्यक्ति की राशि एवं वास्तु स्थान के उपयोग पर निर्भर करता है। जैसे शयनकक्ष शुक्र ग्रह का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसमें शुक्र से सम्बन्धित रंग का ही चयन किया जाना चाहिए। जैसे कि गुलाबी, बैंगनी एवं सफेद रंग। इसी तरह रसोई घर की आन्तरिक सज्जा में हल्का पीला, नारंगी एवं सफेद रंग कर सकते हैं। बैठक-कक्ष में पिस्ता, हल्का पीला तथा अध्ययन-कक्ष में हल्का पीला, हल्के नीले रंग का उपयोग करें; परन्तु घर में कहीं भी काला, मटमैला और भूरे रंग का प्रयोग ना करें, क्योंकि ये सभी रंग शनि और राहु-केतु के प्रतीक हैं, जो- कि मन को उद्विग्न करते हैं।

भूमि चयन (Land Selection)— आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने अष्टांग-निमित्त में “भूमि-निमित्त” बताया है, जिसमें भूमि के प्रकार और गुण-धर्मों का वर्णन है। सामान्यतः वास्तु में दिशा को ही महत्त्व दिया जाता है। जबकि यथार्थ यह है कि दिशा से कहीं ज्यादा भूमि की अन्तर्दिशा महत्त्व रखती है। बिल्कुल वैसे ही, जैसे मानव की ऊपरी संरचना से ज्यादा महत्त्वपूर्ण उसकी अन्तर-आत्मा या आभा-मण्डल होता है। वास्तु में

दिशा का महत्त्व तो है, किन्तु दशा का महत्त्व उससे कहीं ज्यादा है। भूमि की दशा का किसी भी निर्माण कार्य में 70 प्रतिशत योगदान होता है, जबकि ऊपरी संरचना अर्थात् दिशा विन्यास मात्र 30 प्रतिशत प्रभाव डालती है। दिशा विन्यास यदि बाहरी वातावरण को प्रभावित करता है, तो दशा-विन्यास आन्तरिक भूगर्भीय संरचना एवं भूमि-गत ऊर्जा को प्रभावित करता है। भूमि का चयन, कार्य-विशेष को ध्यान में रखकर किया जाता है। धार्मिक कार्यों के लिए शान्त तथा निवास के लिए प्रशस्त भूमि का चयन किया जाता है। इसी प्रकार धर्मग्रन्थों में तो युद्ध के लिये निर्दयी, निष्ठुर भूमि के चयन का वर्णन आया है। जब महाभारत का युद्ध हुआ, तो भूमि-चयन के लिये श्रीकृष्ण ने उस भूमि को चुना, जहाँ माँ ने सिंचाई के लिए जल को रोकने हेतु नहर में मिट्टी के बदले अपने बच्चे को लगा दिया। बच्चे की मृत्यु होने के उपरान्त बिना किसी खेद के स्वयं ही बच्चे को जमीन में गाढ़ दिया। श्रीकृष्ण जी ने यही भूमि युद्ध के लिए सर्वोत्तम मानी, जहाँ माँ की ममता भी स्वार्थ की बलि चढ़ गई, यही जगह “कुरुक्षेत्र” कहलाती है। भूमि की अन्तर्दशा मानवीय संवेदनाओं पर गहरा प्रभाव डालती है। भूमि चयन करने की कई विधियाँ हैं, जिनमें से पाँच प्रमुख हैं :-

1. भौतिक विधि (Physical Method)— रस, गन्ध, वर्ण, स्वर एवं घनत्व के आधार पर भूमि का चयन किया जाता है।

2. रासायनिक विधि (Chemical Method)— भूमि में उपस्थित तत्व के आधार पर भूमि का चयन किया जाता है।

3. भौगोलिक विधि (Geographic Method)— भूमि का उतार-चढ़ाव, नदी-पहाड़ आदि की स्थिति के आधार पर भूमि का चयन किया जाता है।

4. यान्त्रिकीय विधि (Mechanical Method)— यान्त्रिक उपकरणों (लेजर एंटीना) के द्वारा भूमि की ऊर्जा का परीक्षण किया जाता है।

5. डारजिंग विधि (Dousing Method)— इस विधि में व्यक्ति अपनी संवेदनशीलता के माध्यम से भूमिगत ऊर्जा का ज्ञान करता है।

भूमि का चयन भिन्न-भिन्न जाति के लिए भिन्न-भिन्न होता है।

वर्ण	रंग	स्वाद	गन्ध
ब्राह्मण	सफेद	मीठा	घी
क्षत्रिय	लाल	कसैला	रक्त
वैश्य	पीला	खट्टा	तेल
शूद्र	काला	कड़वा	मछली

जो भूमि स्पर्श करने पर ग्रीष्म ऋतु में शीतल तथा शीत ऋतु में उष्ण महसूस होती है वह भूमि श्रेष्ठ होती है। घी, दूध, दही के स्वाद वाली भूमि निवास अथवा धर्मायतन के योग्य होती है। जिस मिट्टी की गन्ध केसर, मोगरा, गुलाब, केवड़ा, चन्दन-जैसी हो, उस भूमि को भी श्रेष्ठ भूमि की उपमा दी गई है। रंगों के आधार पर हरी-पीली सफेद रंग की भूमि सुख-शान्ति एवं समृद्धि-प्रदाता होती है। जिस भूमि में ईश्वर का ध्यान करने अथवा माला जपने में मन एकाग्र बना रहे, वह भूमि ऊर्जावान होती है। इसके विपरीत यदि मन की एकाग्रता भंग हो या ईश्वर-भक्ति में विघ्न आए या उच्चाटन, हो तो निश्चित तौर पर वह भूमि शापित, बाधित या नकारात्मक है। जब तक इस भूमि की नकारात्मकता का निदान न होगा, तब तक निर्माण-कार्य प्रारम्भ न करें।

रासायनिक विधि में मिट्टी की दशा का ज्ञान करने के लिए चारों दिशाओं और विदिशाओं से मिट्टी एकत्रित करके आठ कटोरों में पृथक्-पृथक् डालें, साथ ही प्रत्येक कटोरे में पाँच-पाँच ग्राम सिन्दूर डालें। यदि घोल का रंग लाल बना रहे, तो भूमि उत्तम है और यदि किसी कटोरे के घोल का रंग काला हो जाए, तो उस स्थल पर नकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न करने वाला कोई भी तत्व भूमि में विद्यमान होगा। इसी प्रकार के आठों दिशाओं, विदिशाओं में गाय के घी दीपक जलाकर परीक्षण किया जाता है।

जिस स्थल पर निर्माण करना है या निवास स्थान बनाना हो, उस भूमि का ढलान उत्तर, पूर्व या ईशान की तरफ हो, तो भूमि सुखदायी होती है। यदि ढलान आग्नेय कोण की तरफ हो, तो अग्नि का भय रहता है। यदि ढलान दक्षिण की तरफ हो, तो मृत्यु-तुल्य कष्ट होता है। नैऋत्य की ओर हो, तो गृह-स्वामी को संकट के बादल छत्रे रहते हैं। वायव्य की तरफ हो, तो चोरी का भय, पश्चिम की तरफ हो, तो शोक उत्पन्न कराती है। ग्राम, नगर, मोहल्ला, महल, घर, मन्दिर आदि का निर्माण वहाँ करें, जहाँ नदी उत्तर-पूर्व में तथा पहाड़ दक्षिण-पश्चिम में हो। यह समस्थिति सिद्धान्त (Isostasy Principal) कहलाता है। गृह-निर्माण इस तरह करें कि उत्तर-दक्षिण दिशा की लम्बाई ज्यादा हो, जिससे पृथ्वी के चुम्बकीय प्रभाव से सम्पर्क बना रहे। ध्यान रखें कि जो भूमि ऊँची-नीची हो या वक्रीय हो या दरारें पड़ी हो, बंजर हो, सौँप या चूहों का बिल हो, शापित, बाधित या पीड़ित हो, वह भूमि निवास-योग्य नहीं होती है। जहाँ पहले कभी मरघट, यमघट, कत्तलखाना, अस्पताल या पुलिस थाना रहा हो उस भूमि पर कदापि मन्दिर या गृह-निर्माण नहीं करना चाहिए, क्योंकि रचना तो ध्वस्त की जा सकती है, परन्तु वर्णणाएँ सदैव विद्यमान रहती हैं। इसके साथ ही भूमि की उर्वरक क्षमता भी भूमि परीक्षण में महत्वपूर्ण योगदान रखती है। जिस भूमि में सप्तधान (गेहूँ, जौ, तिल, सरसों, ब्रौही, शाल, मूँग) डालने पर सात दिवस तक अनुकूल वातावरण में अंकुरित ना

हो, ऐसी भूमि को अधम भूमि समझा जाता है।

भूमि की ऊर्जा मापने की डाउजिंग पद्धति में भूमि चयनकर्ता अपने हाथों में एल (L) शेप की दो कॉपर राडें लेकर नंगे पैर चलता है। राँड की घूमने की तीव्रता के आधार पर भूमि की ऊर्जा का ज्ञान होता है तथा भूमि में छिपी हुई अज्ञात वस्तुएँ जैसे खनिज सम्पदा, जल, इसके अलावा, भूमि में छिपी शल्य, कंकाल व अन्य नेगेटिव-पॉजिटिव ऊर्जा उत्पन्न करने वाले तत्व खोजे जाते हैं। हालाँकि यह पद्धति सदियों पुरानी है। फिर भी आश्चर्यचकित करने वाली है। मैं स्वयं एक डाउजर हूँ और इस विधि से 200 से अधिक स्थलों पर कंकाल (हड्डियाँ) निकाल चुका हूँ, जिनमें से 9 जैन मन्दिर सम्मिलित हैं। यही नहीं मनुष्यों का आभा भण्डल एवं स्वास्थ्य का परीक्षण भी इस विधि से किया जा सकता है।

वास्तु एवं शुद्धीकरण विधि— चयनित भूमि की ऊपरी परत जो—कि बाहरी वातावरण से दूषित रहती है, उसे लगभग 3 फीट से लेकर 5 फीट तक खोदकर अलग कर दें। भूमि को समस्त नकारात्मक ऊर्जा एवं दुष्प्रभावों से मुक्त करने हेतु भूमि में पारा रोपित (Inject) करें। पारा जमीन के क्षेत्रफल एवं नकारात्मक ऊर्जा को आधार मानकर हवा के प्रवाह की दिशा में भूमि में डालें। निश्चित तौर पर कुछ ही दिनों में समस्त नकारात्मक ऊर्जा पलायन कर जाएगी। जैसे ही पारा भूमिगत होता है, वह वैसे ही भूमि के समस्त विकारों को नष्ट कर देता है, क्योंकि पारा एक बुभुक्षु धातु है।

भूमि के “गर्भ-विन्यास” (शिलान्यास) का वास्तु में बड़ा महत्त्व है। शिलान्यास श्रेष्ठ मुहूर्त, शुभ मास, पक्ष, नक्षत्र, लग्न, दिन व ग्रहों की शुद्धि के आधार पर करें। गर्भ-विन्यास में चाँदी का नन्दावर्त स्वास्तिक अवश्य डालें एवं ताम्र पात्र में चाँदी, तांबा, पारा का स्वास्तिक पंचरत्न, चाँदी का सवा रुपया, जड़ धान्य औषधि एवं सवा किलो गाय का घी रखें, जिससे भूमि रत्नप्रभा व धृततुल्य सुगन्ध वाली हो जावेगी।

निर्माण-कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व वास्तु-रजिस्ट्री (भूमि में निवासरत देवताओं से निर्माण की आज्ञा) अवश्य करावें। वास्तु के 49 अर्घ्य चढ़ाकर विधिवत् तरीके से कलश दीप सहित स्थिर लग्न और चन्द्र स्वर में स्थापित करें। ध्यान रखें कि शिलान्यास के गहड़े को ढकते वक्त दीप प्रज्वलित रहे जिससे आपके गृह वास्तु को ज्योति जीवन्त होगी। शिलान्यास के उपरान्त शिल्पी का तिलककरण वस्त्र और मुद्राएँ देकर करें।

भूमि यदि निवास के लिए तैयार करना हो, तो उस भूमि पर सात दिवस तक प्रथम जनने वाली गाय को बछड़े सहित सेवा की जाये। जब गाय बछड़े को वात्सल्य (चाटती है) करती है, तो उसके मुख से जो लार भूमि पर गिरती है, उससे भूमि वात्सल्यमयी हो जाती है। जिससे निवासकर्ताओं में आपस में प्रेम, स्नेह, वात्सल्य बना रहता है। यदि भूमि वाणिज्य, व्यापार हेतु तैयार करना हो, तो शिलान्यास के गहरे

में एवं ईशान-कोण पर वृषकोप (जहाँ बैल अपना सींग मारता है) मिट्टी डालें, जिससे व्यापार में कभी कमी नहीं आयेगी।

जिस भूमि पर धर्मायतन, आराधना-कक्ष, साधना-कक्ष तैयार करना हो, उस भूमि पर भगवान के निर्वाण-स्थल (सम्मेद शिखर) की मिट्टी डालें।

भूमि को ऊर्जावान बनाने हेतु शिलान्यास से पूर्व भूमि पर 11,000 भूमि जागरण मन्त्र, शान्ति मन्त्र एवं वर्धमान मन्त्र की जाप गाय के घी का दीपक जलाकर करें। निर्माण में खुदाई, ईशान से प्रारम्भ करें एवं भराई नैऋत्य कोण से करें।

निर्माण में ईंट और पत्थर की जुड़ाई हमेशा नर व मादा ईंट और पत्थर को जोड़कर करें, जिससे वह लम्बे समय तक जुड़े रहेंगे।

रसोई घर— गृह वास्तु में सबसे महत्वपूर्ण अंग है रसोईघर, रसोईघर ऊर्जा का वह केन्द्र है, जिसके द्वारा घर का हर सदस्य ऊर्जा प्राप्त करता है एवं भावनात्मक रूप से जुड़ता है। सही दशा एवं दिशा में निर्मित रसोई घर मानसिक एवं शारीरिक स्थिति को अनुकूल बनाने में परम-सहयोगी होता है। रसोई घर भूखण्ड के आग्नेय कोण (SE) पर इस प्रकार निर्मित करें कि उस स्थल पर समुचित हवा एवं प्रकाश का इन्तजाम हो, जिससे सूर्य की अल्ट्रावायलेट किरणों के प्रभाव से भोजन रोगाणु मुक्त हो जाये। भोजन तैयार करते वक्त गृहिणी का मुख पूर्व की तरफ होना चाहिए। रसोईघर आग्नेय में बनाना यदि सम्भव ना हो तो वायव्य (NW) में भी बना सकते हैं परन्तु किसी भी अवस्था में ईशान (NE) एवं नैऋत्य (SW) में ना बनायें। ईशान का बना रसोईघर मानसिक त्रास व नैऋत्य में बना रसोईघर गृहस्वामी को संघर्ष करा सकता है। रसोई घर के क्षेत्रफल के अनुपात का ध्यान रखें। धुम्र आय का क्षेत्रफल बनाना चाहिए।

$$\frac{\text{ल.} \times \text{चौ.}}{8} = \text{शेष 2 बचे}$$

रसोई घर आग्नेय (SE) कोण पर बनाना चाहिए, क्योंकि दिन के पूर्वार्ध में सूर्य की अल्ट्रावायलेट किरणों की प्रचुरता रहती है, जिसकी उपस्थिति में भोजन बनाने वाले का मन-मस्तिष्क प्रशस्त बना रहता है। भोजन में वस्त्र-शुद्धि के साथ-साथ भाव-शुद्धि (सुविचार, मेरी भावना पढ़ते हुए) के साथ भोजन तैयार करें, तो भोजन स्वयमेव ही स्वादिष्ट बन जाता है। रसोईघर में प्लेटफार्म काले पत्थर का न बनायें, क्योंकि काले पत्थर में सूक्ष्म जीव जैसे चींटी आदि दिखाई नहीं पड़ते। साथ ही काला रंग कृष्णलेश्या का प्रतीक है, जो राहु-शनि का द्योतक है। पीला, लाल (लाखा ग्रेनाइट), सफेद, ग्रीन पत्थर लगा सकते हैं, परन्तु पत्थर पर मार्बल (CaCo3) ना लगायें, वना धुतनों में दर्द बना रहेगा। प्लेटफार्म पर आग और पानी दूर-दूर रखें।

दोनों तत्त्व आपस में शत्रु हैं, जिससे विचारों में भिन्नता व क्लेश अशान्ति बनी रहेगी। रसोईघर के ठीक सामने या पास में शौचालय नहीं होना चाहिए, अन्यथा हमारे द्वारा विसर्जित रोगाणु हमारे खाद्य-पदार्थों पर बैठकर रोगों की उत्पत्ति करा देंगे। रसोई घर में सेप्टिक टैंक, पानी की टंकी, गद्दा नही होना चाहिए, चरना महिलाओं को हड्डी और नसों में पीड़ा बनी रहेगी। रसोईघर की दीवाल का रंग हल्का पीला, नारंगी अथवा सफेद रखें।

शयन कक्ष— शयन कक्ष घर का वह महत्वपूर्ण स्थान है, जहाँ सारे दिन की थकान आराम पाती है। निद्रा हर व्यक्ति व वनस्पति के लिए आवश्यक होती है। हम अपने जीवन का एक तिहाई समय शयनकक्ष में ही व्यतीत करते हैं। शयन करने की शैली का भी एक वैज्ञानिक आधार है। गलत विधि से किया गया शयन कुपच, ब्लड प्रेशर, तनाव, माइग्रेन आदि की वजह बन सकता है। अगर हम शयन करने से पूर्व कुछ बातों का ध्यान रखें, तो इन समस्याओं से मुक्त हो सकते हैं।

गृह-स्वामी का शयन-कक्ष भूखंड के नैऋत्य में (SW) कोण पर बनाना चाहिए, क्योंकि यह स्थान स्थिर तथा आरामदायक होता है। यह कक्ष सभी कक्षों में बड़ा एवं उचित आकार-प्रकार की बनावट का होना चाहिए तथा ध्यान रहे कि पलंग लकड़ी का हो हो, क्योंकि, लकड़ी उष्ण एवं कोमल होने के साथ-साथ विद्युत की कुचालक भी होती है। शयनकक्ष में पलंग इस तरह लगाएँ कि लेटते समय पैर उत्तर दिशा या पश्चिम दिशा की ओर हों, लेकिन भूलकर भी पैर दक्षिण में न करें। मानव शरीर भी एक चुम्बक का प्रतिरूप है, जिसमें सिर उत्तरी ध्रुव का द्योतक माना गया है, जब हम सिर दक्षिण दिशा में रखते हैं, तो विपरीत ध्रुव होने से आकर्षण पैदा होता है और अच्छी गहरी निद्रा आती है।

पलंग के ठीक सामने शौचालय का प्रवेश द्वार न हो तथा न ही पलंग के ऊपर बीम हो और न ही ओवरहैड टैंक हो, अन्यथा हार्ट अटैक जैसी बीमारियों की सम्भावना बढ़ जाती है। अगर सम्भव हो, तो शौचालय (WC) का निर्माण शयन-कक्ष के साथ न करें, क्योंकि यह नेगेटिविटी का प्रमुख केन्द्र है। प्राचीन वास्तु-ग्रन्थों में शौचालय की व्यवस्था का वर्णन कहीं नहीं है, जिससे सिद्ध होता है कि लोग शौच हेतु घर के बाहर जाया करते थे, परन्तु आज के परिवेश में यह सम्भव नहीं है। अतः कम-से-कम अटैच शौचालय (WC) का निर्माण न कराएँ।

शयन कक्ष में पलंग के समीप स्विच बोर्ड्स, टेबल लैंप, मोबाइल या कम्प्यूटर आदि न रखें, क्योंकि विद्युत चुम्बकीय तरंगें कक्ष में फैल जाने से नौद एवं मन की एकाग्रता भंग हो जाती है, जिससे स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है। शयनकक्ष में

युद्ध, अपराध, अशान्ति, आक्रोश का चित्रण करती हुई कोई भी पेंटिंग न लगाएँ तथा पलंग के सम्मुख दर्पण न लगाएँ, क्योंकि दर्पण शरीर की सभी ऊर्जाओं को परावर्तित कर देता है। शयन-कक्ष में कभी वृक्ष को छाया नहीं पड़नी चाहिए, अन्यथा शयन करने वालों को साइटिका, ऑर्थराइटिस तथा स्लिप-डिस्क होने की सम्भावना रहती है और यदि पलंग के पीछे खिड़की या दरवाजे हों अथवा ए.सी. या कूलर हों, तो कमरदर्द बना रहता है।

गृहस्वामी के शयनकक्ष के अलावा बच्चों का अध्ययन-कक्ष पूर्व, ईशान अथवा उत्तर दिशा में बनाना चाहिए तथा गेस्टरूम वायव्य (NW) में होना चाहिए और छोटे भाई-बहनों का कक्ष दक्षिण या पश्चिम दिशा में होना चाहिए।

वास्तु व स्वास्थ्य — सूर्य की किरणें मानव-जीवन पर सीधा प्रभाव डालती हैं। सूर्योदय के समय अल्ट्रावायलेट और इन्फ्रारेड किरणों का हमारी त्वचा, भोजन और रसोईघर, शयन-कक्ष, आराधना-कक्ष की आन्तरिक व्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। सुबह के समय मधुमेह के रोगियों को घूमने की सलाह इसलिए दी जाती है, क्योंकि सुबह सूर्य की किरणों में विटामिन डी की प्रचुर मात्रा रहती है। आग्नेय (SE) दिशा में तैयार रसोई से कीड़े, फफूँद, जीवाणु आदि के उत्पन्न होने, ठहरने की सम्भावना बाकी दिशाओं की तुलना में काफी-कम रहती है। इसके विपरीत दोपहर के समय निकलने वाली कास्मिक किरणें इस हद तक दुष्प्रभाव डालती हैं कि महिलाओं में होने वाले स्तन कैंसर और स्किन कैंसर जैसे असाध्य रोगों का कारण बनती हैं, क्योंकि दोपहर के समय इन किरणों की तीव्रता में बदलाव आ जाता है।

उच्च शक्तिशाली विद्युत लाईन (High Tension Line) के नीचे निवास, व्यापार, विद्यालय रहने से निवासकर्ता को कैंसर रोग होने की सम्भावना बढ़ सकती है, सीढ़ी के नीचे शौचालय, जनरेटर आदि की व्यवस्था न करें, अन्यथा भूखंड का सन्तुलन बिगड़ जाएगा। घर की नाली चोक रहने से अनेक असाध्य रोगों की उत्पत्ति होती है। भूमि में यदि पानी का बहाव गलत दिशा में हो अथवा पानी की टंकी से लगातार पानी बहता हो, तो दमा, टीबी— जैसा रोग होने की सम्भावना रहती है। भूमि का वायव्य कोण कटा हुआ हो, तो ब्लडप्रेसर, सर्दी-जुकाम, मूत्र विकार हो सकता है। भूखंड में नैऋत्य द्वार हो, तो गृह-स्वामी लम्बी बीमारी का शिकार हो सकता है, परन्तु यदि दक्षिण भाग में कुआँ हो, तो गृह स्वामी बीमार बना रहेगा।

हर व्यक्ति के लिए उसके शरीर व मन के आधार पर हर दिशा सही नहीं होती है। उस व्यक्ति विशेष को पूर्ण रूप से समझ लेने के बाद ही उसके लिए उपयुक्त दिशा का निर्धारण किया जा सकता है और इसके लिए जरूरी है कि उस व्यक्ति की

साइक्लोजीकल व फिजियोलॉजिकल प्रक्रियाओं को समझ जाए।

सभी दिशाओं व कोणों में विशेष लक्षण व मनोवैज्ञानिक भाव पाये गये।

उत्तर

पश्चिम	वायु-प्रवाह	चुम्बकीय व ठंडा क्षेत्र	सकारात्मक ऊर्जा व एकाग्रता से परिपूर्ण	पूर्व
	आरामदायक क्षेत्र	आध्यात्मिक ऊर्जा का स्रोत गुरुत्वाकर्षण बल	सकारात्मक ऊर्जा व एकाग्रता से परिपूर्ण सौर ऊर्जा	
	स्थिर आरामदायक व शान्ति क्षेत्र	सूर्य की जलती हुई गर्मी व तनाव	अल्ट्रावॉयलेट किरणें	

दक्षिण

आराधना कक्ष—“आराधना कक्ष अध्यात्म व व्यवहार का वह बेजोड़ संगम है, जो हमें शान्ति के सरोवर में डुबकी लगाने की कला सिखाता है।” धर्म आराधना हेतु मन की एकाग्रता परम आवश्यक है। अतएव जहाँ हम घर में प्रत्येक कार्य हेतु विशेष स्थल नियुक्त करते हैं, वहाँ ईश्वर-भक्ति —जैसे पवित्र कार्य हेतु शांत, स्वच्छ, ऊर्जावान क्षेत्र का चुनाव भी अति-महत्वपूर्ण है। आराधना हेतु ईशान दिशा सर्वोत्तम है। यह देवस्थान माना जाता है। साथ ही पृथ्वी का झुकाव ईशान की ओर रहता है, जिसके परिणामस्वरूप यह क्षेत्र विशेष ऊर्जा एकत्र करता है, जो मन की एकाग्रता के लिए सहयोगी होती है। अतएव ईशान कोण पर की गई भक्ति तथा स्वाध्याय मन को सुख शान्ति प्रदान कराने वाला होता है। इस कक्ष को ऊर्जावान बनाने हेतु ईशान कोण पर पूर्ण भरा हुआ मंगल-कलश विधि- विधान पूर्वक स्थापित करें एवं अपने इष्टदेव व गुरु की फोटो उत्तर व पूर्वाभिमुख लगाएँ एवं स्वयं आराधना-जाप करते समय मुँह उत्तर एवं पूर्व दिशा में रखें। कक्ष का रंग संयोजन पीला, नारंगी, सफेद रखें, क्योंकि ये रंग गुरु-ग्रह के हैं। कक्ष के फ्लोर पर मार्बल लगा सकते हैं। कक्ष की अलमारी उत्तर-पूर्वाभिमुख हो, लेकिन ध्यान रखें कि उसे कभी खुली न छोड़ें। कक्ष का द्वार उत्तर या पूर्व दिशा में ही रखें। जिस क्षेत्र पर साधना, मन्त्र, जाप, भक्ति लम्बे समय तक की जाती है, वहाँ एक विशेष ऊर्जा-पुंज निर्मित होता है, जिससे घर को सकारात्मक ऊर्जा प्राप्त होती है।

महत्त्वपूर्ण तथ्य—

- जिस प्रकार मनुष्य नासिका के माध्यम से श्वसन क्रिया करता है, उसी तरह भवन भी मुख्य द्वार के द्वारा श्वास लेता है। अतः मुख्य द्वार उचित स्थान पर, भेद रहित, सुसज्जित होना चाहिए। भूखंड के नौ बराबर हिस्से में से चौथे स्थान पर मुख्य द्वार का निर्माण करना चाहिए।
- मुख्य द्वार पर दहलीज अवश्य होना चाहिए। दहलीज (चौखट) के नीचे चाँदी का तार, स्वास्तिक एवं चाँदी की मुद्रा अवश्य डालें।
- भूखंड के ब्रह्म-स्थल पर कोई गड्ढा, कुआँ या बेसमेंट न बनाएँ।
- भूखंड के ईशान कोण पर कुआँ, बोरिंग अथवा रिक्त स्थान छोड़ें, जिससे वहाँ सूर्य की लाभकारी किरणें संचित रहेंगी।
- भवन या भवन के समीप दूध वाले, काटे वाले वोनसाई वृक्ष न लगाएँ, क्योंकि ये सभी विकास की गति में अवरोधक-द्योतक हैं।
- घर में चैत्य वृक्ष पीपल, बट, कदम्ब, केला, अनार और नीबू के वृक्ष कदापि न लगाएँ।
- घर के प्रवेश-द्वार पर रंगोली, स्वस्तिक, मांगलिक प्रतीक (अष्टमंगल) अवश्य लगाएँ।
- घर में ऊर्जा बढ़ाने हेतु नित्य जिनेन्द्र देव की आराधना करें एवं माह में एक बार गाय के घी के 48 दीपक से भक्तामर का पाठ अवश्य करें, इससे घर की सारी नकारात्मक ऊर्जा पलायन कर जाएगी।
- घर के ईशान कोण को हमेशा संरक्षित, संवर्धित करके रखें, कभी कोई अशुद्ध (शौचालय) स्थल का निर्माण न करें।
- भूमि की अशुद्धियों, विघ्न व व्यन्तर बाधाओं को दूर करने के लिए शमी की लकड़ी अभिमन्त्रित करके जमीन में गाड़ दें, सभी अमंगलों को नष्ट कर सिद्धि देती है।

वास्तु, ईश्वर द्वारा प्रदत्त वरदानों को अपने जीवन में आत्मसात करने की प्रेरणा देकर सुखद एहसास उत्पन्न कराता है। वास्तु के सिद्धान्त प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। वास्तु ऐसे भवन का सृजन करता है, जो प्राकृतिक ऊर्जाओं से ओतप्रोत होते हैं और इस प्रकार की ऊर्जाएँ भवन में स्व-चालित प्रक्रियाओं का सृजन करती हैं। गृह-संयोजन से लेकर जीवन- संयोजन तक प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न वातावरण का सृजन करती हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति का आभामंडल सर्वत्र एक-जैसा महसूस करे। प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क की कार्य-शैली, भावनाएँ, व्यवहार यहाँ तक कि अकारिकी (Physiology) पृथक् होती है। अतः यह मानना कि वास्तु प्रत्येक

व्यक्ति पर सम-प्रभाव डालती है, गलत है। वास्तु में दिशा तथा दशा के साथ-साथ जन्म पत्रिका एवं मूलांक का विशेष महत्त्व है या यूँ कहा जाए कि वास्तु ज्योतिष के बिना अधूरा है। दोनों का समन्वय वास्तु को सम्पूर्णता प्रदान करता है। वास्तु का समुचित समायोजन जीवन को सांसारिक तथा आध्यात्मिक कार्यों को करने के लिए ऊर्जा प्रदान करता है। इसीलिए जैन शास्त्रों में विशेषकर कहा गया कि वास्तु व्यवस्थित जीवन जीने की कला का नाम है।

सन्दर्भित ग्रन्थ-सूची

1. वास्तुसार प्रकरण श्री ठक्कुर फेरू द्वारा (सन् 1372) में रचित एवं पंडित भगवानदास जैन द्वारा अनुवादित
2. प्रसाद पंडन श्री ठक्कुर फेरू द्वारा (सन् 1372) में रचित एवं पंडित भगवानदास जैन द्वारा अनुवादित
3. (Waves, Optics and electromagnetics) R.K. Singh, M.C. Shaha, A. K. Shrivastava (Wiley Eastern Ltd. Delhi)
4. Colour Therapy (Healey with colour) R.B. Amber, Firma KLM Ltd. Kolkata
5. Engineering Material S.C. Rangwala, Charotar Pub. House, Anand
6. बृहत्संहिता डॉ. सुरेश मिश्र, रंजन पब्लिकेशन, दिल्ली
7. समरांगण सूत्रधार (वास्तुशास्त्रीय भवन-निवेश) डॉ. द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली
8. प्रतिष्ठ फाट आचार्य जयसेन
9. प्रतिष्ठ सारोद्धार पं. आशाधरजी

विदेशों में जैनधर्म

प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

जैनधर्म और उसके धार्मिक ग्रन्थों की मान्यता है कि जैनधर्म अनादिनिधन है और उसका मूल उत्स भारतवर्ष है। कुछकों की मान्यता है कि जिस प्रकार आर्यधर्म बाहर से आया, वैसे ही आर्यों के साथ जैनधर्म भी; पर इस मान्यता के पक्ष में बहुत कोई ठोस आधार नहीं है। हाँ, ऐसे प्रमाण जरूर मिलते हैं कि जैनधर्म भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं रहा, वह विदेशों में भी गया। अब सवाल यह है कि जैनधर्म के सूत्र जो विदेशों में गये वे किस-किस रूप में गये। आज से लगभग छः हजार वर्ष पहले उत्तर भारत का महानगर काली बंगा, सरस्वती महानगर के तट पर बसा हुआ था और वह आत्ममार्गी अनु-जनपद की राजधानी था। यहाँ जैनधर्म की बहुत प्रभावना थी। इसके अन्तर्गत राजस्थान का गंगानगर जिला और उसके आस-पास का क्षेत्र आता था। मिस्र, सुमेर और अन्य देशों के जहाज तटीय परिवहन मार्ग से भारत आते थे। वे चन्हुदड़ो, मोहनजोदड़ो और कालीबंगा से व्यापार सामग्री और यात्रियों को लाते-ले जाते थे। भारत के इन देशों के साथ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक रिस्ते थे। श्री गोकुल प्रसाद जी उल्लेख करते हैं कि अन्य जनपद के जैनाचार्य ओनसी थे, वे दर्शन, जैन तत्त्वार्थ ज्ञान, अर्थ व्यवस्था और राज्य व्यवस्था आदि में पारंगत थे।

लगभग 4700 वर्ष पूर्व सुमेर क्षेत्र (सुमेरिया) आत्ममार्ग का अनुयायी था वहाँ भी जैनधर्म की बहुत प्रभावना थी। जनपद पद्धति (प्रजातान्त्रिक चुनाव पद्धति) पर आधारित सुमेरिया का अति प्रसिद्ध संन्यासी जन-राजन गिलगमेश था। वह लगभग 4700 वर्ष पहले सुमेर क्षेत्र से भारत आया था और भारत के सबसे बड़े जीवन मुक्त संन्यासी जैन आचार्य उत्तम पीठ से आत्म मार्ग और आत्म सिद्धि का ज्ञान और आचार सीख कर गया था। सुमेर क्षेत्र के लोग तत्कालीन जैनाचार्य उत्तम पीठ की उतना पीस्टन के नाम से आज तक याद करते हैं।

इतिहास में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जब-जब संग्राम हुए या धर्मयुद्ध हुए तो कभी आर्यों ने जैनों पर आक्रमण किया तो कभी आर्यों ने बौद्धों, पर तो कभी बौद्धों ने जैनों पर, तो कभी बौद्धों ने आर्यों पर और जब-जब इस प्रकार के धर्मयुद्ध हुए तो लाखों धर्मी मारे

विदेशों में जैनधर्म :: 737

गये। लाखों को अपने देश-वतन को छोड़कर कहीं सुदूर जाकर अपने प्राण बचाने पड़े और इस प्रकार वे सारे विश्व में पलायन कर गये। जिनके ओर-छोर का कुछ पता नहीं है कि वे कब कहाँ से गये। जब वे बाहर गये तो अपने साथ अपनी संस्कृति भी ले गये, अपना धर्म भी ले गये। हाँ यह बात जरूर है कि उनमें से कितने अपनी संस्कृति को बचा सके, कितने अपने धर्म को और उनमें से बहुत ऐसे भी गये, जो जहाँ गये वे वहाँ की धर्म और संस्कृति में ऐसे विला गये कि कहीं से भी उनके मूल धर्म और संस्कृति की पहचान सम्भव नहीं है। कुछ ने अपनी मूल संस्कृति और धर्म को बचाये रखा, कुछ ने कुछ बदला और कुछ ने दूसरों पर अपने धर्म और संस्कृति के प्रभाव छोड़े और प्रभाव छोड़ते हुए दूसरों को अंगीकार कर लिया। आज इन सब सूत्रों का लेखा-जोखा हमारे पास नहीं है।

इसके बाद पार्श्वनाथ, महावीर के युग में जैनधर्म का पुनरुत्थान हुआ और देश में जैन बाहुल्य 16 महाजनपद स्थापित हुए। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ वर्ल्ड रिलीजन्स के विख्यात लेखक श्री कीथ के अनुसार वेरिंग, जलडमरूमध्य से लेकर ग्रीन लैण्ड तक सारे उत्तरी ध्रुवसागर के तटवर्तीय क्षेत्रों में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ प्राचीन श्रमण संस्कृति के अवशेष न मिलते हों और ये अवशेष सोवियत यूनियन के साइबेरिया के बेरिंग जलडमरूमध्य से फिनलैण्ड, लैपलैण्ड और ग्रीनलैण्ड तक फैले हुए हैं। वे कहते हैं कि वहाँ यह संस्कृति प्राचीन काल से निरन्तर कम-अधिक रूप में विद्यमान थी, लेकिन बाद में ईसाई धर्म के प्रचारकों ने इसे पूरी तरह से नष्ट कर दिया। उस धर्म के श्रमण संन्यासी या तो मारे गये या उन्होंने आत्महत्या कर ली। ऐसे भी अनेक अवशेष मिलते हैं जो यह कहते हैं कि साइबेरिया के तुर्क जातियों से चलकर यह धर्म तुर्किस्तान (टर्की) और मध्य एशिया के अन्य देशों-प्रदेशों में फैला। दूसरी ओर इस संस्कृति ने मंगोलिया, तिब्बत, चीन और जापान को प्रभावित किया।

ऋषभदेव और उनकी संस्कृति परम्परा में हुए 23 अन्य तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित महान् श्रमण संस्कृति और सभ्यता का उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में प्रचार-प्रसार प्राग्वैदिक काल में ही हो गया था। सर्वप्रथम तो यह संस्कृति भारत के अधिकांश भागों में फैली और तदुपरान्त वह भारत की सीमाओं की लांघकर विश्व के अन्य देशों में प्रचलित हुई और अन्ततोगत्वा उसका विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ तथा वह संस्कृति कालान्तर में यूरोप, रूस, मध्य एशिया, लघु एशिया, मैसेपोटामिया, मिस्र, अमेरिका, यूनान, बैबीलोनिया, सीरिया, सुमेरिया, चीन, मंगोलिया, उत्तरी और मध्य अफ्रीका, भूमध्य सागर, रोम, ईराक, अरबिया, इथोपिया, रोमानिया, स्वीडन, फिनलैंड, थाईलैंड, जावा, सुमात्रा, श्रीलंका आदि संसार के सभी देशों में फैली तथा वह 4000 ईसा पूर्व से लेकर ईसा काल तक प्रचुरता से संसार भर में विद्यमान रही। इस श्रमण संस्कृति

और सभ्यता का उत्स भारत था।

भारत के ऐतिहासिक उत्खनन से हमें जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्तियाँ तथा सिर पर पोंच फण वाली सुपाश्वनाथ की पाषाण मूर्तियाँ तो मिली हैं, किन्तु यज्ञ की सामग्री की प्रतिलिपियाँ और यज्ञ कुंड आदि नहीं मिले। इससे ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में जनता मूर्ति उपासक तो थी, पर यज्ञ धर्मी नहीं थी और बाद में कुछ केवल मूर्ति उपासक रह गये, कुछ केवल यज्ञ कर्मी और केवल मूर्ति उपासक व यज्ञ कर्मी भी बन गये। कुल मिलाकर आज सम्पूर्ण विश्व से जो हमें ऐतिहासिक सामग्री मिलती है, उससे विदेशों में जैनधर्म की निम्न स्थितियाँ देखने को मिलती हैं:—

1. जैनधर्म से आकृष्ट होकर जो लोग जैनधर्म की जीवन पद्धति को यहाँ से सीख कर गये उसके आधार पर उन्होंने अपने यहाँ जैन धर्म फैलाया।

2. जो लोग विभिन्न युद्धों, कलहों के कारण अपने मूल स्थान से उछिन होकर गये उनके द्वारा भी जैनधर्म से सम्बन्धित प्रतीकों को विदेश की धरती पर पहुँचाया गया।

3. मध्योत्तर काल में जैन धार्मिकों में बहुतेरे व्यापार प्रधान हो गये और वे आजीविका के निमित्त, व्यापार के निमित्त विदेशों में गये और वहाँ उन्होंने अपनी धर्म संस्कृति की रक्षार्थ धर्म प्रतीक बनाये।

4. कुछ जैन परिराजक भी अपने वृजन कर्म के दौरान सुदूर चले गये और उन्होंने जनता में जैनधर्म के संकेतों को/प्रतीकों को स्थापित किया।

विदेशों में जैनधर्म शीर्षक पर विचार करते समय आज सवाल यह भी उठ सकता है कि हम विदेश किसे माने। प्राचीन काल के भारत से बाहर के देशों को विदेश माने या उन्हें मानते हुए बृहत्तर भारत के उन देशों को भी विदेश में गिने जो आज के भारत से बाहर हैं। या फिर केवल बृहत्तर भारत के बाहर के देशों को विदेश में गिने। कुल मिलाकर इन तीनों प्रकार के स्थानों में हम जिसे भी विदेश मानें, उस विदेश में जैनधर्म के सूत्र मिलते हैं। पर एक बात खास है कि जैनधर्म या जैन अनुयायी जहाँ भी गये, वहाँ उन्होंने अपनी अलग पहचान बनाए रखते हुए भी अन्य धर्मी पर आक्रमण का मार्ग कभी नहीं अपनाया। हाँ, कुछ ने अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्ष जरूर किए पर वे संघर्ष अपनी अस्तित्व की रक्षा के लिए थे दूसरों पर आक्रमण के लिए नहीं। इसलिए जहाँ भी संसार में जैन धर्मानुयायी रहे, उस देश के राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था को स्वीकारते हुए उन्होंने बड़े साम्य भाव से अपनी धर्म और संस्कृति की यथा सम्भव रक्षा की। इसलिए ऐसे सूत्र कहीं से नहीं मिलते कि जैनों के द्वारा धर्मयुद्ध हुये हों। क्योंकि वे मानते हैं कि अगर आत्मा का साम्यभाव नष्ट हुआ तो आत्मधर्म ही नहीं बचेगा और जब आत्मधर्म ही नहीं बचेगा तो न यह लोक ठीक से रह पायेगा और न अगला लोक। कुल मिलाकर संकेत तो पूरे विश्व से किसी न किसी रूप में जैनधर्म के मिलते हैं पर उसका मूल उत्स निर्विवाद

विदेशों में जैनधर्म :: 739

रूप से भारत रहा है। इस लम्बी यात्रा में धर्म की मुख्य और उप परम्पराएँ भी देश-काल और परिस्थिति के अनुसार बदली है।

जैनधर्म के वैश्विक सन्दर्भ के अध्ययन के लिए डा. कामता प्रसाद जैन की दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि व श्री गोकुल प्रसाद जैन की विदेशों में जैनधर्म कृति देखें।

वर्तमान में, जैनधर्म वैश्विक सन्दर्भों पर विचार करें तो हमारे सामने अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप, सिंगापोर आदि के भू भागों पर फैले जैनधर्म के रूप नजर आते हैं, जिनपर पृथक संक्षिप्त आलेख दिये जा रहे हैं।

अफ्रीका में जैनधर्म

डॉ. देवेन्द्र जैन

विदेशों में जैनधर्म के विस्तार का लेखा-जोखा करते समय हमें दो बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। प्राचीन इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि जैनधर्म के विचारों एवं अवधारणाओं का विदेशों में अच्छा प्रचार-प्रसार था। प्रारम्भिक शताब्दियों में, जैनधर्म न केवल भारत में, अपितु विश्व की समृद्ध प्राचीन सभ्यताओं में पहुँच बना चुका था।

दूसरे बिन्दु पर विचार करते समय हम आधुनिक इतिहास पर दृष्टि रखते हैं। आधुनिक इतिहास के अध्ययन से फलित होता है कि आधुनिक युग में जैनों का विदेशों में प्रवासित होना ही प्रमुख है। व्यापार और वाणिज्य द्वारा तीव्रगति से धनोपार्जन करने के उद्देश्य से जैनों ने विदेशों में प्रवास करना प्रारम्भ किया है।

आधुनिक समय में जैनों की महत्वपूर्ण उपस्थिति अफ्रीका में केन्द्रित रही है। कुछ प्राचीन सन्दर्भों को छोड़ दें, तो अफ्रीका में जैनधर्म कुछ सीमा तक भारतीयों के अफ्रीका में आगमन से जुड़ा हुआ है। अफ्रीका में भारतीयों का आगमन अनुबन्धित श्रमिक के रूप में सन् 1860 से प्रारम्भ हुआ है। अनुबन्धित श्रमिक की विचारधारा अँग्रेजी साम्राज्य की एक व्यवस्था थी, जो कि गुलामी के विकल्प के रूप में प्रारम्भ की गयी थी। गुलामी प्रथा की समाप्ति सन् 1833 में समग्र अँग्रेजी साम्राज्य में हुई। इसके साथ ही भारतीयों के अफ्रीका में प्रवासित होने के पश्चात् भारतीयों ने व्यापार एवं वाणिज्य में कुशल होने के कारण, व्यापारिक विस्तार के लिए अफ्रीका में प्रवासित होना प्रारम्भ किया। इसी क्रम में जैनों ने, मुख्यतया व्यापार एवं वाणिज्य के उद्देश्य से अफ्रीका में प्रवासित होना प्रारम्भ किया। सन् 1896 में पहली बार जैनों ने अफ्रीका के लिए पलायन किया। प्रारम्भिक समय में, जैनों ने छोटे वाणिज्य से कार्य प्रारम्भ किया। प्रमुखतः जो भारतीय श्रमिक रेल आदि निर्माण कार्य में कार्यरत थे, उनको आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराना ही प्रमुख उद्देश्य था और इस प्रकार समय की एक छोटी सीमा अवधि में जैनों ने एक प्रमुख भारतीय समुदाय के रूप में खुद को स्थापित किया। सन् 1926 में मोम्बासा शहर (केन्या) में एक शानदार जैन मन्दिर की स्थापना की गई। शायद, आधुनिक युग में

अफ्रीका में जैनधर्म :: 741

विदेशों में यह प्रथम जैन मन्दिर है।

एक और सन्दर्भ से इस बात की पुष्टि होती है कि अलेक्जेंडरिया (Alexandria) में भारतीयों की एक प्रवासित कालोनी थी। Quseir (एक बन्दरगाह शहर, मिस्र के उत्तर में) से प्राप्त एक Ostrakon से इस बात की पुष्टि होती है। इसका अनुमानित समय 2-3 AD माना जाता है। इसमें ब्राह्मी लिपि में लिखी हुई मालवाहक सूची प्राप्त हुई है। खुदाई में पाए गये मिट्टी के बर्तनों पर भी तमिल-ब्राह्मी में एक आलेख मिला है। ये सारे तथ्य इस बात को सूचित करते हैं कि व्यापार एवं वाणिज्य के लिए भारतीयों का आवागमन एवं प्रवास इन मिस्र एवं नजदीकी अफ्रीकी देशों के साथ था।

भारतीय उपमहाद्वीप में बारहवीं शताब्दी के पश्चात् राजकीय उथल-पुथल के सुनहरे अतीत को छिन्न-भिन्न कर दिया। विभिन्न राजसत्ताओं में वर्चस्व की लड़ाई प्रारम्भ हो गई। धार्मिक कट्टरता के कारण छोटी-छोटी राजसत्ताएँ आपस में युद्ध करने लगीं। इस परिस्थिति का विदेशी सत्ताओं ने अवसर पाकर भारतीय उपमहाद्वीप में अपने पैर पसारने प्रारम्भ कर दिये। इस राजकीय अराजकता में जैन धर्मावलम्बियों को अत्याधिक क्षति हुई। जैन धर्मावलम्बियों के अहिंसक चरित्र के कारण राजकीय प्रभाव कम हुआ, किन्तु किसी तरह जैन धर्मानुयायियों ने वैदिक और हिन्दू अवधारणाओं को परिवर्तित रूप में अपना लिया और अपने अस्तित्व को बनाये रखा। जैनों ने हिन्दू आदि गोत्रों को अपना लिया और भारतीय पहचान के साथ अपने आप को जोड़ लिया।

इतिहास-लेखन जैनों को एक बहुत बड़ी कमजोरी रही है। जैनों ने साहित्यिक परिदृश्य में बहुत समय बाद लेखन प्रारम्भ किया है। आधुनिक युग में जैनों के अफ्रीका प्रवासित होने के उल्लेख ओसवाल जाति के इतिहास से प्राप्त होते हैं।

ऐसा माना जाता है कि ओसवाल जैन श्री जेठा आनन्द (खार, वेरजा) ने छोटी नावों के द्वारा पहली बार 1896 में मदागासकर (अफ्रीका) में पदार्पण किया। वे जंजीवार (अफ्रीका) होकर ही मदागासकर पहुँचे। उन्होंने अन्य ओसवालों को भी अफ्रीका में व्यापार और वाणिज्य के विस्तार के लिए प्रेरित किया। सन् 1899 में अन्य ओसवाल जैन श्री हिरणी कारा, श्री पोपटलाल वर्षी एवं श्री नथ्यू देवजी डुंडिया ने मोम्बासा (केन्या) शहर में पहुँचकर छोटी-छोटी व्यापारिक गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं।

ऐसा माना जाता है कि श्रीमती कनुभाई हिरजी पहली ओसवाल महिला मोम्बासा में पहुँची। श्री रतिलाल हिरजी कारा पहले ओसवाल जैन थे, जिन्होंने सन् 1902 में अफ्रीका में जन्म लिम्बा। व्यापार और वाणिज्य में कुशल होने के कारण, जैनों ने शीघ्र ही प्रगति के नये सोपानों को प्राप्त किया। मैसर्स मेघजी लड्डा एण्ड कम्पनी पहली कम्पनी थी, जो ओसवाल जैनों द्वारा स्थापित की गई। इस प्रकार मोम्बासा में अल्पावधि में ही जैनों ने एक प्रमुख समुदाय के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया। सन् 1918 में पहली बार एक धार्मिक संगठन बनाया गया, इसका नाम था— श्री हलारी जैन ज्ञान वर्धक

मंडल। आधुनिक युग में विदेशों में जैनों की एक शानदार उपलब्धि— जब सन् 1926 में एक भव्य जैन मन्दिर (देरासर) का निर्माण हुआ।

प्रारम्भिक समय में जैनों ने छोटे-छोटे व्यवसाय के माध्यम से सम्पूर्ण पूर्वीय एवं दक्षिण अफ्रीका में प्रवासित होना प्रारम्भ किया, निर्माण उद्योग एवं फुटकर व्यापार के माध्यम से व्यापारिक सफलताएँ प्राप्त कीं। जैनों ने बड़े सुपर मार्केट, निर्माण कार्य वाली कम्पनियाँ तथा बैंकिंग एवं वित्त व्यवसाय में प्रवेश किया। मोम्बासा से युगांडा एवं तंजानिया आदि देशों में व्यवसाय प्रारम्भ किया। आज युगांडा एवं तंजानिया में जैनों के भव्य मन्दिर हैं, जो जैनों की स्वतन्त्र पहचान है।

साउथ अफ्रीका में भारतीयों का आगमन मुख्यतः एक अनुबन्धित मजदूर के रूप में हुआ था। हीरा एवं सोने की खोज के पश्चात्, व्यापारिक अवसरों की तलाश में अनेक व्यापारी भारतीयों का आगमन भी साउथ अफ्रीका में हुआ था। साउथ अफ्रीका के जैन संगठन के माध्यम से ज्ञात होता है कि सन् 1901-1903 के दौरान, प्रथम जैनों में श्री वी. डी. मेहता, एम. एम. मोदी, ए. एन. गोसालिया, के. मेहता, पी. पी. पूनाथर एवं पी. सांगवे के परिवार प्रमुख हैं। प्रारम्भिक जैनों को साउथ अफ्रीका में स्थानीय अफ्रीका एवं प्रवासित अँग्रेजों से बहुत संघर्ष करना पड़ा था।

यह संक्षिप्त आलेख 'अफ्रीका में जैनधर्म' के अध्ययन का शुरूआती अध्याय ही कहा जा सकता है। इस विषय पर और शोध और अनुसन्धान की आवश्यकता है।

यूरोप में जैनधर्म

अजित कुमार जैन बैनाड़ी

यूरोप में जैनधर्म के प्रसंग हमें यूनाइटेड किंगडम, वेल्जियम, जर्मनी, फ्रांस, इटली एवं ग्रीस से मिलते हैं। जो जैन लोग यूनाइटेड किंगडम में आज रह रहे हैं, उनमें से कुछ सीधे भारत से आये, और कुछ अफ्रीकन देशों के माध्यम से, पर खास बात यह है कि जो अफ्रीकन देशों से ब्रिटेन में आकर बसे, वे भी भारतीय मूल के हैं। स्वतन्त्रता के बाद आज लगभग 25 से 30 हजार की जनसंख्या भारतीय मूल के जैनों की यूनाइटेड किंगडम में है। इनमें से अधिकांश लोग लन्दन के आसपास रहते हैं और कुल जैन आबादी के लगभग 75 से 80 प्रतिशत के लोग पूर्वी अफ्रीका यथा— केन्या, युगांडा, तंजानिया आदि से होकर यहाँ आये और कुछ यमन से। शेष 20 प्रतिशत लोग सीधे भारत से यहाँ आये। कुल जैनों की जनसंख्या में अधिकांश श्वेताम्बर हैं, पर दिगम्बर भी कम नहीं हैं। श्वेताम्बरों में भी कुछ मूर्तिपूजक हैं और कुछ मूर्तिपूजक नहीं भी। ब्रिटेन के कुल जैनों की मातृभाषा प्रमुखतः गुजराती है और वे घर में गुजराती का ही प्रयोग करते हैं। लगभग 10 प्रतिशत ऐसे लोग भी हैं, जो मारवाड़ी, हिन्दी और पंजाबी मूल के हैं। यद्यपि इनके घरों में इनकी मातृभाषाएँ बोली जाती हैं, पर इनके उत्तराधिकारियों की गुजराती, हिन्दी आदि मातृभाषाएँ उस तरह समृद्ध नहीं है, जैसी कि पूर्व पीढ़ी के लोगों की। समस्त जैन यहाँ दो उत्सव साथ-साथ मनाते हैं। ये हैं—महावीर जयन्ती और पर्यूषण पर्व।

यूनाइटेड किंगडम में प्रमुखतः जैनों के चार निम्नांकित स्थान दर्शनीय हैं—

1. जैन सेन्टर, 32 आक्सफोर्ड स्ट्रीट, लीसेस्टर (एक मन्दिर एवं एक ऑडिटोरियम)
2. ओसवाल सेन्टर, नार्थाव, निकट पोर्ट्स बार (एक बड़ा ऑडिटोरियम एवं एक गृह-चैत्यालय),
3. महावीर फाउंडेशन सेन्टर, केन्टन, मिडलसेक्स (एक गृह-चैत्यालय),
4. दिगम्बर सेन्टर, हैरो, मिडलसेक्स (एक मन्दिर)।

उपर्युक्त के अलावा लीड्स के हिन्दू मन्दिर में, फैल्थम के जलाराम मन्दिर में एवं बम्बिले के हिन्दू मन्दिर में भी जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ दर्शन, पूजा के लिए उपलब्ध हैं।

जैन समाज, मैनचेस्टर में भी जैन मन्दिर व केन्द्र निर्माण की प्रक्रिया में हैं। यूरोप के जैन लेखकों में प्रमुख हैं—

डॉ. पीटर फ्लूगल, डॉ. नटुभाई शाह, पॉल मेरिट, पॉल डन्डस, एवं डॉ. विनोद

कपासी ।

यूनाइटेड किंगडम के कुछ जैन संगठन निम्न नामों से भी संचालित हैं—

1. ऐडेन वेनिक एसोशियेशन ऑव यू. के., 6 केल्विन ऐवेन्यू, पॉमर्स ग्रीन, लन्दन, एन-13 4-टी जी, 020 8292 0938
2. श्री दिगम्बर जैन एसोशियेशन 1, दि ब्राडवे, वील्डस्टोन, हैरो मिडलसेक्स एच-ए-3 7-ई-एच www.sdja.co.uk
3. इन्टरनेशनल महावीर जैन मिशन, 25 सनी गार्डन, हेन्डन, लन्दन एन डब्ल्यू-4-020 8203 1634
4. इन्स्टीट्यूट ऑव जैनोलॉजी, मिस्टर आर. पी. चन्दरिया, 23 रेडनोर प्लेस लन्दन, डब्ल्यू-2 2-टी-जी-020 7723 2323
5. जैन समाज यूरोप, जैन सेन्टर, 32 आक्सफोर्ड स्ट्रीट, लीसेस्टर एल-ई-1 5 एक्स यू-0116 254 1150
6. जैन समाज मैनचेस्टर, जैन कम्युनिटी सेन्टर, 669 स्टॉकपोर्ट रोड, लांग साइट, मैनचेस्टर एम-12
7. जैन विश्व भारती, सेयर सेन्टर ऑक्सफोर्ड लेन, लन्दन, एन-डब्ल्यू-2 7-जे-एन-020 8452 0913
8. महावीर फाउंडेशन, डॉ. विनोद कपासी-11 लिंडसे ड्राइव, केन्टन, मिडलसेक्स एच-ए-3 0-टी-ए-020 8204 2871

बेल्जियम में जैनधर्म

बेल्जियम के जैन प्रमुखतः हीरे के व्यवसायी हैं। इनकी संख्या लगभग 1500 के आसपास है और इनमें से अधिकांश एन्टवर्प में रहते हैं तथा हीरे के धोक व्यवसाय में संलग्न हैं। इन्होंने विल्रिज्क (Wilrijk) एन्टवर्प के समीप बहुत ही सुन्दर जैन मन्दिर व सांस्कृतिक केन्द्र विकसित किया है। इनके आध्यात्मिक प्रमुख हैं — श्री रमेश मेहता, जिन्होंने 17 दिसम्बर, 2009 को बेल्जियम के धार्मिक प्रमुखों की परिषद स्थापित की।

बेल्जियम में जैन सांस्कृतिक केन्द्र, लार स्ट्रीट 34, 2610 विल्रिज्क बेल्जियम में है।

जर्मनी में जैनधर्म

जर्मनी में जैनधर्म का इतिहास व परम्परा बहुत प्राचीन है, जिसका प्रारम्भिक उल्लेख प्रो. हर्मन जैकोबी, वेबर, अल्सडॉफ, ग्लेसन-अप, ब्रून, बोले आदि विद्वानों के शोध से मिलता है। डॉ. चार्लोते क्रूस जैनियम से इतनी अधिक प्रभावित हुई कि उन्होंने जैनियम को हृदय से ही अपना लिया। वे लम्बे समय तक भारतवर्ष में रही और अपना शरीर त्याग भी भारतवर्ष में ही जैन परम्परानुसार किया। भारतवर्ष से जर्मनी में जाने वाले जैनों की संख्या अमेरिका, ब्रिटेन व कनाडा की तुलना में कम है। इसका मूल कारण यह

यूरोप में जैनधर्म :: 745

रहा कि यहाँ जर्मन भाषा के बिना काम चलना मुश्किल था। अँग्रेजी माध्यम भाषा ब्रिटेन, अमेरिका और कनाडा ही नहीं, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में भी भारतीयों के प्रव्रजन की अधिक संख्या में कारण बनी।

ध्यान से देखें तो जर्मनी भारतीयों के प्रव्रजन का इस तरह केन्द्र नहीं रहा, जिस तरह उपर्युक्त अन्य देश रहे। 1970 से 1990 के दशकों में प्रमुख रूप से जर्मन मूल के कुर्त तित्ज़, हर्सन, कुह्न, मार्कुस मिशनर जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुए। इन्होंने जैनधर्म का अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि जैनधर्म की जीवन में अपनाया भी। मार्कुस मिशनर ने एक जर्मन पत्रिका Jain-PFAD का प्रकाशन भी 1987 में किया अपनी जैन गतिविधियों को बढ़ाने के लिए 'जैन जर्मन अन्तर्राष्ट्रीय परिषद' की स्थापना भी वर्ष 1989 में की। परिषद का उद्देश्य जर्मन भाषा के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जैनधर्म के सार्वभौमिक सिद्धान्तों को प्रसारित करना था, पर दुर्भाग्य से एक समय ऐसा आया, जब वे स्वयं इस जैन अन्तर्राष्ट्रीय परिषद से अलग हो गये और कालान्तर में जर्मन जैन पत्रिका का प्रकाशन भी रुक गया। कुर्त तित्ज़ ने महावीर पर जैनधर्म की ऐसी पुस्तक प्रकाशित की, जो जर्मन जनता के द्वारा बहुत सराही गयी। बात इतनी ही नहीं, जर्मन के एक राज्य के स्कूलों में भी इस पुस्तक के कुछ अंश पढ़ाए जाते हैं। कालान्तर में कुर्त तित्ज़ ने अँग्रेजी में भी जैनिज्म नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। अहिंसा धर्म के नाम से एक और महत्त्वपूर्ण रचना मोतीलाल बनारसीदास के माध्यम से अँग्रेजी में प्रकाशित की, जिसकी चर्चा भी समालोचकों के बीच खूब हुई और अन्त में 78 वर्ष की आयु में अपने ऑस्ट्रेलियाई घर में जमोकार मन्त्र का पाठ करते हुए शरीर छोड़ दिया। हर्मन कुह्न ऐसे व्यक्तित्व हैं, जो अनेक जैनाचार्यों के सम्पर्क में आये, और खासकर आचार्य आर्यनन्दी मुनिराज के सम्पर्क में और इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र का आंशिक अनुवाद किया तथा दो अन्य पुस्तकें यथा — 'कर्म स्वयं के भाग्य का निर्माता', 'ब्रह्मांड के केन्द्र की कुंजी' नामक पुस्तकें अँग्रेजी और जर्मन दोनों भाषाओं में प्रकाशित कीं। इन दोनों पुस्तकों का प्रचार-प्रसार भी खूब हुआ। इस आलेख के लेखक ने भी कोल व फ्रेन्कफुर्ट आदि विश्वविद्यालयों में जर्मन शाकाहार परिषद द्वारा आयोजित जैनधर्म विषयक अनेक व्याख्यान दिये। वर्तमान विद्वानों में रावर्ट जाइडन बोस भी ऐसे विद्वान हैं, जिन्होंने लगभग 15 वर्ष तक भारत में रहकर अध्ययन, अनुसन्धान किया और अब म्यूनिख विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे हैं। इनकी एक पुस्तक 'जैनिज्म : आज और इसका भविष्य' भी महत्त्वपूर्ण है। इनके आलेख 'जैन स्प्रिट' पत्रिका में भी छपे हैं। यह भी सुना गया है कि इन्होंने अणुव्रत अंगीकार किये हैं तथा कुछ अंशों में साधक का जीवन जीना भी प्रारम्भ कर दिया है। वर्तमान में जर्मन लोगों में पेट्रा शिलर, रोबिन स्टेज, कोर्निल वावरिस्की, फ्रेडरिक वॉल्फ आदि ऐसे लोग हैं, जिन्होंने जर्मन वातावरण के अनुरूप अपने आचरण को जैन सीमाओं में बाँधकर जीना प्रारम्भ कर दिया है। ये सब ऐसे लोग हैं, जिन्होंने अनेक तीर्थक्षेत्रों के दर्शन भी किये हैं।

थॉमस दिक्स एक ऐसे छायाचित्रकार हैं, जिन्होंने लोथर क्लेयरिन्ट के साथ माउन्ट आबू वरणकपुर के मन्दिर व जैनधर्म नामक पुस्तक लिखी है और अँग्रेजी व जर्मनभाषा में प्रकाशित की है। डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन वर्लिन में रहते हैं। योग विद्यालय चलाते हैं और ध्यान का प्रारम्भ भी णमोकार मन्त्र के सस्वर उच्चारण से करते हैं तथा इनके स्कूल में प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती मनाई जाती है। जर्मनी की राजधानी में ट्राउडिल पाण्ड्या, जो गुरुदेव चित्रभानु के शिष्य हैं। वर्लिन में एक योग स्कूल चलाते हैं तथा इसमें जैन ध्यान पर विशेष बल दिया जाता है। कार्ला एवं क्रिश्चियन जीर्ड्स आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ के अनुकर्ता हैं तथा जैनियम के सन्देश का प्रचार-प्रसार करते हैं तथा ये दो वेबसाइट्स भी चलाते हैं, जिनके पते निम्नानुसार हैं— 1. www.herenow4u.de. और 2. www.jain-germany.de.

हमने ऊपर यह उल्लेख किया ही है कि भारतवर्ष से बहुत कम जैन ही जर्मनी में स्थानान्तरित हुए हैं। लगभग 12 व्यापारी परिवार ऐसे हैं, जो ईदर ओवरस्टेन में रहते हैं, जो मूल्यवान पत्थरों के व्यावसायिक केन्द्र के रूप में जाना जाता है। ये ऐसे परिवार हैं, जो लम्बे समय से जर्मन में रहते हुए भी जर्मन भाषा उस तरह नहीं बोल पाते हैं, जिस तरह बोली जानी चाहिए। इसके अलावा आई. टी. प्रोफेशनल्स व भारतीय छात्र भी जर्मनी में आते-जाते रहते हैं तथा इनका भी रुझान केवल जैन मन्दिर की जानकारी तक ही सीमित है। कुछ भारतीय डॉक्टर्स व शैक्षिक लोगों ने जर्मनी से विवाह किये हैं तथा उनके पारिवारिक नाम भी जैन परम्परानुरूप हैं तथा वे जैनधर्म का परिपालन लगभग नहीं ही करते हैं। 2008 में प्राकृत ज्ञानभारती अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्रसिद्ध जर्मन विद्वान प्रो. डॉ. विलियम बोले और प्रो. डॉ. क्लाउस ब्रून को 25 मई, 2008 को दिये गये। इन्होंने प्राकृत और जैनियम पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं तथा बहुत ख्याति अर्जित की है। इस कार्यक्रम में भारतीय विद्या के विशेषज्ञ प्रो. डॉ. वंशीधर भट्ट, डॉ. पीटर फ्लूगल, प्रो. डॉ. बुकर आदि ने भाग लिया था। ट्युविंगन में जन्मे पेट्रिक एफ. क्रुगर 'जैन अध्ययन केन्द्र' के अध्यक्ष हैं, जो फ्री यूनीवर्सिटी वर्लिन में है। इन्होंने स्कॉटलैंड, स्वीडन व नार्दन आयरलैंड में अनेक वर्षों तक ज्ञानाराधना की है। फ्री यूनीवर्सिटी, वर्लिन में 'जैन अध्ययन केन्द्र' की स्थापना इतिहास एवं सांस्कृतिक केन्द्र के अन्तर्गत 2011 में हुई।

पेट्रिक क्रुगर यद्यपि जैन कला इतिहास एवं धर्म में समर्पित हैं, पर इनका वृहत्तर उद्देश्य यह भी है कि जैनियम और अहिंसा का प्रचार आम जनता के बीच में होना चाहिए और इसी दृष्टि से ये सन् 2010 में एक जैन वेब पोर्टल की टीम के सदस्य भी बने तथा जैन ऑन लाइन में पत्रिका भी प्रकाशित करते हैं।

फ्रांस में जैनधर्म

पीयेरे एमिल एक फ्रांस के अवकाश-प्राप्त पब्लिक एडमिनिस्ट्रेटर हैं। जब ये 22 वर्ष के थे, तब उन्हें पहली बार जैनधर्म की जानकारी हुई। 1993 में अवकाश प्राप्त करने

के बाद फ्रेंच भाषा के माध्यम से जैनज्म को प्रचारित एवं प्रसारित करने का निर्णय लिया।

इनके अनेक आलेख ब्रिटेन से प्रकाशित होने वाली जैन स्प्रिट में प्रकाशित हुए हैं। 1998 में इनकी पहली फ्रेंच अनुवाद 'भगवान् महावीर: ऐतिहासिक सन्दर्भों में' प्रकाशित हुई और उसी वर्ष उन्होंने विलास संगवे की जैनधर्म विषयक पुस्तक का भी फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया। 2003 में इनकी पहली पुस्तक जैनज्म पर भारत से प्रकाशित हुई। तत्त्वार्थ सूत्र, समयसार और नियमसार पर भी अपने कुछ व्याख्यान फ्रेंच भाषा में दिये हैं। मैडम प्रो. डॉ. कैया एवं प्रो. डॉ. नलिनी बलवीर सारवोन यूनीवर्सिटी में जैनधर्म पढ़ाती हैं।

इटली में जैनधर्म

इटली की प्रसिद्ध पोप सिंगर क्लाउडिया प्रेस्टोरिनो जैनधर्म के प्रति बहुत आकर्षित हुई व उन्होंने पूरा जीवन जैनधर्म और साधना को समर्पित कर दिया। क्लाउडिया का जन्म जिनेवा में हुआ और उन्होंने अनेक पुस्तकें जैनधर्म पर इतालवी भाषा में लिखीं। इन्होंने प्राकृत भाषा भी सीखी है और समणसुतं का इतालवी भाषा में अनुवाद भी किया है। वे जानवरों के अधिकार पर काम करती हैं और पूरी तरह शाकाहार का पालन करती हैं।

ग्रीस में जैनधर्म

डिमिट्रिस जी. एफ. जैन का जन्म ग्रीस के परम रूढ़िवादी क्रिश्चियन परिवार में हुआ और इसके बावजूद उन्होंने क्रिश्चियन धर्म का अनुपालन दार्शनिक कारणों से नहीं किया। बाद में जो जीवन पद्धति अपनाई, उन्हें लगा कि वह तो जैनधर्म-दर्शन के अत्यधिक नजदीक है और फिर वे उसी के अध्ययन-मनन में जुट गये। ये सम्भवतः ग्रीस में अकेले जैन हैं, जो ग्रीक, अँग्रेजी और हिन्दी भाषाएँ जानते हैं तथा Vegan जैनधर्म का अनुपालन करते हैं।

यूरोप के जैनधर्म के परिचय से ऐसा लगता है कि यूरोप में जैनधर्म के सूत्र केवल भारतीय मूल के जैनों के हाथ में ही नहीं, बल्कि यूरोपियन मूल के जैनों के हाथ में भी हैं।

सिंगापोर में जैनधर्म

प्रीति शाह

आज से लगभग सौ साल पहले कुछ जैन बन्धु भारत से अपने आर्थिक विकास के लिए पहली बार सिंगापोर आये। दक्षिण पूर्वी एशिया में व्यापार को विकसित करने के लिए सिंगापोर एक महत्वपूर्ण शहर माना जाता था। अपने देश और परिवार से दूर होने के बावजूद अपने धर्म और संस्कृति के दायरे में रहना, इन सब के लिए जरूरी था।

सिंगापोर में छोटा-सा ही सही, यदि एक जैन समाज की स्थापना हो जाय तो इस देश में अपने परिवार के साथ रहना आसान हो जाय, इस ख्याल ने जैन भाइयों के दिमाग में घर कर लिया था। 1921 के पर्यूषण पर्व का आरम्भ हो चुका था। संवत्सरी प्रतिक्रमण तो साथ ही करना होगा, ऐसी कुछ भावना लेकर लगभग 10-12 जैनबन्धु श्री गोविन्द भाई शाह के घर इकट्ठे हुए, और फिर तो यह जैसे सिलसिला बन गया, पर्यूषण पर्व, आयम्बिल ओली, महावीर जयन्ती—ये सभी त्योहार गिने-चुने जैन बन्धु साथ-साथ मनाने लगे। यूँ कहिये तो जैन समाज की एक अनौपचारिक शुरुआत हो चुकी थी।

दूसरे विश्व युद्ध के सम्पन्न होने पर भारत से जैन बन्धु अपने परिवार समेत सिंगापोर आने लगे। सन् 1947 की महावीर जयन्ती के दिन लगभग 60-70 जैन बन्धु एक जगह जमा हुए और तब पहली बार समाज की गतिविधियों को चलाने के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया।

1960 तक समाज में सदस्यों की संख्या लगभग सौ तक पहुँच गयी थी। जैन बन्धु पर्व मनाने के लिए कभी आर्य समाज तो कभी बौद्ध मन्दिर में मिलने लगे थे। अपने धर्म को सामूहिक रूप से मनाने के लिए एक सुनिश्चित स्थान की कमी सभी जैन बन्धुओं को खल रही थी।

1970 के वर्ष तक इस महत्वाकांक्षा ने सब के मन में घर कर लिया था। एक साल की कड़ी मेहनत के बाद, नयी पीढ़ी के जुनून और पुरानी पीढ़ी के मार्गदर्शन में इस समाज ने करीब 59,000/- डॉलर जमा कर लिये थे। इस महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप 18 जालान यासीन, सिंगापोर पर 'सिंगापोर जैन सोसाइटी' का ध्वज लहराया गया। वह उस समय एक कच्ची इमारत और उस तक पहुँचता एक कच्चा रास्ता ही था। किन्तु जैन बन्धुओं के हौसले बुलन्द थे। सब बुजुर्गों की कड़ी मेहनत के पश्चात् सन् 1978 में दौ

सिंगापोर में जैनधर्म :: 749

मंजिल वाली ईमारत खड़ी की गयी।

1998 में इस इमारत का पुनर्निर्माण किया गया। सिंगापोर में बढ़ती हुई जैन आबादी को नजर में रखते हुए इसे विशाल तथा आधुनिक रूप दिया गया।

सन् 2006 में सिंगापोर जैन सोसाइटी, इंटर रेलिगिअस ओर्गनाइजेशन ऑफ सिंगापोर की दसवीं सदस्य बन गयी। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव, ये ही 'इरो' का ध्येय है।

2007-2008 तक सिंगापोर में जैन परिवारों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी। अनेक देरावासी परिवार भी सिंगापोर में स्थायी हो गये थे। देरासरजी का निर्माण और बढ़ती आबादी दोनों समस्याओं को हल करना था। उन्नतिशील नयी पीढ़ी ने स्थानक में ही देरासरजी के निर्माण का बीड़ा उठाया।

2009 की साल में यह काम पूर्ण हुआ। नयी इमारत समय की आवश्यकता के अनुसार भव्य तथा आधुनिक बनाई गयी। दूसरी मंजिल पर भगवान् महावीर की मूर्ति की स्थापना हुई।

सिंगापोर जैन सोसाइटी महिला संघ

जब समाज का पुरुषवर्ग सोसाइटी की इमारत के निर्माण में लगा था, तब समाज की महिलाओं ने भी अपनी गतिविधियाँ आरम्भ कर दी थीं। समाज की कुछ महत्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ निभाते हुए वे एक दूसरे से जुड़ी रही। महिला समाज के सदस्य बड़े प्यार और दुलार के साथ समाज के हर कार्य को निभाती हैं। हर साल की दोनों अयम्बिल ओली पर रसोई का पूरा काम ये ही सँभालती हैं। स्वामी वात्सल्य के भोज पर लगभग 800 लोगों का खाना बनता है। शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन सिंगापोर जैन सोसाइटी की एक पहचान बन चुका है। पर्यूषण पर्व के बाद, व्रती-तपस्वियों के लिए खास प्रकार का भोज बड़ी ध्यानपूर्वक एवं आदर के साथ बनाया जाता है। ये ही महिला सदस्य अवसर आने पर समाज के लिए पूँजी इकट्ठी करने में भी पुरुष वर्ग से पीछे नहीं हटती।

1997 की साल में युवा महिलाओं का अलग दल बनाया गया। नयी पीढ़ी की महिलाएँ अलग तरीके से समाज की सेवा करना चाहती थीं। उन्होंने अपने समाज के बुजुर्गों के आदर-सम्मान और मनोरंजन के लिए हर साल कुछ कार्यक्रम करने की ठान ली और तब से हर साल बड़े जोश और आनन्द से विविध कार्यक्रमों का आयोजन करती हैं। बुजुर्गों ने भी धीरे-धीरे समाज चलाने की जिम्मेदारी इन काबिल कन्धों पर डालने की शुरुआत कर दी।

सिंगापोर जैन समाज काफी प्रगतिशील है। सन् 2006, में पहली बार महिला संघ से दो महिलाओं को समिति की सदस्य होने का निमन्त्रण दिया गया। सभी धर्म-क्रिया और कार्यक्रमों के आयोजन में अब अधिक सुविधा होने लगी।

सिंगापोर जैन युवा संघ

जैन युवा संघ हर साल कुछ ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन करता है, जिसके अन्तर्गत

युवा सदस्यों को जैनधर्म को विशेषताएँ और आज के दौर में भी उसकी प्रासंगिकता से पहचान करवा सकें। युवा संघ अपने समाज के साथ पूरे सिंगापोर समुदाय के लिए भी कुछ करना चाहता है। सिंगापोरे वेगेतारियन सोसाइटी के कार्यक्रमों में भी वे अपना हाथ बटाते हैं। सिंगापोर के अनाथालय और वृद्धाश्रम में भी वे कई बार अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। अहिंसा के गुणों का प्रसारण करने के लिए वे कई कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। विभिन्न देशों के युवा जैन संगठनों से यह मित्रता और भाईचारे का सम्बन्ध बनाए रखते हैं।

जैन पाठशाला

सन् 1970 में सिंगापोर जैन पाठशाला आरम्भ हुई। भावी पीढ़ी को अपने धर्म की पहचान करवाना, अपने मूल्यों का उन नन्हें दिमागों में आरोपण करना जरूरी था। अपनी विविध प्रथाओं से नयी पीढ़ी को ज्योतिमान करने के लिए इस पाठशाला की स्थापना की गयी। यहाँ जैनधर्म के नियमों को खूब मनोरंजक रूप से सिखाया जाता है। बदलते समय को ध्यान में रखते हुए विभिन्न माध्यम, जैसे कम्प्यूटर और खेल के जरिये जैन धर्म की परम्पराएँ और क्रियाओं का अर्थ सिखाया जाता है। बच्चों के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए योग, सामायिक और विविध खेलों का आयोजन किया जाता है। प्रतिवर्ष विभिन्न धार्मिक स्थानों की सैर का आयोजन होता है, ताकि जैनधर्म के अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को समझाया जा सके। इस पाठशाला को जैनधर्म की एक अग्रणी संस्था बनाने के लिए हर एक प्रयत्न किया जाता है।

विभिन्न धार्मिक गतिविधियाँ

महावीर जयन्ती : महावीर जयन्ती की हार्दिक प्रतीक्षा हर एक सदस्य करता है। इस अवसर का आयोजन करने में सारा समाज जी-जान से जुट जाता है। महावीर जयन्ती का कार्यक्रम तीन दिन का होता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कई बार विदेश से जैनधर्म के विद्वानों को भी आमन्त्रित किया जाता है। विदेशों में इन जैन त्योहार को छुट्टी नहीं होती, सभी त्योहार शनिवार और रविवार की छुट्टी में ही मनाये जाते हैं। ऐसे त्योहार साथ मनाना जरूरी हो जाता है, क्योंकि व्यस्त जीवन में परिवार की एक धर्म की डोर से बाँधना बहुत कठिन है। महिलाएँ लगभग 800 लोगों के भोज की व्यवस्था में व्यस्त हो जाती हैं। जैन पाठशाला के बच्चे भी अपनी कला का प्रदर्शन करने को उत्सुक रहते हैं। समाज के हर एक परिवार से एक पुरुष सदस्य इस भोज की तैयारी में साथ देता है और एक महिला पूड़ी बेतले के काम में मदद करती है। महावीर जयन्ती उत्सव सिंगापोर जैन समाज की एकता का प्रतीक है।

पर्यूषण पर्व और समूह पारना : पर्यूषण पर्व, एक ऐसा समय है जब स्थानक में

सदस्यों की सबसे अधिक भीड़ होती है। हर वर्ष, सिंगापोरे जैन रिलिजिअस सोसाइटी किसी ज्ञानी और जैनधर्म के विद्वान् गुरु/वक्ता की समाज के धार्मिक और आध्यात्मिक विकास के लिए आमन्त्रित करती है। इन दस दिनों में सभी जैन बन्धुओं का एक मात्र उद्देश्य रहता है धर्म की आराधना तथा ज्ञान की प्राप्ति। संवत्सरी के दिन सामूहिक प्रतिक्रमण बड़ी श्रद्धा से किया जाता है। सभी जीवों से क्षमापना की याचना की जाती है। तपस्वियों का बड़े भावपूर्वक अभिवादन होता है। समिति के सदस्य हर एक तपस्वी के घर जाकर उनकी सुख शान्ति की अभिलाषा करते हैं। समूह पारना के दिन सम्पूर्ण समाज एकत्रित होकर तपस्वियों का अभिनन्दन करते हैं और उनकी तरह तपस्या कर सकें ऐसे आशीष की याचना करते हैं। समाज की बुजुर्ग महिलाएँ, तपस्वियों के लिए बड़े ही जतन से शरीर के लिए हल्का एवं आसानी से हजम हो सके ऐसा भोजन बनाती हैं। भारत में जबकि ज्यादातर तपस्वी अपने घर पर पारना करते हैं, सिंगापोर समाज के समूह पारने से मैं खास प्रभावित हुई। स्थानक की ऊपरी मंजिल पर सभी तपस्वियों के आसन लगाए जाते हैं। समाज के सभी सदस्य कतार में लगकर हर एक तपस्वी को पारना कराने का सौभाग्य लेते हैं। युवा पीढ़ी भी इन गतिविधियों में शामिल होती है, जो आगे चलकर इस परम्परा की धरोहर को संभालेंगे।

दिवाली और नूतन वर्ष

दिवाली महावीर प्रभु का निर्वाण दिवस है। इस दिन स्थानक में 'भक्तामर स्तोत्र' का पाठ होता है। नये वर्ष का आरम्भ मांगलिक स्तोत्र गाकर किया जाता है, जिसके बाद सारे सदस्य एक दूसरे को नूतन वर्ष की बधाइयाँ देते हैं।

पूजा : पिछले 18 सालों से हर रविवार को 'श्री भक्तामर स्तोत्र' का पाठ होता है। सिंगापोर के स्थानक में विविध पूजा की गयी है, जैसे कि नवगृह पूजा, सिद्धचक्र पूजा और भव्य अधर अभिषेक पूजा। सिंगापोर में स्थानक में भगवानजी की मूर्ति की स्थापना से हमारे देरावासी भाईयों का स्वप्न साकार हो गया।

सिंगापोर जैन समाज की कुछ खास गतिविधियाँ

सिंगापोर जैन रेलिजिअस सोसाइटी ने सबसे पहली एशियन जैन कान्फेरेंस का आयोजन किया। 1990 के मार्च महीने में आयोजित इस सम्मेलन का मूल विषय था 'विश्व शान्ति की तरफ'। आचार्य सुशीलमुनिजी की छत्रछाया में, अध्यक्ष श्री नगीनभाई दोषी ने बड़ी लगन से इसका आयोजन किया।

जब जनवरी 2001 में भुज में भूकम्प हुआ था, तब सिंगापोर समाज ने बड़ी फुर्ती से अपनी सारी शक्तियाँ कार्यरत कर दीं, ताकि अपने देशबन्धुओं की मदद कर सकें। सिंगापोर जैन रिलिजिअस सोसाइटी ने सिंगापोरे के कैन संगठनों से मदद मांगी।

सिंगापोर सिख समाज ने 62000/- डॉलर की पूँजी जैन समाज को दी। आनन्द मेला जैसी गतिविधियाँ आयोजन करके कुछ और पैसे जमा किये। लगभग 300000/- डॉलर की पूँजी जमा कर कुछ स्वयंसेवक भुज पहुँचे, जिनमें कुछ डाक्टर भी थे। रामकृष्ण मिशन और स्वामीनारायण संस्था के साथ मिलकर उन्होंने पाठशाला और दवाखाना बनाने में मदद की।

शिविर

हर दूसरे वर्ष समाज जैन शिविर का आयोजन करती है। मलेशिया और इंडोनेशिया जैसी पड़ोसी देशों के किसी सुन्दर पर्यटक स्थल पर चार दिन की यात्रा का आयोजन किया जाता है। नैसर्गिक वातावरण में बड़े हसोल्लास के साथ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास का प्रयत्न किया जाता है। योग, खेलकूद, नाच-गाना इन सभी गतिविधियों का आयोजन धर्मानुसार किया जाता है। पड़ोसी देश जैसे मलेशिया, इंडोनेशिया और होंगकॉंग से भी जैन बन्धुओं को आमन्त्रित किया जाता है। सिंगापोर के व्यस्त जीवन से हटकर प्रकृति के आँगन में धर्म की शिक्षा हम सब मिलकर ग्रहण करते हैं। सिंगापोर जैन समाज की कुछ खास गतिविधियाँ समस्याएँ अपने देश और संस्कृति से दूर धर्म का आचरण करना थोड़ा सा कठिन होता है। जैन परिवारों को सबसे बड़ी कठिनाई होती है जैन भोजन के उपलब्धता की। घर से बाहर जैसे—दफ्तरों और पाठशालाओं में जैन तो क्या शाकाहारी व्यंजन भी बड़ी मुश्किल से मिलता है। पाठशाला और विद्यालयों में अभी तक जैनधर्म क्या है, और जैनी किस प्रकार से अहिंसा का पालन करते हैं, उस विषय पर कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। युवा वर्ग जो विद्यालयों में दिन के 10 से 12 घंटे बिताते हैं, उन्हें कई बार परेशानियों का सामना करना पड़ता है। यहाँ के ज्यादातर जैन परिवार घर के बाहर जैन भोजन की अपेक्षा न रखते हुए घर के शाकाहारी भोजन से ही काम चलाते हैं। इन सारी समस्याओं के बावजूद, मेरे मत में भारत से बाहर रहकर भी अपना धर्म और अपनी संस्कृति की पहचान नयी पीढ़ी को करवा सके इसका श्रेय हमारे जैन बुजुर्गों को जाता है, जिन्होंने आज से सौ साल पहले सिंगापोर देश को जैन धर्म का परिचय करवाया।

अमेरिका में जैनधर्म

डॉ. संजय जैन

“असली तरह से तो धर्म आप लोग अमेरिका में निभा रहे हैं”—भारत से आये एक पंडितजी का यह वाक्य सुनकर मैं सोचने लग गया। क्या हम लोग भारत से हजारों मील दूर, सही में धर्म अच्छी तरह निभा पा रहे हैं? यह बात तो है कि अमेरिका में जब सन् 1984 में पहली बार मैं शिक्षा के लिए पहुँचा, तबसे अब तक अमेरिका में जैनधर्म के अनुयायियों और जैन मन्दिरों की संख्या काफी बढ़ गयी है। संख्या में बढ़ोतरी के प्रभाव से जैनधर्म का पालन करना भी आसान हो गया है, लेकिन क्या हम लोग धर्म वैसे निभा पा रहे हैं, जैसे हमारे साधर्मिक बन्धु भारत में निभाते हैं? इस तरह के हरेक प्रश्न के समान इसका एक सीधा-सा उत्तर 'नहीं' है। अमेरिका में कुछ जगह धर्म की क्रियाएँ अच्छे से होती हैं, कहीं ज्ञान की चर्चा, और कहीं दोनों ही; कहीं समाज बड़ा है तो कहीं समाज छोटा है। शायद अमेरिका में कहीं पर धर्म भारत की किसी जगह से अच्छा निभाया जाता होगा, लेकिन औसतन तो मेरी समझ में भारतवासी ही जैनधर्म के पालन में आगे होंगे। इस लेख में अमेरिका में जैनधर्म के प्रमुख पहलुओं का वर्णन प्रस्तुत है।

अमेरिका में जैनियों का इतिहास¹

अमेरिका में जैनधर्म का इतिहास का प्रारम्भ हुआ सन् 1893 श्री वीरचन्द राघवचन्द गाँधी के आगमन से। श्री वी. रा. गाँधी अपने गुरु मुनि आत्मारामजी की प्रेरणा से अमेरिका में धर्मों की प्रथम विश्व संसद में जैनधर्म के प्रतिनिधि बनकर आये थे और उन्होंने अपने प्रभावशाली वक्तृत्व से जैनधर्म और भारतीयता का झंडा ऊँचा किया था। मुनि आत्मारामजी जैनधर्म के बारे में विश्व संसद में जागरूकता पैदा करना चाहते थे, परन्तु मुनिधर्म के नियमों के अन्तर्गत वह स्वयं इस संसद में नहीं जा सकते थे। इसलिए उन्होंने 29 वर्षीय वीरचन्द राघवजी गाँधी की इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए नियुक्त किया और उन्हें छह महीने के लिए प्रशिक्षित किया। वैसे श्री वी. रा. गाँधी खुद भी पहले से ही बहुत ज्ञानी थे। उनका बचपन से ही धर्म से बहुत लगाव था—वह 1885 में 21 वर्ष की आयु में भारत के जैन एसोसिएशन के पहले अवैतनिक सचिव बने थे।

श्री वी. रा. गाँधी के भाषणों को अमेरिका में हर जगह बहुत सराहा गया और उनको कई स्थानों से आमन्त्रित किया गया। वह पहली यात्रा में दो साल तक अमेरिका

754 :: जैनधर्म परिचय

में रहे और उसके बाद सन् 1897 में फिर से आमन्त्रण पर छः महीने के लिए गये।

जैनधर्म का अमेरिका वालों को अगला परिचय मिला सन् 1904 से 1905 तक। सागौन की लकड़ी से बनी पालीताना के मन्दिरों की 20 वर्ग फुट आकार और 35 फुट ऊँची प्रतिकृति सेंट लुइस प्रदर्शनी में प्रदर्शित करने के लिए भेजी गयी थी। प्रदर्शनी के बाद मन्दिर लास वेगास और वाद में लॉस एंजिल्स ले जाया गया था। अब यह लॉस एंजिल्स की जैन सोसाइटी के स्वामित्व में है।

इसके बाद सन् 1933 में बेरिस्टर चम्पतराय जैन शिकागो में 'वर्ल्ड फेलोशिप ऑफ फेथ्स' (धर्मों के विश्वबन्धुत्व की संस्था) के माध्यम से 'अहिंसा एज द की टू वर्ल्ड पीस' (विश्वशान्ति की कुंजी के रूप में अहिंसा) पर एक भाषण प्रस्तुत किया। उसके करीब एक दशक बाद, अलीगंज उत्तर प्रदेश के डॉ. कामता प्रसाद जैन ने अमेरिका आकर जैनधर्म का प्रचार किया। डॉ. कामता प्रसाद जैन 'वर्ल्ड जैन मिशन' के संस्थापक और 'वाइस ऑफ अहिंसा' के सम्पादक और प्रकाशक थे। उन्होंने अमेरिका और यूरोप में जैनधर्म का प्रचार किया था। अमेरिका में उनके प्रभाव से कुछ जाने-माने लोगों ने जैनधर्म के अहिंसा के पथ से प्रभावित होकर उसे अपनाया।

सन् 1950 के बाद से कुछ जैन लोग अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ने आये और फिर यहाँ बस गये। सन् 1965 के बाद अमेरिका ने पेशेवरों और कुशल तकनीशियनों के लिए आप्रवास के स्वागत के द्वार खोल दिये और बहुत से भारतीय यहाँ आये, जिसमें जैन लोग भी शामिल थे। सन् 1967 से 1971 तक अफ्रीका के विभिन्न देशों में खराब परिस्थितियों की वजह से, बहुत से भारतीय मूल के लोग वहाँ से पश्चिम देशों में गये। यह लोग अधिकतर व्यापारी थे, और इस तरह अमेरिका में व्यापारी वर्ग के बहुत से जैन लोग पहुँचे।

गुरुदेव चित्रभानु के सन् 1971 में न्यूयॉर्क में आगमन से फिर अमेरिका में जैनधर्म के साधु-पुरुषों के आने की शृंखला आरम्भ हुई। उसी वर्ष श्रवणबेलगोला और मूड़बिद्री मठों के श्री चारुकीर्ति भट्टारक, और होम्बुज के श्री देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक भी अमेरिका आये। सन् 1975 में सुशील कुमार मुनि अमेरिका आये और उसके बाद से कई साधु और साध्वियों का अमेरिका आना-जाना हुआ।

जैनियों की अमेरिका में तादाद बढ़ी और जैनधर्म के अनुयायी पूजा, त्यौहार और ज्ञानचर्चा के लिए मिलने लगे। सन् 1976 में डॉ. नरेन्द्र सेठी, जो कि कोलम्बिया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, के नेतृत्व में और गुरुदेव चित्रभानु तथा सुशील कुमार मुनि की प्रेरणा से न्यूयॉर्क में अमेरिका का पहला जैन सेंटर स्थापित किया गया। सुशील कुमार मुनि ने अमेरिका में कई जैन केन्द्रों की स्थापना की²। जब सुशील कुमार मुनि को आचार्य पद मिल गया, उन्होंने अमेरिका के न्यूजर्सी प्रान्त में सन् 1983 में 'सिद्धाचलम' नाम के एक जैन मठ³ की स्थापना की—यह पश्चिमी दुनिया में पहला जैन मठ था।

अमेरिका विश्वद्वीप में जैन जनसंख्या के अच्छे आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। सन् 1987 में 'जैन सेंटर ऑफ बृहत्तर ग्रेटर बोस्टन के जैन केन्द्र की डाइरेक्टरी ऑफ जैन्स रिसाईडिंग इन यू एस ए एंड कनाडा' (संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में रहने वाले जैनियों की निर्देशिका) में यह अनुमान लगाया गया था कि लगभग 3000 जैन परिवार इन देशों में उस समय रह रहे थे। सन् 1992 की जैन डाइरेक्टरी ऑफ नॉर्थ अमेरिका (उत्तरी अमेरिका के जैनों की निर्देशिका) में 5019 परिवारों की सूची बनी। डॉ. भुवनेन्द्र कुमार ने इस विषय पर शोध करके यह निष्कर्ष निकाला कि इन निर्देशिकाओं में जैन समाज के एक अंश के ही आँकड़े थे और सन् 1992 में उनके अनुमान से अमेरिका और कनाडा में जैनों की संख्या 80,000-1,00,000 के बीच में थी। दूसरे स्रोतों से आजकल भारत के बाहर रहने वाले जैन प्रवासियों में कम-से-कम एक तिहाई (लगभग एक लाख) अमेरिका में रहते हैं^{4,5}। अमेरिका में लगभग 100 जगहों पर जैन धार्मिक समुदाय हैं²।

अमेरिका में जैन तीर्थ

शायद अमेरिका में जैन तीर्थ के बारे में पढ़ कर पाठकों को आश्चर्य होगा। आचार्य सुशील मुनि के द्वारा स्थापित किया गया सिद्धाचलम अब अमेरिका के जैन तीर्थ के नाम से जाना जाता है। सिद्धाचलम शहरों की भीड़-भाड़ से दूर, पहाड़ियों के बीच एक बहुत ही शान्त और मनोहर स्थल पर बनाया गया है। इसका परिसर 120 एकड़ का है, इसमें एक भव्य मन्दिर, दो छोटे मन्दिर, एक सामुदायिक भोजनशाला, पुस्तकालय, मुनियों और साध्वियों के रहने के कक्ष, और यात्रियों के रहने की कई आधुनिक कुटियाएँ हैं। यहाँ पर मन्दिरों में श्वेताम्बर और दिगम्बर पद्धति की प्रतिमाएँ हैं। परिसर में चारों तरफ सुन्दर वन है, एक तरफ एक झील है और काफी खुली जगह भी है।

आचार्य जी के संघ के स्थापित करने के बाद से सिद्धाचलम में अधिकतर मुनि महाराजों का निवास रहता है, और भारत से भी साधु और साध्वियों का प्रायः आना-जाना रहता है। वहाँ पर प्रायः विभिन्न पूजाओं, विधान और शिविरों का आयोजन होता रहता है। आसपास के शहरों की जैन समाज यहाँ पर बसों में भर के सप्ताहान्त और छुट्टी के दिनों में यात्रा के लिए आती है। आसपास के शहरों के जैन परिवार भी भारत से आए हुए परिवार जनों को यहाँ लेकर आते हैं।

सन् 2011 में सिद्धाचलम के परिसर में शिखरजी की छोटे पैमाने की एक प्रतिकृति बनायी गयी है। शिखरजी की सारी टोंक उसी खाके में बनाई गयी हैं। जबकि भारत के सम्मेलन शिखरजी की यात्रा 27 किलोमीटर की है, इस प्रतिकृति शिखरजी की यात्रा 5-6 कि.मी. की है। चूँकि अमेरिका में रहने वाले जैनों को प्रमुख तीर्थ शिखरजी में आने का सौभाग्य मुश्किल से मिलता है, वह सिद्धाचलम जाकर शिखरजी यात्रा के अनुभव के बारे

में कुछ जान सकते हैं और अमेरिका के इस जैन तीर्थ में भक्ति का आनन्द उठा सकते हैं।
अमेरिका में जैन संस्थाएँ

अमेरिका और कनाडा में अब बहुत सारी जैन संस्थाएँ हैं। प्रत्येक बड़े शहर में जैन सेन्टर या जैन सोसाइटी हैं। न्यूयॉर्क, शिकागो, वाशिंगटन, सैन फ्रांसिस्को और टोरंटो जैसे बड़े शहरों में तो कई जैन संस्थाएँ हैं। फेडरेशन ऑफ जैन एसोसिएशन्स इन अमेरिका (JAINA-जैना) इन सब संस्थाओं का एकछत्र संगठन है। जैना हर दूसरे साल जुलाई के महीने के पहले हफ्ते में किसी बड़े शहर में सम्मेलन आयोजित करती है जिसमें अमेरिका और कनाडा के जैन बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं। इस सम्मेलन में भारत से सभी प्रमुख जैन सम्प्रदायों के साधु पुरुष और विद्वान धर्म चर्चा के लिए आते हैं। उदाहरण के लिए, सन् 2011 के सम्मेलन में श्वेताम्बर आचार्य चन्दना जी, दिगम्बर चारुकीर्ति भट्टारक जी, जैन विश्व भारती की समनी अक्षय प्रज्ञाजी, श्री मानक मुनिजी ने प्रवचन दिये। जयपुर के पंडित टोडरमल स्मारक भवन के पंडित हुकम चन्द भारिल्ल, श्रीमद् राजचन्द्र के ईश्वरभाई भक्त, डॉ. विपिन दोशी और पंडित धीरजलाल मेहता जैसे विद्वानों ने धर्मचर्चा करके अमेरिका में बसे जैनों का ज्ञानवर्धन किया।

धर्म-कर्म की बातों के साथ-साथ कुछ सांस्कृतिक, स्वास्थ्यप्रद और लौकिक कार्यक्रम भी चलते रहते हैं। प्रातःकाल पूजा और योग की कक्षाओं की व्यवस्था होती है। सूर्यास्त से पहले भोजन के पश्चात् सांस्कृतिक कार्यक्रम जैसे कि धर्म की कथाओं पर आधारित नाटक, रास। गरबा, धर्म पर प्रश्नोत्तर की स्पर्धाएँ और विवाह की आयु वाले युवा और युवतियों और उनके परिवार वालों के मिलने के समारोह चलते रहते हैं। हालाँकि यह सम्मेलन तो दो तीन दिनों का ही होता है, भारत से आये हुए विद्वान सम्मेलन से पहले और बाद में कुछ हफ्तों तक जगह-जगह से प्रवचनों और चर्चा के लिए आमन्त्रित किये जाते हैं। जैना सम्मेलन के पहले और बाद में गोष्ठियों का भी आयोजन किया जाता है। जैसे कि हर बार जैना सम्मेलन के पहले, एक हफ्ते के लिए जैन अध्यात्म अकेडमी ऑफ नॉर्थ अमेरिका (JAANA-जाना) का सम्मेलन होता है जिसमें पंडित हुकमचन्द भारिल्ल धर्म की चर्चा करते हैं।

जैना सम्मेलन के बीच वाले वर्षों में यंग जैन एसोसिएशन (युवा जैन संघ) का सम्मेलन होता है। इसमें अमेरिका में बड़े हो रहे किशोर और युवा वर्ग के लिए उनकी आयु और ज्ञान उपयुक्त धर्म चर्चा और सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन होता है—जैसे कि नृत्य और तरह-तरह के खेलों की स्पर्धा। इसके अलावा यंग जैन एसोसिएशन की साल में दो तीन बार सप्ताहान्त और छुट्टियों में रिट्रीट तथा और भी कई गतिविधियाँ होती हैं।

जैना का सालाना सम्मेलन तो बहुत प्रसिद्ध है, पर उसके अलावा जैना के और भी कार्यक्रम चलते रहते हैं। जैना की एजुकेशन कमेटी (शिक्षा समिति) ने वर्षों की मेहनत

करके जैन बच्चों के लिए जैन पाठशाला के पाठ्यक्रम को आँग्ल भाषा में अनुवादित किया है। अमेरिका में अधिकतर हर जैन केन्द्र में शनिवार या रविवार को जैन पाठशालाओं की कक्षाएँ होती हैं, और इनमें अधिकतर 'जैना' के माध्यम से बनाये गए पाठ्यक्रम का ही प्रयोग होता है। कुछ जगह अलग पाठ्यक्रम का प्रयोग होता है; जैसे कि जैन विश्व भारती के द्वारा बनाये गए पाठ्यक्रम।

अमेरिका में जैन मन्दिर

2010 में अमेरिका में भारत के बाहर विश्व के किसी भी देश से सबसे अधिक जैन मन्दिर हैं^०। 2006 की गणना के अनुसार अमेरिका में 26 जैन मन्दिर हैं, जो कि अधिकतर संगमरमर के हैं और उनके शिखर और मेहराब राजस्थानी वास्तुकला को शैली याद दिलाते हैं^०।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, आचार्य सुशील कुमार की प्रेरणा से ही अमेरिका में जैनों ने हिन्दू मन्दिरों में जैन वेदियाँ स्थापित कीं, और जहाँ भी हिन्दू मन्दिर वालों ने एक से ज्यादा प्रतिमा रखने की अनुमति दी, वहाँ आचार्य जी की प्रेरणा से श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों पद्धति की प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं। अधिकतर सभी बड़े शहरों में हिन्दू मन्दिर हैं, और उनमें से कुछ में एक या दो जैन प्रतिमाएँ भी हैं। सिर्फ बहुत बड़े शहरों में ही अलग जैन मन्दिर हैं, और कहीं-कहीं तो एक ही शहर में एक से ज्यादा जैन मन्दिर हैं। उदाहरणार्थ— अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन और उसके आसपास के क्षेत्र में लगभग 14 मन्दिर हैं, इनमें से एक जैन मन्दिर है (सिल्वर स्प्रिंग नाम की जगह पर), और बाकी हिन्दू मन्दिर हैं, जिनमें से दो हिन्दू मन्दिरों में जैन प्रतिमाएँ हैं, सिल्वर स्प्रिंग के जैन मन्दिर में श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिमाएँ हैं, सैंटीली के राजधानी मन्दिर नाम के हिन्दू मन्दिर में एक श्वेताम्बर और एक दिगम्बर प्रतिमा है, और अडेल्फी के हिन्दू मन्दिर में एक दिगम्बर प्रतिमा है। न्यूयॉर्क और उसके आसपास के क्षेत्र में दो जैन मन्दिर हैं। न्यूयॉर्क के क्वींस इलाके में पिछले कुछ सालों में नव निर्मित जैन मन्दिर की दूसरी मंजिल पर श्वेताम्बर पद्धति का मन्दिर और स्थानकवासी पद्धति का स्थानक कक्ष है, तीसरी मंजिल पर दिगम्बर पद्धति का मन्दिर, श्रीमद् राजचन्द्र ध्यान कक्ष और पुस्तकालय है, और चौथी मंजिल पर दादाबाड़ी मन्दिर, अष्टापद महातीर्थ की प्रतिकृति और भोजनशाला है। इसी प्रकार सैन फ्रांसिस्को के निकट मिल्लिपटस में बने भव्य जैन मन्दिर में पहली मंजिल पर जैन पाठशाला के लिए कई कक्ष और दूसरी मंजिल पर एक बड़े कक्ष में श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिमाएँ और श्रीमद् राजचन्द्र की मूर्ति है, फीनीक्स का नवनिर्मित मन्दिर शायद अमेरिका में पहला जैन मन्दिर है, जिसके आगे मानस्तम्भ की स्थापना हुई है। फीनीक्स के जैन मन्दिर में भी श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिमाएँ हैं, और मन्दिर से लगे एक कक्ष में श्रीमद् राजचन्द्र का चित्र और उनका साहित्य है। मिल्लिपटस और फीनीक्स के मन्दिरों में वेदी को परिक्रमा पथ की दीवारों में चौबीस तीर्थकरों की

प्रतिमाएँ हैं, और दोनों ही मन्दिरों में इनमें से बारह दिगम्बर और बारह श्वेताम्बर पद्धति की हैं। अमेरिका महाद्वीप में कुछ ही जगहें ऐसी हैं, जहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर मन्दिर अलग हैं। कनाडा के टोरेंटो शहर में अलग-अलग श्वेताम्बर और दिगम्बर मन्दिर हैं। न्यूयॉर्क के दूसरे जैन मन्दिर में जो कि हाइड पार्क में है, सिर्फ श्वेताम्बर प्रतिमाएँ हैं। इसी तरह न्यू जैर्सी के चेरी हिल शहर के जैन मन्दिर में सिर्फ श्वेताम्बर प्रतिमाएँ हैं।

बहुत बड़े शहरों के जैन मन्दिरों में तो रोज दिगम्बर प्रतिमाओं का प्रक्षाल और श्वेताम्बर प्रतिमाओं की चन्दन पूजा होती है, पर ज्यादातर जगहों पर ये क्रियाएँ खाली शनिवार और रविवार की ही हो पाती हैं। स्थानीय जैन समाज की इस मजबूरी को ध्यान में रखते हुए यहाँ के मन्दिरों में प्रतिमाओं की 'अर्द्ध' प्रतिष्ठा ही की गयी है।

अमेरिका में जैन त्यौहार

अमेरिका में जहाँ-जहाँ जैन सेंटर हैं, वहाँ ज्यादातर जैन त्यौहारों पर पूजा और समारोह होते हैं। इन सभी जगहों पर महावीर जयन्ती, दिवाली, दशलक्षण और पर्यूषण पर्व मनाये जाते हैं। इसके अलावा कुछ और त्यौहार स्थानीय मान्यताओं और दिनों के लिए मनाये जाते हैं। चेन्टिली (वाशिंगटन के निकट) के राजधानी मन्दिर में अगस्त के महीने में जैन प्रतिमा प्रतिष्ठा समारोह और पार्श्वनाथ जयन्ती साथ-साथ मनाई जाती है और दिसम्बर के महीने में पार्श्वनाथ निर्वाण दिवस। राजधानी मन्दिर के जैन भक्त इंग्लिश कलेंडर से हर नये साल की शुरुआत भी 1 जनवरी को पूजा के साथ करते हैं। अमेरिका के व्यस्त जीवन में वीक डे के दिन पड़े त्यौहारों पर पूजा में कम ही लोग एकत्रित हो पाते हैं। इसलिए फिर उसके बाद के शनिवार के दिन उस त्यौहार को फिर मनाया जाता है, जिसमें ज्यादा लोग सम्मिलित होते हैं। कई जैन सेंटरों में महावीर जयन्ती पर बड़े सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन होता है, जिसमें स्थानीय जैन परिवार के बच्चे और बड़े मिल करके जैन भजन, नृत्य और नाटकों का आयोजन करते हैं। ये नाटक और नृत्य अधिकतर भगवान् महावीर के जीवन की घटनाओं या अन्य पौराणिक कथाओं पर आधारित होते हैं।

अमेरिका में दशलक्षण और पर्यूषण पर्व भी बहुत उत्साह से मनाए जाते हैं। बहुत से जैन सेंटरों में, दशलक्षण या पर्यूषण के दौरान पूजा और प्रवचन के लिए विद्वानों और शास्त्रियों को आमन्त्रित किया जाता है। आठ या दस दिनों तक सुबह पूजा और शाम को प्रवचनों का क्रम चलता है। अमेरिका में कुछ ही जैन विद्वान और शास्त्री उपलब्ध हैं, इसलिए कई जगह भारत से विद्वान और शास्त्री आते हैं। उदाहरण के लिए, चेन्टिली के राजधानी मन्दिर में सन् 2009 और 2010 में अजमेर के पं. कुमुदचन्द्र सोनी और सन् 2011 में लखनऊ के डॉ. वृषभप्रसाद जैन ने दशलक्षण पर्व पर स्थानीय जैनियों की धर्म और ज्ञान वृद्धि का मार्गदर्शन किया। कुछ जगह पर जहाँ जैन समाज थोड़ा बड़ा और समर्थ है, पर्यूषण के आठ दिन और दशलक्षण के दस दिन यानी कि अठारह दिन तक

पूजा और प्रवचन की श्रृंखला चलती है। सिल्वर स्प्रिंग के जैन मन्दिर में सन् 2011 में अठारह दिनों के लिए धर्म-वृद्धि की व्यवस्था की गई। इस मन्दिर में रहने की व्यवस्था है और 18 दिनों के लिए शुद्ध भोजन की भी व्यवस्था कराई गयी थी। सिल्वर स्प्रिंग और आसपास के कई वृद्ध-अवस्था के लोग इन पर्वों के दौरान मन्दिर में ही वास करते हैं।

दशलक्षण और पर्यूषण पर्वों पर आये हुए विद्वानों और शास्त्रियों के सौजन्य से इस दौरान या कुछ दिन पहले और बाद बहुत सी जगह विधान और पाठ भी किए जाते हैं। अमेरिका में जैन रहन-सहन

अमेरिका में बहुत से जैन अपने धर्म के नियमों का जहाँ तक सम्भव है, पालन करते हैं। भारत में जन्म लेकर यहाँ आकर बसने वाले जैन ज्यादातर शाकाहारी ही बने रहे, पर अमेरिका में जन्म लेकर वहीं पर बढ़ने वाले जैनों में शाकाहारी की मात्रा कुछ कम है। कुछ ही जैन परिवार हैं, जिनके घर पर प्याज और लहसुन नहीं बनता पर इन परिवार वालों का प्याज-लहसुन का पूरी तरह त्याग नहीं हो पाता, क्योंकि घर से बाहर ऐसा भोजन बड़ी मुश्किल से ही उपलब्ध होता है। रात्रि-भोजन त्याग वाले तो शायद कुछ वृद्ध अवस्था के लोग रह गये हैं। ये लोग रिटायर होकर अमेरिका में बसे अपने बच्चों के साथ रहने के लिए आये और जीवन भर के लिये हुए नियमों का पालन कर रहे हैं।

ज्यादातर जैन बच्चे हर शनिवार या रविवार को या हर दूसरे शनिवार या रविवार को जैन पाठशालाओं में जाकर अपने महान धर्म के बारे में सीखते हैं। पर जहाँ ये पाठशालाएँ उपलब्ध नहीं हैं, या कम बच्चों के साथ चल रही हैं, वहाँ जैन माता-पिता अपने बच्चों की हिन्दू संस्थाओं की कक्षाओं जैसे कि स्वामी सच्चिदानन्द संस्थाओं या हिन्दू मन्दिरों द्वारा प्रायोजित बाल मन्दिर में भेजते हैं।

अमेरिका में जैनधर्म का पालन करने में कठिनाइयाँ

विश्व में हर जगह की तरह अमेरिका में जैन अल्प संख्या में हैं। अमेरिका के जैन समाज ने अल्प संख्या की कठिनाइयों का सामना करने के लिए नई सोच का उपयोग किया है। इस नई सोच के अनुसार अमेरिका में चली हुई नई प्रथाएँ भारत में देखने को नहीं मिलेंगी—जैसे कि हिन्दू मन्दिरों में जैन प्रतिमाएँ और सभी जैन सम्प्रदायों का मिल-जुल कर रहना, साथ में मन्दिर बनाना, और साथ में सम्मेलनों में भाग लेना। अमेरिका में बसे हुए हिन्दू समाज की सहायता से जैनों की मन्दिरों में प्रतिमाएँ स्थापित करने की सुविधा मिली और जैन समाज इसके लिए अपने स्थानीय हिन्दू समाजों के आभारी हैं। जहाँ एक तरफ पूजा की सुविधा हुई है, वहीं दूसरी तरफ कुछ समझौते भी करने पड़े हैं। हिन्दू मन्दिरों में हिन्दू पूजाओं को प्राथमिकता मिलती है और जैन समाज को इसको विचार में रखना पड़ता है। जैन लोग अपनी प्रतिमाओं की शुद्ध वस्त्रों में ही प्रक्षाल या चन्दन पूजा के लिए छूते हैं, लेकिन कुछ हिन्दू भक्त अनजाने में जैन प्रतिमाओं

को न छूने की सूचना लगा होने पर भी अपने रोज के वस्त्रों में जैन प्रतिमाओं के पैर छू लेते हैं, उन पर फूल, कुमकुम, पैसे इत्यादि चढ़ा देते हैं।

इसी प्रकार जैन सम्प्रदायों के मिले हुए मन्दिर में भी प्रत्येक सम्प्रदाय को कुछ समझौते करने पड़ते हैं और छोटे सम्प्रदाय वालों को प्रायः यही लगता है कि उन्हें उनके पूरे अधिकार नहीं मिल रहे। इसी तरह भारत के विभिन्न जगहों से आये हुए जैन लोग अमेरिका में मिलकर पूजा करते हैं। जहाँ-जहाँ एक ही जगह के लोग ज्यादा होते हैं, वहाँ उन्हीं के इलाके की प्रथाओं और भाषा का जोर रहता है और कभी-कभी और जगह के लोगों को इसमें कुछ समझौते करने पड़ते हैं। अमेरिका में अधिकतर जैन गुजरात से हैं और इनमें अधिकतर श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले हैं। इसलिए कई जगह जैन पूजाएँ और समारोह गुजराती भाषा में होते हैं और जिनको गुजराती नहीं आती है, वह पूरी तरह से भाग नहीं ले पाते हैं। उदाहरणार्थ—शिकागो शहर में हुए 2008 के युवा जैन सम्मेलन में लगभग 2 हजार गुजराती युवाओं के बीच केवल 6 युवा थे, जो गुजराती भाषा नहीं जानते थे— और ये लोग सम्मेलन की गतिविधियों में पूरी तरह भाग नहीं ले पाये। कई जगहों पर गुजराती जैन समाज अल्प संख्यक लोगों को समस्याओं के बारे में जागरूक है और ऐसे लोगों को गतिविधियों में सम्मिलित करने की पूरी चेष्टा करता है।

जैन श्रावकों को अमेरिका में धर्म के पालन में शायद सबसे बड़ी समस्या है कि यहाँ पर बड़ी हो रही आने वालों पीढ़ियों को धार्मिक संस्कार कैसे दिए जाएँ? भारत में तो घर में रह रहे बुजुर्गों से, मन्दिर और आसपास में रहने वाले सहधार्मिक बन्धुओं से, धार्मिक त्योहारों के मनाने में, शहर में आये हुए मुनियों और साध्वियों के दर्शनों और प्रवचनों के माध्यम से बच्चों में धर्म के संस्कार पड़ जाते हैं। अमेरिका में अधिकतर परिवार में खाली माता-पिता और बच्चे होते हैं और अधिकतर परिवारों में माता और पिता दोनों ही नौकरी करते हैं। बच्चे भी स्कूल की पढ़ाई, खेल और सांस्कृतिक गतिविधियों में व्यस्त रहते हैं। इन सब के बीच धर्म की कथाओं और चर्चा का समय कम ही मिल पाता है। जैन समाजों में जैन पाठशाला और जैन त्यौहारों के मनाने से इस कार्य में थोड़ी सहायता हुई है, पर सारे जैन इन मौकों का लाभ नहीं ले पा रहे हैं।

जैन श्रावकों, खासतौर से दिगम्बर जैन श्रावकों को, अमेरिका में जैनधर्म के मार्ग दर्शन के लिए यहाँ पर मुनियों और साध्वियों के सान्निध्य का अभाव बहुत खलता है। यहाँ तक कि, अधिक धार्मिक भावना रखने वाले लोग इस कारण से कभी-कभी भारत वापिस भी लौट जाते हैं। अन्य जैन सम्प्रदायों के मुनि और साध्वियाँ तो आते हैं, पर वह भी इतने नहीं मिलते, जितने कि भारत में। पिछले कुछ सालों में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की क्षुल्लिका शुभमती जी अपने संघ के आचार्य सन्मति सागर महाराज की अनुमति से दो बार अमेरिका आयीं और प्रभावी प्रवचन दिये। सन् 2007 के जैना के सम्मेलन में क्षुल्लिका शुभमती जी के केशलौच से, देखने वालों को दिगम्बर धर्म के नियमों के बारे

में पता चला। भट्टारक महाराजों के अमेरिका आने-जाने से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व होता है और धर्म का ज्ञानवर्धन भी होता है, परन्तु यहाँ पर बढ़ने वाली पीढ़ी मुनियों के आचरण को पास से नहीं देख पाती है।

मुनियों के अभाव से अमेरिका में प्रतिमाओं की प्राण प्रतिष्ठा में भी कठिनाई होती है। अमेरिका में हुई दिगम्बर प्रतिमाओं की प्राण प्रतिष्ठा के लिए भारत में भट्टारक महाराजों को आमन्त्रित किया जाता है। कुछ जैन समाज वाले भारत में प्राण प्रतिष्ठा कराके प्रतिमाओं को अमेरिका लाते हैं। उदाहरण के लिए, न्यूयॉर्क के क्वींस के जैन मन्दिर की श्वेताम्बर प्रतिमाओं की अंजन-शलाका क्रिया सूरत में और दिगम्बर प्रतिमाओं की पंच कल्याणक क्रियाएँ आगरा में की गयीं और उसके बाद ही यह प्रतिमाएँ अमेरिका ले जाई गयीं।

अमेरिका वासियों में स्वास्थ्य की बढ़ती हुई जगरूकता की वजह से घर के बाहर शाकाहारी भोजन मिलना आसान होता जा रहा है, फिर भी कई रेस्टोरेन्ट्स में शाकाहारियों को खाली सलाद या उबली हुई सब्जियाँ खाकर ही काम चलाना पड़ता है। बड़े शहरों में पूर्ण शाकाहारी रेस्टोरेन्ट्स मिल जाते हैं, पर वो भी गिने-चुने ही — इनमें से कुछ तो दक्षिण भारतीय भोजन वाले होते हैं और कुछ चीनी शाकाहारी प्रथा के। इनमें से कुछ ही जगह, पहले कहने पर बिना प्याज और लहसुन का खाना बनाने की व्यवस्था है। बिना प्याज और लहसुन खाने वाले को अधिकतर घर में खाना होता है—अपने या अपने जैसे ही और जैनियों के घर में। कुछ जैन परिवारों के द्वारा आयोजित पारिवारिक समारोहों, जैसे कि शादियाँ, जन्मदिन इत्यादि में, अधिकतर बिना प्याज और लहसुन और रात्रि-भोजन त्याग वालों के लिए अलग व्यवस्था होती है। व्यावसायिक और प्रोफेशनल लोगों के लिए प्याज-लहसुन त्याग का नियम पालन करना मुश्किल हो जाता है।

अमेरिका के जैनधर्म के अनुयायियों को अमेरिका में बसे हुए कुछ जैन विद्वान और अमेरिका के वेगन मूवमेंट के समर्थक दूध और दूध से बने हुए अन्य खाद्य पदार्थ छोड़ने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं, और कुछ जैन लोगों ने ऐसा किया भी है। अमेरिका में दूध देने वाली गायों के साथ बहुत क्रूरता होती है—बड़े-बड़े डेयरी फॉर्म में गाय एक जगह पर खड़ी रहती है, और उनके थनों में दूध निकालने की मशीन लगी रहती है। उनको तरह-तरह के इन्जेक्शन दिये जाते हैं, जिससे वह कम आयु में और अधिक मात्रा में दूध दे।

अन्त में, अमेरिका में बसे जैन लोग क्या अपना धर्म अच्छे से निभा पा रहे हैं? इस लेख को पढ़ने के बाद पढ़ने वाले शायद अपने-अपने नजरिए से अलग-अलग मत पर पहुँचें। और ऐसे प्रश्न का एक उत्तर शायद है भी नहीं। धर्म के प्रति जागरूक लोग दुनिया के किसी भी कोने में रह कर अपना धर्म अच्छे से निभा सकते हैं और धर्म के प्रति उदासीन लोग सम्मदे शिखरजी में रहकर भी जिन्दगी को व्यर्थ गवाँ सकते हैं। पंडित जी

का कथन दशलक्षण में उत्साह से भाग ले रहे श्रावकों के लिए था और आज कल के भौतिक जिन्दगी में व्यस्त लोगों की अपेक्षा से मेरी दृष्टि में सही था। आशा है पाठक इस बात से सहमत होंगे। जय जिनेन्द्र।

सन्दर्भ—

1. इस खंड में दी गई जानकारी निम्न पुस्तक पर आधारित है—डॉ. भुवनेंद्र कुमार (1996), कनाडियन स्टडीस इन जैनियम, जैन हुमेनीटीज प्रेस, मिस्सिससौगा, ओंटारियो, कनाडा
2. क्वीन, एडवर्ड ल.; प्रोथेरो, स्टीफेन र.; शेदुक गार्डिनर ह. (2009) एन्साईक्लोपेडिया ऑफ अमेरिकन रिलिजिअस हिस्टरी, इन्फोबेस पब्लिशिंग, पृष्ठ संख्या 531, ISBN 978-0-8160-6660-5
3. यह मठ भारत में स्थित दिगम्बर जैन मठों की तरह नहीं है, यहाँ पर श्वेताम्बर संघ विराजमान है।
4. ली, जोनाथन ह. क्ष. (21 दिसम्बर 2010), एन्साईक्लोपेडिया ऑफ एशियन अमेरिकन फोल्क्लोर एंड फोल्क्लाइफ, ए.बी.सी.-सी.एल.आई.ओ., पृष्ठ संख्या 487-488, ISBN 978-0-313-35066-5
5. वाईली, क्रिस्टी ल. (2004), हिस्टोरिकल डिक्शनरी ऑफ जैनियम, स्केरक्रो प्रेस, पृष्ठ संख्या 19, ISBN 978-0-8108-5051-4
6. ली, जोनाथन ह. क्ष. (21 दिसम्बर 2010), एन्साईक्लोपेडिया ऑफ एशियन अमेरिकन फोल्क्लोर एंड फोल्क्लाइफ, ए.बी.सी.-सी.एल.आई.ओ., पृष्ठ संख्या 487-488, ISBN 978-0-313-35066-5

जैन साहित्य

प्रो. वृषभ प्रसाद जैन

जैन साहित्य पर या उसकी विशेषताओं पर जब चर्चा करनी हो, तो प्रमुख रूप से निम्न बिन्दुओं पर विचार उभरते हैं -

1. वह साहित्य जो जैन रचनाकारों के द्वारा रचा गया,
2. जैनधर्म की मूल मान्यताओं को लेकर जो सृजनात्मक साहित्य रचा गया, वह जैनाचार्यों द्वारा रचा गया हो अथवा जैनैतर रचनाकारों, द्वारा रचा गया हो।
3. साहित्य मात्र को देखने की दृष्टि क्या जैनाचार्यों की कुछ जैनैतर साहित्यकारों से भिन्न रही। यदि रही तो किन बिन्दुओं पर?

पहले दोनों बिन्दुओं पर विचार विभिन्न भाषायी साहित्य वाले आलेखों में हुआ है। जैसे जैन संस्कृत साहित्य में, जैन प्राकृत साहित्य में, जैन मराठी साहित्य में आदि-आदि। तीसरे बिन्दु पर विचार लगभग उन आलेखों में नहीं है और इस बिन्दु पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं, तो यह बात साफ सामने आती है कि साहित्य की रचना जैन जीवन का अभिन्न अंग रही है। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य पर दृष्टि डालें, तो आपको यह बात साफ दिख जाएगी कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में ऐसी अनेक साहित्यिक कृतियाँ हैं जो धार्मिक साहित्य नहीं हैं, जो दार्शनिक साहित्य भी नहीं हैं, पर उत्कृष्ट साहित्य की वे प्रतिरूप हैं। आप तमिल के साहित्य को उठाकर देखें, कन्नड़ के साहित्य को उठाकर देखें, हिन्दी के साहित्य को उठाकर देखें आदि-आदि, तो यह बात साफ दिखेगी कि इन भाषाओं का खासकर जो आदिम साहित्य है, वह उत्कृष्ट साहित्य का नमूना होने के साथ-साथ विभिन्न साहित्यिक मानकों को गढ़ने में मार्गदर्शक-जैसी भूमिका निभाता है, और उन मानकों/पैमानों पर चलकर अधिकांश भारतीय भाषाओं का साहित्य विकसित हुआ या अधिकांश उत्तरवर्ती भारतीय भाषाओं के साहित्य ने अपने निकास में उन पैमानों को आत्मसात किया।

आप रसप्रधान जैन साहित्य को देखें तो श्रृंगारिक साहित्य में भी वत्सल और शान्त की प्रधानता के दर्शन होते हैं और यह वत्सलरूप अद्भुत है। वैसे दर्शन सम्पूर्ण भारतीय

साहित्य में लगभग अलभ्य-से हैं। तीर्थंकर बालक को स्नान के लिए जब सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं उस समय के बालक के कपोल पर पड़ने वाले बिम्ब का जो वर्णन है, वह अलौकिक-सा है और यह शृंगार, वात्सल्य एवं शान्त का अद्भुत नमूना है और इसकी मोहकता ऐसी चमत्कार पूर्ण है, जो न केवल शृंगार में बन सकती है, न वात्सल्य भाव में, न भक्ति में। कई बार इस प्रकार के वर्णनों को पढ़नेपर लगता है कि हमें साहित्यशास्त्र में कुछ-और मानक बनाने पड़ेंगे। आप भक्तिकालीन जैन साहित्य को देखें, तो ऐसी बहुत सी पदावली मिलेंगी, जो न सगुण भक्ति की है, न निर्गुण भक्ति की है, पर भक्तिकाल की है। ऐसी पदावली के कुछ नमूने हम आध्यात्मिक पदावली से पा सकते हैं। इस जैन आध्यात्मिक पदावली का जो अध्यात्म रस है या भक्तिरस है, वह अद्भुत है और इसके नमूने हमें मध्यकाल से अर्थात् अपभ्रंश से बड़े स्पष्ट रूप में मिलने लगते हैं, जिनकी क्रमिक शृंखला हमें उत्तरकाल में हिन्दी की आध्यात्मिक पदावली के आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध तक मिलती है और यह शृंखला ऐसी अद्भुत है जो भक्ति रसमय भी है पर भक्तिकाल की भक्ति-रस-प्रधान अन्य काव्यधारा से भिन्न भी है।

जैन साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसने व्यक्ति को संस्कारित करने का काम प्रमुख रूप से किया है। यहाँ साहित्य के भाव की प्रधानता उस रूप में स्वीकृत नहीं है, जैसी कुछ साहित्यशास्त्री स्वीकारते हैं। जैन यह मानते हैं कि व्यक्ति विशेष जब साहित्य के सम्पर्क में आता है, तो वह और उसका जीवन साहित्य के प्रभाव से स्वयं संस्कारित होता चलता है। और जब व्यक्ति संस्कारित होता चलेगा, तो वह अपने-आप दूसरे संस्कारित व्यक्ति से जुड़ेगा ही। इसलिए जैन, साहित्य-चिन्तन यह मानता है कि साहित्य से व्यक्ति का संस्कार होता है, व्यक्ति के संस्कार से समाज का संस्कार होता है और इसीलिए व्यक्ति के नियमित संस्कार के निर्माण के लिए ही स्वाध्याय की बात जैन व्यक्ति-विशेष के संस्कार में डाली गयी है और यह बात केवल गृहस्थों तक ही सीमित रखी गयी है, ऐसा तथ्य नहीं है बल्कि कथ्य तो यह है कि स्वाध्याय के पथ पर ही मुक्ति मिलती है और जिसका पथिक दोनों को होना होता है गृहस्थ को भी और साधु की भी।

कुल मिलाकर कथ्य यह है कि जैन साहित्य की कुछ ऐसी साहित्यिक विशेषताएँ हैं जो उसकी जैनैतर साहित्य से भिन्नता वाली पहचान को गढ़ती हैं और इस दृष्टि से जैन साहित्य का अलग से आलोचन करने की जरूरत है।

भक्तिकाव्य

प्रो. वीरसागर जैन

गुणवत्ता, परिमाण, विविधता आदि अनेक दृष्टियों से जैन वाङ्मय का भारतीय वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है। भक्तिकाव्य भी इसका अपवाद नहीं है। जैन कवियों ने प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में, सभी प्रकार की काव्यशैलियों में विपुल मात्रा में उच्चकोटि के भक्तिकाव्य को रचा, जिस सब का उल्लेख इस लघु निबन्ध में शक्य नहीं है।

जैन भक्तिकाव्य साहित्य के लगभग आदिम काल से ही अनेकानेक रूपों में उपलब्ध है। यथा—मंगलाचरण, भक्ति, स्तुति, स्तोत्र, पूजा, विधान, आरती, पद, अष्टक, दशक, पच्चीसी, बत्तीसी, चालीसा, पचासा, शतक इत्यादि। इन सभी रूपों का मुख्य विषय अपने आराध्य की गुणस्तुतिरूप भक्ति ही है, अतः ये सभी वस्तुतः भक्तिकाव्य के विविध रूप हैं।

इनमें सर्वप्रथम तो, जैन-ग्रन्थों के प्रारम्भ में मंगलाचरण हेतु रचे गए छन्द जैन भक्तिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाने चाहिए। अत्यन्त सारगर्भित होने से ये छन्द बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। कतिपय मंगलाचरण छन्द तो ऐसे हैं, जो आगे चलकर हैं। न केवल इनके भक्तिकाव्यों के, बल्कि दर्शन एवं न्याय शास्त्र के ग्रन्थों के भी मूलाधार बने हैं। इनमें 'षट्खण्डागम' और 'तत्त्वार्थसूत्र' के निम्नलिखित मंगलाचरण-छन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

1. "जमो अरिहंताणं, जमो सिद्धाणं, जमो आइरियाणं।
जमो उवज्झायाणं, जमो लोए सव्वसाहूणं।।"'
2. "मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।"'

उक्त दोनों मंगलाचरण-काव्य सम्पूर्ण जैन भक्तिकाव्य के मूल-स्रोत तो प्रतीत होते ही हैं, जैन-भक्ति की समूची अवधारणा को स्पष्ट करने में भी बड़े समर्थ लगते हैं। इनके आधार पर जैन वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ लिखे गए। उदाहरणार्थ—'तत्त्वार्थसूत्र' के मंगलाचरण को आधार बनाकर आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा', आचार्य अकलंक

ने 'अष्टशती' एवं आचार्य विद्यानन्दि ने 'अष्टसहस्री' व 'आप्तपरीक्षा' आदि अनेक महान ग्रन्थों की रचना की।

मंगलाचरण के अतिरिक्त भक्तियों के नाम से भी जैनवाङ्मय में विशाल भक्ति-काव्य रचा गया है। इनमें आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शताब्दी) और आचार्य पूज्यपाद (पाँचवीं शताब्दी) जैसे धुरन्धर आचार्यों की भक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आज भी हजारों साधु और श्रावक इन भक्तियों का नित्य पाठ करते हैं। भावगाम्भीर्य और शिल्प—दोनों ही दृष्टियों से ये भक्तियाँ सम्पूर्ण भारतीय भक्ति-काव्य में अपना बेजोड़ स्थान रखती हैं।

इन भक्तियों के शीर्षक इस प्रकार हैं—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, निर्वाणभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति, वीरभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति और चैत्यभक्ति।

आचार्य कुन्दकुन्द की भक्तियाँ प्राकृत भाषा में हैं, जबकि आचार्य पूज्यपाद की भक्तियाँ संस्कृत में। आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य पूज्यपाद के अतिरिक्त कतिपय अन्य आचार्यों ने भी कुछ भक्तियाँ लिखी हैं। जैसे—श्रुतसागर सूरि (16वीं शती) की सिद्धभक्ति।

मंगलाचरण और भक्तियों के अतिरिक्त 'स्तोत्र' के नाम से भी विशाल जैन-भक्तिकाव्य उपलब्ध है। जैन स्तोत्र-साहित्य का प्रारम्भ वैसे तो प्राकृतभाषा में हो चुका था और 'जयतिहुअण', 'उवसग्गहरं', 'भयहरं' आदि अनेक स्तोत्रों की रचना हो चुकी थी, परन्तु संस्कृत भाषा में आकर तो जैन स्तोत्र साहित्य का अद्भुत विकास हुआ। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार संस्कृत भाषा में लगभग 1000 से अधिक जैन स्तोत्र लिखे गये।

संस्कृत-जैन-स्तोत्र-साहित्य के आद्यरचनाकार आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शताब्दी) के माने जाते हैं। आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्र जैन भक्तिकाव्य के समूचे दर्शन को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में और तार्किक रीति से प्रस्तुत करने में अत्यन्त समर्थ हैं। स्तुति, स्तुत्य, स्तोता, स्तुतिफल, स्तुतिविधि आदि सभी विषयों पर आचार्य समन्तभद्र ने बड़े ही सटीक विचार अपने स्तोत्रों में अभिव्यक्त किए हैं। भाव एवं कला दोनों ही दृष्टियों से आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्र बड़े उत्कृष्ट हैं।

आचार्य समन्तभद्र के इन स्तोत्रों के सम्बन्ध में डॉ. प्रेमसागर ने लिखा है—“आचार्य समन्तभद्र के 'स्वयम्भू-स्तोत्र' तथा 'स्तुति-विद्या' संपूचे भारतीय भक्ति-साहित्य के जगमगाते रत्न हैं। हृदय की भक्तिपरक ऐसी कोई धड़कन नहीं, जो इनमें सफलता के साथ अभिव्यक्त न हुई हो। भाव और कला का ऐसा अनूठा समन्वय भारत के किसी अन्य स्तोत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता है।”

आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्रों में 'स्वयम्भूस्तोत्र' या 'वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र' सर्वाधिक

प्रसिद्ध हैं। इसमें कुल 143 संस्कृत-छन्दों में ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। स्तुति के माध्यम से भी वस्तुतः जैनचिन्तन को और इसके साथ ही साथ जैनचिन्तन के मूलाधार तत्त्व अनेकान्त-स्याद्वाद की भी यहाँ (Deepness Thought) अद्भुत व्याख्याएँ हैं।

आचार्य समन्तभद्र के इस स्तोत्र का परवर्ती जैन भक्तिकाव्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। पच्चीसों कृतियाँ तो 'स्वयम्भूस्तोत्र' के नाम से ही लिखी गयी हैं। इसके अतिरिक्त इस स्तोत्र के विषय एवं शैली का अनुकरण करते हुए तो विविध भाषाओं और विविध कालखण्डों में आज तक शताधिक कृतियों की रचना हुई है।

आचार्य समन्तभद्र के 'स्वयम्भूस्तोत्र' के अतिरिक्त संस्कृत-जैन-स्तोत्र-साहित्य में कतिपय निम्नलिखित स्तोत्र अत्यधिक प्रचलित हैं—

1. भक्तामरस्तोत्र (आचार्य मानतुंग, सातवीं शती)
2. कल्याणमन्दिरस्तोत्र (आचार्य सिद्धसेन अपर नाम कुमुदचन्द्र, सातवीं शती)
3. विषापहारस्तोत्र (महाकवि धनंजय, आठवीं शती)
4. जिनसहस्रनामस्तोत्र (आचार्य जिनसेन, आठवीं शती)
5. एकीभावस्तोत्र (आचार्य वादिराजसूरि, ग्यारहवीं शती)
6. पार्श्वनाथस्तोत्र (कविवर दानतराय, अठारहवीं शती)
7. महावीराष्टकस्तोत्र (कविवर पं. भागचन्द्र, उन्नीसवीं शती)

इन स्तोत्रों का हजारों जैन साधक, सामान्य जन भी कण्ठस्थ हो जाने से प्रायः प्रतिदिन पाठ करते हैं और इसलिए जैन भक्ति-काव्य-संग्रह की प्रायः प्रत्येक पुस्तक में ये संकलित हैं। इन स्तोत्रों पर संस्कृत हिन्दी आदि भाषाओं में टीकाएँ तो लिखी ही गयी हैं, उनका हिन्दी, मराठी, कन्नड़, गुजराती, अँग्रेजी आदि प्रायः सभी बहु-प्रचलित भाषाओं में गद्यानुवाद और पद्यानुवाद भी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त इनकी मधुर स्वरों में ऑडियो-वीडियो कैसेट्स और सीडीज भी बनी हैं।

इन स्तोत्रों की लोकप्रियता का एक प्रमाण यह है कि सामान्य लोग इनका असली नाम तक नहीं जानते, फिर भी इन्हें अपने ही रखे हुए नाम के द्वारा बहुत अधिक पढ़ते-सुनते हैं। जैसे—'भक्तामर-स्तोत्र' का वास्तविक नाम तो 'ऋषभदेव-स्तोत्र' है, किन्तु उसका प्रथम पद 'भक्तामर' है—'भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणाम्...', अतः उसका नाम जनसाधारण में 'भक्तामर-स्तोत्र' ही प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार देवागम-स्तोत्र, कल्याणमन्दिर स्तोत्र और एकीभाव स्तोत्र का भी मूल नाम तो क्रमशः आप्तमीमांसा, पार्श्वनाथस्तोत्र और चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तोत्र है, किन्तु जनसाधारण में उनके नाम उनके प्राथमिक पदों के आधार पर ही उपर्युक्तानुसार पड़ गये हैं। ऐसी ही स्थिति और भी अनेक स्तोत्रों की है।

उक्त सभी जैन स्तोत्रों का मूलतः अध्ययन करने के लिए विभिन्न स्थानों से

प्रकाशित और स्तोत्र-संग्रह उसके मूल पाठों के अतिरिक्त निम्न जिनवाणी-संग्रहों को भी देखना चाहिए। यथा—

1. जैन स्तोत्र समुच्चय, सम्पादक—मुनि चतुरविजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, वि.सं. 1984
2. जैन स्तोत्र पाठ संग्रह, सम्पादक—ब्र. धर्मचन्द्र जैन, प्रकाशक—भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, गुलाबवाटिका, लोनी रोड, दिल्ली, सन् 2003
3. ज्ञानपीठ पूजांजलि, सम्पादक—डॉ. ए.एन. उपाध्ये एवं पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
4. पूजन-पाठ-प्रदीप, मूल सम्पादक—पं. हीरालाल जैन कौशल, प्रकाशक—शैली, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर, पुरानी सब्जी मण्डी, दिल्ली-7
5. वृहज्जिनवाणी संग्रह, सम्पादक—डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

उक्त स्तोत्रों में भी प्रसिद्धि को दृष्टि से आचार्य मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र' विशेष रूप से विख्यात है; क्योंकि इसे जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों में बड़ी भक्ति के साथ पढ़ा-पढ़ाया जाता है। इसमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार 44 और दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार 48 वसन्ततिलका छन्द हैं, जो भावविभोर करने को अद्भुत क्षमता रखते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द देखिए—

“निर्धूमवर्तिरपवर्जित-तैलपूरः

कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।

गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां

दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः॥६॥”

पद्यानुवाद इस तरह है—

धूमरहित बाती गत नेह, परकाशै त्रिभुवन-घर एह।

वातगम्य नाहीं परचण्ड, अपर दीप तुम बलौं अखण्ड॥

मंगलाचरण, भक्ति और स्तोत्रों के अतिरिक्त जैन भक्तिकाव्य में पूजाओं का भी बड़ा भण्डार है। सभी तीर्थंकरों की तो पृथक्-पृथक् और सामूहिक रूप से अनगिनत पूजाएँ लिखी ही गयी हैं, सिद्ध भगवन्तों, सामान्य केवलियों, विविध तीर्थ-क्षेत्रों, जिनवाणी या सरस्वती, निर्ग्रन्थ मुनिराजों और दशलक्षण, सोलहकारण, रक्षाबन्धन आदि पर्वों तक की सैकड़ों पूजाएँ हैं। देव-शास्त्र-गुरु, पंचपरमेष्ठी आदि नामों से सामूहिक पूजाएँ भी बड़ी संख्या में जैन कवियों ने लिखी हैं। जैन भक्ति काव्य में उपलब्ध प्राकृत, संस्कृत व हिन्दी की सभी जैन पूजाओं की कुल संख्या हजारों में होगी।

प्रत्येक तीर्थंकर पूजा के मुख्यतः 5 भाग होते हैं—स्थापना, अष्टक, पंचकल्याणक,

जयमाला और आशीर्वचन। स्थापना में स्तुत्य या पूज्य का आह्वान करके उसे अपने हृदय में स्थापित किया जाता है। अष्टक में उसी पूज्य को जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल—इन आठ द्रव्यों से पृथक्-पृथक् पूजा करने के बाद इन सबका मिश्रण रूप अर्घ्य चढ़ाकर पूजा की जाती है। 'पंचकल्याणक' वाला भाग केवल 24 तीर्थंकरों की पूजा के लिए ही प्रयोग किया जाता है जिसमें गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक—इन पंचकल्याणकों से युक्त तीर्थंकर के पृथक्-पृथक् पाँच अर्घ्य चढ़ाए जाते हैं। 'जयमाला' पूजा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इसमें पूज्य का गुणानुवाद तो होता ही है, पर अनेक बार उनके जीवनचरित्र आदि का भी सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। कभी-कभी जैनदर्शन के तत्त्वज्ञान का गूढ़ व्याख्यान भी इन जयमालाओं में उपलब्ध होता है यथा—

“सुमति तीन सौ छत्तीसों, सुमति भेद दरशाय।
सुमति देहु विनती करों, सुमति विलम्ब कराय॥
× × ×
पंच परावरतन हरन, पंच सुमति सित दैन।
पंच लब्धि दातार के, गुण गाऊँ दिन रैन॥”

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त दोहों का साहित्यिक सौन्दर्य भी मनोमुग्धकारी है। पूजा के अन्तिम भाग 'आशीर्वचन' में भक्तों एवं जगत् के सभी जीवों के कल्याण की शुभकामना की जाती है। जैन भक्तिकाव्य में पूजाकाव्य का स्थान भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लाखों श्रावक-श्राविकाएँ प्रतिदिन अनिवार्य रूप से जैनमन्दिरों में जाकर शुद्ध वस्त्र पहनकर, अष्ट द्रव्य से थाल सजाकर उत्साहपूर्वक गा-गाकर इन पूजाओं को पढ़ते हैं। डॉ. दयाचन्द जैन साहित्याचार्य की कृति 'जैन पूजा काव्य : एक चिन्तन' आदि ग्रन्थ इस विषय में बड़े सहायक सिद्ध होंगे।

जैन-पूजाकाव्य के अन्तर्गत वृहत्पूजाओं के निर्माण की भी परम्परा प्रचलित रही है, जिसे 'मण्डलविधान' के नाम से जाना जाता है। जैन कवियों ने सैकड़ों मण्डलविधान अलग-अलग तरह के लिखे हैं, इनमें से अनेक विधान तो ऐसे हैं जिनका पाठ एक दिन में पूरा हो ही नहीं सकता, उसके लिए कई दिनों तक कुछ को में आठ-दस दिनों तक पूजा चलनी होती है। कतिपय सुप्रसिद्ध जैन पूजन-मण्डलविधानों के नाम इस प्रकार हैं—

1. सिद्धचक्रमण्डल विधान
2. इन्द्रध्वजमण्डल विधान
3. यागमण्डल विधान
4. चौंसठ ऋद्धिमण्डल विधान

मंगलाचरण, भक्ति, स्तोत्र, पूजा एवं विधान के अतिरिक्त जैनभक्तिकाव्य में 'स्तुति' या 'भजन' के रूप में भी हजारों पद आज उपलब्ध हैं। हिन्दी (ब्रज) भाषा में तो इन पदों का लेखन इतनी विपुल मात्रा में हुआ है कि उसका एक विशाल कोश-ग्रन्थ ही अलग से प्रकाशित किया जा सकता है। भावगाम्भीर्य और पदलालित्य—दोनों ही दृष्टियों से सभी समीक्षकों ने इन पदों की मुक्त-कण्ठ से सराहना की है। उदाहरणार्थ एक पद द्रष्टव्य है—

“निरखत जिनचन्द्र-वदन, स्व-पद-सुरुचि आई॥
 प्रगटी निज आन की, पिछान ज्ञान-भान की,
 कला उद्योत होत काम-यामिनी पलाई॥
 सास्वत आनन्द-स्वाद, पायो विनस्यो विसाद,
 आन में अनिष्ट इष्ट कल्पना नसाई॥
 साधी निज साधकी, समाधि मोहव्याधि की,
 उपाधि को विराधि के आराधना सुहाई॥
 धन दिन छिन आज सुगुन, चिन्ते जिनराज अबै,
 सुधरे सब काज 'दौल' अचल रिद्धि पाई॥”

हिन्दी पदों के रचयिताओं में पं. बनारसीदास, भूधरदास, दयानाराय, भगवतीदास, दौलतराम, भागचन्द आदि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अब यहाँ संक्षेप में जैनधर्म के भक्ति सिद्धान्त को समझने का भी कुछ प्रयत्न किया जाता है :

जैनधर्म के भक्ति सिद्धान्त को समझने के लिए निम्नलिखित चार विषयों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक माना गया है—

1. आराध्य का स्वरूप (स्तुत्य),
2. भक्त का स्वरूप (स्तोता),
3. भक्ति का स्वरूप (स्तुति),
4. भक्ति का फल (स्तुति-फल)।

इन चारों के स्वरूप को संक्षेप में स्पष्ट करने वाला एक सारग्राही श्लोक आचार्य जिनसेन कृत 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' में उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है—

“स्तुतिः पुण्य-गुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
 निष्ठितार्थो भवास्तुत्यः, फलं नैश्रेयसं सुखम्॥”

अर्थ—भगवान के पवित्र गुणों का कीर्तन करना 'स्तुति' है, प्रसन्न बुद्धि वाला भव्य जीव 'स्तोता' है, पूर्णतया कृतकृत्य वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा 'स्तुत्य' हैं और मोक्ष—

भक्तिकाव्य :: 771

सुख की प्राप्ति 'स्तुति-फल' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म के अनुसार स्तुत्य (आराध्य) तो केवल एक वही है जो मुक्त (जन्म-मरण से रहित) एवं पूर्णतया शुद्ध-बुद्ध अर्थात् वीतराग-सर्वज्ञ¹¹ परमात्मा है, क्योंकि स्तुति का प्रयोजन (फल) मोक्ष (स्वयं भी पूर्ण शुद्ध-बुद्ध हो जाना) है।

इस दृष्टि से यद्यपि अर्हन्त-सिद्ध परमात्मा ही वास्तव में स्तुत्य हैं, किन्तु जैन कवियों ने अपने भक्तिकाव्य में इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य को भी प्रयोजनवशात् अपनी स्तुति/भक्ति का विषय बनाया है। जैसे—

1. वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी भी स्तुत्य है, क्योंकि वह भी भक्त को शुद्ध-बुद्ध होने का मार्ग समझाती है। जिनवाणी की पूजा भी प्रकारान्तर से जिन भगवान की ही पूजा है। यथा—

“ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवताः॥”¹²

2. वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा के मार्ग पर तेजी से चलने वाले आचार्य, उपाध्याय साधु भी स्तुत्य हैं, क्योंकि वे उन्हीं के प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं और वे हमें मोक्षमार्ग पर चलने हेतु साक्षात् रूप से प्रेरक सिद्ध होते हैं।
3. जिनचैत्य (प्रतिमा) और जिनचैत्यालय भी स्तुत्य हैं, क्योंकि उनके माध्यम से हम वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा की आराधना सुगमता से कर पाते हैं।
4. तीर्थस्थान भी स्तुत्य हैं, क्योंकि वहाँ पर हमारा उपयोग वीतरागता-सर्वज्ञता की आराधना में विशेष लगता है।

इसी प्रकार कुछ अन्य बिन्दु भी हमारी स्तुति के विषय बने हैं, परन्तु चरम लक्ष्य के रूप में से तो पूर्ण शुद्ध-बुद्ध, जन्म-मरण रहित मुक्त परमात्मा ही जैन स्तुति का मुख्य विषय है।

दरअसल, जैनदर्शन के अनुसार इस लोक में अनन्त आत्माएँ हैं और वे सभी समान एवं स्वतन्त्र हैं। सभी आत्माएँ अनादिकाल से अशुद्ध स्वर्ण-पाषाण के समान मोह-राग-द्वेषादि विकारों से सहित भी हैं।

ऐसी स्थिति में जो आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य अपनाकर अपने मोह-राग-द्वेषादि विकारों को पूर्णतः नष्ट कर देता है और पूर्ण शुद्ध-बुद्ध मुक्त ही जाता है, वही वास्तव में हमारी चरम स्तुति का विषय होता है; क्योंकि उससे हमें स्वयं भी अपने विकारों को नष्ट कर शुद्ध-बुद्ध बनने की प्रेरणा या शिक्षा मिलती है।¹³

यद्यपि वह शुद्ध-बुद्ध परमात्मा पूर्णतः वीतराग होने से भक्त को शुद्ध-बुद्ध बनने में किसी भी प्रकार की कोई सहायता नहीं करता, किञ्चित् शिक्षा या प्रेरणा भी साक्षात्

रूप से नहीं देता, फिर भी भक्त को सहज ही उनके गुणस्तवन से ऐसी शिक्षा या प्रेरणा मिल जाती है। इसे ही व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि हमें उनसे शिक्षा प्राप्त हुई। यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि चन्द्रमा को शीतलताकारी और सन्तापहारी कहा जाता है। वस्तुतः चन्द्रमा जान-बूझकर किसी को शीतलता देता नहीं, उसका सन्ताप दूर करता नहीं, परन्तु जो व्यक्ति उसके आश्रय में जाते हैं, उन्हें अपने-आप शीतलता प्राप्त हो जाती है और उनका सन्ताप दूर हो जाता है। अतः ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रमा शीतलतादायक और सन्तापहारक है।¹²

जिस प्रकार लोक में जिसे श्रेष्ठ खिलाड़ी बनना हो, उसे सर्वोत्कृष्ट खिलाड़ी के प्रति बहुमान आता है, श्रेष्ठ वक्ता बनना हो तो श्रेष्ठ वक्ता के प्रति बहुमान आता है, श्रेष्ठ लेखक बनना हो तो श्रेष्ठ लेखक के प्रति बहुमान आता है, बड़ा व्यापारी बनना हो तो बड़े व्यापारी के प्रति बहुमान आता है; उसी प्रकार जिसे पूर्ण शुद्ध-बुद्ध मुक्त परमात्मा बनना हो, उसे पूर्ण शुद्ध-बुद्ध मुक्त परमात्मा के प्रति सहज ही बहुमान आता है। यही भक्ति है।

उक्त लौकिक उदाहरणों में तो कोई किसी रूप में हमारी सहायता कर भी सकता हो, किन्तु स्वयं के शुद्ध-बुद्ध परमात्मा बनने में परमात्मा हमारी किसी प्रकार से कोई सहायता नहीं करते हैं, कोई प्रेरणा भी नहीं देते हैं। हम तो स्वयं ही उनके उत्तम गुणों की स्मृति से अपने चित्त को पवित्र करते हैं। इस विषय में आचार्य समन्तभद्र का एक श्लोक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, जो इस प्रकार है—

“न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥”¹⁴

अर्थ—हे जिनेन्द्र! तुम वीतराग हो, अतः पूजा से तुम्हें कुछ नहीं होता, तुम वीतद्वेष भी हो, अतः निन्दा से भी तुम्हें कुछ नहीं होता। तथापि तुम्हारे पवित्र गुणों की स्मृति हमारे चित्त को पापरूपी कालिमा से मुक्त कर पवित्र बना देती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैनधर्म के अनुसार भगवान् पूर्णतः राग-द्वेष रहित (वीतराग) होते हैं। वे जगत् के कर्ता-धर्ता-हर्ता तो होते ही नहीं, प्रशंसा-निन्दा सुनकर किञ्चित् राग-द्वेष भी नहीं करते हैं। अतः उन्हें भक्तों का अनुग्रह और दुष्टों का निग्रह करने वाला कहना परमार्थतः सत्य नहीं है।

जैन भक्ति-सिद्धान्त की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह किसी व्यक्ति-विशेष को अपना स्तुत्य नहीं मानती, अपितु वीतरागतादि गुणों को ही वास्तव में अपना स्तुत्य मानती है। सभी जैन भक्त कवियों ने इस प्रकार का भाव बारम्बार प्रकट किया है—प्राकृत-संस्कृत भाषाओं में भी और हिन्दी में भी। यथा—

1. “भवबीजाङ्कुरजननाः रागाद्याः क्षयमपुगताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥”¹⁵
2. जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध-वीर-जिन-हरि-हर-ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥¹⁶

जैनधर्म में भक्ति की परिभाषा ही गुणानुराग है—

“अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः॥”¹⁷

जिन, जिनेन्द्र, अर्हत्, अरिहंत आदि भी कोई व्यक्ति-विशेष या उसके नाम विशेष नहीं है, अपितु जिस भी जीव ने अपने मोह-राग-द्वेषादि विकारों को या इन्द्रियासक्ति को जीत लिया है और जिन्होंने वीतरागतादि गुणों को प्राप्त कर लेने के कारण पूज्यता को प्राप्त कर लिया है, उसे ही जिन, जिनेन्द्र, अर्हत्, या अर्हन्त आदि कहा गया है।

‘भक्ति’ की परिभाषा में आगत ‘गुणानुराग’ पद का अर्थ भी वास्तव में उनके गुणों को जानना, पहचानना और उन्हें प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना ही समझना चाहिए, क्योंकि जैनधर्म में अन्धभक्ति या कोरी भावुकतापूर्ण भक्ति नहीं होती, अपितु उसमें पूर्ण जागृत विवेक भी होता है और वह किसी-न-किसी रूप में हमारे मोह-राग-द्वेष को क्षय करने में उपयोगी अवश्य बनती है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भी यही कहा है—

“जो जाणदि अरिहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥”¹⁸

अर्थ—जो अर्हन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व के द्वारा जानता है, वह अपने आत्मा को जान लेता है और उसका मोह अवश्य नष्ट हो जाता है।

अन्त में, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि—

1. जैन भक्ति सिद्धान्त को समझने के लिए चार विषयों का ज्ञान अनिवार्य है—
स्तुत्य, स्तोता, स्तुति एवं स्तुतिफल।
2. जैनधर्म के अनुसार मात्र वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा ही स्तुत्य (उपास्य) है, अन्य जो मोह-राग-द्वेष-अज्ञान आदि विकारों से सहित हैं, स्तुत्य नहीं हो सकता।
हाँ, वीतराग-सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव की वाणी, उनकी प्रतिमा, आचार्य-उपाध्याय-साधु परमेष्ठी और तीर्थस्थानादि वीतरागता-सर्वज्ञता के साधक निमित्त भी स्तुत्य माने गए हैं।

3. जैन-भक्ति व्यक्तिविशेष या नामविशेष को महत्त्व नहीं देती, अपितु वीतरागतादि गुणों को विशेष महत्त्व देती है। गुणानुराग का ही नाम भक्ति है।
4. स्तुत्य स्वरूप परमात्मा पूर्णतः राग-द्वेष-रहित होने के कारण पूजक-निन्दक का कुछ भी भला-बुरा नहीं करते। पूजक-निन्दक अपने भावों के कारण स्वयमेव वैसा फल प्राप्त करते हैं।
5. परमात्मा के गुणस्तवन रूप भक्ति से भक्त को सहज ही वीतरागतादि उत्तम गुणों की प्राप्ति होती है। यद्यपि वीतरागतादि गुणों की प्राप्ति में भी परमात्मा भक्त की कोई साक्षात् सहायता नहीं करते हैं, उसे किसी प्रकार की कोई प्रेरणा भी नहीं देते, परन्तु भक्त उनके गुणों के स्मरण-चिन्तन से महान् प्रेरणा प्राप्त करता है और फिर पूर्ण वीतरागतादि गुणों की प्राप्ति में भी सफल हो जाता है।
6. जैनधर्म के अनुसार भक्ति का प्रयोजन किसी भी प्रकार का कोई भय या आशा नहीं है, अपितु वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्त के हृदय में सहज ही उत्पन्न हुआ ऐसा आदर-बहुमान का भाव है, जो उसे आत्मस्वरूप की पहचान कराकर उसके मोह-राग-द्वेष-अज्ञानादि विकारों के क्षय का हेतु बनता है।
7. जैनधर्म में भक्ति की अधिकता (अन्धभक्ति) का नहीं, अपितु उसकी समीचीनता का महत्त्व है (सम्यक् प्रणम्य)। समीचीन भक्ति ही श्रेष्ठ/सार्थक भक्ति कही गयी है, तथा समीचीन भक्ति के लिए सर्वप्रथम परमात्मा को स्वरूपतः भली-भाँति जानना आवश्यक कहा है।
8. जैनधर्म के अनुसार परमात्मा की भक्ति-स्तुति का अन्तिम फल स्वयं भी शुद्ध-बुद्ध परमात्मा बन जाना है। अनन्त काल तक भगवान का दास ही बने रहने की कामना जैन-भक्ति में नहीं की जाती है—“तौलौं सेऊँ चरण जिनके, मोक्ष जौलौं न पाऊँ।”¹⁹ अर्थात्—हे जिनेन्द्र! मैं तब तक आपके चरणों की सेवा करूँ, जब तक कि मोक्ष प्राप्त न कर लूँ।
9. जैनधर्म के अनुसार परमात्मा की भक्ति-स्तुति के अनेक रूप हो सकते हैं—दर्शन, पूजन, नति, विनति, प्रणति, पूजन, जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय²⁰, इत्यादि। कोई भी भक्त अपने हिसाब से किसी भी रूप के द्वारा परमात्मा के गुणों को पहचानकर उनके प्रति अपने हृदय में आदर-बहुमान का भाव उत्पन्न कर स्वयं भी वीतराग-सर्वज्ञ बनने का पुरुषार्थ कर सकता है।

सन्दर्भ

1. आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि, षट्खण्डागम, गाथा 1
2. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, मंगलाचरण
3. देखो—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 197

4. देखो—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 197
5. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत-काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृष्ठ 71 एवं 499
6. डॉ. प्रेमसागर जैन, जैन शोध और समीक्षा, पृष्ठ 40
7. कवि वृन्दावनदास कृत सुमतिनाथ तीर्थकर पूजा, जयमाता, छन्द 1 व 3
8. प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सन् 2003
9. दौलत विलास, पद 28, भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली
10. जिनसहस्रनाम स्तोत्र, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 408
11. शुद्ध अर्थात् वीतराग। बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ।
12. पं. आशाधर, सागर धर्माभूत, 2/44
13. "शशि शान्तिकरण तपहरन हेत। स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।"—कविवर दौलतराम, देवस्तुति (दौलतविलास, पृष्ठ)
14. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू स्तोत्र, वासुपूज्य स्तवन, छन्द 2
15. आचार्य हेमचन्द्रसूरि, स्याद्वादमंजरी, प्रस्तावना, पृष्ठ 7
16. कविवर जुगलकिशोर मुखार, मेरी भावना, छन्द 1
17. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा 46
18. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 80
19. शान्तिपाठ भाषा, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 161
20. धवला, पुस्तक 9, खण्ड 4, भाग 1, सूत्र 55, पृष्ठ 293 में द्वादशांग के स्वाध्याय को भी स्तुति कहा है। यथा—"बारसंग...। तम्हि जो ठवओगो वायण-पुच्छण-परियट्टणाणुवेक्खणसरूवो सो वि थओवयारेण।" अर्थात् द्वादशांग रूप जिनवाणी में बाँचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा रूप उपयोग लगाना भी उपचार से स्तव (स्तुति) है।

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य-परम्परा

प्रो. राजाराम जैन

देश-विदेश के प्राच्यविद्याविदों के अनुसार भारतीय वाङ्मय का उषःकाल वैदिक-काल में उन साधक तपस्वियों की वाणी से प्रारम्भ होता है, जिन्होंने उषासुन्दरी के लावण्य को परखा और सराहा था। प्रकृति की कोमल और रौद्र-शक्तियों ने कौतूहल और आश्चर्य से जन-मन को भर दिया था। अतः उन्होंने आशा-निराशा, हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख सम्बन्धी उद्गारों को अलंकृत-वाणी में सँजोकर प्रकट किया और इसके समकालीन ग्रन्थ ऋग्वेद में प्राच्य भारतीय भाषा और साहित्य की प्रथम-रेखा अंकित हुई।

ऋग्वेद की भाषा छान्दस् थी। अथर्ववेद की भी भाषा छान्दस् थी; किन्तु इन दोनों (ऋग्वेद और अथर्ववेद) की छान्दस्-भाषा में पर्याप्त अन्तर है। कुछ भाषा-शास्त्रियों का अभिमत है कि ऋग्वेद की भाषा ब्राह्मण-साहित्य की संस्कृत में ढली हुई एक सुनिश्चित परम्परा-सम्मत है, जब कि अथर्ववेद की भाषा समकालीन जन-भाषा मिश्रित है और इसके साहित्य में पर्याप्त लोक-तत्त्व भी पाये जाते हैं। इस कारण गवेषकों के अनुसार आर्य-भाषा और आर्य-साहित्य पर द्रविड़ एवं मुण्डा-वर्ग की भाषा तथा साहित्य का प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है और अथर्ववेद इसी प्रभाव को अभिव्यक्त कर रहा है।

आर्यों के सामाजिक विकास के साथ-साथ बोलचाल की भाषा भी परिवर्तित होती रही। इस कारण ध्वन्यात्मक एवं पद-रचनात्मक दृष्टि से उसमें पर्याप्त विकास होता रहा। ब्राह्मण एवं उपनिषद्-काल में वैभाषिक प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। वैदिक-काल पर प्राच्य जन-भाषा का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि जिससे ब्राह्मण-ग्रन्थों ने असंस्कृत तथा अशुद्ध प्राच्य-प्रभाव से अपने को सुरक्षित रखने की घोषणा की। कौषीतकी-ब्राह्मण में उदीच्य लोगों के उच्चारण की प्रशंसा की गयी है और उन्हें भाषा की शिक्षा में गुरु भी माना गया है।

छान्दस्-युगीन देश्य-भाषा ही प्राकृत थी

महर्षि पाणिनि (ईसा-पूर्व छठी सदी के आसपास) ने जिस संस्कृत-भाषा का

शब्दानुशासन लिखा है, वह उदीच्या-भाषा ही है। प्राच्या-भाषा, उदीच्या की दृष्टि से असंस्कृत एवं अशुद्ध थी, क्योंकि उस पर मुण्डा और द्रविड़-जैसी लोक-भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव था। ब्राह्मणों की निन्दा जहाँ उनके यज्ञ-यागादि में आस्था न रहने के कारण की गयी थी, वहीं उनकी देश्यभाषा भी एक कारण था। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि छान्दस्-युग में देश्य-भाषा की एक क्षीण-धारा प्रवाहित हो रही थी, जो आगे चलकर प्राकृत के नाम से विख्यात हुई।

कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि छान्दस् के समानान्तर कोई जन-भाषा अवश्य थी और यही जन-भाषा परिनिष्ठित साहित्य के रूप में वेदों में प्रयुक्त हुई। महर्षि पाणिनि ने व्याकरण के नियमों द्वारा संस्कृत को अनुशासित कर लौकिक संस्कृत-भाषा का रूप उपस्थित किया। पाणिनि के व्याकरण से यह भी स्पष्ट है कि छान्दस् की प्रवृत्तियाँ वैकल्पिक थी। अतः उन्होंने इन विकल्पों का परिहार कर एक सार्वजनीन मान्य-रूप उपस्थित किया। वेद की वैकल्पिक विधियाँ अपने मूलरूप में बराबर चलती रहीं। जिनके ऊपर पाणिनीय-तन्त्र का अंकुश नहीं रहा और वे विकसित प्रवृत्तियाँ प्राकृत के नाम से पुकारी जाने लगीं।

प्राच्या : देश्य अथवा प्राकृत की मूल-स्रोत

प्राच्या, जो कि 'देश्य' या 'प्राकृत' की मूल है, उसका वास्तविक रूप क्या था, इसकी जानकारी नहीं मिलती। वर्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा-प्राकृत भी आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं। उसका जो रूप आज निश्चित रूप से उपलब्ध है, वह है प्रियदर्शी सम्राट अशोक के शिलालेखों की भाषा। इन शिलालेखों की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। उनमें विभिन्न वैभाषिक प्रवृत्तियाँ सन्निहित हैं।

प्राकृत के विविध रूप एवं उनका साहित्य

उक्त शिलालेखों का प्रथम-रूप पूर्व की स्थानीय बोली है, जो कि अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र में व्यवहार में लाई जाती थी और जिसे उसके साम्राज्य की 'अन्तःप्रान्तीय-भाषा' कहा जा सकता है। दूसरा रूप उत्तर-पश्चिम की स्थानीय बोली है, जिसका अत्यन्त प्राचीन स्वरूप उक्त शिलालेखों में सुरक्षित है। एक प्रकार से इसी भाषा को साहित्यिक प्राकृत का मूलरूप कहा जा सकता है। तीसरा रूप पश्चिम की स्थानीय बोली है, जिसका रूप हिन्दुकुश-पर्वत (वर्तमान पाकिस्तान) के आसपास से एवं विन्ध्याचल के समीपवर्ती प्रदेशों में माना गया है। भाषा-शास्त्रियों का ऐसा अनुमान है, कि यह पैशाची-भाषा (प्राकृत) रही होगी अथवा इसी से पैशाची-भाषा का विकास हुआ होगा।

प्रियदर्शी अशोक के शिलालेखों के उक्त भाषा-भेदों में से पूर्वीय-भाषा का सम्बन्ध मागधी एवं अर्धमागधी के साथ है। मागधी प्राकृत का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। तीर्थंकर महावीर के प्रवचनों का संकलन द्वादशांग-वाणी के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी भाषा अर्धमागधी थी, किन्तु उपलब्ध अर्धमागधी आगम-साहित्य की भाषा में भी प्राच्यकालीन अनेक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं।

उत्तर-पश्चिम की बोली का सम्बन्ध शौरसेनी के साथ है, जिसका विकसित रूप दि. जैनागमों एवं सम्राट खारवेल के हाथीगुम्फा-शिलालेख तथा संस्कृत-नाटकों में उपलब्ध है। पश्चिमी बोली का सम्बन्ध पैशाची के साथ है, जिसका रूप महाकवि गुणादय कृत 'वड्डकहा' में सुरक्षित था, जो दुर्भाग्य से वर्तमान में अनुपलब्ध है, परन्तु प्रकारान्तर से वह अवश्य ही संस्कृत-नाटकों में प्रकीर्णक रूप में उपलब्ध है।

प्रथम प्राकृत के 'आर्ष' एवं 'शिलालेखीय'—ये दो भेद किए गये हैं। आर्ष-प्राकृत जैनागमों एवं बौद्धागमों की भाषा मानी गयी है, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। शिलालेखीय प्राकृत के नमूने के रूप में ब्राह्मी एवं खरोष्ठी-लिपियों में उपलब्ध शिलालेख हैं।

द्वितीय-प्राकृत में वैयाकरणों द्वारा विवेचित महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची-भाषाओं का साहित्य प्रस्तुत होता है।

उक्त महाराष्ट्री प्राकृत को द्वितीय-प्राकृत की साहित्यिक परिनिष्ठित भाषा माना गया है। महाकवि दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत की पर्याप्त प्रशंसा की है। वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' से ही इस तथ्य का समर्थन होता है कि महाराष्ट्रीय प्राकृत पर्याप्त समृद्ध रूप में वर्तमान थी। यह भाषा-शैली उस समय आविर्भूत-हिमालय रूप भारत की राष्ट्रभाषा मानी जा सकती है। यद्यपि सुप्रसिद्ध प्राच्यभाषाविद् डॉ. मनोमोहन घोष महाराष्ट्री और शौरसेनी को दो पृथक्-पृथक् भाषाएँ नहीं मानते, बल्कि एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं। उनका कथन है कि "गद्य-शैली का नाम शौरसेनी और पद्य-शैली का नाम महाराष्ट्री है।" मूलतः तो यह सामान्य प्राकृत ही है और शैली-भेद से ही उसके दो भेद किये जा सकते हैं, किन्तु डॉ. घोष को यह मान्यता सर्वसम्मत नहीं है।

भाषा-शास्त्रियों के अनुसार मध्यकाल में जब संस्कृत धर्म और काव्य की भाषा बन गयी और बोलचाल की भाषा से बहुत दूर हट गयी, तब लोकपरक सुधारवादी क्रान्ति ने उक्त प्राकृत-भाषा को अपने प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया। यह सत्य है कि प्रारम्भ में प्राकृत-साहित्य धार्मिक क्रान्ति से प्रादुर्भूत हुआ, तदनन्तर सौन्दर्य और अन्तस्-भावनाओं की अभिव्यञ्जना भी इस भाषा में की जाने लगी। अतएव रसमय साहित्य की रचनाएँ भी प्राकृत में की जाने लगीं। फलतः काव्य, नाटक एवं अन्य

साहित्यिक विधाओं के प्रणयन का माध्यम भी प्राकृत बनी। 'सेतुबन्ध', 'गडडवहो'—जैसे शास्त्रीय महाकाव्यों के अतिरिक्त 'गाथासप्तशती'—जैसी जन-जीवन से सम्बन्धित मर्मस्पर्शी रचनाएँ और अन्य शाश्वत-कोटि की दर्जनों रचनाएँ भी प्राकृत में लिखी गयीं।

प्राकृतों के विकास में जैनाचार्यों का योगदान

जैनाचार्य-लेखकों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने लोकनायक वर्धमान-महावीर के समान ही परवर्ती कालों में लोकभाषा प्राकृत को सम्मान दिया। यही कारण है ईस्वी सन् के प्रारम्भ से ही शाश्वत-कोटि के विविध विषयक शताधिक प्राकृत-ग्रन्थ लिखे गये। उनके प्राकृत-कथा साहित्य की प्रशंसा तो प्राच्य एवं पाश्चात्य प्राच्यविद्वांसों ने मुक्त-कण्ठ से की है। गुण एवं परिमाण दोनों ही दृष्टियों से वह विशाल है। सुप्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् डॉ. मोरिस विंटरनिट्ज ने कहा है कि "श्रमण-साहित्य की कथाएँ केवल निजन्धरी कथाओं से ही नहीं ली गयीं, अपितु लोक-कथाओं, परो-कथाओं और दृष्टान्त-कथाओं से भी गृहीत हैं।....जैन साहित्य की टीकाओं एवं विपुल जैन कथा-साहित्य के माध्यम से प्राचीन भारतीय कथा-रूपी अमूल्य उज्ज्वल मणियाँ हमारे सम्मुख निरन्तर प्रसूत होती रहीं। यदि जैन-लेखक इन भारतीय कथाओं को प्रश्रय न देते, तो आज उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। जैन-लेखकों ने निस्सन्देह विविध कथानकों एवं आख्यानों के उन विविध रोचक रूपों की भी सुरक्षा की है, जिनकी सूचना अन्य स्रोतों से भी उपलब्ध है।"

शोधार्थियों की दृष्टि से उक्त कथा-साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

- (1) उपदेशों की पुष्टि एवं स्पष्टीकरण के निमित्त नीति, आचार एवं धर्म-सम्बन्धी सूक्तियों को लेकर लिखी गयी लौकिक एवं दृष्टान्त कथाएँ।
- (2) घटना प्रधान प्रवाहात्मक आख्यान, जिनके अन्त में कोई शिक्षा अथवा चारित्रिक निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है।
- (3) बृहत्कथा—इस कोटि की कथाएँ, जो आधुनिक उपन्यास के समान विस्तृत धरातल पर निर्मित हैं। तथा,
- (4) पुराण एवं चरित-साहित्य।

जैनाचार्यों ने विविध पक्षीय प्राकृत जैन-साहित्य का वर्गीकरण द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं प्रथमानुयोग रूप चतुर्विध-अनुयोगों में करते हुए कथा-साहित्य को प्रथमानुयोग-साहित्य की संज्ञा प्रदान की है। इन अनुयोग-विधा के रूप में शाश्वत-कोटि के शताधिक ग्रन्थों की रचनाएँ हुई।

संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत-सन्दर्भों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से प्राकृत-भाषा में नाटक भी लिखे गये। रूपक-तत्त्व की दृष्टि से इन नाटकों को 'सट्टक' की संज्ञा

प्रदान की गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत-नाटिका का परिवर्तित रूप ही प्राकृत-सट्टक है। नाट्य-शास्त्र में वर्णित नाटिका के प्रायः समस्त लक्षण सट्टक-ग्रन्थों में सन्निहित हैं।

इन सट्टकों का नायक स्त्रैण एवं विलासी प्रकृति का राजा होता है, जो राज्य का भार अपने मन्त्री को सौंपकर अन्तःपुर में विलास-क्रीडाएँ करता रहता है।

सट्टक में नाटिका के समान अंक, प्रवेशक एवं विष्कम्भक नहीं होते। अंक को 'जवनिका' कहा जाता है। समस्त सट्टक चार जवनिकान्तरों में विभक्त होते हैं। मे शृंगार-रस प्रधान होते हैं और इनमें रौद्र-रस का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त अन्य रस गौण रहते हैं। वीर, भयानक एवं वीभत्स रसों का प्रयोग कमतर रहता है। अद्भुत-रस अनिवार्यतः होता है। सट्टक का नाम नायिका के नाम पर रखा जाता है।

ईसा पूर्व 200 वर्ष के आसपास उत्कीर्णित भरहुत के एक शिलालेख में 'साडिक' शब्द का उल्लेख मिलता है। जो नृत्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नाट्य-शास्त्रियों के अनुसार सट्टक शब्द उसी का परवर्ती रूप है। महाकवि शारदातनय ने भी सट्टक को नृत्य-भेदात्मक कहा है। कुल मिलाकर 'सट्टक' शब्द का क्रमिक-विकास 'कर्पूरमंजरी' (राजशेखर, 10वीं सदी) एवं अन्य सट्टकों में मिलता है।

जैन स्तोत्र-साहित्य

अन्य विधाओं में प्राकृत-भाषात्मक जैन स्तोत्र-साहित्य भी विशाल, सरस एवं हृदयस्पर्शी है। इसमें आत्मविश्वास और आत्मविस्मृति गहरे रूप में अंकित हैं। उनमें भावुकता एवं हृदय की तरलता इतनी सघन है कि उन्हें प्राकृत काव्य-श्रेणी में परिगणित किये बिना नहीं रहा जा सकता।

अपभ्रंश : लक्षण-शास्त्रियों की दृष्टि में

भाषा-शास्त्रियों ने तीसरी कोटि की प्राकृत को अपभ्रंश कहा है। कुछ लक्षण-शास्त्रियों के अनुसार अपभ्रंश एक भ्रष्ट भाषा है, किन्तु अपभ्रंश-भाषा-विशेषज्ञ इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह (अपभ्रंश) वह भाषा है, जिसकी शब्दावली एवं वाक्य-विन्यास संस्कृत-शब्दानुशासन के नियमों और उपनियमों से अनुशासित नहीं और जो शब्दावली देशी-भाषाओं में प्रचलित है तथा संस्कृत के शब्दों के यथार्थ उच्चरित न होने के कारण कुछ विकृत रूप में उच्चरित है, वही शब्दावली अपभ्रंश-भाषा के अन्तर्गत आती है। अतः अपभ्रंश वह भाषा है, जिसमें प्राकृत की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक देशी शब्द उपलब्ध हैं तथा वाक्य-रचना एवं अन्य कई दृष्टियों से सरलीकरण तथा देशीकरण की प्रवृत्ति अधिकतर प्राप्त होती है और जिसकी शब्द-राशि महर्षि

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य-परम्परा :: 781

पाणिनि के व्याकरण से सिद्ध नहीं है।

उकार-बहुला-भाषा—सुप्रसिद्ध लक्षणशास्त्री भरतमुनि (दूसरी सदी ईस्वी) ने यद्यपि अपभ्रंश का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर-भी उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत के साथ-साथ देश्य भाषा का भी उल्लेख किया है और इसी भाषा में शबर, आभीर, चाण्डाल, द्रविड, ओड्र तथा अन्य वनेचरों की विभाषाओं की भी गिनती की है। अतः भरतमुनि का उक्त उल्लेख अपभ्रंश के अस्तित्व की सूचना देता है, क्योंकि आगे चलकर विविध देशों में विविध प्रकार की भाषाओं के प्रयोग किये जाने का उन्होंने उल्लेख किया है। उनके अनुसार हिमालय के पार्श्ववर्ती देशों तथा सिन्धु-सौवीर देशवासियों के लिए उकार-बहुला-भाषा का प्रयोग होना चाहिए।

उकार-बहुल शब्द वस्तुतः अपभ्रंश की ही सर्वविदित प्रवृत्ति है। इससे अपभ्रंश तथा उसका प्रयोग करने वाले स्थलों की सूचना मिल जाती है।

यह नियम तो सर्वविदित ही है कि जब कोई भी बोली व्याकरण एवं साहित्य के नियमों में आवद्ध हो जाती है, तब वह काव्य-भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। उसका यही रूप परिनिष्ठित कहलाता है और वह काव्य के रम्य कलेवर में सुशोभित होने लगता है। प्रस्तुत अपभ्रंश-भाषा की भी यही स्थिति है।

अपभ्रंश काव्य-रचना में निपुण राजा गुहसेन

बलभी (गुजरात) के राजा धरसेन द्वितीय (678 ई. के लगभग) के एक दान-पत्र से यह स्पष्ट ही जाता है कि उसके समय में संस्कृत एवं प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश में भी काव्य-रचना करना एक विशिष्ट प्रतिभा का द्योतक प्रशंसनीय चिह्न माना जाने लगा था। उक्त दान-पत्र में राजा धरसेन ने अपने पिता गुहसेन (559-569 ई.) को संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य-रचना में अत्यन्त निपुण कहा है। इस तथ्य से भी विदित होता है कि अपभ्रंश-भाषा ईस्वी की छठी सदी तक व्याकरण एवं साहित्य के नियमों से परिनिष्ठित हो चुकी थी और वह काव्य-रचना का माध्यम बन चुकी थी।

आचार्य भामह (छठी सदी का अन्तिम चरण) ने अपभ्रंश को काव्य-रचना के लिए अत्यन्त उपयोगी मानते हुए उसे संस्कृत एवं प्राकृत के बाद तृतीय स्थान दिया है। यद्यपि भामह ने यह सूचना नहीं दी कि अपभ्रंश किसकी बोली थी या किसे इसका प्रयोग करना चाहिए; फिर भी यह तो स्पष्ट है कि अपभ्रंश का अस्तित्व भामह के समय में आ चुका था अथवा अपभ्रंश ने काव्य का परिधान स्वीकार कर लिया था।

महाकवि दण्डी ने अपभ्रंश काव्यों में प्रयुक्त होने वाले ओसरादि छन्दों का निर्देश करके अपभ्रंश-साहित्य के समृद्ध हो चुकने की सूचना भी दी है। इस प्रसंग में यहाँ

यह ध्यातव्य है कि दण्डी ने प्रचलित साहित्य को चार भेदों—(संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं मिश्र) में विभक्त किया है। भाषा-भेद का उसका दृष्टिकोण नहीं है।

कुछ लोग अपभ्रंश को भ्रमवश प्राकृत से भिन्न मानने लगते हैं, किन्तु दण्डी ने ऐसा कभी भी नहीं किया और कहीं भी नहीं कहा। जिस प्रकार पालि प्राकृत का एक प्राचीनतम रूप है, उसी प्रकार अपभ्रंश भी प्राकृत का एक नवीनतम रूप है।

चम्पू-काव्यकार उद्योतन सूरि के विचार

क्रमशः विकसित होते-होते अपभ्रंश-भाषा ने आठवीं सदी तक एक ऐसा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था कि जैन महाकवि उद्योतन सूरि (वि. सं. 835) को अपनी 'कुवलयमालाकहा' में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की तुलना करते हुए लिखना पड़ा—

“अनेक पद-समास, निपात, उपसर्ग, विभक्ति एवं लिंग इनकी दुरूहता के कारण संस्कृत दुर्जनों के समान विषम है। समस्त कला-कलापों की माला-रूपी जल-कल्लोलों से व्याप्त, लोकवृत्तान्त रूपी महासागर से महापुरुषों द्वारा निष्कासित, अमृत-बिन्दुओं से युक्त तथा यथाक्रमानुसार वर्णों एवं पदों से संचित विविध रचनाओं के योग्य और सज्जनों की मधुर-वाणी के समान ही सुख देने वाली प्राकृत-भाषा होती है। संस्कृत एवं प्राकृत से मिश्रित शुद्ध-अशुद्ध पदों से युक्त सम एवं विषम तरंग-लीलाओं से युक्त, वर्षा-काल के नवीन मेघ-समूहों के द्वारा प्रवाहित जलपूरों से युक्त, पर्वतीय नदी के समान तथा प्रणयकुपित प्रणयिनी के समुल्लापों के समान ही अपभ्रंश रस-मधुर होती है।”

रुद्रट (नौवीं सदी) ने अपने काव्यालंकार में अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान करते हुए उसे देश-भेद से विविध प्रकार का बतलाया है।

महाकवि राजशेखर (दसवीं सदी) कृत 'काव्यमीमांसा' में काव्यरूपी पुरुष के शरीर-गठन की चर्चा करते हुए अपभ्रंश को उसकी जंघा माना गया है तथा उसके प्रचार क्षेत्र मरुभूमि, टक्क एवं भादानक बताए गये हैं। एक अन्य स्थान पर उसमें सुराष्ट्र, त्रवण तथा अन्यान्य समीपवर्ती प्रान्तों के निवासियों के विषय में कहा गया है कि वे संस्कृत का प्रयोग तो बड़ा अच्छा करते हैं, किन्तु उनकी संस्कृत अपभ्रंश से मिलती हुई रहती है। आगे चलकर पुनः बतलाया गया है कि सम्राट के सभी कर्मचारियों, सेविकाओं तथा घनिष्ठ मित्रों को अपभ्रंश का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। पुनः यह भी कहा गया है कि राज-दरबार में चित्रकार, माणिक्य-बन्धक, वैकटिक, स्वर्णकार, वर्द्धकि, लौहकार आदि के पूर्व अपभ्रंश-कवियों को बैठाया जाना चाहिए।

आचार्य नमि साधु (सन् 1069 ई. के लगभग) ने अपभ्रंश के उपनागर, आभीर एवं ग्राम्या—ये तीन प्रमुख भेद करते हुए उसे अनेकभेदा स्वीकार किया है तथा लोक

को ही उसका स्रोत माना है। नमि साधु ने मगध में भी अपभ्रंश के प्रचार का उल्लेख किया है। इस कथन से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश, लोकभाषा का रूप ग्रहण कर रही थी और देश-विशेष के कारण उसमें अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ उत्पन्न हो रही थीं।

उपर्युक्त तथ्यों का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि ई. पू. दूसरी सदी से जहाँ अपभ्रंश का नामोल्लेख मात्र मिलता था और अपाणिनीय शब्दों के अतिरिक्त वाले शब्दों को अपभ्रष्ट, विकृत या अशुद्ध शब्द अपभ्रंश की संज्ञा प्राप्त करते थे, वहीं ईस्वी सन् की 6ठी-7वीं सदी तक वह एक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित हो गयी और 10वीं-11वीं सदी तक वह एक सशक्त एवं समृद्ध-भाषा के रूप में विकसित हो गयी। इस कारण इतिहासकारों ने उसे अपभ्रंश-भाषा और उसके साहित्य का स्वर्णकाल माना है। तत्पश्चात् वही आधुनिक देश्यभाषाओं के रूप में विकसित होने लगी, यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य की रचना 15वीं 16वीं सदी तक चलती रही।

अपभ्रंश-साहित्य का प्रारम्भ मुक्तकों से

समीक्षकों के अनुसार अपभ्रंश-साहित्य मुक्तक-काव्य से प्रारम्भ होकर प्रबन्ध-काव्य शैली में पर्यवसान को प्राप्त हुआ। यतः भारतीय साहित्य की परम्परा मुक्तक से प्रारम्भ हुई प्राप्त होती है। प्रारम्भ में जीवन यथार्थतः किन्हीं एक-दो भावनाओं के द्वारा ही अभिव्यंजित किया जाता है, पर जैसे-जैसे ज्ञान और संस्कृति के संसाधनों का विकास होने लगता है, जीवन भी विविधमुखी होकर साहित्य के माध्यम से प्रस्फुटित होता है। यही कारण है कि संस्कृत और प्राकृत में साहित्य की जो विविध प्रवृत्तियाँ अग्रसर हो रही थीं, प्रायः वे ही प्रवृत्तियाँ कुछ रूपान्तरित होकर अपभ्रंश-साहित्य में भी प्रविष्ट हुईं। फलतः दोहा-गान के साथ-साथ प्रबन्धात्मक पद्धति भी अपभ्रंश में समादृत हुई। इस दृष्टि से चउमुह, द्रोण, ईशान, जोइंदु, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, धनपात आदि कवियों की अपभ्रंश रचनाएँ आदर्श उदाहरण हैं।

अपभ्रंश-साहित्य : जैन-साहित्य का पर्यायवाची

यह तथ्य है कि अपभ्रंश-साहित्य के विकास में जैनाचार्यों का अभूतपूर्व योगदान रहा। गुण एवं परिमाण दोनों ही दृष्टियों से तो वह शाश्वत-कोटि का और राजाओं, नगरसेठों तथा भट्टारकों के आश्रयदान के कारण सर्वाधिक विकसित लिखित है ही, बल्कि दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अपभ्रंश-साहित्य अपनी प्रचुरता और विविधता के कारण जैन-साहित्य का ही पर्यायवाची-जैसा हो गया।

अपभ्रंश-साहित्य का वैशिष्ट्य

अपभ्रंश-साहित्य का वैशिष्ट्य कई दृष्टियों से विशेष महत्वपूर्ण इसलिए भी है, क्योंकि चतुर्विध-अनुयोगों की समृद्ध-सम्पदा को समेटे हुए भी उसके प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ के आदि एवं अन्त की प्रशस्तियों में समकालीन गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, तोमरवंशी एवं मुगलवंशी राजाओं, नगरसेठों, अमात्यों, भट्टारकों, पूर्ववर्ती एवं समकालीन ग्रन्थकारों एवं उनके ग्रन्थों के उल्लेखों के अतिरिक्त भी अन्य समकालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा लोक-जीवन सम्बन्धी तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। भले ही इस साहित्य के रचनाकार जैन रहे हों, किन्तु उन्होंने जहाँ समकालीन भारतीय इतिहास के विकास के लिए प्रामाणिक विविध तथ्य प्रस्तुत किये, वहीं आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के लिए बीजारोपण भी किया। उनकी वर्गीकृत विधाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है, जिससे कि उसकी प्रचुरता एवं विविधता की जानकारी मिल सके। वह इस प्रकार है:

1. मुक्तक-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 11 से भी अधिक)
2. कथा-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 9 से भी अधिक)
3. चरित-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 30 से भी अधिक)
4. रूपक-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 8 से भी अधिक)
5. खण्ड-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 25 से भी अधिक)
6. अपभ्रंश-महाकाव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 19 से भी अधिक)
7. रासा-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 24 से भी अधिक)
8. फागु-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 12 से भी अधिक)
9. चर्चरी एवं स्तुति-स्तोत्र-साहित्य-(प्रमुख ग्रन्थ 20 से भी अधिक)
10. सन्धि-काव्य-(प्रमुख ग्रन्थ 23 से भी अधिक)
11. गद्यांश समन्वित काव्य-साहित्य-(प्रमुख ग्रन्थ 10 से भी अधिक)
12. जयमाला काव्य-साहित्य (25 से भी अधिक) एवं
13. कुलक-काव्य-साहित्य (14 से भी अधिक)

अपभ्रंश के उक्त नाम तो प्रकाशित कुछ प्रमुख ग्रन्थों की काव्य-शैलियों के उल्लेख मात्र हैं। अभी ऐसे भी अनेक ग्रन्थ हैं, जो देश-विदेश के प्राच्य-शास्त्र-भण्डारों में अप्रकाशित रूप में ही पड़े हुए अपने सूचीकरण अथवा प्रकाशनों की प्रतीक्षा में व्यग्र हैं।

सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार परवर्ती कालों में अपभ्रंश भी क्रमशः विकसित होती हुई स्थानीय प्रभावों के आधार पर निम्न भेदों में वर्गीकृत की गयी—

- (1) शौरसेनी-अपभ्रंश— जिससे हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, पहाड़ी-

भाषाओं का विकास हुआ। इनमें से गुजराती एवं राजस्थानी शौरसेनी की नागर-अपभ्रंश-श्रेणी की मानी गयीं।

- (2) मागधी एवं अर्धमागधी-अपभ्रंश— जिनसे बिहारी, मैथिली, बांग्ला, असमिया एवं उड़िया का विकास हुआ। इसी प्रकार-
- (3) महाराष्ट्री-अपभ्रंश से मराठी,
- (4) ब्राह्मण-अपभ्रंश से सिन्धी, तथा
- (5) केकय-अपभ्रंश से लहँदा, दरद जैसी आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ।

इस प्रकार अपभ्रंश-भाषा का अपना ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि वह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

निष्कर्ष रूप में कहना चाहें, तो यह कह सकते हैं कि साहित्य के बहु-आयामी निर्माण, विकास एवं सर्वांगीण बनाने के लिए सार्थक प्रयत्न में जैन-कवियों, सन्त-साधकों, साध्वियों, विदुषी महिलाओं, इतिहासकारों, समीक्षकों तथा विविध-पक्षीय, चिन्तक-लेखकों के योगदानों की निरन्तरता ऐतिहासिक रही है। उनका वैशिष्ट्य यह रहा कि उनके लेखन में उत्तेजना के स्थान पर प्रेरणा, अनुशासन, सह-अस्तित्व, सर्वोदय, पंचशील एवं विश्वमैत्री की भावना को जन-जन में जाग्रत करने का मूल उद्देश्य रहा और उसकी इस प्रवृत्ति ने उसे विश्व-साहित्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने के लिए योग्य भूमिका तैयार की है।

संस्कृत साहित्य-परम्परा

डॉ. दामोदर शास्त्री

जैन परम्परा का मूल आगम-साहित्य प्राकृत भाषा में निबद्ध है। प्रारम्भ से ही इस परम्परा में प्राकृत भाषा को सर्वाधिक आदर-सत्कार दिया जाता रहा है, किन्तु कालक्रम से धर्म-प्रचार एवं धर्मप्रभावना के उज्ज्वल भविष्य को दृष्टि में रखकर, जैन आचार्यों ने संस्कृत आदि भाषाओं में भी प्रचुर मात्रा में साहित्य रचा, जो उनके उदार दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। आगमों की व्याख्या में संस्कृत को प्रतिष्ठा मिली, और इसमें क्रमशः संवर्धन के साथ अनेक मौलिक संस्कृत ग्रन्थ रचे गये। इन ग्रन्थों ने साहित्य-सर्जन के विविध आयामों को स्पष्ट किया।

जैन दर्शन व न्याय के क्षेत्र में संस्कृत भाषा में रचे गये प्रौढ़ ग्रन्थों की एक अनवरत उच्चस्तरीय परम्परा रही है, जिसमें अनेकान्तवाद की स्थापना के अलावा, अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन की तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्ति का भी प्रमुख दर्शन होता है। जैन धर्म, जैन आचार, नैतिक उपदेश, अध्यात्मसाधना आदि अनेक क्षेत्रों में संस्कृत ग्रन्थ रचे गये, तो अलंकार, छन्दशास्त्र, व्याकरण, साहित्य आदि विविध विषयों में लाक्षणिक शास्त्रों की भी रचना हुई। संस्कृत कोशग्रन्थ भी प्रकाश में आये। ऐतिहासिक, पौराणिक, चरित-काव्य व मुक्तक-काव्यों की रचना के साथ-साथ कथा व स्तुति जैसे सरस ग्रन्थों तथा कर्म-बन्ध, गणित व ज्योतिष आदि नीरस विषयों पर प्रौढ़ व दुरूह ग्रन्थ भी रचे गये। इस प्रकार, यह परम्परा इतनी समृद्ध है और रचा गया साहित्य इतनी प्रचुर मात्रा में है कि उसे एक प्रकरण या अध्ययन में समेट पाना कठिन है, अतः इसकी एक संक्षिप्त झलक ही प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव है, किन्तु सर्वप्रथम यह बताना आवश्यक है कि प्राकृतानुरागी जैन-परम्परा में संस्कृत साहित्य की परम्परा का सूत्रपात किस तरह एवं किस परिस्थिति में हुआ।

भारतीय संस्कृति में आदरणीय भाषा को 'देवभाषा' नाम से पुकारा गया। वैदिक परम्परा में संस्कृत भाषा को 'देवभाषा' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी, तो जैन परम्परा में 'प्राकृत' को। चूँकि परमाधिदेव तीर्थंकर (भगवान् महावीर) के उपदेश की भाषा प्राकृत है, इसलिए इसे ही 'देवभाषा' (या दिव्यभाषा) के रूप में मान्य किया जाना

संस्कृत साहित्य-परम्परा :: 787

स्वाभाविक था। कुछ समय तक भाषा-विशेष के प्रति अधिक पक्षपात या अनुराग की स्थिति दोनों परम्पराओं में रही; किन्तु क्रमशः उनका दृष्टिकोण उदार होता गया। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से देखें, तो दोनों भाषाओं का अपना-अपना उत्कर्ष-काल भी रहा है। किन्तु अन्त में एक समन्वय-युग भी आता है, जिसमें संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषाएँ समान रूप से आदरणीय हो गयीं और दोनों को ही साहित्यकारों ने उदार दृष्टिकोण से अपनाया। दोनों ही भाषाएँ संकीर्णता व साम्प्रदायिकता के घेरे से निकलकर साहित्य-रचना की माध्यम बनीं। समन्वय-युग को प्रतिबिम्बित करनेवाले कुछ तथ्य इस प्रकार हैं— पाणिनि-शिक्षा (पद्य-3) में संस्कृत व प्राकृत— दोनों को ही भगवान् शंकर-उपदिष्ट कहा गया। भरत के नाट्यशास्त्र (18/28) में प्राकृत व संस्कृत दोनों भाषाओं को चारों वर्णों द्वारा सेवित बताया गया। नाट्य परम्परा में पात्रानुसार दोनों भाषाओं का प्रयोग मान्य किया गया। आचार्य राजशेखर ने काव्यपुरुष के निरूपण में संस्कृत को उसका मुख बताकर प्राकृत को बाहु बताया। महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' महाकाव्य (7/40) में सरस्वती को शिव-पार्वती युगल की संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषाओं में क्रमशः स्तुति करते हुए देखते हैं। 'कामसूत्र' (4/37) में यह परामर्श दिया गया है कि गोष्ठियों में बहुमान पाने में वही सफल हो सकता है, जो संस्कृत व देशभाषा (प्राकृत) दोनों का एकान्तिक प्रयोग नहीं करता, अपितु दोनों को यथोचित रूप से व्यवहार में लाता है।

जैन धार्मिक परम्परा में संस्कृत-प्रवेश की पृष्ठभूमि

उदार दृष्टिकोण की उक्त सार्वभौमिक बयार ने जैन परम्परा को भी प्राकृत की जगह संस्कृत को आदर देने हेतु प्रेरित किया। आचार्य उमास्वामी (या उमास्वति) ने (ई. दूसरी शती में) 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक सर्वप्रथम सूत्र-ग्रन्थ संस्कृत में लिखा। श्वेताम्बर आगमों की अन्तिम वाचना (ई. 5वीं शती लगभग) आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में हुई और उन्हें अन्तिम रूप से व्यवस्थित व लिपिबद्ध किया गया। इन आगमों पर व्याख्या-ग्रन्थ प्रारम्भ में प्राकृत में ही रचे गये, किन्तु कालान्तर में संस्कृत को भी स्थान मिला और स्वतन्त्र व्याख्याएँ भी संस्कृत में लिखी जाने लगीं, जिसका प्रथम सूत्रपात आचार्य हरिभद्र (ई. 8वीं शती) ने किया। प्रारम्भ में रूढ़िवादियों की ओर से संस्कृत का विरोध भी किया गया, किन्तु समन्वय का दृष्टिकोण अन्ततः विजयी हुआ। इस सम्बन्ध में 'प्रभावकचरित' में वर्णित आचार्य सिद्धसेन के योगदान को यहाँ स्मरण करना प्रासंगिक होगा। आचार्य सिद्धसेन (ई. 5वीं) बचपन से ही संस्कृत के अभ्यासी थे। अपने साधु-जीवन में उन्होंने प्राकृत सिद्धान्तों को संस्कृत भाषा में अनूदित करने का विचार संघ के समक्ष प्रकट किया। रूढ़िवादियों की ओर से इतना

विरोध हुआ कि संघ ने आचार्य सिद्धसेन से (पाराज्वित) प्रायश्चित्त-स्वरूप 12 वर्षों तक गच्छ त्याग कर दुष्कर तपस्या करने को कहा गया। इसमें शर्त यह भी थी कि यदि इन साधना-वर्षों में धर्म-प्रभावना का कोई महनीय कार्य हो सके, तो अवधि पूर्ण होने से पहले भी उन्हें संघ में पुनः पदस्थापित किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन को यह प्रायश्चित्त करना पड़ा। इसी अवधि में उनके द्वारा धर्म-प्रभावना का एक कार्य सम्पन्न हुआ, वह यह था कि उन्होंने उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' का पाठकर शिव-लिंग का स्फोटन कर पार्श्वनाथ तीर्थंकर का बिम्ब प्रादुर्भूत कराया। इससे राजा विक्रमादित्य की जिन-शासन के प्रति अनुरक्ति बढ़ी। इस धर्म-प्रभावना के कारण सिद्धसेन को पुनः जैन संघ में समादृत स्थान प्राप्त हो सका। इन्हीं रूढ़िवादियों को लक्ष्य कर आचार्य सिद्धसेन ने (द्वात्रिंशति का-6/2) कहा-“मैं पुरानी रूढ़ि (के विचारों) को ढोने के लिए पैदा नहीं हुआ हूँ, भले हो मेरे दुश्मनों की संख्या बढ़े।” इस घटना से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि दृढ़-निश्चयी उदारमना आचार्य सिद्धसेन ने जो उक्त कदम उठाया, उसका संस्कृत को प्रतिष्ठित होने में काफी योगदान रहा है। जैन संस्कृत साहित्य-परम्परा के विकास की दृष्टि से आचार्य सिद्धसेन का उक्त योगदान अविस्मरणीय रहेगा।

दिगम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार जैन आगमों का सर्वाधिक भाग काल-क्रम से नष्ट हो गया, किन्तु ई. प्रारम्भिक शती में आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने अवशिष्ट आगम को लिपिबद्ध किया। इस पवित्र दिन को श्रुतपंचमी (ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी) के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है। इसी क्रम में आचार्य गुणधर एवं अन्य आचार्यों ने 'कषायप्राभृत' की रचना की। दिगम्बर आगमों की भाषा प्रमुखतः शौरसेनी प्राकृत है। आचार्य पुष्पदन्त व आचार्य भूतबलि द्वारा रचित 'षट्खण्डागम' आगम पर आचार्य वीरसेन ने धवला टीका लिखी, जो संस्कृत-प्राकृत मिश्रित थी। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत को व्याख्या-ग्रन्थों में स्थान देने का यह प्रथम प्रयास था। उधर श्वेताम्बर आगमों पर सर्वप्रथम टीका चूर्णि जो लिखी गयी, वे भी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित थीं। इन चूर्णिकारों में अगस्त्यसिंह स्थविर (वि. तीसरी शती) तथा जिनदास गणी महत्तर (ई. छठी शती) के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रख्यात विद्वान् डॉ. हीरालाल जैन के मत में धवला की रचना के समय तक कर्मसिद्धान्त के व्याख्यान में तो प्राकृत का ही माध्यम स्वीकृत था, किन्तु दर्शन व न्याय विषयक विवेचन में संस्कृत को माध्यम रूप में अपनाया जाने लगा था।

उक्त उदारवादी दृष्टिकोण के द्योतक अनेक वचन प्राचीन जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं। 'अनुयोगद्वार सूत्र' आदि में संस्कृत व प्राकृत दोनों को ऋषिभाषित कहकर समान आदर व्यक्त किया गया, जो तत्कालीन समन्वय-दृष्टि का सूचक है। नौवीं शती

ई. तक जैन परम्परा में प्रौढ़ चिन्तन के लिए संस्कृत की उपादेयता सर्वस्वीकृत हो चुकी थी। सिद्धर्षि (ई. 9-10) ने अपने ग्रन्थ 'उपमितिभवप्रपंच कथा' (1/51-52) में स्पष्ट कहा—“संस्कृत व प्राकृत ये दोनों भाषाएँ साहित्य-रचना की दृष्टि से प्रधान हैं, किन्तु इनमें संस्कृत भाषा प्रौढ़ विद्वानों के हृदय में बैठी हुई है, उनके लिए सरल बालसुबोध्य प्राकृत भाषा उतनी हृदयहारिणी नहीं होती।”

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि जैन परम्परा में संस्कृत के प्रवेश के पीछे क्या-क्या तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं...जैन आचार्यों द्वारा साहित्य की विविध विधाओं में रचित साहित्य की सुदीर्घ व समृद्ध परम्परा का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जैन दर्शन, जैन आचार व जैन साधना

जैन परम्परा में संस्कृत को विद्वज्जनभोग्य मानकर जैन-तत्त्व-ज्ञान, जैन-आचार और जैन अध्यात्म-साधना आदि विषयों पर प्रचुर मात्रा में संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई है। जैन दर्शन व तत्त्वज्ञान का सर्वप्रथम संस्कृत-ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' (मोक्षशास्त्र) उपलब्ध है, जिसके रचयिता आचार्य उमास्वामी या उमास्वाति हैं। इसका रचना काल ई. दूसरी शती (लगभग या कुछ परवर्ती) माना जाता है। यही एक ऐसा मौलिक ग्रन्थ है, जिस पर दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं की श्रद्धा है, यद्यपि दोनों परम्पराओं ने मामूली पाठ-भेदों के साथ इस पर व्याख्या प्रस्तुत की है। सूत्रात्मक यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है और जैन दर्शन के मूलभूत सात तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष) का आगमिक धारा के अनुरूप विधिवत् निरूपण करता है। लोकप्रियता व व्यापक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्त्व है। दिगम्बर परम्परा में इस पर आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी (ई.5) द्वारा कृत 'सर्वार्थसिद्धि', आचार्य अकलंक (ई.8) द्वारा रचित 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' तथा आचार्य विद्यानन्दि (ई.9) द्वारा रचित 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक'— ये टीकाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। श्वेताम्बर परम्परा में 'तत्त्वार्थभाष्य' (स्वोपज्ञ भाष्य) तथा आचार्य सिद्धसेन गणि-रचित टीकाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। परवर्तीकाल में भी अनेक टीकाएँ लिखी जाती रहीं। इस ग्रन्थ से प्रेरित होकर, प्रमुख जैन आचार्य अमृतचन्द्र (ई. 10-11) ने 'तत्त्वार्थसार' नामक स्वतन्त्र संस्कृतपद्यात्मक रचना की है।

परवर्तीकाल में जैन आचार (श्रावक व साधु की चर्चा) पर अनेकानेक संस्कृत कृतियों की रचना की गयी, जिनमें आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' है, जिसमें 150 श्लोकों में सम्यक्त्व व चारित्र के सभी पक्षों, विशेषकर गृहस्थ-चर्या के स्वरूप को सम्यक्तया प्रतिपादित किया गया है। इसका रचना-काल ई. दूसरी शती

माना जाता है, वस्तुतः इस ग्रन्थ ने श्रावकाचार के एक मानक ग्रन्थ—जैसी ख्याति प्राप्त की है। आचार्य अमृतचन्द्र कृत 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थ (अपरनाम—जिनप्रवचनरहस्यकोश) भी इसी क्रम में एक महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ है, जिसमें 226 संस्कृत पद्यों में चारित्र विषयक प्रमुख तत्त्वों के अतिरिक्त हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म स्वरूप का भी विवेचन किया गया है। इसी ग्रन्थ में जैन अनेकान्त-नीति को गोपी की उपमा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। इसका रचना-काल ई. 10-11वीं शती लगभग माना जाता है।

श्रावकाचारप्रधान संस्कृत रचनाओं में आचार्य सोमदेव (ई. 10) द्वारा रचित 'यशस्तिलकचम्पू' है, जिसके 5-8 आशवासों में आचार का विस्तृत निरूपण है। इसी तरह आचार्य अमितगतिकृत 'श्रावकाचार' (ई. 1000 लगभग) तथा पं. आशाधर (ई. 13वीं) द्वारा रचित 'सागारधर्माभूत' ग्रन्थ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी क्रम में गुणभूषण-कृत 'श्रावकाचार' (ई. 14-15) तथा राजमल्ल-रचित 'लाटीसंहिता' (17वीं शती ई.) आदि अनेकानेक कृतियाँ परिगणनीय हैं।

मुनियों के आचार पर भी अनेक संस्कृत कृतियाँ प्रकाश में आयीं, जिनमें श्रीचामुण्डराय-कृत (ई. 11वीं) 'चारित्रसार' (अपरनाम—भावनासारसंग्रह), आचार्य वीरनन्दी (ई. 12वीं) द्वारा रचित 'आचारसार' प्रमुख हैं। पं. आशाधर (ई. 13वीं) द्वारा रचित 'अनगारधर्माभूत' ग्रन्थ भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जो मुनि-चारित्र का सांगोपांग निरूपण करती है। इसी पर ग्रन्थकार द्वारा ही रचित भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक संस्कृत टीका तथा ज्ञानदीपिका नामक पंजिका उपलब्ध है, जो विषयवस्तु को स्पष्ट करने की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

जैन अध्यात्म-साधना जैन-आचार का सारभूत तत्त्व है। अतः इस विषय पर अनेकानेक संस्कृत ग्रन्थ रचे गये, जिनमें कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ प्रस्तुत है। संस्कृत में अध्यात्मपरक ग्रन्थों की रचना का प्रारम्भ आचार्य पूज्यपाद (ई. 5वीं शती) द्वारा किया गया और उनके 'समाधिशतक' (समाधितन्त्र) व 'इष्टोपदेश',—ये दो ग्रन्थ अध्यात्मयोग के प्रमुख सूत्रों को व्याख्यायित करते हैं। समाधिशतक में कुल 105 संस्कृत पद्य हैं और इष्टोपदेश में 51 पद्य। जैन ध्यान-योग द्वारा आत्मा बहिरात्मा से ऊपर उठकर 'अन्तरात्मा' की स्थिति में पहुँचे और फिर परमात्मा की स्थिति प्राप्त करे,—इस साधना-सूत्र को साधक अन्तर्मुख होकर किस प्रकार क्रियान्वित करे,—इसका निर्देश इन ग्रन्थों में है। निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षप्राभूत आदि प्राकृत-ग्रन्थों का प्रभाव भी इनमें परिलक्षित होता है।

आचार्य पूज्यपाद के बाद जैन अध्यात्म-योग के सशक्त व्याख्याकार आचार्य हरिभद्र (ई. 8) हुए, जिन्होंने प्राकृत व संस्कृत दोनों भाषाओं में योग-विषयक ग्रन्थ रचे हैं।

संस्कृत में 'योगबिन्दु', 'योगदृष्टिसमुच्चय' तथा 'षोडशक',—ये तीन ग्रन्थ उनके यहाँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें आचार्य का विशेष चिन्तन तो झलकता ही है, साथ ही वैदिक व बौद्ध परम्परा की योग-साधना के विचारों को आत्मसात् कर जैन साधना को कुछ नये रूप में प्रस्तुत करने का उनका सफल प्रयास भी दिखाई देता है। उन्होंने सामयिक परिस्थिति के अनुरूप, जैन आगम-परम्परा में बिखरे हुए योग-साधना के सूत्रों को एकत्रित कर, लोक-रुचि का ध्यान रखते हुए विशिष्ट वर्णन-शैली के माध्यम से योग-साधना का एक सहज बोधगम्य स्वरूप उपस्थापित किया और अपने व्यापक, उदार व समन्वयात्मक दृष्टिकोण के साथ योग-साधना से सम्बन्धित विविध पक्षों पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया है। योग-सम्बन्धी निरूपण में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, शास्त्रान्तरविज्ञता तथा समन्वयात्मक, तुलनात्मक व मनोवैज्ञानिक दृष्टियों का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जैन परम्परा में स्वीकृत गुणस्थानों व योगदर्शन-सम्मत योगाङ्गों आदि का समन्वयात्मक रूप आठ योग-दृष्टियों के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें बौद्ध परम्परा के 'अभिधर्मकोश' ग्रन्थ में वर्णित आठ दृष्टियों के चिन्तन को भी ध्यान में रखा गया प्रतीत होता है। इस तरह उनकी अभिनव मौलिक दृष्टि, लोकोत्तर प्रतिभापूर्ण वैदुष्य व उदार दृष्टिकोण की छाप सर्वत्र प्रतिबिम्बित होती है। 'योगदृष्टिसमुच्चय' पर स्वयं आचार्य हरिभद्रकृत तथा उपाध्याय यशोविजयगणी (18वीं शती) कृत टीका भी उपलब्ध है।

आचार्य गुणभद्र (9वीं शती) कृत आत्मानुशासन तथा आचार्य अमितागति (10-11वीं शती) कृत 'सुभाषितरत्नसन्दोह' भी ध्यान-साधना की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करते हैं। आचार्य शुभचन्द्र (ई. 11वीं शती) का 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ जैन योग परम्परा के विविध पक्षों का निरूपण करने वाली एक प्रमुख व उल्लेखनीय रचना है। करीब दो हजार से अधिक संस्कृत श्लोकों तथा 39 या 42 प्रकरणों वाला यह ग्रन्थ जैन-योग के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपादेय है। पूर्ववर्ती योगविषयक ग्रन्थों का प्रभाव भी इस पर स्पष्ट झलकता है। इस ग्रन्थ पर पं. नयविलास (विक्रम 17वीं शती) द्वारा रचित एक संस्कृत-टीका भी उपलब्ध है।

श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र (ई. 12वीं शती) द्वारा विरचित योगशास्त्र भी एक सर्वोपयोगी ग्रन्थ है, जिसमें हजार संस्कृत श्लोकों में मुनि व श्रावक के धर्मों एवं साधना के विविध पक्षों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ का प्रभाव इस ग्रन्थ में कुछ स्थलों पर दिखाई देता है। इसमें प्राणायाम को मोक्षप्राप्ति में बाधक बताया गया है, जो ग्रन्थकार के मौलिक चिन्तन को अभिव्यक्त करता है। अध्यात्मयोग का पं. आशाधर रचित अध्यात्म-रहस्य या योगोद्दीपन (ई. 13वीं शती) लघु ग्रन्थ भी उपलब्ध हुआ है।

न्यायशास्त्रीय संस्कृत-जैनग्रन्थ

तत्त्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित प्रमुख जैन सिद्धान्त व दार्शनिक मान्यताओं पर समकालीन प्रचलित न्यायशास्त्रीय व तार्किक शैली में अनेक संस्कृत प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना हुई, जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

हम देखते हैं कि जैन परम्परा में शास्त्रीय न्याय-चर्चा का क्रमिक विकास हुआ है। मूलतः जिनवाणी या आगम स्वतः प्रमाण हैं और उसे तर्क का विषय बनाया नहीं जा सकता,—यह जैन मान्यता प्रारम्भ से रही है। परवर्ती आचार्यों ने उक्त चिन्तन को नया आयाम देते हुए कहा— आगमगम्य-तत्त्व सूक्ष्म व स्थूल दोनों प्रकार के हैं। सूक्ष्म तत्त्व भले ही तर्क की सीमा से परे हैं, किन्तु स्थूल तत्त्वों की हम दृष्टान्त, तर्क व युक्ति के आधार पर परीक्षा कर सकते हैं और ऐसे तत्त्व हेतुवादगम्य हैं। इस प्रकार 'तर्क' पद्धति को आंशिक रूप से स्वीकृत किया गया। यह युग आगम व हेतु के समन्वय की भावना का था। कालान्तर में आगमिक मान्यता व अनेकान्तवाद-जैसे मौलिक सिद्धान्त के पोषण की दृष्टि से युक्तिप्रधान शास्त्रों की रचना प्रारम्भ हुई। उपर्युक्त पृष्ठभूमि में क्रमिक विकसित जैन न्यायशास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत जैन आचार्यों द्वारा रचित न्यायशास्त्रीय संस्कृत ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा रही है, जिसका संक्षिप्त विवेचन करना ही यहाँ सम्भव होगा।

जैन परम्परा में संस्कृत भाषा के माध्यम से न्यायशास्त्रीय चर्चा का सूत्रपात करने का श्रेय दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र (ई. 2-3री शती) और श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन (ई. 4-5वीं शती) को है। [कुछ विद्वान् आचार्य समन्तभद्र को ई. 5-6ठी शती का मानकर उन्हें सिद्धसेन से परवर्ती मानते हैं।] आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' (देवागमस्तोत्र), 'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र' व 'युक्त्यनुशासन' की रचना की और उनमें स्तुति के माध्यम से न्यायशास्त्रीय विषयों की भी चर्चा की।

114 संस्कृत पद्यों वाली कृति 'आप्तमीमांसा' में यह स्पष्ट विचार किया गया है कि वक्ता यदि आप्त (सर्वज्ञ, वीतराग) न हो, तो तत्त्व की सिद्धि हेतु (तर्क) के आधार पर की जाती है। इस ग्रन्थ में सर्वज्ञ की सिद्धि हेतुवाद से की गयी है, साथ ही अनेकान्तवाद एवं सप्तभंगीवाद की स्थापना करते हुए उसके व्यावहारिक उपयोग की पद्धति भी प्रस्तुत की गयी है। इसी पृष्ठभूमि में भावैकान्त, अभावैकान्त आदि एकान्तवादों का निराकरण भी किया है। उन्होंने यह भी घोषित किया कि 'स्यात्' शब्द का प्रयोग जैन न्याय में ही समुचित रूप से हुआ है, एकान्तवादियों के न्याय में नहीं।

आप्तमीमांसा में ग्रन्थकार ने नित्यानित्य, सामान्य-विशेष, भेदाभेद, भावाभाव—इन विरोधी वादों के मध्य अनेकान्तवाद के आधार सप्तभंगी की योजना करते हुए

समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को अनेकान्त-व्यवस्था की एक आधारभूत कृति कहा जा सकता है। आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र) पर दो महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गयीं— भट्ट अकलंक (ई. 7-8वीं) द्वारा रचित 'अष्टशती', तथा आचार्य विधानन्दि (ई. 8-9वीं) द्वारा रचित 'अष्टसहस्री', (जो अष्टशती को आप्तसात् कर लिखी गयी है)। अष्टसहस्री ग्रन्थ अपनी प्रौढ़ता, दुरुहता व गम्भीरता के कारण 'कष्टसहस्री' नाम से भी ख्यात है। अष्टसहस्री पर भी संस्कृत में टीका आदि लिखी गयीं, जिनमें लघु सप्तभद्र (ई. 13) द्वारा रचित अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्य टीका तथा उपाध्याय यशोविजय (18वीं शती) द्वारा रचित टिप्पणी उल्लेखनीय हैं। आचार्य समन्तभद्र के दूसरे (64 संस्कृत पद्यों वाले) ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' में भगवान् महावीर की स्तुति के माध्यम से अनेकान्तवाद-सप्तभंगीवाद का निरूपण करते हुए अन्य एकान्तवादी दर्शनों का निराकरण किया गया है और जिनेन्द्र-शासन को ही 'सर्वोदयी तीर्थ' रूप में उद्घोषित किया गया है। उनके तीसरे (143 संस्कृत श्लोकों वाले) ग्रन्थ 'स्वयम्भू स्तोत्र' में चौबीस तीर्थकरों की स्तुति के माध्यम से गम्भीर दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत की गयी है। इस ग्रन्थ में भी स्याद्वाद व अनेकान्तवाद की सयुक्तिक स्थापना की गयी है। अनेकान्त में भी अनेकान्त दृष्टि सार्थक हो सकती है—यह बताकर इस ग्रन्थ में अनेकान्तवाद के आधार को अधिक सुदृढ़ता प्रदान की गयी है।

आचार्य सिद्धसेन आगम व हेतुवाद— दोनों की स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। उनके मत में आगमसिद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों को हेतु या तर्क से अतीत भले ही मान लें, किन्तु इन्द्रियगम्य विषयों को हेतुवाद (तर्क) के आधार पर जानना-समझना न्यायसंगत है। इस वैचारिक पृष्ठभूमि में उनका 'न्यायावतार' ग्रन्थ बत्तीस कारिकाओं में निबद्ध है और प्रमाणशास्त्रीय चर्चा की दृष्टि से प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इनसे पूर्ववर्ती आचार्य, उमास्वामी (उमास्वाति) अपनी कृति तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान व प्रमाण का समन्वय प्रस्तुत कर चुके थे। आचार्य सिद्धसेन ने इस ग्रन्थ में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय व प्रमिति— इन चारों तत्त्वों की जैनदर्शन-सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की और अनुमान के हेतु आदि अंगों का एक संक्षिप्त व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया, जो परवर्ती आचार्यों द्वारा पल्लवित, परिष्कृत, विकसित आदि होता रहा। उन्होंने दार्शनिक चर्चा में अनुमान का जो लक्षण प्रस्तुत किया, वही परवर्ती तार्किकों द्वारा आधार रूप से मान्य रहा है।

इसी क्रम में आचार्य मल्लवादी (ई. 4-6 शती) द्वारा रचित 'द्वादशारनयचक्र' नामक ग्रन्थ भी जैन न्याय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इस पर सिंहसूरिगणि कृत वृत्ति है, जिसके आधार पर ही इसका उद्धार हो पाया है।

दार्शनिक जगत् में अनेकान्तदर्शन की दार्शनिक चर्चा ने क्रमशः व्यापक स्वरूप धारण किया। दूसरी तरफ जैन परम्परा में यह आवश्यकता समझी जाने लगी कि अन्य दर्शनों

की प्रमाण-चर्चा के आलोक में अपनी प्रमाण सम्बन्धी मान्यता को इस प्रकार सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाए, ताकि प्रबल युक्ति व तर्क के आधार पर उसकी श्रेष्ठता स्थापित हो सके। अन्य दर्शनों की ओर से प्रयुक्त किये जा रहे कटूक्तिपूर्ण आक्षेपों का प्रत्युत्तर देना भी जैन आचार्यों के लिए आवश्यक-सा हो गया था। ऐसी स्थिति में आचार्य अकलंक (ई. 7-8) एक सशक्त न्याय-प्रतिष्ठापक के रूप में आगे आये। जैन न्याय को एक व्यवस्थित रूप देने के कारण उन्हें जैन-न्याय का प्रवर्तक कहा जाता है। उनके द्वारा प्रस्थापित जैन न्याय-पद्धति का ही अनुसरण या विस्तार परवर्ती जैन आचार्यों द्वारा किया गया है। 'लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय', 'सिद्धिविनिश्चय' 'प्रमाणसंग्रह'— इन चार मूल ग्रन्थों के अलावा उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक टीका भी लिखी है। इसके अतिरिक्त आप्तमोपांसा पर उनकी अष्टशती नामक टीका भी प्राप्त है। सभी ग्रन्थ तार्किक शैली का आधार लेकर विषय का निरूपण करते हैं। प्रथम कृति 'लघीयस्त्रय' तीन प्रकरणों का एक संग्रह है, जिनके नाम हैं— प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश। इस पर 'न्यायकुमुदचन्द्र' (लघीयस्त्रयालंकार) नामक टीका आचार्य प्रभाचन्द्र (ई. 10-11) द्वारा लिखी गयी है, जो टीकाग्रन्थ होते हुए भी जैन न्याय के एक अद्वितीय मौलिक व प्रामाणिक ग्रन्थ की तरह ही विद्वत्समाज में आदृत हैं। आचार्य अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' पर आचार्य अनन्तवीर्य (ई. 10वीं शती) ने टीका लिखकर ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित कर जैन न्याय-शास्त्र का महान् उपकार किया है।

'न्यायविनिश्चय' में प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम— इन तीन प्रमाणों का सयुक्तिक विवेचन किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ की मूलप्रति अप्राप्य है, किन्तु वादिराज सूरि (13वीं शती) द्वारा रचित 'विवरण' नाम की टीका के आधार पर इसका उद्धार किया गया है। 'प्रमाणसंग्रह' में प्रमाणसम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा है। इसमें प्रमाण, नय व निक्षेप का विवेचन है। सम्भवतः यह अकलंक की अन्तिम रचना है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के स्वरूप, हेतु व हेत्वाभास, वाद लक्षण, सप्तभंगी व नयों के स्वरूप आदि समस्त प्रमाण-सम्बन्धी पक्षों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी तरह सिद्धिविनिश्चय में प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्पसिद्धि, प्रमाणान्तरसिद्धि, जीवसिद्धि आदि प्रस्तवों के अन्तर्गत प्रमाण आदि का विवेचन किया गया है। इन मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र की टीका 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भी प्रसंगवश न्यायशास्त्रीय विषयों पर तार्किक शैली से विवेचन उपलब्ध है।

आचार्य अकलंक के बाद जैन न्याय-परम्परा को सुदृढ़ आधार देने का श्रेय स्वताम्बर आचार्य हरिभद्र (ई. 7-8) तथा दिगम्बर आचार्य विद्यानन्दि (ई. 8-9) को है। आचार्य हरिभद्र के संस्कृत में जैन-न्याय सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थ हैं— 'अनेकान्तजयपताका' (स्वोपज्ञ

वृत्ति सहित), 'शास्त्रवार्तासमुच्चय', 'षड्दर्शनसमुच्चय', 'अनेकान्तवादप्रवेश' व 'सर्वज्ञसिद्धि'। इन सभी ग्रन्थों में आचार्य हरिभद्र ने प्रत्येक विवेचनीय विषय पर तार्किक शैली से चर्चा की है और वैदुष्यपूर्ण युक्ति, प्रमाण आदि के आधार पर अन्य मतों का खण्डन किया है एवं स्वमत की स्थापना की है; किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे शास्त्रीय चर्चा में मध्यस्थ व पक्षपातहीन दृष्टिकोण अपनाने के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि मेरा न तो भगवान महावीर के प्रति पक्षपात है और न ही कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति विद्वेष-भाव है। जो भी युक्तिसंगत हो, उसे स्वीकार करने का मेरा आग्रह है। उनके ग्रन्थों में उनका मौलिक व स्वतन्त्र चिन्तन परिलक्षित होता है। यद्यपि आर्य (आगम) परम्परा के प्रति उनकी अगाढ़ श्रद्धा है, फिर-भी वे तार्किक परम्परा की उपेक्षा नहीं करते और वैचारिक उदारता का भी पूर्ण प्रदर्शन करते हैं।

आचार्य हरिभद्र जहाँ श्वेताम्बर परम्परा के प्रति आस्था रखते थे, वहाँ आचार्य विद्यानन्दि दिगम्बर परम्परा के प्रबल समर्थक व पोषक थे। आचार्य विद्यानन्दि की जो प्रमुख संस्कृत रचनाएँ जैन न्याय-साहित्य की अमूल्य निधि हैं— 'आप्तपरीक्षा', 'प्रमाणपरीक्षा', 'पत्रपरीक्षा' और 'सत्यशासनपरीक्षा'। उनकी विद्यानन्दिमहोदय नामक कृति भी है, किन्तु वह अनुपलब्ध है। उक्त मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दो टीका ग्रन्थ भी हैं, जिनमें अष्टसहस्री (जो आप्तमीमांसा व उस पर अकलंककृत अष्टशती टीका पर व्याख्या है) तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र पर टीका) उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त ग्रन्थ में आप्त-परीक्षा की रचना सर्वार्थसिद्धि-ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादकृत टीका) के प्रथम मंगलाचरण 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' पर भाष्य रूप में की गयी है। समस्त ग्रन्थों में आचार्य विद्यानन्दि ने जैन न्याय-परम्परा को और भी अधिक परिमार्जित व परिष्कृत या सशक्त बनाने का प्रयास किया है। सत्यशासनपरीक्षा ग्रन्थ में सभी दार्शनिक मान्यताओं की पूर्वपक्ष रूप में उपस्थापित कर उत्तरपक्ष रूप में उनमें दोषों की उद्भावना करते हुए उनका निराकरण किया गया है और जैन मत की निर्दोषता प्रतिपादित की गयी है।

आचार्य विद्यानन्दि के बाद आचार्य अनन्तकीर्ति (ई. 10वीं) ने 'बृहत्सर्वज्ञसिद्धि' तथा 'लघुसर्वज्ञसिद्धि'—ये दो ग्रन्थ रचे, जिनमें सर्वज्ञता की सिद्धि की गयी है।

न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थों की तरह जैन-न्याय का परिचयात्मक व सुव्यवस्थित ज्ञान कराने की दृष्टि से संस्कृत में दो सूत्र ग्रन्थ भी रचे गये— माणिक्यनन्दी आचार्य (ई. 11) द्वारा विरचित 'परीक्षामुख' तथा आचार्य वादिदेवसूरि (ई. 12वीं शती) द्वारा रचित 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार'। छह परिच्छेदों व 212 सूत्रों वाले परीक्षामुख ग्रन्थ में प्रमुखतः प्रमाण, प्रमाणाभास का विवेचन है और उसके अन्तर्गत

अन्य सभी सम्बद्ध विषयों का भी निरूपण है। इस पर अनेक टीकाग्रन्थ भी लिखे गये, जिनमें आचार्य प्रभाचन्द्र (ई. 11) द्वारा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', आचार्य लघु अनन्तधीर्य (वि. 12वीं शती) द्वारा रचित 'प्रमेयरत्नमाला' आदि प्रमुख हैं। इनमें 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' टीकाग्रन्थ होते हुए भी खण्डन-मण्डनात्मक दृष्टि से प्रौढ़ शास्त्रीय चर्चा से युक्त एक मौलिक व प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में विद्वानों में विशेष आदरणीय रहा है। विषय-विवेचन में इनकी आस्था दिगम्बर मान्यता के प्रति स्पष्ट अभिव्यक्त होती है। इसमें भूतचैतन्यवाद, सर्वज्ञत्व, ईश्वरकर्तृत्व, केवलि-कवलाहार, स्त्री-मुक्ति, वेद की अपौरुषेयता, क्षणिकवाद, सामान्य (जाति) स्वरूप, जय-पराजय-व्यवस्था आदि अनेक विषयों का विस्तृत तार्किक शैली से विचार करते हुए जैन दृष्टि से उनकी समीक्षा की गयी है। आचार्य प्रभाचन्द्र के दूसरे ग्रन्थ 'न्यायकुमुदचन्द्र' का उल्लेख पहले किया जा चुका है जो अकलंक-कृत लघीयस्त्रय पर एक विशालकाय टीका ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भी जैन न्याय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठापक ग्रन्थ माना जाता है।

आचार्य वादिदेवसूरि-रचित प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार आठ परिच्छेदों में विभक्त है और कुल सूत्रों की संख्या 377 है। इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार ने स्याद्वादरत्नाकर नामक स्वोपज्ञ विस्तृत भाष्य भी लिखा है। यह भाष्य 84 हजार श्लोक-परिमाण वाला है और ग्रन्थ के अर्थगाम्भीर्य को अधिकाधिक विशद रूप से प्रकाशित करता है। इन्हीं के शिष्यरत्न श्री रत्नप्रभसूरि (ई. 12-13वीं शती) ने 'स्याद्वादरत्नाकरावतारिका' नामक टीका लिखी है, वह भी एक प्रौढ़ रचना है।

जैन-न्याय की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले आचार्यों की उक्त परम्परा अनवरत प्रवहमान रही। इसी क्रम में ई. 11वीं शती के आचार्य वादिराज हुए, जिनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—'न्यायविनिश्चयविवरण' तथा 'प्रमाणनिर्णय'। पहला ग्रन्थ अकलंक-कृत न्यायविनिश्चय की विशाल टीका के रूप में है और दूसरा एक गद्यात्मक लघु मौलिक कृति है, जिसमें जैन न्याय व प्रमाणशास्त्र से सम्बन्धित सारभूत विवेचन किया गया है। इसी परम्परा में श्री अभयदेवसूरी (ई. 10-11) ने आचार्य सिद्धसेन कृत 'सम्मतितर्क' (प्रकरण) पर एक तत्त्वबोधविधायिनी (वादमहार्णव) नामक विशालकाय टीका लिखी है—जो दार्शनिक जगत् में अत्यन्त आदरणीय रही है।

उक्त जैन न्याय-परम्परा को अधिक परिवर्द्धित व परिपुष्ट करने वाले आचार्यों में कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र (ई. 12वीं), आचार्य मल्लिधेय (ई. 14वीं शती), तथा उपाध्याय श्री यशोविजय (ई. 18वीं) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृतपद्यात्मक दो द्वात्रिंशतिकाएँ— 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' तथा 'अयोगव्यवच्छेदिका' के अतिरिक्त 'प्रमाणमीमांसा' नामक (अपूर्ण) ग्रन्थ रचकर न्याय-साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया। द्वात्रिंशतिकाओं में जिनेन्द्र-स्तुति के माध्यम से

दार्शनिक चर्चा की गयी है और अन्य दर्शनों का निराकरण करते हुए जैन मत को प्रतिष्ठापित किया गया है। इसके अतिरिक्त, जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी, नयवाद आदि की भी संक्षिप्त चर्चा की गयी है। 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' द्वात्रिंशतिका पर आचार्य मल्लिषेण ने 'स्याद्वादमंजरी' नामक विस्तृत टीका लिखी, जिसमें विविध दार्शनिक मतों की प्रौढ़ तार्किक शैली से समीक्षा की गयी है और युक्तिपुरस्सर स्याद्वाद की महत्ता को प्रतिष्ठापित किया गया है। इस कृति को भी विद्वानों में विशेष आदर प्राप्त है।

आचार्य हेमचन्द्र की दूसरी कृति 'प्रमाणमीमांसा' है, जो अपूर्ण रूप में प्राप्त है। प्रथम अध्याय को दो आह्निकों में विभक्त किया गया है। ग्रन्थ में उपलब्ध सूत्रों की संख्या 100 है, जिन पर ग्रन्थकार की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। ग्रन्थ में प्रमाण व प्रमेय का विस्तृत विवेचन है और प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें यत्र-तत्र ग्रन्थकार का मौलिक चिन्तन भी अभिव्यक्त हुआ है।

आचार्य हेमचन्द्र के बाद अभिनव धर्मभूषण यति (14-15वीं शती) हुए, जिन्होंने 'न्यायदीपिका' नामक एक मौलिक न्यायसम्बन्धी ग्रन्थ रचा। यह ग्रन्थ भी जैन न्याय के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जैन परम्परा में नव्यन्याय शैली को प्रतिष्ठापित करनेवाले आचार्य के रूप में उपाध्याय यशोविजय (ई. 18वीं शती) कहे जाते हैं, जिन्होंने अनेक तर्कप्रधान ग्रन्थों की रचना की। इनकी प्रमुख न्याय-विषयक संस्कृत कृतियाँ हैं-जैन तर्कभाषा, अनेकान्तव्यवस्था, सप्तभंगीनयप्रदीप, नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, ज्ञानबिन्दु, ज्ञानसारप्रकरण, अनेकान्तप्रवेश, वादमाला, आदि। इसके अतिरिक्त न्यायखण्डखाद्य व न्यायालोक-जैसी उनकी कृतियाँ नव्यन्यायशैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। आचार्य विद्यानन्दि-कृत अष्टसहस्री पर इनके द्वारा रचित 'विवरण' भी प्राप्त होता है। ई. 18वीं में ही नरेन्द्रसेन नामक जैन तार्किक हुए, जिन्होंने 'प्रमाणप्रमेयकलिका' नामक लघु ग्रन्थ लिखा, जिसमें प्रमाण व प्रमेय-सम्बन्धी विविध मान्यताओं को सयुक्ति आलोचना-प्रत्यालोचना कर जैन सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गयी है।

इस प्रकार ईस्वी प्रथम-द्वितीय शती से लेकर अठारहवीं शती तक संस्कृत में जैन-न्याय साहित्य का सृजन होता रहा है और आधुनिक युग में भी यह परम्परा प्रवर्तित है। इस प्रसंग में आचार्य तुलसी द्वारा रचित 'भिक्षुन्यायकर्णिका', 'जैनसिद्धान्तदीपिका' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

स्तुति-साहित्य व पुराणसाहित्य की परम्परा

जैन आचार्यों ने काव्य की अनेक विधाओं में संस्कृत साहित्य का निर्माण किया है। संस्कृत काव्य-निर्माण की दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र व आचार्य सिद्धसेन जैसे

कवियों ने स्तुति-साहित्य के माध्यम से संस्कृत काव्य-परम्परा का श्रीगणेश किया है। इन कवियों ने इष्टदेव की स्तुति के ब्याज से सर्वज्ञ-सिद्धि तथा एकान्तवादों की समीक्षा करते हुए न्यायपरम्परा का भी श्रीगणेश किया है। कालक्रम से दार्शनिक मतस्थापन का लक्ष्य न रखकर मात्र भक्तिभावपूर्ण स्तुति-काव्यों की रचना भी प्रारम्भ हुई। दूसरी ओर अभीष्ट देव तीर्थंकर आदि की कथाओं को ऐतिहासिक व काव्यात्मक— दोनों दृष्टियों से काव्यरूप में रूपायित करने की भावना से पुराण-साहित्य भी प्रकाश में आया। वैदिक परम्परा में रचित पुराणसाहित्य भी जैनाचार्यों के समक्ष था ही, वहाँ पुराण के विशिष्ट पाँच लक्षण निर्धारित थे। वे थे— सृष्टि वर्णन, प्रलय वर्णन, राजवंश-क्रम वर्णन, मन्वन्तर-वर्णन, राजवंश का चरित-वर्णन। जैन परम्परा में भी पुराणसाहित्य में इन पाँच लक्षणों को न्यूनाधिक रूप में समाहित किया गया, किन्तु जैन परम्परा का अपना वैशिष्ट्य था, जिसके कारण जैन पुराण वैदिक पुराणों से अपना पार्थक्य सुरक्षित रखे हुए हैं, यद्यपि वर्णन-शैली की दृष्टि से दोनों में समानता भी दृष्टिगोचर होती है।

स्वतन्त्र स्तुतिरूप में आचार्य समन्तभद्र-कृत 'जिनशतक' (अपर नाम-स्तुतिविद्या व जिनशतकालंकार) भी उल्लेखनीय है। इसी क्रम में मानतुंगाचार्य (5-6शती लगभग) द्वारा रचित 'भक्तामर स्तोत्र' अधिक लोकप्रिय व प्रसिद्धि प्राप्त है। इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति की गयी है। परम्परा भेद से इसमें 48 या 44 संस्कृत पद्य पाये जाते हैं। इसकी लोकप्रियता ही कहेंगे कि इसका सम्पादन व जर्मन भाषा में (डॉ. जैकोबी द्वारा) अनुवाद किया गया है। इस स्तोत्र पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गयीं। भक्तामर स्तोत्र के पद्यांशों को आधार बनाकर समस्यापूर्ति के रूप में भी अनेक स्तोत्रों का निर्माण हुआ है, जिनमें धर्मसिंह-कृत 'सरस्वतीभक्तामरस्तोत्र' तथा भावरत्न-कृत 'नेमिभक्तामर स्तोत्र' उल्लेखनीय हैं। भक्तामर स्तोत्र की ही तरह अन्य लोकप्रिय स्तोत्र 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' है, जिसमें 44 पद्य हैं। इसके कर्ता कुमुदचन्द्र (कुछ के मत में सिद्धसेन) हैं। इसका भी जर्मनी में अनुवाद हुआ है और 20-25 टीकाएँ भी इस पर लिखी गयी हैं। दोनों ही स्तोत्रों में काव्यात्मक कल्पना व सुन्दर अलंकारों का समावेश है। इसी क्रम में पूज्यपाद देवनन्दी (ई. 5) कृत (26 पद्याँ का) सिद्धप्रिय-स्तोत्र व दशभक्तियाँ (या बारह भक्तियाँ), धनञ्जय कवि (7-8 शती) द्वारा रचित (40 पद्याँ का) 'विषापहार स्तोत्र', अकलंक (ई. 8) कृत (16 पद्याँ का) 'अकलंक स्तोत्र', बप्पभट्टि (ई.9) कृत 'सरस्वती स्तोत्र', आचार्य विद्यानन्दि (8-9वीं ई.) कृत 'पार्श्वनाथ स्तोत्र', वादिराज कृत (11वीं शती) (26 पद्याँ का) 'एकीभाव स्तोत्र', एवं भूपालकवि कृत 'जिनचतुर्विंशतिका', हेमचन्द्र कृत (12वीं शती) 'वीतराग स्तोत्र', 'महादेव स्तोत्र', व 'महावीर स्तोत्र' आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी

स्तोत्रों में स्तुतिकार अपने भक्तिपूरित हृदय को आराध्य देव के समक्ष समर्पित करते हुए प्रतीत होते हैं। इनमें भक्ति, दर्शन व अध्यात्म की त्रिवेणी प्रवाहित है। उपास्य की महत्ता, आत्म-निवेदन तथा कहीं-कहीं अभीष्ट कार्य को चमत्कारिक रूप से सिद्ध कराने की आकांक्षा भी प्रकट हुई देखी जाती है। भक्ति भावना एवं रागात्मक वृत्तियों का उदात्तीकरण इनमें अद्भुत रूप से दृष्टिगोचर होता है। वैदिक परम्परा में विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र काफी लोकप्रिय रहा है। जैन परम्परा में भी भक्तिवश जिनसहस्रनाम स्तोत्रों की रचना हुई है। प्रथमतः आचार्य जिनसेन द्वितीय (9वीं शती) कृत 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' है, जिसमें जिनेन्द्र के 1008 नामों की गणना हुई है और नाना विशेषणों से परमात्मा की स्तुति की गयी है। इसी क्रम में पं. आशाधर (13वीं शती), विनयविजय उपाध्याय (17वीं शती) आदि कवियों द्वारा रचित जिनसहस्रनाम-स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं।

पौराणिक शैली की सर्वप्रथम संस्कृत रचना रविषेण (ई. 7वीं) द्वारा विरचित 'पद्मचरित' प्राप्त होती है। यह 123 पर्वों में विभक्त है और प्रायः (18 हजार से अधिक) अनुष्टुप् छन्दों में यह निबद्ध है। पूर्ववर्ती कवि विमलसूरि कृत प्राकृत 'पडमचरित' (ई. 1-4 शती अनुमानित) का प्रभाव इसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। दूसरी पौराणिक संस्कृत रचना जिनसेन-रचित (ई. 8वीं शती) 'हरिवंशपुराण' में हरिवंशीय तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित वर्णित है। इसके बाद आचार्य जिनसेन (ई. 9वीं शती) तथा उनके शिष्य गुणभद्र (ई. 9वीं शती) द्वारा क्रमशः रचित 'महापुराण' है, जो आदिपुराण व उत्तरपुराण इन दो रूपों में विभक्त है। आदिपुराण में 47 पर्व और 1500 श्लोक हैं, जब कि उत्तरपुराण में 29 पर्व तथा 8 हजार श्लोक हैं। आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का तथा उत्तरपुराण में शेष 23 तीर्थंकरों का चरित वर्णित है। यह कृति जैनपुराणकोश जैसी है, क्योंकि इसमें प्रसंगवश समस्त तत्कालीन राजाओं व प्रमुख चरितनायकों (63 शलाकापुरुषों), महापुरुषों व उल्लेखनीय व्यक्तित्वों से जुड़ी कथाएँ समाहित हो गयी हैं। भाषा व शैली का सौष्ठव तथा अलंकारादि काव्यशास्त्रीय विशेषताओं से यह पूर्ण है। तीर्थंकर व मुनिराजों के धर्मोपदेश के रूप में जैन-तत्त्वज्ञान का यह कोश ही बन पड़ा है। मल्लिषेण (11वीं शती) तथा श्वेता. आचार्य मल्लिभूषण (ई. 13) कृत महापुराण भी प्राप्त होते हैं। इसी क्रम में आचार्य हेमचन्द्र (12वीं शती) द्वारा रचित 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक पौराणिक काव्य भी उल्लेखनीय है, जिनमें 10 पर्वों में तीर्थंकर आदि तिरैसठ शलाकापुरुषों (महापुरुषों) का चरित निबद्ध किया गया है।

पाण्डवों से सम्बन्धित अनेक पुराण रचे गये हैं, जिनके कर्ता मलधारी देवप्रभसूरि (ई. 12वीं), आचार्य शुभचन्द्र (ई. 16वीं शती), तथा सकलकीर्ति (15वीं शती ई.) आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी परम्परा में मुनि श्रीचन्द्र (वि. सं. 11वीं) द्वारा रचित पुराणसार तथा दामनान्दि

आचार्य (11वीं शती लगभग) द्वारा रचित पुराणसार-संग्रह भी उल्लेखनीय हैं। उक्त पुराण-साहित्य के साथ-साथ किसी विशेष तीर्थंकर या महापुरुष पर भी पौराणिक साहित्य की अनेक रचनाएँ हुई हैं, किन्तु उन सब का निरूपण करना यहाँ स्थान की मर्यादा के कारण सम्भव नहीं है। पुराणों के अलावा भी अनेकानेक चरित-काव्यों व कथा-ग्रन्थों की रचना होती रही है। इनका संक्षिप्त निरूपण आगे प्रस्तुत है।

संस्कृत-काव्य-परम्परा

स्वर्णयुग माने जाने वाले गुप्तकाल में संस्कृत में उच्च कोटि की रचनाएँ होने लगी थीं। शास्त्रीय पद्धति पर काव्य की अनेक विधाएँ—महाकाव्य, गद्यकाव्य, चम्पूकाव्य, कथाकाव्य, दूतकाव्य, अनेकार्थकाव्य, नाटक आदि विकसित हुईं। जैन परम्परा में आलंकारिक शैली में चरित व कथाओं पर काव्य-रचनाएँ निर्मित की जाने लगीं। समस्त जैन काव्य साहित्य का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है, मात्र एक झलक ही प्रस्तुत की जा सकती है, किन्तु समग्र जैन संस्कृत काव्य साहित्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह बहुआयामी है, प्रचुर मात्रा में है और उच्चस्तरीय भी। रस, ध्वनि, शब्दालंकार, अर्थालंकार प्रतिभा, किसी भी क्षेत्र में जैन आचार्य अजैन कवियों व साहित्यकारों में किसी भी तरह पीछे नहीं रहे हैं।

चरितनामान्त संस्कृत-काव्य

प्रारम्भ में पुराणशैली व काव्यशैली दोनों सम्पृक्त थीं, किन्तु कालान्तर में अलंकरण की प्रवृत्ति एवं सौन्दर्य-बोध की चेतना का विकास हुआ, तब महाकाव्यों का पृथक् रूप में निर्माण प्रारम्भ हुआ। पुराण-कथाओं से अनुप्राणित चरित-काव्य लिखे गये। ये वे काव्य हैं, जिनमें तीर्थंकरादि महापुरुषों का आख्यान निबद्ध है, किन्तु वस्तु-व्यापारों का नियोजन काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुरूप किया जाता है। पुराण में अनेक नायकों का अस्तित्व होता है, वहाँ इन काव्यों में एक ही नायक की प्रधानता होती है। इनके माध्यम से जीवनोपयोगी सन्देश दिया गया है, जो पुरुषार्थ को जाग्रत करता है। ऐसे चरितकाव्यों में जटासिंहनन्दि (ई. 8वीं शती) द्वारा रचित 'वराङ्गचरित' है। इसमें तीर्थंकर नेमिनाथ व श्रीकृष्ण के समकालीन 'वराङ्ग' नामक महापुरुष का चरित वर्णित है। इसमें 31 सर्ग हैं, यद्यपि महाकाव्य-लक्षण के अनुसार 30 से अधिक सर्ग नहीं होने चाहिए। अश्वघोष कवि के बुद्धचरित के समकक्ष इस काव्य को रखा जा सकता है। इसी तरह धीरनन्दी (ई. 10) कृत 'चन्द्रप्रभचरित', असग-कवि (10वीं शती) कृत 'शान्तिनाथचरित' व 'वर्धमानचरित', वादिराज (ई. 11वीं शती) कृत 'पार्श्वनाथचरित', आचार्य हेमचन्द्र (ई. 12वीं शती) कृत 'कुमारपालचरित', माणिक्यचन्द्र सूरि (वि.

13वीं शती) कृत 'पार्श्वनाथचरित' मलधारी हेमचन्द्र (वि. 14वीं शती) कृत 'नेमिनाथचरित', चन्द्रतिलक (वि. 14वीं शती) कृत 'अभयकुमारचरित', भावदेवसूरि (वि. 14वीं शती) कृत 'पार्श्वनाथचरित' आदि-आदि उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त काव्यों में 'कुमारपालचरित' (द्वयाश्रयकाव्य) इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें राजा कुमारपाल के चरित के निरूपण के साथ-साथ प्राकृत व्याकरण के नियमों (सूत्रों) के उदाहरण भी प्रस्तुत किए गये हैं। इसी शैली के अनुरूप एक अन्य कृति 'श्रेणिकचरित' (दुर्गवृत्तिद्वयाश्रय महाकाव्य) है, जिसके रचयिता जिनप्रभसूरि (वि. 14वीं शती) हैं। इसमें श्रेणिक के चरित के निरूपण के साथ-साथ कातन्त्र व्याकरण के नियमों (सूत्रों) के प्रयोगों का व्यावहारिक रूप भी प्रस्तुत किया गया है। विशिष्ट महापुरुषों में कामदेवों के रूप में विख्यात प्रद्युम्न, जीवन्धर आदि पर भी संस्कृत महाकाव्य/काव्य लिखे जाते रहे हैं। इनमें महासेनाचार्य (11वीं शती), भट्टारक सकलकीर्ति (15वीं शती), शुभचन्द्र (17वीं शती) आदि कृत 'प्रद्युम्नचरित' प्रसिद्ध हैं। वादीभसिंह सूरि कृत 'क्षत्रचूडामणि' (जीवन्धरचरित), महाकवि हरिचन्द्र कृत 'जीवन्धर चम्पू' आदि अनेकानेक काव्य भी इसी कोटि के अन्तर्गत हैं।

कुछ ऐसे भी जैन संस्कृत काव्य हैं जिनके नामों में 'चरित' शब्द अन्त में नहीं है, किन्तु वे महाकाव्य-सदृश ही हैं। ऐसे महाकाव्यों में महाकवि हरिचन्द्र (ई. 11-12वीं शती) द्वारा रचित 'धर्मशर्माभ्युदय', वाग्भट द्वितीय (12वीं शती) कृत 'नेमिनिर्वाण', अभयदेवसूरि (वि. 13वीं शती) कृत 'जयन्तविजय', कवि वस्तुपाल (वि. 13वीं शती) कृत 'नरनारायणानन्द', महाकवि बालचन्द्र (13-14वीं शती) कृत 'वसन्तविलास' आदि उल्लेखनीय हैं। इसी क्रम में महाकवि अर्हदास (13वीं शती) कृत 'मुनिसुव्रत महाकाव्य', महाकवि अमरचन्द्र कृत 'बालभारत' व 'पद्मानन्द'— ये दो महाकाव्य भी महत्त्वपूर्ण हैं।

सन्धान-काव्य

पूरा काव्य एकाधिक अर्थ को अभिव्यक्त करे, वह सन्धान काव्य होता है। इसके भी अनेक प्रकार हैं—द्विसन्धान, चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान आदि आदि। इस तरह का प्रथम महाकाव्य है महाकवि धनञ्जय (8वीं शती) कृत 'द्विसन्धान महाकाव्य'। मेघविजय उपाध्याय (18वीं शती) द्वारा रचित 'सप्तसन्धान महाकाव्य', हरिदत्त सूरि (18वीं शती) कृत 'राघवनैषधीय', सुराचार्य (वि. 11वीं शती) कृत 'नाभेयनेमिद्विसन्धान' महाकाव्य आदि भी उल्लेखनीय हैं। नाभेयनेमिद्विसन्धान काव्य में एक साथ तीर्थंकर ऋषभदेव तथा तीर्थंकर नेमिनाथ की कथाएँ समानान्तर चलती हैं। महोपाध्याय कविवर समयसुन्दर (वि. 17वीं शती) ने 'अष्टलक्षी' ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें एक पद्य

के आठ लाख अर्थ सम्भव हैं। इस ग्रन्थ ने सम्राट अकबर तथा उसके सभासदों को आश्चर्यचकित कर व हतप्रभ कर दिया था। अन्य भी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, उन सब का निरूपण करना यहाँ सम्भव नहीं है।

इसी तरह ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन चरित को भी महाकाव्यों में निबद्ध किया गया है। ऐसे महाकाव्यों में पद्मगुप्त (ई. 11) कृत 'नवसाहस्रचरित', आचार्य हेमचन्द्र (ई. 12वीं शती) कृत 'कुमारपालचरित', सर्वानन्द कवि रचित 'जगद्गुरुचरित' (जिसमें वि. 14वीं शती में हुए जगद्गुरु का यशोगान किया गया है), उदयप्रभसूरि (13वीं शती) कृत 'धर्माभ्युदय' काव्य उल्लेखनीय हैं।

लघुकाव्य, समस्यापूर्ति काव्य, सूक्तिकाव्य व सन्देश काव्य

कुछ संस्कृत काव्य ऐसे भी हैं, जो महाकाव्य के सभी लक्षणों को पूरा नहीं करते और उनकी वस्तु-व्यापारों की योजना महाकाव्य-स्तर की नहीं होती। उनमें कथाप्रवाह के मोड़ कम होते हैं, प्रकृति-वर्णन आदि में भी अपेक्षित चमत्कारपूर्णता नहीं होती। ऐसे काव्यों में वादीभरिसिंह (9वीं शती) कृत 'क्षत्रचूडामणि काव्य', सोमकीर्ति (16वीं शती) कृत 'प्रद्युम्नचरित' तथा इसके अतिरिक्त, धनेश्वर सूरि (वि. 5वीं शती) कृत 'शत्रुंजयमाहात्म्य', भट्टारक सकलकीर्ति (14वीं शती) रचित 'सुदर्शनचरित' भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी तरह कुछ लघुकाव्य भी हैं, जिन्हें महाकाव्य या खण्डकाव्यों की श्रेणी में रखा नहीं जा सकता है। इनमें प्रायः छः से कम सर्ग ही हैं। ऐसे काव्यों में वादिराज (11वीं शती) कृत 'यशोधरचरित' व 'सुदर्शनचरित', जयतिलक (15वीं शती) कृत 'मलयसुन्दरीचरित', पद्मसुन्दर (17वीं शती) कृत 'रायमल्लाभ्युदयकाव्य', जगन्नाथ कवि (17वीं शती) कृत 'सुषेणचरित' आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं। इसके अतिरिक्त, जयशेखर सूरि (वि. 15वीं शती) कृत 'जैनकुमारसम्भव' तथा चारित्रभूषण कृत (चारित्रसुन्दरगणी) 'महीपालचरित' के नाम इस क्रम में परिगणनीय हैं।

समस्यापूर्ति के रूप में भी कुछ काव्यों की रचना हुई है। उपाध्याय मेघविजय (17वीं शती ई.) ने 'शान्तिनाथचरित' की रचना की है, वह नैषधमहाकाव्य के प्रथम सर्ग के समस्त श्लोकों की समस्यापूर्ति के रूप में लिखा गया है। इसमें छः सर्ग हैं। इन्हीं की दूसरी कृति देवानन्द है, जो माघ काव्य के प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में है। कहीं कहीं माघ काव्य के प्रथम, द्वितीय या तृतीय चरण को भी समस्यापूर्ति हेतु आधार बनाया गया है। सात सर्गों वाले इस काव्य में विजयदेव सूरि का चरित वर्णित है।

जैन परम्परा में सूक्ति काव्य भी प्रकाश में आये हैं, जिनमें उपदेश, प्रेम व नीति से सम्बन्धित काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। इनमें सदाचार-सम्बन्धी सार्वजनिक सिद्धान्तों

संस्कृत साहित्य-परम्परा :: 803

का अथवा जीवन के शाश्वत व सार्वभौमिक मूल्यों का उपस्थापन किया गया है। जैन परम्परा के संस्कृत सूक्ति-काव्यों में आचार्य गुणभद्र द्वारा (ई. 9वीं शती) विरचित 'आत्मानुशासन', आचार्य शुभचन्द्र द्वारा (12वीं शती) रचित 'ज्ञानार्णव', आचार्य अमितगति द्वारा (वि. 11वीं शती) रचित 'सुभाषितरत्नसन्दोह', अहंदास द्वारा (ई. 13वीं शती) रचित 'भव्यजनकण्ठाभरण' तथा सोमप्रभ द्वारा (13वीं शती ई.) रचित 'सूक्तिमुक्तावली' काव्य आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन आचार्यों ने संस्कृत में सन्देश काव्यों या दूतकाव्यों की भी रचना कर साहित्य-भण्डार को समृद्ध किया है। इन रचनाओं की विशेषता यह है कि इनमें शृंगार रस को जगह शान्त रस को प्रधानता दी गयी है और अधिकांशतः पार्श्वनाथ व नेमिनाथ आदि के जीवन-वृत्तों को आधार बनाया गया है। ऐसे जैन सन्देश काव्यों में कवि विक्रम (13-14वीं शती) कृत 'नेमिदूत', महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य कवि मेरुतुंग (द्वितीय) (ई. 14-15वीं शती) कृत 'जैनमेघदूत', वादिचन्द्रसूरि (17वीं शती) कृत 'पवनदूत', विनयविजय गणी (18वीं शती) द्वारा रचित 'इन्दुदूत' तथा महोपाध्याय मेघविजय (वि. 18वीं शती) द्वारा रचित 'मेघदूतसमस्यालेख' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। वि. 15वीं शती में चारित्रसुन्दरगणी द्वारा मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में रचा गया 'शीलदूत' नामक दूतकाव्य भी कविप्रतिभा का परिचायक है।

गद्यकाव्य व कथासाहित्य

कथा व आख्यान प्रधान संस्कृत काव्यों की रचना भी जैन आचार्यों ने पर्याप्त मात्रा में की है। कवि-जगत् में गद्य काव्य को कवियों की प्रतिभा की कसौटी माना जाता है। जैन परम्परा में नैतिक उपदेश से पूर्ण व वैराग्यवर्धक तथा कर्म-सिद्धान्त को पुष्ट करने वाली कथाओं का साहित्य-भण्डार भी अति-समृद्ध रहा है। कुछ विशिष्ट कृतियों का निर्देश यहाँ प्रस्तुत है।

संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों में धनपाल कवि (10वीं शती ई.) रचित 'तिलकमंजरी', आचार्य वादीभिसंह (ओडवदेव) रचित 'गद्यचिन्तामणि' (11वीं शती लगभग) आदि प्रमुख हैं। सिद्धार्थि कृत 'उपमितिभवप्रपंचकथा' (10वीं शती ई. प्रारम्भ) संस्कृत-गद्य-कथा का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, अमरसुन्दर (वि. 15वीं शती) कृत 'अंबडचरित्र', ज्ञानसागरसूरि (15वीं शती) कृत 'रत्नचूडकथा', जिनकीर्ति (15वीं शती) कृत 'चम्पकश्रेष्ठिकथानक', जयविजय के शिष्य मानविजय (16-17वीं शती) कृत 'पापबुद्धि-धर्मबुद्धिकथा' (कामघटकथा) आदि संस्कृत कथा साहित्य को श्रीवृद्धि करने वाली कृतियाँ हैं। संस्कृत पद्यों में रचित हरिषेण (शक सं. 853) द्वारा रचित 'कथाकोष' भी कथाओं का विपुल स्रोत है। अन्य कथा-संग्रहात्मक संस्कृत कृतियों

में अमितगति-(ई. 11वीं शती) कृत 'धर्मपरीक्षा', प्रभाचन्द्र (13वीं शती) कृत 'कथाकोष', राजशेखर (14वीं शती) कृत 'अन्तर्कथासंग्रह', नेमिदत्त (16वीं शती) कृत 'आराधना कथाकोष', शुभशील गणी (15वीं शती) कृत 'पंचशती प्रबोधसम्बन्ध', हेमविजय (1600ई.) कृत 'कथारत्नाकर' उल्लेखनीय हैं। इसी सन्दर्भ में कथासंग्रह रूप में 'सम्यक्त्वकौमुदी' नाम से अनेक कृतियाँ प्राप्त हैं, जिनके रचयिता जिनहर्षगणी (15वीं शती), सोमदेव सूरि (16वीं शती) आदि प्रसिद्ध साहित्यकार रहे हैं।

कुछ ऐसी भी गद्यात्मक या पद्यात्मक संस्कृत कृतियाँ हैं, जिनमें ऐतिहासिक घटना या आचार्यों आदि के ऐतिहासिक वृत्त निबद्ध हैं, अतः इनकी उपयोगिता स्पष्ट है। ऐसी कृतियों में धनेश्वरसूरि (7-8वीं शती) कृत शत्रुंजयमाहात्म्य, तथा प्रभाचन्द्र (13वीं शती), मेरुतुंग (14वीं शती) एवं राजशेखर (14वीं शती)-इन तीन आचार्यों द्वारा पृथक्-पृथक् रचित प्रभावकचरित्र आदि प्रमुख हैं।

संस्कृत नाट्य-साहित्य

संस्कृत नाट्य-परम्परा में भी जैन परम्परा का पर्याप्त योगदान रहा है। रामचन्द्र सूरि (13वीं शती) कृत 'निर्भयभीमव्यायोग', 'नलविलास', 'कौमुदीमित्रानन्द'; हस्तिमल्ल (13वीं शती) कृत 'विक्रान्त कौरव', 'सुभद्रा', 'मैथिलीकल्याण' व 'अंजनापवनंजय', जिनप्रभासूरि-शिष्य रामभद्र (13वीं शती) कृत 'प्रबुद्धरौहिणेय'; यशःपाल (13वीं शती) कृत 'मोहराजपराजय', वीरसूरि शिष्य जयसिंह सूरि (13वीं शती) कृत 'हम्पीरमदमर्दन', पद्मचन्द्र शिष्य यशश्चन्द्र (14-15वीं शती लगभग) कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय', बालचन्द्र (8-9 शती प्रायः) कृत 'करुणावज्रायुध' आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत कोश-साहित्य

संस्कृत कोश साहित्य को समृद्ध करने में भी जैन परम्परा अग्रसर रही है। प्राचीनतम संस्कृत कोश हैं— 'नाममाला' और 'अनेकार्थनाममाला', जिनके रचयिता हैं-धनंजय (ई. 8-9शती)। इसके बाद आचार्य हेमचन्द्र द्वारा 'अभिधानचिन्तामणि' व 'अनेकार्थसंग्रह', श्रीधरसेन (13-14 शती ई.) द्वारा 'विश्वलोचन कोश' (मुक्तावलि कोश), तथा जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र द्वारा 'एकाक्षरनाममाला' आदि कोश रचे गये।

संस्कृत-अलंकार-शास्त्र व छन्दशास्त्र

संस्कृत अलंकार व छन्दशास्त्र सम्बन्धी कृतियों में वाग्भट (12वीं शती) कृत 'वाग्भटालंकार' हेमचन्द्र (12वीं शती) कृत 'काव्यानुशासन', अरिसिंह (13वीं शती)

कृत 'काव्यकल्पलता', नरेन्द्रप्रभसूरि (वि. 1282) कृत 'अलंकारमहोदधि', हेमचन्द्र के शिष्यद्वय रामचन्द्र व गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण', अजितसेन (14वीं शती) कृत 'अलंकार चिन्तामणि', तथा अभिनव वाग्भट (14वीं शती) कृत 'काव्यानुशासन' का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य भावदेवसूरि (वि. 15वीं) का 'काव्यालंकारसार' नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त सरल व सरस ग्रन्थ है।

काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेता नामक टीका, काव्यालंकार पर नेमि साधु कृत टीका तथा काव्यकल्पलता पर श्री अमरमुनि की टीका भी विशिष्ट कृतियों में मानी जाती हैं।

व्याकरण सम्बन्धी साहित्य

व्याकरण साहित्य की रचना करने वाले जैन आचार्यों व विद्वानों में 'जैनेन्द्र व्याकरण' के रचयिता आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद (ई. 413-455), जैनेन्द्र व्याकरण के परिवर्धित संस्करण के रूप में रचित 'शब्दार्णव' के रचयिता गुणनन्दी (10वीं शती), शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता सोमदेव (शक सं. 1127), जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दी (ई. 750), शाकटायन व्याकरण तथा अमोघवृत्ति के रचयिता आचार्य पत्यकोर्ति (शक सं. 736-789), 'क्रियारत्नसमुच्चय' के कर्ता श्री गुणरत्न (ई. 1343-1418), 'हैमशब्दानुशासन' के रचयिता श्री हेमचन्द्र (12वीं शती) तथा 'कातन्त्ररूपमाला' के रचयिता श्री भावसेन त्रैवेद्य (14वीं शती) के नाम उल्लेखनीय हैं।

गणित व ज्योतिष शास्त्र

गणित व ज्योतिष शास्त्र पर अनेक जैन आचार्यों व विद्वानों ने अपनी लेखनी उठायी और संस्कृत साहित्य को अनुपम देन दी। महावीराचार्य (ई. 850) कृत 'गणितसार संग्रह' व ज्योतिष पटल, श्रीधर (दसवीं शती का अन्तिम भाग) कृत 'गणितसार' व 'ज्योतिर्ज्ञानविधि', अज्ञातकर्तृक 'चन्द्रोन्मीलन', जिनसेनसूरि के पुत्र मल्लिषेण (ई. 1043) कृत 'आयसद्भाव', उदयप्रभदेव (ई. 1220) कृत 'आरम्भसिद्धि' (या व्यवहारचर्या), पद्मप्रभसूरि (वि. 1294) कृत 'भुवनदीपक', महेन्द्रसूरि (शक सं. 1292) कृत 'यन्त्रराज', हेमप्रभ (14वीं शती का प्रथम चरण) कृत 'त्रैलोक्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ अनुपम महत्त्व के हैं। भद्रबाहु के वचनों के आधार पर निर्मित भद्रबाहुसंहिता (6-9वीं शती के मध्य) भी जैन ज्योतिष साहित्य की विशिष्ट कृति है।

आधुनिक काल में भी जैनाचार्यों व जैन विद्वानों ने संस्कृत में साहित्य-रचना कर भारतीय वाङ्मय को समृद्ध किया है। आधुनिक समय के आचार्यों में आचार्य ज्ञान सागर जी व आचार्य विद्यासागर की प्रमुख कृतियाँ हैं—जयोदय, दयोदय, सुदर्शनोदय आदि

महाकाव्य (आचार्य ज्ञानसागर जी); श्रमण शतकम्, निरञ्जन शतकम्, भावनाशतकम्, परिषहजय शतकम्, सुनोति शतकम् आदि शतक (आचार्य विद्यासागर जी); वादोपनिषद्, शिक्षोपनिषद्, सत्त्वोपनिषद्, ऋषिभाषित सूत्रम्, हिंसाष्टकम्, कर्मसिद्धि, धर्मोपनिषद् आदि (आचार्य विजय हेमचन्द्रसूरि के शिष्य आचार्य विजय कल्याण बोधि सूरीश्वर; मणिभद्र महाकाव्यं, संवेगरतिः, स्मृति मंदिर प्रशस्ति काव्य, शुभाभिलाषा (मुनि प्रशमरति महाराज) इस प्रकार देश के प्रत्येक कोने में और प्रत्येक क्षेत्र की लोकभाषा में जैन आचार्यों व विद्वानों ने विपुल साहित्य की रचना की, जिससे वहाँ संस्कृत का प्रचार और सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात हुआ। भारतीय साहित्य और संस्कृति के अखण्ड, अविच्छिन्न प्रवाह और विकास व उसकी समस्त भिन्न-भिन्न धाराओं और उसके मूल स्रोत की एकता को समझकर भारतवर्ष की अखण्ड राष्ट्रीयता व संस्कृति की अनुभूति के लिए साहित्य के इस अक्षय-अपार भण्डार का व्यवस्थित अध्ययन न केवल आवश्यक, बल्कि सर्वथा अनिवार्य है। इसके बिना आज के स्वतन्त्र राष्ट्र, उसकी संस्कृति और अनेकविधि भाषाओं में हम उसकी वास्तविक एकता और अखण्डता के दर्शन नहीं कर सकते। जैन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से हमें इस देश की लोकसंस्कृति के विविध रूपों का परिचय प्राप्त होता है। तत्कालीन सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक व आर्थिक आदि स्थितियों का विशद चित्र हमारी आँखों के सामने स्पष्ट हो जाता है और अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का भी उद्घाटन होता है। अनेक विद्वानों ने जैन संस्कृत साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक स्वरूप का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। इस प्रकार जैन साहित्य-परम्परा सृजनात्मकता की दृष्टि से तो समृद्ध है ही, साहित्यिक व सांस्कृतिक इतिहास को जानने की दृष्टि से भी उपादेयता रखती है।

प्रमुख आधार-ग्रन्थ

1. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग-1-6), प्रकाशक: पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
2. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान (डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री), प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
3. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य (साध्वी संघमित्रा), प्रकाशक: जैन विश्वभारती प्रकाशन, लाडनूँ।
4. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (डॉ. हीरालाल जैन), प्रकाशक: मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल।
5. जैन न्याय का विकास (मुनि नथमल), प्रकाशक: जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
6. जैन न्याय (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री), प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

कन्नड़ जैन साहित्य

डॉ. एस. वी. सुजाता

कन्नड़ भाषा का उज्ज्वल इतिहास 2000 साल प्राचीन है। आज उसे शास्त्रीय भाषा की मान्यता प्राप्त हुई है। कन्नड़ भाषा दक्षिण भारत में प्रचलित द्राविड़ भाषा परिवार की एक प्राचीन व शिष्ट भाषा है। इसका प्राचीनतम लिखित रूप 450 ई. के शिलालेख में उपलब्ध है। कन्नड़ में लिखित वाङ्मय लगभग 6 सदी से आरम्भ हुआ है और आज तक अविरत धारा रूप में प्रवाहित चली आ रही है।

कन्नड़ भाषा के प्रयोग में समय-समय पर परिवर्तन होता आ रहा है। भाषाविदों ने उसे विविध चरणों में विभाजित किया है। हळगन्नड़ (पुराना कन्नड़) 6 से 10 वीं सदी तक, नडुगन्नड़ (मध्यकालीन) 11 से 15वीं सदी तक और 16वीं सदी से होसगन्नड़ (नया), 20वीं सदी में आधुनिक कन्नड़ (प्रस्तुत) लिपि ने ब्राह्मी लिपि से उद्गम होकर कई परिवर्तनों के बाद प्रस्तुत रूप धारण किया है।

कन्नड़ साहित्य का उद्गम ही जैन कवियों द्वारा हुआ है। जैन आचार्यों ने धर्म प्रसारण हेतु जहाँ-जहाँ बिहार किया वहाँ की देशी भाषाओं को अपनाया। जैन कवियों ने भी जैन तत्त्व, शास्त्र, महापुरुषों के चरित और अन्य विचारों पर सरस काव्यों और कृतियों की रचनाएँ की हैं। कन्नड़ वाङ्मय मन्दिर में अन्दर और बाहर के बहुतेक अमूल्य व आकर्षक प्रतिमाएँ जैन कृतियाँ ही हैं।

प्रौढ़ छन्द चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) से लेकर, गद्य और षट्पदी (6 पंक्तियों का छन्द), सांगत्य (4 पंक्तियों का छन्द) जैसे वर्णक (गायन योग्य और सुदीर्घ रचना के लिए प्रयोग किये जाने वाले) छन्द, आधुनिक समय में सरल गद्य, पद्य आदि साहित्यिक प्रकारों में जैन साहित्य की रचना होती आ रही है। जैन साहित्य के इतिहास में मुनियों, श्रावक, कवियों के अलावा महिलाओं और अजैन विद्वानों का योगदान उल्लेखनीय है। इस समृद्ध परम्परा की एक लेख में समीक्षा करना असम्भव है। तथापि विषय-वस्तु और साहित्यिक प्रकार के आधार पर कन्नड़ जैन साहित्य का स्थूल रूप से परिचय करने का प्रयास यहाँ किया गया है।

कन्नड़ में उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' है। 9वीं सदी में रचित इस ग्रन्थ का

रचयिता राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष नृपतुंग के आस्थानकवि श्रीविजय था, जो जैन था। कविराजमार्ग एक लाक्षणिक ग्रन्थ है, उसमें तत्कालीन और पूर्व के गद्य व पद्य कवियों के नाम और उनके काव्यों से चुने हुए कुछ लक्ष्य पद्य भी सम्मिलित हैं। उनमें से कुछ पद्य जैन रामायण व हरिवंश से चुने हुये हैं। इस ग्रन्थ में उल्लिखित दुर्विनीत, (गंगवंश के नरेश) तुंबलूरु आचार्य, सैगोट्ट शिवमार (गंग राजा) के नाम, काव्यों के नाम, कुछ पद्य उत्तरकालीन काव्यों में और शिलालेखों में भी मिलते हैं। गुणवर्म (I) ने शूद्रक व हरिवंश नामक दो काव्यों की रचना की थी; व हरिवंश 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित है।

साहित्यिक इतिहासकारों ने 9 से 12वीं सदी तक की अवधि को 'जैनयुग' मान लिया है। उस युग के पम्प-पोन और रत्न 'कवि रत्नत्रय' माने गये हैं। उनके नाम और काव्य के महत्त्व को उत्तरकालीन सभी जैन और कई अजैन कवियों ने अपने काव्यों के आरम्भ में गौरवपूर्वक स्मरण किये हैं।

अध्ययन की दृष्टि से कन्नड़ जैन वाङ्मय को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—सृजनशील और सृजनेतर। सृजनशील कृतियों में कथावस्तु, कवि की प्रतिभा, सरस शैली, शब्द कौशल की प्रधानता होती है। सृजनेतर वर्ग में तत्त्वशास्त्र, विज्ञान, गणित, आचार सम्बन्धी साहित्य तथा टीका ग्रन्थ, अध्ययन ग्रन्थ सम्मिलित होते हैं।

सृजनशील साहित्य में प्रमुख हैं—पुराण, चरिते और कथाग्रन्थ। जैन पुराणों के कुछ विशिष्ट लक्षण और अनन्यता इस प्रकार हैं—पाणिनि के अनुसार पुराण पुराने विचारों को बतलाने के कारण 'पुरा भवम्' है, फिर भी शाश्वत तत्त्वों की कहलाने के कारण नित्यनूतन है। पुराण अत्यन्त संकीर्ण वास्तविकता है। अतीत के चित्रण के साथ-साथ वे भविष्य को भी सूचित करते हैं। पुराण में इतिहास, ऐतिह्य, साहित्यिक सरसता सम्मिलित है। प्रत्येक कृति में कुछ अंश प्रधान दिखाई देता है। भारतीय पुराणों में धार्मिक परिवेष, साहित्यिक गुणों का आधिक्य होता है। सृष्टि, प्रकृति के नियम, मानव की साधना, उसकी जय-पराजय, ये सब पुराणों के विषय हैं। धरती, आकाश, काल, जीवियाँ ये सब पुराणों के पात्र हैं। इतिहास, भूगोळ, खगोळ, कालगणना, जीवविकास क्रम, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि का विवरण किया जाता है।

ये लक्षण कन्नड़ जैन पुराणों में भी दिखाई देते हैं। यहाँ मानव व उसकी साधना केन्द्र-वस्तु है। मानव जीवन का उतार-चढ़ाव, आत्मा का रत्नत्रय पथ में प्रयाण, कर्म-निर्जरा तथा उनसे मुक्ति प्राप्ति करने का दिव्य सन्देश इन काव्यों में मिलता है। पुराणों के नायक तीर्थंकर, शलाकापुरुष होते हैं। कथानक के साथ-साथ धर्म तत्त्व का विस्तृत विवरण भी किया जाता है।

काल व लोक वर्णन से जैन पुराणों का आरम्भ होता है। कुलकर, समवसरण मंडप, अणुव्रत-महाव्रत, तप-ध्यान, पंचकल्याणक, अनुप्रेक्षा का सन्दर्भानुसार विवरण किया जाता है। जिनसेनाचार्य (9वीं सदी) अपने महापुराण में पुराणों के 8 अवयव होना

आवश्यक मानते हैं—लोक, देश, पुर, राज्य, तीर्थ, तप, गति व फल।

कन्नड़ जैन पुराणकर्ताओं को प्राकृत व संस्कृत पुराणों से प्रेरणा मिली। एक लौकिक और एक धार्मिक काव्य लिखने को यह प्रथा, आगे के जैन कवियों द्वारा जारी रखी गयी। लौकिक काव्य में, अपने आश्रयदाता को काव्य के नायक के साथ समीकरण करके काव्य लिखने को परम्परा, आदिकवि पम्प से लेकर बहुतेक जैन कवियों ने अपनाई है।

कन्नड़ कवियों ने 9वीं से 11वीं सदी तक हळगन्नड़ के चम्पू छन्द में तीर्थंकरों के पुराण रचे। काव्यों में उन्होंने पुराणों के बारे में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। पम्प कवि के अनुसार पुराण को रचना व पठन कर्मनिर्जरा और पुण्यप्राप्ति का कारण है —

पेसर्गोडिंद्रनरेंद्रवंधननोरल्देतानुमोरोमें चि
तिसिद्रोंग पवणिल्लं पुण्यमेने पूण्दोळ्पिंदमोरंते भा
विसि तां तन्मयनागि तच्चरितमं काव्यंगळोळ्कूडे बं
णिसिपेळ् दातन कर्मनिर्जरेयनंतितुंतेनल् बर्कुमे ॥1-37 ॥

(आदिपुराण)

[इन्द्र, नेन्द्रों से वन्दित जिनेश्वर को एक बार स्मरण करने वाले को अगणित पुण्य प्राप्त होता है, तो जिनेश्वर के चरित को काव्य रूप में बताने वाले के तो पूर्ण रूप से कर्म निर्जरा होती है]

कवि जन्म के अनुसार पुराण 'अरुहन मूर्तियंते निराभरण' [अर्हन्त को मूर्ति को तरह निरलंकृत] और 'बाळबट्टेय परमागम' [जीवन पथ का अन्तिम चरण]।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुराण को कन्नड़ के आदिकवि व महाकवि पम्प ने 941 ई. में रचा है। आदिपुराण के 16 आशवासों (अध्यायों) में ऋषभनाथ के 10 पूर्वभवों के कथानक, तीर्थंकर भव के पाँचों कल्याणकों का सरस चित्रण है। तत्त्व, कालविचार, कुलकरोँ का वर्णन, स्वर्गों का वर्णन आदि शास्त्रानुसार है। ललितांग व स्वयम्भ्रा के प्रेम, विरह, वज्रजंघ-श्रीमति का सहमरण, ऋषभनाथ के जन्माभिषेक इत्यादि का वर्णन रसपूर्ण शैली में किया गया है। नीलांजना नृत्य और ऋषभनाथ के वैराग्योदय का प्रसंग तो, कन्नड़ साहित्य में कलात्मक व अविस्मरणीय माना गया है।

भरत और बाहुबलि के उपाख्यान में भरत का गर्व, बाहुबलि का अभिमान, दोनों का आमना-सामना, बाहुबलि का मनःपरिवर्तन अत्यन्त नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तीन प्रकार के धर्मयुद्ध में बाहुबलि से पराजित होकर भरत चक्ररत्न को बाहुबलि पर प्रयोग करता है। चक्ररत्न बाहुबलि को प्रदक्षिणा करके उसके पास खड़ा हो जाता है। तब शरम से सिर झुकाकर खड़े हुये भरत को सम्बोधित करके बाहुबलि कहता है—

नेलसुगे निन्न वक्षदोळे निश्चलमीभटखड्गामंद्लो
त्पलवनविभ्रम भ्रमरियप्प मनोहरि राज्यलक्षि भू

वलयमनय्यनितुद्रुमनां निनगितेन्द्रेनुदण्ण नी
नीलिद लतांगिगं धरेगमाटिसिदंदु नेगळ्ते मासदे ॥

आदिपुराण -14-128

[सैनिकों की तलवारों में विहार करने वाली राजलक्ष्मी तुम्हारी छाती में शाश्वत रूप से खड़ी रहे। इस राज्य को पिताश्री ने मुझे दिया था। मैं उसे तुम्हें दे रहा हूँ। तुम्हारी पत्नी व राज्य को अगर चाहा तो क्या मेरे यश पर कलंक नहीं लगेगा?]

पम्प के बाद कवि हस्तिमल्ल ने 'पूर्वपुराण' (गद्य-1250 ई.), शान्तकीर्ति ने 'पुरुदेवचरित' (सांगत्य-1725 ई.) बोरमण्ण ने 'आदिपरमेश्वर चरित' (यक्षगान-1750 ई.), वर्धमान पंडित ने 'पुरुदेव चरित' (गद्य-1888 ई.) काव्यों में ऋषभनाथ के चरित चित्रित किये हैं।

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के चरित का चित्रण कवि रत्न (993 ई.) के 'अजित तीर्थंकर पुराण तिलक' काव्य में किया गया है। काव्य में सगर चक्रवर्ती का कथानक अत्यन्त आकर्षक रूप में किया गया है।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के चरित का चित्रण कवि अगळ ने 'चन्द्रप्रभ पुराण' में, (चम्पू-1210 ई.) कवि दोड्डय्य ने 'चन्द्रप्रभ चरिते' में (सांगत्य-1550 ई.) तथा नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्त के चरित का चित्रण दूसरे गुणवर्म ने 'पुष्पदन्त पुराण' (चम्पू-1200 ई.) में किया है।

14वें तीर्थंकर अनन्तनाथ के चरित को कविचक्रवर्ति जन्न ने 'अनन्तनाथ पुराण' (चम्पू 1230 ई.) में प्रस्तुत किया है। 14 आशवासों में विभाजित काव्य में वसुधेन और सुनन्दा का उपाख्यान शृंगार व करुण रसपूर्ण होकर अत्यन्त जनप्रिय है।

15वें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित चित्रण बाहुबलि पंडित के चम्पूकाव्य 'धर्मनाथ पुराण' (1352 ई.) और मधुर कवि की कृति में किया गया है।

16वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित कविचक्रवर्ति पोन्न के 'शान्तिपुराण' (चम्पू-10वीं सदी) में चित्रित है। इसमें तीर्थंकर के 12 पूर्व भवों का वर्णन किया गया है। इस काव्य का चारित्रिक दृष्टि से भी महत्त्व है। दानचिन्तामणि अत्तिमब्बे के पिता मल्लपय्य और चाचा पुन्नमय्य के बारे में विवर प्रस्तावित है। 1235 में कमल भव द्वारा रचित 'शान्तीश्वर पुराण' (चम्पू) और शान्तकीर्ति मुनि के 'शान्तीश्वर चरिते' (सांगत्य 1732 ई.) में भी भगवान शान्तिनाथ का चरित उपलब्ध है।

अभिनव पम्प के नाम से प्रख्यात कवि नागचन्द्र ने (1100 ई.) 'मल्लिनाथ पुराण' में 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का चरित्र चित्रण किया है। इस काव्य में कवि ने शान्तरस का उल्लेख करके सभी जैन पुराणों के अंतःस्रोत को शब्द रूप से अभिव्यक्त किया है —

निनगे रसमोदे शांतमे

जिनेन्द्र मनया रसांबुनिधियोळगा

हनुमिर्तु मिवक्क रसमं

कनसिनोळं नेनेयदंतु माडेनगरुहा

(मल्लिनाथ पुराण-10-112)

(अर्हन्, आप तो केवल शान्तरस का ही प्रतिरूप हैं अतः आप मुझ पर यह अनुग्रह करें कि मैं उस रस के अलावा किसी अन्य रस के बारे में सपने में भी न सोचूँ)

22वें तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित चित्रण करने वाले 8 काव्य हैं। गुणवर्म I का 'हरिवंश' (900 ई. अनुपलब्ध), कर्णपार्थ का 'नेमिनाथ पुराण' (1160 ई. चम्पू) नेमिचन्द्र का 'नेमिनाथ पुराण' (1200 ई. चम्पू), बन्धुवर्म का 'हरिवंशाभ्युदय' (1200 ई. चम्पू), महाबल का नेमिनाथ पुराण (1254 ई.-चम्पू), तीसरे मंगरस का 'नेमिजिनेश संगति' (1510 ई.-सांगत्य), साळव का 'साळवभारत' (16वीं सदी षट्पदि) चन्द्रसागरवर्णि का 'जिनभारत' (19वीं सदी-षट्पदि)।

इन काव्यों में नेमिनाथ के चरित के साथ वासुदेव कृष्ण और पांडवों के कथानक भी महत्वपूर्ण हैं। प्रद्युम्न का उपाख्यान भी सरस ढंग से चित्रित है।

23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित चित्रण करने वाले काव्यों में मरुभूति-कमठ की कथा अविस्मरणीय है। 1222 ई. में पार्श्वपंडित ने 'पार्श्वनाथ पुराण' (चम्पू), 1722 में शान्तकीर्ति मुनि ने 'पार्श्वनाथ चरिते' (सांगत्य) रचे हैं।

24वें तीर्थंकर वर्धमान के चरित को कन्नड़ कवियों ने आदरपूर्वक चित्रित किया है। दूसरे नागवर्म ने 1041 ई. में 'वर्धमान पुराण' (चम्पू), आचरण ने 1200 ई. में 'वर्धमान पुराण' (चम्पू), पद्मकवि ने 1528 ई. में 'वर्धमान चरिते' (सांगत्य), जिनसेन देशव्रति ने 17वीं में 'वर्धमान पुराण' (सांगत्य) काव्यों में वर्धमान के पूर्वभवों का विस्तृत चित्रण और महावीर भव के पंचकल्याणों का चित्रण सुचारु रूप से किया है।

अन्य शलाकापुरुषों कामदेव और आसन्नभष्य श्रावकों के चरित चित्रण करने वाले 30 से अधिक चरित काव्य प्रकाशित हैं। सैकड़ों काव्य पांडुलिपि के रूप में संरक्षित हैं। प्रकाशित कृतियों में 'नागकुमार चरिते' (कल्याणकीर्ति-1445, बाहुबलि-1590, बोम्मण-1760, चन्द्रसागरवर्णि-1814) 'जीवन्धर चरिते' (भास्कर-1425, तेरकणांबि बोम्मरस-1485) 'यशोधर चरिते' (जन्न-1230; पिरियनेमण्ण-16वीं सदी, पद्मनाथ-16वीं सदी) 'सुकुमार चरिते' (शान्तिनाथ-1070), 'सनत्कुमार चरिते' (तेरकणांबि बोम्मरस-1485, पायणमुनि-1610) 'श्रीपाल चरिते' (तीसरे मंगरस-1510, इन्द्रदेवरस-1700), 'भुजबलि चरिते' (पंचबाण-1614) 'गोमटेश्वर चरिते' (अनन्त-1784, चदुर चन्द्रम-1646) साहित्यिक गुणों से भरे हुए हैं। कुछ काव्यों में ऐतिहासिक विवर भी सम्मिलित हैं। जीवन्धर चरिते में यह उल्लेख मिलता है कि जब महावीर तीर्थंकर का समवसरण महिषमंडल में आया था। तब वहाँ के राजा जीवन्धर ने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। महिषमंडल आज के कर्नाटक (मैसूर) का पुराना नाम है। निंबसामंत चरिते का नायक

निंब राष्ट्रकूट सम्राट का सामन्त था। गोमटेश्वर चरितों में श्रवणबेळगोळ और कार्कल में गोमटेश्वर मूर्तियों की प्रतिष्ठा का सविवर चित्रण मिलता है। पद्मनाथ कवि विरचित 'जिनदत्तराय चरिते' (1680 ई.) में कनारटक के प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र हुंचा (शिमोगा जिला) के राजवंशों का इतिहास और माता पद्मावति यक्षी की महिमा का वर्णन है। सभी चरित ग्रन्थों में तत्कालीन समाज की भाषा, आचरण, सामाजिक व्यवस्था, विवाह पद्धति, शिक्षण आदि से सम्बन्धित उपयुक्त विवरण मिलते हैं।

जैन परम्परा के रामायण ग्रन्थों में नागचन्द्र का 'रामचन्द्रचरित पुराण' (1100 ई.-चम्पू), परम्परामायण के नाम से प्रसिद्ध है। काव्य में रावण के उदात्त व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है। काव्य समीक्षक उसे उदात्त रावण, दुरन्त रावण मानते हैं। कुमुदेन्दु कवि का कुमुदेन्दु रामायण (1275 ई.) षट्पदि छन्द में लिखा गया है। देवम्प कवि का 'रामविजय' 1525 में, देवचन्द्र का 'रामकथावतार' 1800 ई. में रचित है। चन्द्रसागरवर्णि, शिशुमार्ग ने भी रामकथा काव्य रचे हैं।

जैन परम्परा के महाभारत कथाओं में साळ्व कवि का 'जिन भारत' प्रसिद्ध है।

ब्रह्मशिव की 'समयपरीक्षा' (1150 ई.), वृत्तविलास की 'धर्मपरीक्षा' (1350 ई.) विडम्बनात्मक साहित्य के निदर्शन हैं। मल्लिकार्जुन का 'सूक्तिसुधारणव', अभिनववादि विद्यानन्द का 'काव्यसार' (1550 ई.) प्राचीन काव्य कृतियों से चुने हुये पद्यों के संकलन हैं।

छन्द की दृष्टि से भी जैन साहित्यकारों की देन वैविध्यपूर्ण है। जैनधर्म की प्रभावना हेतु जनभाषा प्रयोग करने की परम्परा महावीर तीर्थंकर के समय से ही जारी है। कन्नड़ साहित्य के इतिहास से प्रतीत होता है कि कन्नड़ कवि भी तत्कालीन लोक की निकटतम वस्तु, भाषा, शैली व छन्द का प्रयोग करते आये हैं। चम्पू छन्द में रचित कन्नड़ काव्यों में अन्य धर्म की तुलना में जैन कवियों और काव्यों की संख्या अधिक है। लगभग 37 कवियों द्वारा विरचित जैन काव्यों की संख्या करीब 50 है। सांगत्य छन्द के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि 100 से अधिक कवियों द्वारा 140 से अधिक काव्य रचे गये हैं। लगभग 11 शतक उपलब्ध हैं, जिनमें रत्नाकर के रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक व त्रिलोक शतक अत्यन्त जनप्रिय हैं। इसके अलावा यक्षगान (संगीतमय नाट्यरूप) आदि साहित्यिक प्रकारों में भी कृतियों की रचना की गयी। पंचवाण के गीत, चन्दणवर्णि का कन्दर्पकोरवलि, देवचन्द्र का पद्मावति यक्षगान उल्लेखनीय है। भाषा की दृष्टि से कन्नड़ जैन कवियों ने शिष्ट व प्रौढ़ भाषा के प्रयोग के साथ उचित मात्रा में देशी शैली को भी अपनाया है। 13वीं सदी के कवि आंड्य्या का स्थान अनन्य है। उसने अपने 'कब्बिगर काव' में संस्कृत शब्दों के प्रयोग किये बिना, केवल कन्नड़ शब्दों से ही पूर्ण काव्य की रचना की है।

कई कन्नड़ कवियों ने शिलालेखों की भी रचना की है। रत्न कवि का 'लक्कुंडि

शासन', बोप्पण का 'गोम्मटस्तुति' सरस कविताएँ हैं।

अनुपमरूपने स्मरनुदग्रवे निर्जितचक्रि मनुदा

रने नेरे गेल्लुमिन्नखिल्लोर्वियन्त्यभिमानिये तप

स्थनुमेरडंघ्रितिल्लेयोळिर्दपुदेबननून

बोधने विनिहतकर्यबंधनेने बाहुबलीशनिदेनुदात्तनो ॥

(गोम्मटस्तुति)

[क्या बाहुबलि सुन्दर है? वह तो कामदेव है, क्या पराक्रमी है? उसने चक्रवर्ति को हराया। क्या वह उदार है? विजयी होकर भी अपने सारे राज्य को भाई को सौंप दिया। क्या वह अत्यन्त अभिमानी है? तप करते हुए उसने सोचा कि भाई को दी हुई भूमि पर दो पैर रखे हैं। क्या वह स्व-बोध है? कर्मबन्ध से मुक्त हुआ। ऐसा बाहुबलि कितना उदात्त है]

जैन, नागचन्द्र, पार्श्वपंडित जैसे प्रसिद्ध कवियों ने भी शिलालेख लिखे हैं। कुछ जैनकाव्यों से चुने हुए पद्य, शिलालेखों में उल्लिखित हैं।

कन्नड़ गद्य-प्रकार में भी जैन कृतिकारों की देन मौलिक है। कन्नड़ की उपलब्ध प्रथम गद्यकृति 'बोड्डाराधना' (890 ई.) जैन कथाकोश है। 10वीं शताब्दी के गंगसेनानी चामुंडराय कृत 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' में 63 शलाकापुरुषों का चरित चित्रित है। यह कन्नड़ में रचित एकैक महापुराण है। गद्यकृतियों में 12वीं सदी के हस्तिमल्ल का 'पूर्वपुराण', 19वीं सदी के देवचन्द्र का 'राजावली' उल्लेखनीय हैं।

कथा प्रकार के पोषण में भी कन्नड़ जैन कवियों की देन गणनीय है। नयसेन का 'धर्मावृत' (1100 ई.) प्रसिद्ध कथाकोश है, जिसमें देसी भाषा का प्रयोग विशिष्ट है। नागराज का 'पुण्यास्रव' (1350 ई.) और तीसरे मंगरस का 'सम्यक्त्व कौमुदी' (1510 ई.) आकर्षक व बोधप्रद कथाओं का संकलन है।

जैन दर्शन व सिद्धान्त के बारे में रचित कन्नड़ ग्रन्थों में माघण्दि आचार्य का 'पदार्थसार' (1260 ई.) 30 परिच्छेदों में विभाजित है। करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, रत्नत्रय, सप्तभंगी, 14 गुणस्थान आदि तत्त्वों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस ग्रन्थ के पठन व मनन द्वारा प्रत्येक आत्मा भेदविज्ञान को ज्ञान प्राप्त करके, 18 दोषों को नष्ट करके परमात्मा बनने हेतु प्रयत्न करने का दिव्य सन्देश है। बन्धुवर्म के 'जीवसम्बोधन' (1260 ई.) में 12 अनुप्रेक्षाओं का सविस्तार विवेचन के साथ उपबन्ध के रूप में कथाएँ भी दी गयी हैं। आयतवर्म विरचित 'श्रावकाचार' (1400 ई.) और विजयण्ण के 'द्वादशानुप्रेसे' कृतियों में तत्त्वों का पूर्ण परिचय मिलता है।

कन्नड़ के शब्दकोश, काव्यशास्त्र, व्याकरण सम्बन्धी बहुतेक कृतियों के कर्ता जैन ही हैं। 10वीं शताब्दी के रन्न का 'रन्नकन्द', 12वीं शताब्दी के दूसरे गुणवर्ण का

‘छन्दोविचिति’, 1330 ई. के केशीराज का ‘शब्दमणिदर्पण’, 17वीं शताब्दी के भट्टाकळंक का ‘शब्दानुशासन’, गुणचन्द्र का ‘छन्दसार’ भाषाविज्ञान सम्बन्धी कृतियाँ हैं। इनके अलावा जैन कवियों द्वारा विरचित विज्ञान, गणित, वैद्य आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित कई कृतियाँ उपलब्ध हैं। सैगोट्ट शिवमार का ‘गजाष्टक’, तीसरे मंगरस का ‘सूपशास्त्र’, साळ्व कवि का ‘वैद्यसांगत्य’, चन्द्रम का ‘गणितसार’, पद्मण्ण पंडित का ‘हयसार’, आदि महत्त्वपूर्ण माने गए हैं। 11वीं शताब्दी के श्रीधराचार्य द्वारा रचित ‘जातकतिलक’ कन्नड़ का प्रथम ज्योतिषग्रन्थ है। दूसरे नागवर्ण के ‘शब्दस्मृति’, ‘भाषाभूषण’, ‘काव्यावलोकन’, ‘वस्तुकोश’, छन्दोविचित कन्नड़ काव्य व्यासंग के सहायक व्याकरण, अलंकार, छन्द से सम्बन्धित हैं। शास्त्र पांडित्य, संकलनकौशल, प्रयोग नैपुण्य के साथ सूक्ष्म रसग्रहण शक्ति, समन्वय दृष्टिकोण से युक्त ये कृतियाँ महत्त्वपूर्ण मानी गयी हैं।

आधुनिक युग में 20वीं सदी के कन्नड़ साहित्य ने पाश्चिमात्य साहित्य के प्रभाव से नया रूप धारण कर लिया। इस युग में भी जैन लेखकों व विद्वानों की सभी साहित्यिक प्रकारों में देन उल्लेखनीय है। सृजनशील साहित्य के दो जनप्रिय प्रकार हैं — उपन्यास व कथा (कहानी)। मिर्जि अण्णराय, जि. ब्रह्मप्पा आदि लेखकों ने जैन महापुरुषों के कथानक के साथ-साथ सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की है। चामुंडराय, खारबेल, दानचिन्तामणि, रत्नाकर आदि के उपन्यास प्रसिद्ध ऐतिहासिक जैन साधकों से कन्नड़ वाचकों को परिचित कराते हैं। आचार्यों व अन्य धार्मिक व्यक्तियों का जीवन चित्रण ‘चारित्र चक्रवर्ति’ आदि कृतियों में किया गया है।

प्राचीन कन्नड़ काव्यों को शास्त्रीय विधान में सम्पादित करके कई विद्वानों ने जैन साहित्य परम्परा को संरक्षित किया है। पंडितरत्न ए. शान्तिराजशास्त्री ने बाहुबलि का ‘नागकुमार चरित’, तीसरे मंगरस का ‘नेमिजिनेश संगति’ जैसे काव्यों का सम्पादन करके मौलिक प्रस्तावना लिखी है। डॉ. हं. प. नागराजय्या ने ‘साळ्व भारत’, ‘धन्यकुमार चरित’, ‘शान्तिपुराण’, ‘नागकुमार षट्पदि’, चन्द्रसागरवर्णि के काव्यों को सम्पादित किया है। डॉ. एम. ए. जयचन्द्र ने इन्द्रदेवरस विरचित ‘श्रीपालचरित’, अज्ञात कवयित्री विरचित ‘चन्दनांबिकेय कथे’ आदि काव्यों को सम्पादित किया है। सुकुमार चरिते का संग्रह, चामुंडराय पुराण, भरतेश वैभव आदि काव्यों का सम्पादन डॉ. कमला हेपना द्वारा हुआ है। पंडित प. नागराजय्या ने जीवन्धर चरितेय संग्रह, अजितपुराण संग्रह आदि कृतियों की रचना की है।

भाषान्तर क्षेत्र में इस युग में गणनीय साधना दिखायी देती है। पंडितरत्न ए. शान्तिराजशास्त्री द्वारा जिनसेनाचार्य के महापुराण (संस्कृत) अमितगति के धर्मपरीक्षा (संस्कृत) नेमिचन्द्राचार्य के द्रव्यसंग्रह (प्राकृत), मिर्जि अण्णराय द्वारा समयसार (प्राकृत), रत्नकरंडक श्रावकाचार (संस्कृत) भारतीय संस्कृति के जैनधर्मद कोडुगे (हिन्दी), रविषेण रामायण (संस्कृत), भुवनहळ्ळि डि. पद्मनाभशर्म द्वारा सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत),

कुन्दकुन्दाचार्य के सभी ग्रन्थ (प्राकृत), छहदाला (हिन्दी), एम. सी. पद्मनाभशर्म द्वारा गोम्मतसार (प्राकृत), यशस्तिलक चम्पू (संस्कृत), पंडित सुब्बय्य शास्त्री द्वारा षट्खंडागम के पहले दो भाग, एस्. बि. बसंतराजय्या द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य के अष्टपाहुड़, योगीन्दु कृत योगसार भाषान्तरित हुए हैं। डॉ. जयचन्द्र ने आरामसोहा कहा (प्राकृत) छक्कंडागम लेहण कथा (हिन्दी) आदि कृतियों का भाषान्तर किया है। राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व संशोधन संस्था द्वारा धवला ग्रन्थ के सभी सम्पुट व चुने हुए धवलेतर कृतियों का भाषान्तर हो रहा है। धवलेतर कृतियों की शृंखला में डॉ. एस. वि. सुजाता द्वारा पुष्पदन्त कवि का तिसट्टि महापुरिस, गुणालंकार का अनंतनाथ पुराण कन्नड़ रूप में प्रकाशित है। उन्हीं के द्वारा भाषान्तरित 'अमेरिकादल्लि जैनधर्म' (मूल अंग्रेजी डॉ. भुवनेन्द्रकुमार) अमेरिका में जैन समाज का निकट चित्रण है। श्रीमति कौसल्या धरणेन्द्रय्य ने मरणकंडिका का कन्नड़ अनुवाद किया है।

विद्वानों द्वारा जैन वाङ्मय सम्बन्धी अध्ययन ग्रन्थों एवं सान्दर्भिक ग्रन्थों की रचना अविरत हो रही है। पंडित भुजबलि शास्त्रि द्वारा रचित कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय सूचि (पांडुलिपि), आदर्श साहित्यगळु, आदर्श जैन वीररु, आदर्श जैन महिळेरु उपयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ हैं। उन्होंने पम्पयुग के जैन कवि आदि कृतियों की हिन्दी में रचना करके हिन्दी भाषिक विद्वानों को कन्नड़ वाङ्मय का परिचय कराया है। डॉ. एम. डी. वसन्तराज ने 'जैनागम इतिहास दीपिके' में आगम का उद्गम, लिपिबद्ध होने का इतिहास सविस्तर चित्रण किया है।

जैन तत्त्व व ग्रन्थों पर अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत डाक्टरेट निबन्ध प्रकाशित हुये हैं। डॉ. टि. वि. वेंकटाचल शास्त्रि के 'कन्नड़ नेमिनाथ पुराणगळु-ऑंदु तौलविक अध्ययन', डॉ. राजशेखर इच्चिंगे के 'पार्श्वनाथ पुराणगळु-ऑंदु तौलविक अध्ययन', डॉ. एम. ए. जयचन्द्र के 'प्राचीन कन्नड़ जैन साहित्यदल्लि जानपद कयेगळु-ऑंदु अध्ययन', डॉ. पद्मा शेखर के 'कन्नड़दल्लि जीवन्थर साहित्य' डॉ. एस. पि. पद्मप्रसाद के 'जैन जनपद साहित्य-ऑंदु अध्ययन' आदि, इनके अलावा विविध विषयों पर अध्ययन ग्रन्थ भी प्रकाशित हुये हैं। कुछ और प्रमुख कृतियाँ हैं। डॉ. हं. प. नागराजय्या के 'यक्ष-यक्षियरु', 'होबुजद शासनगळु', डॉ. अप्पण्ण हंजे के 'धारवाड़ परिसरदल्लि जैनधर्म' आदि।

जैन महिलाओं द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में की गयी साधना भी उल्लेखनीय है। डॉ. कमला हंपना द्वारा प्राचीन कन्नड़ काव्यों का सम्पादन के अलावा जैन साहित्य परिसर आदर्श जैन महिळेरु जैसे अध्ययन ग्रन्थों की रचना हुयी है। डॉ. सरस्वति विजयकुमार के पी-एच. डी. निबन्ध 'आदिपुराणगळ तौलनिक अध्ययन' में संस्कृत, कन्नड़ आदिपुराणों की समीक्षा की गयी है। जि. एस. बसंतमाला लोक गीतों के संकलन व अध्ययन के साथ बच्चों के लिए धार्मिक कहानियाँ लिखने में प्रसिद्ध है। डॉ. पद्मावतय्या ने

अमोघवर्ष के 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' और महावीराचार्य के 'गणितसार संग्रह' कृतियों का कन्नड़ अनुवाद किया है। डॉ. एस. वि. सुजाता हिन्दी, अँग्रेजी, प्राकृत कृतियों का कन्नड़ अनुवाद करने में निरत हैं।

जैनेतर विद्वानों द्वारा भी काफी मात्रा में जैन साहित्य का सम्पादन व अध्ययन किया गया है। प्रो. के. जि. कुन्दणगार, प्रो. मरियप्प भट्ट, जि. पि. राजरत्नं, म. प्र. पूजार, डॉ. टि. वि. वेंकटाचल शास्त्रि, डॉ. बि. वि. शिखर, डॉ. बि. एस. कुलकर्णि, प्रो. टि. एस. केशव भट्ट, एल. गुंडप्प, बि. एस. सण्णय्य, डॉ. वाई. सि. भानुमति, डॉ. एल. बसवराजु, डॉ. पि. वि. नारायण, डॉ. जि. जि. मंजुवायन, डॉ. एम. सि. चिदानन्दमूर्ति, डॉ. एम. एम. कलबुर्गि आदि विद्वानों ने कन्नड़ जैन काव्यों का सम्पादन, होसगन्नड़ रूपान्तर, विश्लेषणात्मक लेख, संशोधन इत्यादि क्षेत्र में गणनीय कार्य किया है।

कन्नड़ जैन वाङ्मय की धारा सतत बहती आयी है विस्तार और गुणवत्ता दोनों इसमें सम्मिलित हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कन्नड़ साहित्य चरित्रे —डॉ. रं. ग्री. मुगळि : गीता बुक हाउस, बेंगलूर, 1998
2. सामान्यनिगे साहित्य चरित्रे—सं 4-चम्पू कविगळु—डॉ. पि. वि. नारायण, सं 9 सं डॉ. हं. प. नागराजय्य : प्रसारांग बेंगलूर विश्वविद्यालय, 2000
3. कन्नड़ सांगत्य साहित्य : डॉ. वीरण्ण राजूर, 1975
4. कन्नड़ साहित्यके जैन कविगळ कोडुगे —मूलहिन्दी पं. के. भुजबलि शास्त्रि कन्नड़ अनु. एस. मि. पाटील : विवेकोदय ग्रन्थमाला, 1974
5. आधुनिक कन्नड़ जैन लेखकरु—सं. डॉ. एस. मि. पाटील : कन्नड़ जैन साहित्य सम्मेलन, श्रवणबेळगोळ, 2005
6. पम्प कविय आदिपुराण—सं. एवं अनु. के. एल. नरसिंहशास्त्रि : कन्नड़ साहित्य परिषत्तु, बेंगलूर, 1980
7. कन्नड़ आदितीर्थकर चरितेगळु—डॉ. सरस्वति विजयकुमार : सवि प्रकाशन, मैसूर, 1994
8. कन्नड़ साहित्यदल्लि पुराणप्रज्ञे—डॉ. के. एल. गोपालकृष्णय्य : कन्नड़ साहित्य परिषत्तु, 1988

तमिल जैन साहित्य

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

दक्षिण भारत में जैनधर्म की पूर्व स्थिति को जानने के लिए हमें मुख्य रूप से तमिल साहित्य का ही आश्रय लेना होता है।

‘कुरल’ के तत्काल बाद का समय प्राचीन तमिल साहित्य की समृद्धि का समय है, जिसका निर्माण मुख्य रूप से जैनों के संरक्षण में हुआ है। इस काल को ‘तमिल साहित्य का उच्चतम काल’ कहते हैं। यह काल बौद्धिक दृष्टि से जैनों के प्राबल्य का काल है; राजनीतिक दृष्टि से नहीं। इसी काल के अन्तर्गत ईसा की दूसरी शताब्दी में तमिल का प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘शिलप्पदिकारम्’ रचा गया। इसका रचयिता ल्लंगोवाडिगल् था। वह चेर राजकुमार शेगोंट्टवन का भाई था और सम्भवतया जैनधर्म का अनुयायी भी। ‘शिलप्पदिकारम्’ तथा ‘मणिमेखलै’ में तत्कालीन द्रविड़ संस्कृति को स्पष्ट देखा जा सकता है। उस समय वहाँ पूर्ण धार्मिक सहनशीलता थी और जैनधर्म का प्रवेश राजधरानों तक में हो चुका था।

इस काव्य में वर्णित जैन आचार-विचारों से तथा जैन विद्या केन्द्रों के उल्लेखों से पाठक के मन पर निस्सन्देह यह प्रभाव पड़ता है कि द्रविड़ों का बहुभाग जैनधर्म को अपनाये हुए था और उनकी संख्या बराबर बढ़ रही थी।

ईसा की दूसरी शताब्दी जैन इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस शताब्दी में जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ। इसका कारण कुन्दकुन्द जैसे महान् जैनाचार्यों का प्रादुर्भाव तथा कर्नाटक में गंगों का राज्य था। गंगवंश में गंगवाड़ी पर दूसरी शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक लगभग नौ सौ वर्ष राज्य किया। वह वंश जैनधर्म का महान् संरक्षक था।

श्री आर्यंग ने ‘पेरिय पुराणम्’ के कर्नाटक राजा को कलभ्र प्रमाणित किया है और आगे लिखा है कि ‘पेरिय पुराण’ के अनुसार कलभ्रों ने जैनधर्म को अपनाया और जैनों से, जिनकी संख्या अगण्य थी, बड़े प्रभावित हुए। कहा जाता है कि तमिल प्रदेश में जैनधर्म को और भी अधिक दृढ़ता से स्थापित करने के लिए जैनों ने स्वयं कलभ्रों को आमन्त्रित किया था। अतः कलभ्रों का तथा उनके बाद के समय को जैनों की शक्ति-सम्पन्नता का मध्याह्नकाल कहा जाता है। इसी समय में जैनों ने प्रसिद्ध ‘नालदियार’

ग्रन्थ की रचना की। 'नालदियार' में मुद्दुरय्यार के दो उल्लेख हैं, जिनमें बतलाया गया है कि कलभ्र जैन हैं और तमिल साहित्य के संरक्षक हैं।

तमिल साहित्य को जैनों की देन तमिल साहित्य के भण्डार की बहुमूल्य सम्पत्ति है। तमिल भाषा में पाये जाने वाले संस्कृत यौगिक शब्दों का बहुभाग जैनों का ऋणी है। उन्होंने जो शब्द संस्कृत से लिये, तमिलभाषा के स्वरसम्बन्धी नियमों के अनुसार उन्हें परिवर्तित कर दिया। जैन तमिल साहित्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि कुछ उच्चकोटि के ग्रन्थों में, उदाहरण के लिए 'कुरल' और 'नालडियार' में किसी विशेष धर्म और देवता का निर्देश नहीं है। केवल तमिल साहित्य ही नहीं, कर्नाटक साहित्य का बहुभाग भी जैनों का ऋणी है। यथार्थ में वे इनके मूल उत्पादक हैं।

जैनों की दूसरी बहुमूल्य देन है—अहिंसा। जैनों की अहिंसा के ही प्रभाव के कारण वैदिक यज्ञों में होने वाली हिंसा पूर्णतया वन्द हो गयी और यज्ञ में पशु के स्थान पर आटे से बनाए गये पशु का उपयोग किया जाने लगा। इस विषय में तमिल कवियों ने जैनों से प्रेरणा ग्रहण की और अतिशय घृणा दर्शाने के लिए तमिल साहित्य से उद्धरण दिए गये; क्योंकि द्रविड़ों का बहुभाग मांसभक्षी था।

दक्षिण भारत में बृहत् परिमाण में मूर्तिपूजा और मन्दिरों का निर्माण भी जैन प्रभाव की देन है। जैन लोग अपने तीर्थकरों की मूर्तियाँ बनवाते थे और विशाल मन्दिरों में प्रतिष्ठित करके उनकी पूजा करते थे। पूजा की यह शैली बड़ी प्रभावक और आकर्षक है, अतः उसका तत्काल अनुकरण किया गया।

जैन ग्रन्थकारों ने प्रारम्भ से ही तमिल देश की साहित्यिक प्रवृत्तियों में भाग लिया था। ऐसा भी मत है कि संगम नाम उसकी रचना तथा तमिल देश में जैनधर्म के प्रस्थापक जैनाचार्यों की ही देन है, क्योंकि जैनधर्म की साधु संस्था संघ, गण आदि के रूप में प्रारम्भ से ही बड़ी सुव्यवस्थित थी। उसी अनुभव का उपयोग जैनाचार्यों ने संगम की रचना में किया। संघ और संगम नामों में भी साम्य है।

तोलकाप्पियम्

तमिल जैन साहित्य का समृद्ध भंडार है, यहाँ कुछेक प्रमुख रचनाओं का उल्लेख आवश्यक लगता है। यह तमिल भाषा का सबसे प्रचीन व्याकरण ग्रन्थ है। यह एक जैन विद्वान् की रचना माना जाता है। इस ग्रन्थ में 3 बड़े अध्याय और प्रत्येक अध्याय में 9 विभाग हैं। मरवियल विभाग में तोलकाप्पियम् ने घास और वृक्ष के समान जीवों को ऐकेन्द्रिय, घोंघे के समान जीवों को दोइन्द्रिय, चींटी के समान जीवों को त्रीन्द्रिय, केकड़े के समान जीवों को चौइन्द्रिय, बड़े प्राणियों के समान जीवों को पंचेन्द्रिय और मनुष्य के समान जीवों को छः इन्द्रिय कहा है। जीवों का यह विभाग सभी जैन ग्रन्थों में पाया जाता है।

कुरल

तमिलभाषी जनता में प्रचार की दृष्टि से यह नीतिग्रन्थ तमिल साहित्य में सबसे प्रधान माना जाता है। इसकी रचना जिस छन्द में की गयी है, वह कुरलवेणवो के नाम से प्रसिद्ध है और तमिल साहित्य का खास छन्द है। पुस्तक का नाम 'कुरल' उसमें प्रयुक्त छन्द के कारण पड़ा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अहिंसा धर्म की स्तुति है। तमिलवासी इस ग्रन्थ को अपना तमिल वेद या ईश्वरीय ग्रन्थ मानते हैं। इसी से तमिल प्रान्त के प्रायः सभी सम्प्रदाय इसे अपना बतलाते हैं। जैन-परम्परा भी इस ग्रन्थ को जैनाचार्य कुन्दकुन्द अपर नाम एलाचार्य की रचना बतलाती है। इस ग्रन्थ के तीन विषय मुख्य हैं—अरम (धर्म), पोरुल (अर्थ), इनवम् (काम)। ये तीनों विषय इस प्रकार समझाए गये हैं कि वे मूलभूत अहिंसा सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध रहें। ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकार धर्म के अध्याय में लिखते हैं—सहस्रों यज्ञों को करने की अपेक्षा किसी प्राणी का वध न करना और उसे भक्षण न करना अधिक श्रेयस्कर है। यही जैनों का 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धान्त है।

कुरल के सम्बन्ध में श्री एरियल कहते हैं— "कुरल में सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक बात यह है कि इसके रचयिता ने जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि की ओर ध्यान न देकर समस्त मानव जाति को सम्बोधन किया है। उसने पूर्ण नैतिकता का सूत्र रूप में कथन किया है। उसने गार्हस्थिक और सामाजिक जीवन के सर्वोच्च नियमों को एक सूत्र में निबद्ध किया है। विचार, भाषा, कविता, आध्यात्मिक चिन्तन आदि पर उसका पूर्ण प्रभुत्व है।"

अनेक विदेशी भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ है। उसके विचार प्रत्येक धार्मिक के हृदय और मस्तिष्क को आकृष्ट करते हैं।

नालडियार

तमिल साहित्य में दूसरा उद्बोधक जैनग्रन्थ नालडियार है। कुरल और नालडियार एक-दूसरे के प्रति टीका का काम करते हैं। और दोनों मिलकर तमिल जनता के सम्पूर्ण नैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्त के ऊपर महान् प्रकाश डालते हैं। नालडियार का नामकरण कुरल के समान उसके छन्द के कारण हुआ है। नालडियार का अर्थ है—वेणवा छन्द को चार पंक्तियों में की गयी रचना। इसके 40 अध्यायों में 400 पद्य हैं। कुरल के पश्चात् तमिल में इसी का आदर है। इसमें मनुष्य की तृष्णा के आधारभूत सांसारिक सुखों की अनित्यता और निःसारता को बतलाकर गुणों के उत्पादन पर तथा सन्त जीवन पर विशेष जोर दिया है। इन पद्यों के रचयिता मदुरा के कुछ जैन हैं। इसमें सर्वोत्तम नैतिक विचार ग्रथित हैं।

तमिल भाषा के अठारह नीति ग्रन्थों में कुरल और नालडियार अत्यन्त महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। तमिल साहित्य के परम्परागत अध्ययन के लिए इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

तमिल साहित्य में पाँच महाकाव्य हैं—शिल्पदिकारम्, वलयापति, चिन्तामणि,

कुण्डलकेशि और मणिमेखलै। इनमें से प्रथम तीन जैन लेखकों की कृति हैं और शेष दो बौद्ध विद्वानों की कृति हैं। इन पाँच महाकाव्यों में तीन ही उपलब्ध हैं, वलयापति तथा कुण्डलकेशि अनुपलब्ध हैं। टीकाकारों के द्वारा यहाँ-वहाँ उद्धृत पद्यों के सिवाय इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं है। प्रकीर्णक रूप में प्राप्त कतिपय पद्यों से यह स्पष्ट है कि वलयापति जैन ग्रन्थकार के द्वारा रचित था। इसी प्रकार बौद्धग्रन्थ कुण्डलकेशि के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। नीलकेशि ग्रन्थ में उद्धृत पद्यों से यह स्पष्ट है कि कुण्डलकेशि एक दार्शनिक ग्रन्थ था, जिसमें वैदिक तथा जैनदर्शन का खण्डन करके बौद्ध दर्शन को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गयी थी। अवशिष्ट तीन ग्रन्थों में बौद्ध ग्रन्थ मणिमेखलै की कथा का सम्बन्ध शिलप्पदिकारम् से है, जो स्पष्टतया जैन ग्रन्थ है।

शिलप्पदिकारम्

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तमिल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता ल्लंगोबाडिगल् चेर नरेश चेरलादन के लघुपुत्र थे। ल्लंगोबाडिगल् चेरलादन के पश्चात् होनेवाले नरेश शेनगुट्टुवन का छोटा भाई था। इसी से उसका नाम ल्लंगोबाडिगल् अर्थात् छोटा युवराज था। वह जैन मुनि हो गये थे। इस ग्रन्थ में वर्णित कथा का सम्बन्ध नगर पुहार कावेरी पुमपट्टण के —जो चोल राज्य की राजधानी थी—महान् वणिक् परिवार से है। कण्णकी नाम की नायिका इसी वैश्यवंश की थी। वह अपने शील और पतिभक्ति के लिए प्रख्यात थी। चूँकि इस कथा में पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा में नूपुर अथवा शिलम्बु बेचने का प्रसंग है, इसलिए यह दुःखान्त रचना शिलम्बु महाकाव्य कही जाती है। इस कथा का सम्बन्ध तीन महाराज्यों से है। अतः इसका लेखक, जो चेर युवराज है, पुहार, मदुरा तथा वनजी नाम की तीन राजधानियों का वर्णन विस्तार से करता है। अस्तु!

चिन्तामणि

तमिल जैन ग्रन्थों में चिन्तामणि निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट है। उसका रचयिता तिरुत्तक्क देव संस्कृत का एक प्रमुख विद्वान् था। उसके इस ग्रन्थ में संस्कृत में जो कुछ सर्वोत्तम है, वह तो संगृहीत है ही; किन्तु संगमकालीन कविताओं का स्तर भी उसमें दिया है। उसके साथ ही जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। इसमें राजा जीवक का पूरा जीवनवृत्तान्त और उसके विविध जीवन-प्रसंगों के अवसर का लाभ उठाकर अनेक धार्मिक उपदेश दिए गये हैं। संस्कृत के गद्यकाव्य चिन्तामणि तथा क्षत्रचूडामणि में भी जीवक या जीवन्धर का चरित वर्णित है। दोनों संस्कृत रचनाएँ वादीभसिंहकृत हैं। इन्हीं को तमिल 'जीवकचिन्तामणि' का आधार माना जाता है।

'चिन्तामणि' तमिल साहित्य का 'मास्टर पीस' है। शैव विद्वानों तक ने उसकी

प्रशंसा की है। उसकी इतनी अधिक ख्याति से ईर्ष्यालु होकर शैव कवि सेक्किळार ने पेरियपुराण की रचना की थी। किन्तु उसकी रचना चिन्तामणि की लोकप्रियता को दबा नहीं सकी। सेक्किळार ने अपने पेरियपुराण में चिन्तामणि की जो प्रशंसा की है, उससे पता चलता है कि उसके समय में चिन्तामणि की कितनी प्रतिष्ठा थी। 'पेरियपुराण' चोलनरेश कुलोटुंग की प्रार्थना पर रचा गया था। कुलोटुंग का राज्य-काल ई. 1080 से 1118 है। अतएव इससे पहले 'जीवकचिन्तामणि' रचा गया था। इसकी वर्णित कथा भी बड़ी मनोरम और शिक्षाप्रद है। नच्चिनारक्किनियर की टीका के साथ यह मुद्रित हो चुका है। इसमें 30 लम्ब और 3145 पद्य हैं।

नरिविरुत्तम्

तिरुतक्क देव की एक और उल्लेखनीय रचना है। उसका नाम 'नरिविरुत्तम्' है। इसमें केवल 50 पद्य हैं। और सम्भवतया 'हितोपदेश' का एक कथा के आधार पर जैनधर्म के कुछ सर्वोत्तम सिद्धान्तों की निबद्ध किया है। शैली बड़ी मनोरम है, बाल और वृद्ध दोनों के ही लिए आकर्षक है। कवि ने मनुष्य की इच्छाओं को अस्थिर और सम्पत्ति तथा सांसारिक सुख की क्षणभंगुर बतलाया है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

एक बार एक जंगली हाथी खेत में उपज को कुचल रहा था। एक शिकारी उसे मारना चाहता था। एक ऊँची भूमि पर खड़ा होकर उसने हाथी पर बाण से प्रहार किया। उस भूमि के नीचे सर्पों के बिल थे। उधर हाथी मरा, इधर सर्प ने शिकारी को डस लिया। शिकारी ने साँप के दो टुकड़े कर दिये और सर्प के जहर से मर गया। एक स्यार यह सब देखता था। वह झाड़ियों से निकलकर उस स्थान पर आया और प्रसन्नतापूर्वक बोला—यह हाथी का शरीर छह मास के लिए पर्याप्त है। शिकारी से भी सात दिन का काम चल सकता है। सर्प एक दिन के लिए ही होगा। ऐसा अपने मन में कहते हुए वह शिकारी के पास गया। उसकी दृष्टि धनुष पर पड़ी। ज्यों ही उसने धनुष की तौत में मुँह मारा कि धनुष टूटकर उसके मुँह में बड़ी जोर से लगा। तत्काल उसका प्राणान्त हो गया। इस कहानी के द्वारा जिस सत्य का प्रतिपादन किया गया है, वह स्पष्ट है।

नीलकेशि

इसके रचयिता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह भारतीय दर्शन से सम्बद्ध एक तर्कपूर्ण ग्रन्थ है। और इस पर वामनमुनि रचित एक समयदिवाकर नाम को उत्कृष्ट टीका है। यह वामनमुनि वे ही हैं, जो साहित्यिक ग्रन्थ मेरु मन्दिरपुराण के भी रचयिता हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि नीलकेशि की रचना बौद्ध ग्रन्थ 'कुण्डलकेशि' के प्रतिवाद

के लिए की गयी थी। कुण्डलकेशि के दार्शनिक विचारों का खण्डन करना ही उसका उद्देश्य है। उसकी कथा भी कुण्डलकेशि के ही साँचे में ढली हुई है। वह कोई पौराणिक कथा नहीं है, किन्तु दार्शनिक विवाद की भूमिका निर्माण करने के लिए ही सम्भवतः उसकी कल्पना की गयी है। कथा का सम्बन्ध जिस देश से है, उसकी राजधानी है—पुण्ड्रवर्धन। उसके बाहर काली का एक मन्दिर है। वहाँ एक दिन कुछ नागरिक बलिदान के लिए कुछ पशु-पक्षी लाते हैं। उस मन्दिर के समीप विद्यमान मुनिचन्द्र नाम के योगी उन्हें पशु-बलिदान से रोकते हैं और कहते हैं कि यदि तुम पशु-पक्षियों की मिट्टी से बनी मूर्तियों को काली के मन्दिर में चढ़ाओगे तो देवी पूर्ण सन्तुष्ट होगी और तुम बहुत-से प्राणियों के घात के पाप से भी बचोगे। लोगों को तो यह बात पसन्द आयी, किन्तु कालीदेवी अत्यन्त क्रुद्ध हुई। उसने चाहा कि मैं इस जैन मुनि को यहाँ से भगा दूँ जिससे वे बलिदान में बाधा न डाल सकें। मुनिजी की आध्यात्मिक शक्ति के सामने अपने को हीन अनुभव करके कालीदेवी अपनी अधिष्ठात्री देवी नीलकेशि की खोज में निकली और उससे अपना कष्ट निवेदन किया। नीलकेशि ने पुण्ड्रवर्धन नगर में पधारकर मुनि को भयभीत करने के अनेक उपाय किये, किन्तु मुनि विचलित नहीं हुए। तब नीलकेशि ने उस देश की सुन्दरी राजकुमारी का रूप धारण करके अपनी शृंगारिक चेष्टाओं से मुनि को विचलित करना चाहा, किन्तु मुनि ने स्वयं ही उसके इस बनावटी रूप का पर्दाफाश कर दिया। तब तो नीलकेशि ने मुनिराज से प्रभावित होकर अपना अपराध स्वीकार किया और क्षमा माँगी। मुनिराज के क्षमादान करने पर नीलकेशि ने कृतज्ञतावश पवित्र जीवन बिताने की इच्छा प्रकट की। तब मुनिराज ने उसे अहिंसा धर्म का उपदेश देकर उस प्रदेश में अहिंसा धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया। नीलकेशि ने इसे स्वीकार किया और मनुष्य रूप को धारण करके अहिंसा धर्म के प्रचार में अपना समय लगाया। यही विषय इस ग्रन्थ के 'धर्मन् उरैचउक्कम्' नाम के प्रथम अध्याय में वर्णित है।

इस ग्रन्थ में आत्मतत्त्व और अहिंसा तत्त्व के आधार पर मृत्यु के अनन्तर भी मानवीय तत्त्व का अवस्थान और अहिंसामूलक धर्म की प्रधानता को सिद्ध किया गया है।

यह ग्रन्थ तमिल साहित्य के प्राचीन काव्य ग्रन्थों में से है। इसमें कुल 894 पद्य हैं। प्रो. चक्रवर्ती ने इसे सम्पादित करके प्रकाशित किया था। यह तमिल साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी बड़ा उपयोगी है। इससे व्याकरण तथा मुहावरे के कितने ही प्रयोग और प्राचीन शब्द प्रकाश में आते हैं। अतः इस ग्रन्थ में कुरल और नालडियार के उल्लेख पाये जाते हैं, अतः यह ग्रन्थ उनके बाद की कृति होना चाहिए।

यशोधरकाव्य

इसके रचयिता कोई जैन मुनि थे। उनके सम्बन्ध में अन्य कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसकी कथा संस्कृत भाषा के यशस्तिलक चम्पू, यशोधरचरित आदि में वर्णित है। टी.

वैकट रमन आर्यंगर ने इसका प्रकाशन किया था।

चूळामणि

यह ग्रन्थ जैन कवि तोला मोलितेवर के द्वारा रचा गया है। वह कारवेट नगर के अधिपति विजय के आश्रित थे। इसका आधार जिनसेन रचित महापुराण की एक पौराणिक कथा है। कथा का नायक तिविट्टन या त्रिविष्टप नौ वासुदेवों में से एक है। इसका काव्य-सौन्दर्य चिन्तामणि के समान है। इसमें कुल 12 सर्ग और 2131 पद्य हैं।

मेरुमन्दरपुराण

यह भी तमिल भाषा का एक महान् ग्रन्थ है। साहित्यिक शैली की उत्तमता की दृष्टि से यह तमिल भाषा के श्रेष्ठतम साहित्य के सदृश है। यह मेरु और मन्दर सम्बन्धी पौराणिक कथा के आधार पर रचा गया है। इसी से मेरु और मन्दर युवराजों के नाम पर इसे मेरुमन्दर पुराण कहते हैं। इस कथा का वर्णन महापुराण में आया है और इसे चिमलनाथ तीर्थंकर के समय की घटना बतलाया है। नीलकेशि के टीकाकार वामन मुनि ही इसके रचयिता हैं। वे बुक्कराय के समय में 14वीं सदी के लगभग विद्यमान थे। जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए ही उन्होंने इस कथा का आश्रय लिया है। इसमें 30 अध्याय तथा 1405 पद्य हैं। प्रो. ए. चक्रवर्ती ने इसे भूमिका और टिप्पण के साथ प्रकाशित कराया था।

श्रीपुराण

तमिल के जैनों में यह बहु प्रचलित है। यह तमिल-संस्कृत मिश्रित गद्य में रचा गया है। इसका आधार जिनसेन स्वामी का महापुराण है। इसमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलदेव—इन 63 शलाकापुरुषों का चरित वर्णित है। इसी से इसे त्रेसठ शलाकापुरुष पुराण भी कहते हैं। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

याप्यरुंगलम्कारिकै

यह तमिल छन्दशास्त्र का ग्रन्थ अमृतसागर के द्वारा रचा गया है। यह लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। इसके मंगलाचरण के एक श्लोक में अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यह जैन ग्रन्थकार की कृति है। स्वयं ग्रन्थकार ने यह सूचित किया है कि यह एक संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर रचा गया है। इस पर गुणसागर रचित टीका है। यह छन्दशास्त्र का मुख्य ग्रन्थ है। छन्दों तथा पद्य-रचनाओं के सम्बन्ध में इसे प्रमाण माना जाता है। इसके द्योतक

अवतरण तमिल साहित्य में पाये जाते हैं। इन्होंने अमृत-सागर के द्वारा रचित याप्यरंगलविरुत्ति नामक एक तमिल छन्दशास्त्र का और भी ग्रन्थ है। यह प्रकाशित हो चुका है।

नेमिनाथम्

यह तमिल व्याकरण का ग्रन्थ है। इसके रचयिता गुणवीर पण्डित हैं। यह मलयपुर में रचा गया है। वहाँ नेमिनाथ भगवान् का मन्दिर है। इसी से इसे नेमिनाथम् नाम दिया गया है। इसके रचयिता गुणवीर पण्डित कलन्दै के वाचानन्द मुनि के शिष्य थे। चूँकि पहले के तमिल व्याकरणग्रन्थ बहुत विशाल और बहुश्रमसाध्य थे, इसलिए इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना की गयी। इसके आरम्भ के पद्यों में लिखा है कि जलप्रवाह के द्वारा मलयपुर के जैनमन्दिर के विनाश के पूर्व यह ग्रन्थ रचा गया था। अतः इसको ई. सन् के प्रारम्भ काल की रचना कहा जाता है।

नन्नु लू

यह तमिल व्याकरण पर दूसरा ग्रन्थ है। यह सबसे अधिक प्रचलित है, तोलकाप्पियम् के बाद इसी की प्रतिष्ठा है। शियगंग नामक सामन्त के अनुरोध पर बावनन्दि मुनि ने इसकी रचना की थी। इसके रचयिता तोलकाप्पियम् अगत्तियम् तथा अविनयम् नामक तमिल व्याकरण ग्रन्थों में ही प्रवीण नहीं थे, किन्तु संस्कृत व्याकरण जैनेन्द्र में भी प्रवीण थे। इस पर बहुत-सी टीकाएँ हैं। इनमें मुख्य टीका मल्लिनाथ की बनाई हुयी है। यह स्कूल और कॉलेजों में पाठ्यपुस्तक के रूप में निर्धारित है।

तमिल कोष साहित्य में भी जैनों की देन महत्वपूर्ण है। तमिल कोषों में तीन ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं — दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और चूड़ामणि निघण्टु। ये तीनों कोष पद्य में रचित हैं। प्रथम कोष के रचयिता दिवाकर मुनि हैं, दूसरे के पिंगल और तीसरे के मण्डल पुरुष। तमिल विद्वानों का अभिमत है कि ये तीनों जैन थे। प्रथम दिवाकर निघण्टु का अस्तित्व तो लुप्त हो चुका है, शेष दोनों उपलब्ध हैं। इनमें से अन्तिम चूड़ामणि निघण्टु का खूब प्रचार है। उसकी भूमिका के पद्यों से ज्ञात होता है कि उसका रचयिता जैन ग्राम पेरु मन्दिर का निवासी था, जो दक्षिण अर्काट जिले के तिन्दिवन तालुका से कुछ मील दूरी पर है। इसके सिवाय लेखक ने जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य का उल्लेख किया है। ये गुणभद्र उत्तरपुराण के रचयिता हैं। इससे स्पष्ट है कि मण्डल पुरुष गुणभद्र के पश्चात् हुए हैं। वह दो और निघण्टुओं का भी उल्लेख करते हैं। चूड़ामणि-निघण्टु विरुत्तम छन्द में लिखा गया है। उसमें बारह अध्याय हैं। जाफना के स्वअर मुख नावलर रचित टीका के साथ वह प्रकाशित हो चुका है।

तिरुनूरन्तदि

इसके लेखक एक अलवार हैं। उन्होंने जैनधर्म धारण किया था। कहते हैं कि जब वह एक दिन जिनालय के पास से जा रहे थे, उन्होंने मन्दिर के भीतर मोक्ष तथा मोक्षमार्ग का उपदेश करते हुए जैनाचार्य को सुना। उससे आकृष्ट होकर वह मन्दिर के भीतर गये और उन्होंने आचार्य से उनका उपदेश श्रवण करने की आज्ञा माँगी। उसके बाद उन्होंने जैनधर्म को अंगीकार कर लिया और अपने इस परिवर्तन की स्मृति में भाइलपुर के नेमिनाथ भगवान् को सम्बोधित करते हुए यह ग्रन्थ बनाया। यह भक्तिरस का अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है।

अन्तदि एक प्रकार की विशेष रचना है, जिसमें पूर्व पद्य का अन्तिम शब्द दूसरे पद्य का प्रथम तथा मुख्य शब्द हो जाता है। अन्तदि का अर्थ है—अन्त और आदि, इसमें पद्यों की एक पंक्ति शब्दविशेष से परस्पर सम्बन्धित रहती है, जो पूर्व पद्य में अन्तिम शब्द होता है और बाद के पद्य में पहला। तिरुनूरन्तदि सौ पद्यों की ऐसी ही एक रचना है। यह मदुरा के तमिल संगम के द्वारा संचालित शेर तमिल पत्र में टिप्पणी सहित छपा था।

तिरुक्कलम्बगम्

यह भी भक्तिरस का ग्रन्थ है। इसके लेखक उदीचिदेव नाम के जैन हैं। वे थोण्ड मण्डल देश के अन्तर्गत वेलोर जिले के अर्णी के पास अरपगई नामक स्थान के निवासी थे। रुलम्बगम् का अर्थ है—लघु कविताओं का ऐसा मिश्रण, जिसमें अनेक छन्दों के पद्य हों। यह ग्रन्थ केवल भक्तिरस पूर्ण ही नहीं है, किन्तु सैद्धान्तिक भी है।

गणित, ज्योतिष तथा फलित विद्या-सम्बन्धी ग्रन्थों के निर्माण में भी जैनों का योग रहा है। ऐंचूवडि गणित का प्रचलित ग्रन्थ है तथा जिनन्द्रमौलि ज्योतिष का प्रचलित ग्रन्थ है। जो व्यापारी परम्परा के अनुसार अपना हिसाब-किताब रखते हैं, वे प्रारम्भ में ऐंचूवडि नामक गणित ग्रन्थ का अभ्यास करते हैं। इसी प्रकार तमिल ज्योतिषी जिनेन्द्र मौलि का अभ्यास करते हैं।

प्रो. आर्यंगर ने लिखा है कि दुर्भाग्य से विविध विषयों से सम्बद्ध बहुत-सा जैन तमिल साहित्य मठों और भण्डारों में बन्द पड़ा है। यह आशा की जाती है कि दक्षिण के शिक्षित जैन भाई उसे प्रकाश में लाएँगे और तब हम यह सिद्ध कर सकेंगे कि दक्षिण भारत के साहित्यिक इतिहास में जैनों का कितना महान भाग रहा है।

(साभार—दक्षिण भारत में जैनधर्म)

मराठी जैन साहित्य

डॉ. कुसुम पटोरिया, नागपुर

प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की भाँति मराठी भाषा व साहित्य के विकास में जैनाचार्यों की उल्लेखनीय भूमिका है। श्री र. कुलकर्णी के अनुसार मराठी की गर्भावस्था से जैनों का मराठी से सम्बन्ध है। जैनों ने मराठी के बचपन का पालन-पोषण किया है।¹ मराठी के अस्तित्व के संकेत आठवीं शताब्दी से मिलते हैं। कोऊहलकवि अपनी लीलावई-कहा को 'मरहट्ट-देवि-भासा' में रचित कहते हैं,² तो उद्योतन सूरि 'मरहट्ट-भासा' का उसकी विशेषताओं सहित उल्लेख करते हैं³। श्रवणबेलगोल का 'श्रीचावुण्डराएँ करवियलें' लेख तथा कन्नड महाकवियों के काव्यों में मराठी वाक्यों के प्रयोग मराठी के प्रसार को सूचित करते हैं।

मराठी के आद्यग्रन्थ होने का श्रेय श्रीपति (10वीं शताब्दी) द्वारा संस्कृत में रचित ज्योतिषरत्नमाला की मराठी टीका को है, जो महाकवि अभिमानमेरु पुष्पदन्त के भतीजे थे। उपलब्ध मराठी जैन साहित्य का आरम्भ 15वीं शताब्दी से होता है। उल्लेखनीय है कि आरम्भिक कृतियों में मराठी भाषा के लिए 'देसभाषा', 'म्हराष्ट्रि' 'मागधी' 'मराष्ट भाषा' 'मन्हाष्ट' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।⁴

मराठी में रचना करने का उद्देश्य स्वयं ग्रन्थकारों ने शिष्यों को धर्मोपदेश व जैन कथाओं का ज्ञान कराना, जनकल्याण, मिथ्यात्व का अपसारण, धर्मप्रभावना, श्रावकों पर उपकार के साथ स्वकल्याण, भक्ति में जीवन-यापन करके मन की चंचलता को रोकना व मोक्षमार्ग में लगाना आदि बताया है।⁵ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूर्व साहित्य से प्रेरित व अनूदित साहित्य की निर्मिति अधिक हुई। इस समय जैन समाज को बृहत्तर समाज से वेदविरोधी नास्तिक के रूप में उपेक्षा मिल रही थी। वह-स्वयं अपने धर्म से अनभिज्ञ था। अतः अनायास ही हिन्दू धर्म में रूपान्तरित होते हुए जैन समाज को अपने धर्म में स्थिर करना समय की आवश्यकता थी, जिसके परिणामस्वरूप भट्टारकों के इस युग में पण्डित भट्टारकों व उनके शिष्यों द्वारा मठों व मन्दिरों में रहकर पुराने साहित्य के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ।

मराठी जैन साहित्य का आरम्भ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, कन्नड

आदि के ग्रन्थों के विषयों से अनभिज्ञ मराठी पाठकों के समक्ष उन विषयों को उनकी भाषा में प्रस्तुत करने से हुआ है। ऐसा करते हुए कवियों ने कथावस्तु में परिवर्तन करना अनुचित समझा है। जनार्दन कवि नवरसों की निर्मिति की दृष्टि से शोक का प्रसंग प्रस्तुत करते हैं, तुरन्त इसे अपराध मानकर क्षमा याचना करते हैं १ इन्होंने कथाओं को सर्वज्ञमुख से निर्गत तथा परम्परा प्राप्त होने से इनकी शुद्धता बनाए रखना अपना दायित्व माना है।

मराठी जैन साहित्य विविध विधाओं में प्राप्त होता है। इनमें पुराण, चरित और कथाकाव्यों के रूप में प्राप्त प्रबन्धात्मक काव्य प्रमुख हैं। पौराणिक महाकाव्यों में गुणकीर्तिकृत पद्मपुराण, जिनदासकृत हरिवंशपुराण, महीचन्द्रकृत आदिनाथपुराण व देवेन्द्रकीर्तिकृत कालिकापुराण, चरितकाव्यों में गुणदासकृत श्रेणिकचरित्र, जनार्दनकृत श्रेणिक चरित्र, नागो आया कृत जसोधरचरित्र, गुणनन्दीकृत जसोधरपुराण, मेघराज का जसोधररास, दामापण्डित का जम्बूस्वामीचरित, वीरदासकृत सुदर्शनचरित, जिनसागरकृत जीवन्धरपुराण उल्लेखनीय हैं। ये पौराणिक-चरित्रग्रन्थ पद्मपुराण, हरिवंशपुराण व आदि पुराण आदि प्रसिद्ध संस्कृत पुराणों के आधार पर विकसित तो हैं ही, पर इनके साक्षात् प्रेरणास्रोत ब्रह्म जिनदास द्वारा गुजराती में रचित क्रमशः रामायणरास, हरिवंशरास व आदिनाथरास हैं। ब्रह्म जिनदास राजस्थानी-हिन्दी के प्रसिद्ध कवि रहे हैं। देवगिरि (मराठवाड़ा) में जन्मे मराठी हरिवंशपुराण के रचयिता ब्रह्म जिनदास गुजराती-राजस्थानी काव्यों के रचयिता ब्रह्म जिनदास से भिन्न हैं। गुजराती ब्रह्म जिनदास ने अपने शिष्य गुणदास (गुणकीर्ति) को मराठी में रचना करने की प्रेरणा दी थी। इन काव्यों से इन कवियों के पाण्डित्य व इनकी कवित्वशक्ति का पता चलता है। मराठी-साहित्य के इतिहासकारों के अनुसार नामदेव के पश्चात् तथा एकनाथ के आगमन तक मराठी साहित्य में एक शून्य-सा निर्मित हो गया था। इस शून्य को भरने का काम जैनाचार्यों ने किया है। धर्म-कथा की अपनी सीमाओं में इन्होंने अपनी समर्थ अभिव्यक्ति व प्रौढ़भाषाशैली से इन प्रबन्धों को काव्यात्मक गुणों से सम्पन्न किया है।

कालिका पुराण का महत्व साहित्येतर-दृष्टि से भी है। मध्ययुग में विशेषतः महाराष्ट्र में दुर्गा या काली का समीकरण पद्यावती के साथ हुआ। यह कालिकापुराण काली या पद्यावती के माहात्म्य का वर्णन करता है। इसके प्रथम आठ प्रकरणों में श्रेणिकराज कथा, चतुर्थ व पंचम काल का वर्णन, कुलकरोँ का वर्णन, महाबलराजा की कथा, सोमवंश व पाण्डवों की उत्पत्ति, परशुराम की कथा व माहोरक्षेत्र की निर्मिति आदि प्रसंग हैं। शेष 21 तक के अध्यायों में महाकावती के बोगार व उनका लिंगायतों से संघर्ष, तगा बोगारों की उत्पत्ति, मुसलमानों से होने वाले कष्टों का वर्णन है। इसी भाग में तत्कालीन महाराष्ट्र में जैनों के अपने अस्तित्व के लिए संघर्षों का विवरण है। कासार, बोगार, तगरबोगारों के व्यापारी समाज की जानकारी पौराणिक पद्धति से

दी गयी है। सोमवंशी क्षत्रिय जैनों से उत्पन्न तगरबोगारों का परिस्थितिबोध शैव होना व लिंगायतों द्वारा जैनों को लिंगायत बनाया जाना आदि विवरणों में ऐतिहासिक सत्य अनुस्यूत है। महाराष्ट्र में चर्चित क्षत्रियों के छियानवे कुलों का भी यहाँ उल्लेख है। यहीं पद्मावती का वर्णन है। काम के बदले उपज का अंश आदि पाने वाले बलुत कहलाते हैं। पद्मावती को इन बलुतेदारों की निम्न वर्ग के समाज की देवी बताया गया है। छोटे-मोटे व्यापारी, लुहार, सुनार, सुतार आदि कारीगर वर्ग की यही पूज्य देवी हैं। श्रवणबेलगोल से लेकर कारंजा तक के प्रदेश के जैनों में हुए परिवर्तन को जानने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का आधार संस्कृत में रचित महापद्मपुराण बताया है। जिनरत्नकोश में भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य जिनदासरचित संस्कृत पद्मपुराण के अतिरिक्त अन्य संस्कृत पद्मपुराणों का उल्लेख है। इनमें से किस पुराण में कालिका-कथा है, यह शोध का विषय है।

शेष अध्यायों में इन्होंने सम्पत्त्वकौमुदी, धर्मपरीक्षा तथा अनन्तव्रतकथा का गुम्फन किया है।

चरितकाव्यों में गुणदास का श्रेणिकचरित्र प्रथम व उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थ है। सुसम्बद्ध कथानक, रोचक व मुख्यकथा के प्रवाह से सम्बद्ध उपकथाएँ, नगर, मण्डप, विवाह अभयकुमार की बाललीला आदि प्रबन्धकाव्योचित वर्णन व श्रेणिक, चेलना, अभयकुमार, नन्दा, कुणिक आदि के चरित्र-चित्रण इनकी काव्य-प्रतिभा के निदर्शन हैं। मराठी भाषा, तत्कालीन मराठी समाज व संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी श्रेणिक चरित्र को आधार बनाकर जनार्दन कवि ने चालीस अध्यायों वाला श्रेणिकपुराण लिखा। जनार्दन कवि की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ व रचना श्रेष्ठ दर्जे की है। नौ रसों की अभिव्यंजना के लिए काव्य का विस्तार किया है। अलंकार प्रचुर भाषा शैली व समर्थ अभिव्यक्ति कौशल मुक्तेश्वर व एकनाथ के गुणों का समन्वय प्रतीत होता है।

जिनसेनकृत जम्बूस्वामीचरित सुसम्बद्ध कथानक व अलंकृत शैली का उत्तम महाकाव्य है। दामापण्डित ने संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर जम्बूस्वामी चरित्र रचा है। यौधेय देश के राजा यशोधर के चरित पर तीन काव्यों की रचना हुई है। व्युत्पन्न पण्डित मेघराज का जसोधररास भाषा-अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी है। इनकी मातृभाषा गुजराती थी। भाषा पर भी गुजराती का संस्कार है। ग्रन्थ का नाम भी जसोधररास है। नागोराया का जसोधरचरित्र वादिराजसूरि के संस्कृत 'यशोधरचरितम्' पर आधारित है। भाषा पर बरारी बोली का प्रभाव है। गुणनन्दी ने जसोधरपुराण के लिए सकलकीर्ति के ग्रन्थ को अपना आधार बनाया है। सुदर्शन पर भी दो रचनाएँ हैं। कामराज कृत सुदर्शनचरित जिसका आधार जिनदासकृत सुदर्शनरास तथा वीरदास (मुनि अवस्था में पासकीर्ति) का सुदर्शनचरित है। जिसका आधार सकलकीर्तिकृत संस्कृत ग्रन्थ है, दयाभूषण ने गुजराती रास के आधार

पर भविष्यदत्त बन्धुदत्त पुराण की रचना की है।

जिनसागर की 'लहु-अंकुशकथा' राम के पुत्रों की कथा है। सीता वनवास के बाद लहु-अंकुश के जन्म से उनके मोक्ष तक की सम्पूर्ण कथा है। प्रवाहपूर्ण भाषा, सुन्दर शब्दविन्यास, रोचक संवाद व अनुरूप छन्दोयोजना आदि गुणों से युक्त कथा-काव्य है। राम के पुत्रों पर स्वतन्त्र रूप से रचित सम्भवतः यह प्रथम कथाकाव्य है। रुक्मिणी-हरण गेयता-गुण से युक्त एक खण्डकाव्य कहा जा सकता है। गुणकीर्ति का ही नेमिनाथ पाठना, नेमिनाथ विवाह व नेमिनाथ जिनदीक्षा जीवन के एकदेश का वर्णन होने से खण्डकाव्य कहे जा सकते हैं।

सभी काव्य धर्मकथाएँ हैं। वीरदास ने अपनी कथा को नागरकथा कहा है। अपनी कथा को नागरकथा कहने का उद्देश्य सुन्दर अलंकारपूर्ण साहित्यिक कृति है।

इति सुदरसेन कथासार। गुरु वंदिला धर्मचंद्र।

बोवी बांधता विरसागर। कथा नागर परिसावि।।^६

विश्व के प्रथम रूपकात्मक प्रबन्ध होने का श्रेय सिद्धार्थसूरि की 'उपमितिभव प्रपंचा कथा' को है। इसके पश्चात् संस्कृत में जैन व जैनतर कवियों ने कई प्रतीक नाटकों की रचना की है। पण्डित सूरिजनकृत 'परमहंसकथा' ऐसी ही रूपकात्मक कथा है। इसमें मोह से संग्राम कर विवेक द्वारा परमहंस को मुक्त करने की कथा है। 'मोहराजपराजय' नामक नाटक में भी कुमारपाल द्वारा विवेक की सहायता से मोहराज को पराजित करने का वर्णन है। 'रयणसेहरनिवकहा' नामक प्राकृत काव्य का रूपकात्मक अंश तत्कालीन प्राचीन गुजराती में इस प्रकार है—

कायापाटणि हंसराजा फुरइ पवनतलार।

तीणई पाटणि वसइ जोगी जाणइ जोगविचार।^७

गुजराती कवि जयशेखरसूरि ने 'परमहंसप्रबोध' की रचना की—उपर्युक्त तीनों रचनाएँ गुजराती कवियों की हैं। प्रतीत होता है कि गुजराती में लिखित ब्रह्म जिनदास के परमहंसरास के आधार पर पं. सूरिजन ने इसकी मराठी में प्रस्तुति की। मराठी में ये दो ही रूपककथाएँ हैं परमहंसकथा और दानशीलतप भावना। परमहंसकथा में रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है। कायानगरी में परमहंस राजा राज्य करता है। माया के कारण वह बन्दी बन जाता है। विवेक मोह से घनघोर संग्राम कर परमहंस को मुक्त कराता है। यहाँ मुख्यार्थ व व्यंग्यार्थ दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। मोह माया, विवेक चेतना आदि अमूर्त पात्र, कलात्मक ढंग से मूर्तित हुए हैं। इस कथा में तत्कालीन राजकीय जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है। तराळ (नगररक्षक पहरेदार) से सामान्य जनता आतंकित रहती थी। वह नगर में आने-जाने वाले लोगों पर निगाह रखता था। भिखारियों के

वेश में गुप्तचर घूमते थे। दान, शील, तप व भावना, ये चारों भ. महावीर के समवसरण में जाकर अपनी-अपनी श्रेष्ठता घोषित करते हैं। इस प्रकार चैतन्य फाग भी छोटी-सी रूपकात्मक रचना है। रूपकात्मक (Allegorical) कथा द्वारा इन कवियों ने मराठी में एक नयी विधा स्थापित की है।

जैनेतर सम्प्रदायों की अविश्वसनीय मान्यताओं, अन्धविश्वास, अतिरंजित, अस्वाभाविक कथाकल्पनाओं पर व्यंग्य करते हुए हरिभद्रसूरि ने धूर्ताख्यान की रचना की। उसी का पल्लवन धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थ की कथाओं में हुआ है। धर्मपरीक्षा नामक लगभग बीस ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। इनके उद्देश्य के विषय में कवियों ने कहा है कि बुद्धि के अभिमान या पक्षपात से मैंने जैनेतर सिद्धान्तों का खण्डन नहीं किया है। सत्पुरुषों को सुगति प्राप्त हो—यही मेरा उद्देश्य है।¹⁰ मराठी में भी विशालकीर्ति व देवेन्द्रमुनि ने धर्मपरीक्षा लिखी हैं। इस प्रकार इन कथाओं को मराठी में लाकर उसी सदुद्देश्य की पूर्ति की गयी है।

पुण्यास्रव कथाकोष लघुकथाओं का कोश ग्रन्थ है। पुमुक्षु रामचन्द्र की मूल संस्कृत व नागराज की कन्नड रचना के आधार पर जिनसेन ने इसकी मराठी में रचना की। पुण्यास्रव कथाकोष की कथाओं में पौराणिक कथाओं के साथ-साथ अनेक लोक-कथाएँ हैं। भद्रबाहु कथा में चन्द्रगुप्त मौर्य का इतिहास कुछ अंशों में सुरक्षित है। आराधना कथाकोष व सम्यक्त्वकौमुदी भी ऐसी ही लघुकथाओं के कोश हैं।

व्रतकथा एक अन्य प्रकार का कथा-भेद है। मध्ययुग तक व्रत शब्द अहिंसादि के अतिरिक्त उपवास के अर्थ में अधिक प्रयुक्त होने लगा था। भिन्न-भिन्न अवसरों पर किये जाने वाले विविध उपवासों की विधि, उनका फल, उद्यापन विधि व उनसे सम्बद्ध कथाओं के वर्णन इन व्रतकथाओं में हैं। इन कथाओं का प्रारम्भ 'गाणपंचमी कहाओ' से माना जा सकता है। अपभ्रंश युग में इनका विस्तार हुआ है। मराठी में लगभग पचास से अधिक व्रतकथाएँ लिखी गयी हैं। अनेक कथाएँ अत्यन्त सरस हैं। बहुत सम्भव है कि व्रत के दिन इन कथाओं का मन्दिरों में वाचन हुआ करता रहा होगा।

इन कथाओं के अतिरिक्त मराठी में स्वतन्त्र भवान्तर-कथाएँ भी रची गयी हैं। सभी पुराण-चरित्र आदि में चरितनायकों के पूर्वभव समाहित रहते हैं, परन्तु भवान्तर-कथाओं की स्वतन्त्र-रूप से रचना मराठी साहित्य का वैशिष्ट्य है। इनमें मेघराज व गंगादासकृत पार्श्वनाथ भवान्तर, चिमनापण्डितकृत नेमिनाथ भवान्तर व छत्रसेनकृत आदिनाथ भवान्तर वैशिष्ट्यपूर्ण हैं।

मराठी में स्तोत्र की रचना भी विपुल-मात्रा में हुई है। ये स्तोत्र संस्कृत भक्तामर आदि के अनुवाद भी के रूप में प्रस्तुत हैं, स्वतन्त्र भी। तीर्थंकरों के अतिरिक्त गोमट स्वामी, पद्मावती व क्षेत्रपाल भी स्तुत्य हैं। स्तुतिकारों में जिनसागर, महीचन्द्र व चिमनापण्डित प्रमुख हैं। इस काल में स्तुत्य आदर्श के गुणों की प्राप्ति का लक्ष्य न होकर याचना

व वर माँगना प्रमुख रहा है।

माझे बोल पवित्र कोमल तुझ्या श्रोत्री न का बिंबती।
वाक्यें हे श्रवणांत झोंबति तई पाषाण ही फूटती।¹¹

बारहमासा की परम्परा हिन्दी में बहुत समृद्ध रही है। बारहमासा विरहगीत है। मराठी में विरहगीत 'विराणी' व शृंगारिक लावणी के रूप में हैं, पर बारहमासा प्रत्येक महीने की पार्श्वभूमि में विरह-वेदना को व्यक्त करने के कारण विशिष्ट है। इसका मूल कालिदास के ऋतुसंहार में खोजा जा सकता है। जैनों की वीतराग-परम्परा में राजीमती ही ऐसा पात्र है, जिसे आधार बनाकर बारहमासा लिखे गये हैं। मराठी में भी दिनासा कवि ने बारामासी रचकर इस लोककाव्य की परम्परा का मराठी में श्रीगणेश किया।

लोकगीत लोरी को मराठी में अंगाई/अंगाईगीत कहते हैं। लोरियों का प्रारम्भ जो जो (झोप-झोप) अर्थात् सो जा सो जा इन शब्दों में होता है। पाळणागीत कुछ इसी प्रकार के हैं। गुणकीर्तिकृत 'नेमिनाथपाळणा' मराठी का पहला पाळणा (झूला) है। इसका प्रारम्भ भी 'जो जो' शब्द से है। इसके पश्चात् महावीरपाळणा, पद्मावतीचा पाळणा, चक्रवर्तीचा पाळणा, नेमीश्वरपाळणा आदि पाळणा-गीत मिलते हैं। ये पाळणागीत इन चरितनायकों के जन्मोत्सव हैं।

मराठी में प्रचलित लावणी, पोवाडा, कीर्तन, भूपाळी आदि लोककाव्य के प्रकार भी जैनकवियों ने आत्मसात किये हैं। लावणी का प्रयोग हाव-भाव प्रदर्शित कर नाचने के लिए रचित शृंगारिक गीत के रूप में हुआ है, जिसका उपयोग महतीसागर ने अपने गुरु की स्तुति 'देवेन्द्रलावणी' में किया है। पोवाडा यशोगान होता है। भूपाळी प्रभाती होती है। इसके अतिरिक्त अनेक पद व गीत लिखे गये हैं। पिंगा, फुगडी, चेंडूफळी, टिपरी, लयलाखोटा, झम्पा आदि खेलों के लिए बालकों के खेलते समय गाये जाने वाले गीत लिखे गये हैं, जिनके द्वारा बालमन पर धार्मिक संस्कार उत्पन्न करने का भाव है।¹²

मराठी जैन कवियों ने पूजाएँ व आरतियाँ बड़ी तन्मयता से लिखी हैं। गेयता इनका मुख्य गुण है। ये मन्दिरों में वाद्यों के साथ सामूहिक रूप से गायी जाती थीं। कुछ आरतियाँ अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये आरतियाँ मन्दिरों व मूर्तियों के इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रायः आरतियों में स्थान, मन्दिर व मूलनायक का उल्लेख मिलता है।

पद्यकाव्यों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने मराठी साहित्य को परमहंसकथा के रूप में एक सुन्दर चम्पू काव्य दिया है। एक हजार ओवियों के मध्य वर्णन गद्य में हैं। गद्य में छोटे-छोटे वाक्य हैं—दूताचे वृत्तांत सांगितले, मग तो दुताप्रति बोलला।¹³

मराठी रचनाकारों ने शास्त्रीय ग्रन्थों की भी रचना की है। प्रज्ञाचक्षु यादवसुत ने विविध वृत्तों में 222 पद्यों में अष्टकर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ की रचना की है। कर्मसिद्धान्त पर मराठी में यह एकमात्र कृति है। ज्ञानोदय तीन अध्यायों में 100 ओवी में आत्मज्ञान की प्राप्ति का विवेचन है। 'आत्मख्याति' आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ पर अमृतचन्द्राचार्य कृत 'आत्मख्याति' टीका का मराठी रूपान्तर है। जिनसेन व रत्नकीर्ति दोनों ने अपने उपदेश-रत्नमाला ग्रन्थों में श्रावक के षट्कर्मों का उपदेश दिया है। जिनकथा या जिनागमकथा में छहकाल, चौबीस तीर्थंकर व बारह अंगों का संक्षिप्त विवरण है। दिलसुख ने अपने 'स्वात्मविचार' नामक ग्रन्थ में विविध दर्शनों के आत्म विषयक विचारों की समीक्षा की है।

शास्त्रीय ग्रन्थों में धर्माभूततत्त्वसार गद्यात्मक है, जिसमें श्रावक की आचार-संहिता के साथ लोकरचना, गणित, तीर्थ तत्त्ववर्णन आदि का भी संक्षिप्त वर्णन है। इसके नामकरण पर पं. आशाधरजी के धर्माभूत का प्रभाव प्रतीत होता है। भाषा, सांस्कृतिक इतिहास आदि के दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण है। धर्माभूत, रत्नकरण्ड श्रावकाचार की मराठी टीका, स्वात्मविचार व आत्मख्याति आदि ये ग्रन्थ गद्य में हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की यह टीका संस्कृत टीका के अनुरूप मूल मुद्दों का स्पर्श करने वाली है। शास्त्रीय ग्रन्थों की गद्यशैली प्रौढ़, अर्थगर्भ, स्पष्ट व मार्मिक है। परमहंसकथा चम्पूकाव्य का गद्य चूर्ण शैली का है।

प्रायः सभी कवि बहुश्रुत व बहुभाषाविद थे। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के उत्तम ज्ञाता थे। अनेक कवियों ने दो या दो से अधिक भाषाओं में रचना की है। गुजराती-कन्नड़ से इस साहित्यिक आदान ने सांस्कृतिक सम्बन्धों को दृढ़ किया है। ये दोनों नये प्रवाह मराठी को इन्हीं कवियों ने दिये हैं।

सभी साहित्यकार साहित्यरचना के प्रति सतर्क थे। उन्होंने अपने कवित्व के परिमार्जन के लिए शब्दकोश, छन्द, महाकाव्य, व्याकरण, तर्क, संगीत सभी का निष्ठा से अध्ययन किया है। जैन शास्त्र व साहित्य के तो अध्येता थे ही। इन्होंने अपने को सरस्वती का कृपापात्र कवीश्वर माना है।

जैनाचार्य रसास्वाद को ब्रह्मानंदसहोदर नहीं मानते, वह मोहनीय कर्म के उदय का परिणाम है।¹⁴ कहाँ तो रसास्वाद के लिए चित्त वासनायुक्त (सवासन) होना अनिवार्य है, तो दूसरी ओर आत्मानन्द जो वीतराग (वासनामुक्त) चित्त में ही सम्भव है। रसास्वाद से भी विवेकी मनुष्य को संसार का वास्तविक स्वरूप जानना चाहिए। अतः इन कवियों का शृंगार-वर्णन साहित्यसर्जना की अनिवार्यता है, शृंगार के नीचे सर्वत्र वैराग्य की धारा है। विप्रलम्भ शृंगार के आश्रय राजीमती व अंजनापवनंजय हैं। सुदर्शन चरित्र में शृंगाराभास के दर्शन होते हैं। युद्धप्रसंगों में वीर-रस जम्बूस्वामीचरित्र, श्रेणिकचरित, पद्मपुराण आदि में है। करुण-चेलना के विलाप में पद्मपुराण में, हास्य-

रस सम्यक्त्व कौमुदी में है। वीभत्स कामजीवन की आधारभूत स्त्रियों के प्रति विरक्ति में है। गुणकीर्ति का पद्यपुराण, जनार्दन का श्रेणिकचरित व जिनसेन का जम्बूस्वामीचरित्र रस-दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

श्लेषात्मक क्लिष्ट रचना के प्रति इन कवियों का उपेक्षाभाव स्वाभाविक है, क्योंकि, ये कवि सामान्यजन के लिए कविकर्म कर रहे थे। संगीतात्मकता पर ये अधिक सजग हैं, इसलिए अनुप्रास व सामान्य यमक इनके लिए उपयोगी रहे हैं। जनार्दन नये उपमानों की योजना करते हैं।¹⁵ अलंकार वस्तु व दृश्य का चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। इन्होंने अलंकारों के बिना भी अनेक दृश्यों के सजीव चित्र उपस्थित किये हैं।

श्रेणिक, अभयकुमार, चेलना, जसोधर, अमृतमती, सुदर्शन, जम्बूस्वामी, जीवन्धर आदि सभी के चरित्र सीमाओं में आबद्ध होते हुए मार्मिक बन पड़े हैं।

प्राकृत चित्रणों में नया व ताजापन है, प्राचीन काव्यों का अनुकरण नहीं।

गर्जना गजाच्या गजघण्टा। अभ्रपटल रम दाटा।

विजा लवती विकटा। तेथे पै।।¹⁶

छन्दों की दृष्टि से ओवी और अभंग ये प्राचीन मराठी के लोकप्रिय छन्द हैं। संस्कृत में अनुष्टुप् की तरह ओवी छोटा-सा व सर्वाधिक प्रयुक्त छन्द है। प्रायः सभी जैन कवियों ने ओवी का ही प्रयोग अधिक किया है। सम्भव है ओवी अनुष्टुप् का अपभ्रंश ही हो। तीन चरणों वाली ओवी को गायत्री छन्द कहा है। कुछ कवियों ने संस्कृत वृत्तों का उपयोग किया है। भक्तामर का अनुवाद वसंततिलका वृत्त में ही हुआ है।

अभंग का उपयोग मुक्तककाव्य के लिए होता है। मराठी संत वाङ्मय में अभंग का अधिक प्रयोग है। महतीसागर, कवीन्द्रसेवक व चिमनापण्डित ने भी भक्ति व वैराग्य के लिए अभंग रचना की। इनमें चिमना पण्डित के अभंग अप्राप्त हैं। जैन कवियों ने राजस्थानी हिन्दी व गुजराती से दूहा, चउपड़, वस्तु (रड्डा) सवैया आदि छन्द मराठी को दिये हैं।

भाषा की दृष्टि से भी इन कवियों का मराठी भाषा व साहित्य को प्रदेय अनुपेक्षणीय है। पन्द्रहवीं शताब्दी से आज तक की मराठी जैन साहित्य की यात्रा एक दीर्घयात्रा है। इस यात्रा में स्थानीय व काल के प्रभाव पड़े हैं। इसका आरम्भ विदर्भ प्रदेश में गुजराती कवियों ने किया है। इसके प्रथम कवि गुणदास (गुणकीर्ति) ईडर पीठ से सम्बद्ध किन्तु जैसवाल जाति के थे।¹⁷ इसलिए इनकी भाषा पर गुजराती व हिन्दी का प्रभाव है। आरम्भिक साहित्य के आधारभूत ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त गुजराती, कन्नड भी रहे हैं। अतः इसमें देखियला, जिम, तिम, पाखे, कहना, काजो, हनाना, सुहावणा, पखी, झूलना आदि गुजराती शब्दों के साथ बोने, मातु, गुढी, मांदुस,

कति आदि कन्नड़ शब्दों का प्रयोग हुआ है। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, आम्रव, संवर, निर्जरा, कर्मप्रकृति, मोहनीय, क्षायिक आदि जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों से मराठी को समृद्ध किया है।

मराठी की प्रादेशिक बोलियों बरारी (विदर्भ प्रदेश की वन्हाडी) व अहिराणी (खानदेश की बोली) के प्राचीन रूप भी इन रचनाओं में देखे जा सकते हैं। नीचा रचित दो गीत हैं, एक अहिराणी गीत, जिसमें श्रीपुर के अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की स्तुति है।

श्रीपुर नग्न सुहावने सहिए। तठे स्वामि जीन पास।

नीलवरन सरिर वो त्यान्हा। सोहे वो उग्रवंस॥

सुहावने, सहिए, त्यान्हा, सोहे आदि शब्द हिन्दी के आसपास है। आगे भी इस तरह 'मननी आस' 'मे देखा' आदि प्रयोग हैं।¹⁹

विदर्भ प्रदेश के कवियों की प्रौढ़ संस्कृतनिष्ठ भाषा पर भी वन्हाडी बोली का प्रभाव है। खुडिका, फासुक, रिछिनी, बिंझगिरी, लहु, दुल्लभ, साहमी जैसे अपभ्रंश शब्द भी प्राचीन जैन मराठी में हैं। अनेक लोकोक्तियों व मुहावरों से परिपूर्ण भाषा का प्रयोग है।

मुद्रणकला से वर्तमान युग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। 1850 के बाद अनेक जैन पत्र-पत्रिकाएँ मराठी में प्रकाशित हुईं। इस युग में भी मुख्य कार्य अन्य भाषाओं से मराठी में अनुवाद कार्य प्रमुख है। मराठी संस्कृति में रचे-बसे सेठ हीराचंद नेमचन्द दोशी हैं। इन्होंने जैनबोधक मासिक-पत्रिका का प्रारम्भ किया। स्वरचित 'जैन धर्माची माहिती' के साथ अन्य समाज में जागृति करने वाली पुस्तकों की रचना की। इनकी दूसरी पीढ़ी में जीवराज गौतमचन्द दोशी ने तत्त्वार्थसूत्र, आत्मानुशासन व तत्कालीन विद्वानों के हिन्दी ग्रन्थों का मराठी अनुवाद किया। तीसरी पीढ़ी के रावजी सखाराम दोशी ने मराठी अनुवाद का काम आगे बढ़ाया। इसी परिवार की कंकुबाई ने भी अनुवाद का कार्य किया। ब्र. जीवराज जी ने अपनी समस्त सम्पत्ति का दानकर जैन संस्कृति संरक्षक संघ की स्थापना की। इसकी जीवराज जैन ग्रन्थमाला ने 50 से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। वर्धा के नेमचन्द व गणपतराव चवडे ने जिस काल में मराठी में 'संगीत सौभद्र', 'संगीत शाकुन्तल' आदि रूप में संस्कृत नाटकों के अनुवाद लिखे जा रहे थे, तब संगीत सुशीलमनोरमा, संगीत गर्वपरिहारनाटक व अनेक कृतियों की रचना की। जैनबन्धु मासिक-पत्रिका का प्रकाशन किया। बालचन्द कस्तूरचन्द गांधी, धाराशिव (उस्मानाबाद) ने कृष्णाजी नारायण जोशी के संस्कृत काव्य व शास्त्रों के अनुवाद प्रकाशित किए। नाना रामचन्द्र नाग ने जैनधर्म स्वीकार कर अनेक ग्रन्थों के अनुवाद व छात्रोपयोगी साहित्य की सर्जना की। कल्लण्णा भरमाणा नितवे, कोल्हापुर, जैनेन्द्र मुद्रणालय के संचालक थे। इन्होंने जैनो के प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों का मराठी

मराठी जैन साहित्य :: 835

भाषान्तर किया। जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले ने लगभग 20 ग्रन्थों का मराठी व हिन्दी अनुवाद किया है। मोतीचन्द हीराचन्द गांधी ने भी कई ग्रन्थों का अनुवाद किया। विशेष यह है कि तमिल कुरल काव्य व श्वेताम्बर आचार्य सिद्धर्षिकृत उपमितिभव प्रपंचाकथा का भी अनुवाद किया है। महावीरचरित्र व तीर्थवंदना विस्तृत स्वतन्त्र पुस्तकें हैं।

अनुवादों के अतिरिक्त आधुनिक युग में जिन स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई, उनमें तात्या पांगळ का भ. महावीर के निर्वाण के बाद की पाँच शताब्दियों का इतिहास वाला कुन्दकुन्दाचार्यचरित्र, जैनधर्म, रावजी नेमचन्द शहा का जैनधर्मादर्श, जैनधर्म विषयक आक्षेपों का निरसन, तीर्थकरों की प्राचीनता, पूजा व सद्यःस्थिति, जगदुद्धारक जैनधर्म, जैन व हिन्दू पंढरपुर का विठोबा, आचार्य आनन्दऋषिजी की जैनधर्म की विशेषता, बाबगोंडा भुजगोंडा पाटील का 'दक्षिणभारत व जैनधर्म' 'ऐतिहासिक जैनवीर' आप्पा भाऊ मगदूम के नेमिसागरचरित, सप्त सम्राट, जैनवीर स्त्रियाँ, चौदा रत्ने, वनराज व वासन्ती शहा का पहिला सम्राट उल्लेखनीय हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण नाम है दत्तत्रय भिमाजी रणदिवे का, जिन्होंने प्राचीन पारम्परिक जैन चरितों पर काव्य व उपन्यास के साथ सामान्य रूप में भी 25 उपन्यास लिखे हैं।²⁰

सम्पूर्ण मराठी जैन साहित्य का मुख्य प्रदेय यह है कि इन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को सर्वोच्च जीवनमूल्य माना है। दया, क्षमा, शान्ति, संयम त्याग गुणों की उपासना की है। मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए उदात्त जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा की है।

सामाजिक दृष्टि से जैन समाज के पृथक् अस्तित्व बनाये रखने में इस मराठी जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन समाज के लोप से जैनधर्म का लोप स्वाभाविक था। अतः यह धार्मिक सामाजिक कार्य इनका बहुत महत्त्वपूर्ण प्रदेय है। इसी से सम्बद्ध एक दूसरा प्रदेय यह है कि इसमें तत्कालीन जैन समाज चित्रित हुआ है। उनके जन्मोत्सव, विवाह, भोज, विशालकाय मन्दिर, पूजा-अर्चा, मुनि-जीवन व्यापार, व्यापार में हानि-लाभ आदि के चित्र हैं। मांसाहार अत्यन्त निन्द्य था। छुआछूत था। सत्पात्रों को दान तथा संघपति बनाकर तीर्थयात्रा कराना मुख्य कार्य था। चित्रपोथी, पुस्तक, सुवर्णशलाका, विद्यार्थियों को लेखन-सामग्री व क्षुल्लिकाओं को साड़ी-दान करने के उल्लेख हैं।

श्रमण साहित्य की परम्परा को अखण्डित रखना तथा पूर्ववर्ती साहित्य का उत्तराधिकार मराठी भाषा तक पहुँचाना एक श्रेष्ठ कार्य है।

मराठी भाषा की समृद्धि में जैनो ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। व इन्होंने मराठी भाषा को अनेक नई काव्य-विधाएँ, विषय, शब्दसम्पदा, छन्द, लोकोक्तियाँ व मुहावरे दिये हैं।

सन्दर्भ

1. नेमिनाथ भवान्तर का प्रास्ताविक—मराठी भाषेच्या गर्भावस्थेपासूनच जैन पंथाचा मराठी भाषेशी आलेला दिसतो...मराठीचे बालपण जैनपरम्परेत जोपासले गेले.
2. लीलावई-कहा, गाथा 41 तथा 1330
3. कुवलयमाला, पृ. 152-3 अनु. 246
4. मन्हाटे बोलणें (जसोधर रास 5/1160) म्हराष्टि (हरिवंश पुराण 2/66) मन्हाष्ट भाषा (पार्श्वनाथ भवान्तर 45) मन्हाष्ट कामराजकृत सुदर्शनचरित्र 15/683 मन्हाष्ट (वीरदासकृत सुदर्शनचरित्र भाषा मागधी (जसोधरपुराण गुणनन्दी 1/14)। मन्हाटी संस्कृत के लेखक शं. बा. जोशी इस प्रदेश का मूल नाथ मरहट्ट माना है—पृ. 31)
5. धर्माभूत 1 व 2 पद्यपुराण 1/36-43 हरिवंशपुराण 5/63-66 जसोधरपुराण 1/17 आदिपुराण (महीचन्द्र) 1/6 जसोधरदास (मेघा पण्डित 1/68) सुदर्शनचरित्र 25/31 जम्बूस्वामीपुराण (जिनसेन 1/24)।
6. श्रेणिकचरित्र—
हा अन्याय क्षमा करावा। पहिल्या ग्रन्थी उपमा।
कथिली नाही दुःख प्रेमा। ती म्या अद्यमान वर्णिली। 38/199
हा अपराध घाला पोटी। पुढे कथेवरी द्यावी दृष्टि 138/199
येथे कासिया विस्तार। ऐसे न वदावें श्रोते चतुर।
नवरस कथेचा प्रकार। याच चरित्रां आणिला॥ 39/195
7. जिनरत्नकोश, पृ. 331
8. प्राचीन मराठी जैन साहित्य डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोळे पृ. 237
9. रयणसेहरनिवकहा, पृ. 10
10. अमितगतिकृत धर्मपरीक्षा 1/10-12
न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनं कृतम्॥
विमुच्य मार्गे कुगतिप्रवर्तकं श्रयन्तु सन्तः सुगतिप्रवर्तकम्।
11. जिनसागरकृत पद्मावती स्तोत्र-12
12. प्राचीन मराठी जैन साहित्य, डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोळे पृ. 56
13. परमहंसकथा जीवराज जैन ग्रन्थमाला पृ. 51
14. अजितकीर्तिकृत अलंकारचिन्तामणिः
तेन संवेद्यमानो यो मोहनीयसमुद्भवः। रसाभिव्यंजकस्थायिभाव चिद्वृत्तिविपर्ययः॥
15. एकला आत्मा कर्म वेडिला/तैसे लक्ष्मण म्लेंछे वेडिला। पद्यपुराण 16/133 कौं कल्पवृक्ष सांडोनी वेगा/बाभळीच्या भक्षी शेंगा॥ जसोधररास, 239
16. गुणकीर्तिकृत पद्यपुराण 18/220
17. प्राचीन मराठी जैन साहित्य, पृ. 25
18. वही, उद्धृत, पृ. 109
19. वही उद्धृत चारठाणा व्रतकथा पृ. 93
20. वर्तमान कालीन मराठी जैन साहित्यकार एवं उनकी रचनाएँ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-7

हिन्दी जैन साहित्य

प्रो. (श्रीमती) पुष्पलता जैन

हिन्दी साहित्य की एक लम्बी परम्परा है और उस परम्परा से जैनाचार्य आदिकाल से ही जुड़े रहे हैं। हिन्दी की लगभग सभी प्रवृत्तियों के वे जनक और पुरोधा भी हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में भी उनका अनूठा योगदान अविस्मरणीय है। उनके साहित्य में एक ओर जहाँ आलंकारिकता, साहित्यिकता और शान्तरस-प्रवणता मुखरित होती रही है, वहीं वे विशुद्ध पुरुषार्थवादी अर्थात् आत्मवादी, ध्यानवादी, क्रियावादी, कर्मवादी और निर्वाणवादी भी रहे हैं। उन्होंने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की पृष्ठभूमि में वस्तु की यथार्थवत्ता को परखा, रत्नत्रय का आस्वाद चखा, आस्रव-बन्ध की प्रक्रिया समझी और संवर-निर्जरा के माध्यम से परमात्मपद प्राप्ति की ओर अपने चरण बढ़ाये। वैभाविक परिणति से मुक्त होकर स्वाभाविकता, समरसता, समता और सहजता से भरे आचरण की महावीथि पर उन्होंने पद-न्यास किया। जैनाचार्यों का समूचा हिन्दी साहित्य 'कोऽहं- से 'सोऽहं' की यात्रा की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। यही उनका सांस्कृतिक वजूद है और यही उनका योगदान है।

प्रस्तुत आलेख में हम हिन्दी साहित्य परम्परा को जैनाचार्यों का योगदान हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल की परिधि में रहकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

आदिकालीन हिन्दी जैन काव्य-प्रवृत्तियाँ

इतिहास का मध्यकाल संस्कृत और प्राकृत की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद बाण और श्रीहर्ष तक कान्यकुब्ज संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहा। इसी तरह मान्यखेट, माहिष्मती, पट्टण, धारा, काशी, लक्ष्मणवती आदि नगर भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस काल में संस्कृत साहित्य पांडित्य-प्रदर्शन तथा शास्त्रीय वाद-विवाद के पचड़े में पड़ गया। वहाँ भावपक्ष की अपेक्षा कला पक्ष पर अधिक जोर दिया गया। इसे ह्रसोन्मुख काल की संज्ञा दी जाती है। उत्तरकाल में उसका कोई विकास नहीं हो सका।

इस युग में जिनभद्र, हरिभद्र, शीलांक, अभयदेव, मलयगिरि, हेमचन्द्र आदि का

पूर्ण साहित्य; अमृतचन्द्र, जयसेन, मल्लिषेण, मेघनन्दन, सिद्धसेनसूरि, माघनन्दि, जयशेखर, आशाधर, रत्नमन्दिरगणी आदि का सिद्धान्त साहित्य; हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द, हेमचन्द, मल्लिषेण, यशोविजय आदि का न्याय-विषयक साहित्य; अमितगति, सोमदेव, माघनन्दि, आशाधर, वीरनन्दि, सोमप्रभसूरि, देवेन्द्रसूरि, राजमल्ल आदि का आचार-शास्त्र साहित्य; अकलंक, वप्पिभट्ट, धनंजय, विद्यानन्दि, वादिराज, मानतुंग, हेमचन्द, आशाधर, पद्मनन्दि, दिवाकरमुनि आदि का भक्ति-परक साहित्य; रविषेण, जिनसेन, गुणभद्र, श्रीचन्द, दामनन्दि, मल्लिषेण, देवप्रभसूरि, हेमचन्द, आशाधर, जिनहर्षगणि, मेरुतुंगसूरि, विनयचन्दसूरि, गुणविजयगणि आदि का पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य-साहित्य; हरिषेण, प्रभाचन्द, सिद्धर्षि, रत्नप्रभाचार्य, जिनरत्नसूरि, माणिक्यसूरि आदि का कथा-साहित्य संस्कृत भाषा में निबद्ध हुआ। इसी तरह ललित, ज्योतिष, कोश, व्याकरण, आयुर्वेद, अलंकार-शास्त्र आदि क्षेत्रों में जैन कवियों ने संस्कृत भाषा के साहित्य-भंडार को भरपूर समृद्ध किया।

इसी युग में प्राकृत भाषा में आगमों पर भाष्य, चूर्ण व टीका-साहित्य लिखा गया। कर्म-साहित्य के क्षेत्र में वीरसेन, जयसेन, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, वीरशेखरविजय, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, जिनबल्लभगणि, देवेन्द्रसूरि, हर्षकुलगणि आदि आचार्यों ने; सिद्धान्त के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि, कुमार कार्तिकेय, शान्तिनसूरि, राजशेखरसूरि, जयबल्लभ, गुणरत्नविजय आदि आचार्यों ने; आचार व भक्ति के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि, वीरभद्र, देवेन्द्रसूरि, वसुनन्दि, जिनप्रभसूरि, धर्मघोषसूरि आदि आचार्यों ने; पौराणिक और कथा के क्षेत्र में शीलाचार्य, भद्रेश्वरसूरि, सोमप्रभाचार्य, श्रीचन्दसूरि, लक्ष्मणगणि, संघदासगणि, धर्मदासगणि, जयसिंहसूरि, देवभद्रसूरि, देवेन्द्रगणि, रत्नशेखरसूरि, उद्योतनसूरि, गुणपालमुनि, देवेन्द्रसूरि आदि आचार्यों ने प्राकृत-भाषा में शताधिक ग्रन्थ लिखे। लाक्षणिक, गणित, ज्योतिष, शिल्प आदि क्षेत्रों में भी प्राकृत-भाषा को अपनाया गया, जिसने हिन्दी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव

प्राकृत के ही उत्तरवर्ती विकसित रूप अपभ्रंश ने तो हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। स्वयंभू (7-8वीं शती) का पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ, धवला (10-11वीं शती) और यशःकीर्ति (15वीं शती) के हरिवंशपुराण, पुष्पदन्त (10वीं शती) के तिसट्ठपुरिसगुणालंकार (महापुराण), जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ, धनपाल धक्कड़ (10वीं शती) का भविसयत्तकहा, कनकामर (10वीं शती) का करकंड चरिउ, धाहिल (10वीं शती) का पउमसिरिचरिउ, हरिदेव का मयणपराजय, अब्दुल रहमान का संदेसरासक, रामसिंह का पाहुड़दोहा, देवसेन का सावयधम्मदोहा आदि सैकड़ों ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे गये हैं, जिन्होंने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल

को प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धान्तों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजतापूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कड़ी है।

अपभ्रंश-साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश भाषा की तरह अपभ्रंश साहित्य ने भी हिन्दी, जैन व जैनतर साहित्य को कम प्रभावित नहीं किया है, यह साहित्य मुख्यतः प्रबन्धकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तककाव्य की प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ है। पुराणकाव्य और चरितकाव्य संवेतात्मक हैं। यहाँ जैन महापुरुषों के चरित का आख्यान करते हुए आध्यात्मिकता और काव्यत्व का समन्वय किया गया है। समूचे जैन साहित्य में ये दोनों तत्त्व आपादमग्न हैं।

अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव मरु गुर्जर साहित्य पर भी पड़ा है। अपभ्रंश की चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, शुकहंस आदि को दूत बनाने की प्रवृत्ति, समुद्र यात्रा में तूफान आदि कथानक रूढ़ियाँ अपभ्रंश से गुर्जर और राजस्थानी साहित्य में पल्लवित हुई हैं। अपभ्रंश के दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग यहाँ बहुत हुआ है। रास, फागु, चउपड़, वेलि, चर्चरी, छप्पय, बारहमासा, लावणी, प्रहेलिका, आख्यान, चरित, वावनी, छत्तीसी, सत्तरी, चूनडी आदि जैसे विविध काव्य-रूप अपभ्रंश-साहित्य के ही प्रभाव में पनपे हैं। जैन साहित्य का अंगी-रस शान्तरस भक्ति और निर्वेद की गोद में पलकर अपभ्रंश साहित्य के द्वार से यहाँ और भी विकसित हुआ है। रसरज शान्तरस का स्थायी भाव वैराग्य है, जो जैनधर्म की मूल आत्मा है। जैन साहित्य का अधिकांश भाग वैराग्यपरक ही है।

अपभ्रंश और अवहट्ट

अपभ्रंश ने कालान्तर में साहित्यिक रूप ले लिया और भाषा के विकास की गति के हिसाब से वह आगे बढ़ी, जिसको अवहट्ट कहा गया। इसी को हम पुरानी हिन्दी कहना चाहेंगे। विद्वानों ने इसकी काल सीमा 11वीं शती से 14वीं शती तक रखी है। अब्दुल रहमान का सन्देशरासक, शालिभद्र सूरि का बाहुबली रास, जिनपदम सूरि का शूलिभद्र फागु आदि रचनाएँ इसी काल में आती हैं।

काल-विभाजन

जैन साहित्य को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— पहला अपभ्रंश-बहुल हिन्दी-काल और दूसरा प्रारम्भिक हिन्दी-काल। स्वयंभू ने अपभ्रंश को 'देसी भासा' की संज्ञा दी है। इससे हिन्दी के विकास में अपभ्रंश और देशी भाषा के महत्त्व को विशेष रूप से समझा जा सकता है। उत्तरकालीन कवि लक्ष्मणदेव ने जेमिणाहचरित

में 'णउ सक्कड पाउअ देस भासा' कहकर इसी स्वरूप को 'अवहट्ट और देसिल वअना' की संज्ञा दी है। रुद्रट, राजशेखर आदि कवियों ने भी अपभ्रंश को भाषा के विभेदों में गिना है। अतः इस काल को हिन्दी का आदिकाल कहा जा सकता है। इसके बावजूद व्यावहारिक दृष्टि से आदिकाल को लगभग 11वीं शती से 14वीं शती तक मानते हैं; 7वीं शती से 10वीं शती तक का काल उसकी पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

आदिकाल का अपभ्रंश-बहुल प्रारम्भिक साहित्य

प्राकृत के ही उत्तरवर्ती विकसित रूप अपभ्रंश ने तो हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। स्वयंभू (7-8वीं शती) का पउमचरिउ और रिट्टणेमिचरिउ, धवल (10-11वीं शती) और यशःकीर्ति के हरिवंशपुराण, पुष्पदन्त (10वीं शती) तिसद्विट-पुरिस गुणालंकार (महापुराण), जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ, धनपाल धक्कड (10वीं शती) का भविसयत्त कहा, कनकामर (10वीं शती) का करकंडचरिउ, धाहिल (10वीं शती) का पउमसिरिचरि, हरिदेव का मयणपराजय, अब्दुल रहमान का सन्देसरासक, रामसिंह का पाहुड दोहा, देवसेन का सावयधम्मदोहा आदि सैकड़ों ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे गये हैं, जिन्होंने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल को प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा, स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धान्तों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजतापूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कड़ी है।

अपभ्रंश का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उसे हम पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी अपभ्रंश में विभाजित कर सकते हैं। पूर्वी अपभ्रंश से ही बंगला, उड़िया, भोजपुरी, मैथिली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, वधेली आदि भाषाएँ निकली हैं और पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती, बुन्देली आदि भाषाएँ उद्भूत हुई हैं। दोनों के मूल में शौरसेनी प्राकृत रही है। शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश और इससे एक ओर हिन्दी की बोलियाँ ब्रजभाषा, खड़ी बोली, बुन्देली तथा दूसरी ओर उसके एक प्रादेशिक रूप नागर या महाराष्ट्री अपभ्रंश से गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी का विकास हुआ है।

अपभ्रंश कवियों की भाषा हिन्दी के आदिकाल की ओर झुकती हुई दिखाई देती है। हेमचन्द्र तक आते-आते यह प्रवृत्ति और अधिक परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणतः—

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि म्हरा कंतु।
लज्जेज्जन्तु वयंसिय हु, जइ भग्ग धरु एतु॥

हिन्दी के आदिकाल को अधिकांश रूप में जैन कवियों ने समृद्ध किया है। इनमें गुजराती और राजस्थानी कवियों का विशेष योगदान रहा है। यहाँ हम अपभ्रंश कवियों को छोड़कर गुजराती और राजस्थानी हिन्दी जैन साहित्यकारों का विशेष उल्लेख कर रहे हैं। उनका समय साधारणतः 13-14वीं शती के बीच होता है। इस युग में काव्य और रासा साहित्य ही अधिक मिलता है। इसलिए यहाँ हम प्रवृत्ति-गत उल्लेख न कर आचार्य-क्रम से उसका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। 11-12वीं शती का साहित्य अपभ्रंश-मूलक है। इसलिए उसे यहाँ विस्तारभय से छोड़ा जा रहा है।

13वीं शती के हिन्दी जैन कवि

अभयदेव सूरि—नवांगो वृत्तिकार अभयदेव (सं. 1139) का 'जयति-हुमणस्तोत्र' तथा द्वितीय अभयदेव का 'जयन्तविजय काव्य' (सं. 1285) प्रसिद्ध है।

आसिग (सं. 1257)—आपकी तीन रचनाएँ मिलती हैं—जीवदयारास, (53 गा.) चन्दनवाला रास (35 पद्य) और शान्तिनाथ रास। इनकी भाषा का उदाहरण है—“केधिर सालि दालि भुजंता, धिम धलहलु मज्जे विलहंता”।

श्रावक जगडू (13-14वीं शती)—खरतरगच्छीय आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। आपकी रचना 'सम्यक्त्व माइ चउपइ (64 पद्य), उपलब्ध है। इसकी भाषा का उदाहरण देखें—“समकित विणु जो क्रिया करेइ, तालइलोहि नीरु घालेइ”।

जिनेश्वर सूरि (सं. 1207)—आप जिनपति के पट्टधर थे। आपकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं—1. महावीर जन्माभिषेक (14 पद्य), 2. श्रीवासुपूज्य बोलिका, 3. चर्चरी, और 4. शान्तिनाथ बोली।

अन्य प्रमुख आदिकालीन हिन्दी जैन कवि इस प्रकार हैं—जयमंगलसूरि (13वीं शती)—महावीर जन्माभिषेक। जयदेवगणि (13वीं शती)—‘भावना सन्धि’ काव्य। देलहण—गयसुकुमालरास (34 पद्य)—सं. 1300। धर्मसूरि—जम्बूस्वामीचरित (41 पद्य)—सं. 1266, स्थूलिभद्ररास (47 पद्य)। सुभद्रासती चतुष्पदिका (42 पद्य), मयणरेहारास (36 पद्य)। नेमिचन्द्र भंडारी—षष्टिशतक (160 गाथा, प्राकृत) गुरुगुणवर्णन (35 पद्य)। पृथ्वीचन्द्र—मातृका प्रथमाक्षर दोहा (58 दोहे) (सं. 1265), (रसविलास)। पाल्हण—आबूरास (नेमिनाथ रासो)—50 पद्य (सं. 1289)। पुण्यसागर—श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टकम् (सं. 1205), भत्तउ—श्रीमज्जिनपतिसूरीणां गीतम् (20 द्विपदिकाएँ)—13वीं शती। यशः कीर्ति (प्रथम)—जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला—(13वीं शती)। रत्नप्रभ सूरि—‘अन्तरंग सन्धि’ काव्य (सं. 1227)—37 कुलक। शाहरयण—जिनपति सूरि धवलगीत (सं. 1277)। श्रावक लखण—जिनचन्द्रसूरि काव्याष्टकम् (13वीं शती)। पंडित लाखू—जिणदत्तचरित (सं. 1275)। श्रावकलखमसी—जिनचन्द्रसूरि वर्णनारास (सं. 1371)।

लक्ष्मण-अणुवरयण पईउ (सं. 1313)। लाखभदेव-णेमिणाहचरिउ (सं. 1510)। वरदत्त-वैर सामिचरित्र। वज्रसेन सूरि-भरतेश्वर बाहुबली घोर (45 पद्य)---सं. 1235। वादिदेवसूरि-मुनिचन्द्र गुरु स्तुति (25 पद्य) (सं. 1200)। प्रमाणनय तत्त्व लोकात्कार। विजयसेन सूरि-रेवंतगिरि रास (सं. 1287)-(72 पद्य) (खंडकाव्य)। उदयप्रभसूरि-संघपतिचरित, धर्माभ्युदय। वीरप्रभ-चन्द्रप्रभकलश। शालिभद्र-भरतेश्वर बाहुबलिरास (सं. 1241)-203 पद्य, बुद्धिरास, हितशिक्षाप्रबुद्धरास। सिरिमा महत्तरा-जिनपति सूरि बधामणा गीत (सं. 1233) 20 गाथा। सुमतिगणि-नेमिरास-57 पद्य (सं. 1267), गणधर सार्धशतकवृहद्-वृत्ति। सुप्रभाचार्य-वैराग्यसार (77 पद्य) (13वीं शती)। सोमप्रभ-कुमारपालप्रतिबोध (सं. 1251)। सूक्तिमुक्तावली (सिन्दूर प्रकरण)। सुमतिनाथ चरित्र। शतार्थ काव्य-हरिभद्रसूरि-णेमिनाहचरिउ (सं. 1216)। हरिदेव-मयणपराजय चरिउ (13वीं शती)। अज्ञातकवि-कर्तृक रचनाएँ-गुरुगण षट्पट (सं. 1278)। जिणदत्तसूरिस्तुति (सं. 1211)।

14वीं शती के हिन्दी जैन कवि

अभयतिलक गणि-महावीर रास (सं. 1307) 21 पद्य। अमर प्रभसूरि-तीर्थमालस्तवन (सं 1323)-36 पद्य। आनन्दतिलक-आणंदा (14वीं शती)। अम्बदेवसूरि-समरादास (सं 1371)। उदयकरण-कयलवाड पार्श्वस्तोत्र (14वीं शती)। जोरावला पार्श्वनाथ स्तोत्र। फलबर्द्धि पार्श्वनाथ स्तोत्र। उदयधर्म-उवाएस माल कहाणय छप्पय (81 छप्पयछन्द) (14वीं शती)। गुणाकरसूरि-श्रावक विधि रास (सं. 1371)। घेल्ल-चउवीस गीत (सं. 1371)। चारित्रगणि-जिनचन्द्र सूरि रेलुआ (9गा) (14वीं शती)। छल्लु-क्षेत्रपाल द्विपदिका (सं. 1425)-(8 गा.)। पहाडिया राग, प्रभातिक नामावलि।

जयदेव मुनि-भावना सन्धि प्रकरण (14वीं शती)-6 कडवक। जयधर्म-जिनकुसल सूरि रेलुआ (10 गा.)। धर्मचर्चरी, सालिभद्रसेलुआ, थूलिभद्रवर्णनाबोली। जिनकुशलसूरि-चैत्यवन्दना कुलकवृत्ति (14वीं शती)। जिनचन्द्रसूरि चतुःसप्ततिका, फलौधी पार्श्वस्तोत्र, सिद्धक्षेत्र आदि जिन स्तवन और भी अनेक स्तोत्र। जिनपद्मसूरि-थूलिभद्रफागु (27 पद्य)-14वीं शती। श्री शत्रुंजय चतुर्विंशति स्तवन। जिनप्रभसूरि-पद्मावती चौपाई (37 पद्य) लगभग 700 संस्कृत स्तवन विविधतीर्थ कल्पप्रदीप। देवचन्द्रसूरि-रावण पार्श्वनाथ विनती (9गा.) (14वीं शती)। धर्मकलश-जिनकुशल सूरिपट्टाभिषेकरास (सं. 1377)। धर्मसूरि-समेदशिखरतीर्थ नमस्कार (14वीं शती)। धारिसिंह-श्रीनेमिनाथ धुल (71 छन्द)। पद्म-नेमिनाथ फागु (सं. 1370) सालीभद्रकक्क, दूहामातृका। पद्ममल-जिनप्रबोध सूरिवर्णन (10 गा.)। प्रज्ञातिलक-कच्छुलीरास (सं. 1363)। फेरु (ठक्कुर)-श्री युगप्रधान चतुष्पदिका (28 गा.)। महेश्वरसूरि-संयममंजरी (35 दोहे) (सं. 1365)।

मेरुतुंग-प्रबन्ध चिन्तामणि (सं. 1361)। मोदमदिर-चतुर्विंशति जिनचतुष्पदिका (27 छन्द)। मंडलिक-पेथड़ रास (65 पद्य) (सं. 1360)। रत्न-जिणदत्तचरित्र (सं. 1354)। मुनिराजतिलक-शालिभद्ररास (35 पद्य)- सं. 1332। राजकीर्ति-चउवीस जिन स्तवन (25 गा.)। राजबल्लभ-धूलिभद्रफाग (सं. 1340)। रामभद्र-शान्तिनाथकलश (10 गा.)। श्रावक लखमसी-जिनचन्द्रसूरिवर्णनारास (सं. 1341)। लाखम (लक्ष्मणदेव)-णेमिणाहचरित (सं. 1510)। लक्ष्मीतिलक उपाध्याय-प्रत्येक बुद्धचरित्र (10130 पद्य)-सं. 1311। श्रावक धर्मप्रकरण बृहद्वृत्ति (15131 पद्य) (सं. 1317)। शान्तिदेवरास (सं. 1313)। वस्तिग-वीस विहरमानरास (सं. 1462) चिहुंगति चउपई। विनयचन्द्रसूरि-नेमिनाथचतुष्पादिका (40 पद्य)। बारब्रतरास (41 पद्य), आनन्द प्रथमोपासक सन्धि। वीरप्रभ-श्री चन्द्रप्रभ कलश (16 गाथा)। श्रीधर-भविष्यदत्तकथा, चन्द्रप्रभचरित, बड्डमाणचरित, शान्तिजिनचरित। शान्तिभद्र-चतुर्विंशतिनमस्कार (14वीं शती)। शान्तिसूरि-सोमन्थर स्तवन (8 गा.)। सहज ज्ञान-श्री जिनचन्द्रसूरि विवाहलउ। सारमूर्ति-जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक (सं. 1390)। सोममूर्ति-श्रीजिनेश्वर सूरि संयम श्री विवाह वर्णनारास (33 पद्य)। जिनप्रबोध सूरि चर्चरी (16 गा.)। जिनप्रबोधसूरि बोलिका (12 गा.)। सोलणु-चर्चरिका (38 पद्य)। हेमभूषणगणि-युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि चर्चरी (सं. 1341) (25 पद्य)। अज्ञातकर्तृक रचनाएँ-जिनचन्द्रसूरि फागू (सं. 1341), श्री जिणचन्द सूरि चतुष्पदी (10 गा.), सप्तक्षत्री रास (सं. 1327) 119 पद्य, बारहब्रत चौपाई, स्तम्भतीर्थ अजित स्तवन (25 गा.), अनाथी कुलक (36 कडी)। धना सन्धि (61 गाथा), केसी गोयम सन्धि, अनाथी मुनि चौपाई (63 गा.)। आनन्द सन्धि, हेमतिलकसूरि सन्धि, युगवर गुरु स्तुति (गा. 6)। अन्तरंगरास (67 कडी), कर्मगति चौपाई। रत्नशेखररास (268 पद्य), मातृका चउपइ (64 छन्द)।

आदिकालीन कवियों के इस संक्षिप्त विवरण को देखने पर हमारा ध्यान इस काल की विविध विधाओं की ओर खिंच जाता है, जिनका प्रयोग इन कवियों ने किया है। इन काव्य-रूप विधाओं में रासा, चउपइ, चर्चरी, फागु, रूपक, विवाहलउ, रेलुआ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

काव्य-रूप

अपभ्रंश की काव्य-विद्या आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में अनेक रूपों में प्रवाहित हुई है। चरित, आख्यान, सन्धि, लावणी आदि सभी—कुछ इसी के अंग हैं। प्रबन्ध काव्यों को छन्द, प्रबन्ध, रास-रासो, चरित आदि कहा गया है। समरास, पेथड़-रास, वस्तुपाल-तैजपाल रास वस्तुतः प्रबन्ध-काव्य हैं। गणपतिकृत माधवानल, जयशेखरसूरिकृत त्रिभुवनदीपक, प्रबन्ध लाख का जिणदत्तचरित, वरदत्त का वैरसामिचरित्र,

हरिभद्रसूरि का नेमिनाहचरित, हरिदेव का मयणपराजयचरित ऐसी ही आदिकालीन रचनाएँ हैं।

सन्धि भी आकार-प्रकार में प्रबन्धकाव्य में लघु रूप ही हैं। रत्नप्रभकृत अन्तरंगारास (सं. 1237), जिनप्रभसूरिकृत मयणरेहा-सन्धि, अनाथी सन्धि, जीवानुशास्ति सन्धि, जयदेव गणि की भावना-सन्धि इस विधा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इसी तरह मातृका भी एक प्रकार का काव्य-रूप है, जो बारह खड़ी पर आधारित है। छद्म की दूहामातृका ऐसी ही रचना है। उन्हीं की एक-और रचना है, जो सालीभद्रकक्क के नाम से विश्रुत है। यह कक्क शैली मातृका-जैसी ही है। इसमें भी 'अ' से चलकर 'क्ष' पर रचना समाप्त होती है।

रेलुआ नाम की रचनाएँ भी ऐसी ही हैं। चारित्रगणि की जिनचन्द्रसूरि रेलुआ, जयधर्म की जिनकुशलसूरि रेलुआ इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। 14वीं शती की रेलुआ संज्ञक कुछ अन्य रचनाएँ भी हैं—जिनकुशल सूरि रेलुआ, सालिभद्र रेलुआ, गुरावली रेलुआ आदि। स्तवन, प्रकरण, गीत, स्तोत्र, छप्पय आदि काव्य विधाएँ भी यहाँ दृष्टव्य हैं।

अध्यात्मवादी कवियों में दसवीं शताब्दी के देवसेन और जोइन्दु तथा रामसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। देवसेन का सावय-धम्म-दोहा श्रावकों के लिए नीतिपरक उपदेश प्रस्तुत करता है। जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार में सरल भाषा में संसारी आत्मा को परमात्मपद प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। रामसिंह ने पाहुड़ दोहा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के व्यावहारिक स्वरूप को प्रतिपादित किया है। इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थों की भाषा हिन्दी के आदिकाल की ओर झुकती हुई दिखायी देती है। हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) तक आते-आते यह प्रवृत्ति और-अधिक परिलक्षित होने लगती है—

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि म्हारा कंतु।

लज्जेज्जन्तु वयंसियहु, जइ भग धरु एंतु॥

हिन्दी के आदिकाल की अधिकांश रूप में जैन-कवियों ने समृद्ध किया है। इनमें गुजराती और राजस्थानी कवियों का विशेष योगदान रहा है। आदिकाल के प्रथम हिन्दी कवि के रूप में भरतेश्वर बाहुबली के रचयिता (सं 1241) शालिभद्र सूरि को स्वीकार किया जाने लगा है। यह रचना पश्चिमी राजस्थानी की है। जिसमें प्राचीन हिन्दी का रूप उद्घाटित हुआ है। इसमें 203 छन्द हैं। कथा का विभाजन वसतु, ठवणि, धउल, त्रोटक में किया गया है। नाटकीय संवाद सरस, सरल और प्रभावक है। भाषा की सरलता उदाहरणीय है—

चन्द्र-चूड विज्जाहर राउ, तिणि वातईं मनि विहीय विसाउ।

हा कुल मण्डण हा कुलवीर, हा समरंगणि साहस धीर। ठवणि 13 ॥

हिन्दी जैन साहित्य :: 845

जिनदत्त सूरि के चर्चरी उपदेश, रसावनरास और काल स्वरूप कुलकम अपभ्रंश की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कवि आसिग का जीवदया-रास (वि. सं. 1257, सन् 1200) यद्यपि आकार में छोटा है, पर प्रकार की दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। इसमें संसार का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन्हीं कवि का चन्दनवाला रास है, जिसमें उसने नारी की संवदेना को बड़े ही सरस ढंग से उकेरा है, अभिव्यक्त किया है। भाषा की दृष्टि से देखिए—

भुंभर भोली ता सुकुमाला नाउ दीन्हु तसु चंदण बाला। 121॥

आधो खंडा तप किया, किव आभइ बहु सुक्ख निहाणु। 126॥

विजयसेन सूरि का रेवंतगिरि रास (वि. सं. 1287 सन् 1230) ऐतिहासिक रास है, जिसमें रेवंतगिरि जैन तीर्थ यात्रा का वर्णन है। यह चार कडवों में विभक्त है। इसमें वस्तुपाल, तेजपाल के संघ द्वारा तीर्थकर नेमिनाथ की मूर्ति-प्रतिष्ठा का गीतिपरक वर्णन है। भाषा प्रांजल और शैली आकर्षक है। इसी तरह सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (सं. 1295), देवेन्द्र सूरि का गयसुकुमाल रास (सं. 1300), पल्हण का आबूरास (13वींशती), प्रज्ञातिलक का कछूली रास (सं. 1363), अम्बदेव का समरा रास (सं. 1371), शालिभद्र सूरि का पंचपांडव चरित रास (सं. 1410), विनयप्रभ का गौतम स्वामी रास (सं. 1412), देवप्रभ का कुमारपाल रास (सं. 1450) आदि कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इस काल की कुछ फागु कृतियाँ भी इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं। इन फागु कृतियों में जिनपदम की सिरि थूलिभद्र फागु (सं. 1390), राजशेखर सूरि का नेमिनाथ फागु (सं. 1405), कतिपय अज्ञात कवियों की जिन चन्द्र सूरि फागु (सं. 1341), वसन्त विलास फागु (सं. 1400) का भी उल्लेख करना आवश्यक है।

आदिकाल की इस भाषिक और साहित्यिक प्रवृत्ति ने मध्यकालीन कवियों को बेहद प्रभावित किया। विषय, भाषा शैली और परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने आध्यात्मिक और भक्ति-मूलक रचनाएँ लिखीं। इन रचनाओं में उन्होंने आदिकालीन काव्य शैलियों और काव्य रूढ़ियों का भी भरसक उपयोग किया। हिन्दी के आख्यानक काव्य अपभ्रंश साहित्य में ग्रथित लोक-कथाओं पर खड़े हुए हैं। देवसेन, जोइन्दु और रामसिंह-जैसे रहस्यवादी जैन कवियों के प्रभाव को हिन्दी सन्त-साहित्य पर आसानी से देखा जा सकता है। भाषा, छन्द, विधान और काव्य रूपों की दृष्टि से भी अपभ्रंश काव्यगत वसन्तु-ऋतु-वर्णन और प्रकृति-चित्रण उत्तरकालीन हिन्दी कवियों के लिए उपजीवक सिद्ध हुए हैं। जायसी और तुलसी पर उनका अमिट प्रभाव दृष्टव्य है। छन्द-विधान, काव्य और कथानक रूढ़ियों के क्षेत्र में यह प्रभाव अधिक देखा जाता है। प्रभाव ही क्या प्रायः समूचा हिन्दी-जैन-साहित्य अपभ्रंश-साहित्य की रूढ़ियों पर लिखा गया है।

हिन्दी गीति-काव्य

गाथासत्तसई का प्रभाव संस्कृत के आचार्य गोवर्धन और अमरुक पर दिखाई देता है, तो हिन्दी के कवि विहारी की विहारी सतसई, दयाराम की दयाराम सतसई जैसे काव्यों में भी उसकी परम्परा समाहित है। इसी तरह वज्जालगं ने भामह, भर्तृहरि, पंडितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत कवियों को और तुलसीदास, रहीम आदि हिन्दी कवियों को प्रभावित किया है। इस काव्य में मुनि जयवल्लभ ने लोकजीवन का बड़ा मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। उदाहरण के रूप में निम्न गाथा देखिए, जिसमें लौकी के फूल का कितना सुन्दर चित्रण हुआ है—

मा इंदिर तुंगसु पंकयदलणिलय मालईविरहे ।

तुंकिणिकुसुमाई न संपडंति दिव्ये पराहुते ॥

—भ्रमरवज्जा: गाथा सं. 245

इसी सन्दर्भ में प्राकृत के उवसग्गहर स्तोत्र, अजियसंतिथुय आदि स्तोत्र—काव्य और वैराग्यशतक, वैराग्य-रसायन-प्रकरण आदि नीति-परक गीति-काव्यों को भी उल्लिखित किया जा सकता है।

प्राकृत-गीति-काव्य या मुक्तक काव्य की पृष्ठभूमि में पारलौकिकता और मुक्ति-प्राप्ति का दृष्टिकोण मुख्य रहा है। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन का विशेष स्थान है। मुक्तक काव्य के रचनाकारों में आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, शिवार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, योगीन्दु, हेमचन्द्र, मुनि रामसिंह, देवसेन आदि सन्तों के नाम उल्लेखनीय हैं। गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, कर्पूरमंजरी, वज्जालगं आदि ग्रन्थ भी मुक्तक काव्य की परम्परा में आते हैं।

इसी परम्परा से परमात्मप्रकाश, पाहुड-दोहा, सावय-धम्म-दोहा जैसे मुक्तक-काव्य भी सम्बद्ध हैं। इस परम्परा ने रीति-युगीन हिन्दी-मुक्तक-काव्य-परम्परा पर भी विशद प्रभाव डाला है। इस युग में शृंगार और प्रकृति को काव्य का मुख्य विषय बनाया गया। विशेषता यह रही कि रीतिकालीन कवियों ने नायिकाओं के शृंगार और प्रसाधन में जो अतिशयोक्ति-पूर्ण व्यंजना का प्रदर्शन किया, वह प्राकृत काव्य में नहीं दिखता। प्राकृत मुक्तक काव्य में नायिकाएँ नागरिक एवं ग्राम्य इन दोनों क्षेत्रों से आती थीं। इनके प्रेम-प्रसंगों में तत्कालीन रीति-नीति, आचार-विचार एवं युग-सन्दर्भों का प्रतिफलन होता था। यहाँ मात्र शब्दाडम्बर और अलंकार-प्रियता ही नहीं थी, बल्कि तारल्य और उक्ति-वैचित्र्य भी दिखाई देता था। यह-सब रीतिकालीन-हिन्दी-मुक्तक-काव्य में नहीं मिलता। सतसई के व्यंजना-गर्भित-काव्य-जैसा कोई भी रीतिकालीन हिन्दी काव्य देखने में नहीं आया। यही कारण है कि प्राकृत काव्यों को अलंकार-

हिन्दी जैन साहित्य :: 847

शास्त्रियों ने काफी उद्धृत किया है। पालि में कोई उद्धरण उन्हें इसीलिए नहीं मिल पाया क्योंकि प्राकृत जैसा वैविध्य वहाँ नहीं था। इसी तरह के अन्य प्राकृत काव्यों में विल्हण कृत चौर पंचासिकाय, गोवर्धन कृत आर्या सप्तसती, क्षेमेन्द्र कृत घटकपूर तथा नेमिदूतम् और रहमाण कृत सन्देसरासक विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य शृंगार परक रचनाओं में जयवल्लभ कृत वज्जालगं प्रमुख है। इस काल की कवयित्रियों में विजया करनाटी, शील भट्टिका और मारुला मोतिका के नाम भी छन्दल ग्रन्थों में उल्लिखित हुए हैं। जयदेव और विद्यापति भी प्राकृत और अपभ्रंश मुक्तक परम्परा के ऋणी हैं।

प्राकृत गीतिकाव्य के साथ उसके प्रमुख छन्द गाहा की बात किए बिना मुक्तक काव्य परम्परा की बात अधूरी रह जाएगी। गाथा वस्तुतः गीति है जिसका सम्बन्ध मन्त्रगान और लोकगीत से रहा है।

इस प्रकार अपभ्रंश और अवहट्ट से संक्रमित होकर आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य प्राचीन दाय के साथ सतत बढ़ता रहा और मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य को वह परम्परा सौंप दी। मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य की लगभग सभी विशेषताओं का आचमन किया और उन्हें सुनियोजित ढंग से सँवारा, बढ़ाया और समृद्ध किया। इस प्रवृत्ति में जैन कवियों ने आदान-प्रदान करते हुए कतिपय नये मानों की भी प्रस्तुत किया है जो कालान्तर में विधा के रूप में स्वीकृत हुए हैं। यही उनका योगदान है।

प्राचीन हिन्दी भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करने से यह तथ्य भी प्रच्छन्न नहीं रहता कि शौरसेनी प्राकृत के आधार पर आधुनिक पश्चिमी और मध्यदेशीय हिन्दी भाषाओं का विकास हुआ। पश्चिमी हिन्दी में गुजराती और राजस्थानी तथा मध्यदेशीय हिन्दी में पश्चिमी हिन्दी सम्मिलित है। यह पश्चिमी हिन्दी उत्तरप्रदेश के सम्पूर्ण पश्चिमी क्षेत्र और हरियाणा में बोली जाती है। ब्रजभाषा, बुन्देली और कन्नौजी भी इसी में गर्भित है। पूर्वी हिन्दी से यह पृथक् है। पूर्वी हिन्दी का विकास अर्धमागधी की अपभ्रंश से हुआ है इसके अन्तर्गत तीन बोलियाँ आती हैं—अवधी, वघेली और छत्तीसगढ़ी। इन पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के रूपों में वैसे ही आदान-प्रदान हुआ है जैसे शौरसेनी और अर्धमागधी में। शौरसेनी ही अपभ्रंश, अवहट्ट और तमिल, कन्नड और आधुनिक आर्य भाषाओं को भी प्रभावित करती है। इसी तरह महाराष्ट्री प्राकृत का भी अच्छा प्रभाव जैनतर साहित्य पर दिखाई देता है।

प्राचीन काल में जैन संस्कृति समग्र वृहत्तर भारत में फैली हुई थी। जैन साधक पदविहारी होने के कारण लोक संस्कृति और भाषा के आवाहक रहे हैं। प्रायः सभी प्राच्य भारतीय भाषाओं का साहित्य जैनाचार्यों की लेखनी से प्रभूत संवर्धित हुआ है। तमिल भाषा के प्राचीन पाँच महाकाव्यों में शिलप्पदिकारम, वलयापनि और जीवक

चिन्तामणि जैन काव्य हैं। उसके पाँच लघुकाव्य भी जैन काव्य हैं—नीलकेशि, चूड़ामणि, यशोधर कावियम, नाग कुमार कावियम तथा उदयपान कथै। इसी तरह व्याकरण, छन्द शास्त्र, कोश आदि क्षेत्रों में भी जैन कवियों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

कर्नाटक प्रदेश तो जैनधर्म का गढ़ रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द, उपास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, सोमदेव आदि शताधिक आचार्य यहीं हुए हैं। कन्नड जैन कवियों में पम्प, पोन्न, रन्न, जिनसेन, चामुंडराय, श्रीधर, शान्तिनाथ, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र, वोष्पण, आचण्ण, महबल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने कन्नड साहित्य की सभी विधाओं को आदिकाल से ही समृद्ध किया है। इसी तरह मराठी साहित्य के प्राचीन जैन कवियों में जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, गुणनन्दि, जिनसेन आदि के नाम अविस्मरणीय हैं।

गुजराती का भी विकास अपभ्रंश से हुआ है। 12वीं शती से अपभ्रंश और गुजराती में पार्यव्य दिखाई देने लगता है। गुजरात प्रारम्भ से ही जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। जैन कवियों ने रासो, फागु, बारहमासा, कक्को, विवाहलु, चच्चरी, आख्यान आदि विधाओं को समृद्ध करना प्रारम्भ किया। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से शालिभद्रसूरि (1185 ई.) का भरतेश्वर बाहुबलिरास प्रथम प्राप्य गुजराती कृति है। उसके बाद धम्मू का जम्बुरास, विनयप्रभ का गौतमरास, राजशेखर का नेमिनाथ फागु आदि प्राचीन गुजराती साहित्य की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं जिन्हें हिन्दी जैन साहित्य से जोड़ा जाता है।

मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियाँ

जैन कवियों और आचार्यों ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पैठकर अनेक साहित्यिक विधाओं को प्रस्फुटित किया है। उनकी इस अभिव्यक्ति को हम निम्नांकित काव्य रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

1. प्रबन्ध-काव्य-महाकाव्य, खंडकाव्य, पुराण, कथा-चरित, रासा, सन्धि आदि।
2. रूपक-काव्य-होली, विवाहलो, चेतनकर्मचरित आदि।
3. अध्यात्म और भक्तिमूलक-काव्य—स्तवन, पूजा, चौपई, जयमाल, चांचर, फागु, चूनड़ी, वेली, संख्यात्मक, बारहमासा। आदि।
4. गीतिकाव्य, और
5. प्रकीर्णक काव्य-रीतिकाव्य, कोश, आत्मचरित, गुर्वावली आदि।

मध्यकालीन जैन काव्य की इन प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रवृत्तियाँ मूलतः आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्तुत हुई हैं, जहाँ आध्यात्मिक-उद्देश्य प्रधान हो जाता है, वहाँ स्वभावतः कवि की लेखनी आलंकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्त्विक हो जाती है। उसका मूल उत्स रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति रहा है।

1. प्रबन्ध-काव्य

प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खंडकाव्य दोनों आते हैं। जहाँ तक रासो-काव्य परम्परा का सम्बन्ध है, उसके मूल प्रवर्तक जैन आचार्य ही रहे हैं। जैन रासो काव्य गीत-नृत्य-परक अधिक दिखाई देते हैं। इन्हें हम खंडकाव्य के अन्तर्गत ले सकते हैं। कवियों ने इनमें तीर्थकरों, चक्रवर्तियों और आचार्यों के चरित का संक्षिप्त-चित्रण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं ये रासो उपदेश-परक भी हुए हैं।

इनमें साधारणतः पौराणिकता का अंश अधिक है, काव्य का कम। संयोग-वियोग का चित्रण भी किया गया है, पर विशेषता यह है कि वह वैराग्यमूलक और शान्तरस से आपूरित है। आध्यात्मिकता की अनुभूति वहाँ टपकती हुई दिखाई देती है। राजुल और नेमिनाथ का सन्दर्भ जैन कवियों के लिए अधिक अनुकूल-सा दिखाई दिया है। जैन प्रबन्ध काव्यों को हम समासतः इस प्रकार आलेखित कर सकते हैं—1. पुराण काव्य (महाकाव्य और खंड काव्य), 2. चरित काव्य, 3. कथा काव्य और 4. रासो काव्य।

2. पौराणिक-काव्य

पौराणिक काव्य में महाकाव्य और खंड काव्य सम्मिलित होते हैं। ऐसे ही कुछ महाकाव्यों और खंडकाव्यों का यहाँ हम उल्लेख कर रहे हैं। उदाहरणार्थ—ब्रह्मजिनदास के आदिपुराण और हरिवंशपुराण (वि. सं. 1520), वादिचन्द्र का पांडवपुराण (वि. सं. 1654), शालिवाहन का हरिवंशपुराण (वि. सं. 1695) बुलाकीदास का पांडवपुराण (वि. सं. 1754, पद्य 5500), खुशालचन्द्रकाला के हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण और पद्मपुराण (सं. 1783), भूधरदास का पार्श्वपुराण (सं. 1789), नवलराम का वर्तमान पुराण (सं. 1825), धनसागर का पार्श्वनाथपुराण (सं. 1621), ब्रह्मजित का मुनिसुव्रतनाथ-पुराण (सं. 1645), वैजनाथ माधुर का वर्धमानपुराण (सं. 1900), सेवाराम का शान्तिनाथ पुराण (सं. 1824) जिनेन्द्रभूषण का नेमिपुराण। ये पुराण भाव और भाषा की दृष्टि से उत्तम हैं।

जिन्हें आज खंडकाव्य कहा जाता है, उन्हें मध्यकाल में 'सन्धि' काव्य की संज्ञा दी गयी। सन्धि वस्तुतः सर्ग के अर्थ में प्रयुक्त होता था, पर उत्तरकाल में एक सर्ग वाले खंड काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा। प्रमुख जैन सन्धि-काव्यों में उल्लेखनीय काव्य है—जिनप्रभसूरि का अनन्ति सन्धि (सं. 1297) और मयणरेहा सन्धि, जयदेव का भावना-सन्धि, विनयचन्द्र का आनन्दसन्धि (14वीं शती), कल्याणतिलक का मृगापुत्र-सन्धि (सं. 1550), चारुचन्द्र का नन्दन मणिहार-सन्धि, (सं. 1587), संयममूर्ति का उदाहर राजर्षि सन्धि (सं. 1590), धर्ममेरु का सुख-दुःखः विपाक सन्धि (सं. 1604), गुणप्रभसूरि का चित्र-सम्भूति-सन्धि (सं. 1608),

कुशल लाभ का जिनरक्षित-सन्धि (सं. 1621), कनकसोम का हरिकेशी-सन्धि (सं. 1640), गुणराज का सम्मति-सन्धि (सं. 1630), चारित्र सिंह का प्रकीर्णक-सन्धि (सं. 1631), विमल विनय का अनाथी-सन्धि (सं. 1647), विनय समुद्र का नमि-सन्धि (सं. 17वीं शती), गुणप्रभ सूरि का चित्र-सम्भूति-सन्धि (सं. 1759) आदि। ऐसे पचासों सन्धि-काव्य भंडारों में बिखरे पड़े हुए हैं।

3. चरित-काव्य

चरित ग्रन्थों में कवियों ने मानव की सहज प्रकृति और रागादि विकारों का सुन्दर वर्णन किया है। पथ्यकालीन कतिपय चरित-काव्य इस प्रकार हैं—सघारु का प्रद्युम्नचरित (सं. 1411), ईश्वरसूरि का ललितांग चरित (सं. 1561), ठकुरसी का कृष्ण चरित (सं. 1580), जयकीर्ति का भवदेवचरित (सं. 1661), गौरवदास का यशोधर चरित (सं. 1581), मालदेव का भोजप्रबन्ध (सं. 1612, पद्य 2000), पांडे जिनदास का जम्बूस्वामी चरित (सं. 1642), नरेन्द्रकीर्ति का सगर प्रबन्ध (सं. 1646), वादिचन्द्र का श्रीपाल आख्यान (सं. 1651), परिमल्ल का श्रीपाल चरित्र (सं. 1651), पामे का भरतभुजबलि चरित्र (सं. 1616), ज्ञानकीर्ति का यशोधर चरित्र (सं. 1658), पार्श्वचन्द्र सूरि का राजचन्द्र प्रवहण (सं. 1661), कुमुदचन्द्र का भरत बाहुबली छन्द (सं. 1670), नन्दलाल का सुदर्शन चरित (सं. 1663), बनवारी लाल का भविष्यदत्त चरित्र (सं. 1666), भगवती दास का लघुसीता सतु (सं. 1684), कल्याण कीर्तिमुनि का चारुदत्त प्रबन्ध (सं. 1612), लालचन्द्र का पद्मिनी चरित्र (सं. 1707), रामचन्द्र का सीता चरित्र (सं. 1713), जोधराज गोदीका का प्रीतकर चरित्र (सं. 1721), जिनहर्ष का श्रेणिक चरित्र (सं. 1724), विश्वभूषण का पार्श्वनाथ चरित्र (सं. 1738), किशनसिंह के भद्रबाहु चरित्र (सं. 1783) और यशोधर चरित (सं. 1781), लोहट का यशोधर चरित्र (सं. 1721), अजयराज का यशोधर चरित्र (सं. 1721), अजयराज पाटणी का नेमिनाथ चरित्र (सं. 1793), दौलत राम कासलीवाल का जीवन्धर चरित्र (सं. 1805), भारमल का चारुदत्त चरित्र (सं. 1813), शुभचन्द्रदेव का श्रेणिक चरित्र (सं. 1824), नाथमल मल्लिका नागकुमार चरित्र (सं. 1810), चेतन विजय का सीता चरित्र और जम्बूचरित्र (सं. 1853), पांडे लालचन्द्र का वरांगचरित्र (सं. 1827), हीरालाल का चन्द्रप्रभ चरित्र, टेकचन्द्र का श्रेणिक चरित्र (सं. 1883), और ब्रह्म जयसागर का सीताहरण (सं. 1835)। इन चरित काव्यों में तोर्थकरों युवा-महापुरुषों के चरित का चित्रण कर मानवीय भावनाओं का बड़ी सुगमता पूर्वक चित्रण किया गया है। यद्यपि यहाँ काव्य की अपेक्षा चरित्रांकन अधिक हुआ है, परन्तु चरित्र प्रस्तुत करने का ढंग और उसका प्रवाह प्रभावक है। आनन्द और विषाद, राग और द्वेष तथा धर्म

और अधर्म आदि भावों की अभिव्यक्ति बड़ी सरस हुई है।

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन चरित काव्य भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। वस्तु और उद्देश्य बड़ी सूक्ष्मता से समाहित है। पात्रों के व्यक्तित्व को उभारने में जैन सिद्धान्तों का अवलम्बन जिस ढंग से किया गया है, वह प्रशंसनीय है। सांसारिक विषमताओं का स्पष्टीकरण और लोकरंजनकारी तत्वों की अभिव्यंजना जैन साधक कवियों की लेखनी की विशेषता है। प्राचीन काव्यों में चरितार्थक पवीड़ो काव्य भी उपलब्ध होते हैं। इसी सन्दर्भ में भगवतीदास के वृहद् सीता सतु और लघु सीता सतु—जैसे सत्—संज्ञक काव्य भी उल्लेखनीय हैं।

4. कथा-काव्य

मध्यकालीन हिन्दी जैन कथा-काव्य विशेष रूप से व्रत, भक्ति और स्तवन के महत्त्व की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किए गये हैं। वहाँ इन कथाओं के माध्यम से विषय-कषायों की निवृत्ति, भौतिक सुखों की अपेक्षा शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया गया है। उनमें चित्रित पात्रों के भाव चरित्र, प्रकृति और वृत्ति को स्पष्ट करने में ये कथा-काव्य अधिक सक्षम दिखाई देते हैं। ऐसे ही कथा-काव्यों में ब्रह्मजिनदास (वि. सं. 1520) की रविव्रत-कथा, विद्याधर-कथा, सम्यक्त्व कथा आदि, विनयचन्द्र की निर्जरपंचमी-कथा (सं. 1576), ठकुरसी की मेघमालाव्रत-कथा (सं. 1580), देवकलश की ऋषिदत्ता (सं. 1569), रायमल्ल की भविष्यदत्तकथा (सं. 1633), वादिचन्द्र की अम्बिका-कथा (सं. 1651), छीतर ठोलिया की होलिका कथा (सं. 1660), ब्रह्मगुलाल की कृष्ण जगावनद्वार कथा (सं. 1671), भगवतीदास की सुगन्धदसमी कथा, पांडे हेमराज की रोहणीव्रत कथा, महीचन्द की आदित्यव्रत कथा, टीकम की चन्द्रहंस कथा (सं. 1708), जोधराज गोदीका का कथाकोश (सं. 1722), विनोदीलाल की भक्तामरस्तोत्र कथा (सं. 1747), किशनसिंह की रात्रिभोजन कथा (सं. 1773), टेकचन्द्र का पुण्यास्रवकथाकोश (सं. 1822), जगतराय की सम्यक्त्व कौमुदी (सं. 1721) उल्लेखनीय हैं। ये कथा-काव्य कवियों की रचना-कौशल्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

5. रासा-साहित्य

हिन्दी जैन कवियों ने रासा-साहित्य के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान दिया है। सर्वेक्षण करने से स्पष्ट है कि रासा-साहित्य को जन्म देनेवाले जैन कवि ही थे। जन्म से लेकर विकास तक जैनाचार्यों ने रासा-साहित्य का सृजन किया है। रासा का सम्बन्ध रास, रासा, रासु, रासौ आदि शब्दों से रहा है, जो 'रासक' शब्द के ही परिवर्तित और विकसित रूप हैं। 'रासक' का सम्बन्ध नृत्य, छन्द अथवा काव्य-

विशेष से है। यह साहित्य गीत-नृत्यपरक और छन्द-वैविध्य-परक मिलता है। जैन कवियों ने गीत-नृत्यपरक— परम्परा को अधिक अपनाया है। इनमें कवियों ने धर्म-प्रचार को विशेष महत्त्व दिया है। इस सन्दर्भ में शालिभद्र सूरि का पाँच पाण्डव रास (सं. 1410), विनयप्रभ उपाध्याय का गौतमरास (सं. 1412), सोमसुन्दर सूरि का आराधनारास (सं. 1450), जयसागर के वयरस्वामी गुरारास और गौतमरास, हीरानन्दसूरि के वस्तुपाल तेजपाल रासादि (सं. 1486), सकलकीर्ति (सं. 1443), के सोलहकारणरास आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मजिनदास (सं. 1445-1525) का रासा-साहित्य कदाचित् सर्वाधिक है। उनमें रामसीतारास, यशोधररास, हनुमतरास (725 पद्य), नागकुमाररास, परमहंसरास (1900 पद्य), अजितनाथ रास, होलीरास (148 पद्य), धर्मपरीक्षारास, ज्येष्ठजिनवर रास (120 पद्य), श्रेणिकरास, समकितमिथ्यात्वरास (70 पद्य), सुदर्शनरास (सं. 337 पद्य), अम्बिका रास (158 पद्य), नागश्रीरास (253 पद्य), जम्बूस्वामी रास (10005 पद्य), भद्रबाहुरास, कर्मविपाक रास, सुकौशल स्वामी रास, रोहिणीरास, सोलहकारणरास, दशलक्षणरास, अनन्तव्रतरास, बंकचूल रास, धन्यकुमाररास, चारुदत्त-प्रबन्ध-रास, पुष्पांजलि-रास, धनपालरास (दानकथा रास), भविष्यदत्त जीवन्धररास, नेमीश्वररास, करकंडुरास, सुभौमचक्रवर्तीरास और अट्ठमूलगुण रास प्रमुख हैं। इनकी भाषा गुजराती-मिश्रित है। इन ग्रन्थों की प्रतियाँ जयपुर, उदयपुर, दिल्ली आदि के जैन-शास्त्र-भंडारों में उपलब्ध हैं।

इनके अतिरिक्त मुनिसुन्दरसूरि का सुदर्शन श्रेष्ठिरास (सं. 1501), मुनि प्रतापचन्द का स्वप्नावलीरास (सं. 1500), सोमकीर्ति का यशोधररास (सं. 1526), संवेग सुन्दर उपाध्याय का सारसिखामनरास (सं. 1548), ज्ञानभूषण का पोसहरास (सं. 1558), यशःकीर्ति का नेमिनाथरास (सं. 1558), ब्रह्मज्ञानसागर का हनुमन्तरास (सं. 1630), मतिशेखर का धन्यरास (सं. 1514), विद्याभूषण का भविष्यदत्तरास (सं. 1600), उदयसेन का जीवन्धररास (सं. 1606), विनयसमुद्र का चित्रसेन पद्मावतीरास (सं. 1605), रायमल्ल का प्रद्युम्नरास (सं. 1668), पांडे जिनदास का योगीरास (सं. 1660), हीरकलश का सम्यक्त्व कौमुदीरास (सं. 1626), भगवतीदास (सं. 1662) के जोगीरासा आदि, सहजकीर्ति के शीलरासादि (सं. 1686), भाऊ का नेमिनाथ रास (सं. 1759), चेतनविजय का पालरास जैन रासा-ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं।

इन रासा ग्रन्थों में शृंगार, वीर, शान्त और भक्ति-रस का प्रवाह दिखाई देता है। प्रायः सभी रासों का अन्त शान्तरस से रंजित है, फिर भी प्रेम और विरह के चित्रों की कमी नहीं है। इस सन्दर्भ में 'अंजना-सुन्दरी रास' उल्लेख्य है, जिसमें अंजना के विरह का सुन्दर चित्रण किया गया है।

इस प्रकार जैन रासा साहित्य एक ओर जहाँ ऐतिहासिक अथवा पौराणिक महापुरुषों के चरित्र का चित्रण करता है, वहीं साथ ही आध्यात्मिक अथवा धार्मिक आदर्शों को भी प्रस्तुत करता है। जैनों की धार्मिक रास परम्परा हिन्दी के आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही है। मध्ययुगीन रासा साहित्य में आदिकाल रासा साहित्य की अपेक्षा भाव और भाषा का अधिक सौष्ठव दिखाई देता है। आध्यात्मिक रसानुभूति की दृष्टि से यह रासा साहित्य अधिक विवेचनीय है।

6. रूपक-काव्य

आध्यात्मिक रहस्य को अभिव्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रतीक और रूपक होते हैं। जैन कवियों ने सांसारिक चित्रण, आत्मा की शुद्धाशुद्ध-अवस्था, सुख-दुख की अवस्थाएँ, रागात्मक विकार और क्षणभंगुरता के दृश्य जिस सूक्ष्मान्वेक्षण और गहन-अनुभूति के साथ प्रस्तुत किये हैं, वह अभिनन्दनीय है। रूपक काव्यों का उद्देश्य वीतरागता की सहज प्रवृत्ति का लोक-मांगलिक चित्रण करना रहा है। आत्मा की स्वाभाविक क्षमता मिथ्यात्व आदि के बन्धन से किस प्रकार ग्रसित होकर भवसागर में भ्रमण करता रहता है और किस प्रकार उससे मुक्त होता है, इस प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग को विश्लेषित कर जैन कवियों ने आत्मा की अतुल शक्ति को रूपकों के माध्यम से उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इस विधि से जैन तत्त्वों के निरूपण में नीरसता नहीं आ पायी, बल्कि भाव-व्यंजना कहीं अधिक गहराई से उभर सकी है। इस दृष्टि से त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध, विद्याविलास पवाड़ा, नाटक समयसार, चेतनकर्मचरित, मधु बिन्दुक चौपई, उपशम पच्चीसिका, परमहंस चौपई, मुक्तिरमणी चून्ड़ी, चेतन पुद्गल धमाल, मोहविवेक युद्ध आदि रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। रूपकों के माध्यम से विवाहलुभ भी बड़े सरस रचे गये हैं।

इन रूपक काव्यों में दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। नाटक समयसार इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। कवि बनारसीदास ने रूपक के माध्यम से मिथ्यादृष्टि जीव की स्थिति का कितना सुन्दर चित्रण किया है,— यह देखते ही बनता है—काया चित्रसारी मैं करम परजंक पारी।

इस प्रकार रूपक काव्य आध्यात्मिक चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। साधकों ने आध्यात्मिक साधनों में प्रयुक्त विविध तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूपकों में खोजा है और उनके माध्यम से चिन्तन की गहराई में पहुँचे हैं। इससे साधना में निखार आ गया है। रूपकों के प्रयोग के कारण भाषा में सरसता और आलंकारिकता स्वभावतः अभिव्यंजित हुई है।

7. अध्यात्म और भक्ति-मूलक काव्य

हिन्दी जैन साहित्य मूलतः अध्यात्म और भक्ति-परक है। उसमें श्रद्धा, ज्ञान और

आचार, तीनों का समन्वय है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच-परमेष्ठियों की भक्ति में साधक कवि सम्यक् साधना पथ पर चलता है और साध्य की प्राप्ति कर लेता है। इस सम्यक् साधन और साध्य की अनुभूति कवियों के निम्नांकित साहित्य में विविध प्रकार से हुई है—

1. जैन कवियों ने जैन-सिद्धान्तों का विवेचन कहीं-कहीं गद्य में न कर पद्य में किया है। वहाँ प्रायः काव्य गौण हो गया है और तत्त्व-विवेचन मुख्य। उदाहरणतः भरलकीर्ति के शिष्य सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, यशोधर का तत्त्वसारदूहा, वीरचन्द की सम्बोधसत्ताणु भावना आदि को हम आध्यात्मिक काव्य कह सकते हैं।
2. स्तवन जैन कवियों का प्रिय विषय रहा है। भक्ति के क्षेत्र में वे किसी से कम नहीं रहे। इन कवियों और साधकों की आराध्य के प्रति व्यक्त निष्काम-भक्ति है। उन्होंने पंचपरमेष्ठियों की भक्ति में स्तोत्र, स्तुति, विनती, धूल आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं। पंचकल्याणक स्तोत्र, पंचस्तोत्र आदि रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं में मात्र स्तुति ही नहीं, प्रत्युत वहाँ जैन-सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन भी निबद्ध है।
3. चौपाई, जयमाल, पूजा आदि जैसी रचनाओं में भी भक्ति के तत्त्व निहित हैं। दोहा और चौपाई अपभ्रंश साहित्य की देन है। ज्ञानपंचमी चौपाई, सिद्धान्त चौपाई, डोला मारु चौपाई, कुमति विध्वंस चौपाई जैसी-चौपाईयाँ जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं। एक ओर जहाँ सिद्धान्त की प्रस्तुति होती है, दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन भी। मूलदेव चौपाई इसका उदाहरण है।
4. पूजा साहित्य जैन कवियों का अधिक है। पंचपरमेष्ठियों की पूजा, पंचम दशलक्षण, सोलहकारण, निर्दोषसप्तमीव्रत आदि व्रत-सम्बन्धी-पूजा, देवगुरु-शास्त्रपूजा, जयमाल आदि अनेक प्रकार की भक्तिपरक रचनाएँ मिलती हैं। ध्यानतराय का पूजा-साहित्य विशेष लोकप्रिय हुआ है।
5. चांचर, होली, फागु, यद्यपि लोकोत्सवपरक काव्य रूप है, पर उसमें जैन कवियों ने बड़े ही सरस ढंग से आध्यात्मिक विवेचन किया है। चांचर या चर्चरी में स्त्री-पुरुष हाथों में छोटे-छोटे डंडे लेकर टोली-नृत्य करते हैं। रास में भी लगभग यही होता है। हिंडोलना होली और फागु में तो कवियों ने आध्यात्मिकता का सुन्दर पुट दिया है। कहीं-कहीं सुन्दर रूपक तत्त्व भी मिलता है।
6. वेलिकाव्य राजस्थान की परम्परा से गुँथा हुआ है। वहाँ चारण कवियों ने इसका उपयोग किया है। बाद में वेलि-काव्य का सम्बन्ध भक्ति काव्य हिन्दी जैन साहित्य :: 855

से हो गया। जैन कवियों ने इन वेलि-काव्यों में भक्ति तत्त्व विवेचन और इतिहास प्रस्तुत किया है।

7. संख्यात्मक और वर्णनात्मक साहित्य का भी सृजन हुआ है। छन्द संख्या के आधार पर काव्य का नामकरण कर दिया जाना उस समय एक सर्वसाधारण प्रथा थी, जैसे— मदनशतक, नामवावनी, समकित बत्तीसी, आदि।
8. बारहमासा यद्यपि ऋतु-परक-गीत है, पर जैन कवियों ने इसे आध्यात्मिक-सा बना लिया है। नेमिनाथ के वियोग में राजुल के बारहमास कैसे व्यतीत होते, इसका कल्पनाजन्य चित्रण बारहमासों का मुख्य विषय रहा है, पर साथ ही अध्यात्म बारहमासा, सुमति-कुमति बारहमासा आदि जैसी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

8. आध्यात्मिक काव्य

कतिपय आध्यात्मिक काव्य यहाँ उल्लेखनीय हैं—रत्नकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार (सं. 1450), महनन्दि का पाहुड़ दोहा (सं. 1600), ब्रह्मगुलाल की त्रेपनक्रिया (सं. 1665), बनारसीदास का नाटक समयसार (सं. 1630) और बनारसीविलास, मनोहरदास की धर्म-परीक्षा (सं. 1705), भगवतीदास का ब्रह्म-विलास (सं. 1755), विनयविजय का विनयविलास (सं. 1739), दानतराय की सम्बोधपंचासिका तथा धर्मविलास (सं. 1780), भूधरदास का भूधर-विलास, दीपचन्द शाह के अनुभव प्रकाश आदि (सं. 1781), देवीदास का परमानन्द-विलास और पद-पंकज (सं. 1812), टोडरमल की रहस्यपूर्ण चिट्ठी (सं. 1811), बुधजन का बुधजन-विलास, पं. भागचन्द की उपदेश-सिद्धान्त-माला (सं. 1905), छत्रपत का मनमोहन पंचशती (सं. 1905) आदि।

जयसागर (सं. 1580-1655) का चून्डी-गीत एक रूपक काव्य है, जिसमें नेमिनाथ के वन चले जाने पर राजुल ने चारित्ररूपी चून्डी को जिस प्रकार धारण किया, उसका वर्णन है। वह चून्डी नवरंगी थी। गुणों का रंग, जिनवाणी का रस, तप का तेज मिलाकर वह चून्डी रंगी गयी। इसी चून्डी को ओढ़कर वह स्वर्ग गयी।

संवाद भी एक प्राचीन विधा रही है, जिसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से आध्यात्मिक जिज्ञासा का समाधान किया जाता था। नरपति (16वीं शती) का दन्तजिह्वा संवाद, सहज सुन्दर (सं. 1572) का आँख-कान संवाद, यौवन-जरा-संवाद-जैसी आकर्षक ऐसी सरस रचनाएँ हैं, जिनमें दो इन्द्रियों में संवाद होता है, जिनकी परिणति अध्यात्म में होती है। अन्य रचनाओं में रावण-मन्दोदरी-संवाद (सं. 1562), मोती कम्पासिया संवाद, उद्यम कर्म संवाद, समकितशील संवाद, केसिगोतम संवाद, मनज्ञान संग्राम, सुमति-कुमति का झगड़ा, अंजना सुन्दरी संवाद, उद्यम कर्म संवाद, कपणनारी संवाद, पंचेन्द्रिय संवाद, ज्ञान-दर्शन-चारित्र संवाद, जसवंतसूरि का लोचन-काजल-संवाद (17वीं

शती) आदि बीसों रचनाएँ हैं, जिनमें रहस्यात्मकता के तत्त्व इतने-अधिक मुखरित हुए हैं कि संवाद गौण हो गये हैं।

9. स्तवन-पूजा और जयमाल-साहित्य

आध्यात्मिक स्तवन-पूजा और जयमाल का अपना महत्त्व है। साधक रहस्य की प्राप्ति के लिए इष्टदेव की स्तुति और पूजा करता है। भक्ति के सरस प्रवाह में उसके रागादिक- विकार प्रशान्त होने लगते हैं और साधक शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की ओर बढ़ने लगता है। पंचपरमेष्ठियों का स्तवन, तीर्थकरों की पूजा और उनकी जयमाला तथा आरती आदि साधना का पथ निर्माण करते हैं। इस साहित्य विधा की सीमन्धर स्वामी स्तवन, मिथ्या दुष्कण विनती, गर्भविचार स्तोत्र, गजानन्द पंचासिका, पंच स्तोत्र, सम्पेदशिखर स्तवन, जैन चौबीसी, विनती संग्रह, नयनिक्षेप स्तवन आदि शताधिक रचनाएँ हैं, जो रहस्य भावना की अभिव्यक्ति में अन्यतम साधन कही जा सकती हैं। भक्तिभाव से ओतप्रोत होना इनकी स्वाभाविकता है।

पूजा और जयमाला साहित्य में भी कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं, जो रहस्यात्मक तत्त्व की गहनता को समझने में सहायक बनते हैं। अर्जुनदास, अजयराज पाटनी, दानतराय, विश्वभूषण, पांडे जिनदास आदि अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने संगीत साहित्य लिखा है। देखिए, कविवर दानतराय की सोलहकारण पूजा में कितनी भाव विभोरता है—कंचन झारी निर्मल नीर, पूजों जिनवर गुन-गम्भीर।

चउपई काव्यों में ज्ञानपंचमी, बलिभद्र, ढोला-मारु, कुमतिविध्वंस, विवेक, मलसुन्दरी आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं, जो भाषा और विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त मालदेव की पुरन्दर चौ., सुरसुन्दरी चौ., वीरांगद चौ., देवदत्त चौ. आदि, रायमल की चन्द्रगुप्त चौ., साधुकीर्ति की नमिराज चौ., सहजकीर्ति की हरिश्चन्द्र चौ., नाहर जटमल की प्रेमविलास चौ., टीकम की चतुर्दश चौ., जिनहर्ष की ऋषिदत्ता चौ., यति रामचन्द्र की मूलदेव चौ., लक्ष्मी बल्लभ की रत्नहास चउपई भी सरसता की दृष्टि से उदाहरणीय हैं।

10. चूनड़ी-काव्य

चूनड़ी-काव्य में रूपक-काव्य-तत्त्व अधिक गर्भित रहता है। इसी के माध्यम से जैनधर्म के प्रमुख तत्त्वों को प्रस्तुत किया जाता है। विनयचन्द्र की चूनड़ी (सं. 1576), साधुकीर्ति की चूनड़ी (सं. 1648), भगवतीदास की मुक्ति-रमणी-चूनड़ी (सं. 1680), चन्द्रकीर्ति की चारित्र चूनड़ी (सं. 1655) आदि काव्य इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। विनयचन्द्र की चूनड़ी में पत्नी पति से ऐसी चूनड़ी चाहती है, जो उसे भव-समुद्र से पार करा सके।

11. फागु, बेलि, बारहमासो और विवाहलो साहित्य

फागु में भी कवि अत्यन्त भक्तविभोर और आध्यात्मिक सन्त-सा दिखाई देता है। इसमें कवि तीर्थंकर या आचार्य के प्रति समर्पित होकर भक्ति-रस को उड़ेलता है। मलधारी राजशेखर सूरि की नेमिचन्द फागु (सं. 1405), हलराज की स्थूलिभद्र फागु (सं. 1409), सकलकीर्ति की शान्तिनाथ फागु (सं. 1480), सोमसुन्दर सूरि की नेमिनाथ वरस फागु (सं. 1450), ज्ञानभूषण की आदीश्वर फागु (सं. 1560), मालदेव की स्थूलभद्र फागु (सं. 1612), वाचक कनक सोम की मंगल कलश फागु (सं. 1649), रत्नकीर्ति, धनदेवगणि, समंधर, रत्नमंडल, रायमल, अंचलकीर्ति, विद्याभूषण आदि कवियों की नेमिनाथ तीर्थंकर पर आधारित फागु रचनाएँ काव्य की नई विधा को प्रस्तुत करती हैं, जिनमें सरसता, सहजता और समरसता का दर्शन होता है। नेमिनाथ और राजल के विवाह का वर्णन करते समय कवि अत्यन्त भक्तविभोर और आध्यात्मिक सन्त-सा दिखाई देता है। इसी तरह हेमविमल सूरि फागु (सं. 1554), पार्श्वनाथ फागु (सं. 1558), वसन्त फागु, सुरंगानिध नेमि फागु, अध्यात्म फागु आदि शताधिक फागु रचनाएँ आध्यात्मिकता से जुड़ी हुई हैं।

इनके अतिरिक्त फागुलमास वर्णन सिद्धिविलास (सं. 1763), अध्यात्म फागु, लक्ष्मीबल्लभ फागु रचनाओं के साथ ही धमाल-संज्ञक रचनाएँ भी जैन कवियों की मिलती हैं, जिन्हें हिन्दी में धमार कहा जाता है। अष्टछाप के कवि नन्ददास और गोविन्ददास आदि ने वसन्त और टोली पदों की रचना धमार नाम से ही की है। लगभग 15-20 ऐसी ही धमार रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें जिन समुद्रसूरि की नेमि-होरी रचना विशेष उल्लेखनीय है।

बेलि साहित्य में वाछा की चहुँगति बेलि (सं. 1520 ई.), सकलकीर्ति (16वीं शताब्दी) की कर्पूरकथ बेलि, महारक वीरचन्द की जम्बूस्वामी बेलि (सं. 1690), ठकुरसी की पंचेन्द्रिय बेलि (सं. 1578), मल्लदास की क्रोधबेलि (सं. 1588), हर्यकीर्ति की पंचगति बेलि (सं. 1683), ब्रह्म जीवन्धर की गुणणा बेलि (16वीं शताब्दी), अभयनंदि की हरियाल बेलि (सं. 1630), कल्याणकीर्ति की लघु-बाहुबली बेलि (सं. 1692), लाखाचरण की कृष्णरुक्मणि बेलि टब्बाटीका (सं. 1638), तथा 6वीं शती के वीरचन्द्र, देवानंदि, शांतिदास, धर्मदास की क्रमशः सुदर्शन बलि, जम्बूस्वामिनी बेलि, बाहुबलिनी बेलि, भरत बेलि, लघुबाहुबलि बेलि, गुरुबेलि और 17वीं शती के ब्रह्मजयसागर की मल्लिदासिनी बेलि व साह लोहठकी षड्लेश्याबेलि का विशेष उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें भक्त कवियों ने अपने सरस भावों को गुनगुनाती भाषा में उतारने का सफल प्रयत्न किया है।

बारहमासा भी मध्यकाल की एक विधा रही है, जिसमें कवि अपने श्रद्धास्पद देव या आचार्य के बारहमासों की दिनचर्या का विधिवत् आख्यान करता है। ऐसी रचनाओं में हीरानन्द सूरि का स्थूलिभद्र बारहमासा और नेमिनाथ बारहमासा (सं. 15वीं शती), डूंगर का नेमिनाथ फाग के नाम से बारहमासा (सं. 1535), ब्रह्मबूचराज का नेमीश्वर बारहमासा (सं. 1581), रत्नकीर्ति का नेमि बारहमासा (सं. 1614), जिनहर्ष का नेमिराजमति बारहमासा (सं. 1713), बल्लभ का नेमिराजुल बारहमासा (सं. 1727), विनोदीलाल अग्रवाल का नेमिराजुल बारहमासा (सं. 1749), सिद्धिविलास का फागुणमास वर्णन (सं. 1763), भवानीदास के अध्यात्म बारहमास (सं. 1781), सुमति-कुमति बारहमास, विनयचन्द्र का नेमिनाथ बारहमास (18वीं शती) आदि रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। ये रचनाएँ अध्यात्म और भक्तिपरक हैं। इसी तरह की और-भी शताधिक रचनाएँ हैं, जो रहस्य-साधना की पावन सरिता को प्रवाहित कर रही हैं। स्वतन्त्र रूप से बारहमासा 16वीं शती के उत्तरार्ध से अधिक मिलते हैं।

विवाहलो भी एक विधा रही है, जिसमें साधक कवि ने अपने भक्तिभाव को पिरोया है। इस सन्दर्भ में जिनप्रभसूरि (14वीं शती) का अन्तरंग विवाह, हीरानन्दसूरि (15वीं शती) के अठारहनाता विवाहलो और जम्बूस्वामी विवाहलो, ब्रह्मविनयदेव सूरि (सं. 1615) का नेमिनाथ विवाहलो, महिपसुन्दर (सं. 1665) का नेमिनाथ विवाहलो, सहजकीर्ति का शान्तिनाथ विवाहलउ (सं. 1678), विजय रत्नसूरि का पार्श्वनाथ विवाहलो (सं. 8वीं शती) जैसी रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन काव्यों में चरित नायकों के विवाह प्रसंगों का वर्णन तो है ही। पर कुछ कवियों ने व्रतों के ग्रहण को नारी का रूपक देकर उसका विवाह किसी संयमी व्यक्ति से रचाया है। इस तरह द्रव्य और भाव दोनों विवाह के रूप यहाँ मिलते हैं। ऐसे काव्यों में उदयनंदि सूरि विवाहला, कीर्तिरत्न सूरि, गुणरत्न सूरि, सुमतिसाधु सूरि और हेम विमल सूरि विवाहले हैं।

ब्रह्म जिनदास (15वीं शती) ने अपने रूपक काव्य 'परमहंस रास' में शुद्ध स्वभावी आत्मा का चित्रण किया है। यह परमहंस आत्मा माया-रूप-रमणी के आकर्षण से मोह ग्रसित हो जाता है। चेतना-महिषी के द्वारा समझाये जाने पर भी वह मायाजाल से बाहर नहीं निकल पाता। उसका मात्र बहिरात्मा-जीव काया-नगरी में बच रहता है। माया से मन-पुत्र पैदा होता है। मन की निवृत्ति व प्रवृत्ति रूप दो पलियों से क्रमशः विवेक और मोह नामक पुत्रों की उत्पत्ति होती है। ये सभी परमहंस (बहिरात्मा) को कारागार में बन्द कर देते हैं और निवृत्ति तथा विवेक को घर से बाहर कर देते हैं। इधर मोह के शासनकाल में पाप-वासनाओं का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। मोह की दासी दुर्गति से काम, राग, और द्वेष ये तीन पुत्र तथा हिंसा, घृणा और निद्रा ये तीन पुत्रियाँ होती हैं। विवेक सन्मति से विवाह करता है, सम्यक्त्व के खड्ग से मिथ्यात्व

को समाप्त करता है। परमहंस आत्मशक्ति को जाग्रत कर स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करता है। इसी तरह ब्रह्मवृचराज, बनारसीदास आदि के काव्य भी इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति से ओतप्रोत हैं। फागु साहित्य में नेमिनाथ फागु (भट्टारक रत्नकीर्ति) यहाँ उल्लेखनीय है। कवि ने राजुल की सुन्दरता का वर्णन किया है—

चन्द्रवदनी मृगलोचनी, मोचनी खंजन मीन।
वासग नीत्यो वेणिइ, मेणिण मधुकर दीन॥
युगल गल दाये शशि, उपमा नासा कीट।
अधर विद्रुम सम उपमा, दंत नू निर्मल नीर॥
विद्रुक कमल पर पटपट, आनन्द करै सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोमीत कम्ब कपोलने बान॥

कुछ फागुओं में अध्यात्म का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से बनारसीदास का अध्यात्म फाग उल्लेखनीय है जिसमें कवि ने फाग के सभी अंग प्रत्यंगों का सम्बन्ध अध्यात्म से जोड़ दिया है—भवपरणति चाचरित भई हो, अष्टकर्म बन जाल।

ऐतिहासिक काव्य के साथ ही आध्यात्मिक वेलियाँ भी मिलती हैं। इन आध्यात्मिक वेलियों में 'पंचेन्द्रिय वेलि' विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें कवि ठाकुरसी ने पंचेन्द्रियविषय वासना के फल को स्पष्ट किया है। स्पर्शेन्द्रिय में आसक्ति का परिणाम है कि हाथी लौह शृंखलाओं से बँध जाता है और कीचक, रावण आदि दारुण दुःख पाते हैं।

वन तरुवर फल सउँ फिरि, पय पीवत हु स्वच्छंद।
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहै गयन्द॥
बाध्यो पाग संकुल धाले, सो कियो मसकै चाले।
परसण प्रेरहँ दुख पायो, तिनि अंकुश धावा धायो॥
परसण रस कीचक पूर्यो, सहि भीम शिलातल चूर्यो।
परसण रस रावण नामइ, वारचौ लंकेशुर रामइ॥
परसण रस शंकर राच्यो तिय आगे नट ज्यो नाच्यो॥

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में 'बारहमासा' बहुत लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तो निश्चित ही उच्चकोटि के हैं। कवि विनोदीलाल का नेमि-राजुल बारहमासा यहाँ उल्लेखनीय है, जिसमें भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। यहाँ राजुल ने अपने प्रिय नेमि को प्राप्य पौष माह की विविध कठिनाइयों का स्मरण दिलाया है—

पिय पौष में जाड़ौ धनो, बिन सौँद के शीत कैसे भर हो।
कहा ओढेगे शीत लगे जब ही, किधी पातन की धुवनीधर हो॥

तुम्हरो प्रभु जी तन कोमल है, कैसे काम की फौजन सौ लर हौ।
जब आवेगी शीत तरंग सबै, तब देखत ही तिनकौ डर हो॥

12. संख्यात्मक-काव्य

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने संख्यात्मक साहित्य का विपुल परिमाण में सृजन किया है। कहीं यह साहित्य स्तुतिपरक है, तो कहीं उपदेश-परक, कहीं अध्यात्म-परक है, तो कहीं रहस्य-भावना-परक। इस विधा में समास-शैली का उपयोग दृष्टव्य है। लावण्यसमय का स्थूलभद्र एकवीसो (सं. 1553), होरकलश सिंहासनवतीसी (सं. 1631), समयसुन्दर का दसशील तपभावना संवादशतक (सं. 1662), दासो का मदनशतक (सं. 1645), उदयरज की गुणवावनी (सं. 1676), बनारसीदास की समकितवतीसी (सं. 1681), पांडे रूपचन्द का परमार्थ दोहाशतक, आनन्दधन का आनन्दधन बहत्तरी (सं. 1705), पांडे हेलराज का सितपट चौरासी बोल (सं. 1709), जिनरंग सूरि की प्रबोधवावनी (सं. 1731), रायमल्ल की अध्यात्मवतीसी (17वीं शती), विहारीदास की सम्बोधपंचासिका (सं. 1758), भूधरदास का जैनशतक (1781), बुधजन का चर्चाशतक आदि काव्य अध्यात्म-रसता के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

13. गोति-काव्य

गोति काव्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक साधना से भी है। आध्यात्मिक भावना के बाधक तत्त्वों को दूरकर, साधक साधकतत्त्वों को प्राप्त करता है और उनमें रमण करते हुए एक ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, जब उसके मन में संसार से वितृष्णा और वैराग्य का भाव जाग्रत हो जाता है। फलतः वह सद्गुरु की प्रेरणा से आत्मा की विशुद्धावस्था में पहुँच जाता है। इस अवस्था में साधक की आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठती है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपक, आध्यात्मिक विवाह, आध्यात्मिक होली, फागु आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्यों में इन विधाओं का विशेष उपयोग हुआ है। उसमें साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्य-साधनाओं के दिग्दर्शन होते हैं। साधना की चिरन्तनता, मार्मिकता, संवदेनशीलता, स्वसंवेदनता, भेदविज्ञान आदि तत्त्वों ने साधक को निरंजन, निराकार, परम वीतराग आदि रूपों में पगे हुए साध्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रस्तुत किया है और चिदानन्द चैतन्यमय ब्रह्मानन्द रस का खूब पान कराया है। साथ ही परमात्मा को अलख, अगम, निराकार, अध्यात्म-गम्य, परब्रह्म, ज्ञानमय, चिद्रूप, निरंजन, अनक्षर, अशरीरी, गुरुगुसाई, अगूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग कर उसे रहस्यमय बना दिया है। दाम्पत्य-मूलक-प्रेम का भी सरल

प्रवाह उसकी अभिव्यक्ति के निर्झर से झरता हुआ दिखाई देता है, इन-सब तत्त्वों के मिलन से जैन-साधकों का रहस्य परम रहस्य बन जाता है, जो गीतिकाव्य की आत्मा है।

गीतिकाव्य में नामस्मरण और ध्यान का विशेष महत्त्व है। उनसे गेयात्मक तत्त्व में सधनता आती है। इसलिए जैन साधकों ने नाम सुमिरन और अजपा जाप को अपनी सहज साधना का विषय बनाया है। साधारण रूप से परमात्मा और तीर्थंकरों का नाम लेना सुमिरन है तथा माला लेकर उनके नाम का जप करना भी सुमिरन है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड्धवाल ने सुमिरन के जो तीन भेद माने हैं, उन्हें जैन साधकों ने अपनी साधना में अपनाया है। उन्होंने बाह्यसाधन का खंडनकर अन्तःसाधना पर बल दिया है। व्यवहार नय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है, पर निश्चय नय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी तो दयानतराय जी ऐसे सुमिरन को महत्त्व देते हैं जिसमें—

ऐसो सुमरन करिये रे भाई। पवन थंमै मन कितहु न जाई॥

आनंदघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्तःकरण में अजपा जाप को जगाते हैं, वे चेतन-भूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए सन्त आनंदघन भी सोऽहं को संसार का सार मानते हैं—

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो। सोहं सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो॥

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी जैन साहित्य में गीतिकाव्य का प्रमुख स्थान रहा है। उसमें वैयक्तिक भावात्मक अनुभूति की गहराई, आत्मनिष्ठता, सरसता और संगीतात्मकता आदि तत्त्वों का सन्निवेश सहज ही देखने को मिल जाता है। लावनी, भजन, गीत, पद आदि प्रकार का साहित्य इसके अन्तर्गत आता है। इसमें अध्यात्म, नीति, उपदेश, दर्शन, वैराग्य, भक्ति आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है। कविवर बनारसीदास, बुधजन, दयानतराय, दौलतराम, भैया भगवतीदास आदि कवियों का गीति-साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। जैन गीतिकाव्य सूर, तुलसी, मीरा आदि के पद-साहित्य से किसी प्रकार कम नहीं है। भक्ति-सम्बन्धी पदों में सूर, तुलसी के समान दास्य-सख्य-भाव, दीनता, पश्चात्ताप आदि भावों का सुन्दर और सरस चित्रण है। जैन कवियों के आराध्य राम के समान शक्ति और सौन्दर्य से समन्वित या कृष्ण के समान शक्ति सौन्दर्य से युक्त नहीं है। वे तो पूर्ण वीतरागी हैं। अतः भक्त न उनसे कुछ अभीष्ट की कामना कर सकता है और न उसकी आकांक्षा पूर्ण ही हो सकती है। इसके लिए तो उसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का परिपालन करना होगा। अतः यहाँ अभिव्यक्त भक्ति निष्काम व अहेतुक-भक्ति है। भावावेश में कुछ कवियों ने अवश्य उनका पतित-पावन रूप और उलाहना आदि से सम्बद्ध पद लिखे हैं।

हिन्दी जैन कवियों ने गीतिकाव्य को एक नयी दिशा दी है। उसे उन्होंने अध्यात्मिक साधना से जोड़ दिया है। इसलिए उसमें सघनता, गम्भीरता और सचेतनता अधिक दिखाई देती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों में ये गीतात्मक तत्त्व अधिक विकसित हुए हैं। बनारसीदास, जिनप्रभसूरि, आनन्दतिलक, वृन्दावन, उदयरज, जिनराजसूरि, भूधरदास, दानतराय, देवीदास, भगवतीदास, विनयसागर, अनन्दधन, यशोविजय आदि कवि इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक काल में गीतिकाव्य का और भी विकास हुआ। व्यक्ति की परिस्थितियाँ बदलती गयीं और वह सांसारिकता में फँसता गया; फिर भी संस्कारों ने उसे स्वयं को खोजने के लिए विवश कर दिया। भावों के संसार ने आध्यात्मिकता की ओर खींचकर उसे सत्य पर प्रतिष्ठित होने का आमन्त्रण दिया। जैन कवियों ने इस आमन्त्रण को अपने काव्य-सृजन में उतारा। शताधिक जैन कवियों ने गीतिकाव्य लिखे। आधुनिक जैन कवि, अनेकान्त काव्य संग्रह और आधुनिक जैन कवि: चेतना के स्वर नाम से प्रकाशित संकलन इसके उदाहरण हैं। युगल किशोर मुख्तार ने 'मेरी भावना' लिखकर गीतिकाव्य को नया रूप दिया। नरेन्द्र भानावत, शान्ता जैन, मिश्रीलाल जैन, जुगलकिशोर 'युगल', सरोज कुमार जैन, कल्याणकुमार 'शशि', रूपवती किरण, महेन्द्र सागर प्रचंडिया, वीरेन्द्र प्रसाद जैन आदि शताधिक कवियों ने इस क्षेत्र में नये मानदंड स्थापित किए हैं। चूँकि आधुनिक काल को हमने अपनी अध्ययन परिधि से बाहर रखा है, इसलिए हम इस पर चर्चा नहीं कर रहे हैं।

14. प्रकीर्णक काव्य

प्रकीर्णक काव्य में यहाँ हमने लाक्षणिक साहित्य, कोश, गजल, गुर्वावली, आत्मकथा आदि विधाओं को अन्तर्भूत किया है। इन विधाओं की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन कवि अध्यात्म और भक्ति की ओर ही आकर्षित नहीं हुए, बल्कि उन्होंने छन्द, अलंकार, आत्मकथा, इतिहास आदि से सम्बद्ध साहित्य की सर्जना में भी अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

लाक्षणिक साहित्य में पिंगल शिरोमणि, छन्दोविद्या, छन्द मालिका, रसमंजरी, चतुरप्रिया, अनूपरसाल, रसमोह, शृंगार, लखपति पिंगल, मालापिंगल, छन्दशतक, अलंकार आशय आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसी तरह अनस्तमितव्रत सन्धि, मदनयुद्ध, अनेकार्थ नाममाला, नाममाला, आत्मप्रबोधनाममाला, अर्धकथानक, अक्षरमाला, गोराबादल की बात, रामविनोद, वैद्यकसार, वचनकोश चित्तौड़ की गजल, क्रियाकोष, रत्नपरीक्षा, शकुनपरीक्षा, रासविलास, लखपतमंजरी नाममाला, गुर्वावली, चैत्य परिपाटी आदि रचनाएँ विविध विधाओं को समेटे हुए हैं। इसी तरह कुछ हियाली सञ्ज्ञक रचनाएँ भी मिलती हैं, जो

प्रहेलिका के रूप में लिखी गयी हैं। बौद्धिक व्यायाम की दृष्टि से इनकी उपयोगिता निःसंदिग्ध है। मध्यकालीन जैनाचार्यों ने ऐसी अनेक समस्यामूलक रचनाएँ लिखी हैं। इन रचनाओं में समयसुन्दर और धर्मसी की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त प्रकीर्णक काव्य में मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने कहीं रस के सम्बन्ध में विचार किया है, तो कहीं अलंकार और छन्द के सम्बन्ध में कहीं कोश लिखे हैं तो कहीं गुर्वावलियाँ, कहीं गजलें लिखी हैं, तो कहीं ज्योतिष पर विचार किया है। यह सब उनकी प्रतिभा का परिणाम है। यहाँ हम उनमें से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। रीतिकालीन अधिकांश वैदिक कवि मांसल शृंगार की विवृत्ति में लगे थे, जबकि जैन कवि लोकप्रिय माध्यमों का सदुपयोग आध्यात्मिक क्षेत्र में कर रहे थे। इस सन्दर्भ में एक कवि ने हरियाली लिखी है, तो अन्य सन्त कवियों ने उलटवासियों-जैसे कवित्त लिखे हैं।

17वीं शती के हिन्दी रचनाकारों में आनन्दधन, कल्याणकीर्ति, क्षेमराज, त्रिभुवनकीर्ति, धर्मसागर, यशोविजय, सुमतिसागर, हीरकुशल आदि तथा 18वीं शती के हिन्दी रचनाकारों में कनककीर्ति, कुशलविजय, खुशालचन्द काला, जोधराज गोधीका, देवोदास, दौलतराम कासलीवाल, बुलाकीदास, भूधरदास, यशोविजय, लावण्य विजय, विद्यासागर, सुरेन्द्रकीर्ति, पांडे हेमराज आदि शताधिक हिन्दी जैनाचार्य हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी की विविध प्रवृत्तियों को समृद्ध किया है। इस काल के काव्य में भावगाम्भीर्य और तीव्रानुभूति का प्रतिबिम्बन होता है, जिसमें अध्यात्म, भक्ति और शील समाया हुआ है। यहाँ ब्रज-भाषा का विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

इस प्रकार आदि-मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक कवियों ने साहित्य की किसी एक विधा को नहीं अपनाया, बल्कि लगभग सभी विधाओं में अपनी प्रतिभा को उन्मेषित किया है। यह साहित्य भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी उच्चकोटि का है। यद्यपि कवियों का यहाँ आध्यात्मिक अथवा रहस्य भावनात्मक उद्देश्य मूलतः काम करता रहा, पर उन्होंने किसी भी प्रकार से प्रवाह में गतिरोध नहीं होने दिया। रसचर्वणा, छन्द-वैविध्य, उपमादि अलंकार, ओजादि गुण स्वाभाविक रूप से अभिव्यंजित हुए हैं। भाषादि भी कहीं बोझिल नहीं हो पाई। फलतः पाठक सरसता और स्वाभाविकता के प्रवाह में लगातार बहता रहता है और रहस्य भावना के मार्ग को प्रशस्त कर लेता है। जैनतर कवियों की तुलना से भी यही बात स्पष्ट होती है।

□□□

भारतीय ज्ञानपीठ के कुछेक उपयोगी प्रकाशन

जैन सिद्धान्त—सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन न्याय—सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

समीचीन जैनधर्म—सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

मंगलमन्त्र णमोकार—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य

वर्ण, जाति और धर्म—सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री

जैन तत्त्वविद्या—मुनि प्रमाणसागर

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि —डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

जैनदर्शन का अस्तित्ववादी चिन्तन

—डॉ. प्रद्युम्न कुमार अनंग

प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ

—डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

जैनधर्म में विज्ञान—डॉ. नारायण लाल कछारा

दक्षिण भारत में जैनधर्म

—सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैनदर्शन में नयवाद—डॉ. सुखनन्दन जैन

भारतीय ज्योतिष—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य

केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि

—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य

अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ

—डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री

जैन शिलालेख संग्रह भाग-1—डॉ. हीरालाल जैन

सोलह कारण भावना— महात्मा भगवानदीन

भारतीय दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा

—डॉ. वीरसागर जैन

जैनधर्म में वर्षायोग—उपाध्याय प्रज्ञसागर मुनि

जैनधर्म में गुरुपूर्णिमा —उपाध्याय प्रज्ञसागर मुनि

Religion & Culture of the Jains

—Dr. Joyti Prasad Jain

Structure & Functions of Soul in Jainism

—Dr. S. C. Jain

Aspects of Jain Religion

—Dr. Vilas A. Sangave

Jain Literture in Tamil

—Prof. A. Chakravarti



भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन



भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन

